हिन्दी

विश्व-भारती

ज्ञान विज्ञान का प्रामाणिक कोश

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हिन्दी

विश्व-भारती

ज्ञान-विज्ञान का प्रामाणिक कोश

भारत सरकार के अनुदान से प्रकाशित
हिन्दी के सुप्रसिद्ध ज्ञानकोश का
संशोधित संस्करण

संपादक

कृष्ण वल्लभ द्विवेदी

खंड

८

हिन्दी विश्व-भारती
ज्ञान-विज्ञान-साहित्य की
प्रमुख प्रकाशन-संस्था

कमलाश्रम, चारबाग, लखनऊ-२२६००१

प्रकाशक
राजराजेश्वरप्रसाद
कमलाश्रम, चारबाग, लखनऊ

4634

नवीन संशोधित संस्करण

सर्वाधिकार स्वरक्षित

मूल्य
प्रति खंड : चालीस रुपये

State Museum Library
Lucknow

मुद्रक
मुद्रण-कला-मंदिर, लखनऊ,
तथा स्वस्तिक प्रिन्टिङ्ग प्रेस, लखनऊ ।

ग्रंथ-परिचय

अपने जन्म के ३६ वर्ष बाद, 'हिन्दी विश्व-भारती' का यह पुनर्संस्करण प्रस्तुत करते समय, अब फिर से नए सिरे से उसका परिचय देने की वैसे तो कोई आवश्यकता नहीं है, कारण देश में ऐसी कोई भी हिन्दी की शिक्षण-संस्था अथवा पुस्तकालय नहीं है, जिनके लिए यह प्रकाशन आज एक अपरिचित या अज्ञात वस्तु हो। परन्तु चूँकि केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय के आदेशानुसार उसके नवीन स्वरूप का निर्माण करते समय ग्रंथ की मूल रूपरेखा और व्यवस्था में बहुत-कुछ उलटफेर करना पड़ा है तथा उसकी सजधज आदि में भी एक क्रांतिकारी परिवर्तन का समावेश हुआ है, अतः उसकी एक संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत कर देना अनुपयुक्त न होगा।

सबसे पहले तो हम यह बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यद्यपि पठन-सामग्री एवं उपादेयता के नाते यह ग्रंथ एक 'एनसाइक्लोपीडिया' (या विश्वकोश) की कोटि में निर्विवादतः परिगणित हो सकता है, तथापि इसे एक 'ज्ञानकोश' कहकर पुकारना हमने कहीं अधिक उपयुक्त समझा है; कारण, यह अकारादि क्रम से निर्मित कोई निर्देश-ग्रंथ नहीं है, जैसा कि आम तौर पर लोग 'एनसाइक्लोपीडिया' (या ज्ञानकोश) का अर्थ लगाते हैं। वस्तुतः इसका प्रयोजन एक सर्वतोमुखी शिक्षक की पूर्ति करना है – उस शिक्षक की नहीं, जो विद्यालय की चहारदीवारी के घरौंदे में अपने को सीमित रखते हुए, निरी टकसाली पाठ्यपुस्तकों की जानकारी करा देने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान बैठे, प्रत्युत एक ऐसे जीवन-पथप्रदर्शक की, जो मानव-जीवन के विकास से सम्बन्धित समस्त पहलुओं का ज्ञान कराकर हमारी बहुमुखी उन्नति में सहायक बन सके।

इसी अभिप्राय से 'हिन्दी विश्व-भारती' के इस संस्करण का नियोजन और निर्माण उसे एक विशिष्ट साँचे में ढालकर किया गया है। इसके आगे सूचित १६ भाग हैं, जिनके अंतर्गत दी जानेवाली पाठ्य-सामग्री का संकलन इस प्रकार किया गया है कि पहले अधिक सरल, रुचिकर एवं बोधगम्य विषय पाठकों के सामने आएँ, तदनंतर क्रमशः अधिक गम्भीर विषयों के साथ उनका साक्षात्कार हो। यही नहीं, एक ही विषय या विभाग की सामग्री पाठक के लिए बोझिल न बन जाय, इस उद्देश्य से उसे कई अंशों में विभक्त करके अलग-अलग खंडों में बिखेर दिया गया है – इस बात का ध्यान रखते हुए कि उसका नैसर्गिक तारतम्य टूटने या बिगड़ने न पाए।

: 'हिन्दी विश्व-भारती' के विविध विभाग :

१. **विशाल मानव परिवार**—पृथ्वी के विभिन्न भूभागों में बिखरे हुए मानव-जाति के विशाल परिवार की विविध शाखाओं का परिचय । **(नृतत्व-शास्त्र)**

२. **प्रकृति पर विजय**—मनुष्य ने पहले-पहल औजार बनाना सीखा, तब से वायुयान, रेडियो, टेलीविजन और कृत्रिम उपग्रहों के निर्माण के इस युग तक मनुष्य द्वारा प्रकृति पर विजय पाने की अमर गाथा । **(आविष्कार, अनुसंधान, आदि)**

३. **विश्व की झाँकी**—दृश्य जगत् के अनन्त रूप—सर्वव्यापक आकाश—के अंचल में बिखरे हुए कोटि-कोटि नक्षत्रों, नीहारिकाओं एवं ग्रहों-उपग्रहों की कहानी । **(ज्योतिष)**

४. **जन्तु-जगत्**—भाँति-भाँति के रंग-रूप और विविध प्रकार के रहन-सहनवाले अनगिनत प्राणियों की अद्भुत जीवनलीला का मनोरंजक विवरण । **(जीव-विज्ञान)**

५. **मनुष्य की युगयात्रा**—संगी-साथी जानवरों को पीछे छोड़ता हुआ मनुष्य जिस दिन जंगलों से बाहर निकला था, तब से आज तक की उसकी विकास-यात्रा की गौरव-गाथा । **(विकासवाद, इतिहास, आदि)**

६. **हमारी क्रीड़ाभूमि पृथ्वी**—जिस पर अपने जीवन का खेल रचकर हम इस ब्रह्माण्ड की यात्रा कर रहे हैं, उस धरती की भौतिक और भौगोलिक रूपरेखा का परिचय । **(भूविज्ञान और भूगोल)**

७. **वनस्पति-संसार**—जिनके बिना हमारी यह धरती एक विशाल मरुप्रदेश जैसी होती और किसी भी प्राणी का उस पर पैदा होना या जीवित रहना असंभव होता, उन अचरजभरे पेड़-पौधों की कहानी । **(वनस्पति-विज्ञान)**

८. **महापुरुष**—मनुष्य जाति के उन महान् प्रकाशस्तम्भों का परिचय, जो अपनी ज्योति द्वारा युग-युग तक हमारे अंधकारमय पथ को आलोकित कर संसार का पथ-निदर्शन करते रहेंगे । **(जीवन-चरित्र)**

९. **द्रव्य-जगत्**—उन तत्त्वों और प्राकृतिक शक्तियों की कहानी, जिनसे विश्व के भौतिक कलेवर की रचना हुई है, तथा जिनके समवाय से इस सृष्टि का संचालन होता है । **(भौतिक और रसायन विज्ञान)**

१०. **मानव-शरीर**—जीव-जगत् के एक सदस्य के नाते मनुष्य के स्थूल भौतिक कलेवर की रचना एवं क्रिया-प्रक्रियाओं का अध्ययन । **(शरीर-शास्त्र)**

११. **कला**—शिल्प, संगीत और नृत्य आदि के रूप में अभिव्यक्ति का मार्ग खोजती हुई चिरंतन मानवीय पिपासा और उसके फलस्वरूप उपजी अद्भुत भावसृष्टि की कहानी । **(चित्रकला, शिल्प, संगीत, आदि)**

१२. **भारतभूमि**—अपनी मातृमूमि की भौतिक रूपरेखा और सांस्कृतिक विरासत की झाँकी । **(भारत-दर्शन)**

१३. **समाज**—मनुष्य-जीवन के सामुहिक स्वरूप और उससे उत्पन्न आर्थिक एवं राजनीतिक पहलुओं का विवेचन । **(समाज-विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र)**

१४. **साहित्य**—दृश्य जगत् का अनुभव-ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ विचारों और भावनाओं के कल्पनालोक में अनुभूत भावों को भाँति-भाँति के प्रबन्ध-जाल में बुनकर अक्षरबद्ध अथवा छंदोबद्ध करने का जो प्रयास मानव मस्तिष्क द्वारा किया गया है, इसकी रोचक कहानी । **(विश्व-साहित्य)**

१५. **मनोविज्ञान**—जिसकी बदौलत उन्नति की दौड़ में अन्य जीवधारियों को पीछे छोड़कर मनुष्य कहाँ से कहाँ उठ गया है, उसकी उस अद्भुत संपत्ति 'मस्तिष्क' या 'मन' की रहस्यमयी क्रिया-प्रक्रियाओं का परिचय । **(मनोविज्ञान)**

१६. **सत्य की खोज**—एक अद्भुत पहेली की तरह हजारों वर्षों से मनुष्य की बुद्धि को उलझन में डाले हुए इस अचरजभरे सृष्टि-प्रपंच के रहस्यों के संबंध में संचित तत्व-ज्ञान का विवेचन । **(दर्शन तथा अध्यात्म)**

लेखक-मंडल

डॉ० गोरखप्रसाद, डी०एस-सी० (एडिनबरा), एफ० आर० ए० एस०, आचार्य, गणित-विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय ।

डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, डी० एस-सी० (लंदन), अध्यक्ष, इतिहास-विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय; तदनंतर उप-कुलपति, सागर-विश्वविद्यालय ।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पी-एच०डी०, डी० लिट्, अध्यक्ष, प्राच्यविद्या - विभाग काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय ।

श्री वीरेश्वर सेन, एम० ए०, वाइस-प्रिंसिपल, राजकीय कला-महाविद्यालय एवं तदनंतर डायरेक्टर, डिजाइन सेंटर, लखनऊ ।

डॉ० शिवकण्ठ पांडे, डी० एस-सी०, आचार्य, वनस्पति-विज्ञान-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम०एस-सी० एल-एल० बी०, आचार्य, भौतिक विज्ञान, धर्मसमाज-कॉलेज, अलीगढ़ ।

श्री श्रीचरण वर्मा, एम० एस-सी०,प्राध्यापक, जीवविज्ञान-विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय ।

श्री मदनगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, प्रिंसिपाल, कान्यकुब्ज कॉलेज, लखनऊ ।

डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए०, पी-एच० डी०, आचार्य, इतिहास-विभाग, विक्रम-विश्वविद्यालय ।

डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

डॉ० सत्यनारायण, पी-एच० डी० (हाइडेलबर्ग), प्रख्यात लेखक, पत्रकार एवं भू० संसद सदस्य ।

श्री रामनिहोर चतुर्वेदी,एम० ए०,एल०टी०, प्रिंसिपाल, महात्मा गांधी विद्यालय, बछरावाँ (रायबरेली)

डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, एम०ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

डॉ० शंकरलाल यादव, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, हिन्दी - विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

डॉ० जे० एन० राय, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, वनस्पति-विज्ञान विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

डॉ० सी० एस० अवस्थी, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, सागर-विश्वविद्यालय ।

श्री रामनारायण कपूर, बी० एस-सी०, मेटलार्जिस्ट, इंडियन आयर्न एण्ड स्टील कं०, पश्चिमी बंगाल ।

श्री हरीश चन्द्र निगम, एम० एस-सी०, प्राध्यापक, जीव-विज्ञान-विभाग, क्रिश्चियन-कॉलेज, लखनऊ ।

श्री श्यामसुन्दर द्विवेदी, एम० ए०, एल-एल० बी०, साहित्यरत्न, अतिरिक्त जिला जज, मध्य प्रदेश ।

श्री तिलकसिंह परमार, एम०ए०, साहित्यरत्न, भूतपूर्व संपादक, 'पांचजन्य' ।

श्री चन्द्रोदय दीक्षित, एल-एल० एम०, संपादकीय विभाग, 'पायनियर' लखनऊ ।

श्री रामकृष्ण अवस्थी, एम० ए०, संपादकीय विभाग, 'नेशनल हेराल्ड.' लखनऊ ।

श्री शिवप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०, बी०एड०, प्राध्यापक, महात्मा गांधी महाविद्यालय, बछरावाँ ।

श्री रमेशदत्त मिश्र, एम० ए०, दर्शन-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय ।

श्री भुवनेश्वर, लेखक एवं नाटककार ।

श्री नीलकण्ठ तिवारी, एम० ए०, कवि एवं गीतकार ।

श्री ब्रजमोहन तिवारी, एम० ए०, एल० टी०, भूतपूर्व प्राध्यापक, कान्यकुब्ज कॉलेज, लखनऊ ।

श्री लक्ष्मीशंकर मिश्र, 'अरुण', लेखक एवं पत्रकार, लखनऊ ।

श्री रमाकान्त शास्त्री, भूतपूर्व संपादक, 'संघर्ष', लखनऊ ।

श्री सदाशिव शुक्ल, बी० ए०, अध्यापक, मंसादीन शुक्ल इन्टर कॉलेज, लखनऊ ।

श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा, एम० ए०, प्राध्यापक, आई० टी कॉलेज, लखनऊ ।

श्री गोविन्दनारायण नातू, एम० म्यु०, प्रिंसिपाल, भातखण्डे संगीत-महाविद्यालय, लखनऊ ।

श्री एम० एस० कल्याणपुरकर, नृत्य-निपुण, अध्यक्ष, नृत्य-विभाग, भातखण्डे संगीत-महाविद्यालय, लखनऊ ।

श्रीमती वेण्डी वोहरा ।

विषयानुक्रम

: कला :

कला की पुरातन धाराएँ--(६) भारतीय कला :: लाक्षणिक विशेषताएँ [श्री वीरेश्वर सेन]

भारतीय कला का मूल प्रेरणा-स्रोत : : धर्म—भारतीय देवी-देवताओं में निहित विविधता में एकता की भावना—भारतीय दृष्टिकोण की सहज उदारता एवं जन्मजात धर्म-सहिष्णुता—भारतीय कला में निहित 'प्रतीकवाद' और 'परम्परानुसरण' की वृत्ति धर्म ही की उपज है—रूढ़िवादी होकर भी भारतीय कला निष्प्राण नहीं है—भारतीय कला का मुख्य लक्ष्य है : : रसानुभूति ।

पृ० २८१९-२८२२

कला की पुरातन धाराएँ--(७) भारतीय कला :: ऐतिहासिक पृष्ठभूमि [श्री वीरेश्वर सेन]

सिन्धु-सभ्यता की अद्‌भुत झाँकी—मसोपटामिया की पुरातत्त्व-सामग्री से सादृश्य—आर्यों से पूर्व की द्रविड़ संस्कृति और आर्य संस्कृति पर उसका प्रभाव--भारतीय स्थापत्य का विकास—शैशुनाग और नन्दयुग की कला—मौर्य-काल—यवन, शक और कुषाण राजवंशों का युग—गुप्तकाल : : भारतीय कला का स्वर्णयुग—उत्तरकालीन युग : : राजपूत-काल ।

पृ० २८२३-२८३२

कला की पुरातन धाराएँ--(८) भारतीय कला :: मौर्यकाल [श्री रामनिहोर चतुर्वेदी]

मौर्यकालीन वास्तु में काष्ठ का प्रयोग—अशोक के युग के कला-स्मारक : : स्तूप, स्तंभ, आदि—अशोक द्वारा निर्मित गुहागृह और राजप्रासाद ।

पृ० २८३३-२८३६

कला की पुरातन धाराएँ--(९) भारतीय कला :: शुंग-आन्ध्र-कुषाणकाल [श्री वीरेश्वर सेन]

बौद्ध स्तूप की रचना—भरहुत-साँची का मूर्तिशिल्प—शुगकाल की अन्य रचनाएँ—उदयगिरि और खण्डगिरि—गान्धार-कला—मथुरा का मूर्तिशिल्प—अमरावती का उत्कृष्ट शिल्प ।

पृ० २८३७-२८४६

कला की पुरातन धाराएँ--(१०) भारतीय कला :: गुप्तकाल और उसके बाद [श्री वीरेश्वर सेन]

गुप्तकालीन स्तूप, चैत्य, विहार और मन्दिर—गुप्तकाल का मूर्तिशिल्प—गुप्त-साम्राज्य का विघटन : : हर्ष का उदय—नालन्द का कला-वैभव—दक्षिण भारत का चालुक्य और पल्लव वास्तु-शिल्प—पल्लव कला : : मामल्लपुरम् का भव्य शिल्प ।

पृ० २८४७-२८५९

कला की पुरातन धाराएँ--(११) भारतीय कला :: उत्तरकाल [श्री वीरेश्वर सेन]

उत्तरकालीन स्थापत्य-शैलियाँ—खजुराहो के अद्भुत कला-मन्दिर—आबू के जैन मन्दिर—पूर्वीय शैली : : नालन्द की कला—पाल-युग की मूर्तियाँ—उड़ीसा के मन्दिर : : भुवनेश्वर, पुरी और कोणार्क—वेसर-शैली के मन्दिर : : सोमनाथपुर, बेलूर, हालेविद—श्रवणबेलगोला : : गोमतेश्वर—द्राविड़ शैली के मन्दिर—विजयनगर के भव्य कला-स्मारक—मदुराई के देवालय—दक्षिण की धातु-मूर्तियाँ—लौकिक स्थापत्य : : राजमहल और छत्रियाँ ।

पृ० २८६०-२८७४

कला की पुरातन धाराएँ--(१२) भारतीय कला :: मुस्लिम स्थापत्य [श्री वीरेश्वर सेन]

गजनी-शैली—पठान और जौनपुरी शैली—गुजरात और मालवा-शैली—बंगाल-शैली—बहमनी, आदिलशाही (बिजापुरी), कुतुबशाही तथा सिंधी शैली—मुगल शैली के भव्य स्मारक—उत्तरकालीन स्थापत्य ।

पृ० २८७५-२८७९

कला की पुरातन धाराएँ--(१३) भारतीय कला :: चित्रकला [श्री वीरेश्वर सेन]

प्राचीन भारत में चित्रकला—'तङ्का' नामक चित्रपट—अजन्ता के भित्तिचित्र—बाघ-बिहार, एलोरा और सीत्तानवासल के भित्तिचित्र—पाल-युग की बौद्ध पाण्डुलिपियाँ—मध्यकालीन गुजराती जैन पाण्डुलिपियाँ—चित्रकला के लिहाज से सर्वथा अन्धकारपूर्ण शताब्दियाँ—मध्य एशियाई बौद्ध कला-सामग्री—राजपूत-शैली के चित्र—पहाड़ी शैली : : जम्मू, काँगड़ा आदि—काँगड़ा-शैली—गढ़वाल-शैली—अन्य उत्तरकालीन शैलियाँ—मुगल शैली—ब्रिटिश काल में कला का ह्रास—राष्ट्रीय जागृति और कला के पुनरुत्थान का आन्दोलन ।

पृ० २८८०-२८९८

कला की पुरातन धाराएँ--(१४-१५) प्राचीन चीन :: चित्रकारी [श्री वीरेश्वर सेन]

पूर्व और पश्चिम के दृष्टिकोणों में मौलिक अन्तर—हशिए-हो के छः सिद्धान्त—चीनी चित्रकारी की लाक्षणिक विशेषता—चीनी चित्रकला को प्रायः सुलेखन-कला के अनुरूप क्यों माना जाता है—प्रकृति-चित्रण—कनफ्यूशियस और लाओत्जे का प्रभाव—राजनीतिक पृष्ठभूमि—बौद्ध धर्म के साथ सम्पर्क और उसका प्रभाव—टैङ्-युग के बौद्ध चित्र—प्राकृतिक दृश्य-चित्रण—जानवरों का चित्रण—सुङ्कालीन स्वर्णयुग—'जेन' सम्प्रदाय के प्रभाव से चीनी कला में नया मोड़—मिङ्-युग की कला ।

पृ० २८९९-२९१२

कला की पुरातन धाराएँ--(१६) प्राचीन चीन :: मूर्तिशिल्प [श्री वीरेश्वर सेन]

चिन, चाओ और हान-युग का शिल्प—समाधिगृहों का मूर्तिशिल्प—छः राजवंशों के युग की भव्य कलाकृतियाँ—

धर्म-मूर्तियों का निर्माण :: बौद्ध मूर्तियाँ—टैंग काल :: चीनी मूर्तिशिल्प का स्वर्णयुग—उत्तरकाल ।

पृ० २९१३-२९२०

कला की पुरातन धाराएँ--(१७) प्राक्-रोमन या एट्रस्कन कला [श्री वीरेश्वर सेन]

एट्रस्कन जाति की पहेली—एट्रस्कन कला का मेसोपटामिया की कला से सादृश्य—मेहराबदार छतों के निर्माता—रोमन लोगों द्वारा एट्रस्कन जाति की पराजय—एट्रस्कन कला में माधुर्य का अभाव—टेराकोटा की कारीगरी में दक्षता—आलंकारिक शैली का बाहुल्य—पात्र-निर्माण और चित्रकारी ।

पृ० २९२१-२९२४

कला की पुरातन धाराएँ--(१८) रोमन कला :: विशेषताएँ [श्री वीरेश्वर सेन]

ग्रीक कला की लाक्षणिक विशेषता :: सौंदर्योपासना—रोमन कला की लाक्षणिक विशेषता :: शक्ति—रोमन वैभव और विलासी जीवन की पृष्ठभूमि—अन्य देशों की कलाकृतियों का अपहरण—मानवाकृतियों के निर्माण में विशेष कुशलता ।

पृ० २९२५-२९२७

कला की पुरातन धाराएँ--(१९) रोमन कला :: स्थापत्य [श्री वीरेश्वर सेन]

रोमन स्थापत्य शत-प्रति-शत उपयोगितावादी था—रोमन नगर-जीवन का केन्द्र :: "फोरम"—रोमन देवालय—रोम का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर :: 'पैन्थियन'—रोमन न्यायालय और व्यापार-केन्द्र अथवा 'बैसिलिका'—सार्वजनिक स्नानागार—विजय-द्वार और विजय-स्तंभ—नाट्यशालाएँ और एम्फीथियेटर—'कलीशियम' नामक महान् रंगशाला—रोमन 'सरकस' और समाधियाँ ।

पृ० २९२८-२९३८

कला की पुरातन धाराएँ--(२०) रोमन कला :: मूर्तिशिल्प और चित्रकारी [श्री वीरेश्वर सेन]

रोमन मूर्तिशिल्प का उद्भव और विकास—पेसीटीलीज का कला-संप्रदाय—ऑगस्टस-काल का उत्कृष्ट शिल्प 'आरा पेसिस' नामक कला-मन्दिर—रोमन चित्रकारी (१) 'पाम्पिआई-शैली'—रोमन चित्रकारी (२) 'स्थापत्य-शैली'—रोमन चित्रकारी (३) 'आलंकारिक शैली'—रोमन चित्रकारी (४) 'भ्रान्तिवादी शैली'—रोमन मूर्तिशिल्प की लाक्षणिक विशेषता ।

पृ० २९३९-२९४६

: मनुष्य की युगयात्रा :

भारतीय इतिहास का दूसरा प्रहर-(७) सांस्कृतिक पृष्ठभूमि :: राज्य-व्यवस्था [श्री रामनिहोर चतुर्वेदी]

राज्य के अंग—राजतंत्र—राजा के अधिकार—मंत्रिपरिषद्—प्रमुख राज्यकर्मचारी—प्रान्तीय शासन—नगर

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

एवं गांवों का शासन—आय के स्रोत—न्याय-प्रबंध—सैन्य प्रबन्ध—वैदेशिक नीति—प्रजातंत्र : : गणराज्य और संघीय शासन-प्रणाली—संघीय कार्य-पद्धति—परिषद् के अधिकार—गणतंत्रों का मूल्यांकन एवं देन ।

पृ० २९४९-२९५६

भारतीय इतिहास का दूसरा प्रहर–(८) सांस्कृतिक पृष्ठभूमि :: सामाजिक स्थिति [श्री रा० नि० चतुर्वेदी]

जाति-प्रथा का विकास—स्त्रियों की स्थिति—विवाह-पद्धति—कुटुम्ब, खान-पान, वस्त्राभूषण, आमोद-प्रमोद—अस्पृश्यता और दास-प्रथा—आर्थिक स्थिति : : कृषि और पशुपालन—उद्योग-धंधे तथा शिल्प—गिल्ड या श्रेणियाँ—वाणिज्य-व्यापार—निर्यात और आयात—शिक्षा-प्रणाली : : गुरुकुल—तक्षशिला का महान् विश्वविद्यालय—नालन्दा का महान् विद्या-केन्द्र—वलभी, विक्रमशिला और ओदन्तपुरी ।

पृ० २९५७-२९६६

भारतीय इतिहास का दूसरा प्रहर–(९) सांस्कृतिक पृष्ठभूमि :: 'बृहत्तर भारत' [श्री रा० नि० चतुर्वेदी]

'बृहत्तर भारत' के निर्माण के कारण—भारत तथा पश्चिमी जगत्—भारत तथा मध्य एशिया—भारत और चीन—जापान—तिब्बत—लंका—ब्रह्मदेश—दक्षिण-पूर्वीय एशिया ।

पृ० २९६७-२९७२

प्राचीन और मध्यकालीन चीन–(१) ११३२ ई० पू० से प्रथम शती ई० तक [श्री रामकृष्ण अवस्थी]

'वू वांग' और 'जो कुंग'—समाज-व्यवस्था—पाँच राज्यों की शताब्दी—दार्शनिक धर्म-प्रचारकों की शृंखला—लाओत्जे और कुंग फू-त्जू (कन्फ्यूशियस)—'मुंग को,' 'ज्वांग-त्जू' और 'मो दी'—चिन राजवंश : : प्रतापी 'शी ह्वांग दी'—हान-वंश : : महान् सम्राट् 'वू दी'—बौद्ध धर्म का उदय—हान-काल का उत्तरार्द्ध—हान-काल में चीन की बहुमुखी उन्नति—शिन-वंश : : 'वांग मांग'—पूर्वीय हान : : 'क्वांग व दी' ।

पृ० २९७३-२९७९

प्राचीन और मध्यकालीन चीन–(२) २२० ई० से १२७९ ई० तक [श्री रामनिहोर चतुर्वेदी]

ऐश्वर्यशाली टैंङ्-वंश (६१८-९०७ ई०)—सुङ्-काल (९६०-१२७९ ई०)—वांग-ऐन-शि का समाजवाद—सांस्कृतिक जीवन, राज्य एवं प्रशासन—सामाजिक जीवन—आर्थिक जीवन—धर्म और दर्शन—कला-कौशल—साहित्य तथा शिक्षा—चीन का भारतीयकरण ।

पृ० २९८०-२९८५

अरब, तुर्क और मंगोल :: इस्लाम का उदय और प्रसार [श्री रामनिहोर चतुर्वेदी]

इस्लाम के उदय से पूर्व का अरब—इस्लाम का उदय : : हजरत मुहम्मद—आरंभिक खलीफा : : सुन्नी और शिया नामक दल—इस्लाम का विस्तार—अरबों का स्वर्णकाल—अरबी सभ्यता एवं संस्कृति—तुर्क जाति का इतिहास : : प्रारंभिक अवस्था—सलजुक और उस्मानी तुर्क—मंगोल जाति का उत्थान—चंगेज खाँ (११५५-१२२७ ई०)—मंगोलों की देन ।

पृ० २९८६-२९९१

पूर्वमध्यकालीन भारत--(१) राजनीतिक पृष्ठभूमि [श्री रामनिहोर चतुर्वेदी]

राजपूतों का आदर्श तथा स्वभाव—प्रमुख राजपूत वंश—कन्नौज का अभ्युदय—गुर्जर-प्रतिहार (७३०-१०२७ ई०)—गहरवार (गहड़वाल)—अजमेर के चौहान—पृथ्वीराज चौहान—मालवा के परमार : : साहित्यानुरागी राजा भोज—अनहिलवाड़ के चालुक्य (सोलंकी)—चन्देल—सिन्ध, पंजाब तथा काश्मीर—बंगाल का पाल-वंश (७५०-११६२ ई०)—सेन-वंश (१०९५-१२०२ ई०)—दक्षिण के राज्य—राष्ट्रकूट (७५३-९७३ ई०)—कल्याणी के पश्चिमी चालुक्य (९७३-११९० ई०)—यादव तथा होयसाल—पल्लव-वंश—चोल-राज्य—पांड्य तथा चेर—भारत में इस्लाम का प्रवेश—पहला मुस्लिम आक्रमण—महमूद गजनवी का हमला : : एक राष्ट्रीय चुनौती—अभूतपूर्व विध्वंस और लूट—अन्य आक्रमणकारी : : शहाबुद्दीन गोरी—हिन्दू भारत के पराभव का रहस्य—दिल्ली के सुलतान—सल्तनत का पतन और स्वतंत्र राज्यों की स्थापना—बहमनी-साम्राज्य—विजयनगर-साम्राज्य ।

पृ० २९९२-३००५

पूर्वमध्यकालीन भारत--(२) राज्य-व्यवस्था [श्री रामनिहोर चतुर्वेदी]

राजतंत्र—शुक्रनीति—तीन प्रकार के राजा—राजा के प्रति प्रजा के अधिकार—मंत्रि-परिषद्—युवराज तथा राजकर्मचारी—आय-व्यय—शासन की अन्य इकाईयाँ—दक्षिण भारत की राज्य-व्यवस्था—स्थानीय शासन—सामन्त-पद्धति—भारत में मुस्लिम-राज्य : : सुल्तानों के निरंकुश अधिकार और उनकी प्रशासन-व्यवस्था—सैनिक संगठन, अर्थ और न्याय-व्यवस्था तथा धार्मिक नीति ।

पृ० ३००६-३०११

पूर्वमध्यकालीन भारत--(३) सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति [श्री रामनिहोर चतुर्वेदी]

जाति-व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान—क्षत्रिय और वैश्यों का उत्थान—शूद्रों की दयनीय स्थिति—मिश्रित वर्ग—स्त्रियों की स्थिति और विवाह-प्रथा—रहन-सहन—आर्थिक जीवन : : कृषि, उद्योग तथा व्यापार—श्रेणियाँ तथा संघ—शिक्षा—सल्तनतकालीन भारत का मुस्लिम-समाज—भारतीय नव-मुस्लिम—सल्तनतकालीन हिन्दू-समाज—सल्तनतकालीन आर्थिक जीवन—हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क का प्रभाव—शिक्षा ।

पृ० ३०१२-३०१८

पूर्वमध्यकालीन भारत--(४) धार्मिक और दार्शनिक प्रवृत्तियाँ [श्री रामनिहोर चतुर्वेदी]

विभिन्न मतों का एक दूसरे पर प्रभाव—इस्लाम के आगमन से संतुलन में बिगाड़—दार्शनिक वाद-विवाद —प्राधान्य के लिए वेदान्त की चुनौती—अद्वैतवाद : : श्रीशंकराचार्य—विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत; द्वैत तथा शुद्धाद्वैत : : रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ—भक्ति-आन्दोलन—भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख नेता—भक्ति-आन्दोलन की देन ।

पृ० ३०१९-३०२५

अमेरिका की प्राचीन सभ्यताएँ--मय, अज्तेक तथा इंका [श्री रामनिहोर चतुर्वेदी]

मय-सभ्यता—तोल्तेक तथा अज्तेक—अज्तेक-शक्ति के पतन के कारण—मय तथा अज्तेक कला—१.स्थापत्य—

२. मूर्तिकला—३. चित्रकला—मय तथा अज्तेक लोगों का धर्म—मय तथा अज्तेक साहित्य और शिक्षा—पीरू की इंका-सभ्यता—राजनीतिक जीवन—धर्म—कला तथा साहित्य ।

पृ० ३०२६-३०३२

: द्रव्य-जगत् :

हाइड्रोजन और कार्बन के अद्‌भुत यौगिक :: हाइड्रोकार्बन [श्री मदनगोपाल मिश्र]

समश्रेणी कार्बनिक यौगिक—खनिज हाइड्रोकार्बन : : प्राकृतिक गैस और पेट्रोलियम—पेट्रोलियम का परिस्रवण और शोधन—केरोसिन या 'मिट्टी का तेल'—पेट्रोलियम् के परिस्रवण से प्राप्त अन्य द्रव्य—पेट्रोल ।

पृ० ३०३५-३०४३

कार्बन और पानी के तत्त्वों के महत्वपूर्ण यौगिक :: 'कार्बोहाइड्रेट' [श्री मदनगोपाल मिश्र]

नाना प्रकार के कार्बोहाइड्रेट—१. मॉनोशर्कराइडें—२. डाइशर्कराइडें—३. पॉलीशर्कराइडें ।

पृ० ३०४४-३०४६

हमारा भोजन :: रसायन-विज्ञान की दृष्टि में [श्री मदनगोपाल मिश्र]

कार्बोहाइड्रेट—वसा और तेल—प्रोटीन—यूरिक ऐसिड—खनिज तत्त्व—विटामिन—जल—नशीली और उत्तेजक वस्तुएँ—विविध नशीली वस्तुएँ विषावत अल्कॉलायड हैं—संतुलित भोजन ।

पृ० ३०४७-३०५६

सूक्ष्म जगत् की ओर :: अणु-परमाणुओं का अन्वेषण [श्री मदनगोपाल मिश्र]

डाल्टन का परमाणुवाद—रासायनिक संयोग के भार-संबंधी सिद्धान्त और परमाणुवाद—गे-लूजक का गैसीय आयतन के संयोग का सिद्धान्त—एवोग्रेड्रो का अणु-संबंधी सिद्धान्त ।

पृ० ३०५७-३०६२

मूल तत्त्वों में समाज-व्यवस्था :: परमाणुओं की संयोजन-शक्तियाँ [श्री मदनगोपाल मिश्र]

विविध तत्त्वों की संयोजन-शक्तियों का निर्धारण—संयोजन-शक्ति और सहजीवन—परमाणुओं में विवाह—यौगिकों के सूत्र बनाने की विधि ।

पृ० ३०६३-३०६९

रासायनिक भाषा :: संकेतों, सूत्रों और समीकरणों का रहस्य [श्री मदनगोपाल मिश्र]

प्राचीन और मध्यकालीन संकेत—डाल्टन के वृत्ताकार संकेत—बर्जीलियस और केकुले—आधुनिक संकेत, सूत्र और

समीकरण—यौगिकों का नामकरण—यौगिक मूलक—कुछ कार्बनिक परमाणु-समूह—आयनिक संकेत।

पृ० ३०७०-३०७७

मूल तत्त्वों में कुटुंब-व्यवस्था :: तत्त्वों का वर्गीकरण (आवर्त-सारिणी) [श्री मदनगोपाल मिश्र]

आवर्त-वर्गीकरण का विकास—आवर्त-सारिणी—मेण्डलिएफ-नगरी की सैर—परमाणु-रचनावाद में परमाणु-संख्या का महत्व परमाणु-भार से कहीं अधिक है।

पृ० ३०७८-३०८७

ध्वनिमय जगत् :: ध्वनि की उत्पत्ति, गति, परावर्तन आदि [श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

ध्वनि की जानकारी—कोनिग का प्रयोग—चैल्डनी की आकृतियाँ—'ट्यूनिंग फार्क'—ध्वनि की गति—ध्वनि के उत्तम और अधम चालक—विभिन्न माध्यमों में ध्वनि-गति की माप—ध्वनि-तरंगों का उत्पादन—'अनुप्रस्थ' और 'अनुदैर्ध्य' तरंगें—ध्वनि-तरंगों का परावर्तन—'हाइड्रोफोन' यंत्र—ध्वनि-तरंगों का आवर्तन—संगीतमय ध्वनि का उत्पादन—वायुजनित स्वरयंत्र—रज्जुकम्पित वाद्य—चमड़ा मढ़े हुए वाद्य।

पृ० ३०८८-३१००

चुंबक की रहस्यपूर्ण अदृश्य शक्ति [श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

चुंबक का उत्तर-दक्षिण दिशासूचक गुण—समान और असमान ध्रुवों में आकर्षण-विकर्षण—चुम्बकीय शक्ति का उपपादन—चुम्बकीय क्षेत्र और शक्ति-रेखाएँ—पृथ्वी एक महान् चुम्बक के रूप में—पृथ्वी के चुम्बकीय ध्रुव और उनकी गतिविधि।

पृ० ३००१-३१०७

विद्युत्-शक्ति—(१) घर्षण-विद्युत् और उसका उत्पादन [श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

घर्षण-विद्युत्—विद्युत् के उत्तम और अधम चालक—उपपादन—इलेक्ट्रोस्कोप—फैरेडे का प्रयोग—इलेक्ट्रोफोरस—ह्विमशर्स्ट-मशीन और लीडन-जार—आकाशीय विद्युत्-संबंधी बेन्जेमिन फ्रेंकलिन और डॉ० रोमास के प्रयोग—आकाशीय विद्युत् :: क्या और क्यों—तड़ित्-चालक।

पृ० ३१०८-३११७

विद्युत्-शक्ति—(२) विद्युत्-धारा और उसका प्रभाव [श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

'वोल्टाइक पाइल,' 'वोल्टा के सेल' और विद्युत्-धारा—प्राइमरी सेल :: लेक्लैंची, डेनियल और बाइक्रोमेट सेल—'सूखी सेल'—'इलेक्ट्रोलाइसिस—'इलेक्ट्रोप्लेटिंग'—'सेकेण्डरी सेल'—'एक्युम्युलेटर'—एडिसन सेल।

पृ० ३११८-३१२५

विद्युत्-शक्ति—(३) विद्युत्-धारा का चुम्बकीय प्रभाव :: डायनमो और विद्युत्-मोटर [श्री भ० प्र० श्रीवास्तव]

आम्पेयर का नियम—विद्युत्-चुम्बक—विद्युत्-घंटी—विद्युत्-धारादर्शक—टेलिग्राफी—'मोर्स संकेत-प्रणाली'—चुम्बकीय शक्ति से विद्युत्-धारा का उत्पादन—विद्युत्-चुम्बकीय उपपादन का फैरेडे का सिद्धान्त—डायनमो का सिद्धान्त—सरल (डी० सी०) विद्युत्-धारा—आधुनिक प्रत्यावर्तक डायनमो—आधुनिक सरल धारा डायनमो—सरल तथा

प्रत्यावर्तक धारा की तुलना—सर्वप्रथम विद्युत्-मोटर—विद्युत्-मोटर का सिद्धान्त—विद्युत्-मोटर के भाग—सरल धारा (डी० सी०) मोटर—मोटर के स्टार्ट करने की विधि—विद्युत्-मोटर के घूमने की दिशा बदलना—प्रत्यावर्तक धारा (ए० सी०) मोटर।

पृ० ३१२६-३१४३

विद्युत्-शक्ति—(४) गैसों में विद्युत्-धारा का प्रवाह और इलेक्ट्रॉनिकी [श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

गैसों में विद्युत्-धारा का प्रवाह—कैथोड-रश्मियाँ—इलेक्ट्रॉनिकी—'फ्लेमिंग वॉल्व' या 'द्विध्रुवी इलेक्ट्रॉन-नली'—'त्रिध्रुवी इलेक्ट्रॉन-नली'—चतुर्ध्रुवी-नली—कैथोड-किरण ऑसिलोग्राफ़—एक्स-किरणें—एक्स-किरण कैसे उत्पन्न होती हैं—एक्स-किरणें क्या हैं—एक्स-किरण-उत्पादक बल्ब—कूलिज एक्स-किरण नली—एक्स-किरणों के गुण—एक्स-किरणों के विविध उपयोग—फोटो-इलेक्ट्रिक सेल—फोटो-इलेक्ट्रिक सेल के उपयोग—इलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क।

पृ० ३१४४-३१५८

द्रव्य का अन्तस्तल :: परमाणु और उसके अवयव [श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

परमाणु के आकार-प्रकार—परमाणु अब अन्तिम रूढ़िपिण्ड नहीं रहे—इलेक्ट्रॉन की खोज—प्रोटॉन की खोज—परमाणु का स्वरूप—परमाणु की बाहरी खोल की रचना—नाभिक की संरचना :: न्यूट्रॉन की खोज—बाह्य रूप एक जैसा, किन्तु नाभिक में अन्तर—परमाण-नाभिक टूटते भी हैं—प्रयोगशाला में परमाणु-विघटन—प्रोटॉन द्वारा विघटन—विद्युत्-कणों को तीव्र वेग प्रदान करनेवाले यंत्र—परमाणु-विघटन के सर्वोत्तम कार्तूस :: न्यूट्रॉन—परमाणु-विखण्डन—परमाणु-रीऐक्टर—परमाणु-भट्टी की बनावट—प्रजनन (ब्रीडर) रीऐक्टर—भारत की परमाणु-भट्टियाँ—परमाणु-शक्ति ही क्यों—परमाणु-शक्ति के उपयोग और लाभ—हाइड्रोजन-संश्लेषण द्वारा परमाणु-ऊर्जा की प्राप्ति की विधि :: 'भारी हाइड्रोजन'—हाइड्रोजन-संश्लेषण-रीऐक्टर।

पृ० ३१५९-३१८३

आइन्स्टाइन का युगप्रवर्तनकारी आपेक्षिकता-सिद्धान्त [श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

'विशिष्ट आपेक्षिकतावाद'—'निरपेक्ष गति' का कोई अर्थ नहीं—'समक्षणिकता' से अभिप्राय—लम्बाई और समय की गणना—समय का प्रसार—द्रव्यमान तथा ऊर्जा—'विशिष्ट आपेक्षिकतावाद' के प्रायोगिक प्रमाण—'व्यापक आपेक्षिकतावाद'—आइन्स्टाइन के सिद्धान्त में गुरुत्वाकर्षण का अर्थ—व्यापक आपेक्षिकता के कतिपय परिणाम—व्यापक आपेक्षिकतावाद की सम्पुष्टि—ब्रह्माण्ड :: आइन्स्टाइन की दृष्टि में—'आपेक्षिकता का संगठित क्षेत्र सिद्धान्त'।

पृ० ३१८४-३१९४

'क्वान्टम-सिद्धान्त' एवं तरंग-यांत्रिकी [श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

कृष्ण वस्तु' (ब्लैक बॉडी) के विकिरण—'क्वांटम' से अभिप्राय—क्वांटम-सिद्धान्त की उपलब्धियाँ—परमाणु के प्रकाश-वर्णक्रम की व्याख्या—तरंग-यांत्रिकी (वेव-मिकैनिक्स)—हाइसेनबर्ग का 'अनिश्चितता-सिद्धान्त'।

पृ० ३१९५-३२००

कला

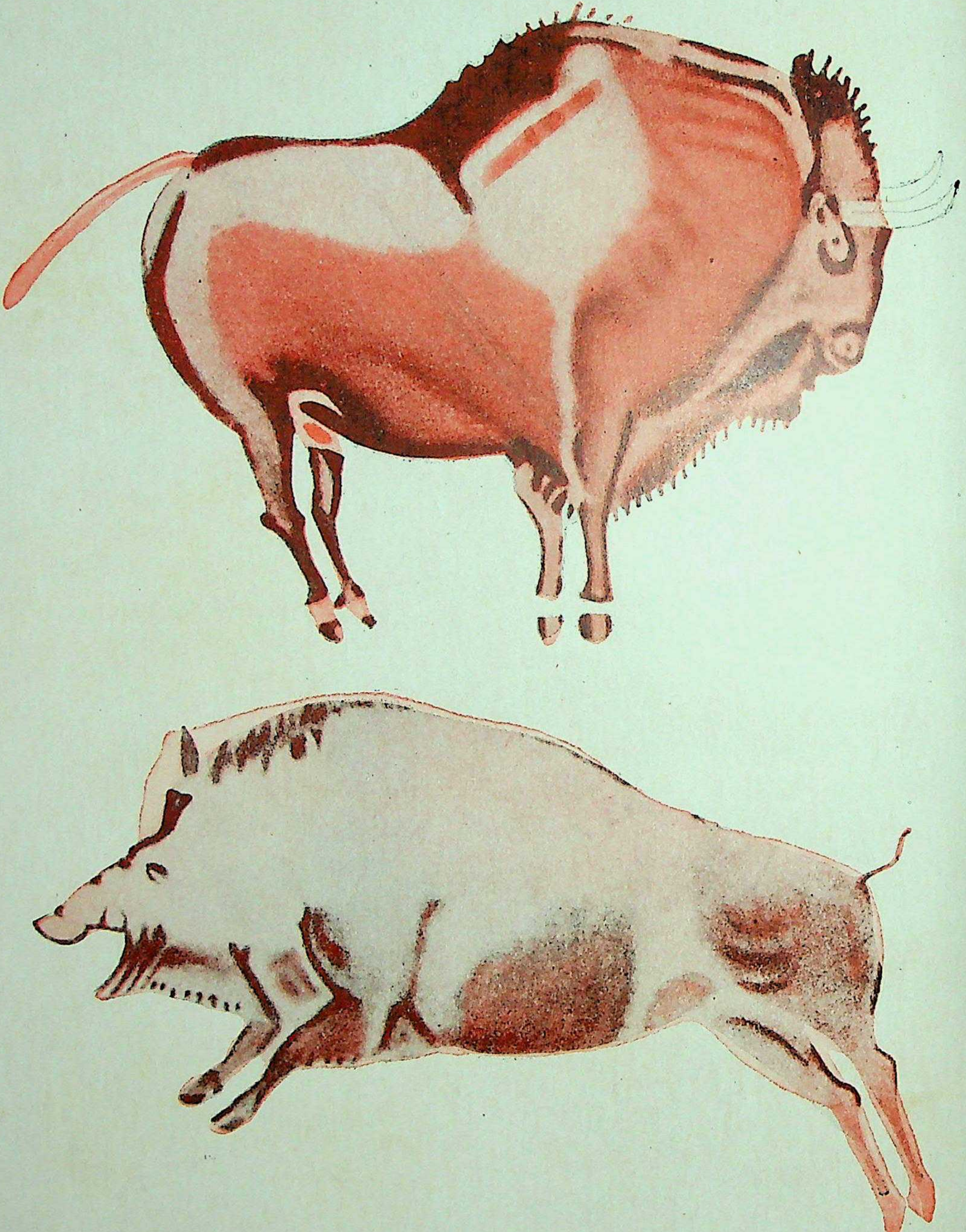

प्रस्तर-युग की कला के दो उत्कृष्ट नमूने

ये चित्र अल्टामीरा की गुफा की एक दीवार पर अंकित हैं। इनकी सुडौल रचना को देखकर हजारों वर्ष पूर्व के उन आदिम कलाकारों की प्रतिभा का अनुमान किया जा सकता है। (चित्र—ला केवर्न-द-अल्तामीरा से ।)

कला की पुरातन धाराएँ—(६)

भारतीय कला :: लाक्षणिक विशेषताएँ

इसके पहले कि हम भारतीय कला-क्षेत्र का सुविस्तृत रूप से दिग्दर्शन आरंभ करें, यह बेकार न होगा यदि हम उसकी कुछ प्रमुख लाक्षणिक विशिष्टताओं को जान लेने का यत्न करें। प्रस्तुत प्रकरण में इसी संबंध में आवश्यक चर्चा की गई है।

अब तक जिन-जिन देशों की प्राचीन कलाओं का निरीक्षण पिछले प्रकरणों में हमने किया, उनमें से प्रत्येक की कला पर किसी-न-किसी निजी विशेषता और निरालेपन की छाप हमें दिखाई दी——प्रत्येक का कोई गुप्त प्रेरणा-स्रोत हमें दृष्टिगत हुआ, जिसने अन्य सब देशों की कलाओं से विशिष्ट बनाकर उसके ललाट पर मानो सदा के लिए उस जाति विशेष का एक परिचयात्मक चिह्न अंकित कर दिया, जिससे कि उसका जन्म हुआ था ! इस प्रकार प्राचीन मिस्र की कला को हमने एक शाश्वत भाव अर्थात् अटल-अडिग स्थिरता एवं अपरिमेय भव्यता के प्रतीक के रूप में अपने आपको अभिव्यक्त करते देखा, तो असीरियन कला क्रूर निर्द्वन्द्व शक्ति एवं यूनानी कला दैहिक सौन्दर्य-विषयक परिपूर्णता तथा प्रकृतिपरक मानववाद का प्रतिनिधित्व करते हमें दिखाई दी। इसी तरह आगे चलकर प्राचीन चीन की कला में हमें अविचलित शांत तत्त्वचिंतन एवं गहन अन्तर्दर्शन का लक्षण तथा जापानी कला में पूर्ण सामञ्जस्य तथा सुखमय प्रकृति-पूजन का भाव देखने को मिलेगा।

भारतीय कला का मूल प्रेरणा-स्रोत——धर्म

भारतीय कला का भी इसी प्रकार अपना एक मूल प्रेरक उद्गम-स्रोत रहा है, जिससे उसकी समस्त कलात्मक धाराएँ अपनी मर्मर संगीत-ध्वनि सहित उच्छ्वसित हुई हैं। वह प्रेरणा-स्रोत है——'धर्म', जो हमारी सब से बड़ी वसीयत, सब से अनमोल पैतृक संपत्ति है। संसार के अन्य किसी भी राष्ट्र के पास इससे अधिक मूल्यवान् पैतृक निधि नहीं है और न कहीं इतने लंबे काल तक वह जीवित रह सकी है।

एक के बाद एक आनेवाली अगणित शताब्दियों के विशद चित्रपट पर निरंतर विकसित होता चला गया पैतृक धारा का ऐसा अटूट प्रवाह हम भारतवासियों को छोड़ संसार में अन्य किस को नसीब हुआ है ? आज के दिन मिस्र के वे प्राचीन देवता कहाँ हैं ? उनकी विशाल और भव्य पाषाण-प्रतिमाएँ तो निस्संदेह अब भी खड़ी हैं, किन्तु नील नदी की उपत्यका में धरती जोतनेवाला मिस्र का कृषक आज किंचित् मात्र भी उनकी ओर उस सम्मान-भाव से नहीं देखता, जैसा कि उसके पूर्वज देखा करते रहे होंगे। इसी प्रकार बाल, मर्दक, ईश्तर आदि बैबिलोनियन देवी-देवता भी अतीत के अन्धकारपूर्ण विस्मृतिलोक में कभी के निर्वासित हो चुके हैं और यूनानी देवता अपोलो भी काव्य-कला की अधिष्ठात्री अपनी सहयोगिनी देवियों सहित पार्नेसस पर्वत के शून्य निर्जन वनों में निराश ठंडी आहें भर रहा है ! किन्तु भारत का सीधा-सादा ग्रामवासी तो आज भी अपने साथी-संगियों का अभिवादन 'जय राम जी की' कहकर ही करता है, यद्यपि रघुराज श्रीरामचन्द्र सहधर्म्मिणी-सहित अपने उज्ज्वल चरणों से इस देश की भूमि को पावन करते हुए जिन दिनों यहाँ के वनों में विचरे होंगे, उस समय को गुजरे हजारों युग बीत चुके !

यही बात विष्णु, शिव, दुर्गा, श्रीकृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि अन्य मनीषियों के बारे में भी कही जा सकती है, जो कि हमारे यहाँ एक बीते युग के कल्पित देवताओं या पौराणिक

व्यक्तियों के रूप में नहीं, प्रत्युत विविध रूप और आकृतियों द्वारा अपने आपको अभिव्यक्त करनेवाले एक ही परमात्मा की प्रतीकरूपी जीती-जागती शक्तियों के रूप में पूजे जाते हैं। इस प्रकार इन सब का हमारे यहाँ आज भी वैसा ही अस्तित्व स्वीकार किया जाता है जैसा कि हमारे इतिहास के धुंधले आदियुग में यथार्थतः स्वीकार किया जाता था ! वस्तुतः अंतर्राष्ट्रीयतावाद के दिन पर दिन बढ़ते जा रहे प्रभाव के बावजूद भी भारत की जीवनधारा में आज भी धर्म का पुट उसी प्रकार मिला हुआ है, जिस प्रकार कि वह तुलसीदास, कबीर, चैतन्य, शंकर, बुद्ध, महावीर या उनसे भी पूर्व के पौराणिक और वैदिक ऋषियों के युग में था।

भारतीय देवी-देवताओं में निहित विविधता में एकता की भावना

कला के इतिहास की सरसरी-सी जानकारी भी किसी जिज्ञासु के मन में यह बात जमाने के लिए पर्याप्त है कि संसार के लगभग सभी देशों में प्रेम और धर्म इन दो तत्त्वों का मानव-जीवन में सदैव आधारभूत स्थान रहा है। इनमें भी धर्म ही वह सर्वोपरि शक्ति है, जो कि मनुष्य को दृश्य जगत् से परे के उस रहस्यमय अदृष्ट लोक में कुछ खोजने को निरंतर प्रेरित करती रहती है, जहाँ देश और काल का अस्तित्व नहीं पाया जाता और विविध रूपधारी परम सत्ता का केवल एक ही अंतिम रूप दिखाई देता है। उपासक के गुण-स्वभाव एवं वैयक्तिक प्रवृत्तियों के अनुसार वह परम सत्ता किसी को परम शक्ति के रूप में, तो किसी को परम ज्ञान अथवा परम आनन्द के रूप में दिखाई देती है ! इस उपासनाक्रम में परम सिद्धि की पराकाष्ठा उस समय होती है, जब कि साधक मनोनीत इष्टदेव में तादात्म्य भाव से घुलमिलकर एकाकार हो जाता है। साधारणतः प्रत्येक भारतवासी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अपने इष्टदेव की मनोनीत रूप में उपासना करता है। परन्तु उस समय वह इस बात को अच्छी तरह से जानता है कि जो परमात्मा उसे उस समय एक विशिष्ट रूप में दिखाई देता है, वह अपनी निरपेक्ष अवस्था में किसी भी रूप या आकार में बद्ध नहीं होता--वह वस्तुतः पूर्णतः निर्गुण और निराकार है; केवल अपने भक्तों की आराधना के मार्ग को सरल बनाने के हेतु ही वह वर्णनातीत निर्गुण ब्रह्म सगुण रूप धारण करते पाया जाता है। चूंकि उस परम शक्ति की सत्ता और गुण अनंत हैं, अतः उसके दिखाई पड़नेवाले विविध रूपों की भी कोई गिनती नहीं लगाई जा सकती--वह अनन्तरूप है ! हिन्दू-धर्म के उपासना-क्षेत्र में उन अनगिनत देवी-देवताओं के पीए जान का यही मूल रहस्य है, जिन्हें देख-देखकर प्रायः पाश्चात्य समीक्षक इतने अधिक खीझ उठते हैं तथा जिनके कारण परस्पर न जाने कितनी कटुता, उपहासास्पद अवस्था और गलतफहमी पैदा हुई है।

भारतीय दृष्टिकोण की सहज उदारता एवं जन्मजात धर्म-सहिष्णुता

यहाँ यह सूचित करना अप्रासंगिक न होगा कि प्रत्येक हिंदू मनोनीत पद्धति से उपासना करते समय अन्य लोगों द्वारा अपने-अपने ढंग से मनचाहे रूप में ईश्वर को पूजने की स्वतंत्रता को अति उदारतापूर्वक सहर्ष स्वीकार करता है, क्योंकि उसका यह दृढ़ विश्वास है कि उपासना के जितने भी अलग-अलग पंथ दिखाई देते हैं, उनका यदि सच्चे भावपूर्वक अनुसरण किया जाय, तो वे सब एक ही परम लक्ष्यबिन्दु अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति की ओर ले जाएँगे ! दूसरों के प्रति इस प्रकार की उदारता का भाव रखने तथा अन्य धर्मों में जो कुछ भी ऊँची उठानेवाली बात हो, उसके साथ आध्यात्मिक नाता जोड़ने की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही भारतीय विचारधारा में धार्मिक सहिष्णुता की वह प्रगाढ़ भावना पनप सकी है, जो कि अन्य किसी भी देश में नहीं पाई जाती। उधर यदि धर्म के नाम पर मंदिरों आदि को नष्ट-भ्रष्ट करने तथा अपने से पृथक् विचार रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति एवं संस्था को निर्दयतापूर्वक कुचलने तथा नस्तनाबूद करने की कलंकमयी प्रवृत्ति ने भी भारतीय इतिहास के पन्नों पर अपने कालिमामय पदचिह्न छोड़े हैं, तो वह विजयोन्माद से मदमाते धर्मान्ध विदेशी आक्रमणकारियों के आगमन के बाद ही हुआ है।

किन्तु प्रकृति और कालचक्र के प्रहार तथा अर्थलोलुप विजेताओं अथवा धर्मान्ध अत्याचारियों द्वारा किए गए अनवरत आघातों के बावजूद भी इस देश में एक छोर से दूसरे छोर तक देवालयों में प्रतिष्ठित अनगिनत देवी-देवताओं का जो भव्य समारोह आज भी हमें देखने को मिलता है, वह इस बात का जीवित प्रमाण है कि एक के बाद एक आनेवाली विगत अनेक शताब्दियों की कालावधि में, युगों और महायुगों के दुर्भेद्य पाषाण-खण्डों को काटते हुए, इस देश की धर्म एवं आध्यात्मिक साधना की कलकलमयी मंदाकिनी किस प्रकार शत-सहस्र वीथिकाओं की रचना करके उनमें निरन्तर प्रवाहित होती रही है ! संसार का दूसरा कौन-सा ऐसा देश है, जो कि एक ही मूल उपासनाक्रम की धारा को इस प्रकार की अटूट श्रृंखला के रूप में अपनी जन्मभूमि में विकसित करने का सगर्व दावा कर सकता हो ?

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भारतीय कला में निहित 'प्रतीकवाद' और 'परंपरानुसरण' की वृति धर्म ही की उपज हैं

भारत के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में वैदिक युग से आज तक एक मूलभूत तत्त्व के रूप में धर्म की जो अटूट धारा प्रवाहित होती रही है, उसकी अमिट छाप यहाँ की कला पर भी पड़ी है। व्यर्थ के विवाद में पड़े बिना हम भारतीय कला पर धर्म के प्रभाव के परिणाम को संक्षेप में केवल दो शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं––'प्रतीकवाद' और 'परम्परानुसरण'। एक ही परम सत्ता की अगणित रूपों में पूजा-आराधना के परिणाम-स्वरूप स्वभावतः असंख्य प्रतीकों का जन्म हुआ और इन लाक्षणिक प्रतीकों को कालान्तर में विविध आसनों, मुद्राओं, रूप-लक्षणों, वाहनों, आयुधों, आदि की विशिष्ट नियमावली में बद्ध कर दिया गया। तंत्रों में (जो कि वेदों से कुछ ही बाद के समय के हैं तथा सभी विवादास्पद बातों के निर्णय के लिए जो वैदिक संहिताओं को ही अपना आधार मानते हैं) अनेक मूल वैदिक देवता तांत्रिक 'शक्तियों' के साथ घनिष्ट रूप में संबद्ध कर दिए गए हैं। ये शक्तियाँ उन देवताओं की नारी-प्रतीक तथा उनके विशिष्ट तेज की प्रतीक-सी मानी गई हैं। तंत्र-मत और महायान बौद्ध मत के समागम से मध्य-युग में आकर (विशेषकर बंगाल, नेपाल और तिब्बत में) धार्मिक कल्पना के क्षेत्र में नवसर्जन की एक बाढ़-सी आ गई। उस युग की 'साधनमाला' नामक एक नष्टप्राय तथापि अति महत्वपूर्ण कृति मिली है, जिसमें प्रतीकवाद की भरमार है! आज भी भारतीय धर्म-प्रतिमाओं के प्रत्येक अनुसंधानकर्त्ता को मध्ययुग को तांत्रिक बौद्ध मूर्तियों की पहचान का पता लगाने में अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है। इन प्रतीकों के गुह्य लाक्षणिक अर्थ की मीमांसा करने की यहाँ आवश्यकता नहीं; यह वस्तुतः धार्मिक इतिहासकार के अनुसंधान का विषय है। किन्तु समसामयिक कलाकारों ने उस युग के दिव्यदृष्टिप्राप्त साधकों की कुसुमित कल्पनाओं का बराबर साथ देते हुए जिस प्रकार से उनके भव्य स्वप्नों को वास्तविकता का परिधान पहनाया है और उन्हें एक स्थूल आकार दिया है, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा किए बिना कोई भी समीक्षक नहीं रह सकता।

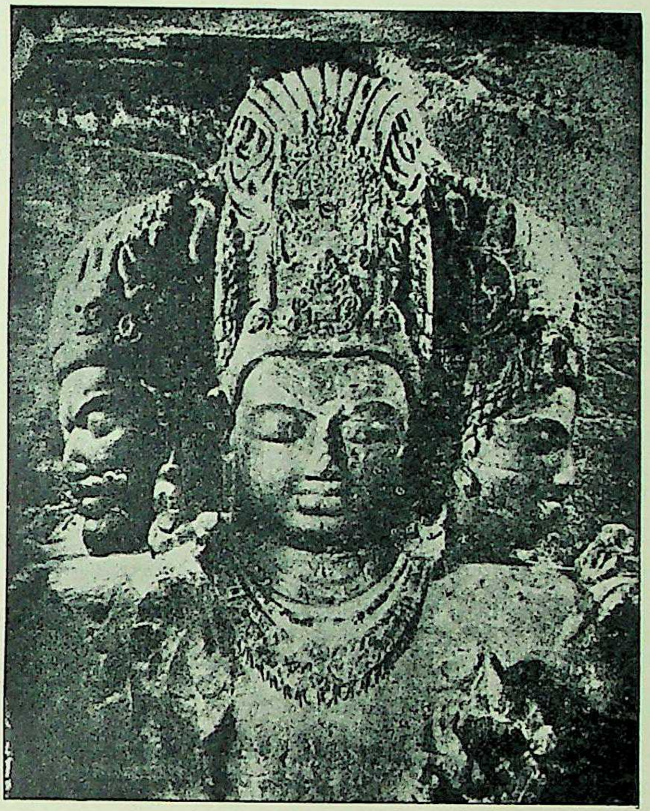

यदि हमें भारतीय कला की लाक्षणिक विशेषताओं का मूर्तिमान् परिचय चाहिए, तो ऐलिफैण्टा के गुफा-मंदिर में समाधिस्थ इस त्रिमुखी महेशमूर्ति पर दृष्टिपात कर लेना ही पर्याप्त होगा, जो कि उन तमाम लक्षणों को श्रेष्ठतम प्रतीक है [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग' के सौजन्य से]।

रूढ़िवादी होकर भी भारतीय कला निष्प्राण नहीं है

भारतीय कला में रूढ़िवादिता अथवा परंपरानुसरण के भाव की प्रधानता का कारण इस बात में निहित है कि इस देश की दीर्घ इतिहास-सरिता के निरन्तर उतार-चढ़ाव के बावजूद यहाँ की धर्म-परम्परा के प्रमुख स्रोत लगातार एक ही अटूट धारा में प्रवाहित होते रहे हैं। यह कम गौरव की बात नहीं कि कई समान-असमान धार्मिक मतों के इस देश में घुस पड़ने के बावजूद भी भारतीय धार्मिक जीवन के शाश्वत धारा-प्रवाह में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हो पाया है और यहाँ की प्रधान परंपराएँ आज के दिन तक वैसी ही गठी हुई एवं सप्राण बनी हुई हैं जैसी कि उन दिनों रही होंगी, जबकि पहलेपहल उनके आदि रूप अभिव्यक्त हुए होंगे। यह सच है कि विस्तार की बातों में अथवा कुछ गौण विषयों में कई छोटे-छोटे परिवर्तन भी हुए हैं, किन्तु हर हालत में इन विषयान्तरों से उस विविधता और समृद्धि को बढ़ावा मिला है, जिसका अन्यथा आज 'भारतीय कला' के नाम से ज्ञात कलात्मक सर्जन के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विशद भांडार में अभाव ही पाया जाता । ये विविधतासूचक नवधाराएँ ही उसमें नवीन जीवन और प्राण का संचार करती रही हैं, अन्यथा वह एकमात्र जी उबानेवाली बार-बार दोहराई गई-सी वस्तु बन जाती । फिर भारतीय कला यदि रूढ़िवादी भी है, तो उस प्रकार की नहीं जैसी कि प्राचीन मिस्र के पुरोहितों द्वारा नियंत्रित कला थी ! वह शिल्पशास्त्रों के विविध विधानों और दृढ़ नियमों से बद्ध होकर भी निष्प्राण और अनुर्वर हो जाने की अधोदशा तक कभी न गिरने पाई । पिछले युगों में इस भूमि के भिन्न-भिन्न भागों में धर्म के क्षेत्र में जो साहसपूर्ण नवप्रयोग किए गए, उनसे प्रेरणा पाकर कला के क्षेत्र में भी उतने ही उच्च आशयपूर्ण और साहसिक प्रयोगों की ओर हाथ बढ़ाया गया । आगे चलकर हम देखेंगे कि जिस प्रकार इस देश के विविध धार्मिक मत नवीन विचारों के ज्वार-भाटे के साथ-साथ नूतन परिधान पहनते रहे, वैसे ही साथ-साथ कदम बढ़ाते हुए कला के क्षेत्र में भी किस प्रकार सहानभूतिसूचक समान रूपांतर होते चले गए ।

भारतीय कला का मुख्य लक्ष्य है––'रसानुभूति'

भारतीय परंपरा कभी भी बाह्य आकार-प्रकार को ज्यों-का-त्यों बनाए रखने और उनकी बार-बार पुनरावृत्ति करनेवाली परंपरा नहीं रही, जैसा कि अन्य देशों की परंपराओं के बारे में देखा जाता है । यदि हम ग्रीक, रोमन, मिस्री या असीरियन मूर्तियों को ग़ौर से देखें, तो इस कथन का आशय सहज ही समझ में आ सकता है । हम देखते हैं कि उन लोगों के यहाँ अपने रोचक इतिहास की इतनी लंबी अवधि में लगातार एक ही समान शैली और लगभग एक ही विधि से काम लिया जाता रहा––सारांश यह कि यदि हम उनकी एक ही कृति देख लें, तो मानो सभी कृतियाँ हम देख चुके ! प्रायः सभी ग्रीक मूर्तियों में हमें स्थूल शरीर की मांसल बाह्याकृति का वही एक-सा ऊपरी निदर्शन, शरीर-रचना-संबंधी वही सूक्ष्म रेखाङ्कन और वही गिनी-चुनी दैहिक मुद्राएँ देखने को मिलेंगी। इसी तरह अनेक शताब्दियों की कालावधि में बिखरी तमाम मिस्री कलाकृतियों में भी वही अविचलित भव्यता और शाश्वतता का भाव तथा समस्त असीरियन मूर्तियों में वही उद्दंडता, आतंक और निर्दय सत्ता की भावना हम देखेंगे । इसके प्रतिकूल भारतीय कला में बाह्य आकार-प्रकार संबंधी रूढ़ियों का उतना अनुसरण नहीं किया जाता, जितना कि 'रस' विषयक परंपरा का । किसी भी देवता का बाह्य आकार-प्रकार चाहे जैसा भी हो, उसके प्रतिनिधि भाव में कोई अन्तर नहीं पड़ना चाहिए, यही यहाँ का लक्ष्य रहा है । उदाहरण के लिए, शिव की प्रतिमा चाहे जिस युग में बनी हो, वह सदैव हर्ष-शोक से परे सर्वव्यापी कल्याणकारी परब्रह्म के प्रतीक के रूप में ही चित्रित दिखाई देती है ! इसी तरह अपने प्रचंड रूप द्वारा भय हरनेवाली मा काली सदैव विश्व-संहारक प्रलयंकर शक्ति के रूप में ही प्रदर्शित की गई हैं । यही बात बुद्ध की प्रतिमा के बारे में भी लागू है, जो सदैव ही ध्यानमग्न और महान् करुणा से ओतप्रोत दिखाई देते हैं, फिर चाहे उनकी मूर्ति तख्ते-बाही में गढ़ी गई हो, चाहे वह अमरावती, मथुरा अथवा सारनाथ में निर्मित हुई हो । बाहरी आकार-प्रकार से अधिक आन्तरिक भाव पर अत्यधिक जोर देना यह भारतीय कला की एक खास विशेषता है ।

भारतीय कला की एक और विशेषता है उसकी 'आलंकारिकता' । भारत के कलाकारों ने अपनी कृतियों को ग्रीक या रोमन कलाकारों की भाँति कभी एकदम प्रकृति की हूबहू प्रतिकृति बनाने का प्रयास नहीं किया, बल्कि उन्होंने प्रकृति को अपने निजी आयोजन के अनुसार नए साँचे में ढालने का ही सदैव प्रयत्न किया है । अनेक आधुनिक चित्रकार अजंता, राजपूत, काँगड़ा या मुगल शैलियों की मात्र नकल करके प्राचीन परंपरा को फिर से जगाने की धुन में भारतीय कला की अत्यंत महत्वपूर्ण विशिष्टताओं के प्रति ध्यान देने से चूक जाते हैं। इसी से तो वे किसी भी युग विशेष अथवा स्वयं अपने ही युग की प्रतिनिधि भावना को सही-सही समझे बिना उस युग की केवल गौण रचना-विधि का अनुकरण मात्र करने में ही सफल हो पाते हैं । इस रीति से प्राचीन कला का पुनरुत्थान असंभव है । जब तक कि आज का कलाकार अतीत की उन कृतियों के पीछे जो प्रेरक भाव रहा है, उसे फिर से खोजकर न जान लेगा, वह उस कला की आत्मा को नहीं छू पाएगा। वस्तुतः प्रत्येक सच्चे कलाकार को 'रस' के रूप में मिली हुई अपनी उस अनमोल वसीयत के साथ-ही-साथ स्वयं अपने युग के प्रति भी खरा होना चाहिए । संभव है कि प्राचीन आकृतियों और रचनाशैली की नकल कुछ लोगों को भ्रांति में डालकर उन्हें प्राचीन भावना के पुनरुत्थान का भुलावा दे सके, किंतु एक दक्ष कला-पारखी की आँखें यह भाँपे बिना नहीं रह सकतीं कि यह प्रयास सिवा रचना-विधि की कलाबाजी और थोथी नकल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । हम देखते हैं कि बुद्ध की वाणी ने न केवल इस देश में ही, बल्कि जहाँ-जहाँ भी बौद्ध मत फैला, वहाँ आध्यात्मिक उत्थान के साथ-साथ एक सुनिश्चित कलात्मक पुनरुत्थान की भी नींव डाली । सारांश यह है कि महान् कला का उदय महान् आध्यात्मिक उत्थान के साथ ही होता है ।

कला की पुरातन धाराएँ––(७)

भारतीय कला :: ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय कला के मर्म को आसानी से समझने और उसका सही-सही मूल्यांकन करने के लिए यह अनुचित न होगा यदि पहले आदिकाल से लेकर आज के युग तक की उसकी विशद ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सरसरी तौर पर संक्षिप्त सिंहावलोकन-सा कर लिया जाय । प्रस्तुत प्रकरण में यही प्रयास किया गया है ।

प्रागैतिहासिक युग के अवसान एवं उसके उपरान्त क्रमशः आदि, मध्य तथा उत्तरपाषाणकाल के आविर्भाव के विषय में विद्वानों द्वारा बहुत-कुछ लिखा जा चुका है । परन्तु इनमें से किसी भी युग का ठीक-ठीक तिथि-निर्धारण नहीं किया जा सका है, यद्यपि पंडितों द्वारा तत्सम्बन्धी भाँति-भाँति के अनुमान लगाए गए हैं । आदिपाषाणकाल की संस्कृति के चिह्न भारत और लंका में कहीं-कहीं मिले हैं और मध्यपाषाणकालीन पुरातत्त्व-सामग्री तो सारे देश में बिखरी पड़ी है । उत्तरपाषाणयुग के पत्थर के औजार-हथियार, मिट्टी के बर्तन तथा शिलागृह आदि भी भारत के बहुतेरे भागों में खोदने पर निकले हैं और डॉ० कुमारस्वामी का मत है कि उत्तरपाषाणयुग के शीघ्र ही बाद, एवं किसी अंश तक उस पर आच्छादित, एक ताम्र-धातुयुग आरंभ हुआ था, जिसके कि साक्षी मोहेंजोदड़ो एवं अन्य स्थानों के उत्तरपाषाणमिश्रित ताम्रयुगीन अवशेष हैं ।

सिन्धु-सभ्यता की अद्भुत झाँकी

वर्तमान शताब्दी के द्वितीय दशाब्द में श्री राखालदास बेनर्जी एवं श्री दयाराम साहनी द्वारा सिन्ध के मोहेंजोदड़ो तथा पंजाब के हड़प्पा नामक स्थानों में जो महत्वपूर्ण पुरातत्त्वीय खोजें की गईं, उनके फलस्वरूप भारत के लिखित इतिहास की तिथि एक या दो सहस्र वर्ष अधिक पीछे खिसकाई जा सकी है । इन अनुसन्धानों के फलस्वरूप पकी हुई ईंटों से निर्मित सुडौल इमारतों, सुनियोजित मार्गों, नालियों, स्नानागारों आदि से युक्त नगरों के अस्तित्व की जो भव्य झाँकी प्रकाश में आई है, उसमें हमें एक उन्नत सभ्यता के दर्शन मिलते हैं । स्पष्ट है कि सभ्यता का यह ऊँचा स्तर अकस्मात् एक ही बृहत् सांस्कृतिक छलाँग में प्राप्त नहीं कर लिया गया होगा–– वह वस्तुतः शताब्दियों के धीमे क्रमिक विकास का ही सुफल रहा होगा ।

सिंधु-घाटी एवं हड़प्पा की पुरातत्त्वीय सामग्री में उक्त ईंटों की इमारतों के अलावा अनेक कलापरक वस्तुएँ भी मिली हैं, जैसे कि दाढ़ीवाले पुरुषों की पाषाण-मूर्तियाँ; मानव-शरीर के धड़ या मध्यभाग की (पश्चात्कालीन यक्ष-मूर्तियों की-सी) हृष्ट-पुष्ट पत्थर की प्रतिमाएँ; नृत्य की मुद्रा में दिग्दर्शित छरहरे बदन की नारी-आकृतियाँ; किसी अज्ञात भाषा की चित्र-लिपि एवं भाँति-भाँति के पशुओं की आकृतियों से मंडित पकी हुई मिट्टी की मुद्राएँ; लगभग सभी प्राचीन स्थलों की खुदाई में मिलनेवाले मिट्टी के रंगे हुए बर्तनों के-से पात्र; गदाएँ और नाल; पालिशदार सुवर्ण-आभूषण; मनके; सिक्के एवं उत्तर-पाषाणकालीन युग के गहने, आदि-आदि । इनमें सब से रोचक हैं निस्संदेह वे मृण्मय मुद्राएँ, जिनकी अलंकृत आकृतियों में ककुद्वाले या बिना कूबड़ के वृषभ, गज, व्याघ्र, गैंड़े, अश्वत्थ-वृक्ष एवं एक-दूसरे के आमने-सामने खड़े दो शृंगधारी दैत्यों की शक्लें विशेष रूप से हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं । चूँकि सिन्धु-घाटी के क्षेत्र में आज के दिन गैंडा कहीं भी नहीं मिलता; अतः इन मुद्राओं में अलंकरण के रूप में उसकी आकृति का अपनाया जाना एक दिलचस्प बात है ।

मसोपटामिया की पुरातत्त्व-सामग्री से सादृश्य

सिन्धु-सभ्यता की इस पुरातन सामग्री और ५००० से ३००० ई० पू० की मसोपटामिया की किश, सूसा आदि स्थलों की खुदाई में निकली सुमेर-सभ्यता की पुरातत्त्व-सामग्री में विद्वानों को उल्लेखनीय सादृश्य दिखाई दिया है ! यद्यपि डॉ० वैडेल और श्री बिशनस्वरूप द्वारा सिन्धु-घाटी की मुद्राओं पर अंकित चित्रलिपि के रहस्योद्घाटन विषयक सराहनीय प्रयत्नों के बावजूद अभी तक उनकी अज्ञात भाषा नहीं पढ़ी जा सकी है, फिर भी आम तौर पर यह स्वीकार किया जाता है कि सिंधु-घाटी एवं मसोपटामिया के प्राचीन निवासियों के बीच बहुत पहले ही से किसी न किसी प्रकार का व्यापारिक सम्पर्क अवश्य रहा होगा, क्योंकि दोनों क्षेत्रों के पुरातत्त्व के बीच इतना घना सादृश्य है कि उसे पूर्णतया आकस्मिक नहीं माना जा सकता।

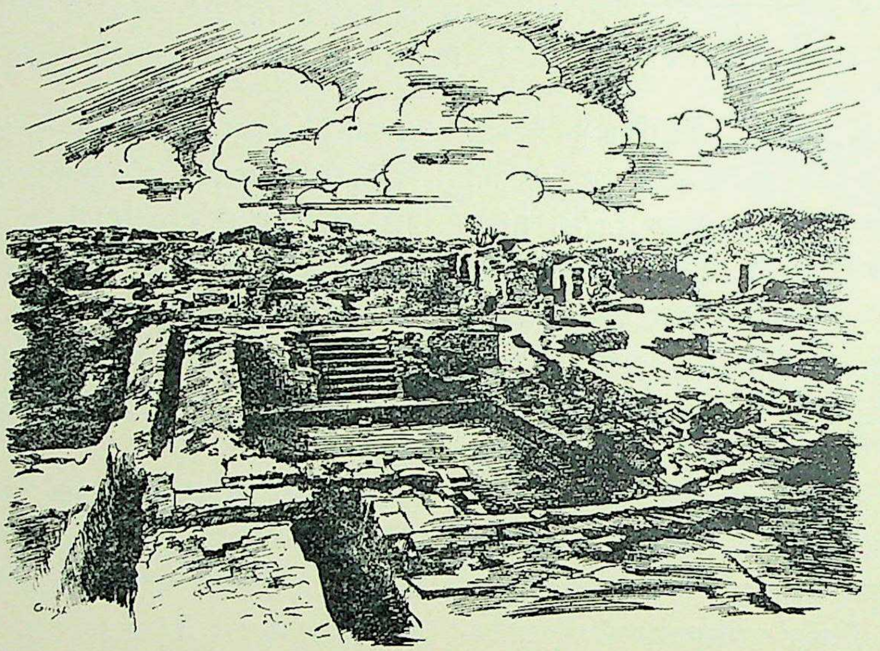

खुदाई करने पर धरती के भीतर से निकले छः हजार वर्ष पुराने मोहेंजोदड़ो के खंडहरों का विहंगम दृश्य।

उधर दक्षिण भारत में प्राप्त शवाधारों और गोमेदक के मनकों आदि में भी मसोपटामिया में उपलब्ध उसी प्रकार की पुरातत्त्व-सामग्री के साथ अद्भुत समानता पाई गई है। यही नहीं, कुछ भारतीय नौकाओं की रचना में भी मसोपटामिया की छाया पाई गई है--विशेषकर चमड़े से मढ़ी छोटी अंडाकार डोंगियों की रचना में। उधर सूसा तथा बेबिलान की खुदाई में भारतीय ढंग की लकड़ी की चौकियाँ एवं सागौन और देवदार की लकड़ी भी निकली हैं। इससे प्रकट है कि प्राचीनकाल में इन दोनों देशों में किसी न किसी प्रकार का व्यापार-सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। यह उल्लेखनीय बात है कि बलूचिस्तान में आज भी 'ब्राहुई' नामक एक एकाकी द्रविड़ भाषा बची हुई मिलती है। इस प्रदेश को प्रायः सभी विद्वान् बहुत पहले से द्रविड़ भारत के साथ पश्चिमी देशों का संपर्क जोड़नेवाले एक मध्यवर्ती द्वीप या कड़ी के रूप में मान्यता प्रदान करते रहे हैं।

आर्यों से पूर्व की द्रविड़ संस्कृति और आर्य संस्कृति पर उसका प्रभाव

यह धारणा की जाती है कि २००० ई० पू० के लगभग भारत की आबादी में मुख्य अंश द्रविड़ जाति के लोगों का ही रहा होगा। यही लोग वेदों में उल्लिखित 'दास' या 'दस्यु' थे। इस भूमि पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के क्रम में उत्तर की ओर से आक्रमण करनेवाले आर्यों को उनका कड़ा सामना करना पड़ा था और उनसे उन्हें तगड़ी लड़ाइयाँ लड़ना पड़ी थीं। इन लोगों को वेदों में 'अनास' या नासिकारहित लोगों की संज्ञा प्रदान की गई है, जिससे उन्नत नासिकावाले आर्यों की तुलना में उनकी दबी हुई नाक की जातीय विशेषता का स्पष्ट संकेत मिलता है। ये लोग लिंग की उपासना करते थे। इसी कारण वेदों में 'शिश्नपूजक' कहकर उनकी निन्दा की गई है। इसके अतिरिक्त वे मातृदेवी, नाग, यक्ष एवं भूत-प्रेतादि की भी पूजा किया करते थे। मोहेंजोदड़ो में प्राप्त एक मुद्रा में पलथी लगाकर बैठी किसी आकृति के आजू-बाजू घुटने के बल झुके हुए उपासकों एवं पृष्ठभूमि में नाग, लिंग तथा योनि के प्रतीकों की झाँकी देखने को मिलती है। यह उत्तर की संस्कृति पर दक्षिणी द्रविड़ संस्कृति की छाप की स्पष्ट गवाही है। दक्षिण के इन आदि निवासियों को यद्यपि उत्तर से आनेवाले आर्यों के हाथों पराभूत होकर अंततोगत्वा अपने अधिक समर्थ विजेताओं के अधीन हो जाना पड़ा, तथापि दोनों संस्कृतियों के समागम के फलस्वरूप जिस नूतन समन्वित राष्ट्र का जन्म हुआ, उस पर इन आदिवा-

सियों की संस्कृति की मुद्रा सदा के लिए अंकित हो गई। इसका कारण यह था कि उनके धर्म-कर्म, कला आदि की जड़ें इतनी गहराई के साथ जन-मन में जमी हुई थीं कि किसी भी आक्रमणकारी के लिए उन्हें उखाड़ फेंकना असंभव था ! डॉ० कुमारस्वामी के शब्दों में 'सच तो यह है कि यदि हम द्रविड़ों को दक्षिण के मूल निवासियों और आर्यों को उत्तर में समुच्छ्वसित होनेवाले उनसे भिन्न प्रकार के लोगों के रूप में दो पृथक् जातियाँ मानें, तो सार्थकतापूर्वक यह मत प्रस्तुत किया जा सकता है कि (भारतीय प्राङ्गण में) आदिम गणमूलक कबीलों की-सी समाज-व्यवस्था पर राज्यतंत्र-प्रणाली की विजय की जो झाँकी कालान्तर में प्रकट हुई और जिस प्रकार प्राचीन (वैदिक) धर्म में क्रमशः लिंगपूजा एवं मातृदेवी की उपासना को भी स्थान मिलता चला गया तथा अमूर्त्त प्रतीकों की भूमिका से हटकर धीरे-धीरे देवोपासना एवं भक्तिभावना के युग में आकर मानवमूर्तियों के रूप में उपासना का जिस प्रकार का दृश्य सामने आया, यह सबकुछ अंततोगत्वा विजेताओं पर विजितों की निर्णायक जीत का ही सूचक था ! विशेष करके यज्ञ के बजाय पूजा द्वारा उपासना की प्रणाली के उद्भव और मूर्ति-पूजा से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य सभी बातों के विकास में तो निश्चय ही उक्त द्रविड़ प्रभाव का प्रमुख हाथ रहा होगा !'

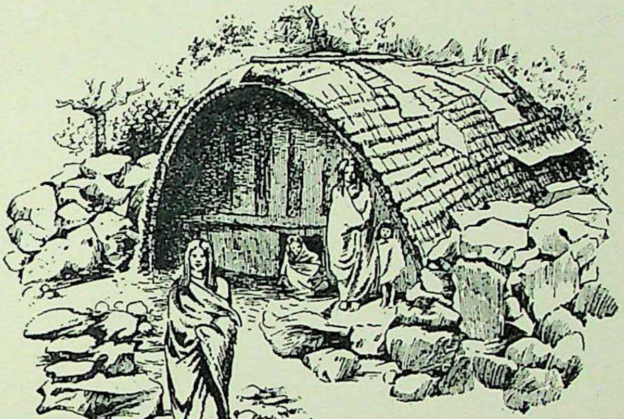

दक्षिण भारत के नीलगिरि-क्षेत्र में बसनेवाली 'टोडा' नामक द्रविड़ आदिम जाति की पीपानुमा छतवाली झोपड़ी, जो भारतीय चैत्यों का प्रारूप मानी जाती है।

भारतीय स्थापत्य का विकास

विद्वानों की यह भी धारणा है कि भारतीय स्थापत्य के मूल स्रोत प्राचीन द्रविड़ लोगों की बाँस की झोपड़ियाँ ही में खोजे जा सकते हैं। इस संबंध में नीलगिरि-क्षत्र की टोडा नामक आदिम जाति की झोपड़ियाँ ध्यान देने योग्य हैं। ये झोपड़ियाँ पीपानुमा छतोंवाले आदि भारतीय चैत्यालयों एवं घोड़ की नाल की शक्ल की मेहराबों का प्रारूप मानी जाती हैं। आम तौर पर संसार के अन्य किसी भी प्राचीन देश के स्थापत्य में इस प्रकार की गोलाकार छतों की प्रणाली देखने को नहीं मिलती। अन्यत्र हमें प्रायः मिस्री देवालयों की छतों की भाँति चौरस छतों का ही प्रचलन देखने को मिलता है। यदि हम भारतीय गुहा-मंदिरों के प्राचीनतम नमनों पर ध्यान दें, तो यह महसूस किए बिना नहीं रह सकते कि उनकी रचना काष्ठनिर्मित गृहों के अनुकरण में ही हुई है। मानमोडा, नासिक, भाजा और बराबर नामक स्थानों की प्रथम से तृतीय शताब्दी ई० पू० तक की गुफाओं में (जो कि आन्ध्र, शुंग एवं मौर्यकाल का प्रतिनिधित्व करती हैं) यह बात विशेष रूप से प्रकट है।

इतिहासविदों के अनुसार आर्य-जाति २००० से १५०० ई० पू० के बीच किसी समय अफगानिस्तान एवं हिन्दुकुश के रास्ते भारत में प्रविष्ट हुई होगी। इन लोगों ने अपनी सर्वप्रथम बस्तियाँ ऊपरी सिन्धु-घाटी में स्थापित की थीं; तदनंतर धीरे-धीरे आगे बढ़कर वे गंगा के ऊपरी काँठे में घुसे थे। इसके बाद तो पूर्व से पश्चिम तक ठेठ समुद्र-पर्यन्त सारे उत्तरी भारत में वे फैल गए और विन्ध्य-श्रेणी एवं नर्मदा को लाँघकर कालान्तर में सुदूर दक्षिण में भी उन्होंने अपने पैर पसार लिए।

"वैदिक आर्य काष्ठ-कला में अति निपुण थ। वे लकड़ी के मकान और रथ बनाया करते थे। उन्हें धातु के काम में भी काफी दक्षता प्राप्त थी——वे 'आयस' (संभवतः ताँबा) नामक धातु द्वारा घरेलू बरतनों और यज्ञ-पात्रों का निर्माण करते एवं सुवर्णनिर्मित आभूषणों को काम में लाते थे। कपड़ा बुनने, सिलाई करने, चमड़ा कमाने और मिट्टी के बर्तन बनाने की कला से भी वे सुपरिचित थे। यद्यपि उनके प्राचीन वाङ्मय में इस बात का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता कि वे किसी प्रकार की मूर्तियाँ आदि भी बनाते थे, तथापि यह सोचना असंभव-सा लगता है कि ऐसे कुशल कारीगर किसी भी प्रकार की अलंकरण-क्षमता से सर्वथा शून्य रहे होंगे! वस्तुतः अधिक संभावना तो यही है कि आर्यों की आदि कला अलंकारपरक ही रही होगी, या अधिक सही शब्दों में कहा जाय तो वह अमूर्त्त प्रतीकात्मक कला रही होगी।"

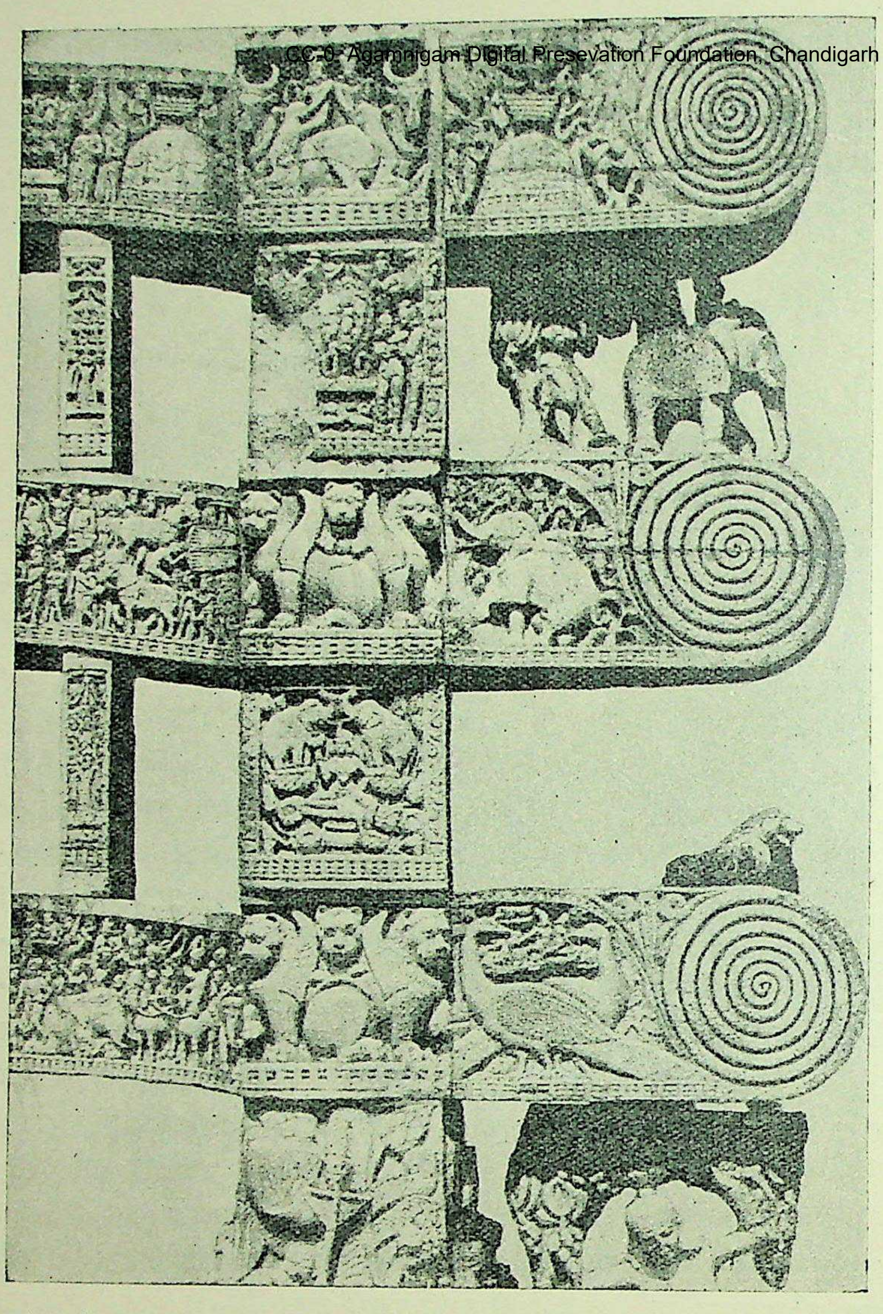

साँची के एक कलापूर्ण तोरण का अंश :: इस मौर्योत्तर एवं शुंग-सातवाहनकालीन सुन्दर पाषाणकृति के अद्भुत शिल्प पर ध्यान दीजिए ! इस अद्वितीय चित्रांकन के कारण ही इस कलाकृति का प्राचीन स्मारकों में एक गौरवपूर्ण स्थान बन गया है।

परन्तु आर्यों की आदि कलाप्रवृत्ति के वे अमूर्त्त भावप्रतीक द्रविड़ों के मन में गहराई के साथ जमी हुई प्रतिछबि-आलेखन एवं अलंकरणबहुल प्रवृत्ति की जड़ों को सर्वथा उखाड़ फेंकने में समर्थ नहीं थे। फलतः उक्त कट्टर प्रतीक-भावना एवं प्रतिछबि-चित्रण की एक दूसरे से विपरीत प्रवृत्तियों के बीच किसी न किसी प्रकार का समझौता होना नितान्त आवश्यक था। डॉ० कुमारस्वामी का कथन है कि भारतीय संस्कृति और कला आर्य एवं द्रविड़ प्रतिभा की सम्मिलित उपज है। वह प्रतीकात्मक वृत्ति की कट्टर सादगी और प्रतिछबि-आलेखन-वृत्ति की जटिल आलंकारिकता, अथवा भाषा और भाव के मूर्त्त-अमूर्त्त पक्ष के समन्वय का एक अनूठा प्रयास है ! इस समझौते की स्पष्ट झाँकी हमें साँची और भरहुत के मूर्ति-शिल्पों, कुषाण-युग की कलाकृतियों, गुप्तकालीन बुद्ध-प्रतिमाओं, ऐलिफैण्टा के गुहामंदिर की महेश्वर-मूर्ति एवं पल्लव शिवलिंग-मूर्तियों तथा दक्षिण भारत की प्रख्यात नटराज-मूर्तियों में सहज ही देखने को मिल सकती हैं। इनमें की प्रत्येक मूर्ति प्रतीक भी है और साथ ही साथ वह प्रतिछबि भी है !

शैशुनाग और नंद युग की कला

जब हम छठी शती ईस्वी पूर्व के पूर्वार्द्ध के आसपास के युग में आते हैं, तो विस्मृत शतियों और सहस्राब्दियों की धुंध बहुत-कुछ साफ होने लगती है। यह समय वह है, जबकि ऐतिहासिक अनिश्चितता एवं निरे अटकल-अनुमान की गड़बड़ में से उभरकर शैशुनाग और नंद नामक दो राजवंश हमारे इतिहास-मंच पर क्रमशः प्रकाश में आते दिखाई देते हैं। शैशुनाग-वंश (६४२-४१३ ई० पू०) का सितारा कोई दो सौ वर्ष से अधिक समय तक चमका और नंद-वंश (४१३-३२२ ई० पू०) भी सौ वर्ष से कुछ अधिक काल तक जगमगाया। शैशुनाग राजाओं में से दो के नाम भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के लिए सुपरिचित हैं। ये हैं––बिम्बिसार श्रेणिक, जिसने राजगृह का निर्माण किया और कुणिक अजातशत्रु, जिसने पाटलिपुत्र नगर की नींव डाली। ये दोनों ही राजपुरुष वर्द्धमान महावीर एवं गौतम बुद्ध के समकालीन थे। उपर्युक्त राजवंशों के नाम पर ही इस युग की कला शैशुनाग-नंदकालीन कहलाती है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इस युग की कला सामान्यतः भारतीय-सुमेरियन एवं भारतीय-ईरानी कला-आदर्शों का सम्मिश्रण कही जा सकती है। प्रारम्भिक भारतीय एवं पश्चिमी एशियाई कला में ऐसे अनेक सामान्य तत्त्व मिलते हैं, जिनसे सुमेरियन, हित्ती, असीरियन, माइकीनियन, क्रीटन, ट्रोजन, लीडियन, फीनिशियन, एकैमेनिड और सीदियन संस्कृतियों से उनके सादृश्य की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ सपक्ष सिंह, किन्नर, चार घोड़ोंवाले सूर्य-रथ, जीवन-वृक्ष, नील और रक्ताभ कमल, घंटाकार स्तंभशीर्ष, स्वस्तिक आदि का उल्लेख किया जा सकता है, जोकि भारतीय और पश्चिमी एशियाई कला दोनों में ही उपलब्ध हैं। विद्वानों ने कड़ा परिश्रम करके पश्चिमी एशियाई कला में सामान्य रूप से पाए जानेवाले इन अभिप्रायों के मूल स्रोत एवं उनके प्रसार-क्रम के विषय में काफी उधेड़बुन की है और कनिंघम, फर्ग्युसन, फुशे, कुमारस्वामी, मार्शल, स्पूनर आदि ने तत्संबंधी कई पांडित्यपूर्ण विवेचन-ग्रंथ भी लिख डाले हैं। परंतु ये सब बातें साधारण पाठकों के समझने के लिए नहीं हैं। यहाँ तो यही भर कहना पर्याप्त होगा कि प्राचीन काल में भारत और पश्चिमी एशियाई देशों के बीच सांस्कृतिक भाईचारे का गाढ़ा नाता निरंतर बना हुआ था, जिससे दोनों क्षेत्रों ने एक-दूसरे के अनुभवों एवं कला-सिद्धियों से पर्याप्त लाभ उठाया था। उन दिनों इन क्षेत्रों के बीच किसी प्रकार की धार्मिक अड़चनों अथवा धर्म-विद्वेष की भावना का लवलेश भी नहीं पाया जाता था——यह बात तो बहुत समय पश्चात् इस्लाम के उदय के साथ पैदा हुई, जिसने प्रत्येक देश को अपनी भौगोलिक सीमाओं के भीतर जकड़कर उसे शेष जगत् से विलग-सा कर दिया।

जिस युग की बात हम कह रहे हैं, उन दिनों की भारतीय कला के अलंकरणों में वस्तुतः बहुत कम ऐसी विशिष्टताएँ हैं, जो कि विशुद्ध भारतीय कही जा सकती हैं। इसके बजाय ऐसे तत्त्वों का ही उसमें बाहुल्य है, जो कि भारत और पश्चिमी एशिया में समान रूप से व्याप्त है। विशेष करके इस युग की भारतीय और ईरानी कला में अद्भुत समानता की छाप है! चूंकि पुरातनकाल में ईरान भारत का निकटस्थ पड़ौसी था, अर्थात् भारत और ईरान की सीमाएँ उन दिनों मिलती थीं, अतः व्यापारिक मार्गों द्वारा अनेक

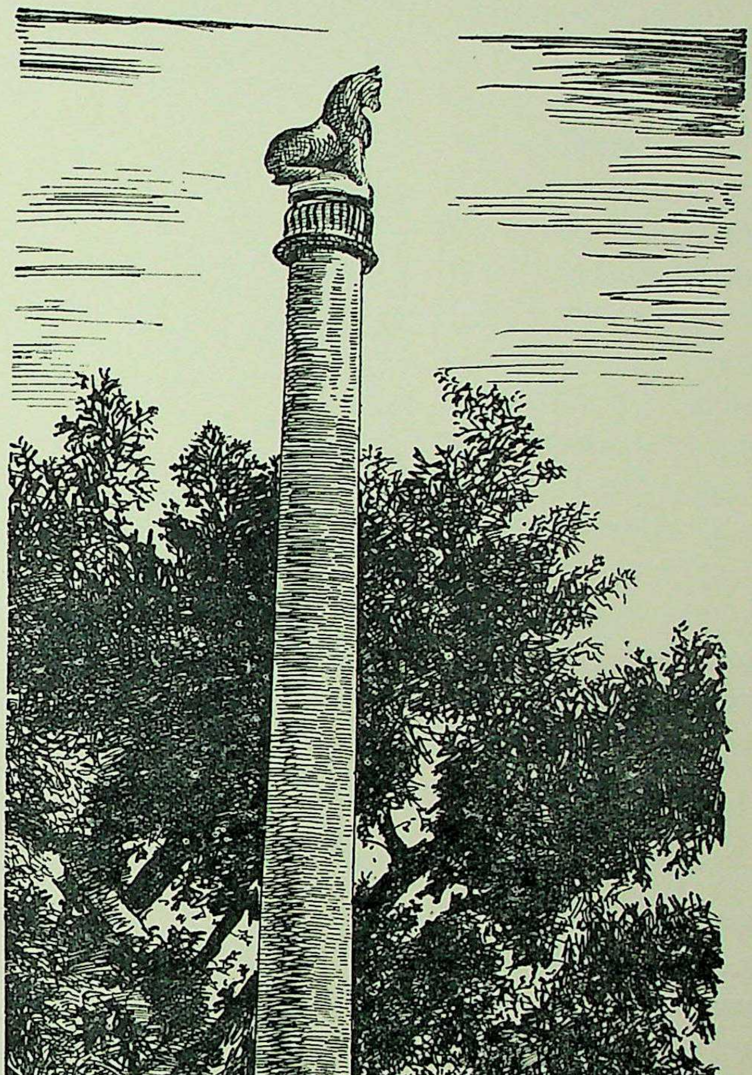

मौर्यकालीन कला का एक उदाहरण:: लौरिया-नंदनगढ़ का अशोकस्तंभ। स्तंभ-शीर्ष की सिंहमूर्ति पश्चिमी एशियाई कला-आदर्शों का स्मरण कराती है!

ईरानी एवं पश्चिमी एशियाई कला-अभिप्राय सहज ही भारत तक आ पहुँचे थे और कालान्तर में यहाँ की कला में घुल-मिल गए थे। यह याद रखना चाहिए कि उन दिनों भारत का उत्तर-पश्चिमी सीमावर्ती क्षेत्र आज की तरह वीरान और शुष्क नहीं था, साथ ही उन दिनों उस इलाके में से होकर अनेक स्थल-मार्ग और तटीय व्यापारिक मार्ग भी आते-जाते थे। सम्राट् अशोक ने अपने राजप्रासादों एवं धर्म-प्रचारार्थ निर्मित स्तंभों आदि के निर्माण-कार्य में संभवतः ईरानी कारीगरों को भी जुटाया था और यह सोचना असंगत न होगा कि मौर्यकालीन रचनाओं में प्रयुक्त कतिपय नवीन अलंकार कदाचित् इन्हीं विदेशी कलाकारों द्वारा भारत में प्रविष्ट कराए गए थे। परंतु ये नवीन तत्व भारतीय कला-आदर्शों के उस विराट् कलेवर के एक नगण्य अंश जैसे ही रहे होंगे, जो कि अशोक से पहले के युग में गंगा के काँठे से लेकर भूमध्यसागर के क्षेत्र तक पसरा हुआ था!

मौर्यकाल

शैशुनाग और नंद युग की सब से मार्के की ऐतिहासिक घटनाएँ हैं ४८३ ई० पू० के लगभग भगवान् गौतम बुद्ध का परिनिर्वाण एवं ३२७ ई० पू० सिकन्दर का भारत पर आक्रमण! तदनंतर भारतीय इतिहास के रंगमंच पर ३२१ से २९७ ई० पू० तक पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) में सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य एवं २७२ से २३५ ई० पू० तक उसके महान् पौत्र 'देवानांप्रिय' सम्राट् अशोक के शासनकाल का युग जगमगाता है। राज्यारोहण के कुछ ही दिनों बाद अशोक बौद्ध धर्म का श्रद्धालु अनुयायी बन गया और कालान्तर में उसके हाथों बौद्ध मत दूर-दूर तक विस्तृत मौर्य साम्राज्य के राजधर्म के आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। इस काल के बौद्ध धर्म का रूप पश्चात्कालीन महायान बौद्ध संप्रदाय का-सा नहीं था, जिसमें आगे चलकर असंख्य देवी-देवताओं की भरमार हो गई थी। इसके विपरीत वह मूलतः एक प्रकार की बुद्धिवादी नैतिकता की आचार-भित्ति पर स्थापित था, जिसमें आध्यात्मिक चिंतन एवं देवमूलक धर्मानुष्ठान के भी कुछ चिह्न दृष्टिगत होने लग गए थे। अशोक ने सारे भारतवर्ष, पड़ौसी लंका एवं एशिया, अफ्रीका और योरप के दूर-दूर के भूभागों तक किस प्रकार अपने धर्म-प्रचारकों के दल भेजकर बौद्ध मत के प्रसार में योग दिया, यह सर्वविदित है। उसका साम्राज्य उत्तरी, मध्य एवं दक्षिणी भारत में तथा आधुनिक पश्चिमी पाकिस्तान एवं अफगानिस्तान द्वारा सूचित समस्त भूभाग पर फैला हुआ था। इस साम्राज्य के इस छोर से उस छोर तक उसने अनेक शिलाभिलेख स्थापित कर दिए थे, जिन पर अन्य मत-मतान्तरों के प्रति तनिक भी विरोध या द्वेष न झलकाते हुए नैतिकतामूलक बौद्ध सिद्धान्तों के प्रतिपालन के विषय में विविध आदेश खुदवाकर प्रत्यांकित कर दिए गए थे! अशोक के युग की कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण चतुर्मुख सिंह-मूर्ति से युक्त सारनाथ का वह प्रसिद्ध स्तम्भ है, जिसका शीर्षभाग भारतीय गणराज्य के राज्यचिह्न के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

यवन, शक और कुषाण राजवंशों का युग

अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य की केन्द्रीय शक्ति जब क्षीण हो चली, तो अफगानिस्तान एवं सिन्धु नदी के

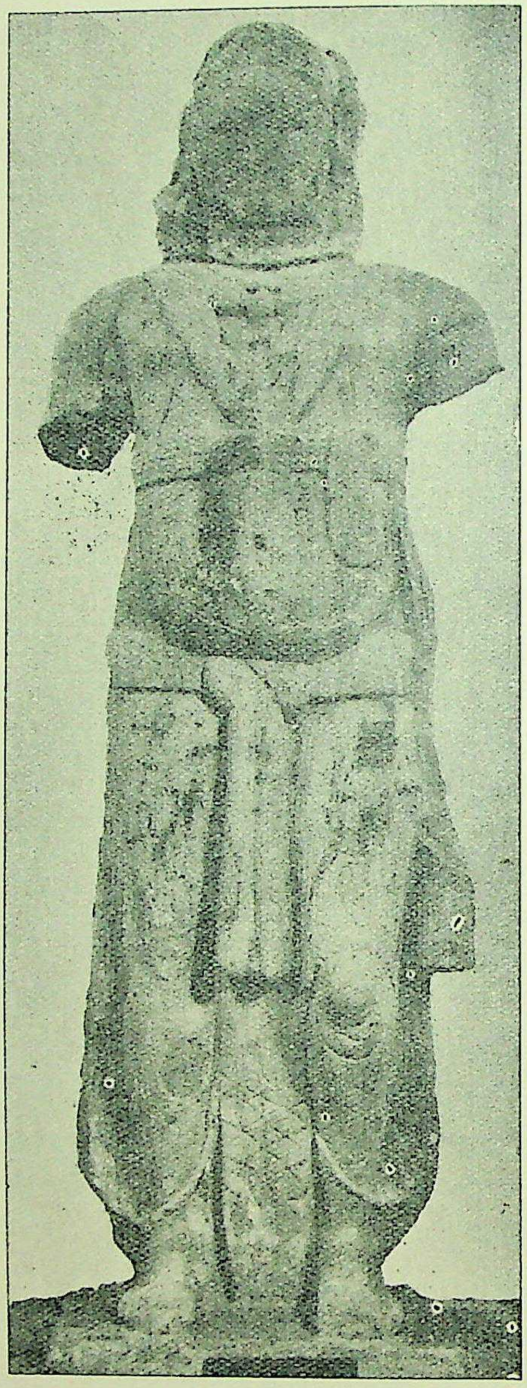

मथुरा के समीप परखम नामक स्थान में प्राप्त द्वितीय शती ई० पू० की एक भीमकाय यक्षमूर्ति
[फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']

पश्चिम के तमाम उत्तर-पश्चिमी सीमान्तवर्ती क्षेत्र पर ग्रीक वंश के बाख्त्री राजाओं का बोलबाला छा गया। पुरातत्त्ववेत्ताओं को खुदाई के क्रम में इस युग के अनेक सुन्दर सिक्के प्राप्त हुए हैं, जो कि बैक्ट्रिया के राजा डेमिट्रिअस, काबुल के शासक मैनेंडर, तथा तक्षशिला के ऐण्टीयाल्किदस आदि द्वारा ढाले गए थे। ये सिक्के मुद्रांकन-कला के अति उत्तम नमूनों के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इन राजाओं में मैनेंडर बौद्ध ग्रंथों में मिलिंद के नाम से प्रख्यात है एवं 'मिलिंद-प्रश्न' नामक सुप्रसिद्ध धर्मपोथी में प्रश्नकर्ता के रूप में उसका नाम सदा के लिए अमर बन गया है। कहते हैं, भारत पर अपने आक्रमण के दौर में वह मथुरा, साकेत, माध्यमिका (चित्तौड़) और कदाचित् शुंग-साम्राज्य की तत्कालीन राजधानी पाटलिपुत्र तक भी जा पहुँचा था। परंतु आखिर यह विजेता स्वयं विजितों के हाथों जीत लिया गया, कारण वह बौद्ध धर्म का पक्का अनुयायी बन गया। धर्म-परिवर्तन का इस तरह का अन्य एक उदाहरण तक्षशिला के राजा ऐण्टीयाल्किदस के राजदूत हेलियोडोरस का मिलता है, जिसने भागवत वैष्णव धर्म अंगीकार कर लिया था। कृष्ण-वासुदेव को उत्सर्गित उसके द्वारा स्थापित गरुड़-स्तम्भ विदिशा के निकट बेसनगर नामक स्थान में आज भी खड़ा है (दे० पृ० २२८७ का चित्र)।

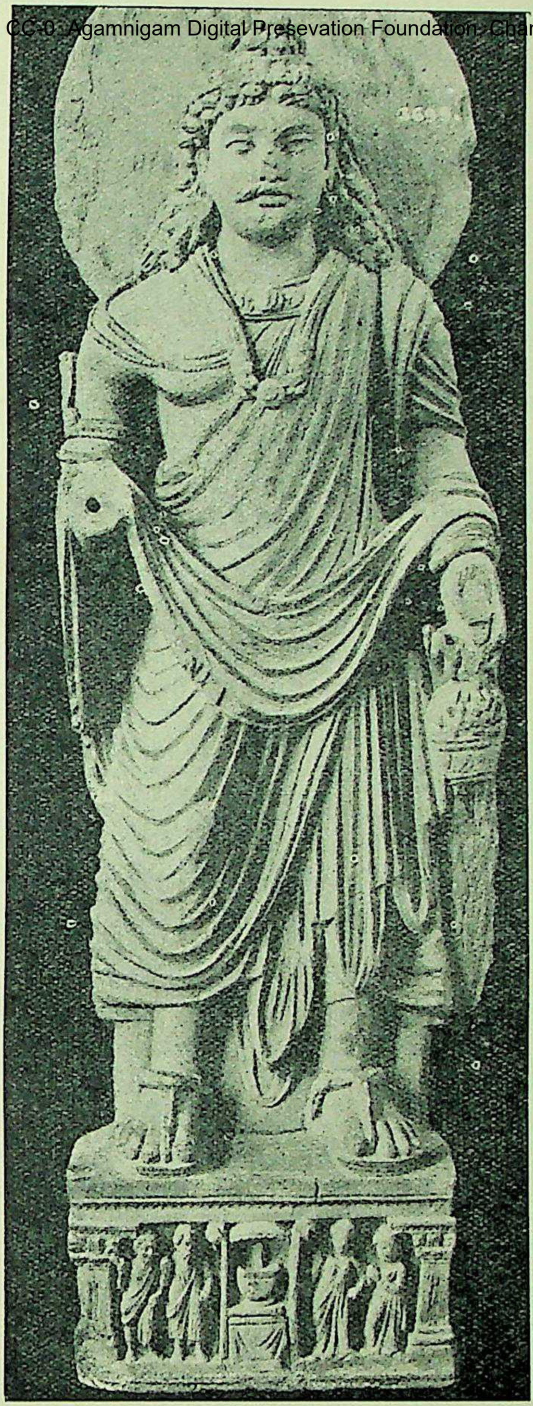

गांधार कला का एक नमूना :: मरदान से प्राप्त बोधिसत्त्व की प्रतिमा [फो० — 'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग]।

बैक्ट्रिया और पार्थिया की यवन (ग्रीक) शक्तियों को आगे आनेवाले शकों या सीदियनों एवं कुषाणों के आक्रमणों के आगे लथड़ जाना पड़ा और कालान्तर में १३० ई० पू० के लगभग उनका सितारा सदा के लिए अस्त हो गया। उनके बाद ईस्वी सन् के आरंभ से लेकर तीन सौ वर्ष बाद तक विजेता शक-कुषाणों का ही झंडा फहराया। प्रतापी सम्राट् कनिष्क के राज्यकाल में, जिसकी राजधानी पुरुषपुर (आधुनिक पेशावर) में थी, कुषाण साम्राज्य का गौरव चरम सीमा तक उठ गया। विद्वानों के कथनानुसार भारतीय शक पूर्णतया बौद्ध बन गए थे और उनके आश्रय में रोमन एवं उत्तरकालीन ग्रीक नमूनों पर आधारित मूर्तिशिल्प एवं स्थापत्य की एक व्यापक कलात्मक प्रवृत्ति पनपी थी, साथ ही देवपूजा-मूलक महायान बौद्ध संप्रदाय का रहस्यवादी रूप भी अपने संपूर्ण प्रकाश के साथ निखरा था।§

---

§ भगवान् बद्ध द्वारा अपने निकटस्थ शिष्यों और अनुयायियों को उपदिष्ट आदि धर्मादेशों और नियमों का रूप अति कठोर एवं अग्राह्य था। उन्हें आचरण में लाना सरल नहीं था। गिने-चुने जनों द्वारा गृहीत यही मार्ग बाद में हीनयान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। साधारण जनता तो अनेक देवी-देवताओं की भव्य मंडली की पूजा-उपासना की अभ्यस्त थी। वह इस प्रकार के 'अनीश्वरवादी' विचारों को शीघ्रता से अंगीकार नहीं कर सकती थी। फलतः एक प्रकार का समझौता आवश्यक हो गया और बौद्ध मत के प्रांगण में भी 'ध्यानी बुद्ध', 'आदि बुद्ध', 'मानुषी बुद्ध', 'बोधिसत्त्व', नारी-शक्तियाँ, आदि-आदि विविध प्रकार के देवी-देवताओं का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार उस विशद बौद्ध देव-मंडली की सृष्टि हुई, जिसे आज हम पुरातत्त्व-संग्रहालयों में इतनी प्रचुरता के साथ आसन जमाये देखते हैं! चूंकि यह नया पंथ सरलतापूर्वक ग्राह्य था, अतः वह 'महायान' अर्थात् बहुसंख्यक लोगों द्वारा अनुसरण किया जानेवाला महापथ कहलाया।

जिस प्रकार अशोक के स्तंभों और अभिलेखों तथा साँची, गया, अमरावती और भरहुत के स्तूपों एवं वेष्टनियों का शिल्प प्रारंभिक बौद्ध कला की उत्कृष्ट सिद्धियों का परिचायक है, उसी प्रकार कुषाण या ग्रीक-बौद्ध कला का परिचय हमें अफगानिस्तान के सीमावर्ती क्षेत्र में विकसित प्रसिद्ध गांधार-कला तथा मथुरा के मूर्तिशिल्प द्वारा मिलता है। इस युग की कला के अन्य उल्लेखनीय स्मारक काश्मीर के मार्तण्ड, पाटन एवं पांड्रेथान (लगभग ८वीं शती ई०) के मंदिर, बेसनगर का गरुड़ध्वज-स्तंभ, अमरावती के स्तूप की वेष्टनी (१५०-२०० ई०) एवं अजन्ता के गुहामंदिरों की आरंभिक चित्रकारी आदि हैं।

गुप्तकाल :: भारतीय कला का स्वर्णयुग

इसके बाद का महान् युग, जो प्रतापी गुप्त राजवंश के आश्रय में पुष्पित-पल्लवित हुआ, प्रायः 'भारतीय कला का स्वर्ण-युग' कहकर पुकारा जाता है। चंद्रगुप्त मौर्य और अशोक की तरह महान् गुप्त सम्राटों की भी राजधानी पाटलिपुत्र (पटना) में स्थापित थी और उनका साम्राज्य सौराष्ट्र से लेकर बंगाल तक समूचे उत्तरी भारत के विस्तार में फैला हुआ था। गुप्त सम्राटों के शासनकाल में और बाद की शताब्दियों में भी भारत पर मध्य एशिया की श्वेत हूण नामक बर्बर जाति के उत्तरोत्तर हमले हुए और इन लोगों ने सारे पंजाब एवं राजस्थान के क्षेत्र को रौंद डाला। ये आक्रमणकारी अंत में उसी भूमि पर बस गए, जिसे उन्होंने तलवार के बल छीन लिया था! साथ ही वे हिंदूधर्मावलंबी भी बन गए और हिंदू संस्कृति से पूर्णतया आच्छन्न हो गए। यही लोग वर्तमान राजपूतों के पूर्वज बतलाए जाते हैं।

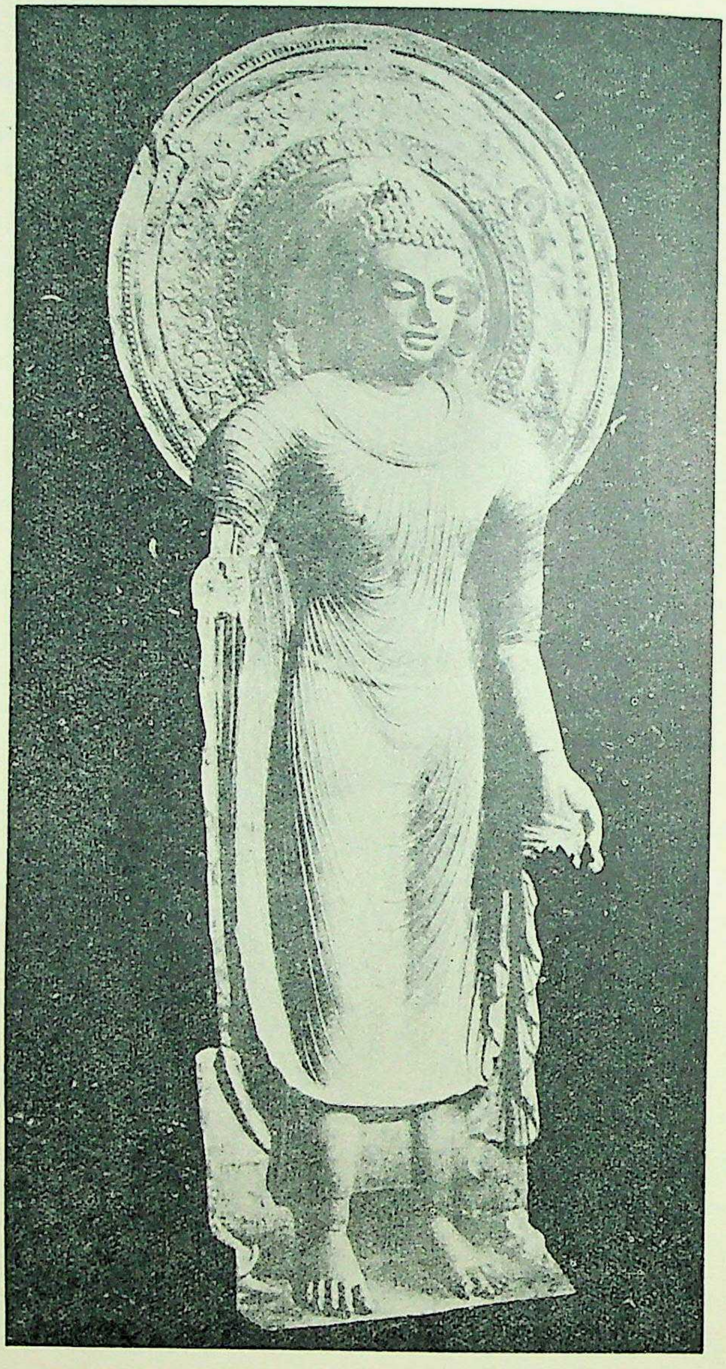

मथुरा के पुरातत्त्व-संग्रहालय में सुरक्षित गुप्तकाल की संसार-प्रसिद्ध बुद्ध-प्रतिमा [फो०— 'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

इन्हीं दिनों की बात है कि चीनी यात्री फाहियान ने अपनी भारत-यात्रा (३९९-४१३ ई०) की। इस यात्रा का जो विस्तृत वृत्तान्त वह लिखकर छोड़ गया है, उससे गुप्तकाल की ऐतिहासिक जानकारी पाने में बहुत-कुछ मदद हमें मिलती है। गुप्त सम्राट् स्वयं तो वैष्णव थे, परन्तु उन्होंने बौद्ध मत को भी प्रश्रय प्रदान किया था। फाहियान ने लिखा है कि उनके शासनकाल में ये दोनों मत एक ही साथ फल-फूल रहे थे।

गुप्त साम्राज्य के अवसान के बाद उत्तर भारत में कन्नौज के प्रतापी सम्राट् हर्षवर्द्धन (६०६-६४८ ई०) का उदय हुआ। हर्ष के ही शासनकाल में य्वान च्वाङ् नामक द्वितीय प्रसिद्ध चीनी यात्री भारत आया (६२९-६४५ ई०), जिसके द्वारा लिखित इस देश का आँखोंदेखा हाल बड़ा ही रोचक है। य्वान च्वाङ् लिखता है कि सम्राट् हर्ष बहुत ही उदार विचार का शासक था और उसने शैव, सौर, बौद्ध आदि सभी मतों को अपने यहाँ आश्रय दे रक्खा था एवं उनके भव्य देवालय निर्मित करवाए थे। पाँचवीं, छठी और सातवीं शताब्दी ई० का युग संस्कृत साहित्य एवं भारतीय विद्याओं के विकास का सब से ज्वलंत

युग माना जाता है। कालिदास, भारवि, भर्तृहरि, बाणभट्ट जैसे उद्भट कवि एवं साहित्यकार इसी युग की उपज थे। उधर भारतीय ज्योतिष एवं विज्ञान के क्षेत्र में भी इस काल में अनेक महान् नक्षत्र जगमगाए थे। यही नहीं, समुद्र-यात्रा एवं देश-देशांतरों में भारतीय संस्कृति के प्रचार की भी अति प्रबल लहर इस युग में उठी थी, जिसके फलस्वरूप सुमात्रा, जावा, स्याम, कंबोडिया, चीन और जापान जैसे दूर-दूर के देशांतरों तक भारतीय संस्कृति की पताका फहराई गई थी।

गुप्तकाल (३२०-६०० ई०) की कला के सर्वोत्कृष्ट स्मारक सारनाथ का वास्तु-शिल्प, अजंता की मूर्तिकला एवं चित्रकारी तथा लंका के सिगिरिया नामक स्थान की चित्रकारी और भवन-निर्माणकला (५ वीं शती ई०) हैं। ६०० से ८५० ई० तक का समय भारतीय कला का सर्वोत्कृष्ट युग माना जाता है, जिसमें ८ वीं शताब्दी विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। अजन्ता की उत्कृष्ट चित्रकारी एवं एलोरा का भव्य शिल्प इसी युग की सृष्टि हैं। इस युग में आकर चित्रकला, मूर्तिशिल्प और स्थापत्य सभी कुछ ऐसे फूले-फूले, जैसे कि इससे पहले कभी देखने को नहीं मिल सके थे। चट्टानों को काटकर बनाए गए एलोरा, ऐलिफैंटा और मामल्लपुरम् (महाबलीपुरम्) के मन्दिर तथा लंका के अनुराधापुर के देवालय एवं जावा के बोरोबोदुर जैसी महान् रचनाएँ भी इसी अद्भुत युग की देन हैं। इस महान् युग की कलासिद्धियों के बारे में आगे चलकर आप विशेष परिचय पा सकेंगे।

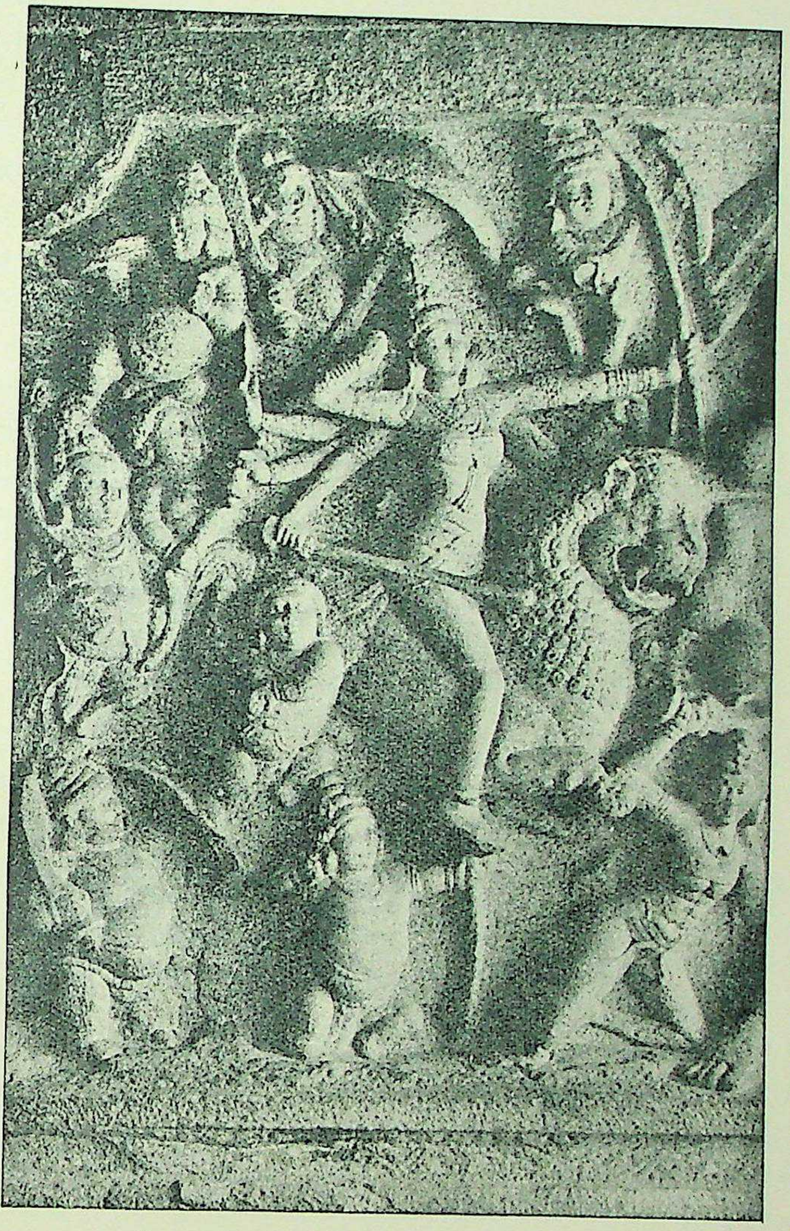

मामल्लपुरम् (महाबलीपुरम्) के पल्लवकालीन गुहा-मंदिरों के उत्कृष्ट शिल्प का एक नमूना :: दुर्गा महिषमर्दिनी का मूर्तिचित्र [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग' के सौजन्य से]।

उत्तरकालीन युग :: राजपूत-काल

हर्ष का साम्राज्य उसकी मृत्यु के बाद तेजी से बिखर चला और सारा उत्तरी भारत अनेक राजपूत वंशों द्वारा शासित विविध राज्यों में विभक्त हो गया। यह काल राजपूत-काल के नाम से पुकारा जाता है। इसका दौरदौरा १२ वीं शताब्दी ई० तक उन दिनों तक बना रहा, जब तक कि सारा देश मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा रौंद न डाला गया। राजस्थान और पंजाब के हिमाचल-क्षेत्रीय भूभागों के जिन हिंदू राज्यों को मुसलमान अधीन न कर पाए, वहाँ कला के इस राजपूत-युग का बोलबाला ठेठ १९ वीं शताब्दी के अंत तक बना रहा। इस कालावधि में दक्षिण भारत में चालुक्य और होयसल राजाओं की तथा बंगाल एवं उड़ीसा में (१२ वीं शती ई० तक) विविध बौद्ध राज्यतंत्रों की पताका फहराती रही। उधर सुदूर दक्षिण में चोल, चेर और

जिस प्रकार अशोक के स्तंभों और अभिलेखों तथा साँची, गया, अमरावती और भरहुत के स्तूपों एवं वेष्टनियों का शिल्प प्रारंभिक बौद्ध कला की उत्कृष्ट सिद्धियों का परिचायक है, उसी प्रकार कुषाण या ग्रीक-बौद्ध कला का परिचय हमें अफगानिस्तान के सीमावर्ती क्षेत्र में विकसित प्रसिद्ध गांधार-कला तथा मथुरा के मूर्तिशिल्प द्वारा मिलता है। इस युग की कला के अन्य उल्लेखनीय स्मारक काश्मीर के मार्तण्ड, पाटन एवं पांड्रेथान (लगभग ८ वीं शती ई०) के मंदिर, बेसनगर का गरुड़ध्वज-स्तंभ, अमरावती के स्तूप की वेष्टनी (१५०-२०० ई०) एवं अजन्ता के गुहा-मंदिरों की आरंभिक चित्रकारी आदि हैं।

गुप्तकाल :: भारतीय कला का स्वर्णयुग

इसके बाद का महान् युग, जो प्रतापी गुप्त राजवंश के आश्रय में पुष्पित-पल्लवित हुआ, प्रायः 'भारतीय कला का स्वर्ण-युग' कहकर पुकारा जाता है। चंद्रगुप्त मौर्य और अशोक की तरह महान् गुप्त सम्राटों की भी राजधानी पाटलिपुत्र (पटना) में स्थापित थी और उनका साम्राज्य सौराष्ट्र से लेकर बंगाल तक समूचे उत्तरी भारत के विस्तार में फैला हुआ था। गुप्त सम्राटों के शासनकाल में और बाद की शताब्दियों में भी भारत पर मध्य एशिया की श्वेत हूण नामक बर्बर जाति के उत्तरोत्तर हमले हुए और इन लोगों ने सारे पंजाब एवं राजस्थान के क्षेत्र को रौंद डाला। ये आक्रमणकारी अंत में उसी भूमि पर बस गए, जिसे उन्होंने तलवार के बल छीन लिया था! साथ ही वे हिंदूधर्मावलंबी भी बन गए और हिंदू संस्कृति से पूर्णतया आच्छन्न हो गए। यही लोग वर्तमान राजपूतों के पूर्वज बतलाए जाते हैं।

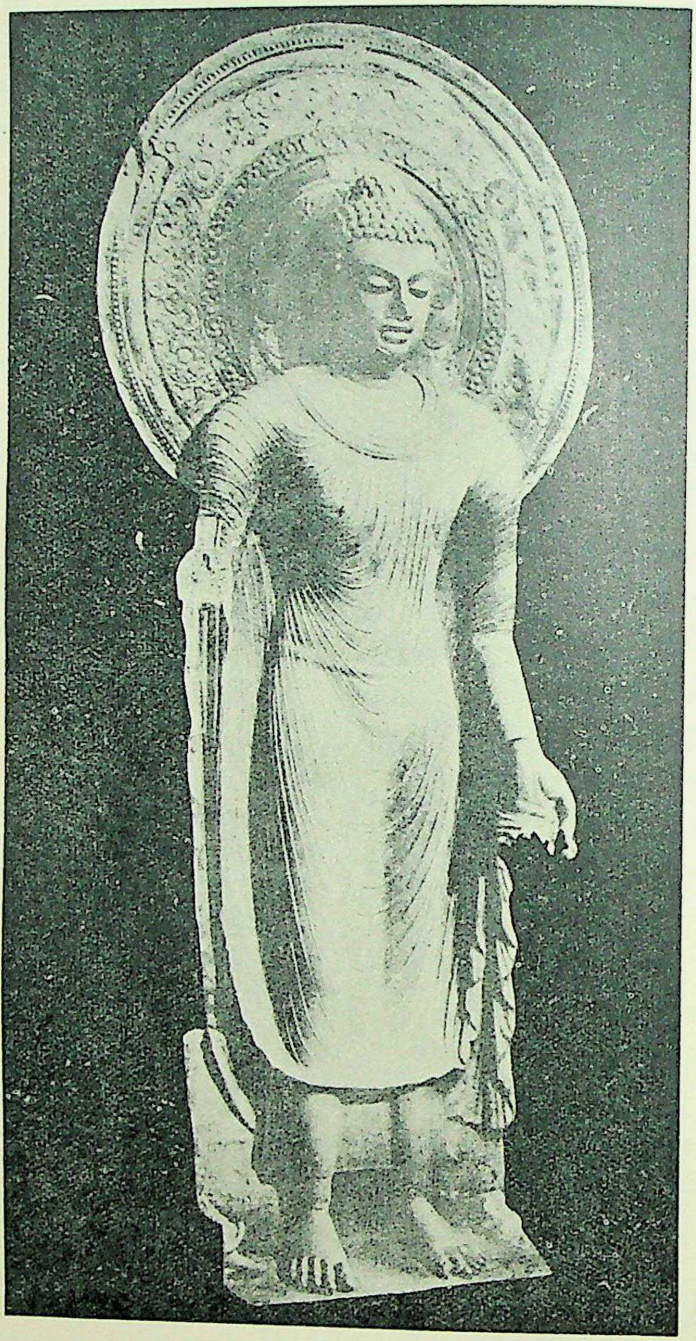
मथुरा के पुरातत्त्व-संग्रहालय में सुरक्षित गुप्तकाल की संसार-प्रसिद्ध बुद्ध-प्रतिमा [फो०— 'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

इन्हीं दिनों की बात है कि चीनी यात्री फाहियान ने अपनी भारत-यात्रा (३९९-४१३ ई०) की। इस यात्रा का जो विस्तृत वृत्तान्त वह लिखकर छोड़ गया है, उससे गुप्तकाल की ऐतिहासिक जानकारी पाने में बहुत-कुछ मदद हमें मिलती है। गुप्त सम्राट् स्वयं तो वैष्णव थे, परन्तु उन्होंने बौद्ध मत को भी प्रश्रय प्रदान किया था। फाहियान ने लिखा है कि उनके शासनकाल में ये दोनों मत एक ही साथ फल-फूल रहे थे।

गुप्त साम्राज्य के अवसान के बाद उत्तर भारत में कन्नौज के प्रतापी सम्राट् हर्षवर्द्धन (६०६-६४८ ई०) का उदय हुआ। हर्ष के ही शासनकाल में य्वान च्वाङ् नामक द्वितीय प्रसिद्ध चीनी यात्री भारत आया (६२९-६४५ ई०), जिसके द्वारा लिखित इस देश का आँखोंदेखा हाल बड़ा ही रोचक है। य्वान च्वाङ् लिखता है कि सम्राट् हर्ष बहुत ही उदार विचार का शासक था और उसने शैव, सौर, बौद्ध आदि सभी मतों को अपने यहाँ आश्रय दे रखा था एवं उनके भव्य देवालय निर्मित करवाए थे। पाँचवीं, छठी और सातवीं शताब्दी ई० का युग संस्कृत साहित्य एवं भारतीय विद्याओं के विकास का सब से ज्वलंत

युग माना जाता है। कालिदास, भारवि, भर्तृहरि, बाणभट्ट जैसे उद्भट कवि एवं साहित्यकार इसी युग की उपज थे। उधर भारतीय ज्योतिष एवं विज्ञान के क्षेत्र में भी इस काल में अनेक महान् नक्षत्र जगमगाए थे। यही नहीं, समुद्र-यात्रा एवं देश-देशांतरों में भारतीय संस्कृति के प्रचार की भी अति प्रबल लहर इस युग में उठी थी, जिसके फलस्वरूप सुमात्रा, जावा, स्याम, कंबोडिया, चीन और जापान जैसे दूर-दूर के देशांतरों तक भारतीय संस्कृति की पताका फहराई गई थी।

गुप्तकाल (३२०-६०० ई०) की कला के सर्वोत्कृष्ट स्मारक सारनाथ का वास्तु-शिल्प, अजंता की मूर्तिकला एवं चित्रकारी तथा लंका के सिगिरिया नामक स्थान की चित्रकारी और भवन-निर्माणकला (५ वीं शती ई०) हैं। ६०० से ८५० ई० तक का समय भारतीय कला का सर्वोत्कृष्ट युग माना जाता है, जिसमें ८ वीं शताब्दी विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। अजन्ता की उत्कृष्ट चित्रकारी एवं एलोरा का भव्य शिल्प इसी युग की सृष्टि हैं। इस युग में आकर चित्रकला, मूर्तिशिल्प और स्थापत्य सभी कुछ ऐसे फूले-फूले, जैसे कि इससे पहले कभी देखने को नहीं मिल सके थे। चट्टानों को काटकर बनाए गए एलोरा, एलिफण्टा और मामल्लपुरम् (महाबलीपुरम्) के मन्दिर तथा लंका के अनुराधापुर के देवालय एवं जावा के बोरोबोदुर जैसी महान् रचनाएँ भी इसी अद्भुत युग की देन हैं। इस महान् युग की कलासिद्धियों के बारे में आगे चलकर आप विशेष परिचय पा सकेंगे।

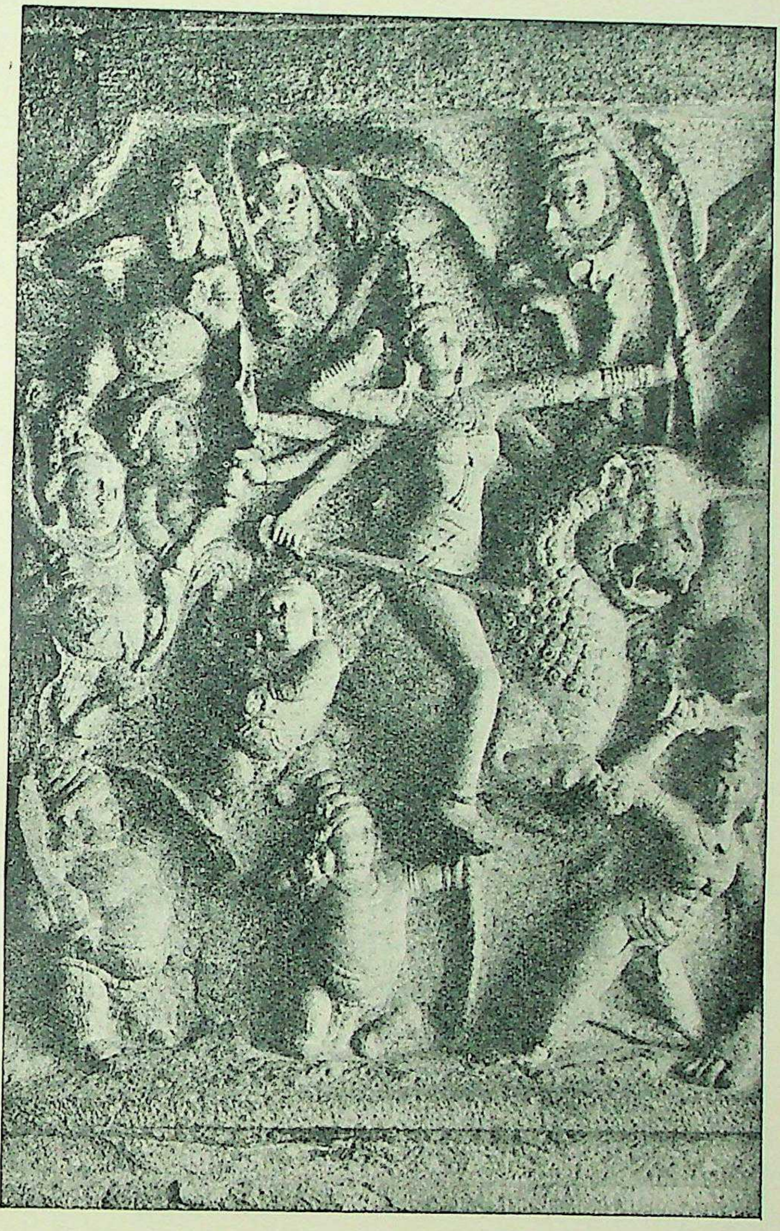

मामल्लपुरम् (महाबलीपुरम्) के पल्लवकालीन गुहा-मंदिरों के उत्कृष्ट शिल्प का एक नमूना :: दुर्गा महिषमर्दिनी का मूर्तिचित्र [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग' के सौजन्य से]।

उत्तरकालीन युग
:: राजपूत-काल

हर्ष का साम्राज्य उसकी मृत्यु के बाद तेजी से बिखर चला और सारा उत्तरी भारत अनेक राजपूत वंशों द्वारा शासित विविध राज्यों में विभक्त हो गया। यह काल राजपूत-काल के नाम से पुकारा जाता है। इसका दौरदौरा १२ वीं शताब्दी ई० तक उन दिनों तक बना रहा, जब तक कि सारा देश मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा रौंद न डाला गया। राजस्थान और पंजाब के हिमाचल-क्षेत्रीय भूभागों के जिन हिंदू राज्यों को मुसलमान अधीन न कर पाए, वहाँ कला के इस राजपूत-युग का बोलबाला ठेठ १९ वीं शताब्दी के अंत तक बना रहा। इस कालावधि में दक्षिण भारत में चालुक्य और होयसल राजाओं की तथा बंगाल एवं उड़ीसा में (१२ वीं शती ई० तक) विविध बौद्ध राज्यतंत्रों की पताका फहराती रही। उधर सुदूर दक्षिण में चोल, चेर और

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पांड्य नामक तीन पुरातन राज्य अपनी अति प्राचीन संस्कृति की धारा को सर्वथा सुरक्षित बनाए रहे। उनकी अनूठी सिद्धियाँ वाङ्मय के क्षेत्र में एवं योरप तथा सुदूर पूर्व के देशान्तरों के साथ समुद्री व्यापार के रूप में चमत्कृत हुईं।

९ वीं शती से १८ वीं शती ई० तक के उत्तरकालीन युग की सबसे महत्वपूर्ण कलाकृतियाँ ये हैं--दक्षिण की (नटराज आदि की) कांस्य शैव प्रतिमाएँ; तांजौर (१० वीं से १२ वीं शती ई०), विजयनगर (१४ वीं से १६ वीं शती ई०), मदुराई (१७ वीं शती ई०), अवदैयार, कोविल, ताड़पत्री (१६ वीं शती ई०), पेरूर, श्रीरंगम् एवं रामेश्वरम् आदि का स्थापत्य और मूर्तिशिल्प; मैसूर का चालुक्य स्थापत्य (बेलूर और हालेविद १२ वीं-१३ वीं शती ई०); जावा (१४ वीं शती ई० तक) और कंबोडिया (१२ वीं शती ई० तक) का मूर्तिशिल्प और स्थापत्य; आबू (११ वीं से १३ वीं शती तक), उड़ीसा (भुवनेश्वर, कोणार्क तथा पुरी ९ वीं से १३ वीं शती तक) और खजुराहो (लगभग १००० ई०) के देवालय; राजपूत चित्रकारी और स्थापत्य (१९ वीं शती तक); मुगल चित्रकारी और स्थापत्य (१६ वीं से १८ वीं शती ई० तक); नेपाली बौद्ध कांस्य मूर्तिशिल्प एवं बरमा तथा स्याम की कलाकृतियाँ।

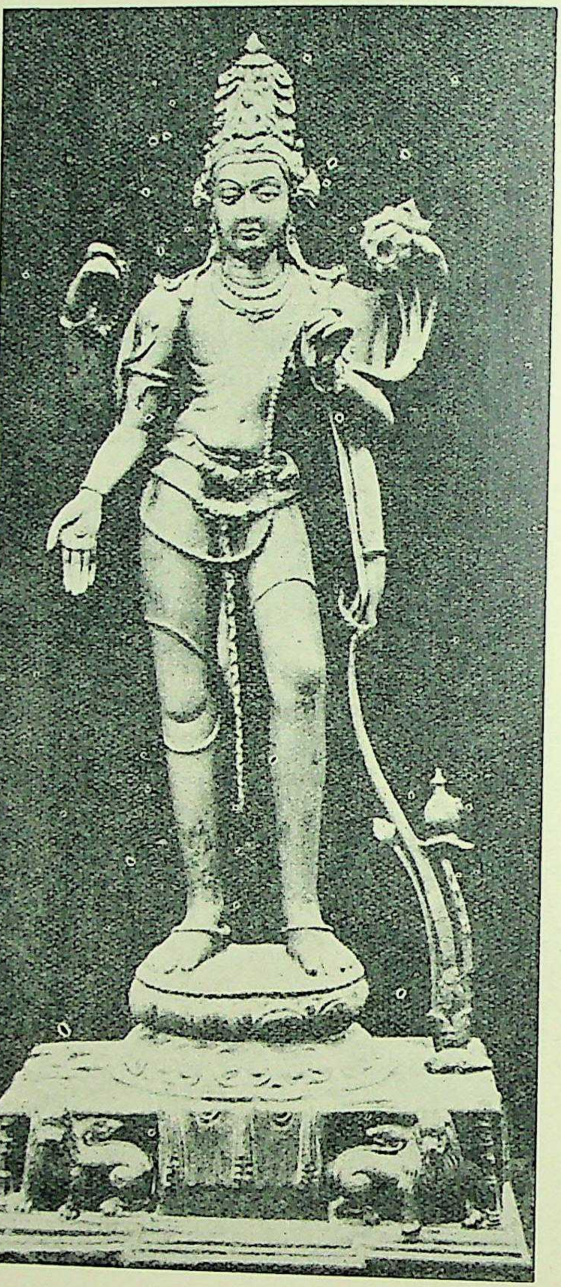

कुर्किहार नामक स्थान से प्राप्त पाल-युग (९वीं शती ई०) की एक विशालकाय कांस्य वोधिसत्त्व-प्रतिमा [फो०—'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

मुस्लिम शासनकाल में भारतीय मूर्तिशिल्प का विकास अवरुद्ध हो गया, कारण मुसलमान मूर्ति-निर्माण के घोर विरोधी थे। जो कुछ शिल्प उनके राज्याश्रय में पनप सका, वह भवन-निर्माण एवं उक्त भवनों की सजधज में प्रयुक्त बेलबूटों अथवा ज्यामितिक आकृतियों के डिजाइनों की नक्काशी आदि तक सीमित था। इस प्रकार का शिल्प आगरा दिल्ली, फतहपुर-सीकरी, मांडू, जौनपुर, अहमदाबाद आदि स्थानों के मुस्लिम स्थापत्य में विशेष रूप से निखरा। हाँ, वास्तु-निर्माण के क्षेत्र में मुस्लिम शासनकाल ने मकबरों, मसजिदों, मीनारों, राजप्रासादों आदि के रूप में अनेक भव्य एवं सुन्दर कृतियों की भेंट दी, जिनमें भारतीय स्थापत्य-शैली के साथ विदेशी 'सारसैनिक शैली' का समन्वय करने का प्रशंसनीय प्रयास किया गया था। इसके सर्वोत्कृष्ट सुफल के रूप में आगरे के संसार-प्रसिद्ध 'ताजमहल' एवं दिल्ली, फतहपुर-सीकरी आदि की अन्य उत्कृष्ट मुस्लिम इमारतें सामने आईं! चित्रकला के क्षेत्र में भी राज्याश्रय पाकर मुस्लिम काल में (अर्थात् मुगल काल) भारतीय कला को काफी बढ़ावा मिला और एक नवीन शैली का विकास हुआ, जिसे 'मुगलशैली' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस संबंध में आगे चलकर पृथक् प्रकरण में विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

मुस्लिम शासनकाल के बाद आनेवाले ब्रिटिश युग की प्रमुख विशेषता केवल इसी बात में रही है कि उसमें भारतीय कला-कौशल का तेजी के साथ ह्रास या उतार का क्रम आरंभ हो गया है। १८५० ई० के बाद से तो पाश्चात्य औद्योगिक सभ्यता का यह विनाशात्मक प्रभाव अपनी करतूत पूरी तरह से दिखाने लगा। हाँ, इस कालावधि में भी पुरातन स्थापत्य निर्माण की परंपरा काफी अंश तक बनी रही, जिसका कारण यह था कि विक्टोरियन युग में, जिसमें कि ब्रिटिश स्थापत्य स्वयं ही अपनी उतार की निम्नतम दशा में था, अंग्रेजों के पास बदले में देने को कुछ था भी नहीं।

कला की पुरातन धाराएँ—(८)

भारतीय कला :: मौर्यकाल

भारतीय कला की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सिंहावलोकन करते हुए, पिछले प्रकरण में प्रसंगतः हम शैशुनाग, नंद एवं मौर्यकाल की कला-प्रवृतियों का संक्षेप में उल्लेख कर चुके हैं। यदि मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा, आदि स्थानों के पुरातत्वावशेषों द्वारा प्रकाश में आनेवाली पाँच-छः हजार वर्ष पुरानी सिन्धु-सभ्यता की कला-सामग्री को——जिसका कि विवरण भारतीय कला के आदि युग विषयक प्रकरण में खंड ३ में विस्तारपूर्वक अलग से दिया जा चुका है——इस तारतम्य से पृथक् रक्खा जाय, तो हमारे कला-इतिहास का श्रीगणेश वस्तुतः इन्हीं राजवंशों के युग से आरंभ होता है; कारण, तथाकथित 'ऐतिहासिक काल' की जो सब से पुरानी कलाकृतियाँ अब तक उपलब्ध हुई हैं, वे शैशुनाग युग से परे की नहीं हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि इससे पहले की ठेठ सिन्धु-सभ्यता के युग तक की बीच की सुदीर्घ कालावधि कला-सर्जन की दृष्टि से नितान्त छूँछी रही होगी। वस्तुतः बात यही है कि उस काल की कोई सामग्री अब तक नहीं मिल पाई है। अतः भारतीय कला का दिग्दर्शन करते समय हमारे लिए सिवा इसके कोई चारा नहीं रह जाता कि प्राप्त सामग्री के आधार पर उपर्युक्त शैशुनाग-नंद-मौर्य युग से आरम्भ करके ही हम क्रमशः आगे की ओर बढ़ें। इसमें भी महत्व की दृष्टि से मौर्यकालीन कला ही सब से उल्लेखनीय है, कारण इस युग पर वही संपूर्णतया छाई हुई है। तो आइए, संक्षेप में तत्संबंधी कुछ जानकारी आपको करा दें।

अशोक के युग में, अर्थात् मौर्यकालीन भारत में, पाँच प्रकार के भवन बनाए जाते थे, जिनके पुरातत्वीय नमूने आज भी समस्त भारत में बिखरे हुए पाए जाते हैं। वास्तु-निर्माण के ये पाँच वर्ग थे—गुहा, प्रासाद, हर्म्य, अर्द्धयोग तथा विहार। चट्टानों को काटकर बनाए जानेवाले भवन 'गुहा' कहलाते थे, जिनका वर्णन आगे किया जाएगा। कई मंजिल के ऊँचे एवं विशाल भवनों को 'प्रासाद' कहते थे, और 'हर्म्य' कहते थे सुन्दर राजप्रासाद को। 'अर्द्धयोग' उन साधारण मकानों को कहते थे, जिनकी तिरछी तथा ढालू छतें दो तरफ से आकर बीच में जोड़ दी जाती थीं। भिक्षुओं के रहने के लिए बने हुए मठों को 'विहार' कहते थे।

मौर्यकालीन वास्तु में काष्ठ का प्रयोग

प्रारंभिक मौर्यकाल में तथा उसके पहले भी महल और मकान लकड़ी के ही बनाए जाते थे। यह प्रथा केवल भारत में ही नहीं प्रचलित थी, वरन् उन दिनों बड़े-बड़े मकानों के निर्माण में सर्वत्र लकड़ी का ही प्रयोग किया जाता था। रोमन लोग तथा इंग्लैंड में केल्ट जाति के लोग भी लकड़ी का ही मकान बनाते थे। भारत के प्रथम ऐतिहासिक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का राजप्रासाद भी लकड़ी का ही बना हुआ था, जो अपनी भव्यता एवं सौंदर्य में सूसा तथा एकबाटन के राजमहलों को भी मात करता था। नींव में लकड़ी के बड़े-बड़े कुन्दे लगाए जाते थे और जहाँ-कहीं एक लकड़ी को दूसरी में साल करके मजबूती लानी होती थी, वहाँ बाँस की सलाखें गढ़कर ठोक दी जाती थीं। आदिकालीन स्थापत्य में काष्ठ के इस प्रयोग का, पाषाण का उपयोग जारी होने पर भी, रचनाशैली की दृष्टि से बाद की इमारतों पर काफी प्रभाव पड़ा।

पांड्य नामक तीन पुरातन राज्य अपनी अति प्राचीन संस्कृति की धारा को सर्वथा सुरक्षित बनाए रहे। उनकी अनूठी सिद्धियाँ वाङ्मय के क्षेत्र में एवं योरप तथा सुदूर पूर्व के देशान्तरों के साथ समुद्री व्यापार के रूप में चमत्कृत हुईं।

९ वीं शती से १८ वीं शती ई० तक के उत्तरकालीन युग की सबसे महत्वपूर्ण कलाकृतियाँ ये हैं——दक्षिण की (नटराज आदि की) कांस्य शैव प्रतिमाएँ; तांजौर (१० वीं से १२ वीं शती ई०), विजयनगर (१४ वीं से १६ वीं शती ई०), मदुराई (१७ वीं शती ई०), अवदैयार, कोविल, ताड़पत्री (१६ वीं शती ई०), पेरूर, श्रीरंगम् एवं रामेश्वरम् आदि का स्थापत्य और मूर्तिशिल्प; मैसूर का चालुक्य स्थापत्य (बेलूर और हालेविद १२ वीं-१३ वीं शती ई०); जावा (१४ वीं शती ई० तक) और कंबोडिया (१२ वीं शती ई० तक) का मूर्तिशिल्प और स्थापत्य; आबू (११ वीं से १३ वीं शती तक), उड़ीसा (भुवनेश्वर, कोणार्क तथा पुरी ९ वीं से १३ वीं शती तक) और खजुराहो (लगभग १००० ई०) के देवालय; राजपूत चित्रकारी और स्थापत्य (१९ वीं शती तक); मुगल चित्रकारी और स्थापत्य (१६ वीं से १८ वीं शती ई० तक); नेपाली बौद्ध कांस्य मूर्तिशिल्प एवं बरमा तथा स्याम की कलाकृतियाँ।

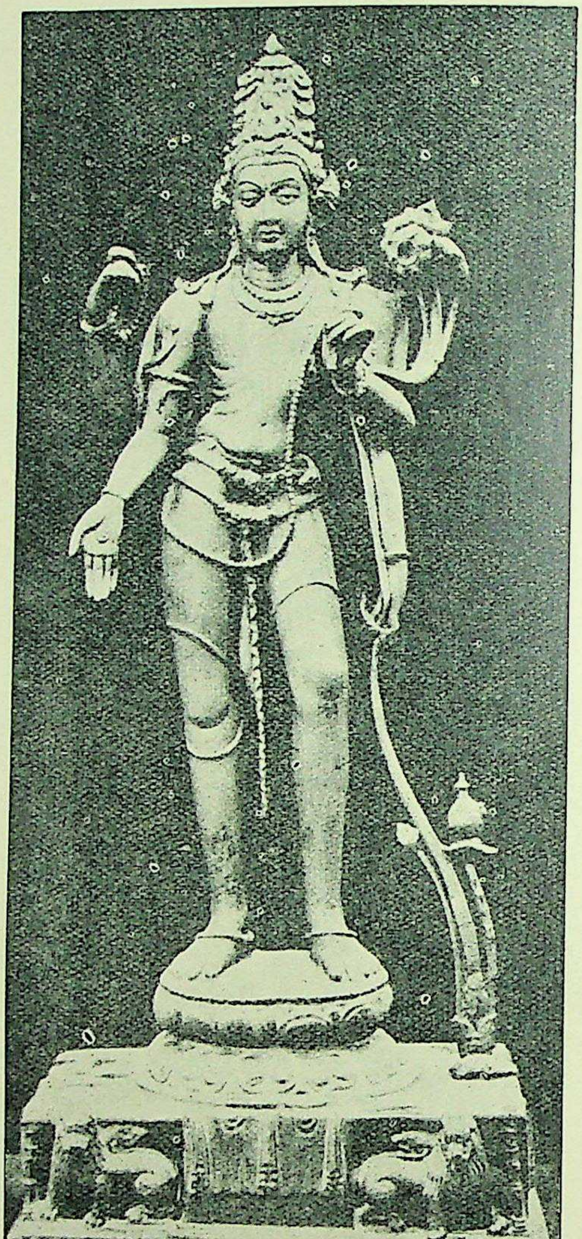

कुर्किहार नामक स्थान से प्राप्त पाल-युग (९वीं शती ई०) की एक विशालकाय कांस्य बोधिसत्त्व-प्रतिमा [फो०—'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

मुस्लिम शासनकाल में भारतीय मूर्तिशिल्प का विकास अवरुद्ध हो गया, कारण मुसलमान मूर्ति-निर्माण के घोर विरोधी थे। जो कुछ शिल्प उनके राज्याश्रय में पनप सका, वह भवन-निर्माण एवं उक्त भवनों की सजधज में प्रयुक्त बेलबूटों अथवा ज्यामितिक आकृतियों के डिजाइनों की नक्काशी आदि तक सीमित था। इस प्रकार का शिल्प आगरा दिल्ली, फतहपुर-सीकरी, माँडू, जौनपुर, अहमदाबाद आदि स्थानों के मुस्लिम स्थापत्य में विशेष रूप से निखरा। हाँ, वास्तु-निर्माण के क्षेत्र में मुस्लिम शासनकाल ने मकबरों, मसजिदों, मीनारों, राजप्रासादों आदि के रूप में अनेक भव्य एवं सुन्दर कृतियों की भेंट दी, जिनमें भारतीय स्थापत्य-शैली के साथ विदेशी 'सारसैनिक शैली' का समन्वय करने का प्रशंसनीय प्रयास किया गया था। इसके सर्वोत्कृष्ट सुफल के रूप में आगरे के संसार-प्रसिद्ध 'ताजमहल' एवं दिल्ली, फतहपुर-सीकरी आदि की अन्य उत्कृष्ट मुस्लिम इमारतें सामने आईं! चित्रकला के क्षेत्र में भी राज्याश्रय पाकर मुस्लिम काल में (अर्थात् मुगल काल) भारतीय कला को काफी बढ़ावा मिला और एक नवीन शैली का विकास हुआ, जिसे 'मुगलशैली' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस संबंध में आगे चलकर पृथक् प्रकरण में विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

मुस्लिम शासनकाल के बाद आनेवाले ब्रिटिश युग की प्रमुख विशेषता केवल इसी बात में रही है कि उसमें भारतीय कला-कौशल का तेजी के साथ ह्रास या उतार का क्रम आरंभ हो गया है। १८५० ई० के बाद से तो पाश्चात्य औद्योगिक सभ्यता का यह विनाशात्मक प्रभाव अपनी करतूत पूरी तरह से दिखाने लगा। हाँ, इस कालावधि में भी पुरातन स्थापत्य निर्माण की परंपरा काफी अंश तक बनी रही, जिसका कारण यह था कि विक्टोरियन युग में, जिसमें कि ब्रिटिश स्थापत्य स्वयं ही अपनी उतार की निम्नतम दशा में था, अंग्रेजों के पास बदले में देने को कुछ था भी नहीं।

कला की पुरातन धाराएँ——(८)

भारतीय कला :: मौर्यकाल

भारतीय कला की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सिंहावलोकन करते हुए, पिछले प्रकरण में प्रसंगतः हम शैशुनाग, नंद एवं मौर्यकाल की कला-प्रवृत्तियों का संक्षेप में उल्लेख कर चुके हैं। यदि मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा, आदि स्थानों के पुरातत्वावशेषों द्वारा प्रकाश में आनेवाली पाँच-छः हजार वर्ष पुरानी सिन्धु-सभ्यता की कला-सामग्री को——जिसका कि विवरण भारतीय कला के आदि युग विषयक प्रकरण में खंड ३ में विस्तारपूर्वक अलग से दिया जा चुका है——इस तारतम्य से पृथक् रक्खा जाय, तो हमारे कला-इतिहास का श्रीगणेश वस्तुतः इन्हीं राजवंशों के युग से आरंभ होता है; कारण, तथाकथित 'ऐतिहासिक काल' की जो सब से पुरानी कलाकृतियाँ अब तक उपलब्ध हुई हैं, वे शैशुनाग युग से परे की नहीं हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि इससे पहले की ठेठ सिन्धु-सभ्यता के युग तक की बीच की सुदीर्घ कालावधि कला-सर्जन की दृष्टि से नितान्त छूँछी रही होगी। वस्तुतः बात यही है कि उस काल की कोई सामग्री अब तक नहीं मिल पाई है। अतः भारतीय कला का दिग्दर्शन करते समय हमारे लिए सिवा इसके कोई चारा नहीं रह जाता कि प्राप्त सामग्री के आधार पर उपर्युक्त शैशुनाग-नंद-मौर्य युग से आरम्भ करके ही हम क्रमशः आगे की ओर बढ़ें। इसमें भी महत्व की दृष्टि से मौर्यकालीन कला ही सब से उल्लेखनीय है, कारण इस युग पर वही संपूर्णतया छाई हुई है। तो आइए, संक्षेप में तत्संबंधी कुछ जानकारी आपको करा दें।

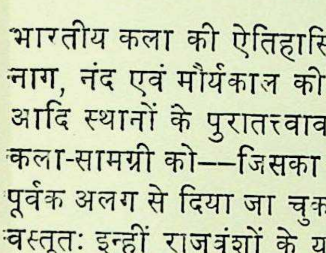

अशोक के युग में, अर्थात् मौर्यकालीन भारत में, पाँच प्रकार के भवन बनाए जाते थे, जिनके पुरातत्वीय नमूने आज भी समस्त भारत में बिखरे हुए पाए जाते हैं। वास्तु-निर्माण के ये पाँच वर्ग थे——गुहा, प्रासाद, हर्म्य, अर्द्धयोग तथा विहार। चट्टानों को काटकर बनाए जानेवाले भवन 'गुहा' कहलाते थे, जिनका वर्णन आगे किया जाएगा। कई मंजिल के ऊँचे एवं विशाल भवनों को 'प्रासाद' कहते थे, और 'हर्म्य' कहते थे सुन्दर राजप्रासाद को। 'अर्द्धयोग' उन साधारण मकानों को कहते थे, जिनकी तिरछी तथा ढालू छतें दो तरफ से आकर बीच में जोड़ दी जाती थीं। भिक्षुओं के रहने के लिए बने हुए मठों को 'विहार' कहते थे।

मौर्यकालीन वास्तु में काष्ठ का प्रयोग

प्रारंभिक मौर्यकाल में तथा उसके पहले भी महल और मकान लकड़ी के ही बनाए जाते थे। यह प्रथा केवल भारत में ही नहीं प्रचलित थी, वरन् उन दिनों बड़े-बड़े मकानों के निर्माण में सर्वत्र लकड़ी का ही प्रयोग किया जाता था। रोमन लोग तथा इंग्लैंड में केल्ट जाति के लोग भी लकड़ी का ही मकान बनाते थे। भारत के प्रथम ऐतिहासिक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का राजप्रासाद भी लकड़ी का ही बना हुआ था, जो अपनी भव्यता एवं सौंदर्य में सूसा तथा एकबाटन के राजमहलों को भी मात करता था। नींव में लकड़ी के बड़े-बड़े कुन्दे लगाए जाते थे और जहाँ-कहीं एक लकड़ी को दूसरी में साल करके मजबूती लानी होती थी, वहाँ बाँस की सलाखें गढ़कर ठोक दी जाती थीं। आदिकालीन स्थापत्य में काष्ठ के इस प्रयोग का, पाषाण का उपयोग जारी होने पर भी, रचना-शैली की दृष्टि से बाद की इमारतों पर काफी प्रभाव पड़ा।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अशोक के युग के कला-स्मारक :: स्तूप, स्तंभ, आदि

अशोक के युग में आकर भारतीय वास्तु-कला ही ने नहीं, वरन् मूर्तिकला ने भी उल्लेखनीय उन्नति की । विद्वानों का कथन है कि इस युग के भवनों पर मूर्तियाँ और नक्काशी अवश्य रहती थी; बल्कि मूर्तियों की स्थापना के लिए बड़े-बड़े भवनों का निर्माण किया जाता था । अशोक ने जिस धर्म को अंगीकार किया था और जिसके उन्नयन में देवनांप्रिय दिन-रात तल्लीन रहता था, उसे वह अपनी कला द्वारा स्थायित्व एवं अमरत्व प्रदान करना चाहता था । फलतः उसने मूर्ति एवं वास्तु-कला को अपूर्व प्रोत्साहन प्रदान किया । बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार उसे चौरासी हजार स्तूपों के बनवाने का श्रेय दिया जाता है !

भारत को अशोकीय कला की चार देनें हैं--(१) स्तूप, (२) स्तंभ, (३) गुफाएँ तथा (४) राजप्रासाद । 'स्तूप' उस गोलाकार ढूह या टीले को कहते हैं, जो भगवान् बुद्ध या किसी बौद्ध महात्मा की अस्थि, दाँत, केश आदि स्मृति-चिह्नों को सुरक्षित रखने के लिए उनके ऊपर बनाया गया हो । ये स्तूप उलटे कटोरे के आकार के ईंटों के ठोस गुम्बद होते थे । इनका सर्वोत्तम नमूना साँची का स्तूप है । स्तम्भ अशोकीय वास्तु के सुन्दरतम स्मारक हैं, जो मौर्यकालीन कला के उत्कृष्टतम प्रतिनिधि हैं । इस समय निम्नांकित स्थानों में तेरह अशोकीय स्तंभ प्राप्त हैं:--दिल्ली, कौशांबी, इलाहाबाद का किला, सारनाथ, मुजफ्फरपुर, चम्पारन, बिहार के लौरिया-नन्दनगढ़, रढ़िया तथा रमपुरवा नामक गाँव, रुम्मिनदेई (लुम्बिनी, जहाँ भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था) तथा साँची । इन स्तंभों पर अशोक के धर्मोपदेश उत्कीर्ण हैं । सभी स्तंभ चुनार के बलुआ पत्थर के हैं । इनमें के कई स्तंभ तो भगवान् बुद्ध की चरणरज द्वारा पुनीत किए हुए स्थानों पर बने हैं और कुछ बौद्ध तीर्थ-स्थानों के यात्रा-मार्ग पर हैं । पाटलिपुत्र से नैपाल की तराई में भगवान् बुद्ध के पवित्र जन्मस्थान तक जानेवाले प्राचीन राज-मार्ग पर स्थित चम्पारन तथा मुजफ्फरपुर जिले के गाँवों में ये स्तंभ थोड़ी-थोड़ी दूरी पर गड़वाए गए थे । साँची-स्तंभ पश्चिम दिशा की ओर के यात्रियों एवं प्रजा के लिए बनाया गया था । कहा जाता है कि अशोक ने प्रारंभ में विभिन्न स्थानों में ऐसे कुल तीस स्तंभ बनवाए थे । प्रत्येक स्तंभ के समीप कोई-न-कोई स्तूप या दूसरे किसी भवन का अवशेष मिलता है, जो इस बात का साक्षी है कि इन स्तंभों के पास-पड़ोस में बौद्ध आवास रहे होंगे ।

सभी अशोकीय स्तंभ केवल दो भागों में बने हैं । समूचा खंभा या लाट एक ही पत्थर का है और उस पर का समूचा परगहा भी एक ही पत्थर का है । राय कृष्णदास के शब्दों में "इन दोनों भागों पर ऐसा ओप किया हुआ है कि आँख फिसलती है; इतना ही नहीं, उसमें इतना टटकापन है मानो कारीगर अभी पाड़ पर से हटा हो !• • • •यह ओप अपने देश की प्रस्तर-कला की एक ऐसी विशेषता है; जो संसार भर में अपना जोड़ नहीं रखती । इन स्तंभों के लाट गोल और नीचे से ऊपर तक चढ़ाव-उतारदार हैं । उनकी ऊँचाई तीस-तीस, चालीस-चालीस फीट है और वजन में वे हजार-हजार बारह-बारह सौ मन के बैठते हैं ।•• • •ये लाट खान से अपने ठिकाने तक कैसे पहुंचाए गए, गढ़े चमकाए गए, खड़े किए गए और इन पर इनके परगहे ठीक-ठीक जुहाए गए--ये सब ऐसे करतब हैं, जिन पर विचार करने में बुद्धि चकरा उठती है और इनके कारीगरों और इञ्जीनियरों के आगे सिर झुकाना पड़ता है !"

"प्रत्येक परगहे के पाँच अंश होते हैं--(१) एकहरी व दोहरी पतली मेखला जो लाट के ठीक ऊपर आती है, (२) उसके ऊपर अधोमुख कमल-पंखड़ियों की आलंकारिक आकृतिवाली बैठकी, जिसे अनेक विद्वान् भूल से घंटाकृति मानते हैं, (३) उस पर कंठा, (४) सब के ऊपर गोल व चौखूँटी चौकी और (५) उसके भी सिरे पर एक या एकाधिक पशु आसीन होते हैं । • • • • कारीगरी की असली छटा तो चौकी और उसके सिरे के जानवरों में होती है । लौरिया-नन्दनगढ़ की चौकी पर थोड़े उभारदार उड़ते हंस बने हैं• • • •जो भी अलंकरण चुने गए हैं, वे ऐसी सफाई से, सच्चे नाप से, कँड़े से और सजीवता से बने हैं कि संसार भर में कहीं भी प्रस्तरकला इनसे आगे नहीं बढ़ी है ।-- परगहे के सिर पर के जानवर जो कोरकर बनाए गए हैं, इन चारों में से कोई होते हैं--सिंह, हाथी, बैल व घोड़ा ।"

इन स्तंभों में सारनाथ-स्तंभ और उस पर का परगहा निस्संदेह सर्वश्रेष्ठ है । यह स्तंभ धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन का स्थान सूचित करने के लिए अशोक के शासनकाल के अंतिम दिनों में खड़ा किया गया था । चौकी के चार पहिए धर्मचक्र के सूचक हैं । कहते हैं, सिरे के चार सिंहों पर भी एक धर्मचक्र था । इस महान् कलाकृति की समीक्षा करते हुए राय श्री कृष्णदास ने लिखा है--"सिरे पर के सिंहों को देखिए ! चार सजीव केसरी पीठ से पीठ मिलाए चारों दिशाओं की ओर मुँह किए दृढ़ता से बैठे हैं ! उनकी आकृति भव्य, दर्शनीय और गौरवपूर्ण है, जिसमें कल्पना और वास्तविकता का बड़ा स्वादु सम्मिश्रण है । कलाकार ने जानबूझकर पंचानन की उग्रता,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हिंस्रता और प्रचंडता नहीं दिखाई और इन्हें छोड़कर भी उनका मृगेंद्रत्व कहीं से कम नहीं होने दिया। उनके गठीले अंग-प्रत्यंग समविभक्त हैं और बड़ी सफाई से गढ़े गए हैं। उनमें कहीं से लबरपन, बोदापन या भद्दापन नहीं है। न एक छेनी कम लगी है न अधिक––उनके फहराते हुए लहरदार केसर का एक-एक बाल बड़ी बारीकी और चारुता से दिखाया गया है, जो उनके सौन्दर्य को दूना कर देता है। इनमें ताजगी भी इतनी है कि ये आज की ही बनी जान पड़ती हैं।" ये जंगलों तथा पर्वतीय उपत्यकाओं में शिकार की तलाश में संध्या समय दहाड़ते हुए सिंह नहीं हैं, वरन् ये हैं अशोक की शक्ति एवं दृढ़ संकल्प के प्रतीक, सत्य की खोज में एक विजयी सम्राट् की सच्ची लगन के प्रतीक ! इन विशेषताओं के ही कारण कलाविदों ने इनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। डाक्टर विन्सेन्ट स्मिथ का कहना है कि "संसार के किसी भी देश की प्राचीन पशु-मूर्तियों में इस सुन्दर कलाकृति से बढ़कर उत्कृष्ट या इसके टक्कर की भी चीज पाना कठिन है।" सर जॉन मार्शल का कहना है कि "शैली एवं निर्माण-पद्धति की दृष्टि से ये भारत द्वारा प्रसूत सुन्दरतम मूर्तियाँ हैं और प्राचीन जगत् में इस प्रकार की कोई भी वस्तु उपलब्ध नहीं, जो इनसे बढ़कर हो।"

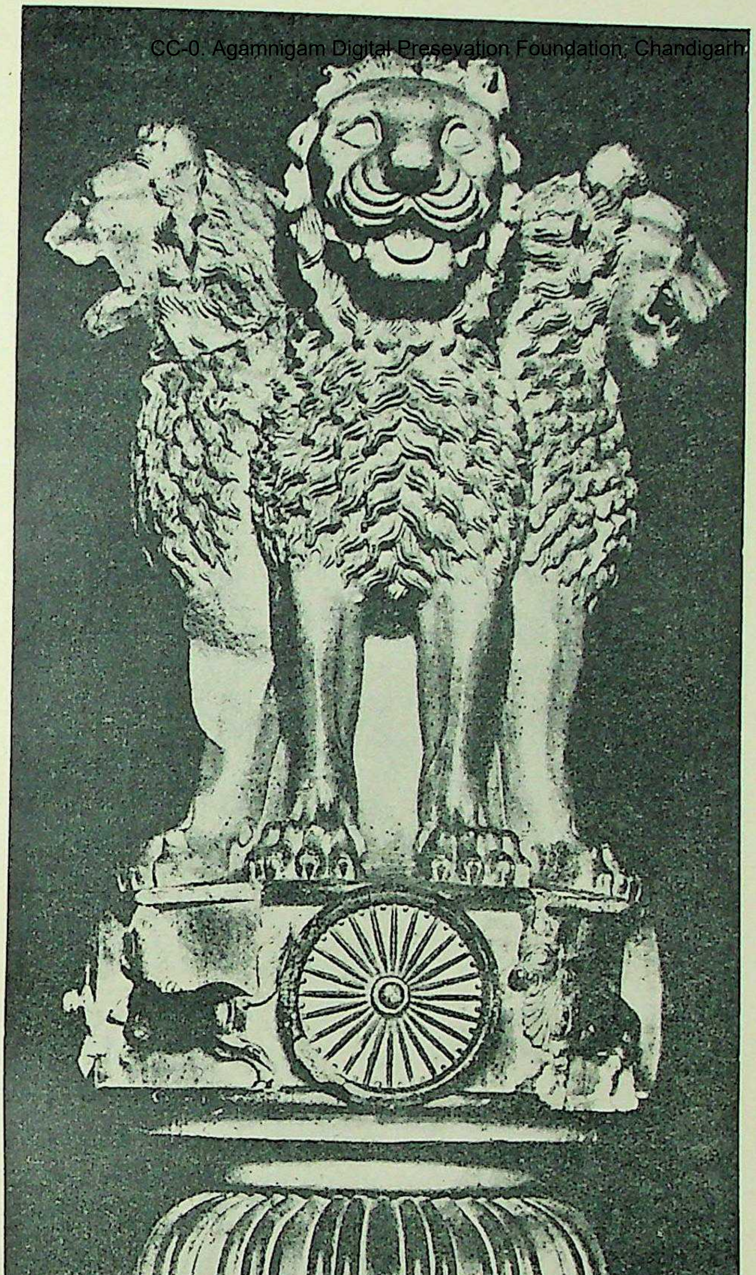

मौर्यकालीन कला की सर्वोत्कृष्ट सिद्धि—सारनाथ के अशोकस्तंभ की चतुर्मुख सिंह-मूर्ति, जिसकी आकृति भारतीय गणराज्य के राजचिह्न के रूप में अंगीकार कर ली गई है [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग' के सौजन्य से]।

साँची-स्तम्भ के परगहे या शीर्ष पर भी इसी तरह के चौमुखे सिंह निर्मित हैं, पर सारनाथ-स्तंभ के शीर्ष के अलंकरण के आगे वे जँचते नहीं।

बौद्ध धर्म के प्रति अपनी उपयोगिता एवं उपादेयता के अतिरिक्त अशोक-स्तंभ प्राचीन वृक्षों की पूजा के भी प्रतीक एवं प्रतिनिधि हैं। प्रारंभ में ये देवताओं के प्रतीक तथा मंदिरों के प्रारूप-से थे। इनके अलंकरण के हेतु शीर्ष पर चारों ओर जो विभिन्न पशुओं की मूर्तियाँ बनी हुई हैं, उनमें भी पौराणिक एवं धार्मिक तथ्य निहित हैं। वे सब

अशोक के युग के कला-स्मारक :: स्तूप, स्तंभ, आदि

अशोक के युग में आकर भारतीय वास्तु-कला ही ने नहीं, वरन् मूर्तिकला ने भी उल्लेखनीय उन्नति की। विद्वानों का कथन है कि इस युग के भवनों पर मूर्तियाँ और नक्काशी अवश्य रहती थी; बल्कि मूर्तियों की स्थापना के लिए बड़े-बड़े भवनों का निर्माण किया जाता था। अशोक ने जिस धर्म को अंगीकार किया था और जिसके उन्नयन में देवनांप्रिय दिन-रात तल्लीन रहता था, उसे वह अपनी कला द्वारा स्थायित्व एवं अमरत्व प्रदान करना चाहता था। फलतः उसने मूर्ति एवं वास्तु-कला को अपूर्व प्रोत्साहन प्रदान किया। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार उसे चौरासी हजार स्तूपों के बनवाने का श्रेय दिया जाता है!

भारत को अशोकीय कला की चार देनें हैं--(१) स्तूप, (२) स्तंभ, (३) गुफाएँ तथा (४) राजप्रासाद। 'स्तूप' उस गोलाकार ढूह या टीले को कहते हैं, जो भगवान् बुद्ध या किसी बौद्ध महात्मा की अस्थि, दाँत, केश आदि स्मृति-चिह्नों को सुरक्षित रखने के लिए उनके ऊपर बनाया गया हो। ये स्तूप उलटे कटोरे के आकार के ईंटों के ठोस गुम्बद होते थे। इनका सर्वोत्तम नमूना साँची का स्तूप है। स्तम्भ अशोकीय वास्तु के सुन्दरतम स्मारक हैं, जो मौर्यकालीन कला के उत्कृष्टतम प्रतिनिधि हैं। इस समय निम्नांकित स्थानों में तेरह अशोकीय स्तंभ प्राप्त हैं:--दिल्ली, कौशांबी, इलाहाबाद का किला, सारनाथ, मुजफ्फरपुर, चम्पारन, बिहार के लौरिया-नन्दनगढ़, रढ़िया तथा रमपुरवा नामक गाँव, रुम्मिनदेई (लुम्बिनी, जहाँ भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था) तथा साँची। इन स्तंभों पर अशोक के धर्मोपदेश उत्कीर्ण हैं। सभी स्तंभ चुनार के बलुआ पत्थर के हैं। इनमें के कई स्तंभ तो भगवान् बुद्ध की चरणरज द्वारा पुनीत किए हुए स्थानों पर बने हैं और कुछ बौद्ध तीर्थ-स्थानों के यात्रा-मार्ग पर हैं। पाटलिपुत्र से नैपाल की तराई में भगवान् बुद्ध के पवित्र जन्मस्थान तक जानेवाले प्राचीन राज-मार्ग पर स्थित चम्पारन तथा मुजफ्फरपुर जिले के गाँवों में ये स्तंभ थोड़ी-थोड़ी दूरी पर गड़वाए गए थे। साँची-स्तंभ पश्चिम दिशा की ओर के यात्रियों एवं प्रजा के लिए बनाया गया था। कहा जाता है कि अशोक ने प्रारंभ में विभिन्न स्थानों में ऐसे कुल तीस स्तंभ बनवाए थे। प्रत्येक स्तंभ के समीप कोई-न-कोई स्तूप या दूसरे किसी भवन का अवशेष मिलता है, जो इस बात का साक्षी है कि इन स्तंभों के पास-पड़ोस में बौद्ध आवास रहे होंगे।

सभी अशोकीय स्तंभ केवल दो भागों में बने हैं। समूचा खंभा या लाट एक ही पत्थर का है और उस पर का समूचा परगहा भी एक ही पत्थर का है। राय कृष्णदास के शब्दों में "इन दोनों भागों पर ऐसा ओप किया हुआ है कि आँख फिसलती है; इतना ही नहीं, उसमें इतना टटकापन है मानो कारीगर अभी पाड़ पर से हटा हो!••••यह ओप अपने देश की प्रस्तर-कला की एक ऐसी विशेषता है; जो संसार भर में अपना जोड़ नहीं रखती। इन स्तंभों के लाट गोल और नीचे से ऊपर तक चढ़ाव-उतारदार हैं। उनकी ऊँचाई तीस-तीस, चालीस-चालीस फीट है और वजन में वे हजार-हजार बारह-बारह सौ मन के बैठते हैं।•••ये लाट खान से अपने ठिकाने तक कैसे पहुँचाए गए, गढ़े चमकाए गए, खड़े किए गए और इन पर इनके परगहे ठीक-ठीक जुहाए गए--ये सब ऐसे करतब हैं, जिन पर विचार करने में बुद्धि चकरा उठती है और इनके कारीगरों और इञ्जीनियरों के आगे सिर झुकाना पड़ता है!"

"प्रत्येक परगहे के पाँच अंश होते हैं--(१) एकहरी व दोहरी पतली मेखला जो लाट के ठीक ऊपर आती है, (२) उसके ऊपर अधोमुख कमल-पंखड़ियों की आलंकारिक आकृतिवाली बैठकी, जिसे अनेक विद्वान् भूल से घंटाकृति मानते हैं, (३) उस पर कंठा, (४) सब के ऊपर गोल व चौखूँटी चौकी और (५) उसके भी सिरे पर एक या एकाधिक पशु आसीन होते हैं।••••कारीगरी की असली छटा तो चौकी और उसके सिरे के जानवरों में होती है। लौरिया-नन्दनगढ़ की चौकी पर थोड़े उभारदार उड़ते हंस बने हैं•••जो भी अलंकरण चुने गए हैं, वे ऐसी सफाई से, सच्चे नाप से, कँड़े से और सजीवता से बने हैं कि संसार भर में कहीं भी प्रस्तरकला इनसे आगे नहीं बढ़ी है।-- परगहे के सिर पर के जानवर जो कोरकर बनाए गए हैं, इन चारों में से कोई होते हैं--सिंह, हाथी, बैल व घोड़ा।"

इन स्तंभों में सारनाथ-स्तंभ और उस पर का परगहा निस्संदेह सर्वश्रेष्ठ है। यह स्तंभ धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन का स्थान सूचित करने के लिए अशोक के शासनकाल के अंतिम दिनों में खड़ा किया गया था। चौकी के चार पहिए धर्मचक्र के सूचक हैं। कहते हैं, सिरे के चार सिंहों पर भी एक धर्मचक्र था। इस महान् कलाकृति की समीक्षा करते हुए राय श्री कृष्णदास ने लिखा है--"सिरे पर के सिंहों को देखिए! चार सजीव केसरी पीठ से पीठ मिलाए चारों दिशाओं की ओर मुँह किए दृढ़ता से बैठे हैं! उनकी आकृति भव्य, दर्शनीय और गौरवपूर्ण है, जिसमें कल्पना और वास्तविकता का बड़ा स्वादु सम्मिश्रण है। कलाकार ने जानबूझकर पंचानन की उग्रता,

हिंस्रता और प्रचंडता नहीं दिखाई और इन्हें छोड़कर भी उनका मृगेंद्रत्व कहीं से कम नहीं होने दिया। उनके गठीले अंग-प्रत्यंग समविभक्त हैं और बड़ी सफाई से गढ़े गए हैं। उनमें कहीं से लबरपन, बोदापन या भद्दापन नहीं है। न एक छेनी कम लगी है न अधिक——उनके फहराते हुए लहरदार केसर का एक-एक बाल बड़ी बारीकी और चारुता से दिखाया गया है, जो उनके सौन्दर्य को दूना कर देता है। इनमें ताजगी भी इतनी है कि ये आज की ही बनी जान पड़ती हैं।" ये जंगलों तथा पर्वतीय उपत्यकाओं में शिकार की तलाश में संध्या समय दहाड़ते हुए सिह नहीं हैं, वरन् ये हैं अशोक की शक्ति एवं दृढ़ संकल्प के प्रतीक, सत्य की खोज में एक विजयी सम्राट् की सच्ची लगन के प्रतीक ! इन विशेषताओं के ही कारण कलाविदों ने इनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। डाक्टर विन्सेन्ट स्मिथ का कहना है कि "संसार के किसी भी देश की प्राचीन पशु-मूर्तियों में इस सुन्दर कलाकृति से बढ़कर उत्कृष्ट या इसके टक्कर की भी चीज पाना कठिन है।" सर जॉन मार्शल का कहना है कि "शैली एवं निर्माण-पद्धति की दृष्टि से ये भारत द्वारा प्रसूत सुन्दरतम मूर्तियाँ हैं और प्राचीन जगत् में इस प्रकार की कोई भी वस्तु उपलब्ध नहीं, जो इनसे बढ़कर हो।"

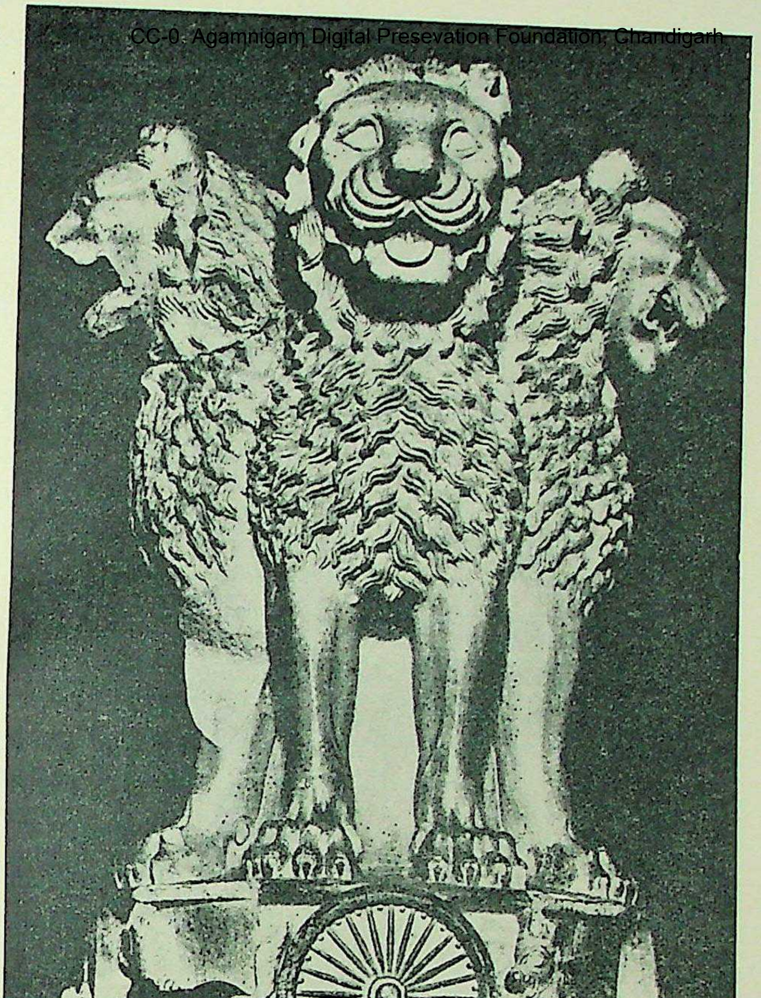

मौर्यकालीन कला की सर्वोत्कृष्ट सिद्धि—सारनाथ के अशोकस्तंभ की चतुर्मुख सिंह-मूर्ति, जिसकी आकृति भारतीय गणराज्य के राजचिह्न के रूप में अंगीकार कर ली गई है [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग' के सौजन्य से]।

साँची-स्तम्भ के परगहे या शीर्ष पर भी इसी तरह के चौमुखे सिह निर्मित हैं, पर सारनाथ-स्तंभ के शीर्ष के अलंकरण के आगे वे जँचते नहीं।

बौद्ध धर्म के प्रति अपनी उपयोगिता एवं उपादेयता के अतिरिक्त अशोक-स्तंभ प्राचीन वृक्षों की पूजा के भी प्रतीक एवं प्रतिनिधि हैं। प्रारंभ में ये देवताओं के प्रतीक तथा मंदिरों के प्रारूप-से थे। इनके अलंकरण के हेतु शीर्ष पर चारों ओर जो विभिन्न पशुओं की मूर्तियाँ बनी हुई हैं, उनमें भी पौराणिक एवं धार्मिक तथ्य निहित हैं। वे सब

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मिलकर चारों दिशाओं के प्रतीक हैं—हाथी पूर्व का, अश्व दक्षिण का, बैल पश्चिम का तथा सिंह उत्तर दिशा का स्वामी माना गया है। ऋग्वेद में सिंह बड़े सम्मान एवं आदर की दृष्टि से देखा गया है तथा अश्व सूर्य का और वृषभ इन्द्र का प्रतिनिधि माना गया है। सारनाथ-स्तंभ के अलंकरण में इन सब का एक साथ प्रयोग किया गया है। इनसे तथा अन्य प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि प्रारंभिक बौद्ध कला की प्रतीकात्मकता वैदिक प्रतीकों की ही निरंतरता थी——उन्हीं का एक सिलसिला था।

अशोक द्वारा निर्मित गुहागृह और राजप्रासाद

गया से उन्नीस मील दूर बराबर नामक पहाड़ियों को कटवाकर अशोक ने आजीवक साधुओं के लिए गुहागृह बनवाए थे। ये आजीवक बौद्ध तथा ब्राह्मण दोनों सम्प्रदायों से पृथक् थे। इनके लिए पवित्र गुफा-निवासस्थानों को बनवाकर अशोक ने अपनी धार्मिक समदृष्टि एवं सहिष्णुता का परिचय दिया था। राय कृष्णदास के अनुसार "ये गुफाएँ बहुत ही कड़े तेलिया पत्थर की हैं, जिनका काटना असंभव-सा है। परंतु ये काटी ही नहीं गई हैं, वरन् इनकी भीतों पर काँच सरीखी ओप भी की गई है। ओप की यह लुप्त कला यहाँ अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई है।"

अशोक के पौत्र दशरथ ने भी बराबर पर्वत में एक गुफा कटवाई थी, जिसे 'लोमश ऋषि की गुफा' कहते हैं। इस गुफा के द्वार की मेहराब में एक सुंदर गज-पंक्ति बनी है। इन गुहागृहों के विषय में दो बातें उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि भारत में पर्वत को काटकर गुफा-निर्माण का यह सर्वप्रथम प्रयास था, जो सैकड़ों वर्ष बाद एलोरा तथा ऐलिफैंटा की कलापूर्ण गुफाओं के रूप में पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ; और दूसरे यह कि इन गुफाओं के अंदर कोठरियाँ लकड़ी तथा फूस की बनी हुई कुटी के नमूने पर ही बनाई गई थीं।

अशोक ने समसामयिक प्रस्तर-शिल्पियों द्वारा अपने महल का भी कुछ अंश बनवाया था और उसका राजप्रासाद इतना भव्य था कि वह सात-आठ सौ वर्षों तक टिका रहा। जब पाँचवीं शताब्दी ई० में चीनी यात्री फाहियान भारत-भ्रमण करने आया, तो उसने अशोक के महल को मनुष्यों का बनाया हुआ नहीं, वरन् देवताओं द्वारा निर्मित समझा था! कहा जाता है कि उक्त राजप्रासाद चतुर्दिक् ईंटों की बनी हुई चहारदीवारी के अंदर बनवाया गया था। उसकी सब से बड़ी विशेषता यह थी कि प्रस्तर-स्तंभों पर २५० वर्गफीट का एक विस्तृत तिमंजिला सभामंडप बनाया गया था, जिसमें कुल २२५ खंभे थे। पन्द्रह-पन्द्रह खंभों की कुल पन्द्रह पंक्तियाँ थीं और प्रत्येक खंभे के बीच की दूरी १५ फीट थी। पत्थर के खंभों के ऊपर का शेष ढाँचा लकड़ी का बना हुआ था। तभी तो अग्नि से भस्म हो जाने के कारण उसका कोई अवशेष बाकी नहीं रहा।

प्रश्न यह उठता है कि जब मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा की कला और मौर्यकालीन कला के बीच की कोई कड़ी नहीं प्राप्त होती है, तो एकाएक मौर्यकाल में इतनी उच्च कोटि की कला कहाँ और किधर से टपक पड़ी? इसके दो ही उत्तर हो सकते हैं। एक तो यह कि मौर्यकाल के पहले की कला अवश्य उत्कृष्ट रही होगी, यद्यपि हमें उसकी कोई विश्वसनीय जानकारी प्राप्त नहीं है। दूसरा यह समाधान भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि मौर्यों ने नए सिरे से इस कला को जन्म दिया, जो अशोक सरीखे क्रांतिकारी की प्रेरणा एवं संरक्षण प्राप्त करके जल्दी ही फल-फूल गई। प्रसिद्ध भारतीय कलामर्मज्ञ पर्सी ब्राउन का मत है कि चुनार में बढ़िया पत्थर तो उपलब्ध था ही! अशोक को आवश्यकता थी केवल शिल्पियों की। उन दिनों ईरान, यूनान तथा मिस्र की प्रस्तर-कला का समन्वित केन्द्र ईरान में था। सिकन्दर के तूफानी आक्रमण के कारण जो अव्यवस्था चारों तरफ फैली, उससे शिल्पी लोग भयभीत एवं बेकार होकर ईरान से तितर-बितर हो गए। अशोक ने उन्हें बुलवाकर अपना संरक्षण प्रदान किया।

इस प्रकार मौर्यकालीन कला ईरानी कला से प्रभावित हुई और बहुतेरे अभिप्राय वहीं से आए भी। किंतु काशी के प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ राय कृष्णदास का मत है कि "अभिप्राय ईरानी कला में लघु एशिया के देशों से आए थे और वहाँ से भारतवर्ष का बहुत पुराना संबंध था। अस्तु, अभिप्रायों का आयात ईरान से नहीं माना जा सकता। जिस लघु एशिया से वे ईरान में आए, उसी से भारत में भी।"

कुछ भी हो इतना तो निश्चित है कि सर्वोत्कृष्ट अशोकीय स्तंभों की प्रतीकात्मकता एवं अलंकरण आदि की कल्पना——उनके आध्यात्मिक संदेशों का श्रेय——शुद्ध भारतीय मस्तिष्क की उपज थी और शिल्प की विधि का श्रेय बाहर से आए हुए शिल्पियों को था। किंतु स्तंभों आदि पर जो चमकदार ओप और पालिश है, वह भारतीय मस्तिष्क एवं परिश्रम का ही फल है। पर्सी ब्राउन का कहना है कि यूनान तथा मिस्र के शिल्पी पत्थर पर शीशे की तरह चमकदार पालिश करने की कारीगरी में सर्वथा असमर्थ थे। इस प्रकार मौर्य कला ने दो क्षेत्रों में——पत्थर के प्रयोग तथा शिल्प-कला की विधि में——मौलिकता का परिचय दिया।

कला की पुरातन धाराएँ—(६)

भारतीय कला :: शुंग-आन्ध्र-कुषाणकाल

मौर्यकाल के तत्काल बाद शुंग-सातवाहनकाल में आकर भारतीय कला प्रौढ़ता और सौष्ठव को प्राप्त करके अद्भुत गति से पुष्पित-पल्लवित हो उठी, जिसके जीते-जागते प्रतीक भरहुत, साँची और अमरावती के महान् कला-स्मारक हैं। तदनन्तर कुषाणकाल में आकर पश्चिमोत्तर में गांधार-शिल्प और मध्यदेश में मथुरा की मूर्तिकला में उसके विशिष्ट रूप निखरे। इस महत्वपूर्ण युग की कलासिद्धियों के सिलसिले में फिलहाल हम मूर्तिकला और स्थापत्य का ही दिग्दर्शन करेंगे। चित्रकला पर आगे प्रकाश डाला जायगा।

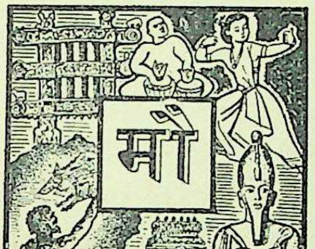

मौर्योत्तर एवं प्राक्-कुषाण-काल के सब से प्रसिद्ध स्मारक अद्भुत तोरणों और वेष्टनियों (बाड़ों) से युक्त भरहुत तथा साँची के बौद्ध स्तूप हैं। भरहुत इलाहाबाद-जबलपुर रेलमार्ग पर स्थित सतना नामक स्टेशन से आसानी से पहुँचा जा सकता है। उधर साँची तो मध्य रेलवे के झाँसी-इटारसी मार्ग पर स्वयं ही एक रेलवे-स्टेशन है। भरहुत तो आज के दिन लगभग खाली और वीरान पड़ा है, कारण वहाँ की सारी की सारी रोचक और महत्वपूर्ण कला-सामग्री उठाकर कलकत्ते के भारतीय पुरातत्त्व-संग्रहालय में पहुँचा दी गई है। केवल कुछ फुटकर अवशेष ही यहाँ-वहाँ बिखरे पड़े मिलते हैं। हाँ, पास-पड़ौस के गाँवों में अब भी अनेक टूटी-फूटी सुन्दर कलाकृतियाँ उपलब्ध हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश वे सभी दीवारों आदि में चुनी हुई हैं और फलतः यह संभव नहीं कि अपनी जगह से हटाकर या उखाड़ी जाकर विद्वानों द्वारा उनकी बारीकी से छानबीन की जा सके। सतना के श्री शारदाप्रसाद ने बड़ा परिश्रम करके इस प्रकार के बिखरे हुए नमूनों का एक अच्छा संग्रह जुटाया है, जो नगर के एक छोटे-से संग्रहालय में सुरक्षित है।

साँची इस दृष्टि से निस्संदेह अधिक सौभाग्यशाली रहा है। कारण, वहाँ के प्राचीन स्तूप कला के शत्रुओं द्वारा किए गए समय-समय पर के घात-प्रतिघातों के बावजूद अपने सुन्दर तोरणों, वेष्टनियों आदि सहित अब भी मूल स्थान पर प्रस्थापित हैं। विदिशा और साँची में नवीन रेलवे-स्टेशनों के बन जाने से इन स्तूपों को देखने की बड़ी सुविधा हो गई है।

बौद्ध स्तूप की रचना

स्तूप (दागब या धातु-गर्भ), जो कि मूलतः समाधियों पर निर्मित एक प्रकार का ढूह या टीला जैसा था, बुद्ध के बाद तथागत के जीवन की चतुर्थ महान् घटना——उनके महापरिनिर्वाण——का मूर्त प्रतीक बन गया। उसमें (जैसा कि तक्षशिला में पाया गया है) स्वयं तथागत के अथवा उनके मुख्य शिष्यों में से किसी के स्मृतिचिह्नों को प्रायः सुवर्ण, स्फटिकमणि या अन्य किसी पदार्थ की मंजूषा में रखकर स्थापित करने का एक रिवाज-सा बन गया। इस प्रकार के प्रारंभिक स्तूप ईंटों के अथवा ऊबड़-खाबड़ पत्थरों एवं ईंटों के बनाए जाते थे और उन पर चूने की पर्त का एक आवरण चढ़ा रहा करता था। आमतौर पर सभी स्तूप चौकोर मेधियों की पंक्तियों से निर्मित एक कुरसी पर स्थित होते हैं अथवा कम से कम उनके चहुँओर परिक्रमा करने के लिए पत्थर से पटा हुआ एक गोलाकार चतुष्कोण आँगन-सा अवश्य रहता है, जिस तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी रहती हैं। स्तूप की रचना एक ठोस गुंबद (अंड या गर्भ) के रूप में होती है और उक्त गुंबद के सिरे पर 'हर्मिका' के नाम से पुकारी जानेवाली एक घनाकार चौकोर परगहे की-सी रचना बनी रहती है। हर्मिका

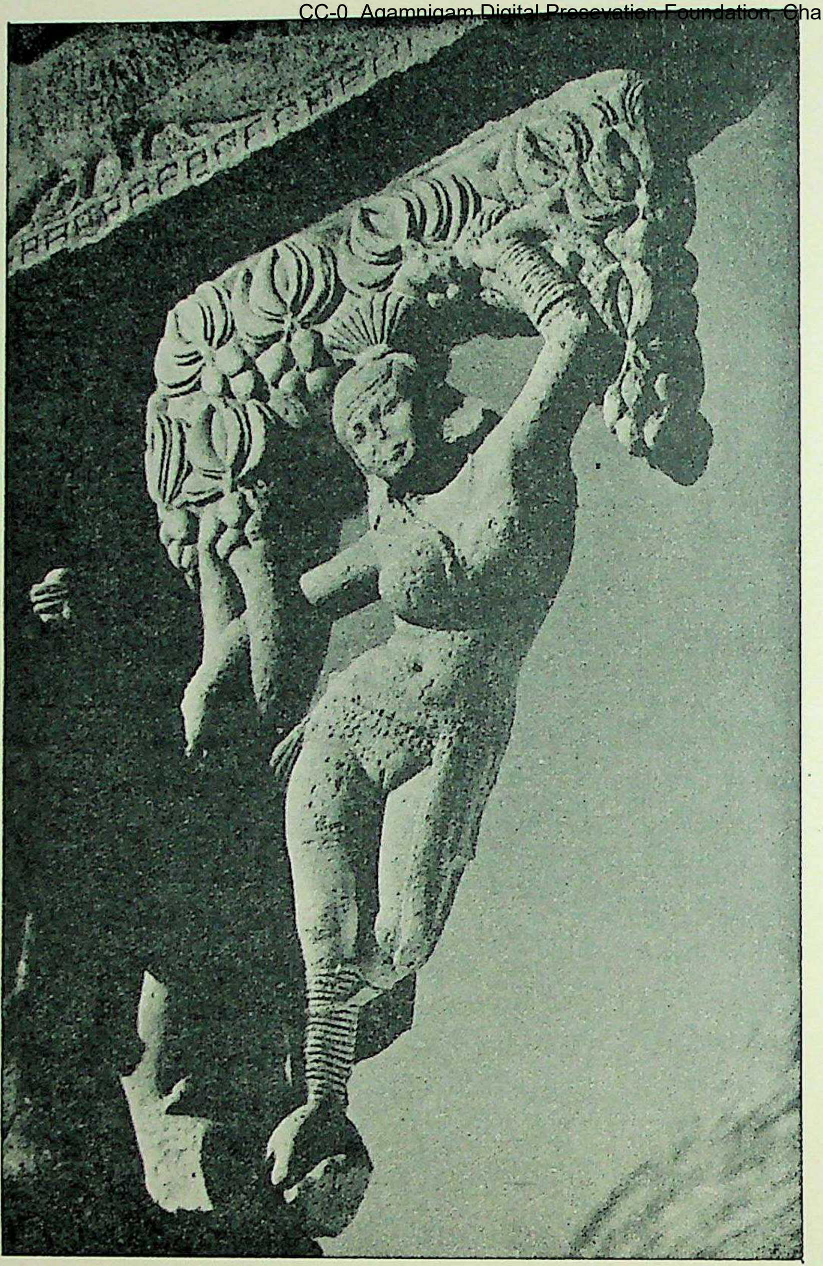

साँची-स्तूप के पूर्वीय तोरण के शिल्प का एक नमूना, जो शुंगकालीन मूर्तिकला की उत्कृष्टता का परिचायक है [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग'] ।

से 'यष्टि' नामक एक धातुदंड का सिरा ऊपर उठा हुआ निकला रहता है । इस धातुदंड (यष्टि) का निचला भाग 'अंड' के भीतर गहराई तक गड़ा रहता है । यष्टि के सिरे पर उत्तरोत्तर 'छत्र' की कतारें बनी रहती हैं और उन सब के ऊपर 'वर्षस्थल' या कलश स्थापित होता है । समय के परिवर्तन के साथ बौद्ध स्तूपों की इस प्राचीन आकृति में पर्याप्त रद्दोबदल होता चला गया और अंत में बिगड़ते-बिगड़ते उसका रूप वैसा रह गया, जैसा कि आज हमें लद्दाख, तिब्बत और सिक्किम के 'चोरतेन' नामक समाधिस्तूपों में देखने को मिलता है ।

भरहुत-साँची का मूर्तिशिल्प

भरहुत और साँची के मूर्तिशिल्प में हमें एक अति उन्नत एवं पूर्णता की स्थिति तक पहुँची हुई अलंकरण की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं, जिसका रूप-आकार का संतुलन या गठन-सामंजस्य सर्वोच्च कोटि की कला-सिद्धि का परिचायक है । अभी बुद्ध की मानवाकृति की झाँकी कहीं भी देखने को नहीं मिलती––उनका बोध हम केवल बोधि-वृक्ष, छत्र, चरणचिह्न, पादुका या धर्मचक्र जैसे प्रतीकों द्वारा ही कराए जाते हुए पाते हैं । तोरणों के खंभों एवं बड़ेरियों पर यक्ष-यक्षिणियों, नागों, देवगणों आदि की उत्तंकित मूर्तियों के अलावा बुद्ध की जीवन-झाँकियों और जातक-कथाओं के अनेक दृश्य भी खोदकर अंकित किए गए हैं । इनके अतिरिक्त पुष्प-लताओं, पशुओं और दैत्याकार जन्तुओं आदि की आकृतियों की भी भरमार है । साथ ही खिले हुए कमल की छवि से अलंकृत बड़े-बड़े फुल्ले भी बने हैं, जिनके बीच में सुन्दर सजावट की पगड़ियाँ आदि पहने नर-नारियों की कलापूर्ण मुखाकृतियाँ खचित हैं ।

शुंगकाल की अन्य रचनाएँ

शुंगकाल के अन्य छटपुट अवशेष, जिनसे उक्त स्थानों म कभी स्तूप, तोरण आदि की विद्यमानता के संकेत हमें प्राप्त होते हैं, विदिशा के निकट बेसनगर, प्रयाग के निकट कोसम (प्राचीन कौशाम्बी) एवं भीटा, राजसन आदि स्थानों में मिले हैं । सारनाथ में प्राप्त बारीक नक्काशी से युक्त बारह बाड़-स्तंभों में भी साँची की वास्तु-शिल्प-शैली के आसार दिखाई दिए हैं । उधर मथुरा की शिल्प-शैली में साँची से अधिक भरहुत का प्रभाव देख पड़ता है । रंजुबुला की रानी का प्रसिद्ध सिंह-परगहा, जैनों के धर्मोत्सर्गित आयागपट्ट, लोणशोभिका नामक नगरवधू एवं आमोहिनी नामक सभ्रान्त महिला द्वारा उत्सर्गित फलक-पट्ट आदि—जिनकी तिथि द्वितीय या प्रथम शती ई० पू० के लगभग मानी गई है तथा जिन पर ब्राह्मी या खरोष्ठी लिपि में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रायः अलग-अलग अभिलेख भी प्रत्यंकित मिलते हैं। इस वर्ग की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

उदयगिरि और खंडगिरि

इसी युग के लगभग उड़ीसा में उदयगिरि और खंडगिरि नामक पहाड़ियों में गुफाएँ खोदकर कई जैन विहार बनाए गए, जिनमें से कुछ में खारवेल (१६१ ई० पू०) नामक प्रतापी सम्राट् के अभिलेखों के साथ-साथ पत्थर में नक्काशी करके बनाई गई कतिपय बड़ी ही सुन्दर कलापट्टियाँ मौजूद हैं, जो कि भरहुत की कला की याद दिलाती हैं। 'अनन्त-गुंफा' नामक गुफा में बौद्ध मूर्तिशिल्प के कुछ आसार दिखाई देते हैं, जिनमें हाथियों के साथ मायादेवी की छवि अंकित है। उधर 'रानी-गुंफा' और 'गणेश-गुंफा' में जैन-बौद्ध पौराणिक गाथाओं तथा आखेट और युद्ध के दृश्यों से अलंकृत बहुत बड़े आकार की शिल्प-पट्टियाँ हैं।

उड़ीसा से चलकर जब हम दक्षिणवर्ती आन्ध्र प्रदेश में प्रवेश करते हैं, तो हमारे सामने अमरावती और जग्गयपेटा के प्रसिद्ध बौद्ध स्तूपों की झाँकी छा जाती है। इस क्षेत्र के अन्य बौद्ध स्मारक गुंटुपल्ली, विजयवाड़ा के निकट विद्याधरपुरम् और विशाखापट्टनम् जिले की संकराम पहाड़ियों में उपलब्ध हैं। ये स्मारक गुहाओं, विहारों, चैत्यालयों, शिलाखंडों को काटकर निर्मित स्तूपों आदि के रूप में बिखरे मिलते हैं। इनकी तिथि प्रथम से द्वितीय शताब्दी ईस्वी पूर्व के बीच कूती गई है।

इसी क्षेत्र के रेणीगुण्टा नामक स्थान के पास गुडिमल्लम् में प्राक्-कुषाणकालीन ब्राह्मण-कला का एक अति महत्वपूर्ण और रोचक स्मारक उपलब्ध है। यह है परशुरामेश्वर नामक प्रसिद्ध शिवलिंग, जिसे भक्तगण आज भी श्रद्धाभाव से पूजते हैं। ५ फीट ऊँची यह लिंगमूर्ति शिश्न के प्रतीक की यथार्थवादी प्रतिछवि है। उसके निम्न भाग पर शिवजी की एक मानवाकार आकृति बनी हुई है, जिसके एक हाथ में मेष एवं दूसरे में परशु (फरसा) तथा कमंडल (जलपात्र) दिखाया गया है। पैरों को फैलाये खड़ी यह आकृति किसी यक्ष या राक्षस के ऊपर स्थित दिखाई गई है। समूची प्रतिमा पाषाण को बड़ी सुंदरता से गढ़कर बनाई गई है और उस पर अत्यंत चिकना ओप है। श्री गोपीनाथ राव ने इसे द्वितीय या प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व की कृति माना है।

गांधार-कला

गांधार-शैली की यूनानी-बौद्ध कला के मूल स्रोत तथा उसके ठीक-ठीक समय के विषय में काफी विवाद उठ खड़ा हुआ है। सर जान मार्शल का कहना है कि इस शैली की हजारों ज्ञात कलाकृतियों में से एक पर भी किसी निश्चित युग या काल की सूचक तिथि प्रत्यांकित नहीं

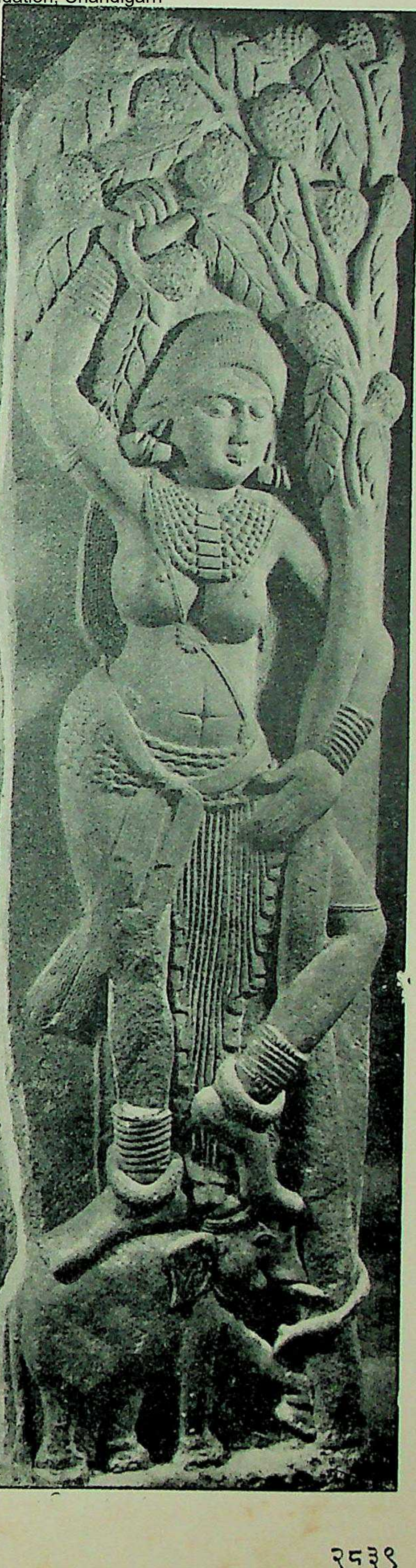

(दाहिनी ओर का चित्र) भरहुत के भव्य शिल्प का एक उदाहरण :: वृक्षिका [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मिलती; न इस शैली की बारीकियों का अध्ययन ही उसके विकासक्रम का सही-सही तारतम्य निश्चित करने में कोई मदद हमें दे पाता है। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि कला का यह संप्रदाय ईस्वी सन् के आरंभ के आसपास कभी जनमा होगा। इस मिश्रित भारतीय-यूनानी कला का प्राचीनतम स्मारक 'बिमरान पिटारी' नामक एक सुवर्ण-मंजूषा है, जिस पर भगवान् बुद्ध तथा उनके उपासकों की आकृतियाँ उभारकर बनाई गई हैं। ये खड़ी आकृतियाँ जिन ताकों या आलों में खचित हैं, वे शुद्ध भारतीय शैली के हैं तथा उनका पादपीठ भी भारतीय पद्म (कमल) के अलंकरण से सुसज्जित है।

मानवाकृति में बुद्ध के सर्वप्रथम दर्शन हमें गांधार-कला ही में होते हैं—इससे पूर्व उनका निर्देश केवल चरणपादुका, छत्र, वज्रासन आदि प्रतीकों द्वारा ही किए जाते हम हुए देख चुके हैं। इस संबंध में कुछ विद्वानों ने गहन मतभेद भी प्रकट किया है। उनका कहना है कि बुद्ध की मानवमूर्ति गांधार और मथुरा-कला में एक साथ ही एवं स्वतंत्र रूप से अलग-अलग प्रकट हुई थी। इस समूचे विवाद को समेटते हुए डॉ० आनन्द कुमारस्वामी ने अपनी ओर से मंतव्य प्रकट किया है कि "अधिक से अधिक निर्विवाद रूप से यही कहा जा सकता है कि गांधार-शैली का यूनानी-बौद्ध कला-संप्रदाय प्रथम शती ईस्वी पूर्व के लगभग उद्भूत हुआ होगा; वह संभवतः कनिष्क के काल से पहले का होगा और तभी अपने चरम विस्तार की स्थिति पर वह पहुँचा होगा; साथ ही निरन्तर भारतीयकरण की ओर झुकते रहकर तीसरी और चौथी शताब्दी ईस्वी तक उसकी गतिविधि प्रचुरता के साथ जारी रही होगी। इस तरह बुद्ध-मूर्ति के मूलतः ग्रीक उपज होने की फुशे द्वारा प्रतिपादित प्रस्थापना, जिसे बाद के बहुतेरे पंडितों ने अपना लिया है, बेबुनियाद साबित होकर एकबारगी ही धराशायी हो जाती है और साथ ही ब्राह्मण या जैन मूर्तियों के ग्रीक प्रेरणा से अनुप्राणित होने की कल्पना भी एकदम गिर पड़ती है।"

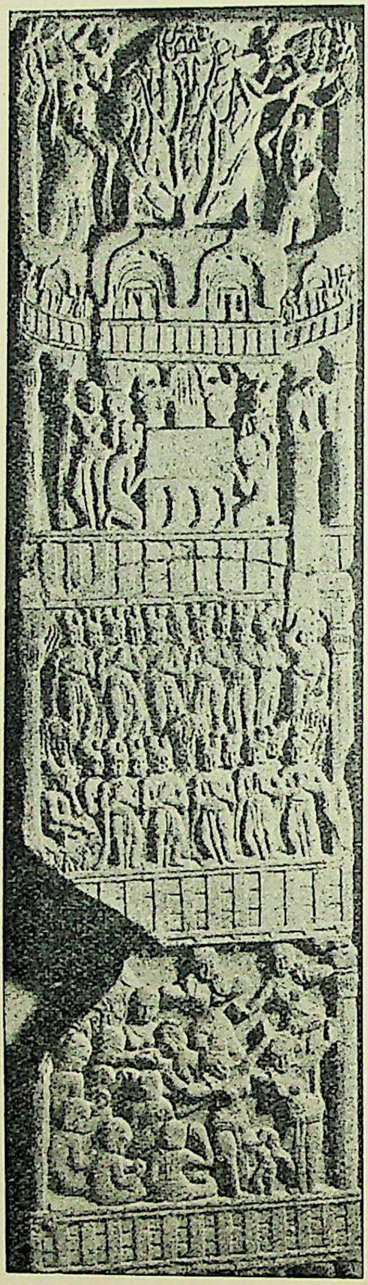

भरहुत की कला का अन्य एक नमूना
[फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

गांधार-कला के सब से महत्वपूर्ण अवशेष अफगानिस्तान के बामियान, हद्दू और जलालाबाद नामक स्थानों एवं स्वात नदी की उपत्यका तथा तक्षशिला और पेशावर में प्राप्त हुए हैं। युसुफजाई के कबायली इलाके के मध्य में स्थित तख्ते-बाही नामक स्थान की खुदाई में तो गांधार-कला की ढेरों मूर्तियाँ निकली हैं। कहते हैं, अपनी राजधानी पेशावर के पास कनिष्क ने एक विशाल पंचमंजिला स्तूप निर्मित किया था, जिसके ऊपर पुनः १३ मंजिलोंवाली नक्काशीदार काष्ठ की एक रचना खड़ी की गई थी। स्तूप के ऊपरी सिरे पर सुनहले सुलम्मावाले ताम्रधातु के पच्चीस छत्रों से युक्त एक ऊँचा दर्शनीय लौह दंड लगा था! इस स्तूप की ऊँचाई कुल मिलाकर ६३८ फीट थी! उसके मूल स्थान का पता लगा लिया गया है और खुदाई करने पर वहाँ से मिश्रित सुवर्ण-ताम्र धातु की कनिष्क की एक मंजूषा भी प्राप्त की गई है। इस मंजूषा की ऊँचाई ७।। इंच है और उसके ढक्कन पर दो बोधिसत्त्वों सहित सिद्धासन में भगवान् बुद्ध की मानवाकृति अंकित है। मंजूषा के मध्यवर्ती बेलनाकार भाग की दीवार पर सिद्धासन की मुद्रा में पुनः बुद्ध की आकृतियाँ, कनिष्क की एक आकृति, चंद्र और सूर्य देवता तथा पुष्पमालाएँ लिए हुए अप्सराएँ आदि बनी हुई हैं। इस पिटारी पर अंकित अभिलेख में कनिष्क के साथ-साथ अगिशल नामक उस यूनानी शिल्पी का भी नामोल्लेख है, जिसने कि उसका निर्माण किया था।

गांधार-मूर्तिशिल्प में मुख्यतया बुद्ध के जीवन-वृत्त का ही चित्रण किया गया है, जैसा कि वह जातक-कथाओं में वर्णित है। यहाँ बुद्ध राजकुमार और तपस्वी दोनों ही रूपों में चित्रित पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस कला के अन्य विषय हैं बोधिसत्व, इन्द्र, ब्रह्मा, यक्ष, वृक्षिकाओं, दाताओं तथा सिंह, गज, वृषभ, अश्व, सपक्ष

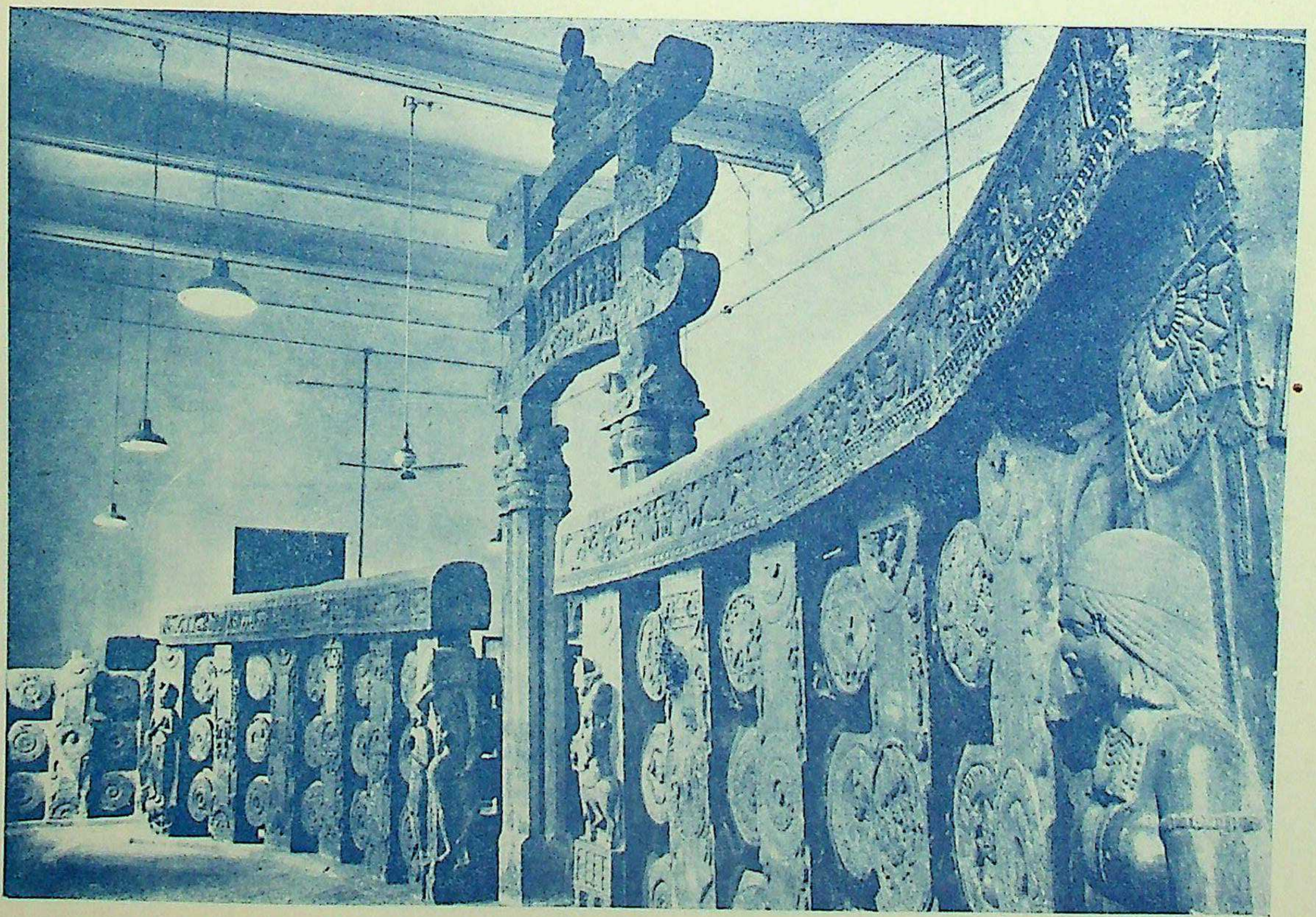

कलकत्ता के पुरातत्त्व-संग्रहालय में सुरक्षित भरहुत-स्तूप की तोरणयुक्त कलापूर्ण वेष्टनी या बाड़ [फो०–'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग'] ।

तक में पाए गए हैं। कनिष्क के शासनकाल के तृतीय वर्ष में—अर्थात् १२३ ईस्वी में—भिक्खु बल द्वारा निर्मित सारनाथ-संग्रहालय में विद्यमान भीमकाय बुद्ध-मूर्ति इनमें का सब से प्रसिद्ध नमूना है। "स्पष्ट है कि मथुरा में एक प्रकार की मौलिक बुद्ध-प्रतिमा की सृष्टि की गई थी, जोकि किसी भी प्रकार की यूनानी प्रेरणा से सर्वथा मुक्त एवं स्वतंत्र रचना थी। मथुरा-शैली की ये बुद्ध-मूर्तियाँ अन्य पवित्र बौद्ध केन्द्रों को भी भेजी जाती रहीं, जिसका प्रमाण कनिष्क के शासनकाल के आरंभ ही में मिल जाता है, जबकि ये मूर्तियाँ मथुरा से गंगा के मैदानों के अन्य पुनीत स्थलों को जाती रहीं और वाराणसी एवं गया के शिल्पियों के लिए आदर्श नमूनों का काम देती रहीं।"

बुद्ध-मूर्तियों के अतिरिक्त मथुरा की कला में कुषाण सम्राटों—विशेषकर कनिष्क—की कुछ मूर्तियाँ भी मिली हैं। उदाहरणार्थ माट नामक स्थान में प्राप्त कनिष्क की सुप्रसिद्ध मुंडविहीन प्रतिमा (दे० इसी पृष्ठ का चित्र) एवं मथुरा में गोकर्णेश्वर के नाम से पूजी जानेवाली उसकी सम्पूर्ण आकृति का उल्लेख किया जा सकता है। इनके अलावा यक्षिणियों, वृक्षिकाओं तथा शिव, सूर्य, चन्द्र, स्कंद, अग्नि आदि हिन्दू देवी-देवताओं की भी प्रतिमाएँ प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुई हैं।

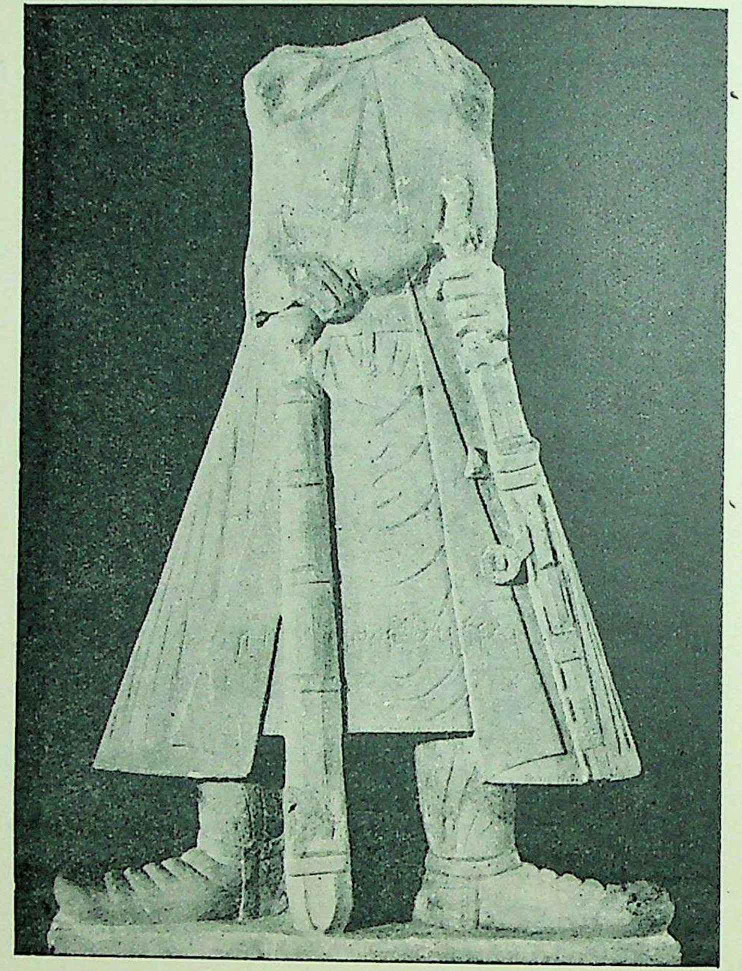
मथुरा के पुरातत्त्व-संग्रहालय में सुरक्षित माट नामक स्थान से प्राप्त कुषाण सम्राट् कनिष्क की मुंडविहीन प्रतिमा [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग' के सौजन्य से]।

अमरावती का उत्कृष्ट शिल्प

इस युग की मूर्तिशिल्प-विषयक हलचल के अन्य केन्द्र पवैया, भीटा, बसाढ़ (वैशाली), बेसनगर, सारनाथ और पाटलिपुत्र में स्थापित थे। दक्षिण में, विशेषकर आन्ध्र में, उपलब्ध कला-स्मारकों में नासिक, कान्हेरी, वेंगी, अमरावती और अन्य स्थानों के चैत्यालय, स्तूप आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें अमरावती का महान् स्तूप निश्चय ही इस युग की सब से महत्वपूर्ण और भव्यतम कला-सिद्धि है। इस महान् कलाकृति के शिल्प-सौन्दर्य, रचना-कौशल, ओज, प्रभाव और कारीगरी की उत्कृष्टता का अनुमान उसे देखकर ही हो सकता है। इस स्तूप को घेरनेवाली बाड़ या वेष्टनियाँ ही लगभग १७ हजार वर्गफीट के क्षेत्र में विस्तृत थीं और सब की सब सूक्ष्म उत्‍टंकित मूर्तिशिल्प से खचित थीं। स्वतः स्तूप का निचला भाग भी बारीक नक्काशी के आवरण से अलंकृत था और वह १६२ फीट व्यास के घेरे में फैला था। इस अद्भुत कलामंदिर में चित्रांकित कथाओं के दिग्दर्शन में समसामयिक परंपराओं का बोध करानेवाली सामग्री का प्रचुरता के साथ उपयोग किया गया है। यहाँ हमें रक्षा-प्राचीरों एवं जलपूर्ण खातों से परिवेष्टित नगरों, राजप्रासादों, भवनों, तोरणों, स्तूपों एवं बोधिवृक्ष से युक्त के देवालयों आदि की भव्य झाँकी देखने को मिलती है। इस मूर्तिशिल्प के सौन्दर्य और उसकी अनुपम कारीगरी की प्रशंसा में जो भी कहा जाय वह थोड़ा है। यह सारी की सारी कला-सामग्री संगमरमर में है, जिस पर कभी निश्चय ही एक प्रकार की आराइश की रंगीन और सुनहली पर्त भी चढ़ी रही होगी।

अमरावती के अतिरिक्त आंध्र कला के अन्य उत्कृष्ट नमूने इसी क्षेत्र के नागार्जुनकोण्डा नामक स्थान की पुरातत्त्व-सामग्री में मिले हैं। यहाँ भी एक विशाल बौद्धस्तूप स्थापित था, जिसके मूर्ति-फलक अमरावती के शिल्प की याद दिलाते हैं!

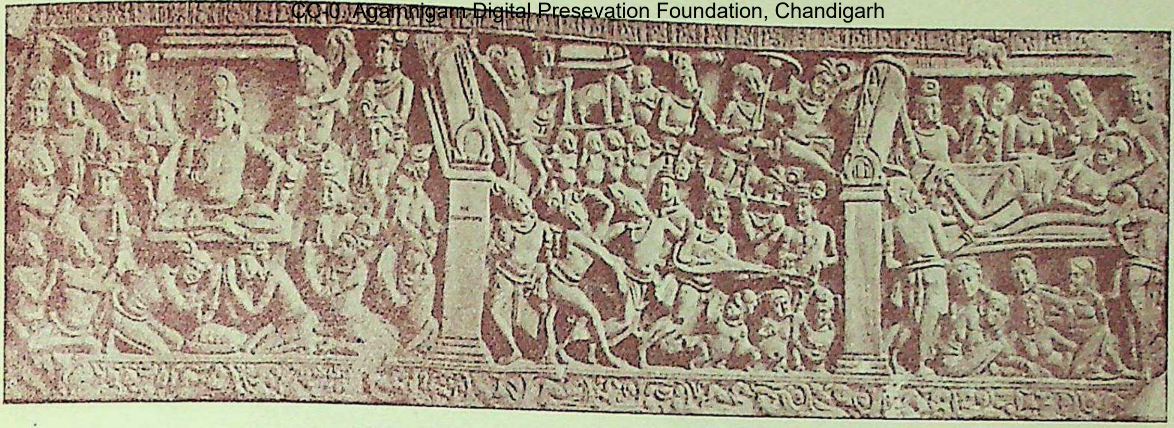

अमरावती के उत्कृष्ट मूर्ति-शिल्प का एक नमूना :: प्रस्तुत शिल्पचित्र में गज के रूप में बोधिसत्व का स्वर्ग से अवतरण और बाईं ओर माया देवी का स्वप्न दिग्दर्शित है। [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

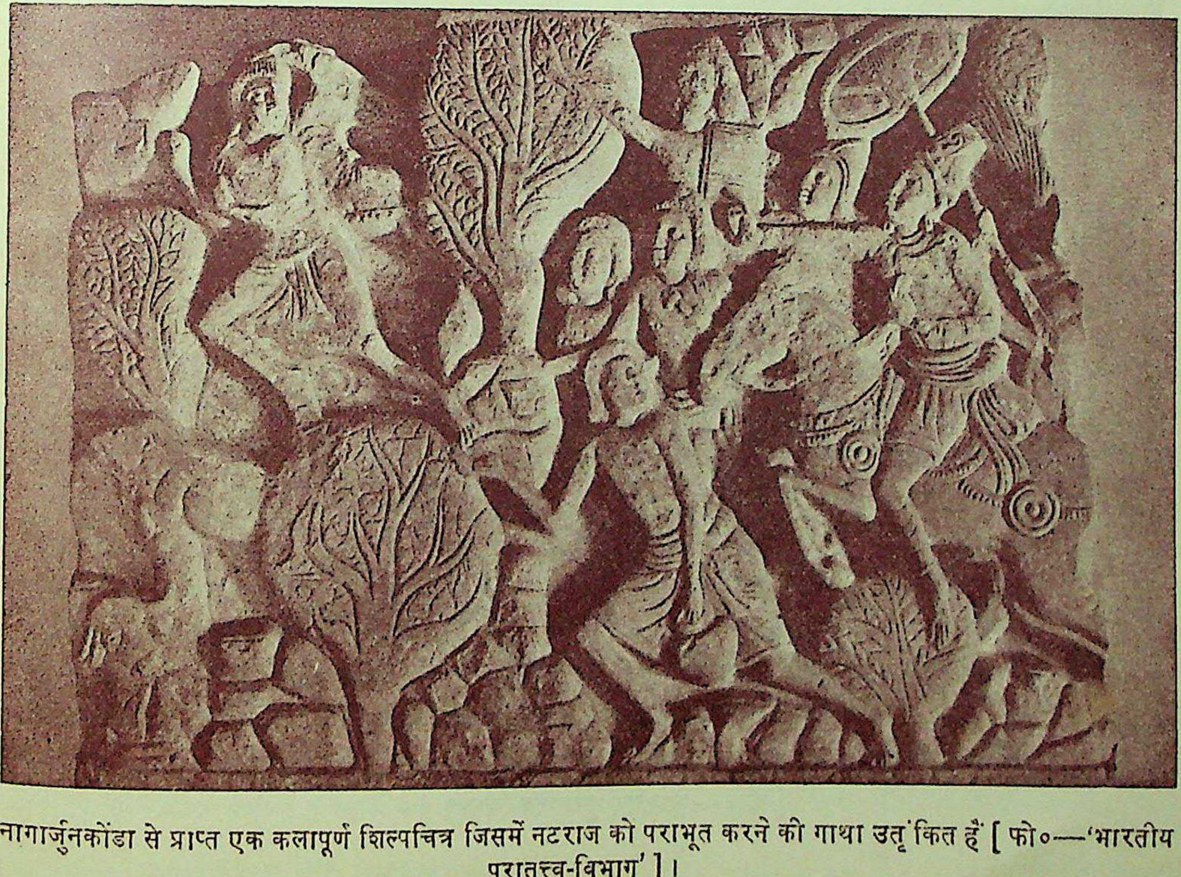

नागार्जुनकोंडा से प्राप्त एक कलापूर्ण शिल्पचित्र जिसमें नटराज को पराभूत करने की गाथा उतृंकित हैं [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

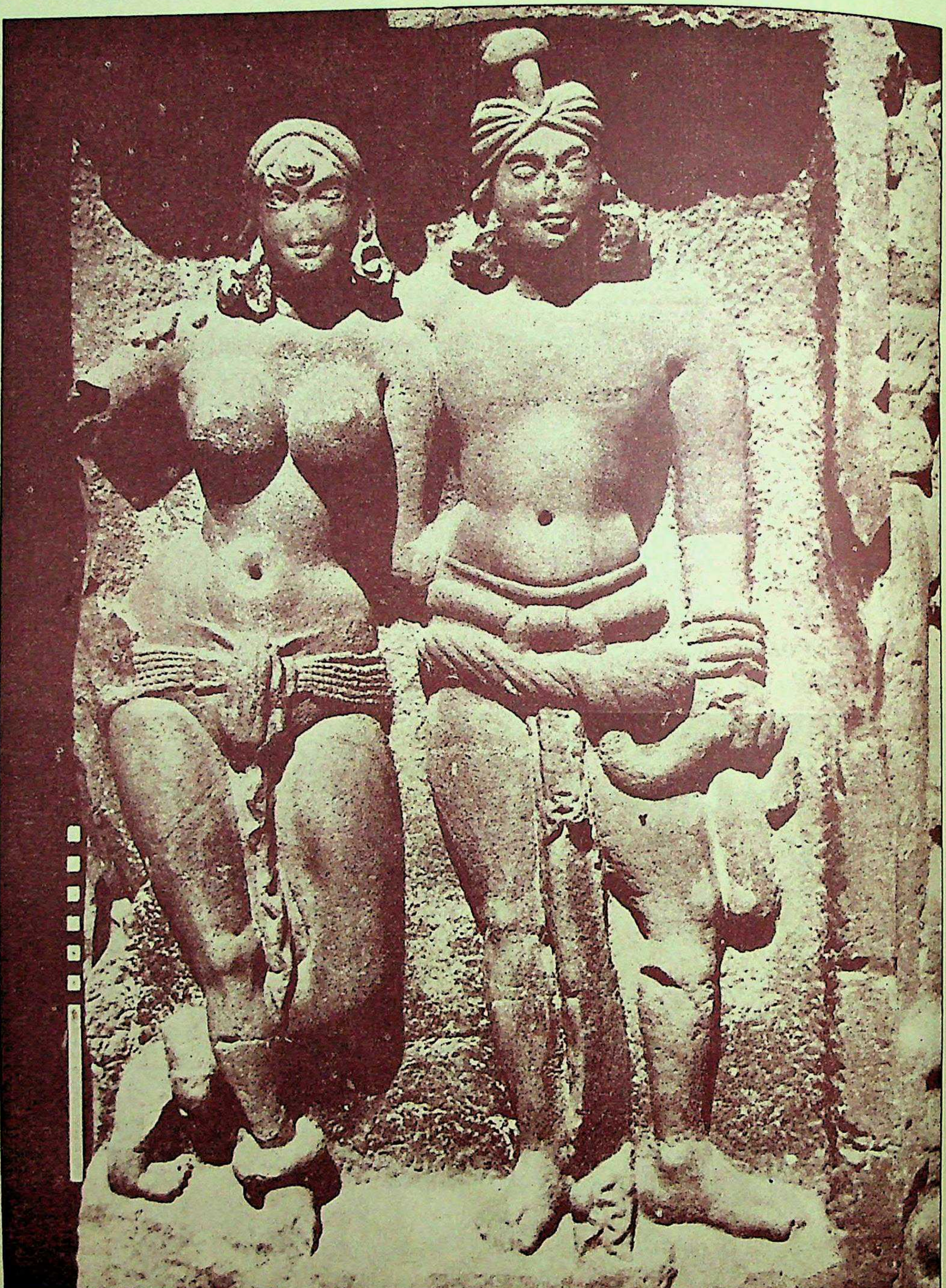

बंवई के निकट कार्ली के बौद्ध गुहा-मंदिर (प्रथम शती ईस्वी पूर्व) का प्रणयलीन दम्पति का मूर्ति-समूह
[फो०—भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

कला की पुरातन धाराएँ—(१०)

भारतीय कला :: गुप्तकाल और उसके बाद

गुप्तकाल (३२० से ६०० ई०) तथा उसके बाद की दो या तीन शताब्दियों का युग 'भारतीय कला का स्वर्णयुग' कहकर पुकारा जाता है, और यह सर्वथा उपयुक्त ही है, कारण सारनाथ, उदयगिरि, देवगढ़, गया, नालन्द, अजन्ता, एलोरा, मामल्लपुरम्, ऐहोल, बादामी, पट्टकादल, ऐलिफेण्टा, जैसे कलातीर्थों की सर्वोत्कृष्ट सिद्धियाँ इसी महायुग की देन हैं। तो फिर आइए, इस गौरवपूर्ण युग का परिचय प्राप्त करें।

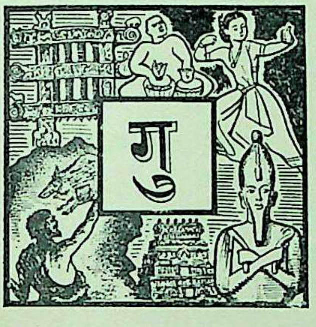

गुप्तकाल (३२० - ६०० ईस्वी) का आरंभ पाटलिपुत्र में सम्राट् चंद्रगुप्त प्रथम के राज्याभिषेक के साथ हुआ, जिसने अपने राज्य की सीमाएँ बढ़ाकर प्रयाग तक पहुँचा दीं। उसके प्रतापी पुत्र समुद्रगुप्त ने गुप्त-साम्राज्य को सतलज नदी तक विस्तृत कर दिया और अपनी दिग्विजय के क्रम में दक्षिण भारत के भी बहुत से क्षेत्रों पर उसने विजय प्राप्त कर ली। तदनंतर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने, जो कि लोक-अनुश्रुति में विक्रमादित्य के नाम से प्रख्यात है, मालवा और उज्जयिनी को भी जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया; साथ ही सौराष्ट्र के शकक्षत्रपों की शक्ति को भी सदा के लिए कुचल डाला। गुप्तकाल में विकसित समृद्धि, शक्ति और सुरक्षा की भावना ने साहित्य और विद्याओं के साथ-साथ कला-कौशल को भी काफी बढ़ावा दिया। इस युग में ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध मत दोनों ही अभूतपूर्व रूप से फूलते-फलते दिखाई दिए और भारतीय संस्कृति एवं कला का प्रभाव देश के मुख्य भूभाग से परे दूर-दूर तक देशान्तरों में भी फैलते नजर आया।

गुप्तयुग में आकर भारतीय शिल्प-विधान पूर्णता के शिखर को छूने लगा था और उसका प्रयोग अति सहज भाव से किया जाने लगा था। अब कला निगूढ़ आध्यात्मिक भावनाओं के प्रकाशन का माध्यम बन चली थी। फलतः इस युग की मूर्तिकला एवं चित्रकारी एक साथ ही दो विपरीत भावों--सतोगुणमूलक प्रशान्त आध्यात्मिकता एवं रजोगुणमूलक चंचलता--से अभिभूत दिखाई देती हैं। बुद्ध की प्रतिमा का पूर्ण विकास अब तक हो चुका था और उक्त सर्वमान्य आकृति के आधार पर भारत एवं देशान्तरों की बाद की समस्त बुद्ध-मूर्तियाँ निर्मित हुई थीं। बुद्ध-मूर्ति का यह प्रारूप स्पष्टतः मथुरा-कला द्वारा निर्धारित आदर्श का विकास था और, जैसा कि विन्सेंट का कथन है, वह गान्धार कला से सर्वथा स्वतंत्र था।

गुप्तकालीन स्तूप, चैत्य, विहार और मंदिर

गुप्तकाल के दो महत्वपूर्ण वास्तुस्मारक सारनाथ का धामेक स्तूप और राजगृह की जरासंध की बैठक नामक रचनाएँ हैं। इस युग के चैत्यालयों और विहारों में अजन्ता-गुहा सं० १९ और १६-१७ विशेष उल्लेखनीय हैं, जो न केवल सुन्दर मूर्तिशिल्प से ही अलंकृत हैं, प्रत्युत उच्च कोटि के भित्तिचित्रों से भी सुसज्जित हैं। इस युग में आकर भारतीय स्थापत्य के क्षेत्र में एक प्रकार के सपाट छतवाले मंदिर का प्रचार देश भर में दूर-दूर तक पाया जाता है। यह भारतीय वास्तुकला के लिए एक नवीन तत्त्व था। चेजार्ला का कपोतेश्वर-मंदिर, ऐहोल का दुर्गा-मंदिर, नागोद का भूमरा-मन्दिर, अजयगढ़ का नचनाकुठरा-देवालय, दक्खिन का लाडखान-मंदिर आदि इस प्रकार की सपाट छतवाली रचनाओं के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। इससे विभिन्न जाति के दो प्रसिद्ध समसामयिक देवालय हैं ललितपुर के समीप देवगढ़ का प्रसिद्ध दशावतार - मन्दिर और उससे भी अधिक मशहूर बुद्ध-

गया का महाबोधि-मंदिर, जो कि उस वज्रासन का स्मारक है जिस पर कि गौतम बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया था।

गुप्तकाल का मूर्तिशिल्प

इस ऐतिहासिक काल के मूर्तिशिल्प के उत्कृष्टतम नमूने ये हैं--जमालपुर के ढूह से प्राप्त मथुरा-शैली की प्रख्यात बुद्ध-मूर्ति; कुशीनगर के परिनिर्वाण-स्थल पर मृत्युशय्या पर लेटे तथागत की महाकाय प्रतिमा, जिस पर पाँचवीं सदी ईस्वी का एक अभिलेख भी खुदा है, जिसमें हरिबल नामक बौद्ध आचार्य एवं मथुरा के दिन्ना नामक मूर्तिकार का नामोल्लेख है; सिद्धासन की मुद्रा में बोधगया एवं सारनाथ से प्राप्त बुद्ध-मूर्तियाँ, जिन पर लेख खुदे हैं; भागलपुर के निकट सुल्तानगंज से प्राप्त बुद्ध की भीमकाय ताम्र-मूर्ति; बोस्टन के संग्रहालय में सुरक्षित कांस्य बुद्ध-मूर्ति; उदयगिरि-गुहा की दीवार पर उत्ंकित विशालकाय वाराह-मूर्ति; देवगढ़ के दशावतार-मन्दिर के पौराणिक और रामायण-महाभारतकालीन दृश्यों की पट्टियाँ; ग्वालियर-संग्रहालय
कृष्ण-जन्म-विषयक प्रतिमा; भारतीय कला-भवन (वा
णसी) की प्रसिद्ध कार्तिकेय-मूर्ति; बादामी की गुहाओं अ
ऐहोल के समसामयिक मन्दिरों की कला-कृतियाँ; एलोरा
रामेश्वर - गु
का मूर्तिशिल
मथुरा-संग्रहा
की भीमक
हनुमान-मूर्ति
साहेत - माहे
(श्रा व स्ती
कसिया, बसा
भीटा आ
स्थानों में प्रा
मिट्टी की सुं
मूर्तियाँ! ये स
कलाकृतियाँ इ
बात की जीत
जागती साक्षी
कि इस युग
आकर भारती
मूर्तिकला ए
वास्तुकला प
पूर्णता की स्थि
तक ऊपर उठक
कितनी प्रौ
और सजीव ह
उठी थी।

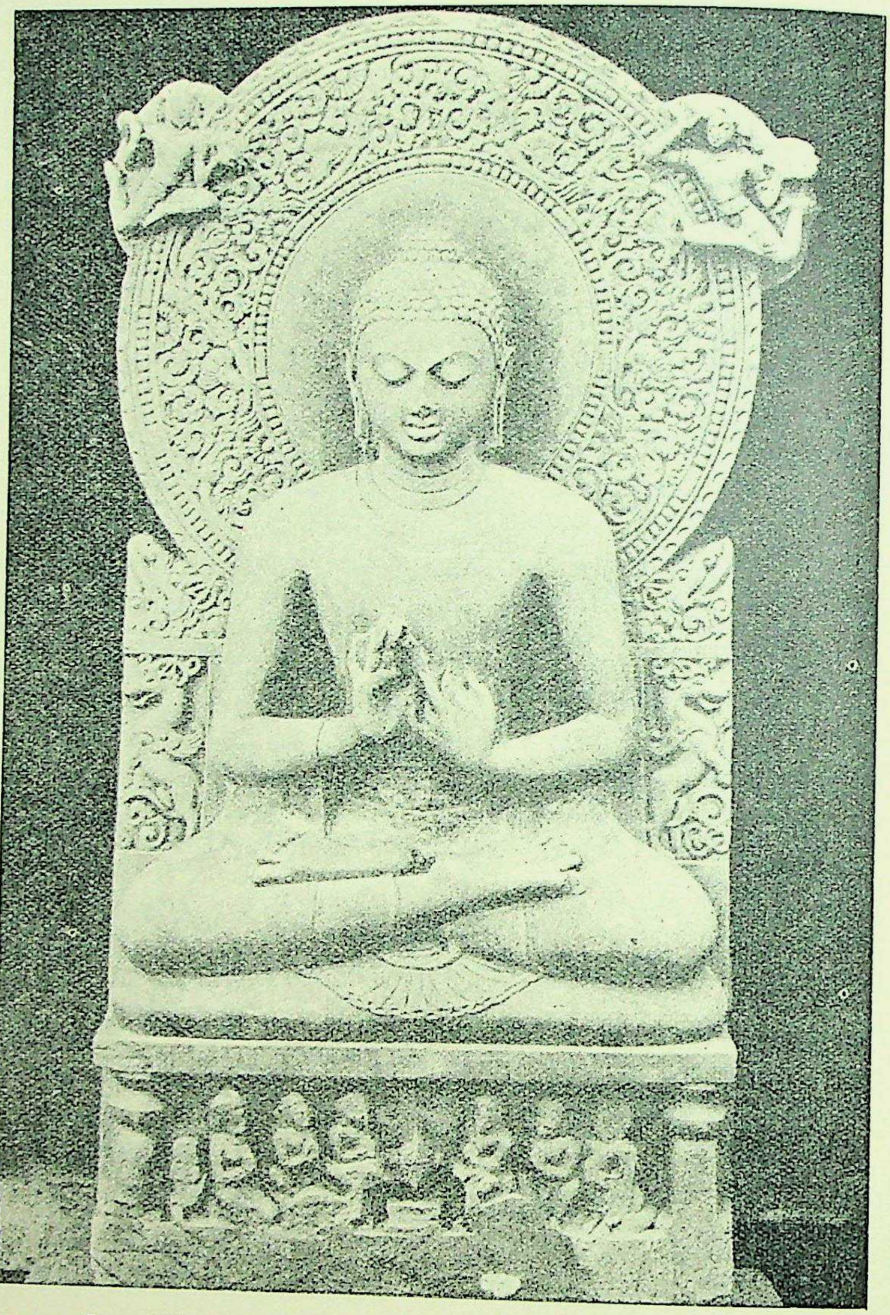
गुप्तकालीन मूर्तिशिल्प का ज्वलन्त प्रतीक :: सारनाथ में प्राप्त ५ वीं शती ई० की प्रसिद्ध बुद्ध-मूर्ति [फो० —'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

गुप्त-साम्राज
का विघटन
हर्ष का उद

उत्तर दिश
की ओर से श्वे
हूणों के निरन्त
आक्रमणों के
फलस्वरूप सम्राट् स्कंदगुप्त (४८० ईस्वी) के शासनकाल
गुप्त-साम्राज्य के विघटन का क्रम आरंभ हुआ और यद्य
५२८ ईस्वी में बालादित्य नामक उत्तरकालीन गुप्त सम्राट्
हूणों के अधिपति मिहिरगुल को बुरी तरह पराजित कर दिया

तथापि गुप्त-साम्राज्य की शक्ति और दृढ़ता का अवसान हो चला था और अंततोगत्वा उसका सारा ढाँचा तितर-बितर हो गया। सातवीं शताब्दी ईस्वी के पूर्वार्ध में गुप्त-साम्राज्य के खंडहरों पर स्थाण्वीश्वर और कन्नौज के प्रतापी सम्राट् हर्षवर्धन (६०६-६४७ ईस्वी) का उदय हुआ, जिसने पूर्वकालिक गुप्त सम्राटों की गौरवश्री को पुनर्जागृत कर दिया और नर्मदा के उत्तरवर्ती सारे उत्तरी भारत पर अपना झंडा फहरा दिया। सम्राट् हर्ष बिना भेद-भाव के शिव, सूर्य और बुद्ध तीनों ही की उपासना करता था और इनमें से प्रत्येक के सम्मान म उसने भव्य मन्दिर बनवाए थे !

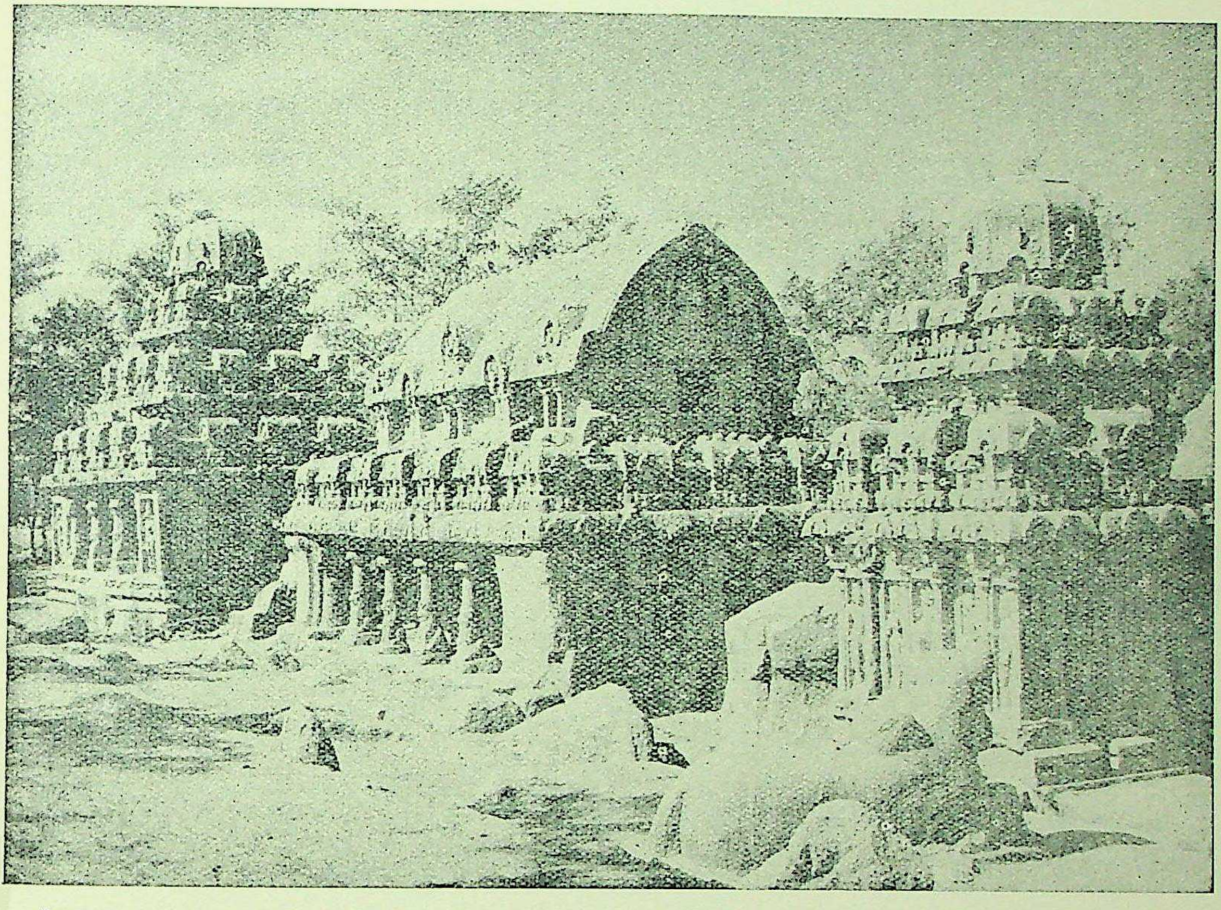

समूचे शिलाखंडों को कुरेदकर बनाए गए मामल्लपुरम् (महाबलीपुरम) के पल्लवकालीन गुहा-मन्दिर, जो कि पंच पांडवों के रथों के नाम से प्रसिद्ध हैं [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

नालन्द का कला-वैभव

हर्ष के शासनकाल में नालन्द का प्रसिद्ध विहार और विश्वविद्यालय अपूर्व वैभव के साथ फूला-फला। इन्हीं दिनों भारत की यात्रा पर आनेवाले प्रसिद्ध चीनी यात्री य्वान च्वाङ्ग और ईचिंग ने इस महान् विद्या-संस्थान का जो विवरण लिखकर छोड़ा है, उससे ज्ञात होता है कि इस अद्वितीय विद्या-केन्द्र में विश्वविद्यालय के लिए एवं बौद्ध भिक्षुओं के आवास और विहार आदि के लिए अलग-अलग भवन निर्मित थे।

य्वान च्वाङ्ग ने अपने यात्रा-विवरण के संस्मरणों में लिखा है कि "यह सारा का सारा संस्थान ईंटों की एक विशाल दीवार से घिरा है। उक्त प्राचीर का एक महाद्वार हमें महाविद्यालय की भव्य इमारत में प्रवेश कराता है, जिसके कि प्रांगण में आठ अन्य पृथक् विशाल सभा-भवन खड़े हैं। इस विशद संस्थान के भव्य भवनों के उन्नत शिखर पासपड़ोस की पहाड़ियों की मीनारों की-सी चोटियों के साथ घुल-मिलकर ऐसी छवि रचते हैं, मानो वह किसी परी-देश की मीनारों की झाँकी हो ! विश्वविद्यालय की गगनचुम्बी वेधशालाएँ प्रातःकालीन कोहरे के परदे की ओट में खो गई-सी जान पड़ती हैं और उनकी ऊपरी मंजिलें अपना मस्तक बादलों से भी ऊपर उठाए दिखाई पड़ती हैं ! आसपास के प्रांगणों में भिक्षुओं और पुजारियों के जो आवास-गृह बने हैं, वे उत्तरोत्तर

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गया का महाबोधि-मंदिर, जो कि उस [illegible] है जिस पर कि गौतम बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया था।

गुप्तकाल का मूर्तिशिल्प

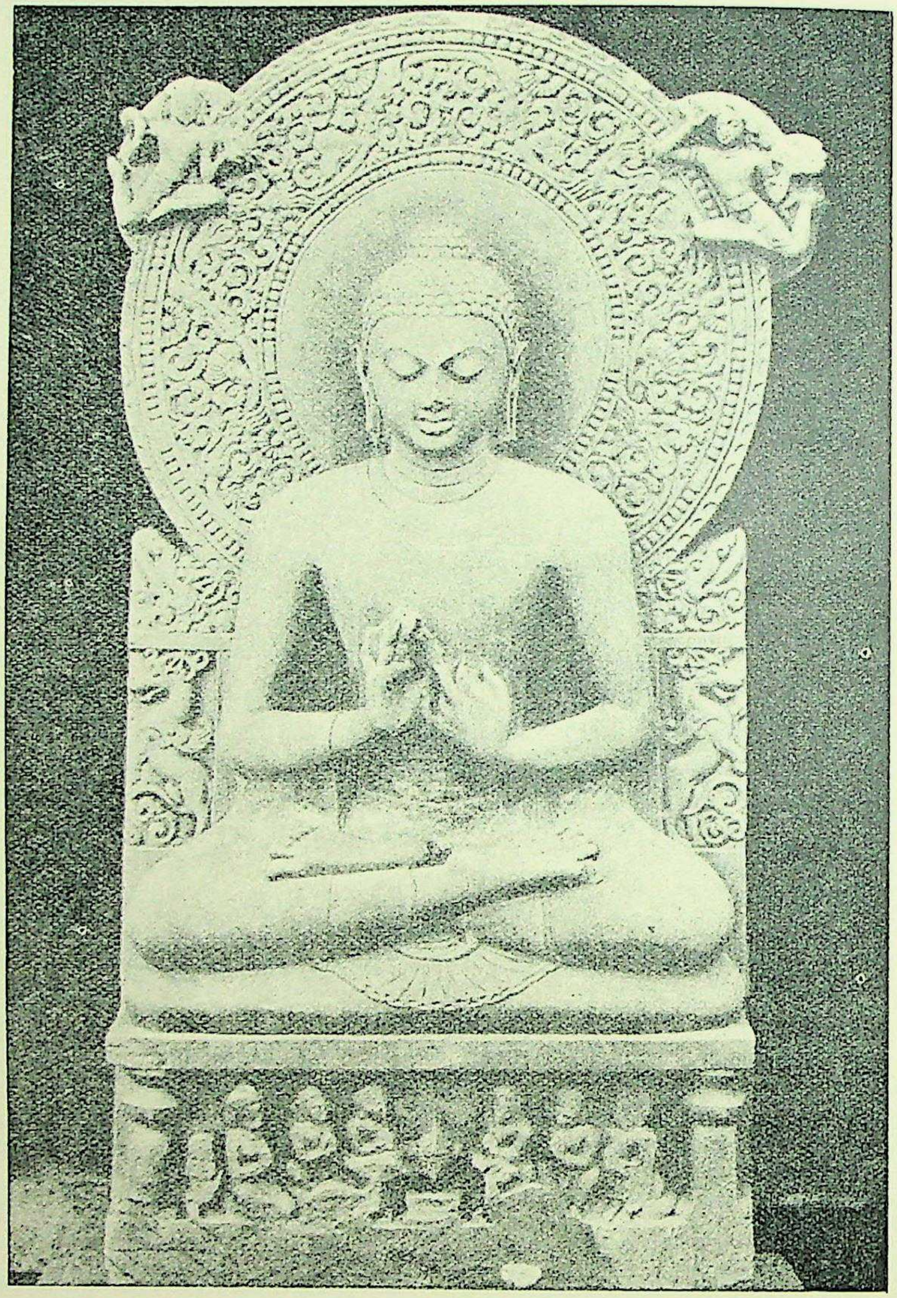

गुप्तकालीन मूर्तिशिल्प का ज्वलन्त प्रतीक :: सारनाथ में प्राप्त ५ वीं शती ई० की प्रसिद्ध बुद्ध-मूर्ति [फो० —'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

इस ऐतिहासिक काल के मूर्तिशिल्प के उत्कृष्टतम नमूने ये हैं—जमालपुर के ढूह से प्राप्त मथुरा-शैली की प्रख्यात बुद्ध-मूर्ति; कुशीनगर के परिनिर्वाण-स्थल पर मृत्युशय्या पर लेटे तथागत की महाकाय प्रतिमा, जिस पर पाँचवीं सदी ईस्वी का एक अभिलेख भी खुदा है, जिसमें हरिबल नामक बौद्ध आचार्य एवं मथुरा के दिन्ना नामक मूर्तिकार का नामोल्लेख है; सिद्धासन की मुद्रा में बोधगया एवं सारनाथ से प्राप्त बुद्ध-मूर्तियाँ, जिन पर लेख खुदे हैं; भागलपुर के निकट सुलतानगंज से प्राप्त बुद्ध की भीमकाय ताम्र-मूर्ति; बोस्टन के संग्रहालय में सुरक्षित कांस्य बुद्ध-मूर्ति; उदयगिरि-गुहा की दीवार पर उत्कीर्ण विशालकाय वाराह-मूर्ति; देवगढ़ के दशावतार-मन्दिर के पौराणिक और रामायण-[illegible] की पट्टियाँ; ग्वालियर-संग्रहालय की कृष्ण-जन्म-विषयक प्रतिमा; भारतीय कला-भवन (वाराणसी) की प्रसिद्ध कार्तिकेय-मूर्ति; बादामी की गुहाओं और ऐहोल के समसामयिक मन्दिरों की कला-कृतियाँ; एलोरा की रामेश्वर-गुहा का मूर्तिशिल्प; मथुरा-संग्रहालय की भीमकाय हनुमान-मूर्ति एवं साहेत-माहेत (श्रावस्ती), कसिया, बसाढ़, भीटा आदि स्थानों में प्राप्त मिट्टी की सुंदर मूर्तियाँ! ये सभी कलाकृतियाँ इस बात की जीती-जागती साक्षी हैं कि इस युग में आकर भारतीय मूर्तिकला एवं वास्तुकला परिपूर्णता की स्थिति तक ऊपर उठकर कितनी प्रौढ़ और सजीव हो उठी थी।

गुप्त-साम्राज्य का विघटन :: हर्ष का उदय

उत्तर दिशा की ओर से श्वेत हूणों के निरन्तर आक्रमणों के फलस्वरूप सम्राट् स्कंदगुप्त (४८० ईस्वी) के शासनकाल में गुप्त-साम्राज्य के विघटन का क्रम आरंभ हुआ और यद्यपि ५२८ ईस्वी में बालादित्य नामक उत्तरकालीन गुप्त सम्राट् ने हूणों के अधिपति मिहिरगुल को बुरी तरह पराजित कर दिया,

तथापि गुप्त-साम्राज्य की शक्ति और दृढ़ता का अवसान हो चला था और अंततोगत्वा उसका सारा ढाँचा तितर-बितर हो गया। सातवीं शताब्दी ईस्वी के पूर्वार्ध में गुप्त-साम्राज्य के खंडहरों पर स्थाण्वीश्वर और कन्नौज के प्रतापी सम्राट् हर्षवर्धन (६०६-६४७ ईस्वी) का उदय हुआ, जिसने पूर्वकालिक गुप्त सम्राटों की गौरवश्री को पुनर्जागृत कर दिया और नर्मदा के उत्तरवर्ती सारे उत्तरी भारत पर अपना झंडा फहरा दिया। सम्राट् हर्ष बिना भेद-भाव के शिव, सूर्य और बुद्ध तीनों ही की उपासना करता था और इनमें से प्रत्येक के सम्मान म उसने भव्य मन्दिर बनवाए थे !

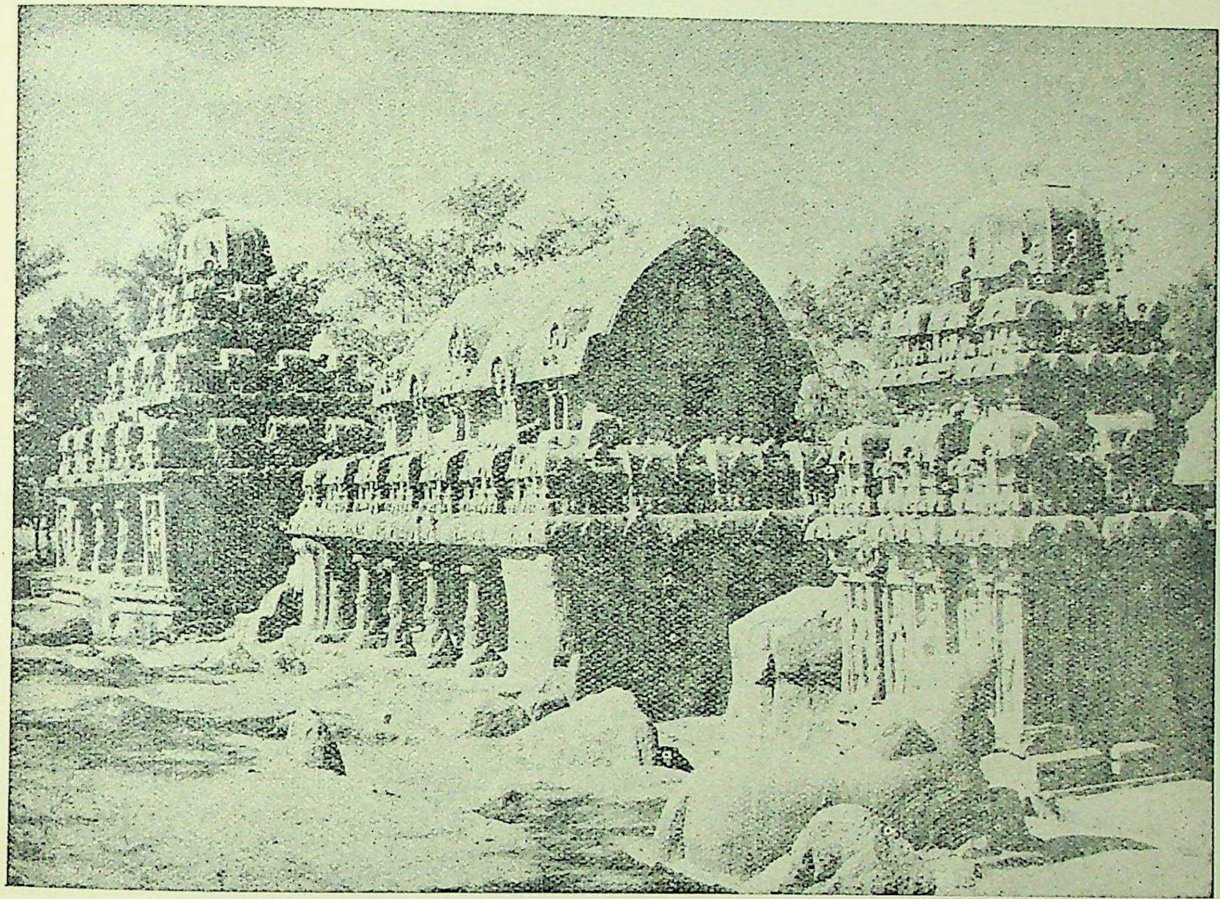

समूचे शिलाखंडों को कुरेदकर बनाए गए मामल्लपुरम् (महावलीपुरम) के पल्लवकालीन गुहा-मन्दिर, जो कि पंच पांडवों के रथों के नाम से प्रसिद्ध हैं [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

नालन्द का कला-वैभव

हर्ष के शासनकाल में नालन्द का प्रसिद्ध विहार और विश्वविद्यालय अपूर्व वैभव के साथ फूला-फला। इन्हीं दिनों भारत की यात्रा पर आनेवाले प्रसिद्ध चीनी यात्री य्वान च्वाङ्ग और ईचिंग ने इस महान् विद्या-संस्थान का जो विवरण लिखकर छोड़ा है, उससे ज्ञात होता है कि इस अद्वितीय विद्या-केन्द्र में विश्वविद्यालय के लिए एवं बौद्ध भिक्षुओं के आवास और विहार आदि के लिए अलग-अलग भवन निर्मित थे।

य्वान च्वाङ्ग ने अपने यात्रा-विवरण के संस्मरणों में लिखा है कि "यह सारा का सारा संस्थान ईंटों की एक विशाल दीवार से घिरा है। उक्त प्राचीर का एक महाद्वार हमें महाविद्यालय की भव्य इमारत में प्रवेश कराता है, जिसके कि प्रांगण में आठ अन्य पृथक् विशाल सभा-भवन खड़े हैं। इस विशद संस्थान के भव्य भवनों के उन्नत शिखर पासपड़ोस की पहाड़ियों की मीनारों की-सी चोटियों के साथ घुल-मिलकर ऐसी छवि रचते हैं, मानो वह किसी परी-देश की मीनारों की झाँकी हो ! विश्वविद्यालय की गगनचुम्बी वेधशालाएँ प्रातःकालीन कोहरे के परदे की ओट में खो गई-सी जान पड़ती हैं और उनकी ऊपरी मंजिलें अपना मस्तक बादलों से भी ऊपर उठाए दिखाई पड़ती हैं ! आसपास के प्रांगणों में भिक्षुओं और पुजारियों के जो आवास-गृह बने हैं, वे उत्तरोत्तर

क्रम से चार विभागों में बँटे हैं। ये रचनाएँ भाँति-भाँति के वास्तु-अलंकरणों से सुशोभित हैं। इमारतों की छतों की रंगीन छेंकन तथा बाहर निकली हुई मकराकृतियाँ; लाल मोती के वर्ण के स्तंभों की बारीक नक्काशी की हुई पंक्तियाँ; उत्कृष्ट शिल्प से सुसज्जित छज्जे और रंगीन खपरैलों से आच्छादित सुन्दर छतें, जिन पर पड़नेवाला प्रकाश सहस्र-सहस्र प्रकार से प्रतिबिंबित हो उठता है; ये सब आसपास के दृश्य को एक अलौकिक आभा से जगमगा-सा देते हैं!" इस प्रसिद्ध बौद्ध यात्री ने यहाँ के एक छः मंजिले विशाल मन्दिर में पूर्णवर्मन् द्वारा सातवीं सदी ईस्वी में प्रस्थापित भगवान् बुद्ध की ८० फीट ऊँची एक भीमकाय ताम्र-मूर्ति का भी उल्लेख किया है, जिसके समीप ही तारा देवी की एक वन्दनीय मूर्ति भी स्थापित थी।

दुर्भाग्यवश नालन्द के उस वैभवकाल का कोई जीवित चिह्न आज उपलब्ध नहीं है —— केवल प्रथम और द्वितीय स्मारक-स्थलों के नाम से अभिहित खँडहरों पर प्राप्त कतिपय उतृंकित शिल्प-पट्ट ही उस युग के बचे बचाए अवशेषों के रूप में इस महान् विद्यानगरी और कलातीर्थ के बीते गौरव की याद हमें दिलाते हैं।

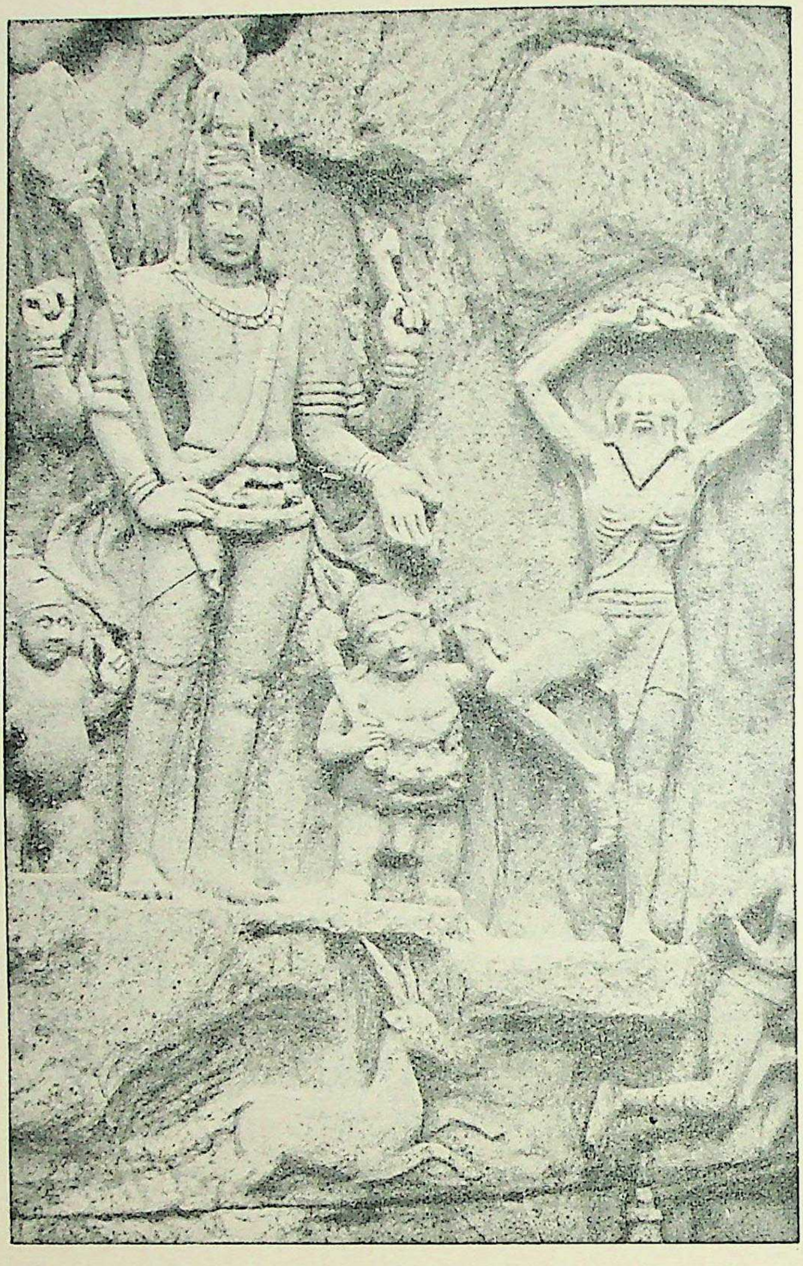

मामल्लपुरम् के एक शिलाखंड पर उतृंकित अर्जुन की तपस्या का भव्य दृश्य :: वाईं ओर शिव खड़े हैं [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व -विभाग']।

दक्षिण भारत का चालुक्य और पल्लव वास्तुशिल्प

दक्षिण भारत की आरम्भिक चालुक्य और पल्लव वास्तुकला का श्रीगणेश पुलकेशिन् प्रथम के समय से होता है, जिसने अपनी राजधानी ऐहोल और पट्टदकल के निकट बादामी में स्थापित की थी। उसके उत्तराधिकारी पुलकेशिन् द्वितीय ने वैंगी के पुरातन आन्ध्र-पल्लव प्रदेश को जीतकर अपनी द्वितीय राजधानी नासिक में बनाई थी। तेर नामक स्थान के उत्तरेश्वर और कालेश्वर के पुरातन ईंटों के मंदिर, पट्टदकल का महान् विरुपाक्ष-मन्दिर, पापनाथ नामक देवालय, बादामी के गुहा-मन्दिर, औरंगाबाद की बौद्ध गुफाएँ और एलोरा के ब्राह्मणधर्मी गुहा-मन्दिर जैसी रचनाएँ इसी युग के आसपास निर्मित हुई थीं। ये सब सुंदर मूर्ति-शिल्प से अलंकृत हैं, जिसके उत्कृष्ट नमूनों के रूप में एलोरा के शिव-तांडव, हिरण्यकश्यप-वध और इसी प्रकार की अगणित कलाकृतियों का उल्लेख किया जा सकता है। अजंता की सं० १ से ५ एवं सं० २१ से २६ तक की गुफाएँ इसी युग की रचनाएँ हैं। नासिक में गुफा सं० १७ में बुद्ध के परिनिर्वाण की एक भीमकाय मूर्ति दर्शनीय है। ७५५ ईस्वी में दक्षिण भारत के पश्चिमी

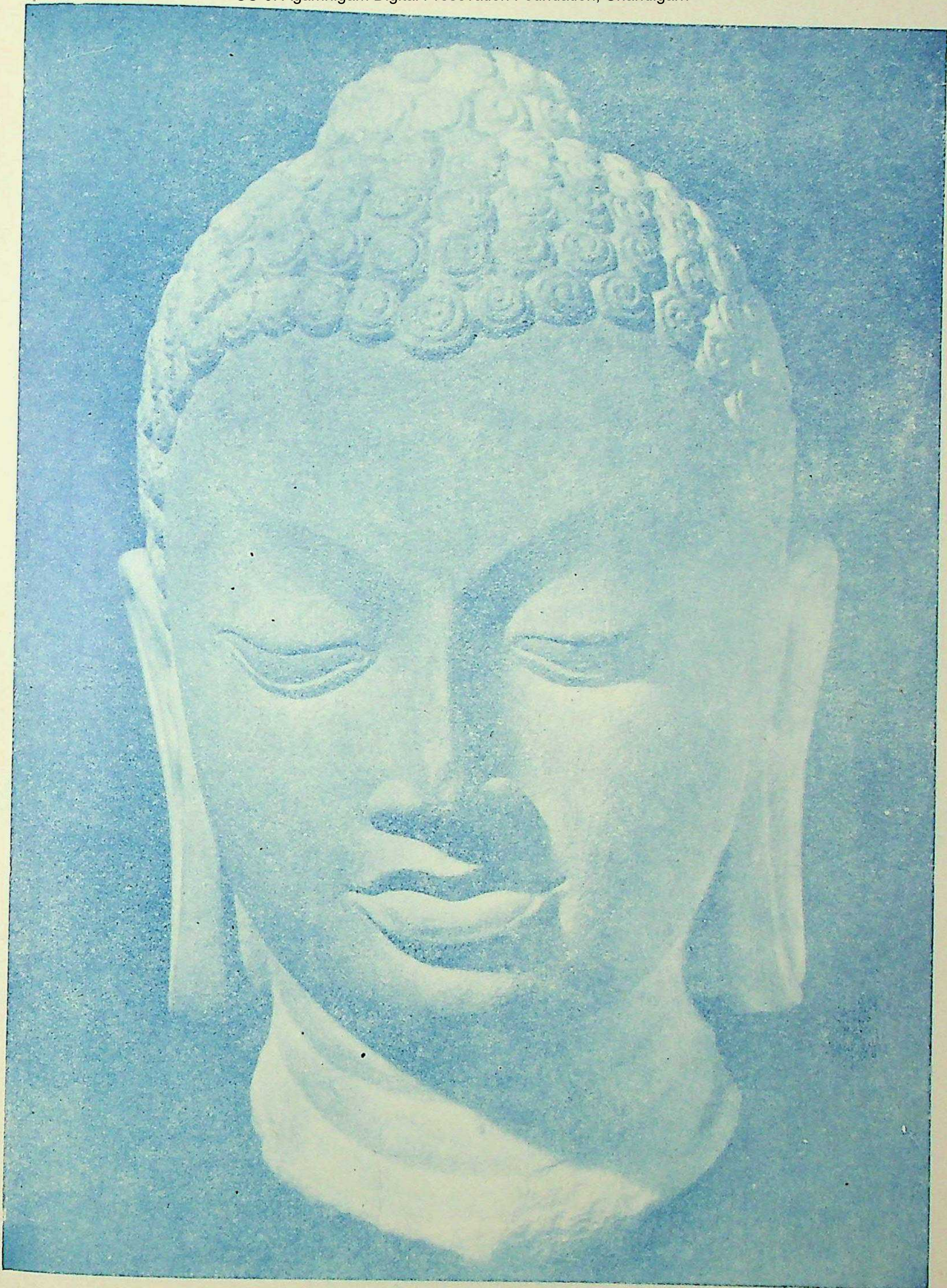

सारनाथ से प्राप्त एक गुप्तकालीन बुद्ध-मूर्ति का शीर्ष भाग [फो॰'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

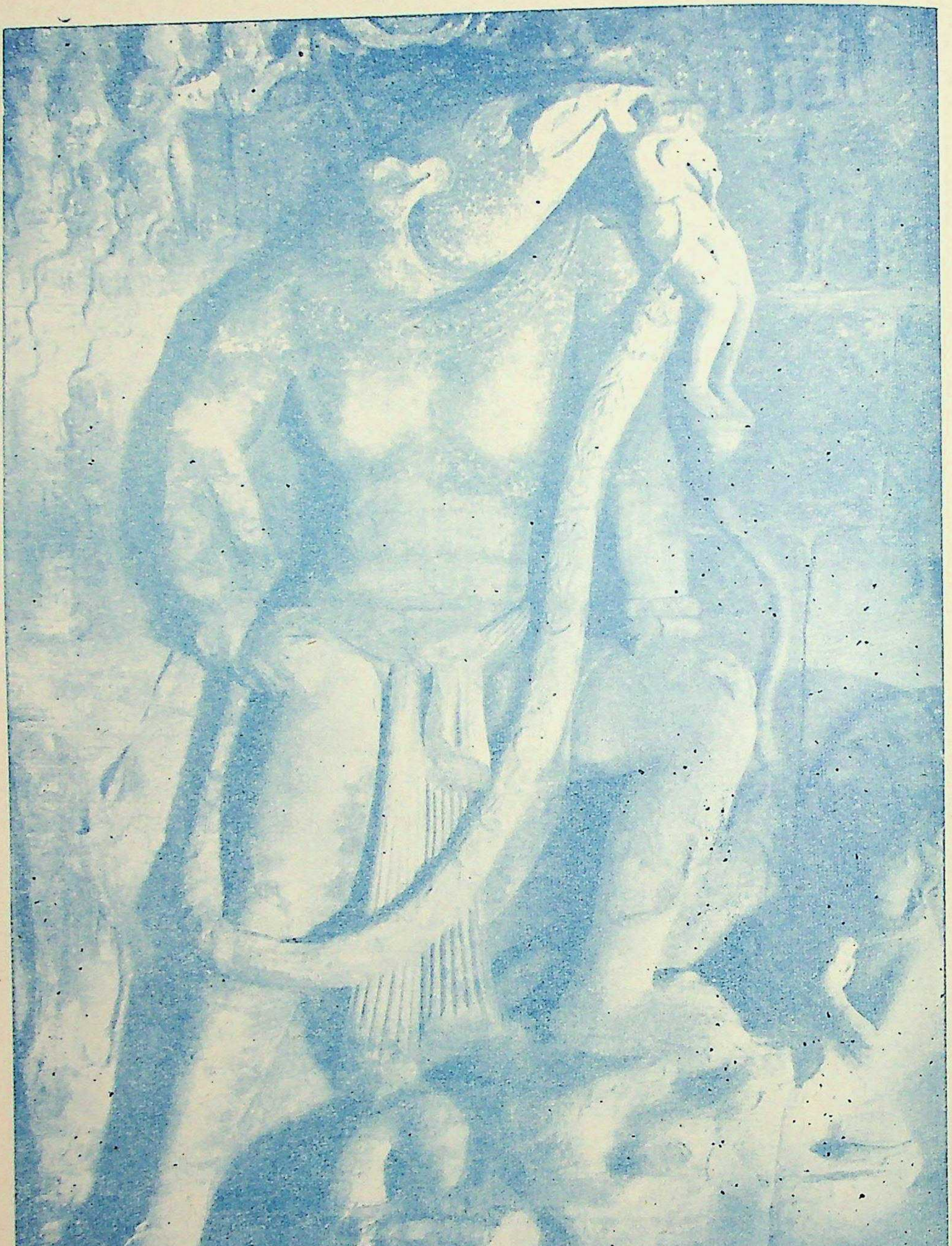

विदिशा के समीप की उदयगिरि-गुफा की दीवार पर उत्टंकित बाराह-अवतार की प्रसिद्ध गुप्तकालीन मूर्ति
[फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग'] ।

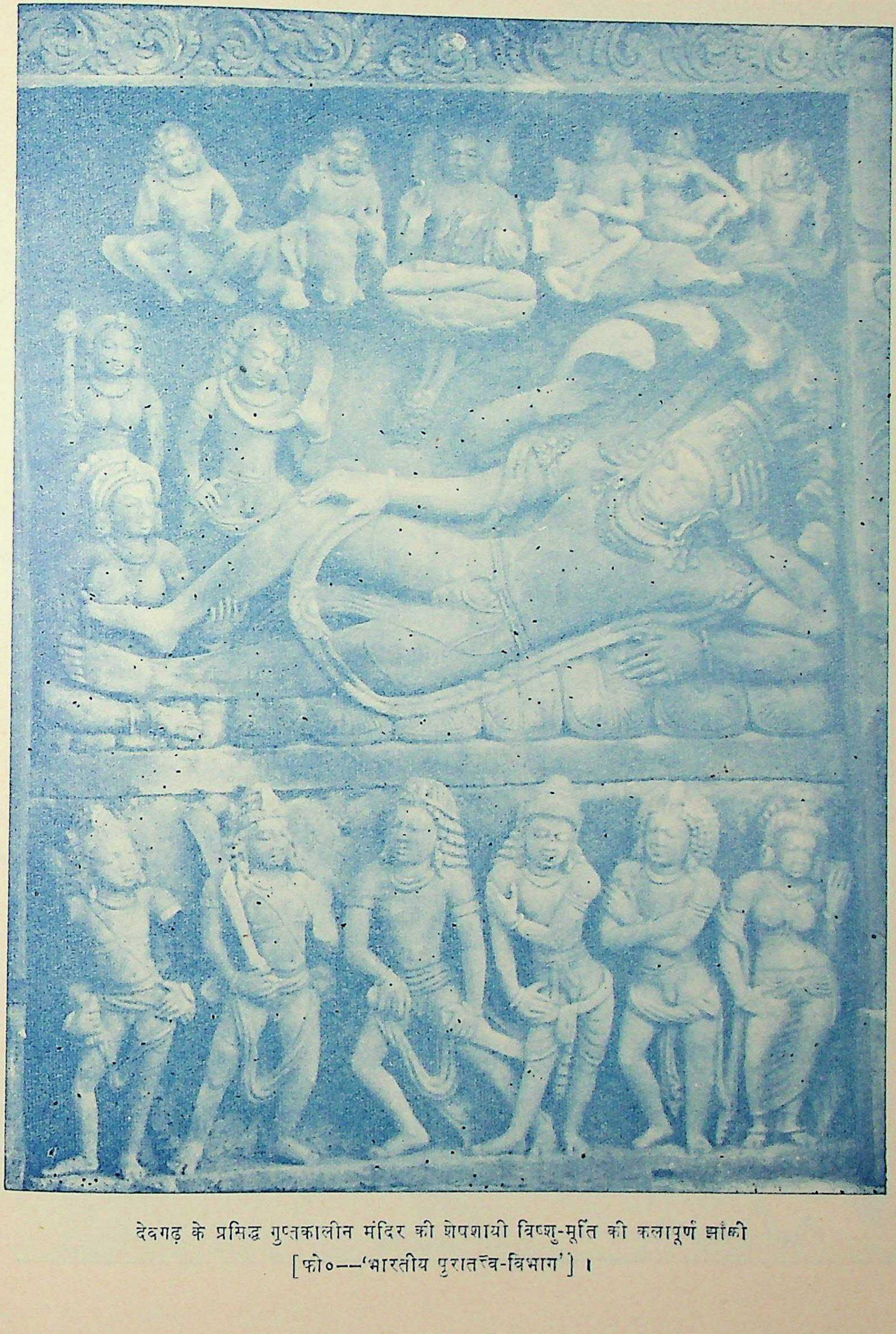

देवगढ़ के प्रसिद्ध गुप्तकालीन मंदिर की शेषशायी विष्णु-मूर्ति की कलापूर्ण झाँकी
[फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

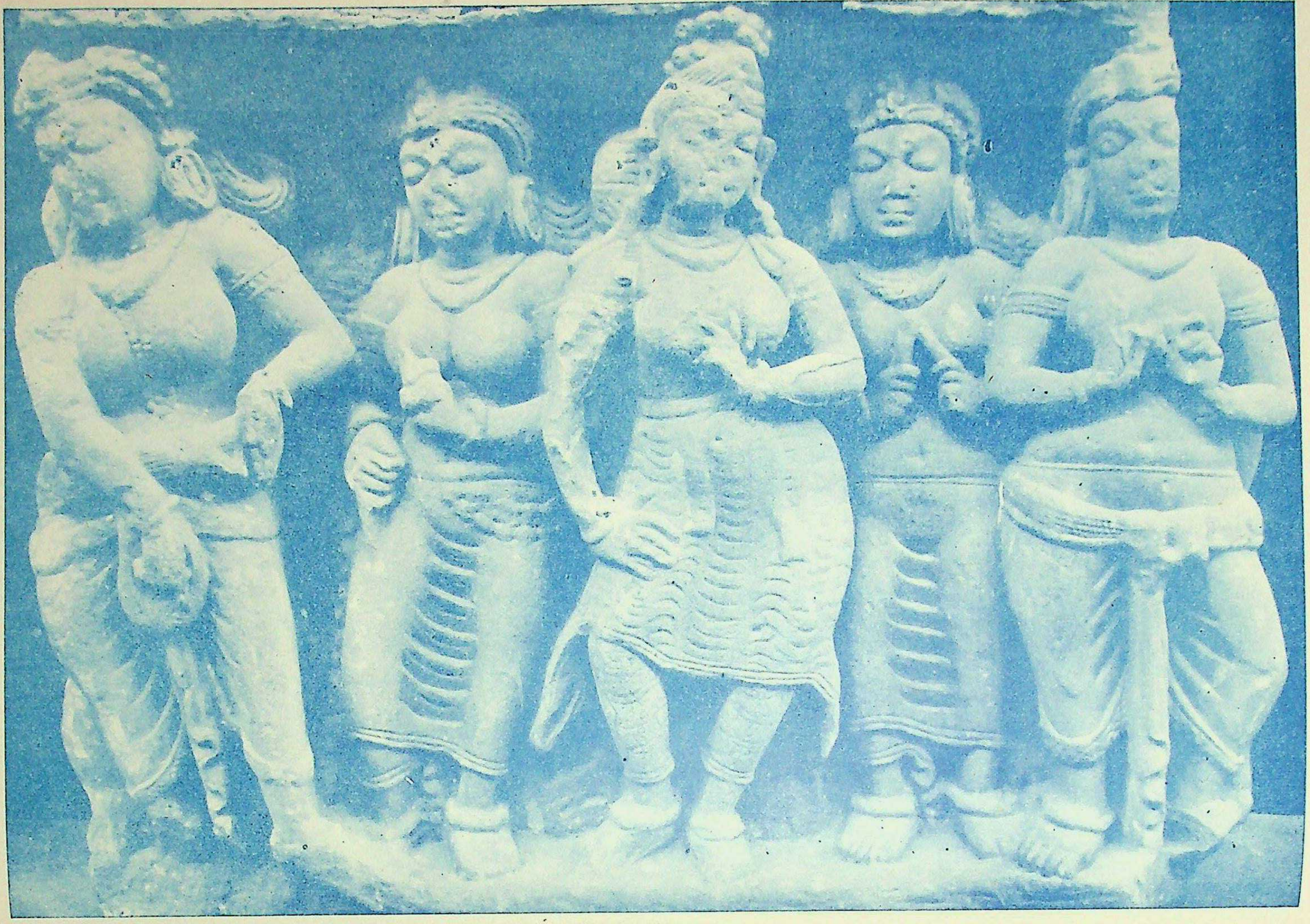

देवगढ़ के गुप्तकालीन मंदिर के एक मूर्ति-शिल्प में दिग्दर्शित नर्तकियों का समूह [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग'] ।

क्षेत्र में चालुक्यों के बाद राष्ट्रकूटों की शक्ति का उद्भव हुआ। इस राजवंश के कृष्ण द्वितीय नामक प्रतापी राजा द्वारा चट्टान में समूचा काटकर बनाया गया एलोरा का विश्वविख्यात कैलासनाथ-मंदिर भारतीय कला की सर्वोत्कृष्ट सिद्धि के परिचायक एक से एक बढ़िया मूर्ति-शिल्प से सुसज्जित है; उदाहरणार्थ कैलास पर्वत को उखाड़ने का प्रयत्न करते हुए रावण; गंगावतरण; त्रिपुरांतक शिव और गरुड़वाही विष्णु आदि के अद्‌भुत मूर्ति-समूह को लिया जा सकता है, जिनकी गणना भारतीय मूर्तिकला के उत्कृष्ट नमूनों में की जा सकती है।

आठवीं सदी ईस्वी के उत्तरार्ध में बम्बई के समीप ऐलिफैण्टा द्वीप पर निर्मित प्रख्यात गुहा-मंदिर में भी, जोकि चट्टान को खोदकर बनाया गया है, प्रारंभिक मध्यकालीन शिल्प के कतिपय सर्वोत्कृष्ट नमूने विद्यमान हैं। इनमें त्रिमूर्ति के नाम से प्रख्यात विशालकाय महेश-मूर्ति (दे० पृ० २८२१ और ४९३ के चित्र)की गणना तो संसार की भव्यतम मूर्तियों में की जाती है। अन्य एक नमूना पृ० २८६० पर दिग्दर्शित है।

पल्लव कला :: मामल्लपुरम् का भव्य शिल्प

तीसरी और चौथी शताब्दी ईस्वी में पल्लवों ने (जो कि किसी समय आन्ध्रों के अनुचर थे) अपने तत्कालीन प्रभुओं (अर्थात् आंध्रों) को पराभूत कर पूर्वीय तट पर अपना एकछत्र राज्य स्थापित कर लिया। उन्होंने अपने राज्य की सीमाएँ दक्षिण में ठेठ तांजौर तक बढ़ा लीं और अपनी राजधानी कांचीपुरम् में स्थापित की। तिथिक्रमानुसार पल्लव कलाकृतियों को चार विभिन्न शैलियों में वर्गीकृत किया जाता है। ये हैं– महेंद्र-शैली, मामल्ल-शैली, राजसिंह और नंदीवर्मन-शैली एवं अपराजित-शैली। इनमें से मामल्ल-शैली सब से महत्वपूर्ण है, क्योंकि मामल्लपुरम् (मद्रास के समीप महावलीपुरम् के नाम से प्रख्यात स्थल)के शिलाखंडों को काटकर बनाए गए मंदिरों का अधिकांश शिल्प इसी शैली में रचित है। मामल्लपुरम् के देवालयों में त्रिमूर्ति, वाराह, दुर्गा और पंच पांडव के नाम से प्रसिद्ध गुहा-मन्दिर सब से महत्वपूर्ण हैं। उनके कतिपय मूर्ति-समूह अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि के हैं। वाराह-गुफा में वाराह और वामन अवतार की झाँकियों से संबंधित एक सिलसिलेवार सुन्दर मूर्ति-चित्रावली है। इसके अतिरिक्त सूर्य, दुर्गा, गजलक्ष्मी एवं राजमहीषियों सहित सिंहविष्णु एवं महेन्द्रवर्मन् नामक राजपुरुषों से संबंधित दो उत्कृष्ट मूर्ति-समूह भी उसमें हैं। दुर्गा-गुहा में बाईं ओर के एक शिल्पपट्ट में अनन्त शेषशायी विष्णु की एक सुन्दर प्रतिमा है, जिसके चरणों के समीप मधु और कैटभ नामक दो दैत्य खड़े हैं। इस भव्य

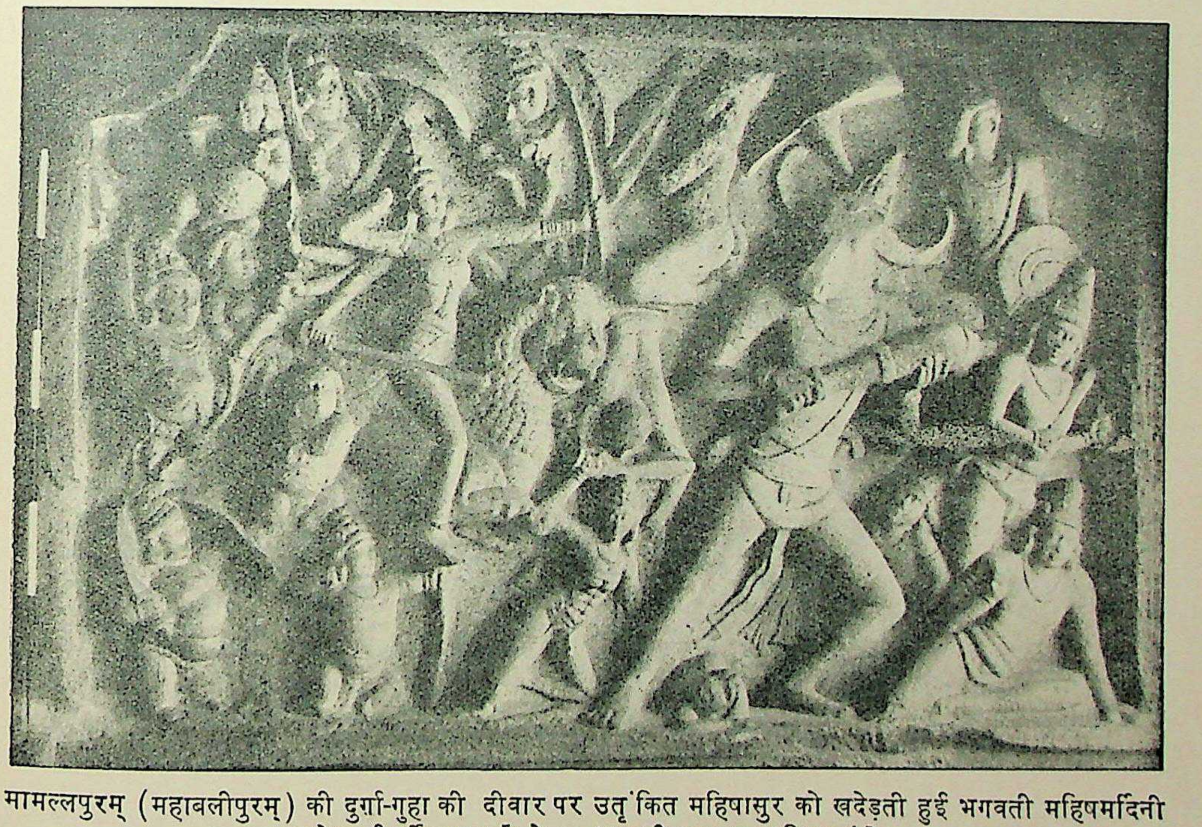

मामल्लपुरम् (महाबलीपुरम्) की दुर्गा-गुहा की दीवार पर उत्ंकित महिषासुर को खदेड़ती हुई भगवती महिषमर्दिनी का ओजपूर्ण मूर्ति-समूह [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

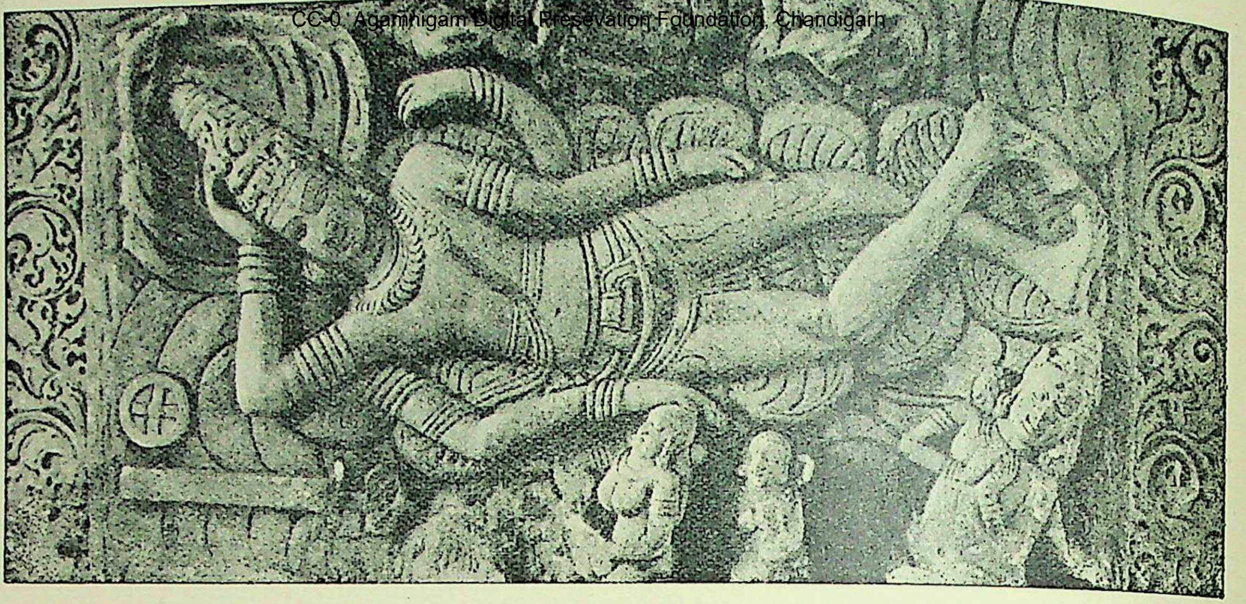

ऐहोल से प्राप्त शेषशायी विष्णु की कलापूर्ण भव्य प्रतिमा, जो इन दिनों बंबई के पुरातत्त्व-संग्रहालय में सुरक्षित है [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

चित्र को देखकर मन पर ऐसा प्रभाव पड़ता है मानो पूर्ण विश्रान्ति की स्थिति में लीन मूर्तिमान सुषुप्ति की प्रशान्त मुद्रा को भंग करने के लिए उद्यत अशान्ति के दो दूत सम्मुख खड़े हों और उस शान्ति को भंग करके वे घोर उपद्रव का वातावरण जगानेवाले हों ! चित्र में पुराकालीन सागर में से निकलती हुई दो देवमूर्तियाँ विनय के भाव में करबद्ध दिग्दर्शित हैं और पृष्ठभूमि में आकाश में गमन करते हुए विद्याधरों की झाँकी प्रस्तुत है, जो कि ऐहोल की गगन-विहारी आकृतियों की याद दिलाती है। दाहिनी ओर का मूर्तिपट्ट, जिसमें दुर्गा महिषमर्दिनी की प्रतिछबि दिग्दर्शित

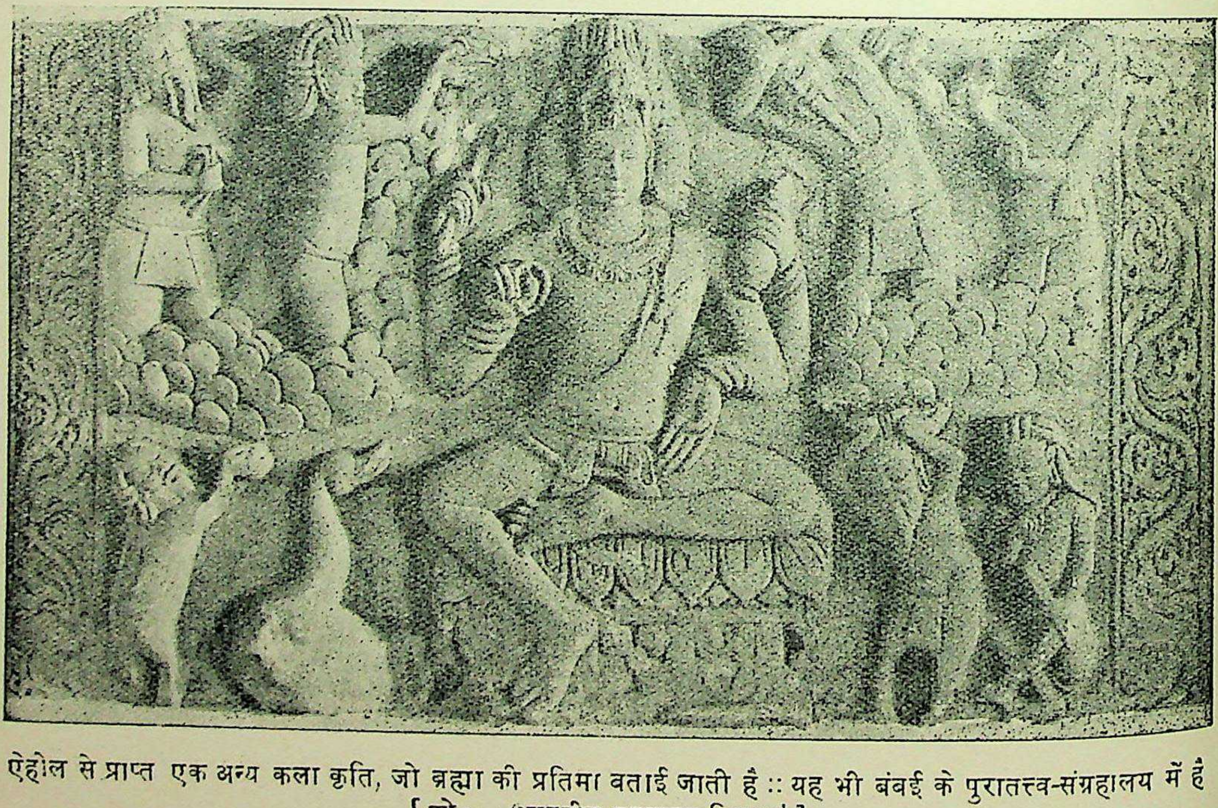

ऐहोल से प्राप्त एक अन्य कला कृति, जो ब्रह्मा की प्रतिमा बताई जाती है :: यह भी बंबई के पुरातत्त्व-संग्रहालय में है [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

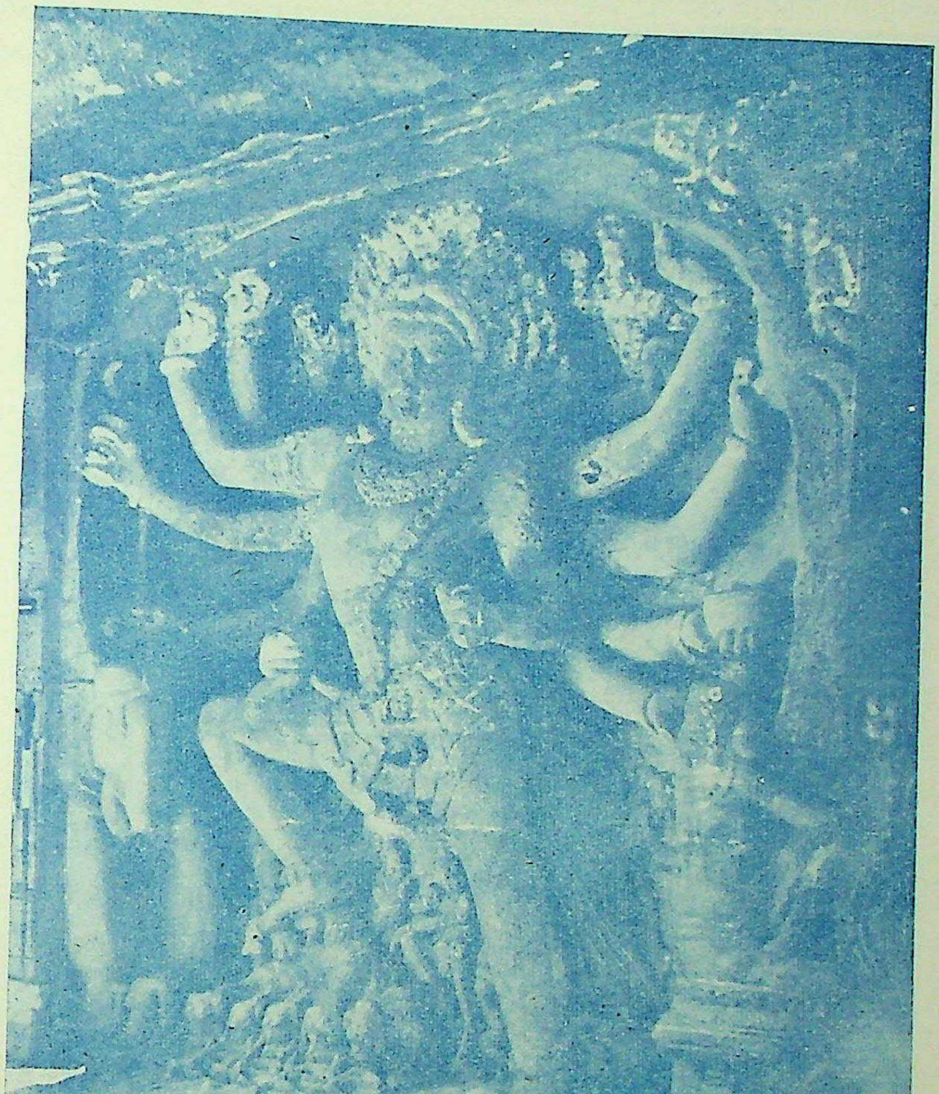

एलोरा के मूर्ति-शिल्प का एक नमूना : सं० १६ की गुफा में विद्यमान शिव-भैरव की भव्य मूर्ति [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

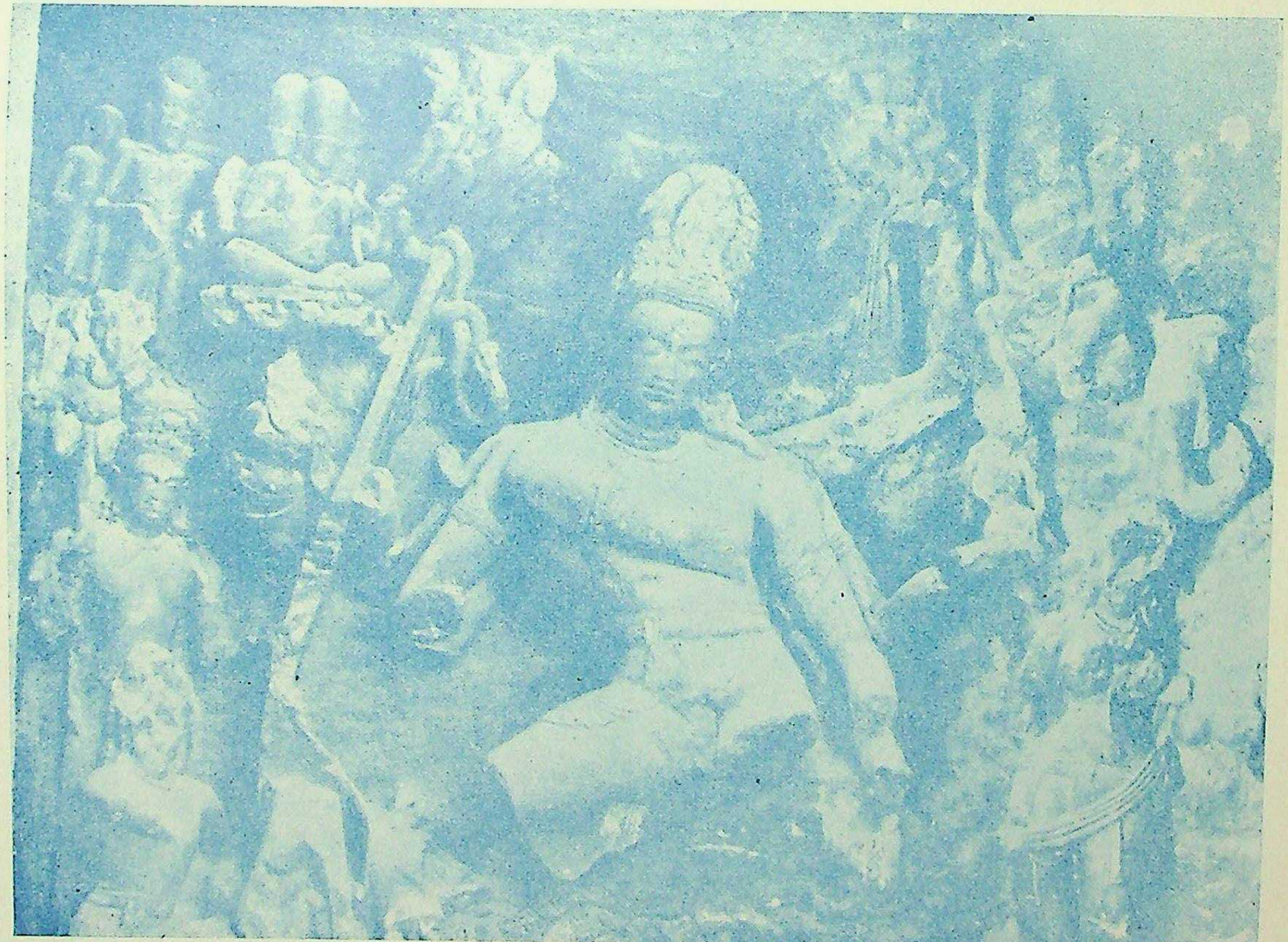

ऐलिफैण्टा के गुहा-मन्दिर का एक कलापूर्ण मूर्ति-समूह :: नटराज शिव [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग'] ।

है, कहीं अधिक सक्रिय, सतेज और ओजपूर्ण गतिशीलता के भाव से अनुप्राणित है। यह बात पूर्वोल्लिखित विष्णु की छवि में देखने को नहीं मिलती। यह सारा का सारा शिल्प-चित्र बड़ी सुंदरता के साथ गठित हुआ है और हर सूक्ष्म विवरण में वह पूर्णता के विन्दु को पहुँचा हुआ है। सिंहवाहिनी दशभुज् दुर्गा अपने प्रत्येक हाथ में अस्त्र-शस्त्र लेकर महिष (भैंसे) के सिरवाले दैत्य महिषासुर के साथ युद्ध में प्रवृत्त हैं। दैत्य अपने हाथों में एक भारी गदा लिए हुए है और भाग खड़े होने की परिस्थिति में दिखाई देता है। इस भव्य शिल्पकृति की सभी रेखाएँ बाईं बाजू को उभरी हुई हैं, जिससे दुर्द्धर्ष शक्ति का भाव टपकता है; दूसरी ओर दाहिनी बाजू की ओर वे इस प्रकार झुकी हुई-सी हैं, मानो आगन्तुक बवंडर के समक्ष झुक जाने वाली इधर से उधर झूमती हुई बेंतों के झुंड को आकृतियाँ हों। इन अद्भुत शिल्प-चित्रों में निहित आन्तरिक शक्ति का सही-सही अन्दाज पाने के लिए उन्हें प्रत्यक्ष देखने की आवश्यकता है।

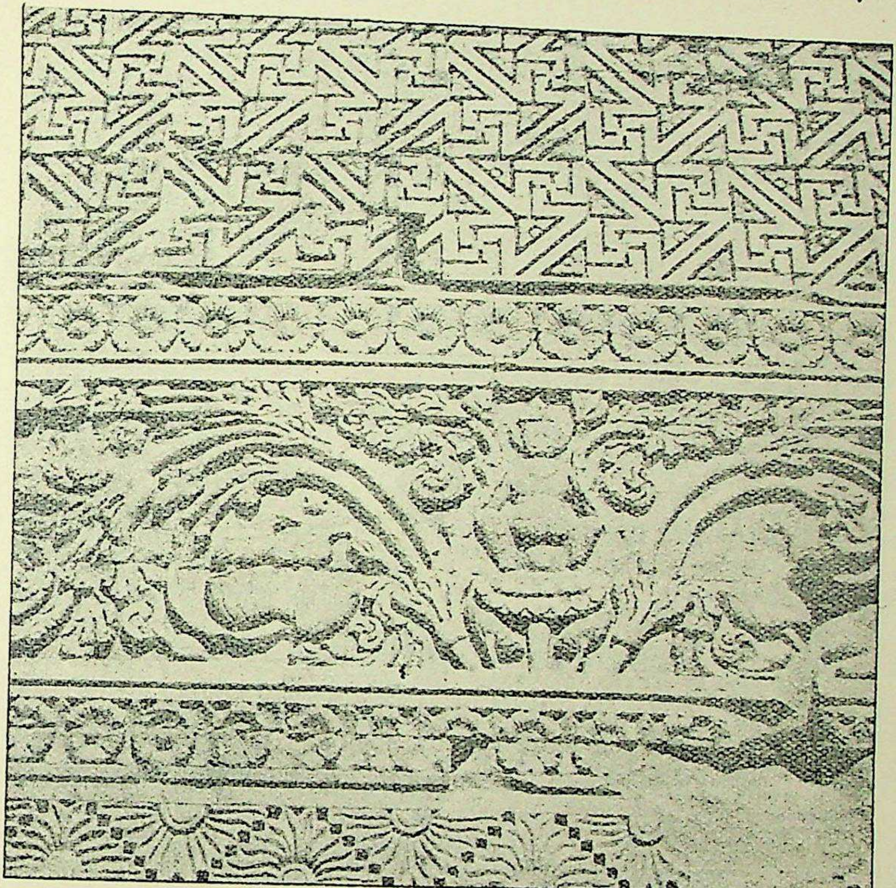

'धामेक स्तूप' नामक सारनाथ की प्रसिद्ध गुप्तकालीन रचना की नक्काशी का एक अंश
[फो०—'प्रेस इन्फर्मेशन ब्यूरो (भारतसरकार)' के सौजन्य से]।

उत्कृष्ट कला-सौंदर्य से अभिभूत यहाँ के अन्य मूर्ति-चित्रों में गौओं को दुहते हुए नन्द, तपस्या में तन सुखा डालनेवाले योगी भगीरथ, तरह-तरह के नाग, गगनविहारी किन्नर और गन्धर्व, ऊर्ध्वबाहु मुद्रा में स्थित-तपस्वी एवं वानर-परिवार आदि की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

मामल्लपुरम् के पाँच रथों के नाम से प्रसिद्ध अद्भुत रचनाएँ सब की सब एक-एक विशाल शिलाखण्ड को काटकर बनाई गई समान शैली की कृतियाँ हैं, यद्यपि आकृतियों के चित्रण में अपने-अपने समय की छाया के अनुसार उनमें किंचित् भेद भी जान पड़ता है। इनमें द्रौपदी-रथ विशेष रूप से हमारा ध्यान खींचता है। यह मूलतः बाँस की कुटिया के अनुकरण में निर्मित आधुनिक बंगाली झोपड़ियों एवं ईंटों से बने मंदिरों का-सा चतुष्कोण-घंटाकृति छतवाला एक छोटा-सा चौखटा मन्दिर है। उपर्युक्त सभी देवालयों के भीतर और बाहर निर्मित सातवीं सदी ईस्वी की पल्लव मूर्तियाँ कला की दृष्टि से उच्च कोटि की कृतियाँ हैं। गुप्तकालीन श्रेष्ठतम मूर्तियों से यदि उनमें कोई भेद है तो यही कि इनमें कहीं अधिक कमनीयता एवं गति-स्वातंत्र्य है, तथा इनमें दिग्दर्शित मानवाकृतियों के चेहरे कहीं अधिक गोल और उभरे हुए हैं। पशुओं के चित्रण में भी यहाँ की कला सब को मात करती है। मामल्लपुरम् का 'समुद्रतटवर्ती देवालय' किंचित् पश्चाद्कालीन रचना है। कांचीपुरम् के राजसिंहेश्वर-मंदिर की तरह यह मन्दिर राजसिंह-शैली का प्रतिनिधि है। अपराजित शैली का विकास नवीं शताब्दी ईस्वी में हुआ। इस शैली के उदाहरण तिरुत्ताणेश्वर का मन्दिर एवं पांडीचेरी के निकट स्थित बहूर का देवालय है।

कला की पुरातन धाराएँ—(११)

भारतीय कला :: उत्तरकाल

खजुराहो, भुवनेश्वर, कोणार्क, आबू, तांजौर, सोमनाथपुर, बेलूर, हालेविद, विजयनगर और मदुराई के कलापूर्ण मंदिरों की मणिमाला से सुसज्जित दसवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक का भारतीय कला का उत्तर-काल अद्भुत शिल्पालंकरणों से अलंकृत 'देवालयों का युग' कहा जा सकता है। यद्यपि इस युग में आकर भारतीय शिल्पी अत्यधिक आलंकारिकता की विडंबना में पड़कर कला के पूर्ववर्ती स्तर से दूर खिसक चले थे, तथापि जहाँ तक वास्तु-निर्माण का प्रश्न है, उन्होंने मंदिरों के शिल्प-विधान में कमाल हासिल कर लिया था। मूर्ति-शिल्प में भी इस युग ने अनेकानेक उत्कृष्ट कृतियों की भेंट दी।

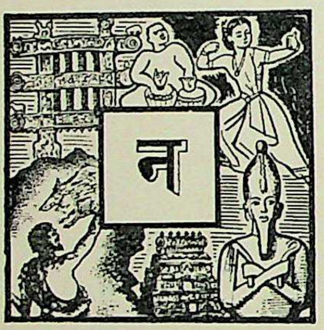

नवीं शताब्दी ईस्वी के उपरांत का भारतीय इतिहास इतना उलझा हुआ है कि विस्तारपूर्वक उसका विवरण प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नहीं है। अब हूण और शक इसी भूमि को अपनाकर स्थायी रूप से उत्तर भारत में बस चुके थे और उन्होंने देश के प्रमुख धर्म--हिंदू-धर्म--को अंगीकार कर लिया था। यही लोग आगे चलकर 'राजपूत' कहलाए। इन दिनों पांचाल राज्य पर परिहार राजा भोज की शक्ति-पताका फहरा रही थी। उसके बाद धार के ख्यातिप्राप्त परमार राजा भोज (१०१८-१०६० ईस्वी) का उदय हुआ, जो साहित्य और कला का महान् संरक्षक था तथा जिसने वास्तुकला पर स्वयं भी ग्रंथ लिखे थे। १००० ईस्वी के लगभग बुन्देलखंड में चंदेलों का उदय हुआ। इनकी राजधानी महोबा में स्थापित थी। उधर बंगाल और बिहार में ७३० से ११९७ ईस्वी तक पाल राजवंश का सितारा चमका। इसी राजवंश की छत्रछाया में बिहार की उत्तर-कालीन बौद्ध कला को पनपने का मौका मिला। १०७० ईस्वी के उपरान्त सेन वंश के राजाओं ने, जो कि ब्राह्मणधर्मी हिन्दू थे, पाल राजवंश के हाथ से बहुत-सा प्रदेश छीन लिया, जिसमें ढाका और गौड़ भी सम्मिलित थे। इसी समय बंगाल और बिहार पर मुस्लिम आक्रमण का दौरदौरा शुरू हुआ, जिसने पाल और सेन राजवंशों की शक्ति का अंत कर दिया। विजयोन्माद में मदमाते मुसलमानों ने बौद्ध मठों और हिन्दू देवालयों के नाम पर जो कुछ भी हाथ लगा, उसे सम्पूर्णतया नष्ट कर डाला और इस प्रकार बौद्ध धर्म का इस क्षेत्र से नाम ही मिट गया। उड़ीसा में इन दिनों पूर्वीय गंग राजवंश की गौरवश्री स्थापित थी। उधर दक्षिण में राष्ट्रकूटों को उखाड़कर उत्तरकालीन चालुक्यों की शक्ति स्थापित हुई थी। इन्हीं दिनों मैसूर में होयसल राजवंश की पताका फहराई, जिसकी राजनीतिक शक्ति बारहवीं तथा तेरहवीं ईस्वी में चरम-बिन्दु तक उठ गई। अंत में १३१० ईस्वी में उनका भी राज्य मुसलमानों के आक्रमण का शिकार हुआ। उधर सुदूर दक्षिण में पल्लवों ने चोलों के सम्मुख अपने घुटने टेक दिए। चोल सम्राट् राजराज महान् (९८५-१०१८ ई०) समस्त दक्षिणी भारत का एकछत्र सम्राट् था और उसका आधिपत्य लंका के भी कुछ भाग पर स्थापित था। तांजौर का महान् बृहदेश्वर-मंदिर उसी के राज्य-काल में निर्मित हुआ था।

मलिक काफूर के नेतृत्व में मुसलमान सारे दक्षिण भारत को ही अपने अधीन कर लेते, यदि इसी समय विजय-नगर के प्रतापी राय राजवंश का तेजी के साथ उदय न हुआ होता। विजयनगर के राजाओं में सबसे प्रतापी और शक्ति-

कला

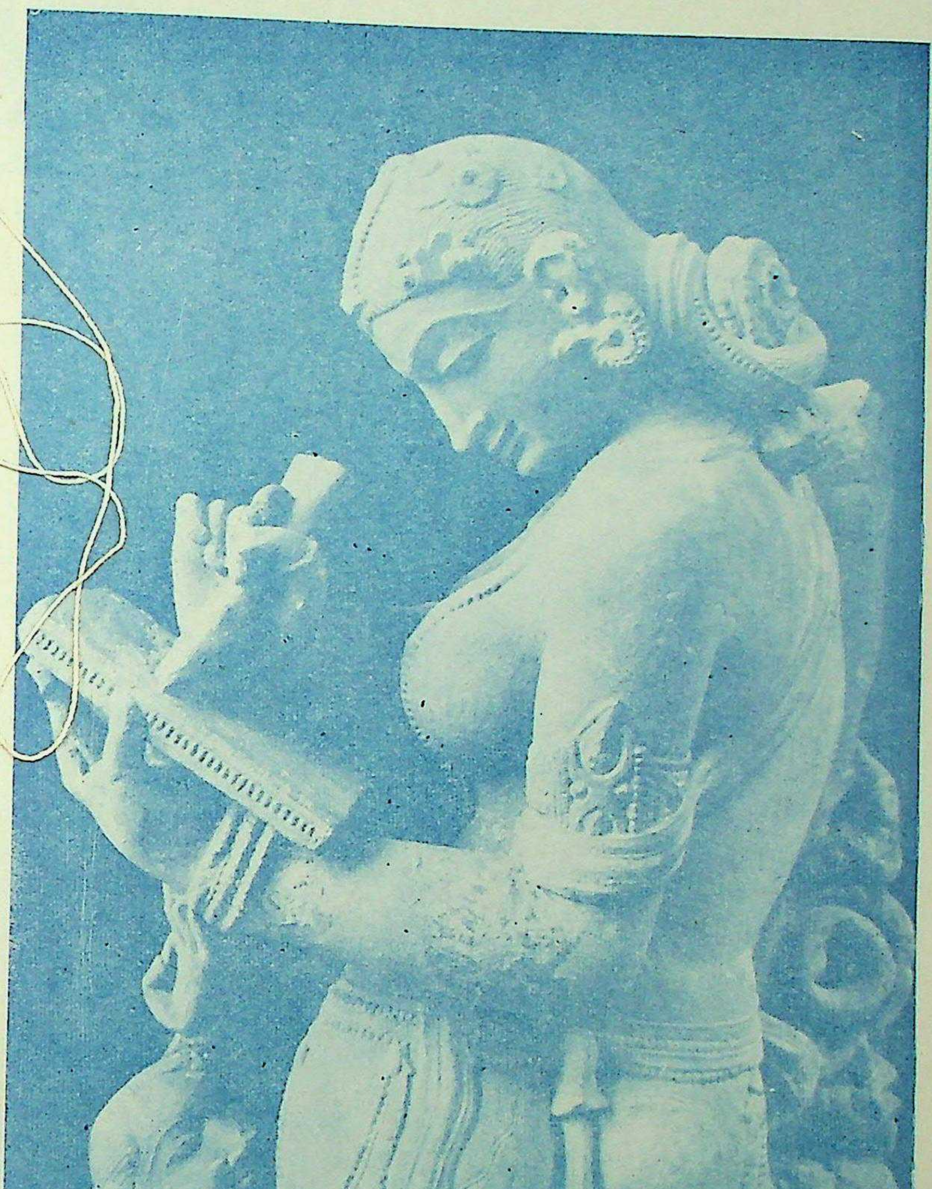

ख़जुराहो के मूर्ति-शिल्प का एक उत्कृष्ट नमूना :: पत्रलेखा [फो॰—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

कला की पुरातन धाराएँ—(११)

भारतीय कला :: उत्तरकाल

खजुराहो, भुवनेश्वर, कोणार्क, आबू, तांजौर, सोमनाथपुर, बेलूर, हालेविद, विजयनगर और मदुराई के कलापूर्ण मंदिरों की मणिमाला से सुसज्जित दसवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक का भारतीय कला का उत्तरकाल अद्भुत शिल्पालंकरणों से अलंकृत 'देवालयों का युग' कहा जा सकता है। यद्यपि इस युग में आकर भारतीय शिल्पी अत्यधिक आलंकारिकता की विडंबना में पड़कर कला के पूर्ववर्ती स्तर से दूर खिसक चले थे, तथापि जहाँ तक वास्तु-निर्माण का प्रश्न हैं, उन्होंने मंदिरों के शिल्प-विधान में कमाल हासिल कर लिया था। मूर्ति-शिल्प में भी इस युग ने अनेकानेक उत्कृष्ट कृतियों की भेंट दी।

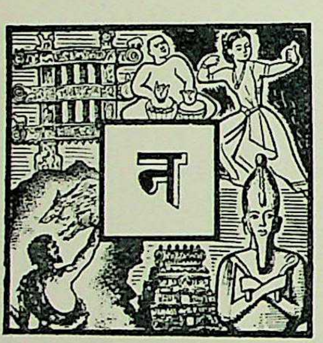

नवीं शताब्दी ईस्वी के उपरांत का भारतीय इतिहास इतना उलझा हुआ है कि विस्तारपूर्वक उसका विवरण प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नहीं है। अब हूण और शक इसी भूमि को अपनाकर स्थायी रूप से उत्तर भारत में बस चुके थे और उन्होंने देश के प्रमुख धर्म--हिंदू-धर्म--को अंगीकार कर लिया था। यही लोग आगे चलकर 'राजपूत' कहलाए। इन दिनों पांचाल राज्य पर परिहार राजा भोज की शक्ति-पताका फहरा रही थी। उसके बाद धार के ख्यातिप्राप्त परमार राजा भोज (१०१८-१०६० ईस्वी) का उदय हुआ, जो साहित्य और कला का महान् संरक्षक था तथा जिसने वास्तुकला पर स्वयं भी ग्रंथ लिखे थे। १००० ईस्वी के लगभग बुन्देलखंड में चंदेलों का उदय हुआ। इनकी राजधानी महोबा में स्थापित थी। उधर बंगाल और बिहार में ७३० से ११९७ ईस्वी तक पाल राजवंश का सितारा चमका। इसी राजवंश की छत्रछाया में बिहार की उत्तरकालीन बौद्ध कला को पनपने का मौका मिला। १०७० ईस्वी के उपरान्त सेन वंश के राजाओं ने, जो कि ब्राह्मणधर्मी हिन्दू थे, पाल राजवंश के हाथ से बहुत-सा प्रदेश छीन लिया, जिसमें ढाका और गौड़ भी सम्मिलित थे। इसी समय बंगाल और बिहार पर मुस्लिम आक्रमण का दौरदौरा शुरू हुआ, जिसने पाल और सेन राजवंशों की शक्ति का अंत कर दिया। विजयोन्माद में मदमाते मुसलमानों ने बौद्ध मठों और हिन्दू देवालयों के नाम पर जो कुछ भी हाथ लगा, उसे सम्पूर्णतया नष्ट कर डाला और इस प्रकार बौद्ध धर्म का इस क्षेत्र से नाम ही मिट गया। उड़ीसा में इन दिनों पूर्वीय गंग राजवंश की गौरवश्री स्थापित थी। उधर दक्षिण में राष्ट्रकूटों को उखाड़कर उत्तरकालीन चालुक्यों की शक्ति स्थापित हुई थी। इन्हीं दिनों मैसूर में होयसल राजवंश की पताका फहराई, जिसकी राजनीतिक शक्ति बारहवीं तथा तेरहवीं ईस्वी में चरम-बिन्दु तक उठ गई। अंत में १३१० ईस्वी में उनका भी राज्य मुसलमानों के आक्रमण का शिकार हुआ। उधर सुदूर दक्षिण में पल्लवों ने चोलों के सम्मुख अपने घुटने टेक दिए। चोल सम्राट् राजराज महान् (९८५-१०१८ ई०) समस्त दक्षिणी भारत का एकछत्र सम्राट् था और उसका आधिपत्य लंका के भी कुछ भाग पर स्थापित था। तांजौर का महान् बृहदेश्वर-मंदिर उसी के राज्यकाल में निर्मित हुआ था।

मलिक काफूर के नेतृत्व में मुसलमान सारे दक्षिण भारत को ही अपने अधीन कर लेते, यदि इसी समय विजयनगर के प्रतापी राय राजवंश का तेजी के साथ उदय न हुआ होता। विजयनगर के राजाओं में सबसे प्रतापी और शक्ति-

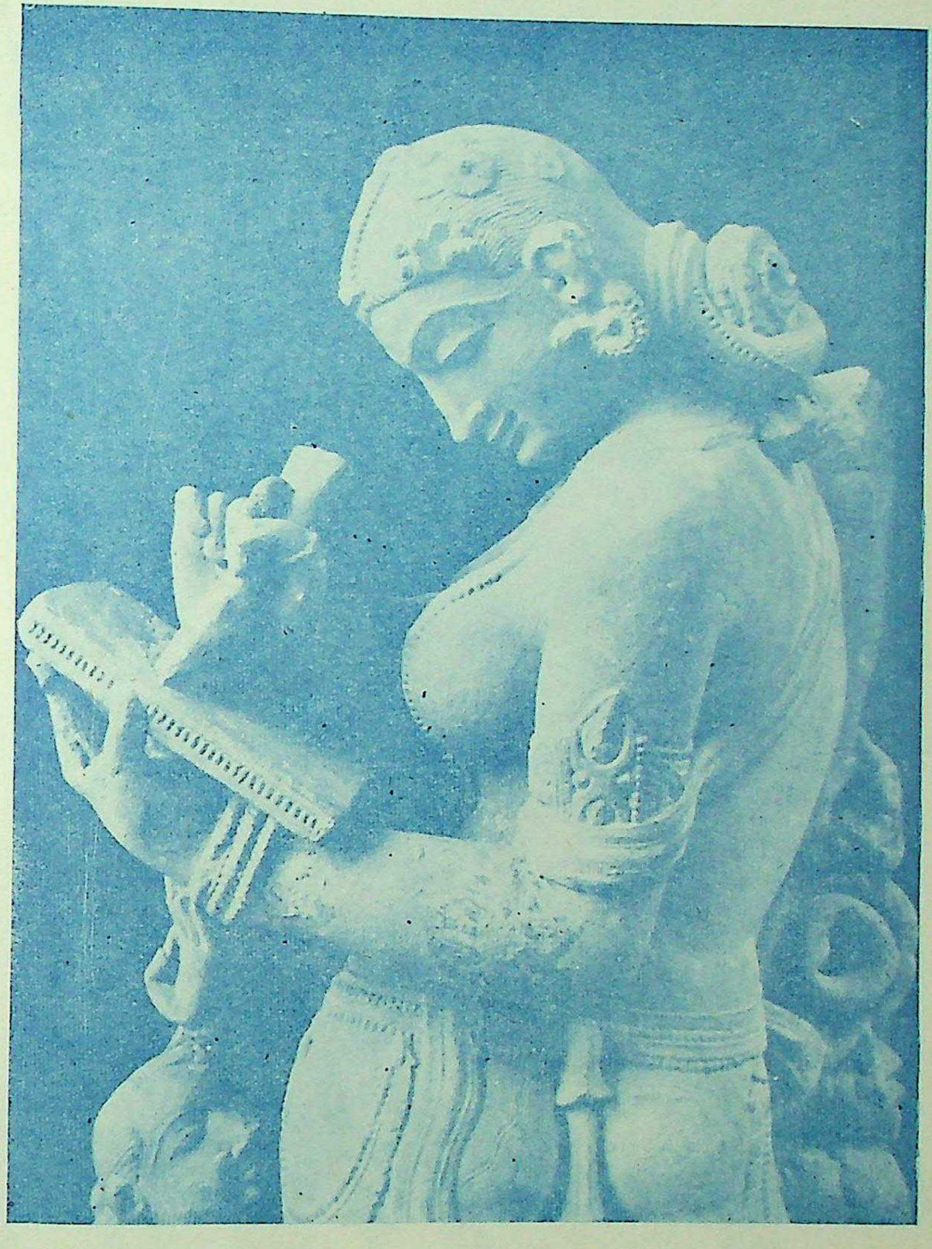

ख़जुराहो के मूर्ति-शिल्प का एक उत्कृष्ट नमूना :: पत्रलेखा [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

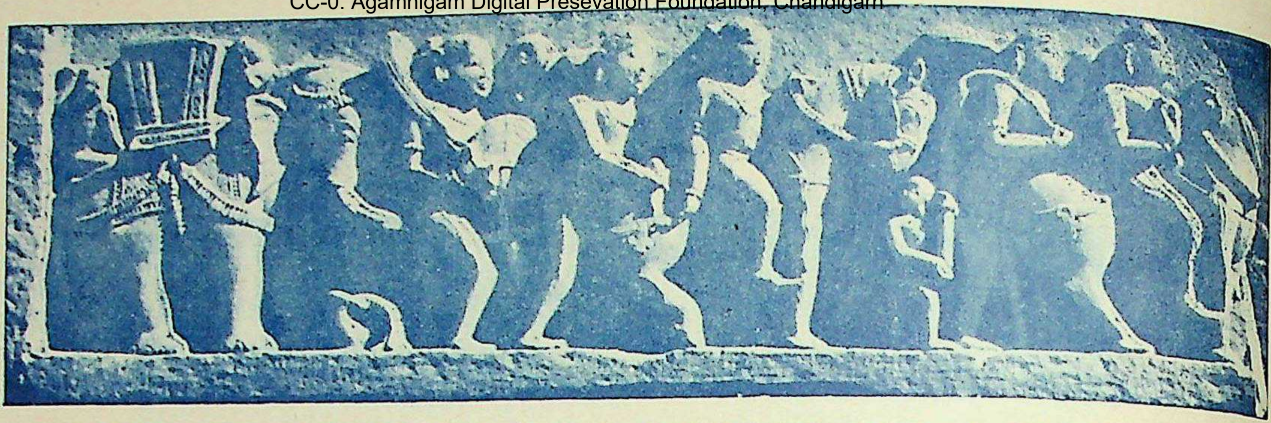

खजुराहो से प्राप्त एक मूर्तिपट्ट, जिसमें एक आखेट-मंडली की झाँकी दिग्दर्शित है [फो०–'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

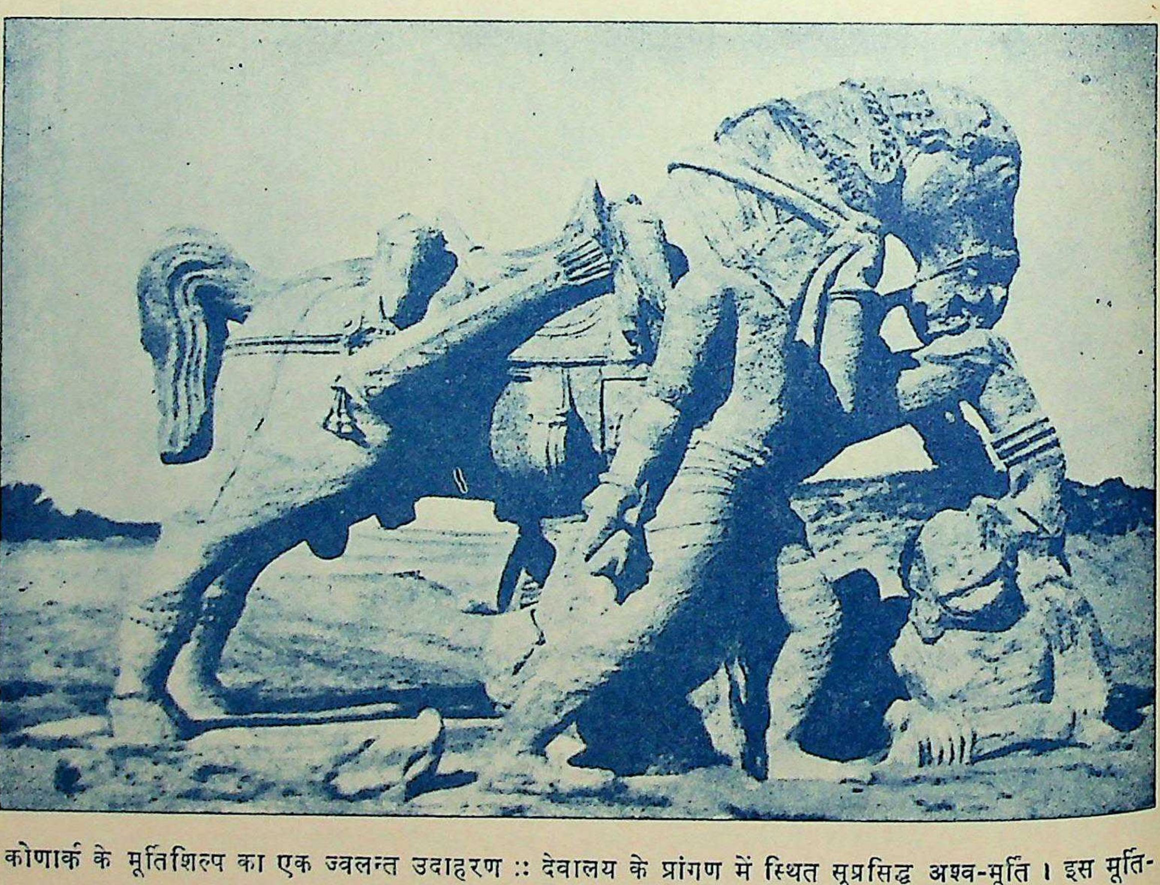

कोणार्क के मूर्तिशिल्प का एक ज्वलन्त उदाहरण :: देवालय के प्रांगण में स्थित सुप्रसिद्ध अश्व-मूर्ति। इस मूर्ति-समूह से टपकता हुआ ओजस्विता का भाव ध्यान देने योग्य है [फो०–'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

शाली कृष्णदेवराय हुए । १६ वीं शताब्दी के मध्यकाल के लगभग विजयनगर-साम्राज्य भी तितर-बितर हो गया। उसके प्रमुख उत्तराधिकारी के रूप में सुदूर दक्षिण में मदुराई के नायक उदित हुए। इस राजवंश का सबसे प्रतापी राजा तिरुमल नायक हुआ, जिसका शासन-काल १६२३-१६५६ ई० के बीच रहा। मदुराई के भव्य मन्दिर और राजप्रासाद जिन्हें आज भी देखा जा सकता है, इसी महान् राजपुरुष द्वारा बनवाए गए थे।

उत्तरकालीन स्थापत्य-शैलियाँ

उत्तर-मध्यकालीन युग की स्थापत्य-शैलियां विशेषज्ञों द्वारा तीन श्रेणियों में विभाजित की गई हैं——१. नागर-शैली, २. वेसर-शैली, और ३. द्राविड़-शैली। नागर या उत्तरी शैली के अन्तर्गत विन्ध्य-मेखला के उत्तर के क्षेत्र के तमाम मंदिर आते हैं। वेसर या मध्यक्षेत्रीय शैली के अन्तर्गत पश्चिमी भारत, दक्खिन और मैसूर के मन्दिरों की गणना होती है। द्राविड़ या दक्षिणी शैली में आधुनिक मद्रास प्रांत एवं उत्तरी लंका के स्मारकों का समावेश किया जा सकता है।

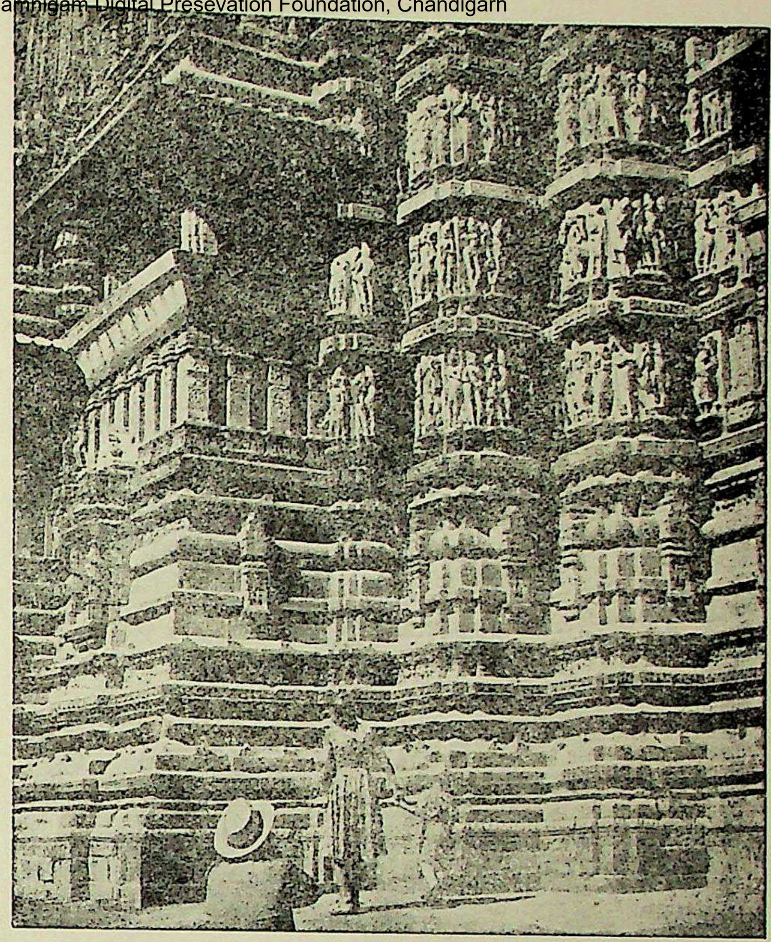

खजुराहो के सुप्रसिद्ध 'कंडरिया महादेव मन्दिर' की भव्य वास्तु-रचना और अद्भुत मूर्ति-शिल्प [फो०—'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)']।

नागर-शैली के कई मन्दिर चंबा, कुल्लू और कांगड़ा के हिमाचल-प्रदेशीय क्षेत्रों में आज भी पूर्णतया सुरक्षित रूप में देखने को मिलते हैं। इन मंदिरों में से कई एक उत्कृष्ट मूर्ति-शिल्प से सुसज्जित हैं और उनमें धातु की ढली बढ़िया मूर्तियाँ भी देखने को मिल सकती हैं। हाट, बजौरा, कुल्लू आदि स्थानों में गणेश, विष्णु, दुर्गा और अन्य देवियों की बड़ी सुन्दर प्रतिमाएं मौजूद हैं।¶

भूतपूर्व चंबा राज्य के ब्रह्मौर और छत्राढ़ी नामक स्थानों में राजा मेरुवर्मन के आज्ञानुसार गुग्गा नामक मूर्तिकार द्वारा निर्मित लक्षणादेवी, दुर्गा-महिषमर्दिनी, शक्ति, गणेश और नन्दी की कई एक पीतल की मूर्तियां आज भी मौजूद हैं। चूंकि यह कला-सामग्री अपेक्षाकृत दुर्गम स्थानों में रही, अतः धर्मांध मुसलमान आक्रमणकारियों के विध्वंसकारी हाथों से नष्ट-भ्रष्ट होने से वह सर्वथा सुरक्षित बनी रही। पर पुस्तकों आदि में वह कदाचित् ही प्रकाशित हो पाई है। दुर्गम स्थानों में स्थित होने की बदौलत अल्मोड़ा और कुमायूं क्षेत्र के बहुतेरे मध्यकालीन मंदिर भी——विशेषकर जागेश्वर, बागेश्वर और गढ़वाल-हिमालय के मन्दिर——विध्वंसकारियों की विनाशलीला से बचे रहे।

खजुराहो के अद्भुत कला-मंदिर

बुंदेलखंड के चंदेल राजाओं की प्राचीन राजधानी खजुराहो में स्थित हिन्दू और जैन मन्दिरों के समूह उत्तरकालीन भारतीय स्थापत्य-प्रतिभा की सर्वोत्तम सिद्धि के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। ये देवालय ऊपर से नीचे तक जिस उत्कृष्ट मूर्तिशिल्प से खचित हैं, उड़ीसा के भुवनेश्वर और कोणार्क नामक स्थानों के प्रसिद्ध देवालयों के सिवाय उसकी

¶ इन उत्तम कलाकृतियों के चित्रों के लिए डॉ० गोज-लिखित 'चंबा के काष्ठ-मंदिर' नामक पुस्तक देखिए।

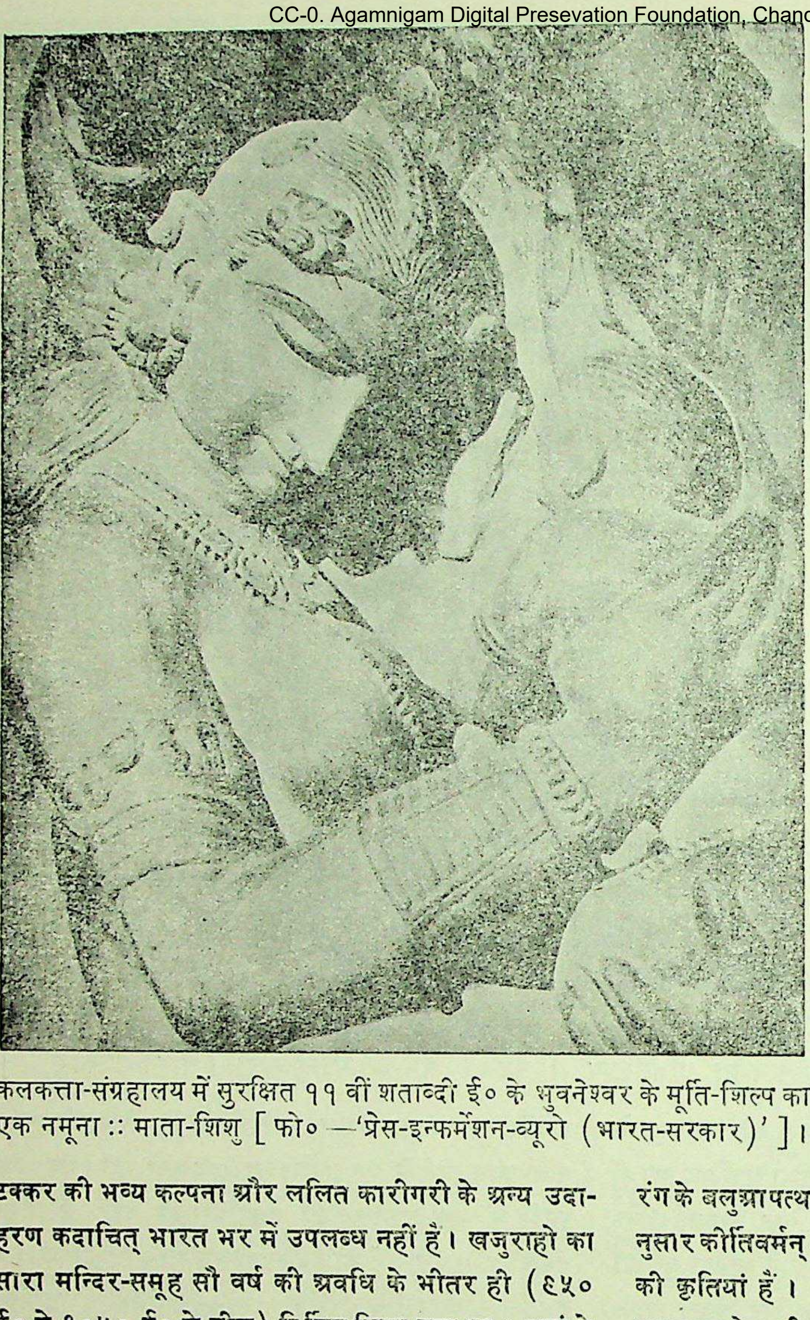

कलकत्ता-संग्रहालय में सुरक्षित ११ वीं शताब्दी ई० के भुवनेश्वर के मूर्ति-शिल्प का एक नमूना :: माता-शिशु [फो० —'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)']।

टक्कर की भव्य कल्पना और ललित कारीगरी के अन्य उदाहरण कदाचित् भारत भर में उपलब्ध नहीं हैं। खजुराहो का सारा मन्दिर-समूह सौ वर्ष की अवधि के भीतर ही (९५० ई० से १०५० ई० के बीच) निर्मित किया गया था। यहां के हिंदू-मंदिरों में सर्वोत्कृष्ट वह है, जो कंडरिया-महादेव के नाम पर उत्सर्गित है। इस मंदिर की वास्तविक ऊंचाई तो कुल ११६ फीट ही है, परन्तु उसे काफी ऊंची कुर्सी पर निर्मित करके एवं शिखर की मीनार की सीधी खड़ी रेखाओं को पुनः पुनः दोहराकर ऊंचाई के प्रभाव को काफी बढ़ा दिया गया है। मन्दिर की योजना में आसपास निर्मित एक विशद प्रदक्षिणा-मार्ग भी सम्मिलित है। उसमें जगह-जगह छज्जेनुमा, छायादार वातायन भी बने हैं। शिखर की मीनार के अंश को छोड़कर मन्दिर का शेष कलेवर लगभग सारा का सारा जटिल बेल-बूटों एवं कलापूर्ण मानवाकृतियों से खचित है, जिनमें से कई मूर्तियां घोर कामुकतापूर्ण एवं अश्लील भी हैं। यहां का चतुर्भुज नामक वैष्णव मन्दिर और जैनों का आदिनाथ-मंदिर भी ठीक इसी शैली में निर्मित हैं, केवल उनका मूर्ति-शिल्प अपने-अपने ढंग का निराला है।

इस युग के अन्य महत्वपूर्ण मन्दिरों में ग्वालियर के किले में स्थित 'तेली का मंदिर' और 'सास-बहू का मंदिर' नामक रचनाएँ तथा विदिशा के समीप उदयपुर नामक स्थान में ११वीं शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्द्ध में उदयादित्य परमार द्वारा निर्मित नीलकण्ठ महादेव या उदयेश्वर का कलापूर्ण मंदिर विशेष उल्लेखनीय हैं।

ऊपर उल्लिखित मंदिरों में अधिकतर हिंदू अर्थात् ब्राह्मण-धर्मीय हैं। परन्तु महोबा में इस युग की कुछ उत्कृष्ठ कोटि की बौद्ध मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि लोक-जीवन पर प्रभाव डालने वाले एक सशक्त तत्व के रूप में बौद्ध धर्म अब भी जहाँ-तहाँ अपनी चिनगारियाँ जगाए हुए था और वह इस भूमि से संपूर्णतया विलुप्त नहीं हो गया था। इन कलाकृतियों में से अधिकतर लखनऊ के पुरातत्व-संग्रहालय में संगृहीत हैं। ये मूर्तियां बुन्देलखण्ड के स्थानीय बादामी रंग के बलुआ पत्थर को काट कर बनाई गई हैं और तिथिक्रमानुसार कीर्तिवर्मन् (११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध) के शासनकाल की कृतियां हैं। अनिंद्य और सर्वांग-संपूर्ण रचना-शैली को प्रकट करने वाली एवं अद्वितीय लालित्य से अभिभूत ये मूर्तियाँ प्रायः अभिलेखों से युक्त हैं। उनमें उत्सर्ग-विषयक पंक्तियों के साथ-साथ सातन नामक एक सिद्धहस्त समसामयिक शिल्पी के नातेदारों का भी उल्लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि ये कदाचित् उक्त कलाकार की शिल्पशाला में ही निर्मित हुई होंगी। इन मूर्तियों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'लोकनाथ' और 'सिंहनाद अवलोकितेश्वर' नामक प्रख्यात प्रतिमाएँ हैं।

इस युग के अन्य महत्वपूर्ण स्मारकों में जबलपुर के निकट भेड़ाघाट नामक स्थान पर विद्यमान चौसठ योगिनी का मंदिर-समूह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह मंदिर-समूह ११६ फीट व्यास के घेरों में बना हुआ है, जिसकी परिधि पर ८१

छोटे-छोटे मन्दिर स्थित हैं । साथ ही [illegible] गया एक देवालय भी स्थित है, जिसमें उमा-महेश्वर का एक बहुत ही सुन्दर मूर्ति-समूह जीर्ण-क्षीर्ण दशा में विद्यमान है । भेड़ाघाट के इस मन्दिर-समूह में योगिनियों की अनेक आदमकद मूर्तियाँ हैं, यद्यपि दुर्भाग्यवश वे बुरी तरह तोड़-फोड़ डाली गई हैं । ऐसे मन्दिरों के अन्य उदाहरण हमें सुदूर दक्षिण में कोयम्बतूर, सम्बलपुर के निकट रानीपुर-झरिया एवं ललितपुर के दुधनी नामक स्थान के गोलाकार तथा खजुराहो के चौखुटे योगिनी-मन्दिरों में भी देखने को मिलते हैं ।

इस युग के गुजरात के प्राचीन हिन्दू और जैन मंदिर यद्यपि अधिकतर मुसलमानों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दिए गए हैं, फिर भी सिद्धपुर-पाटन के रुद्रमाल नामक शिवालय, मोढ़ेरा के प्रख्यात सूर्य-मंदिर एवं सौराष्ट्र के सुप्रसिद्ध सोमनाथ-मंदिर (दे० पृ० २६२४ का चित्र) के ध्वंसावशेष आज भी दर्शकों को आश्चर्यान्वित करके मध्यकालीन भारत के वास्तु और मूर्ति-शिल्प की गौरवगाथा सुनाने के लिये पर्याप्त हैं ।

आबू के जैन मंदिर

पश्चिमी क्षेत्र के उत्तरकालीन मंदिरों में सर्वोत्कृष्ट निश्चय ही आबू शिखर पर स्थित देलवाड़ा के प्रसिद्ध जैन मन्दिर हैं । इस कलापूर्ण मन्दिर-समूह में चार देवालय हैं, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण १०३२ ईस्वी एवं १२३२ ईस्वी के लगभग विमलशाह और तेजपाल द्वारा निर्मित दो मन्दिर हैं । ये मन्दिर सम्पूर्णतया श्वेत संगमरमर से निर्मित हैं, जो कि नीचे के मैदानों की खदानों से निकाला गया होगा । ये इमारतें मुख्यतया अनेक स्तम्भयुक्त सभामण्डपों से रचित हैं और उनकी छतें गुम्बदाकार हैं । प्रख्यात कला-समीक्षक डॉ० कजिन्स के शब्दों में "इन मंदिरों की छतों, दीवारों, स्तम्भ-पंक्तियों, दरवाजों के चौखटों, ताकों और भित्तिपट्टकों पर खचित सुन्दर अलंकरणों की अमित राशि आश्चर्य में डालनेवाली है ! संगमरमर के माध्यम से जैसी बारीकी यहाँ की कारीगरी में लाई गई है, वैसी अन्यत्र देखना दुर्लभ है ! जान पड़ता है, मानो अर्द्धपारदर्शी-पतली सीपी में नक्काशी करके सौन्दर्य का एक सपना मूर्तिबद्ध कर दिया गया हो !" इस क्षेत्र के अन्य महत्वपूर्ण देवालयों के नमूने सौराष्ट्र के गिरनार एवं पालीताना के शत्रुञ्जय नामक अद्भुत मन्दिर-नगरों में देखने को मिलते हैं, जोकि आवास के लिये निर्मित नगर नहीं, प्रत्युत मंदिरों से खचित धर्म-नगरियाँ हैं !

पूर्वीय शैली :: नालन्द की कला

आइए, अब पश्चिम की ओर से निगाह हटाकर कला की उस "पूर्वीय शैली" के प्रति अपनी दृष्टि केन्द्रित करें, जो कि मुख्यतया बंगाल-बिहार के पाल राजाओं की छत्रछाया में प्रसिद्ध बौद्ध विद्याकेन्द्र नालन्द में पनपी थी और जिसका अन्त ११९७ ईस्वी के लगभग मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा

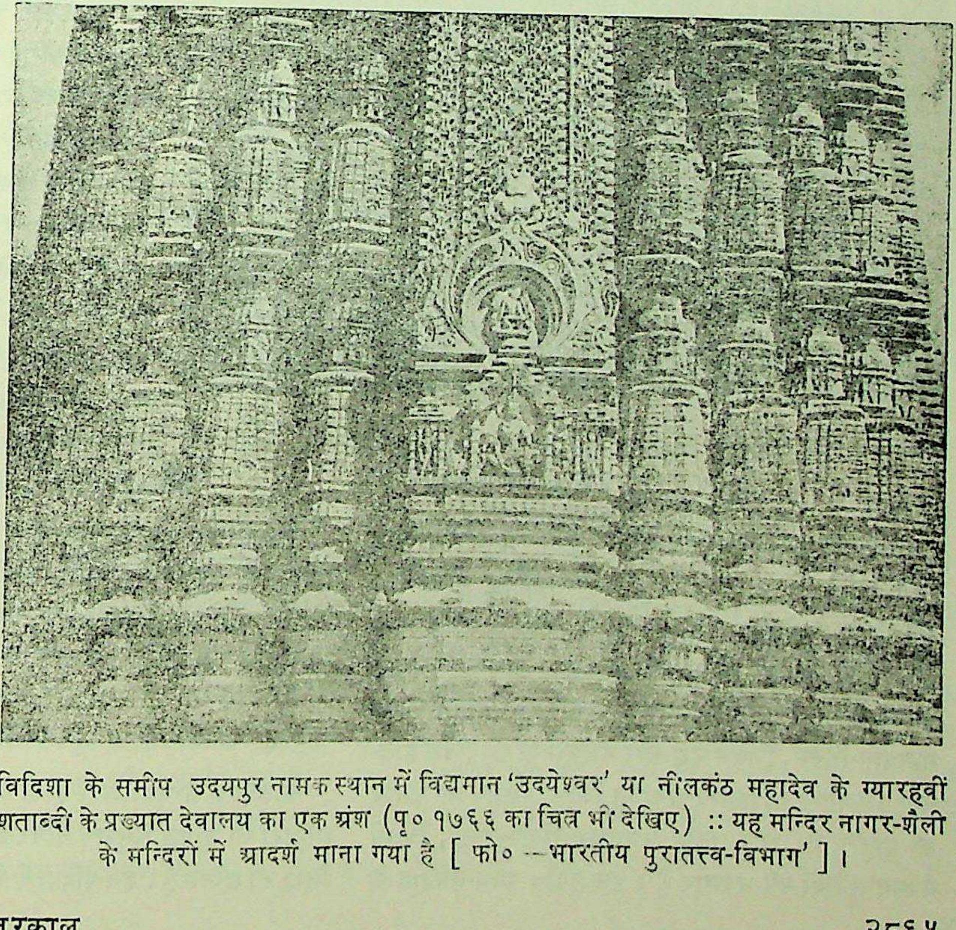

विदिशा के समीप उदयपुर नामक स्थान में विद्यमान 'उदयेश्वर' या नीलकंठ महादेव के ग्यारहवीं शताब्दी के प्रख्यात देवालय का एक अंश (पृ० १७६६ का चित्र भी देखिए) :: यह मन्दिर नागर-शैली के मन्दिरों में आदर्श माना गया है [फो० –'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग'] ।

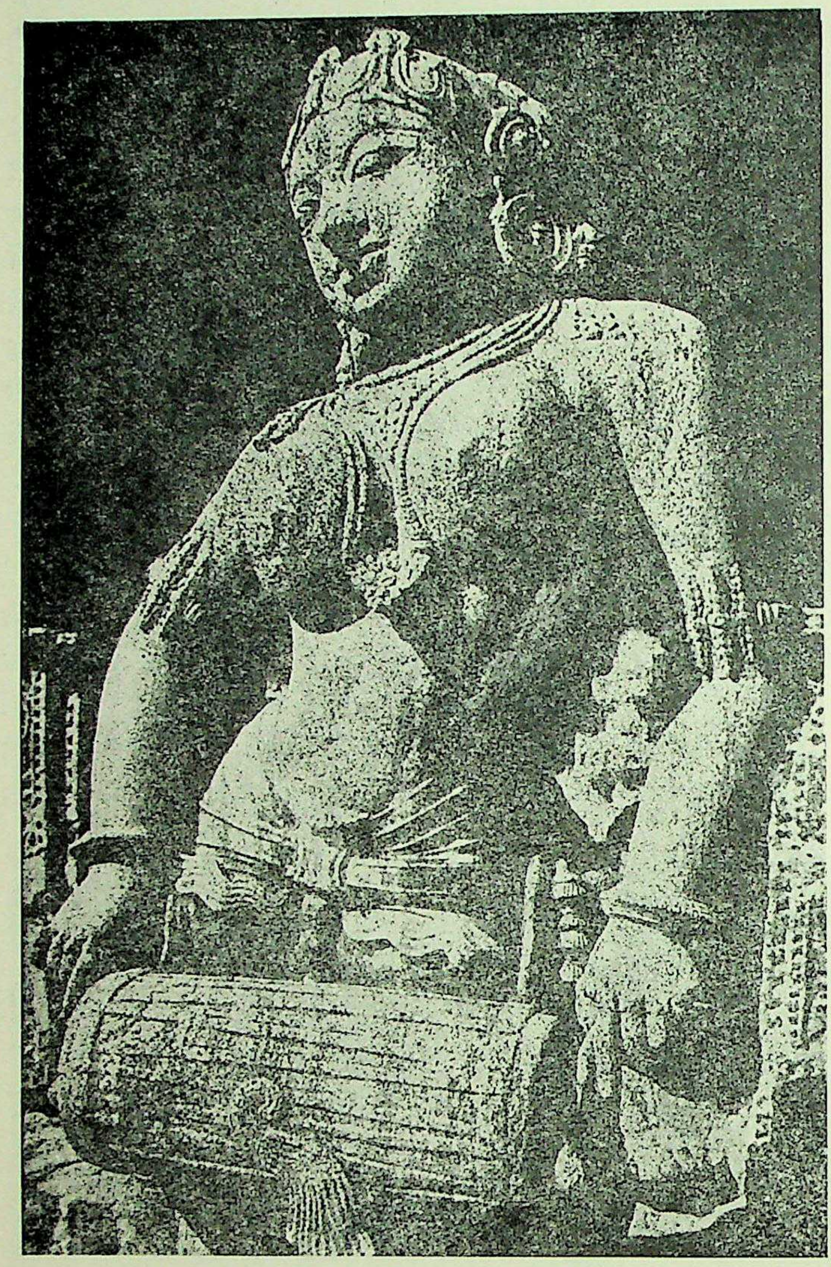

कोणार्क के अद्वितीय मूर्ति-शिल्प का एक उदाहरण :: मृदंग बजाती हुई नारी-मूर्ति [फो० —'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग'] ।

स्थानीय बौद्ध मठों के विध्वंस के साथ हुआ । इस पाल-शैली की चिकने काले कसौटी-पत्थर की बनी सुप्रसिद्ध मूर्तियों का सब से बड़ा स्रोत नालन्द ही रहा है, जहाँ से कांस्य बौद्ध मूर्तियों की विस्तृत राशि प्राप्त हुई है । नालन्द-शैली के मूर्ति-शिल्प को विद्वानों ने तीन वर्गों में बाँटा है——प्रथम 'आदि महायान-शिल्प', जिसमें बुद्ध और बोधिसत्वों की अनेक प्रतिमाएँ सम्मिलित हैं; द्वितीय 'तंत्रयान-शिल्प', जिसमें शैव प्रभाव का बाहुल्य है; और तृतीय 'कालचक्र-शिल्प-समूह', जिसमें वैष्णव मूर्तियों की भरमार है । इस पूर्वीय कला-संप्रदाय के शिल्प-विधान एवं धर्म-मूर्तियों की सर्जन-प्रणाली का न केवल बंगाल, बिहार और उड़ीसा के पूर्वीय क्षेत्र पर ही, प्रत्युत नेपाल, तिब्बत, बर्मा एवं सुमात्रा तथा जावा के समुद्रपार के देशान्तरों की कला पर भी गहरा प्रभाव पड़ा है । नालन्द के अभिप्रायों के अनुकरण के आसार लंका तक में मिले हैं ।

पाल-युग की मूर्तियाँ

पाल-कला की पाषाण-मूर्तियाँ बिहार और बंगाल के नालन्द, राजगृह, बुद्ध-गया, कुर्किहार, भागलपुर, दीनाजपुर, राजशाही, चंडीमऊ, मयूरभंज आदि एक-दूसरे से काफी दूर-दूर तक स्थित स्थानों में विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई हैं । इनके सर्वोत्तम नमूने लखनऊ, कलकत्ता और राजशाही के पुरातत्व-संग्रहालयों में देखने को मिल सकते हैं। पाल-युग की शैली की धातु-मूर्तियों का एक बहुत बड़ा समूह, जोकि नालन्द-शैली का-सा जान पड़ता है, चटगाँव के छत्तीसगाँव नामक स्थान में भी मिला है । इसी शैली की एवं वैसी ही सुन्दर कारीगरी से युक्त कतिपय वैष्णव मूर्तियाँ रंगपुर में भी प्राप्त हुई हैं, जिनके कुछ नमूने कलकत्ते के बंगीय-साहित्य-परिषद् के संग्रहालय में देखने को मिल सकते हैं। कुमारस्वामी का कहना है कि शैली की दृष्टि से पाल-कला अति उन्नत शिल्प-विधान की द्योतक है और उससे एक प्रकार के अनूठे लालित्य एवं निरालेपन का भाव टपकता है। इस कला की एक खूबी यह है कि इसकी पाषाण-मूर्तियाँ भी धातु-मूर्तियों की बराबरी करती-सी दिखाई देती हैं ! जो भी कल्पना की गई है, वह स्पष्ट और निखरी हुई रेखाओं में बद्ध है ।

उड़ीसा के मंदिर :: भुवनेश्वर, पुरी और कोणार्क

आठवीं से तेरहवीं शती ईस्वी के बीच निर्मित उड़ीसा के मन्दिरों का प्रसिद्ध समुदाय नागर-शैली के स्थापत्य की चरम सिद्धि का द्योतक है । इन मंदिरों में से कई एक अभी भी उत्तम

दशा में सुरक्षित हैं और न केवल वास्तु-कला की दृष्टि से ही वे अत्यधिक सुन्दर एवं सुगठित हैं, प्रत्युत मूर्ति-शिल्प की दृष्टि से भी सर्वोत्कृष्ट कोटि की प्रतिमाओं एवं अलंकरणों से सज्जित हैं। संख्या की दृष्टि से यहाँ के प्रथम कोटि के मंदिरों में सब से अधिक कटक जिले में मिलते हैं, जैसे कि भुवनेश्वर के परशुरामेश्वर (७५० ई०), मुक्तेश्वर (९५०ई०), लिंगराज (१००० ई०) और राजरानी (११५०ई०) नामक सुप्रसिद्ध मंदिर (दे०पृ० २६०९ का चित्र) पुरी का जगन्नाथ-मंदिर भी ११५० ई० के लगभग का है और अन्य एक उल्लेखनीय देवालय मेघश्वर का है, जो कि १२०० ई० का माना जाता है। उधर कोणार्क के सुप्रसिद्ध सूर्य-देवल (सूर्य का मंदिर) का भी अपना निराला ही गौरव है, यद्यपि आज के दिन यह महान् कलाकृति ध्वस्त-प्राय है और उसका केवल अगला खंड या सभामण्डप ही (जिसे उड़ीसा में 'जगमोहन' कहते हैं) शेष बचा हुआ है।

उड़ीसा के सभी मन्दिरों में आगे की ओर 'जगमोहन' या सभामंडप और पीछे शिखरयुक्त मुख्य भाग स्थित है। पीछे का भाग अगले भाग अर्थात् जगमोहन से अधिक ऊँचा एवं आकाश में उठता चला गया है और उसका शिखर प्रायः एक खाँचेदार 'आमलक' से मंडित है, जिसके कि ऊपर कलश संस्थापित है। उड़ीसा के देवालयों की इस रचना-शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हमें प्रसिद्ध लिंगराज-मन्दिर में देखने को मिलता है, जिसे डॉ० कुमारस्वामी ने आज के दिन विद्यमान भारतीय मंदिरों का सिरताज माना है। इस मंदिर में वास्तु-कला के साथ मूर्ति-शिल्प एवं अलंकरणों का बड़े मँजे हुए ढंग से समन्वय किया गया है और आम तौर पर उसकी समूची रचना सराहनीय है (दे०पृ०१६२५व२६०७के चित्र)।

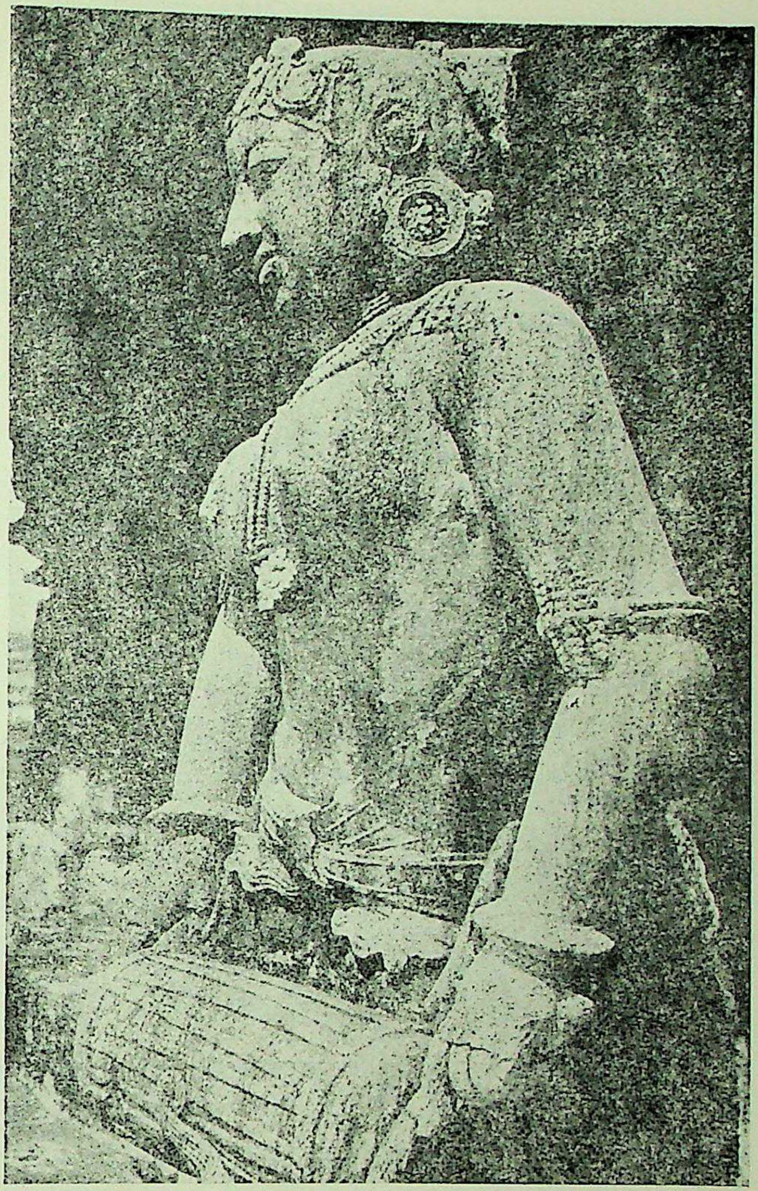

पिछले पृष्ठ पर दिग्दर्शित मृदंगवादिनी की मूर्ति की पार्श्व की ओर की सुन्दर झाँकी [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

कोणार्क के सूर्य-मन्दिर की कल्पना आकार की दृष्टि से उड़ीसा के मंदिरों में सब से बड़े और भव्यतम देवालय के रूप में की गई थी, परन्तु काल के प्रहार के फलस्वरूप उसका केवल अगला भाग अर्थात् जगमोहन ही आज शेष बचा है। इस अद्भुत मंदिर के मंडप के सिरे पर की सुरा-सुन्दरियों की अनूठी प्रतिमाएँ एवं उसके प्रांगण में स्थित सिंह और गजों का मूर्ति-समूह तथा मुंडहीन अनुचर-सहित प्रख्यात अश्व-मूर्ति, नवग्रह शिला-पट्ट एवं मंदिर में स्थापित सूर्य भगवान् की प्रतिमा आदि की गणना भारतीय मूर्तिकला की सर्वोत्कृष्ट कृतियों के रूप में की जा सकती है (दे०पृ० २६११ का चित्र)। खजुराहो की भाँति पुरी के जगन्नाथ-मंदिर एवं कोणार्क के सूर्य-मंदिर की दीवारों पर भी कामुकतासूचक अश्लील मूर्तियों की भरमार है। उनमें काम-शास्त्र में वर्णित विविध

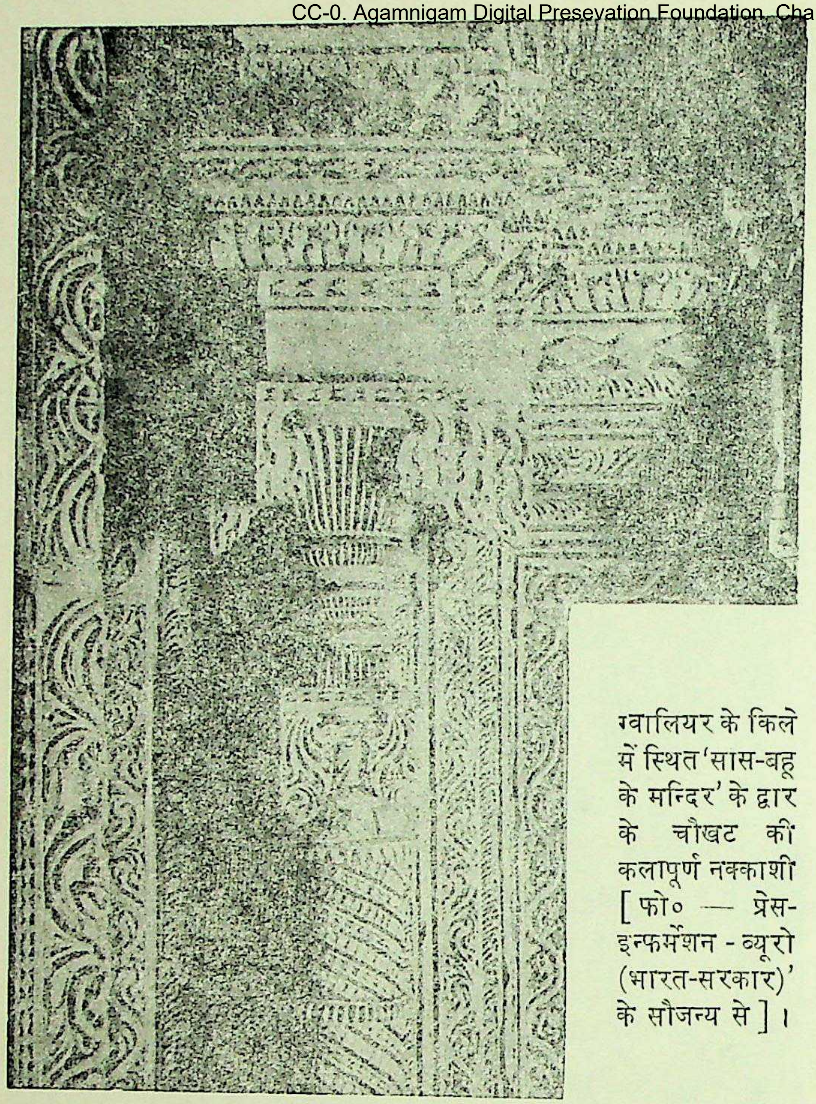

ग्वालियर के किले में स्थित 'सास-बहू के मन्दिर' के द्वार के चौखट की कलापूर्ण नक्काशी [फो० — प्रेस-इन्फर्मेशन - ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

'बन्ध' या आसन प्रदर्शित किए गए हैं । इन कामुक मूर्तियों तथा इस तरह के अन्य भारतीय शिल्प का अभी हाल में प्रकाशित डॉ० मुल्कराज आनन्द लिखित 'कामकला' नामक ग्रन्थ में सविस्तार अध्ययन किया गया है ।

विशुद्ध अथवा संशोधित रूप में नागर-शैली का प्रचलन १८वीं शती ई० तक जारी रहा, जिसके प्रचुर उदाहरण विष्णुपुर (बंगाल), वाराणसी, ग्वालियर, वृन्दावन, अहमदाबाद, आदि स्थानों में देखने को मिलते हैं । परन्तु इन सभी जगहों के मन्दिरों में शिखर को उत्तरोत्तर अधिक सीधा बनाने तथा अनेकानेक छोटे-छोटे शिखरों की आकृतियों को दोहरा-दोहराकर उसे उनसे अलंकृत करने की प्रवृत्ति बढ़ते दिखाई देती है ।

वेसर-शैली के मंदिर :: सोमनाथपुर, बेलूर, हालेविद

भारतीय वास्तु-निर्माण की वेसर-शैली, जो कि वस्तुतः उत्तरकालीन चालुक्य-शैली है, धारवार, मैसूर और दक्खिन के अन्य अनेक मन्दिरों में देखने को मिलती है । यह वस्तुतः नागर और द्राविड़ शैली के समन्वय का एक मध्यवर्ती प्रयास-सा है । धारवार जिले में इत्तगी और गदग के समीप १०वीं से १२वीं शताब्दी के समय के वेसर-शैली के अनेक मंदिर हैं, जो सूक्ष्म नक्काशी और असाधारण सौंदर्य से युक्त हैं । यह वास्तु-शैली मैसूर के होयसल राजाओं के आश्रय में पूर्णता के चरम विन्दु पर पहुंच गई, जिसके उज्ज्वलतम उदाहरण डोड्डा गडवल्ली, सोमनाथपुर, बेलूर और हालेविद के मन्दिर हैं । हालेविद के होयसलेश्वर के अपूर्ण मंदिर की सजावट में तो आलंकारिकता की हद ही कर दी गई है ! यह मंदिर ऐसे पाषाण द्वारा निर्मित है, जो खदान से निकलते समय तो अपेक्षाकृत मुलायम होता है, परन्तु खुले वातावरण में कुछ समय तक रहने के बाद अत्यधिक कड़ा हो जाता है । इस पाषाण पर अपनी छेनी चलाकर कारीगरों ने उक्त मंदिर की समूची इमारत को ऐसे सूक्ष्म शिल्प से सर्वत्र आच्छादित कर दिया है कि यह विश्वास करना कठिन है कि उन्होंने यह सब कैसे किया होगा ! मैसूर के इन मन्दिरों के आलंकारिक शिल्प में समान विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं । वह सब कहीं अलंकारबहुल, गहराई के साथ उतृंकित एवं अत्यधिक उभड़ा हुआ शिल्प है (दे० पृ० २६७२-२६७३ के चित्र)।

श्रवणवेलगोला :: गोमतेश्वर

दक्षिण भारत के जैन धर्मस्थलों में मैसूर राज्य के हासन नामक जिले में स्थित श्रवणबेलगोला नामक तीर्थस्थल सब से उल्लेखनीय है । यहां की डोड्डाबेट्टा पहाड़ी पर स्थित जैन-सन्त श्री गोमतेश्वर की ५७ फीट ऊँची भीमकाय मूर्ति आसपास के क्षेत्र से मीलों तक दिखाई पड़ती है ! यह मूर्ति ९८३ ई० के लगभग चामुण्ड राजा के आदेश से एक चट्टान को काटकर बनाई गई थी । जिस सन्त की यह प्रतिमा है, वह प्रथम जैन तीर्थंकर के पुत्र बताए जाते हैं । कहते हैं, वीतराग साधु का जीवन अपनाकर उन्होंने अपना सारा राजपाट त्याग दिया था । इस मूर्ति में गोमतेश्वर 'कायोत्सर्ग' नामक घोर तपस्या में ऐसे लीन दिखाए गए हैं कि उन्हें अपने पैरों पर लिपटे

सर्पों, जंघाओं तक उठी हुई दीमक की बांबियों एवं कन्धों तक चढ़ती चली गई वन्य लताओं का भी भान नहीं है ! जैन महत्व के दक्षिण के अन्य धर्मस्थलों में इस सन्त की तथा उसके भाई भरतेश्वर की कतिपय अन्य विशालकाय मूर्तियाँ भी उपलब्ध हैं, जिनमें एक मूर्ति २० फीट ऊँची है । यद्यपि गोमतेश्वर की मूर्ति उत्तरी भारत में कहीं नहीं मिलती, परन्तु ग्वालियर के किले में चट्टानों को काटकर निर्मित जैन तीर्थंकरों की कतिपय भीमकाय मूर्तियाँ मौजूद हैं, जिनमें से सब से बड़ी ठीक ५७ फीट अर्थात् उतनी ही ऊँची है जितनी गोमतेश्वर की मूर्ति है ।

द्राविड़-शैली के मन्दिर

विशेषज्ञों ने द्राविड़-शैली को निम्न पांच श्रेणियों में वर्गीकृत किया है—— १. पल्लव, जिसके अन्तर्गत चट्टानों को काटकर निर्मित गुहा-मंदिर आते हैं; २. चोल (८५० से ११०० ई० तक); ३. पांड्य (११०० से १३५० ई० तक); ४. विजयनगर (१३५० से १६०० ई० तक); और ५. मदुराई (१६०० से वर्तमान समय तक)।

पल्लव-शैली के मंदिरों का विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं । चोल-कला के प्रतिनिधि नमूने श्रीनिवासानलूर नामक स्थान का कोरंगनाथ मंदिर और १०००ई०के लगभग तांजौर तथा गांगेयकोंडापुल् नामक स्थानों में राजराजदेव चोल एवं उसके पुत्र राजेन्द्रदेव द्वारा निर्मित महान् विमान हैं । "विमान एक विशालकाय आकार की रचना होती है । उसमें सादगी की बलि चढ़ाए बिना ही भव्यता की उपलब्धि कर ली गई है ! इस रचना का पिरामिड के आकार का शिखर चौदह मंजिला ऊँचा होता है, जिसमें कि प्रत्येक मंजिल अलंकृत होती है और ठेठ सिरे पर एक प्रकार का गुंबद-सा होता है । विमान की सब से निचली मंजिल और मंदिर का मुख्य कलेवर समान ऊँचाई का होता है । भवन पर की गई तमाम सजधज उसके मुख्य आकार के अधीन होती है ।"

महान् गोपुरों से युक्त पांड्य-शैली के मंदिरों के सर्वोत्तम उदाहरण श्रीरंगम्, चिदंबरम्, कुंभकोणम् और तिरुवण्णमलै में देखने को मिलते हैं । इस शैली के मन्दिरों में मुख्य देवालय तो अपेक्षाकृत बहुत छोटे होते हैं, परन्तु उनके आसपास की प्राचीर एवं प्रवेशद्वार को शेष इमारत के अनुपात में आकार एवं भव्यता की दृष्टि से अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर प्रदर्शित किया जाता है, जिसके फलस्वरूप कुल मिलाकर मंदिर की झाँकी बड़ी ही प्रभावशाली और तड़कीली-भड़कीली हो जाती है । इन मंदिरों में नक्काशी और शिल्पालंकारों की भरमार पाई जाती है, जिसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हमें

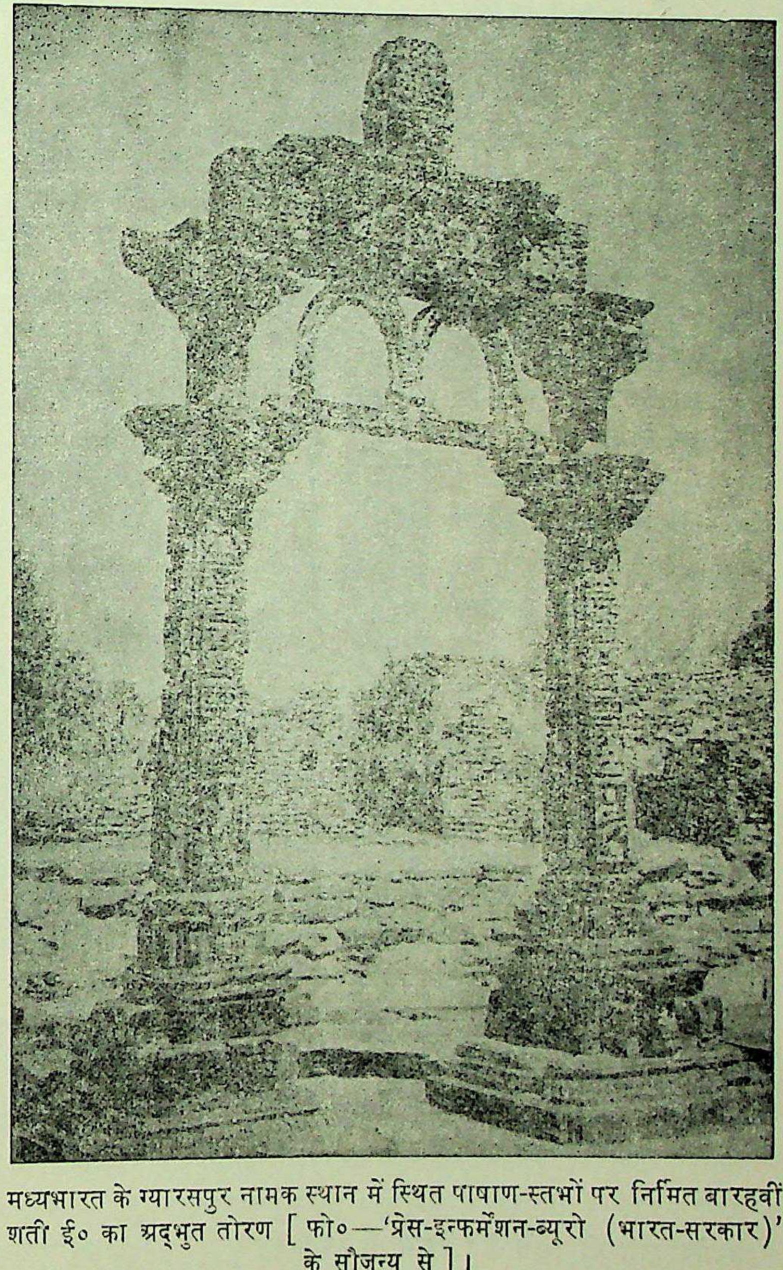

मध्यभारत के ग्यारसपुर नामक स्थान में स्थित पाषाण-स्तभों पर निर्मित बारहवीं शती ई० का अद्भुत तोरण [फो०—'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

श्रीरंगम् के मंदिर के सभामंडप के स्तम्भों के अद्भुत शिल्प में देखने को मिलता है।

विजयनगर के भव्य कला-स्मारक

विजयनगर का महान् राजनगर, जो कि आज के दिन उजड़े हुए मंदिरों का एक वीरान स्थल बना हुआ है, १३७९ ई० में प्रतापी राजा हरिहर द्वितीय द्वारा प्रस्थापित किया गया था, जिसने दक्खिन पर आक्रमण करने वाले मुसलमानों को मार भगाया था और वहाँ के अधिकांश क्षेत्र को अपने नियंत्रण में ले लिया था। कृष्णदेवराय तथा उसके उत्तराधिकारी अच्युत्राय (१५०९-१५४२ई०) के शासन-काल में विजयनगर-साम्राज्य की गौरवश्री अपने चरम विन्दु तक ऊँची उठ गई। महाप्रतापी कृष्णदेवराय न केवल एक महान् योद्धा ही थे, प्रत्युत वह उच्च कोटि के सुसंस्कृत व्यक्ति भी थे। वह सभी मत-मतान्तरों के प्रति पक्षपात रहित आदर की भावना रखते थे और सबको अत्यधिक उदारतापूर्वक आश्रय प्रदान करते थे। वह एक महान् वास्तु-निर्माता भी थे और कला तथा साहित्य के उत्साही संरक्षक थे। समसामयिक अरब और पुर्तगाली यात्रियों ने विजयनगर-साम्राज्य के वैभव का प्रशंसनीय विवरण अपने यात्रा-वृत्तान्तों में छोड़ा है। जिन्हें जिज्ञासा हो, उन्हें अब्दुर रज्जाक जैसे विदेशी यात्रियों के विवरणों को पढ़ना चाहिये, जो कृष्णदेवराय के समय के भव्य राजप्रासादों एवं देवालयों से खचित विश्वविश्रुत विजयनगर एवं उसके नागरिकों के बारे में प्रशंसा से भरे पड़े हैं। इस महानगरी के अवशेष आज भी उसके बीते गौरव की साक्षी देते हैं।

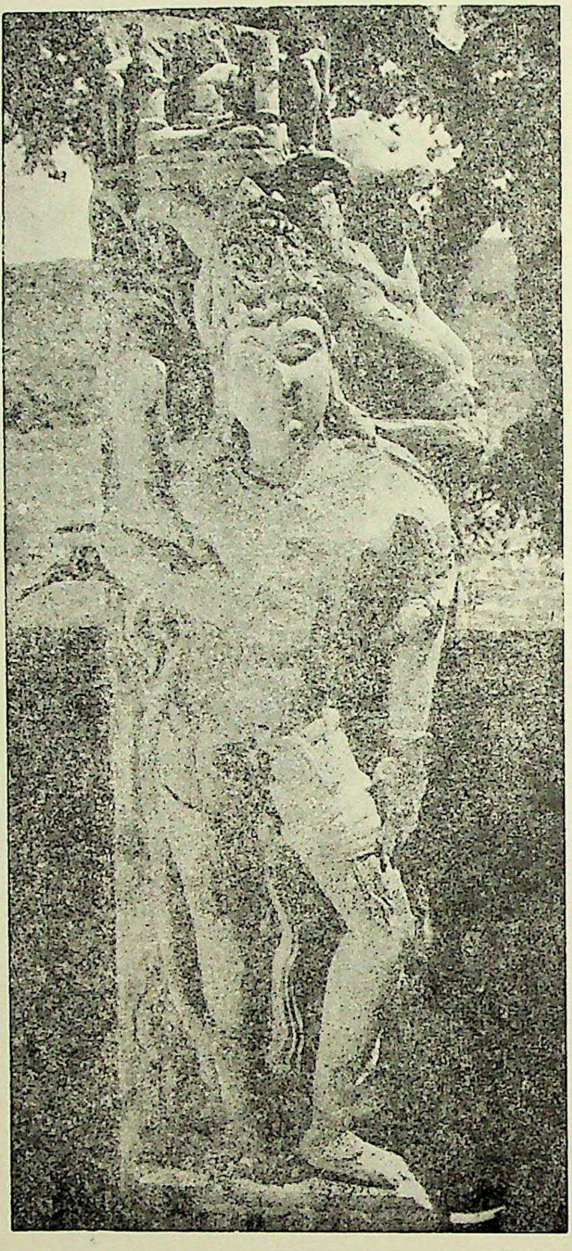

मध्म भारत के ग्यारसपुर नामक स्थान से प्राप्त उत्तरकालीन मूर्ति-शिल्प का एक सुन्दर नमूना [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

विजयनगर के मन्दिरों में सब से कलापूर्ण और भव्य विट्ठलस्वामी या विठोबा का मन्दिर है, जिसका निर्माण-कार्य १५१३ ई० में कृष्णदेव राय द्वारा आरम्भ किया गया था और १५६५ ई० में दक्खिनी सुलतानों की सम्मिलित सैनिक शक्ति के आगे विजयनगर-साम्राज्य के विध्वंस एवं राजधानी की लूट के समय तक भी जो बनकर संपूर्णतया पूरा नहीं हो पाया था! 'कल्याण-मंडपम्' के नाम से प्रसिद्ध अनेक खम्भोंवाला सभा-मण्डप तथा 'पत्थर का रथ' इस देवालय की सब से महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। 'पत्थर का रथ' बना तो है कई एक पाषाणखंडों को जोड़कर, परन्तु वे सब टुकड़े इस बारीकी के साथ जोड़कर मिला दिए गए हैं कि देखनेवालों ने प्रायः इस रचना को संपूर्णतया एक ही विशाल शिलाखण्ड में से काटकर बनाई गई बिना जोड़ की कृति माना है। कडलाइ-कल्लु गणेश-मंदिर, होस्पेट का 'अनन्तशायी मन्दिर' एवं 'हजार राम मंदिर' विजयनगर-शैली के अन्य महत्वपूर्ण देवालय हैं। 'हजार राम मंदिर' संभवतः कृष्णदेवराय के निजी उपासना-मंदिर के तौर पर बनाया गया था। वह कुछ अंशों में विट्ठल-स्वामी के मन्दिर से मिलता-जुलता है। दोनों ही मन्दिरों की वाह्य प्राचीर उत्तंकित मूर्ति-शिल्प से खचित है और 'हजार राम-मंदिर' की भीतरी दीवारें विशेष रूप से रामायण के उल्लेखनीय दृश्यों से अलंकृत हैं। उधर ताड़पत्री के महान् देवालय अपने अति कलापूर्ण परन्तु अपूर्ण गोपुरों के लिये प्रख्यात हैं।

विजयनगर-शैली की प्रमुख विशेषताएं ये हैं—१. कमल-पुष्प की आकृति के 'ब्रैकेट' का पूर्ण विकास; २. अनेक छोटे-छोटे स्तंभों को मिलाकर भारी-भरकम गोलाकार परगहों से

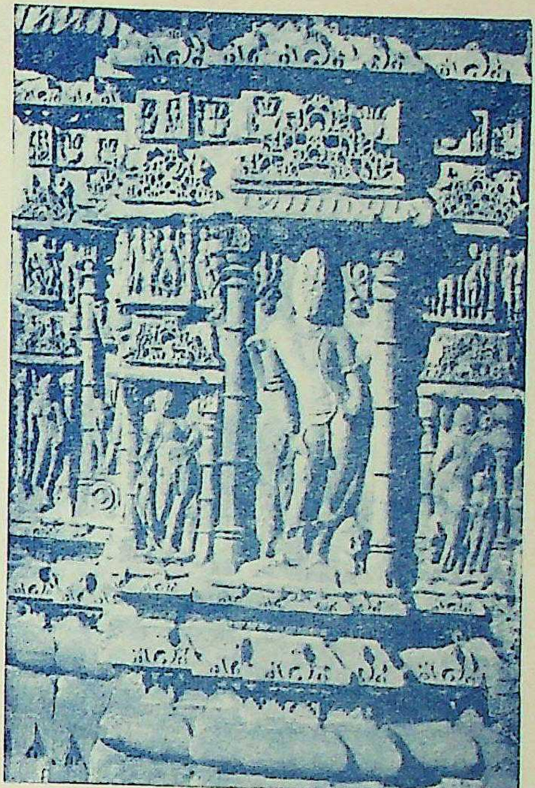

[दाहिनी ओर]
गुजरात के मोढेरा नामक स्थान के विख्यात सूर्य-मंदिर का भव्य शिल्प [फो०--'भारतीय पुरातत्व-विभाग'] ।

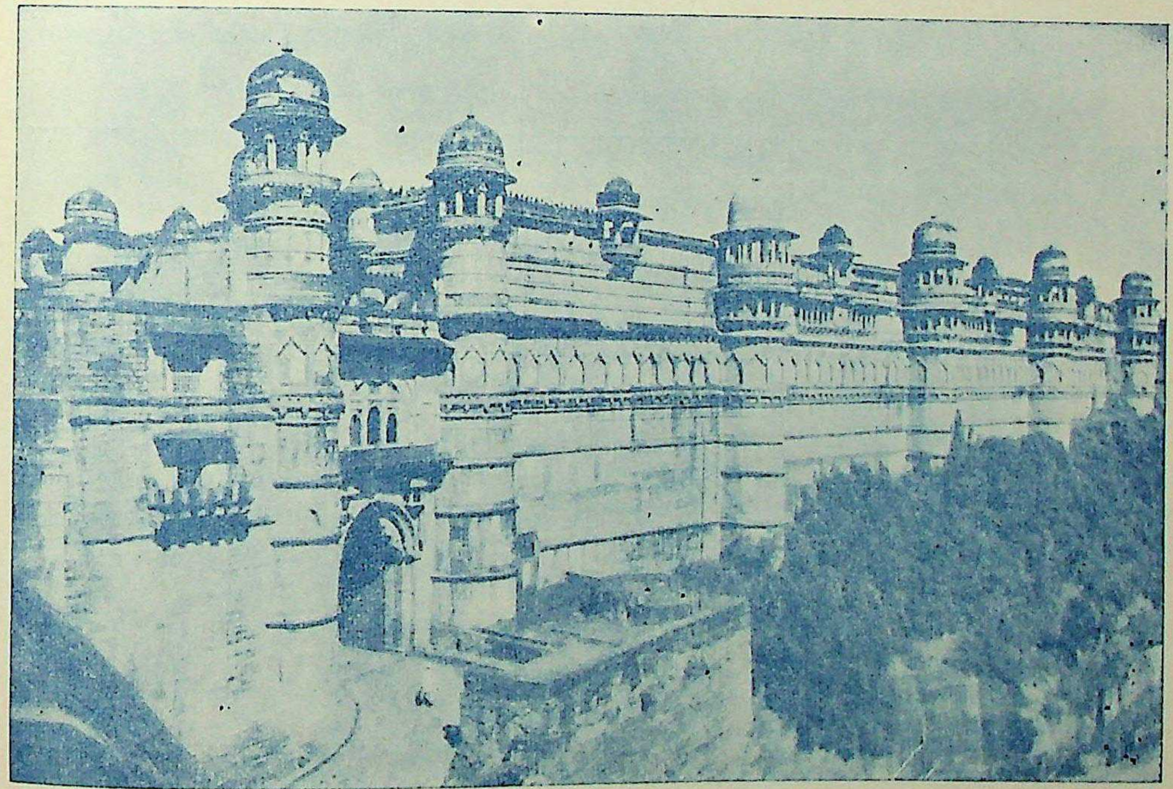

(नीचे)
ग्वालियर के किले का दृश्य [फो०--'भारतीय पुरातत्व-विभाग] ।

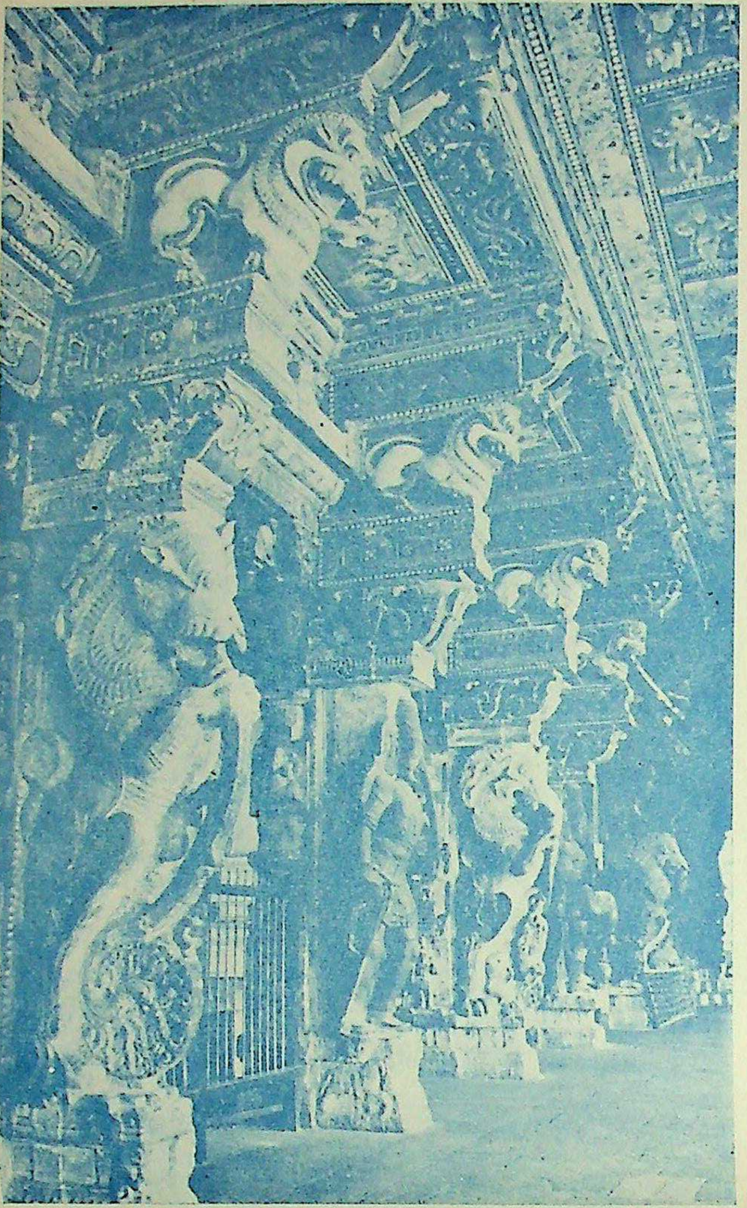

(बाईं ओर)
मदुराई के मीनाक्षी-मंदिर के एक गलियारे के स्तंभों का अनूठा शिल्प [फो०--'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग] ।

(दाहिनी ओर)
वेलूर के चेन्नकेशवेश्वर मंदिर की गरुड़-मूर्ति [फो०--'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग'] ।

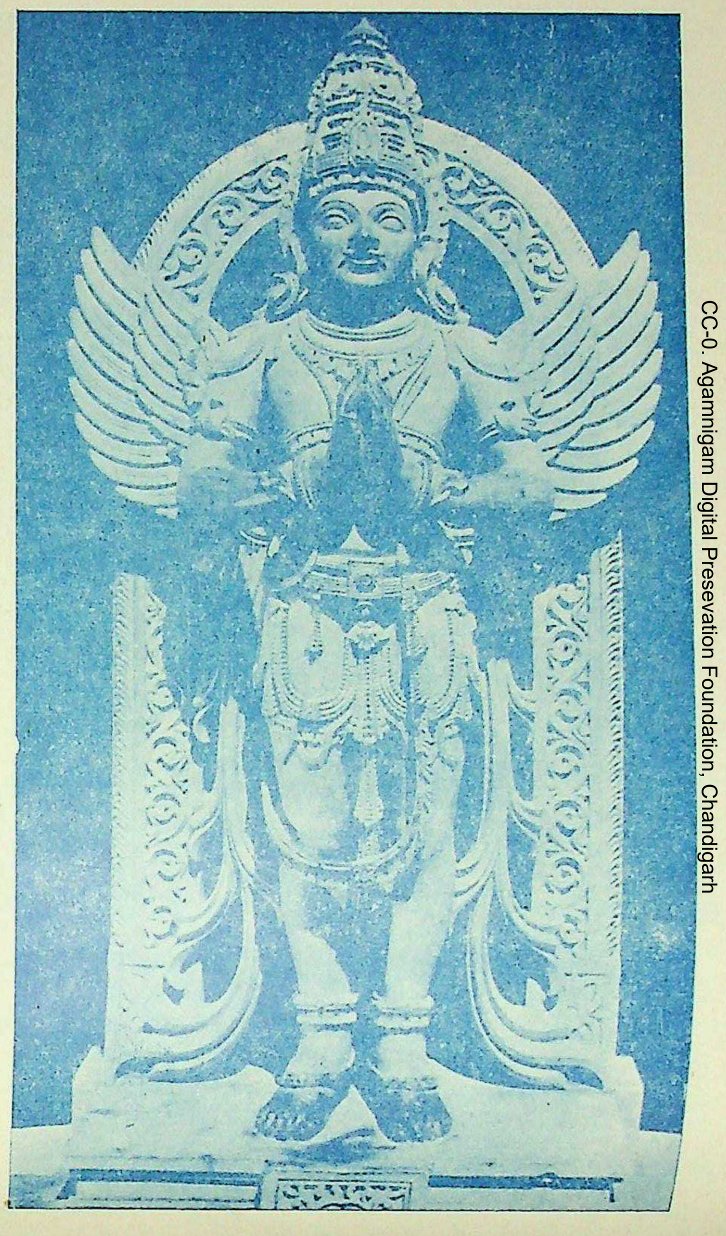

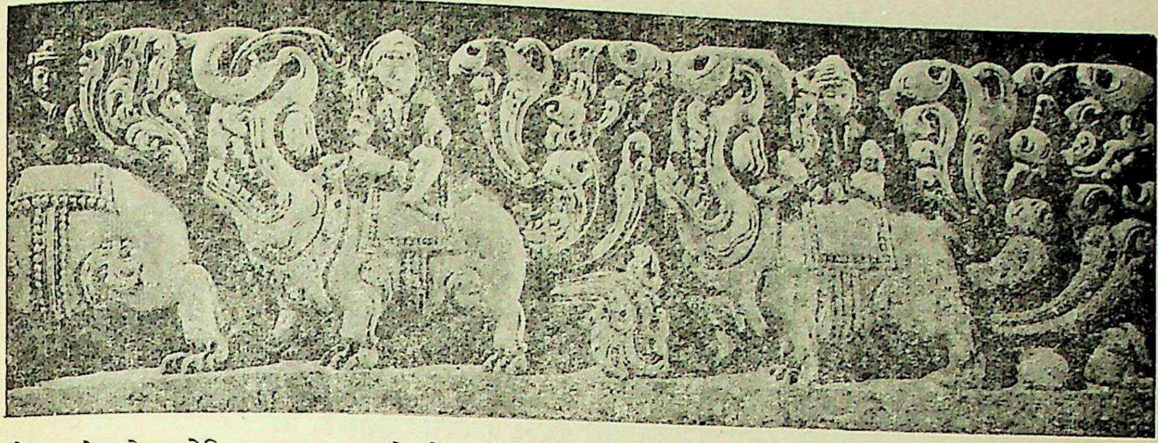

मैसूर प्रदेश के हालेविद नामक स्थान के वेसर-शैली के प्रसिद्ध होयसलेश्वर-मंदिर के शिल्पालंकारों का एक उदाहरण [फो० —'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

मंडित एक ही अखंड स्तंभ की रचना; ३. दोहरी नक्काशीदार कार्निसों का प्रयोग; ४. मूर्तियों से खचित स्तंभाधारों में अद्भुत अकल्पित रूप-आकार के दहाड़ते हुए सिहों अथवा गजसिहों (याली) का उपयोग। इनके अतिरिक्त इस शैली के मंदिरों की एक विशेषता यह भी है कि उनकी प्राचीर एवं कुर्सी की दीवारें रामायण-महाभारतकी गाथाओं अथवा लोकोत्सवों की सुंदर छबियों के उत्तंकित शिल्प की पट्टियों से सज्जित हैं।

मदुराई के देवालय

दक्षिण भारत की वास्तु-प्रतिभा का अंतिम पुष्पागम मदुराई के नायक राजाओं के शासनकाल में हुआ, जो कि विजयनगर के ध्वंस के बाद दक्षिण के एकमात्र बचे हुए हिन्दू राज्य के ज्योतिधर थे। इस छोटे-से स्वतंत्र राज्य की गौरवश्री तिरुमल नायक (१६२३-१६५९ ई०) के राज्यकाल में मध्याह्नकाल की स्थति पर पहुंच गई। तिरुमल नायक एक महान् वास्तु निर्माता था—उसी ने मदुराई के प्रख्यात मीनाक्षी देवी के मंदिर का निर्माण कराया था। उसके शासनकाल में मंदिरों की जो निर्माण-शैली प्रचलित हुई, वह कतिपय संशोधनों के साथ आज भी दक्षिण भारत में प्रचलित है। पूर्वोल्लिखित मीनाक्षी-मंदिर मदुराई-शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

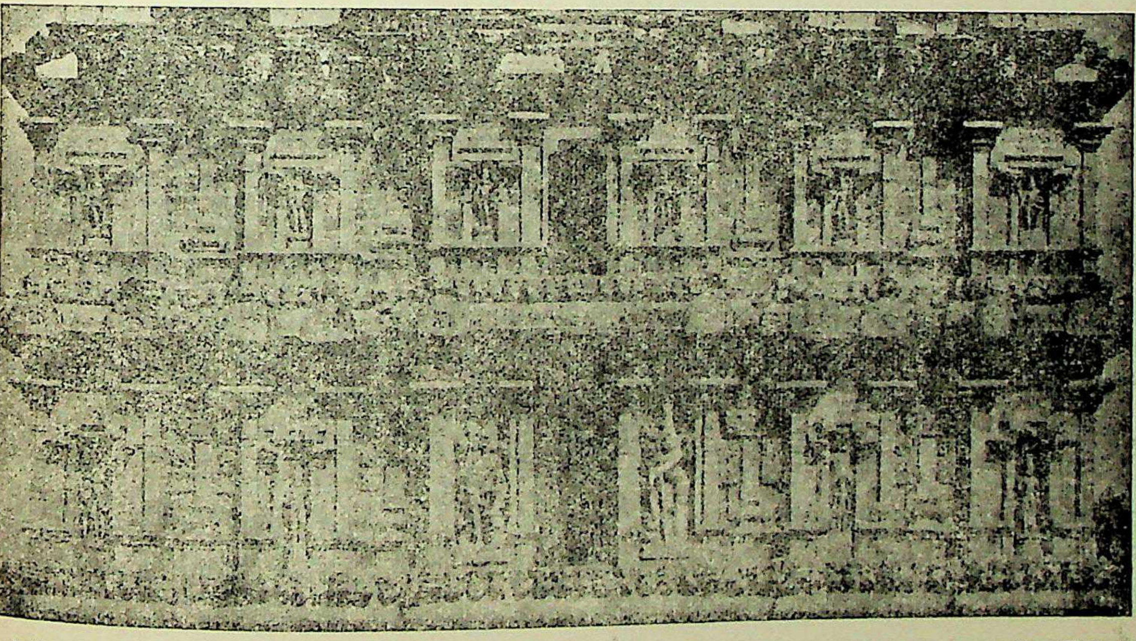

तांजौर के वृहदेश्वर नामक प्रख्यात चोलकालीन विशाल मंदिर की दीवारों पर सुसज्जित प्रभावशाली मूर्तिशिल्प [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग']।

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

चोल-शैली के श्रीरंगम् और तिरुवण्णामल्ल के भव्य मन्दिरों की भाँति इस देवालय का गर्भमंदिर, जिसमें देवी की प्रतिमा प्रतिष्ठापित है, अपने विशालकाय गगनचुंबी गोपुरों के आगे वामनाकार प्रतीत होता है ! ये गोपुरम् न केवल आकार-प्रकार की दृष्टि से ही प्रत्युत वास्तु-रचना और कलात्मक सजधज के लिहाज से भी अतिमानवीय कृतियों जैसे जान पड़ते हैं । इस विशाल देवालय के 'वसन्त या पुडु-मंडपम्' तथा 'सहस्रस्तंभ-मंडपम्' नामक अद्भुत कक्ष ऐसे ऊँचे दर्जे की नियोजित रचनाएँ हैं कि दर्शक उन्हें देखकर आश्चर्य-सागर में डूबने-उतराने लगता है । उक्त सभामंडपों के स्तंभों पर बनी देवी-देवताओं की पूर्णाकार मूर्तियाँ उत्कृष्ट शिल्प की परिचायक हैं और पुडु-मंडपम् के स्तंभों में से एक पर तो स्वयं तिरुमल नायक एवं उसकी रानियों की प्रतिछवियाँ भी दिग्दर्शित हैं । अधिकतर आदमकद या पूर्ण आकार की इन मूर्तियों से एक अनूठी गतिशीलता का भाव टपकता है । इस महान् देवालय के मूर्तिशिल्प तथा आलंकारिकता की चकाचौंध के आगे दर्शक का मस्तिष्क चकराने लगता है और जब वह उसके अँधेरे गलियारों में से होकर निकलता है, तो अनायास ही उसकी भव्यता और महानता से अभिभूत हो उठाता है ।

तांजौर के चोलकालीन बृहदेश्वर-मंदिर के समीप ही सुब्रह्मण्य-मंदिर नामक एक पश्चाद्कालीन देवालय है, जिसकी भीमकाय नन्दी-प्रतिमा प्रसिद्ध है । गठन के लिहाज से यह मन्दिर मदुराई-शैली का सरलतर नमूना है, परन्तु अलंकरण और सजधज में उसकी कारीगरी पत्थर में स्वर्णकारों द्वारा की गई कारीगरी की याद दिलाने लगती है ।

दक्षिण की धातु-मूर्तियाँ

११वीं शताब्दी ईस्वी के लगभग दक्षिण भारत में धातु की बनी मूर्तियों का जोरों के साथ प्रचलन जारी हुआ और तब से उसका रिवाज आज तक वहाँ जारी है । राजराजदेव चोल के १०१४ ई० के अभिलेखों में इस प्रकार की शैव संतों की मूर्तियों का उल्लेख मिलता है और १३वीं शताब्दी की कतिपय वैष्णव धातु-मूर्तियाँ पुरातत्त्वीय खुदाई में भी उपलब्ध हुई हैं । इन मूर्तियों के मुख्य विषय हैं--शिव के अनेक रूप, विशेषकर नटराज; पार्वती; माणिक्क-वासगर; तिरुज्ञान-सम्बन्ध स्वामी; अप्पारस्वामी और सुन्दरमूर्तिस्वामी नामक शैव संत (ये सब १०वीं शती ई० से पहले के थे); विष्णु; लक्ष्मी; कृष्ण; राम; आलवार नामक वैष्णव संत तथा कृष्णदेवराय एवं उसकी रानियों जैसे राजकीय दानियों के व्यक्तित्व ।

लौकिक स्थापत्य :: राजमहल और छत्रियाँ

एक आक्रमणकारी मूर्तिभंजक विदेशी धर्म के आघात से प्रताड़ित मध्यकालीन भारत में (कम से कम उत्तर भारत में) पन्द्रहवीं शती ई० के बाद से मन्दिरों के निर्माण और देवी-देवताओं की मूर्तियों को बनाने की कला-प्रवृत्ति के मार्ग में बड़ी रुकावटें आ गईं और फलतः देश के शिल्पियों (मूर्तिकारों) और 'स्थपति' या भवन-निर्माण के इन्जीनियर-कलाकारों की प्रतिभा मन्दिरों और मूर्तियों की ओर से खिंचकर अब राजप्रासादों की सृष्टि की ओर केन्द्रित हो चली । राजस्थान, बुन्देलखंड एवं मध्य भारत में सर्वत्र बिखरे हुए इस युग के राजभवन इसके जीवित प्रमाण हैं । ये सब लौकिक स्थापत्य के अद्भुत नमूने हैं ।

इस प्रकार की रचनाओं के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में ग्वालियर के किले में राजा मानसिंह (१४८६-१५१८ ई०) एवं उसके उत्तराधिकारी विक्रम शाही द्वारा निर्मित महान् राजप्रासाद, दतिया और ओड़छा में वीरसिंह देव द्वारा निर्मित राजमहल, डीग में सूरजमल जाट द्वारा निर्मित प्रासाद और उससे संम्बद्ध उद्यान, अंबर में १७वीं शती ई० में जयसिंह एवं उनसे पूर्व के राजा मानसिंह द्वारा निर्मित राजप्रासाद, चितौड़ के 'कीर्ति-स्तंभ' और 'जय-स्तंभ' नामक स्मारक; उदयपुर के भव्य महल (विशेषकर झील के बीच बने जगमहल और जगनिवास नामक अनोखे द्वीप-प्रासाद), जोधपुर का प्रभाव-शाली दुर्ग और उसकी चोटी पर निर्मित पुराने राजमहल, आदि कलापूर्ण इमारतों के नाम लिए जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त 'छत्री' के नाम से पुकारी जानेवाली राजाओं की समाधियों की उन छोटी रचनाओं का भी उल्लेख इस युग की उत्कृष्ट वास्तु-रचनाओं में किया जा सकता है, जिनमें से कई असाधारण कारीगरी और सौन्दर्य से पूरित हैं, यद्यपि उनका दिखावा कुछ-कुछ मुस्लिम इमारतों का-सा है। इन छत्रियों के सर्वोत्तम नमूने उदयपुर, जोधपुर, चांदोर और जयपुर में देखने को मिलते हैं ।

उपर्युक्त दुर्गों, राजप्रासादों और छत्रियों के अतिरिक्त मध्यकालीन हिन्दू स्थापत्य के एक और अंग विशेष के प्रति भी ध्यान देना आवश्यक है, जो वास्तु निर्माण के क्षेत्र में भारतीय कारीगरी और इंजीनियरी का एक प्रशंसनीय करतब है । यह है काशी, महेश्वर, आदि स्थानों के नदी-तट के प्रसिद्ध घाटों का अद्भुत स्थापत्य, जिसके विषय में कलामर्मज्ञ हैवेल ने उद्गार प्रकट किए हैं कि "ब्रिटिश युग के भारत में एक भी इमारत नहीं, जो इस वर्ग के समकक्ष रक्खी जा सके।"

कला की पुरातन धाराएँ—(१४)

भारतीय कला :: मुस्लिम स्थापत्य

भारतीय कला की परंपरागत मुख्य धारा का अनुसरण करते हुए पिछले प्रकरणों में अब तक हमने केवल हिन्दू वस्तु-मूर्तिशिल्प का ही विवेचन किया है। परन्तु मुस्लिम आक्रमण की एक के बाद एक आने वाली लहरों के अनुक्रम में कालान्तर में इस देश में एक ऐसे मिश्रित स्थापत्य का उदय और विकास हुआ, जिसमें कुछ तत्त्व निश्चय ही एक विदेशी परंपरा से लिए गए थे और जिसका प्रेरणा-स्रोत इस्लाम था। फलतः कला-समीक्षकों ने इस वस्तु-शिल्प को मूल भारतीय कला-धारा से पृथक् एक विशेष वर्ग में रखा है और उसे 'इंडो-सार्सेनिक' नाम दिया है। हम इसे 'भारतीय मुस्लिम स्थापत्य' कहकर पुकार सकते हैं। चूंकि यह सारा का सारा स्थापत्य उत्तरकाल में विकसित हुआ और उसके ऊपर सदैव राज्य-संरक्षण की छाया बनी रही, अतः पूर्ववर्ती हिन्दू स्थापत्य के कला-स्मारकों की अपेक्षा वह आज के दिन अधिक सुरक्षित दशा में उपलब्ध है और फलतः अधिक पुरातन हिन्दू स्मारकों की अपेक्षा, जिन्हें कि न केवल काल के प्रभाव का ही प्रत्युत मूर्तिभंजक कलाशत्रुओं की धर्मान्ध विध्वंसलीला का भी शिकार होना पड़ा है, इन मुस्लिम इमारतों का विस्तृत अध्ययन करना कहीं सरल और सुगम कार्य है। स्थानाभाववश यहाँ इस विषय का संक्षिप्त सिहावलोकन मात्र किया गया है।

फर्ग्युसन ने 'इंडो-सार्सेनिक' या 'भारतीय मुस्लिम स्थापत्य' को शैली के लिहाज से निम्न १३ मुख्य क्षेत्रीय वर्गों में बाँटा है--१. गजनी; २. पठान; ३. जौनपुरी-शर्की; ४. गुजरात; ५. मालवा; ६. बंगाल या गौड़-माल्दा; ७. बहमनी; ८. बिजापुर-आदिलशाही; ९. कुतुबशाही-गोलकुंडा; १०. मुगल (जिसमें ऊपर उल्लिखित तमाम शैलियों की प्रतिभा का सार संकलित है); ११. सिन्ध; १२. अवध; और १३. मैसूर। आइए, इनमें से प्रत्येक पर संक्षेप में प्रकाश डालें।

गजनी-शैली

गजनी-शैली का अभी तक विस्तारपूर्वक अध्ययन नहीं हो पाया है, कारण इस शैली की गिनी-चुनी रचनाएँ अत्यन्त दुर्गम क्षेत्रों में बिखरी हुई हैं। भारत के किसी भी भूभाग के स्थापत्य के साथ इस शैली का शायद ही सादृश्य या रिश्ता-नाता पाया जा सकता हो। जो कुछ भी अभिप्रायमूलक सादृश्य दिखाई दिया है, वह अधिकांशतः मनोवैज्ञानिक है, वास्तुकला से उसका कोई वास्ता नहीं है। निश्चय ही गजनी की प्रसिद्ध मीनार एक विजय-मीनार या जय-स्तंभ की-सी रचना है, परन्तु जहाँ तक कि शैली का संबंध है, उसके भारतीय होने का दूर का भी कोई संकेत हमें नहीं मिलता। इसी प्रकार महमूद की कब्र पर के देवदार के दरवाजों (जिन्हें किसी जमाने में मूलतः सोमनाथ के मन्दिर के दरवाजे माना जाता था) की नक्काशी या खुदाई अपनी लाक्षणिक विशेषताओं में भारतीय से कहीं अधिक उत्तरकालीन मिस्री-ईसाई-सी जान पड़ती है।

पठान और जौनपुरी-शैली

पठान-शैली का श्रेष्ठतम परिचय दिल्ली की प्रसिद्ध 'कुतुब-मीनार' एवं उसके समीप खड़ी कुतुब-मस्जिद के 'आलाई

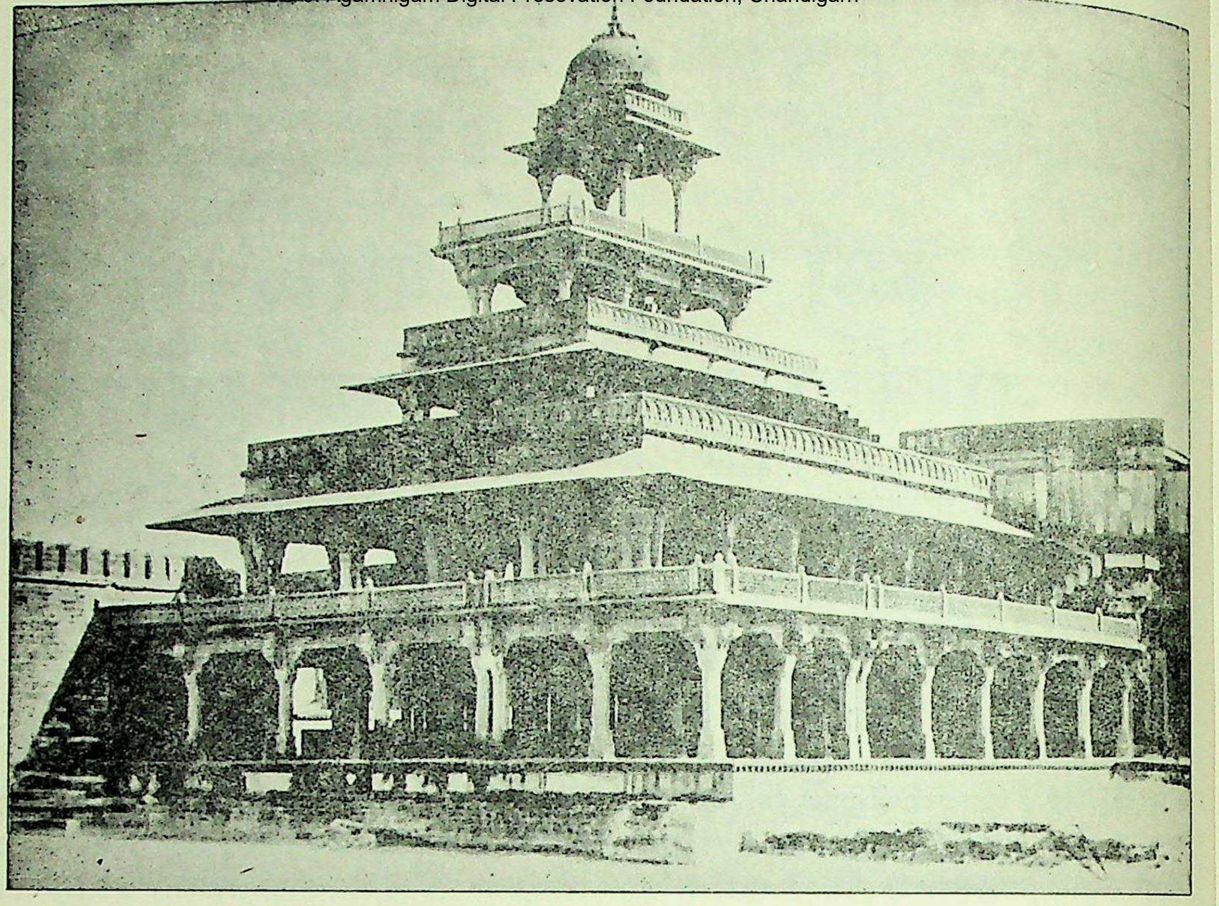

मुगल बादशाह अकबर द्वारा निर्मित फतहपुर-सीकरी की 'पंजमहल' नामक प्रसिद्ध इमारत, जो कि आरंभिक मुगल-स्थापत्य-शैली का एक उत्कृष्ट नमूना है। पृ० १७१५ का चित्र भी देखिए [फो०—'प्रेस-इन्फर्मेशन - ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

दरवाजा' नामक विशाल द्वार तथा अजमेर की बड़ी मस्जिद के स्थापत्य द्वारा हमें मिलता है । उत्तरकालीन पठान-शैली के सर्वोत्तम अवशेष पुरानी दिल्ली के खैरपुर नामक स्थान का मकबरा एवं बिहार में सासाराम नामक स्थान में निर्मित शेरशाह की समाधि हैं ।

उधर जौनपुरी-शर्की शैली के श्रेष्ठतम स्मारक अटालादेवी की मसजिद, जामी मसजिद और लाल दरवाजा नामक इमारतें हैं, जिनमें अटाला देवी की मस्जिद सब से सुन्दर एवं अलंकारपूर्ण है । कहा जाता है कि विजेता आक्रमणकारियों ने इस इमारत का निर्माण एक बौद्ध बिहार का विध्वंस करके उसी स्थान पर उसकी सामग्री के पुनरुपयोग द्वारा किया था ।

गुजरात और मालवा-शैली

गुजरात-शैली में निर्मित मुस्लिम मसजिदों और मकबरों में से जो आज भी विद्यमान हैं, उनमें श्रेष्ठतम अहमदाबाद की जामी मसजिद और रानी रूपमती की मसजिद (जो नगर के मिर्जापुर-क्षेत्र में है), पत्थर में वृक्ष-लताओं की अद्‌भुत नक्काशी की जालियों के लिए विख्यात प्रसिद्ध सिदी सैयद की मसजिद (दे० पृ० २६२८ का चित्र), सरखेज के मकबरे के सामने की बारादरी, महमूदाबाद में स्थित मुबारक सैयद की समाधि तथा बतवा में निर्मित कुतुब-उल-आलम के मकबरे की इमारतें हैं। यह याद रखना चाहिये कि इनमें से कई मसजिदों और मकबरों में जो सामग्री काम में लाई गई है, वह पूर्ववर्ती हिन्दू मन्दिरों को तोड़कर प्राप्त की गई है और उसे ही मुस्लिम इमारतों में रूपांतरित कर दिया गया है।

उधर मालवा-शैली के मुस्लिम स्थापत्य का श्रेष्ठतम रूप धार एवं माँडू के अद्‌भुत राजप्रासादों तथा मसजिदों में देखने को मिलता है । हमें खेद है कि स्थानाभाव के कारण यहाँ मध्यकालीन वास्तुकला के उक्त सुन्दर नमूनों का विस्तृत परिचय देने में हम यहाँ असमर्थ हैं । इस संबंध में पाठक यदि भारत-सरकार द्वारा प्रकाशित धार और माँडू संबंधी उपयोगी परिचय-पुस्तिकाओं को कभी देखने का मौका पा सकें, तो उनसे

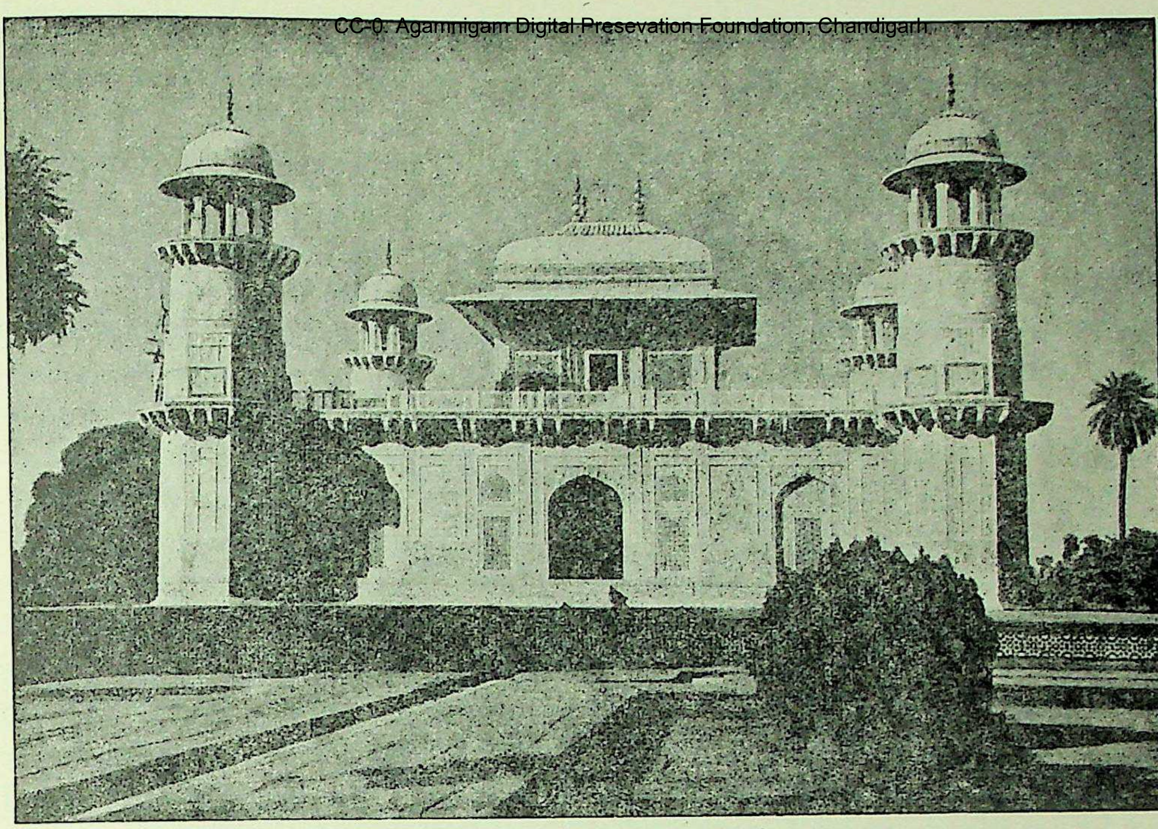

मुगल स्थापत्य के चरम विकास का प्रतिनिधित्व करनेवाली आगरे की प्रख्यात इमारतों में से एक— एतमाद-उद्-दौला का मशहूर मकबरा [फो० – 'प्रेस-इन्फशर्मेन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

अवश्य लाभ उठावें। माँडू की इमारतों में सब से विशाल जामी-मसजिद है, जो भारत भर में अफगान वास्तुकला की सर्वोत्कृष्ट एवं सब से बड़ी इमारत मानी जाती है। यहाँ की अन्य उत्तम इमारतों में होशंगशाह का मकबरा विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसका गुम्बद एक प्रकार के संगमरमर का बना है। इस इमारत की अपने जमाने में इतनी अधिक ख्याति रही कि कहा जाता है कि ताजमहल के निर्माण से पहले शाहजहाँ ने अपने उस्ताद कारीगरों को इस मकबरे के स्थापत्य का अध्ययन करने के लिये ठेठ माँडू भेजा था !

माँडू के हिंडोला महल और जहाज महल नामक राजप्रासाद भी अपने ढंग की निराली इमारतें हैं, जिनसे रग-रग से दृढ़ता का भाव टपकता है। कहना अनावश्यक है कि इनमें से अधिकतर इमारतों की निर्माण-सामग्री पूर्ववर्ती हिन्दू इमारतों को——विशेषकर मंदिरों को——तोड़कर प्राप्त की गई थी।

बंगाल-शैली

बंगाल-शैली की मुस्लिम इमारतों का अपना एक विशेष व्यक्तित्व है, जिसका कारण यह है कि भारत भर में यही पहली मुस्लिमकालीन इमारतें हैं, जो कि केवल ईंटों द्वारा निर्मित हैं। इस नाते यह स्थापत्य सचमुच बड़ा दिलचस्प है। ईंटों की बनी अपने ढंग की नुकीली मेहराब का प्रचलन जारी करने के साथ-साथ बंगाल के कारीगरों ने एक बिल्कुल ही नए ढंग की छत का भी रिवाज चलाया, जिसका आधुनिक समय में आकर मुस्लिम और हिन्दू दोनों वर्ग के स्थापत्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।

बाँस की ठठरी पर फूस को छाकर बनाई गई झोंपड़ियों की छत की याद दिलानेवाली यह ढलुआ छत न केवल देखने में ही ललित और आलंकारिक थी, प्रत्युत उपयोग की दृष्टि से भी वह बड़े काम की थी, कारण ऐसी छत पर मानसूनी क्षेत्र की वर्षा का जल टिकने नहीं पाता और बहुत आसानी से वह बहकर निकल जाता है, जो कि बंगाल जैसे भारी वर्षा के क्षेत्र के लिए कम महत्व की बात न थी। उपर्युक्त बंगाल-शैली की मुस्लिम इमारतों में गौड़ की 'कदमेरसूल' नामक मसजिद तथा वहाँ की प्रसिद्ध मीनारें सब से उत्कृष्ट हैं। इसी तरह माल्दा की सोना, अदीना तथा एकलाखी मसजिदों के नाम भी गिनाने योग्य हैं।

बहमनी, आदिलशाही (बिजापुरी), कुतुबशाही तथा सिंधी शैली

दक्खिन की बहमनी शैली के सर्वोत्तम नमूने हमें कुलबर्गा की विशाल मसजिद, बीदर के प्रख्यात मदरसे और बारिदशाही राजघराने के लोगों के मकबरों में देखने को मिलते हैं। उधर बिजापुर के आदिलशाही स्थापत्य का अध्ययन वहाँ की विशाल जामी मस्जिद, इब्राहीम और मोहम्मद आदिलशाह के मकबरे, गगनमहल एवं सतमंजिला जैसी इमारतों द्वारा किया जा सकता है। इनमें ख्याति की दृष्टि से मोहम्मद आदिलशाह का मकबरा संसार भर में प्रसिद्ध इमारत है, जिसे अपने विशाल गुंबद के लिये 'गोल-गुंबज' के नाम से पुकारा जाता है (दे० पृ० २६७९ का चित्र)।

गोलकुंडा के कुतुबशाही वंश का तीसरा बादशाह इब्राहीम एक महान् वास्तु-निर्माता था और उसके पुत्र मुहम्मद कुली ने ही हैदराबाद की प्रस्थापना की थी। इस वंश के बादशाहों तथा उनके अमीरों और नातेदारों के मकबरे उस युग के मुस्लिम स्थापत्य की रोचक झाँकी प्रस्तुत करते हैं।

उधर सिंध की मुस्लिम इमारतें पाषाण के अभाव में मुख्य रूप से ईंटों द्वारा निर्मित हैं। इस शैली के स्थापत्य के सर्वोत्तम नमूने थट्टा नामक स्थान के आसपास पाई जानेवाली अनेक समाधियों में देखने को मिलते हैं, जिनमें सबसे उल्लेखनीय नवाब शरफाखान का मकबरा है।

मुगल शैली के भव्य स्मारक

मुगल काल की पुरातत्व-सामग्री भारतीय इतिहास के मुस्लिम युग की अन्य किसी भी समय की रचनाओं से बढ़ी चढ़ी हैं। शिल्प-विधान के लालित्य एवं नियोजन की भव्यता में उसे मात करनेवाली अन्य मुस्लिम कृतियाँ नहीं मिलने की। हैवेल के शब्दों में 'मुगलों ने अतिमानवीय दैत्यों की भाँति निर्माण किया और जौहरियों की भाँति अपनी कृतियों को पूरा किया।' मुगल इमारतों की प्रचुर और अति सुहावनी आराइश उनके शाही निर्माताओं की सुरुचि की द्योतक है, जो कि खर्च की बिल्कुल परवाह न करके न केवल इमारतों को ही प्रत्युत उनके आसपास के वातावरण को भी सुन्दर बनाने के प्रति बहुत बारीकी से ध्यान देते थे और इस संबंध में कोई कोर-कसर नहीं रखते थे।

बाबर के युग की मुगल इमारतों का तो कोई चिह्न आज नहीं मिलता, यद्यपि अपने स्मृतिग्रंथ में उसने यह लिखा है कि केवल आगरा में ही अपने राजप्रासादों के निर्माण-कार्य में प्रति दिन ६८० कारीगर वह लगाए रहता था! इसी तरह हुमायूँ द्वारा निर्मित इमारतों का भी कोई विशेष हाल नहीं मिलता, कारण उसका राज्यकाल बहुत ही अशान्तिपूर्ण और निरन्तर गड़बड़ का रहा। वस्तुतः मुगल स्थापत्य की पहली उल्लेखनीय कृति अकबर के युग में आकर ही हमें देखने को मिलती है और वह है हुमायूँ के मकबरे की भव्य इमारत, जिसे उसके प्रतापी पुत्र ने उसकी विधवा बेगम हाजी मिरियम-मकानी के आदेश से १५ लाख रुपये खर्च करके बनवाया था। यह इमारत १५६५ ई० में बनकर तैयार हुई थी। अकबर द्वारा निर्मित अन्य गौरवशाली स्मारकों में पहला स्थान आगरा के समीप उसके द्वारा बसाई गई फतेहपुर-सीकरी की नई राजधानी को मिलना चाहिए, जो कि अपने अद्भुत राजप्रासादों, सभाभवनों, बारादरियों, प्रमोदस्थलों, जनाना महलों, स्नानागारों, मंत्रणाकक्षों, मीनारों, मसजिदों और मकबरों तथा उन सब के समक्ष खड़े विशाल 'बुलन्द दरवाजा' सहित एक ऐसी कृति है, जो कि फर्ग्युसन के शब्दों में सच ही पाषाण में निर्मित एक रोमान्स सी है, जैसी कि अन्यत्र शायद ही देखने को मिल सकती है! इस अद्भुत नगरी के अतिरिक्त अकबर ने आगरा के निकट सिकन्दरा नामक स्थान में स्वयं अपने लिए एक भव्य मकबरे का भी निर्माण कराया, जो मुगल स्थापत्य की एक गौरवशाली कृति है (दे० पृ० १७११ का चित्र)।

जहाँगीर द्वारा निर्मित इमारतों में आगरे के किले का प्रसिद्ध जहाँगीर-महल, लाहौर का प्रख्यात शालीमार-उद्यान, अनारकली का मकबरा, लाहौर-किले में स्थित ख्वाबगाह और मोती मस्जिद नामक स्मारक उल्लेखनीय हैं। इस युग की अन्य अनूठी रचनाएँ हैं——लाहौर में वजीरखाँ की मसजिद तथा उसका मकबरा, आगरा में एतमाद-उद्-दौला का समाधि-स्थल तथा फतेहपुर-सीकरी में सलीम चिश्ती की दरगाह।

मुगल वास्तु-निर्माण की लहर शाहजहाँ के राज्यकाल में चरम बिन्दू तक ऊँची उठ गई, जिसकी पराकाष्ठा विश्वविश्रुत ताजमहल के निर्माण में हुई, जो शाहजहाँ द्वारा निर्मित वास्तु-कृतियों के रत्नमुकुट का सब से प्रकाशमान रत्न है। इस महान् कलाकृति को एक मत से दुनिया का आठवाँ आश्चर्य कहकर पुकारा गया है और इसमें शक नहीं कि शिल्प विधान और रचना-कौशल के लिहाज से आज भी वह स्थापत्य क्षेत्र की चरम सिद्धि का प्रतीक है! इस विश्वविश्रुत कलास्मारक के विषय में संसार के बड़े-बड़े लेखकों, विचारकों और कलाकरों द्वारा इतना अधिक लिखा जा चुका है कि इन पंक्तियों के लेखक के लिए अपनी ओर से उक्त प्रशंसा-सामग्री में और विस्तार करना सर्वथा अनावश्यक है। पाठकों में से

जिन्हें इस संबंध में अधिक जानने की उत्कंठा हो, वे श्री० ई० बी० हैवेल लिखित प्रसिद्ध पुस्तिका "आगरा और ताज" पढ़कर लाभ उठा सकते हैं। यह पुस्तिका इस प्रसिद्ध इमारत-संबंधी ऐतिहासिक और कलापरक जानकारी की खदान-सी है (दे० पृ० १७०६ का चित्र एवं १७१२-१३ का विवरण)।

ताजमहल के अलावा शाहजहाँ द्वारा निर्मित अन्य इमारतों में दिल्ली की महान् जामा मसजिद, सुपरिचित 'लाल किला' एवं उसमें स्थित 'दीवाने-आम'; 'दीवाने-खास', 'नौबतखाना,' 'रंगमहल' तथा मोती मसजिद आदि अनेक स्मारक उल्लेखनीय है। ये सभी कृतियाँ उन्नत शिल्प-विधान, कलापूर्ण सुरुचि एवं अनोखी सादगी में भी उच्चकोटि की कलात्मकता की द्योतक हैं (दे० पु० १६८८, १६८९ तथा १६९३ के चित्र) औरंगजेब के शासनकाल में आकर मुगलकालीन वास्तुकला अस्त हो चली, जिसका कारण इस्लाम को छोड़कर अन्य सभी मतों के प्रति उसका घोर असहिष्णुता का भाव था। औरंगजेब ने जो कुछ किया, यही किया कि काशी (वाराणसी) के श्री विश्वेश्वर एवं मथुरा के केशवदेव के महान् हिन्दू मदिन्रों का विध्वंस करके और उन्हें संपूर्णतया गिरवाकर उन्हीं की नींव पर बिना किसी योजना के उसने कतिपय मसजिदें खड़ी करा दीं! उसने नई नींव पर जो एकमात्र मसजिद बनवाई, वह थी लाहौर की 'बादशाही मसजिद', परन्तु इस इमारत को भी उसने अपने खर्च से नहीं, वरन् अपने बड़े भाई दारा की जायदाद को हड़पकर बनवाया, जिसका वह कत्ल कर चुका था! आज औरंगजेब खुल्दाबाद नामक स्थान में शेख जैनुद्दीन के मकबरे के आँगन में गड़ा पड़ा है।

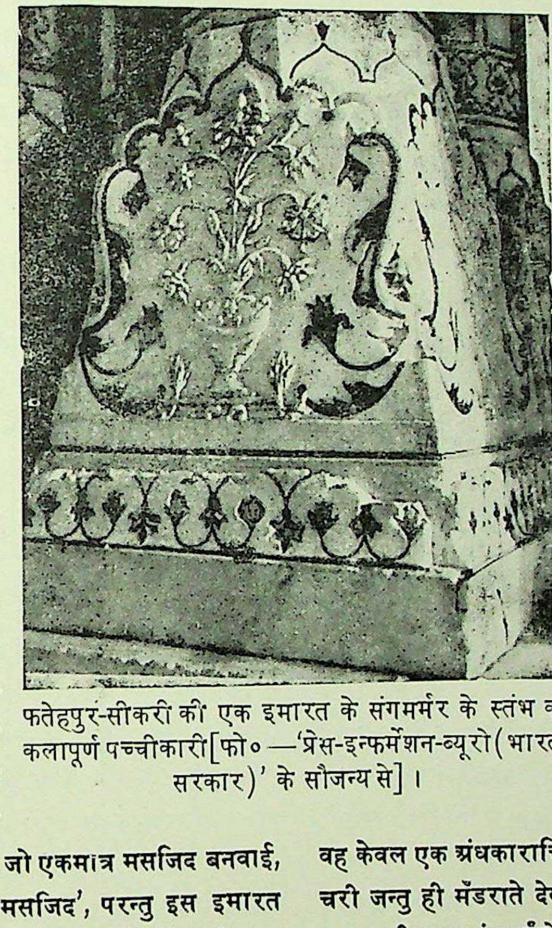

फतेहपुर-सीकरी की एक इमारत के संगमर्मर के स्तंभ की कलापूर्ण पच्चीकारी [फो० —'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

उत्तरकालीन स्थापत्य

औरंगजेब के जमाने में संगीत, चित्रकला आदि की भाँति वास्तुकला के क्षेत्र में भी उतार का जो क्रम शुरू हो चुका था, वह उसकी मृत्यु के बाद उत्तरोत्तर और भी अधिक ढलता चला गया। यद्यपि दिल्ली, लखनऊ, मैसूर, फैजाबाद आदि अस्तंगत मुस्लिम शक्ति के समसामयिक केन्द्रों में इन दिनों भी इमारतों का निर्माण जारी था, परन्तु उनमें मुगलकालीन उत्कृष्ट कला-प्रेरणा का आवेग भला कहाँ था? अधिक से अधिक ये कृतियाँ विविध शैलियों के अनुकरण के बेमेल मिश्रण की वर्ण संकर रचनाएँ-सी थीं, जिनमें प्रान्तीय नवाबों को ज्यों त्यों खुश करने का प्रयास किया गया था? उदाहरणार्थ, गोमतीतट पर स्थित लखनऊ की 'छतरमंजिल' नामक इमारत को ही लीजिए! भला, दिल्ली के लाल किले अथवा आगरा के किले में यमुना-तट पर स्थित मुगलों के राजप्रासादों से इसका क्या मुकाबला किया जाय? इसी तरह आगरे की मोती मसजिद की सादगी में निहित कलात्मक भव्यता का भला लखनऊ के छोटे इमामबाड़े की गिलट की चमक-दमक से क्या तुलना की जाय? अथवा फतेहपुर-सीकरी में निर्मित बादशाह के आवास-भवन की तुलना में अवध की राजधानी की मार्टिन की कोठी को कैसे रक्खा जाय?

सच तो यह है कि प्रतिभा का दीपक अब बुझ चुका था। पिछले दिनों के वे भव्य वास्तु-निर्माता अतीत के गर्भ में विलीन हो चुके थे और उनके बाद जो वातावरण बचा था, वह केवल एक अंधकाराच्छित वातावरण था, जिसमें निशाचरी जन्तु ही मँडराते देख पड़ते थे! अब अविनश्वर संगमरमर की जगह भंगुर ईंटों ने ले ली थी और पाषाण में निर्मित बारीक नक्काशियों तथा शिल्पालंकरणों के स्थान में पाश्चात्य यथार्थवादिता से सार्थकतारहित नकल की गई प्लास्टरमय सजावट अपना भौंडा सिर उठाए देख पड़ती थी। निःस्संदेह मुगलकालीन प्रतिभा का प्याला पेंदे तक खाली हो चुका था! आज तो जो कुछ किया जा सकता है, वह यही है कि सभी विद्याओं एवं कलाओं की जननी भारतमाता के बीते गौरव की याद में आह भरकर हम पीछे मुड़ एक निगाह भर डाल लें!

कला की पुरातन धाराएँ—(१३)

भारतीय कला :: चित्रकला

विगत अनेक प्रकरणों में भारतीय कला की साधना और सिद्धियों पर प्रकाश डालते समय अब तक हमने केवल वास्तु और मूर्तिकला के क्षेत्र में इस देश की महान् कमाई का ही विवेचन किया है। आइए, अब चित्रकला के क्षेत्र में भी अपनी प्राचीन उपलब्धियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाय, जिसके कि साक्षी अजन्ता और बाघ के गुहा-मंदिरों के डेढ़ हजार वर्ष पुराने अद्भुत भित्तिचित्र एवं राजपूत, मुगल, आदि मध्यकालीन शैलियों की कमनीय चित्रकारी है।

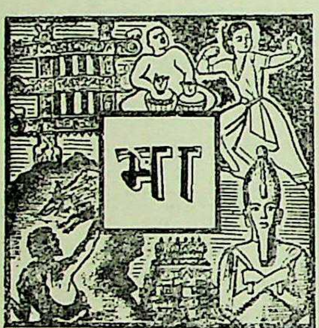

भारतीय चित्रकला के प्रागैतिहासिक काल का परिचय पिछले एक प्रकरण में हम दे चुके हैं। उसी सिलसिले में कैमूर-पर्वत-श्रेणी, रायगढ़, मिर्जापुर, विक्रमखोल आदि स्थानों की कंदराओं की दीवारों एवं शिलापृष्ठों पर अंकित आखेट के दृश्यों का भी विवेचन संक्षेप में किया जा चुका है, जिनमें सब से रोचक और महत्वपूर्ण भूतपूर्व सरगुजा राज्य की रामगढ़-पहाड़ियों की जोगीमारा-गुफाओं के चित्र हैं। इन गुहाचित्रों और स्पेन के कोगुल नामक स्थान में प्राप्त ऑरिग्नेशियन मानव के अति पुरातन-काल के शिलाचित्रों में अद्भुत सादृश्य है, यद्यपि जोगीमारा के चित्र बहुत बाद के हैं—वे आम तौर पर विद्वानों द्वारा प्रथम शती ईस्वी पूर्व के माने जाते हैं। कला के लिहाज से ये चित्र कोई ऊँचे दर्जे के नहीं हैं, अतः उनका जो भी महत्व है, वह ऐतिहासिक या तिथिविषयक ही है।

प्राचीन भारत में चित्रकला

यहाँ इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि भारत के प्राचीन वाङमय में चित्र कला एवं चित्रों के बारे में साहित्यिक उल्लेखों की भरमार है, जिससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि जोगीमारा के युग से कई शताब्दी पहले ही चित्रकला का पर्याप्त विकास हो चुका था और इस कला ने सौन्दर्याभिव्यक्ति के एक समुन्नत साधन का स्थान ग्रहण कर लिया था, यद्यपि इसके साक्षीस्वरूप किसी चित्रशैली के स्थूल या मूर्त प्रमाण अब तक हाथ नहीं लग पाए हैं, जिससे कि जोगीमारा के ज्यों-त्यों लकीरें खींचने के आदिम प्रयास एवं उसके शीघ्र ही बाद अजन्ता के भित्तिचित्रों की पूर्ण विकसित सिद्धहस्त कला के विशद चित्रपट के बीच की रहस्यपूर्ण खाई को पाटने में मदद मिल सके।

अत्यन्त प्राचीनसंस्कृत वाङमय और रामायण-महाभारतकालीन साहित्य में चित्रकारी—विशेषकर मानवाकृतियों के चित्रण—का स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है। उधर तीसरी शती ईस्वी पूर्व के पाली भाषा के विनयपिटक नामक प्रसिद्ध बौद्ध धर्मग्रन्थ में तो चित्रित मानवाकृतियों एवं कलात्मक अलंकरणों से सज्जित राजा पसेनद की विधिवत् चित्रगैलरियों के प्रचुर उल्लेख हैं। इसी प्रकार के उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में भी पाए जाते हैं, जो कि अपने मूल रूप में अति प्राचीन रचना स्वीकर की जाती है। भारतीय विचारधारा में आदिकाल से ठेठ १०वीं शती ई० तक चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला (स्थापत्य) इन तीनों ही को कला के एक ही विशद अखंड कलेवर के तीन अंगों जैसा माना जाता रहा है, जिनमें वास्तुकला को 'आधार' या उस कलेवर के मूलभूत ढाँचे जैसा एवं अन्य दोनों कलाओं को उक्त कलेवर की अलंकार-सामग्री अथवा 'आधेय' के रूप में स्वीकार किया जाता था। प्राचीनतम गुहामंदिरों में मूर्तियों

तथा शिल्पालंकरणों की काफी सजावट मिलती है और यह धारणा की जाती है कि ये सभी मूर्तियाँ मूलतः ऊपर से बड़ी सुन्दरता से रंगी हुई रही होंगी । बल्कि खुदाई में बहुतेरी ऐसी मूर्तियाँ निकली हैं, जिन पर ऊपर चढ़ाए गए रंगों के आसार भी मिले हैं । इससे यह अनुमान किया जाता है कि सुडौल बनाने के लिये अधिकतर मूर्तियों पर एक प्रकार के चूने के प्लास्टर की बहुत सूक्ष्म पर्त चढ़ाई जाती थी । यह पर्त सावधानी और बारीकी के साथ सँवारी जाती और तब आखिर में उस पर रंगों द्वारा पूर्ण रूप से चित्रण किया जाता था । यह विधि अनेक चीनी गुहा-मन्दिरों के शिल्प में भी प्रयुक्त हुई है, विशेषकर तुन-हुवाङ् नामक गुफाओं की रंग चढ़ाई गई मूर्तियों में, जो स्पष्टतः भारतीय आदर्शों से प्रेरित है—ये प्रतिमाएँ ऊपर से रंगकर मूर्तियों को चित्रित करने की भारतीय परम्परा के अनुकरण में ही बनाई गई हैं । वस्तुतः यह रिवाज सभी देशों के प्राचीन मूर्तिशिल्प में रहा होगा। उदाहरणार्थ, जो मूर्तियाँ आज हमें शुद्ध श्वेत संगमरमर में नग्न दिखाई देती हैं, वे किसी समय ऊपर से संपूर्णतया रँगी हुई रही होंगी !

गुफाओं या गुहा-मंदिरों के अतिरिक्त हमें आदि चित्रकारी के अन्य स्थूल प्रमाण जो नहीं मिलते, इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि ईंट-पत्थर द्वारा वास्तु-निर्माण का प्रचलन होने से पहले सभी इमारतें (राजप्रासाद आदि) प्रायः काष्ठ निर्मित हुआ करती थीं । इस प्रकार की शीघ्र नष्ट हो जाने वाली सामग्री से बनी होने के कारण ही ये रचनाएँ काल के प्रहार अथवा जानबूझकर किए गए अग्निकांड या तोड़फोड़ आदि के आगे न टिक सकीं ।

'तङ्का' नामक चित्रपट

पर्याप्त धन व्यय करके पाली-पोसी गई गुहा-मंदिरों एवं राजप्रासादों की इस कला की पहुँच बहुत सीमित होना स्वाभाविक ही था, कारण साधारण जनों में से केवल वे ही इससे लाभ उठा सकते थे, जो कि उक्त स्थानों तक पहुँचने का सामर्थ्य रखते थे । अन्य जनों के लिए इस माध्यम द्वारा चित्रमय गाथाओं में हिन्दू अथवा बौद्ध धर्म के उदात्त विचारों एवं भावनाओं का सार्वभौम संदेश ग्रहण करने की गुंजाइश कम थी । प्रश्न यह था कि इन धर्मकेन्द्रों, मंदिरों और उपासनालयों से दूर के क्षेत्रों, विशेषकर देशान्तरों में तत्कालीन व्यापार-मार्गों के रास्ते उन चित्रमालाओं में निहित धर्म का संदेश क्योंकर प्रसारित किया जाय ? इसके लिये निश्चय ही एक ऐसे चलते-फिरते

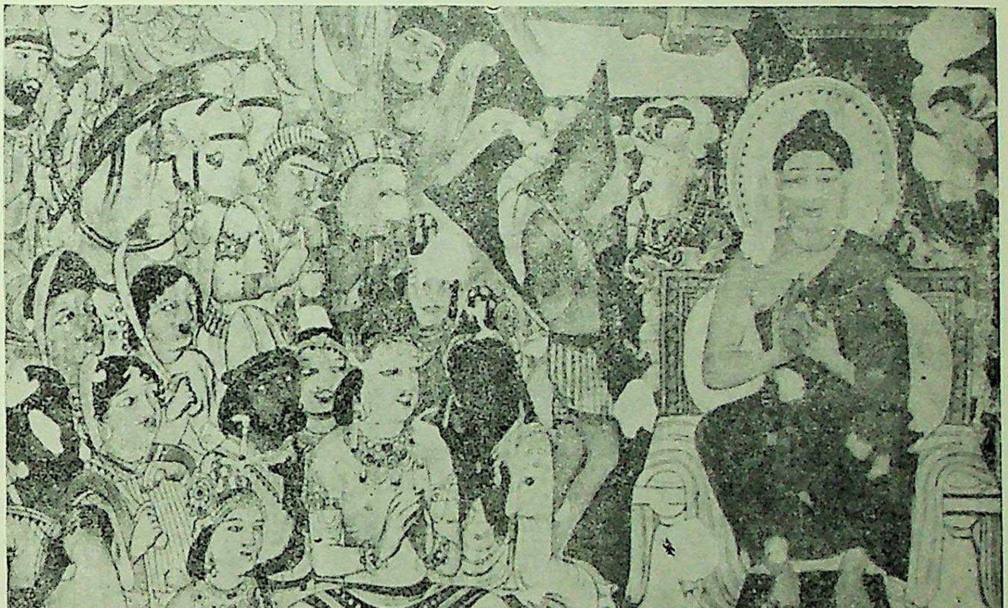

अजन्ता के कलामन्दिर की भव्य चित्रकारी का एक उदाहरण [फो०—'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]

साधन की आवश्यकता थी, जो इस धर्म-संदेश को दूर-दूर के लोगों के लाभार्थ सरलतापूर्वक उन तक पहुँचा सकें। इसी आवश्यकता की पूर्ति के प्रयत्न में 'तङ्का' नामक उन अनूठे चित्रपटों का आविष्कार हुआ, जो कि एक लकड़ी के रॉलर के आसपास लपेटे जा सकते थे और जरूरत पड़ने पर खोलकर प्रदर्शित किए जाते थे। इस प्रकार की चित्रावलियों के सर्वोत्तम उपलब्ध नमूने हमें तिब्बती 'तङ्का' में देखने को मिलते हैं। इन चित्रपटों के द्वारा भारतीय धर्म और कला का प्रभाव भारत की सीमाओं को लाँघकर सुदूर ऑक्सस नदी के काँठे तक तथा चीनी तुर्किस्तान, खोतान, सिक्याङ्, चीन एवं अंततोगत्वा जापान तक जा पहुँचा। बात यह थी कि यदि लोगों की पहुँच कला तक नहीं हो सकती थी, तो जरूरी था कि स्वयं कला ही लोगों के पास पहुँचे और उन्हें अपना संदेश देकर शिक्षित करे। जापान के 'काकिमोनो' और 'माकिमोनो' नामक चित्र (जो कि खड़े अथवा आड़े दोनों प्रकार से टाँगे जाते हैं) आज भी प्राचीन भारतीय 'तङ्का' की परंपरा के जीवित साक्षी हैं। यह भी कोई कम दिलचस्प बात नहीं कि अजंता आदि के भित्ति-चित्रों एवं तङ्का की चित्रकारी की विधि बिल्कुल एक जैसी है—दोनों में एक तरह के प्लास्टर पर अपारदर्शी रंगों द्वारा चित्रण करके अन्त में पालिश किया गया है। कागज का आविष्कार होने पर यह चित्रण कपड़े के बदले कागज पर किया जाने लगा। इसकी साक्षी मध्यकालीन जैन पांडुलिपियाँ हैं, जो अजंता और राजपूत चित्रकारी के बीच की खाई को पाटनेवाले सेतु जैसी हैं। जबकि इन पांडुलिपियों के चित्र कागज पर हैं, वहाँ मध्यकाल की अन्य चित्रकारी, विशेष करके पाल-युग की सचित्र पांडुलिपियाँ, ताड़पत्र अथवा लकड़ी की पतली तख्तियों या पटरियों पर भी मिलती है। ये १३वीं शताब्दी के आसपास की मानी जाती हैं।

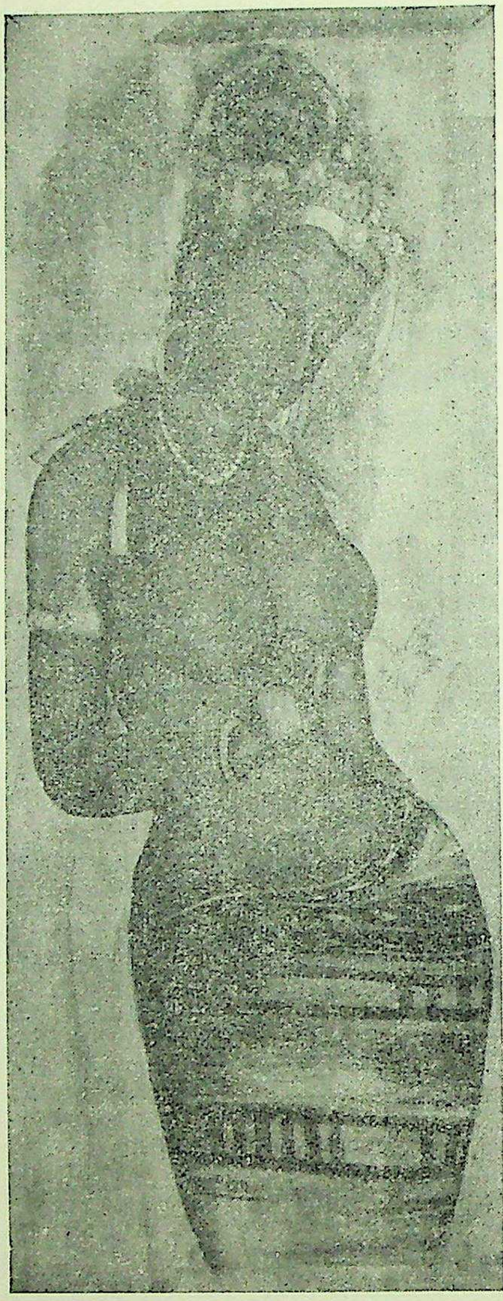
अजन्ता की गुफा सं० १ में विद्यमान बुद्ध-पत्नी यशोधरा का कलापूर्ण चित्र [फो०——'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

अजन्ता के भित्तिचित्र

पिछले दिनों भूतपूर्व निजाम राज्य में सम्मिलित एवं इन दिनों नवनिर्मित महाराष्ट्र राज्य के अन्तर्गत स्थित अजंता की गुफाएँ किसी समय दुर्गम मानी जाती थीं——वहाँ हर कोई व्यक्ति नहीं पहुँच पाता था। परन्तु आज तो जो कोई भी चाहे वह मध्य रेलवे के मनमाड़ जंकशन से होते हुए औरंगाबाद तक रेल द्वारा पहुंचकर एवं तदनंतर बारहों मास उपलब्ध उत्तम मोटरबसों की सुविधा से लाभ उठाकर बड़ी आसानी से 'अजंता' और 'एलोरा' दोनों ही जगहों की यात्रा कर सकता है। औरंगाबाद में यात्रियों के ठहरने के लिये बड़े सुखप्रद होटल या विश्रामालय भी बने हुए हैं। यहाँ एक दिलचस्प बात हम आपको बता दें! यद्यपि अजंता का नाम आज हमारे लिए घर-घर की वस्तु बन गया है, परन्तु यह बात कदाचित् ही किसी को ज्ञात होगी कि यह नाम इस स्थान को आखिर मिला कैसे है! आपको यह जानकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहेगा कि 'अजंता' कोई पुराना भारतीय शब्द नहीं, बल्कि वह है अंग्रेजी के 'एजेंट' शब्द का अपभ्रंश! बात यों हुई कि पिछले दिनों सभी बड़े देशी राज्यों की भाँति हैदराबाद में भी गवर्नर-जनरल का एक ब्रिटिश 'एजेंट' रहा करता था। जहाँ ये गुफाएँ बनी हुई हैं, उसके समीप ही उक्त एजेंट का एक रेस्ट-हाउस या

शिकारगाह-सा बनाया गया था। बस, उसी के नाम पर यह स्थान 'एजेन्ट' से 'एजेंटा' कहलाने लगा और तब बदलते-बदलते वह 'अजंता' हो गया !

यह सोचकर अचंभा होता है कि भारतीय कला का यह वैभव-मंदिर अनेक शताब्दियों तक विस्मृति के गर्त में विलीन होकर लोक-दृष्टि से एकदम छिप-सा गया, जिसके फलस्वरूप प्रथम शताब्दी ई० से लेकर ठेठ उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभकाल तक भारतीय इतिहास के ग्रन्थों में कहीं भी उसका उल्लेख तक नहीं मिलता ! आज से सौ सवा सौ साल पहले तत्कालीन अंग्रेज शासकों ने ही पहलेपहल उसका पता पाया था ! १८७९ ई० के लगभग पहलेपहल यह बात सामने आई थी कि इस स्थान की २९ गुफाओं में से कोई १६ गुफाओं की छतों और दीवारों पर ऐसे उत्कृष्ट कोटि के चित्र बने हैं, जो कि भारत में अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिल सकते ! तब उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशाब्द में श्री ग्रिफिथ्स एवं उनके सहयोगियों ने मिलकर पहली बार इन भित्तिचित्रों की प्रतिलिपियाँ तैयार कीं, जो १८९७ ई० में तत्कालीन भारत-मंत्री (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया) द्वारा दो बृहदाकार जिल्दों में प्रकाशित की गईं। इन अमूल्य भित्तिचित्रों को, जो कि लगभग अठारह सौ वर्षों से काल के दुष्प्रभाव का सफलतापूर्वक सामना करते हुए सुरक्षित बने रहे थे, सदा के लिए सुरक्षित बना देने के विवेकहीन उत्साह के झोंके में दुर्भाग्य से वार्निश से पोत दिया गया, जिसका नतीजा यह हुआ कि इन मूल्यवान् चित्रों के रंग की पर्त के चिटककर निकल पड़ने की क्रिया और भी तीव्र हो गई और फलतः १९१० ई० तक उक्त २९ गुफाओं में से केवल ६ गुफाओं में ही मूल चित्र बचे रह सके--शेष सब के सब सूर्णतया नष्ट हो गए ! तब १९१३-१४ ई० में लेडी हेरिंघम के नेतृत्व में इन बचे-बचाए चित्रों की सर्व श्री नंदलाल बोस, असित कुमार हल्दार, समरेन्द्रनाथ गुप्त एवं के० वेंकटप्पा द्वारा पुनः प्रतिलिपियाँ तैयार की गईं, जो कि उक्त महिला के नाम से १९१५ ई० में ऑक्सफर्ड-यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित की गईं। इसके बाद तत्कालीन हैदराबाद-राज्य के पुरातत्व-विभाग के संचालक श्री गुलाम याजदानी द्वारा तीन जिल्दों में इन चित्रों की पुनः एक सीरीज प्रकाशित की गई, जिसकी प्रमुख विशेषता यह थी कि उक्त चित्रों के रंगीन फोटो छापे गए थे।

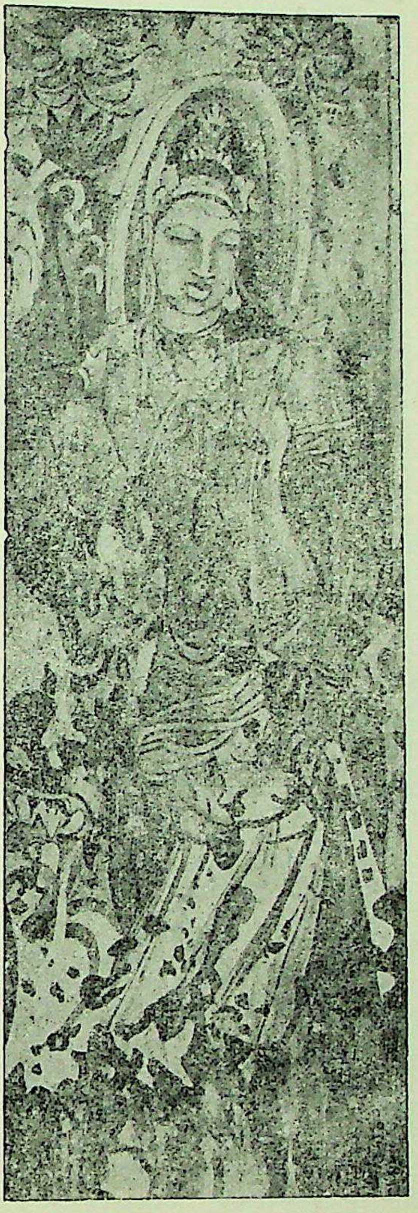

बाघ की गुफाओं की चित्रकारी का एक नमूना [फो०—'प्रेस-इन्फर्शेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

यद्यपि मनुष्यकृत बेवकूफियों और असावधानियों के फलस्वरूप अजन्ता के इन अनूठे भित्तिचित्रों का अधिकांश दीवारों पर से सदा के लिये गायब हो चुका है, तथापि इससे यह नहीं सोच लेना चाहिए कि जो चित्र आज भी अवशिष्ट हैं, वे संख्या में कम हैं या नगण्य हैं। वस्तुतः अजन्ता की इन गुहाओं के कोई-कोई चित्रित कक्ष ६० फीट लम्बे हैं और उतने ही चौड़े हैं और उनमें से सभी की दीवारों, छतों और खंभों की एक-एक इंच जगह जी भरकर इस चित्रकारी से अलंकृत की गई है। इन भित्तिचित्रों की भव्यता का अनुमान केवल उनकी प्रकाशित प्रतिलिपियों को देखकर करना सर्वथा असंभव है। श्री मुकुलचन्द्र दे ने 'बाघ और अजन्ता की तीर्थयात्रा' नामक अपनी पुस्तक में ठीक ही लिखा है कि "जिस किसी ने इन चित्रों को स्वयं अपनी आँखों से नहीं देखा हो, उसके लिए यह अनुभव करना संभव नहीं है कि ये भित्तिचित्र कितने ऊँचे दर्जे की और कितनी ठोस कृतियां हैं एवं अपनी सादगी ही में उत्कृष्ट धर्मानुराग की भावना में सराबोर कितनी अद्‌भुत चित्रकारी यह है। !" यह समझ पाना कठिन है कि इतने कम रोशनीवाले कंदरालयों में यह चित्रकारी आखिर किस प्रकार की गई होगी !

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इन भित्तिचित्रों का सर्वोत्तम विवरण सम्भवतया सब से लेडी हैरिंघम द्वारा "अजन्ता के भित्तिचित्र" नामक अपने प्रकाशन में दिया गया है। उन्होंने लिखा है कि "इन चित्रों की रेखाएँ अन्तिम रूप में दृढ़ता के भाव से युक्त होने के साथ-साथ एक अनूठे उतार-चढ़ाव एवं यथार्थवादिता की भावना से ओतप्रोत हैं--वे यदाकदा चीनी और जापानी सुलेखनकला की घुमावदार रेखाओं का मुकाबला करती-सी जान पड़ती हैं। इन चित्रों का रचना-विधान अधिकतर मध्यकालीन इटैलियन चित्रकारी का-सा है। मुद्रा और भावभंगी के निदर्शन में इनके निर्माता सिद्धहस्त थे। अकेले हाथों की रचना एवं भावभंगी और मुद्राओं के विविध प्रकार के संबंध में उनके अतुलित ज्ञान को देखकर ही हमें आश्चर्यान्वित रह जाना पड़ता है! इनमें अनेक जातियों के लोगों की झाँकी चित्रित है। उनकी शक्ल-सूरतें बहुत बारीकी से अध्ययन करके उतारी गई हैं। निश्चय ही यह चित्रण उच्च कोटि की सांस्कृतिक सिद्धि का द्योतक है। कुछ दिनों में विविध प्रकार की गतियों का आभास कराने का अनूठा प्रयास किया गया है। इसी प्रकार विविधता और मनोरंजकता के नाते कुछ रंग-योजनाएँ भी अनूठी हैं। इस चित्रकारी में उदात्त से लेकर वीभत्स एवं कमनीय से लेकर एकदम गँवारूपन तक के सभी प्रकार के स्तर देखने को मिलते हैं। तथापि ये चित्र अधिकांश में एक अति प्रभावशाली एवं आवेगपूर्ण शक्ति और विशिष्ट प्रकार के शिल्पकौशल से अभिभूत हैं, जिसकी अभिव्यक्ति निम्नतर प्रकार के माध्यम में प्रस्तुत इनकी प्रतिलिपियों द्वारा कर पाना सर्वथा कठिन है।"

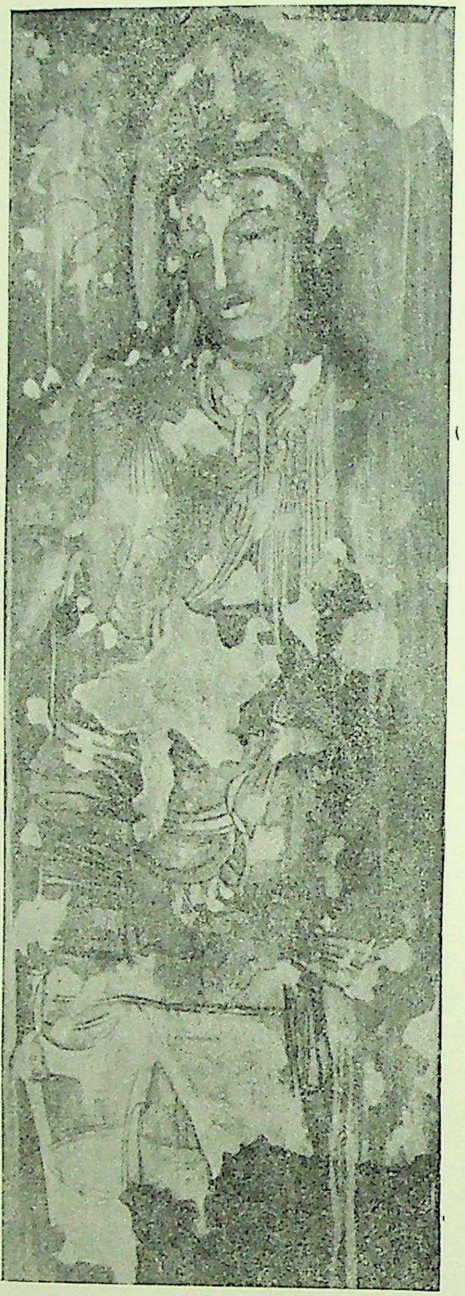
बाघ के भित्तिचित्रों का अन्य एक उत्तम नमूना
[फो० —'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

अजन्ता के ये भित्तिचित्र कैसे बनाए गए होंगे, इसकी जानकारी डॉ० कुमारस्वामी के कथन से हमें मिलती है। उन्होंने लिखा है कि प्रारंभ में शिलापृष्ठ की कड़ी जलशोषक सतह पर धान की भूसी से मिश्रत मिट्टी, गोबर और महीन शिलाचूर्ण की ३ से २० मिलीमीटर मोटी एक पर्त बिछाई गई। तदनंतर उस **पर** सफेद चूने के पलस्तर का एक पतला लेप चढ़ाया गया, जो कि चित्रण के दौरान में रंग लगाते समय गीला रक्खा गया और बाद में किंचित् तपाकर सुखा लिया गया! यह ध्यान में रखना चाहिए कि उन दिनों की तमाम मूर्तियाँ और उत्तूंकित शिल्प की सतह पर इसी तरह के पलस्तर का महीन लेप और रंग चढ़ा रहता था। सब से नीचे की तह की चित्रकारी श्वेत पलस्तर की सतह पर लाल रेखाओं द्वारा की गई है। तदनन्तर उस पर हरी मिट्टी की एक अत्यन्त सूक्ष्म इकरंगी पर्त चढ़ाई गई है, जिसमें से नीचे का लाल रंग कहीं-कहीं झलकता है। अंत में पृष्ठभूमि की मुख्य रंग की पर्त है, जिस पर कत्थई या काले रंग में रूपरेखाएँ पुनः दोहराई गई हैं। चित्रकारी में यथास्थान गोलाई का भाव लाने अथवा उसे उत्तूंकित करने के उद्देश्य से इन रेखाओं में कुछ-कुछ छाया का भी प्रयोग हुआ है। इन चित्रों में अभिव्यक्त तूलिका के स्वच्छंद हाथ इस बात को स्पष्टतया जाहिर करते हैं कि यह समूचा कार्य मुक्त चित्रकारी का काम था और यदि सहायतार्थ उसमें यदाकदा स्टैंसिलस आदि भी प्रयुक्त हुए होंगे, तो उनके द्वारा खींची गई आकृतियाँ मुक्त भाव से ही चित्रित की गई होंगी।

कालक्रमानुसार अजन्ता की चित्रित कन्दराओं को विशेषज्ञों ने निम्न तीन वर्गों में बाँटा है:--

(१) सं० ९ और १० की गुफाएँ--ये ही सब से प्राचीन गुफाएँ हैं, जिनकी तिथि १०० ईस्वी के लगभग कूती गई है। सं० १० की गुफा के स्तंभ बाद के--संभवतः ३५० ई० या इससे भी पश्चाद्काल के--कहे जाते हैं।

(२) सं० १६ और १७ की गुफाएँ--इनकी तिथि ५०० ई० के आसपास मानी गई है।

(३) सं० १ और २ की गुफाएँ--इनका समय ६२६ से ६२८ ई० के लगभग माना गया है। इनकी चित्रकारी शतप्रतिशत बौद्ध धर्म से संबंधित है, सिवाय इसके कि कुछ दृश्य समसामयिक ऐतिहासिक घटनाओं के भी हैं, जैसे कि सम्राट् पुलकेशिन् द्वितीय के राजदरबार में ईरानी राजदूत के आगमन की झाँकी। इन चित्रों में अधिकतर जातक कथाओं में वर्णित बुद्ध के पूर्वजन्म के अवतारों से संबंधित दृश्य अंकित हैं, जैसे महाहंस, मातृपोषक, रुरु, छद्दन्त, शिवि, विश्वन्तर और नालगिरि आदि जातकों की गाथाएं। इसके अतिरिक्त विविध मुद्राओं और भावों में बुद्ध की छवि एवं कर्मचक्र, अभिषेक, महाभिनिष्क्रमण, कपिलवस्तु में पुनरागमन आदि-आदि विषयों का भी चित्रण यहाँ मिलता है।

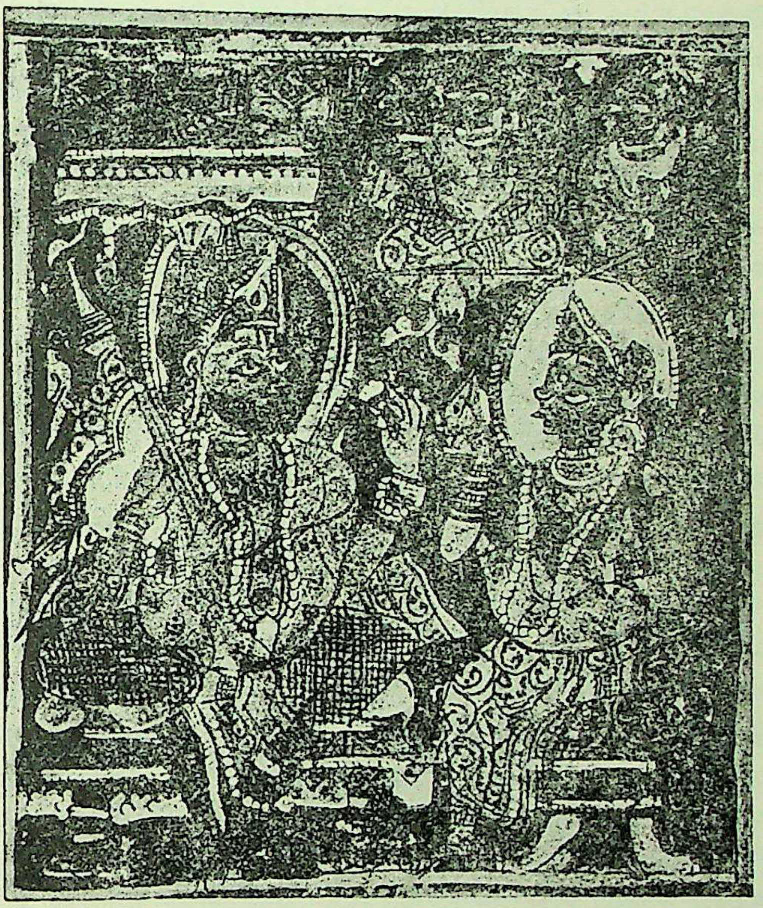
जैन कल्पसूत्रों की मध्यकालीन पांडुलिपियों के एक चित्र का नमूना [फो०—'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

बाघ-विहार, एलोरा और सीत्तानवासल के भित्तिचित्र

अजन्ता के भित्तिचित्रों से घनिष्ट रूप से मिलती-जुलती बाघ नामक स्थान में स्थित गुहा-विहार की चित्रकारी है, जो कि अजन्ता की भाँति दीवारों पर की गई है। ये भित्तिचित्र ५०० ई० के आसपास के माने जाते हैं। इन भित्तिचित्रों में से अधिकांश यद्यपि बहुत बुरी तरह से नष्ट-भ्रष्ट हो चुके हैं, तथापि उनके जो भी हिस्से बचे हैं, उन्हीं से उनकी सुन्दरता का अनुमान किया जा सकता है। बाघ अजन्ता से लगभग ३७५ किलोमीटर उत्तर में स्थित है और आवागमन के साधनों की कमी के कारण वहाँ तक पहुँचना उतना सुविधामय नहीं है। यहाँ के चित्र-समूहों में से जो भी काल के क्रूर हाथों से आज बचे हुए हैं, उनमें से मुख्य हैं एक नर्तक-मंडली की झाँकी; सेना द्वारा किसी किले के घेरे के दृश्य, तथा किसी विजेता सम्राट् द्वारा अपनी राजधानी में विजय प्रवेश आदि के चित्र। इन चित्रों की शैली और विधि वैसी ही है जैसी कि अजंता में प्रयुक्त हुई है। परन्तु आकृति और रंग पर कलाकार की तूलिका का जैसा प्रभुत्व अजन्ता के कलाकारों को प्राप्त था, वैसा यहाँ देखने को नहीं मिलता--यहाँ का काम उससे कुछ घटिया ही है।

प्राचीन भित्तिचित्रों के कुछ अवशेष एलोरा में एवं तांजौर के समीप पुडुकोट्टाइ के सीत्तानवासल नामक स्थान में भी मिले हैं, जिनकी खोज जुवो-दुब्रेल ने की थी। उक्त विद्वान ने उन्हें ७वीं शती ई० का माना है। एलोरा की चित्रकारी अजन्ता और बाघ के भित्तिचित्रों से बहुत घटिया है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उसका काफी महत्व है। यह इसलिए है कि उभरी हुई आँखों एवं नुकीली उन्नत नासिकाओं से युक्त बाद के जैन कल्पसूत्रों के चित्र (१३वीं शती ई०) एलोरा के आठवीं सदी के इन भित्तिचित्रों में दिग्दर्शित इसी प्रकार की आकृतियों का स्मरण कराते हैं। सीत्तानवासल की भित्तिचित्रकारी अजन्ता और बाघ की गुहा-चित्रकारी जैसी प्रख्यात तो नहीं,परन्तु यहाँ एक नर्तकी अप्सरा के चित्रण में जैसी सिद्धहस्त कारीगरी का प्रदर्शन हुआ है, उसे देखते हुए इस चित्रकारी को प्रथम श्रेणी की भित्तिचित्रकारी में रखा जा सकता है।

पाल-युग की बौद्ध पांडुलिपियाँ

आठवीं शती ई० के बाद चित्रकला के लिहाज से भारतीय कला-साधना का एक प्रकार से अति अनुर्वर युग सामने आता है । इस युग की एकमात्र उल्लेखनीय सिद्धि जो हमें मिलती है, वह है पाल-युग की 'अष्टसाहस्रिक प्रज्ञापारमिता' तथा 'पंच-रक्षा' नामक ताड़पत्रों पर लिखित वे प्रसिद्ध सचित्र पांडुलिपियाँ, जो कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं । इनका समय ११वीं शती ई० का पूर्वार्द्ध निर्धारित किया गया है । इसी तरह की अन्य कुछ ताड़पत्रीय सचित्र पांडुलिपियों के अंश लोगों के खानगी संग्रहों में भी हैं । इन पांडुलिपियों के सभी चित्र बौद्ध देवी-देवताओं अथवा स्वयं बुद्ध के जीवन से संबंधित हैं । सामान्यता उनका रूप तांत्रिक महायान का-सा है, परन्तु वह उतना स्पष्ट नहीं है, जितना कि उसी ढंग की नेपाली चित्रकारी में देखने को मिलता है । विद्वानों ने अटकल लगाई है कि वस्तुतः ये चित्र कतिपय परंपरागत मूल चित्रों की अनुकृति मात्र हैं । परन्तु जब तक कि ऐसे मूल चित्रों का पता न लग पाए, तब तक इस प्रकार की अटकलें लगाने में कोई तुक नहीं है । जो भी हो, यह चित्रकारी सँजे हुए कलाकारों की देन है, इसमें संदेह नहीं । उससे सूक्ष्म भावानुभूति एवं दक्षता का भाव टपकता है ।

मध्यकालीन गुजराती जैन पांडुलिपियाँ

बंगाल और नेपाल के मध्यकालीन चित्रों से मिलती-जुलती इसी काल की गुजराती चित्रावली है, जो कि जैन पांडुलिपियों के रूप में उपलब्ध है । इन सचित्र पांडुलिपियों में मुख्यतः जैन कल्पसूत्रों का चित्रण है, जो महावीर और अन्य तीर्थंकरों की जीवनगाथा का विवरण प्रस्तुत करते हैं । यह विवरण बारंबार दोहराया गया है । कल्पसूत्रों की पांडुलिपियों में ताड़पत्र पर लिखित केवल एक ही ग्रंथ उपलब्ध है, शेष सभी अनिवार्यतः कागज पर अंकित हैं । इनकी चित्रकारी अत्यधिक दिखावटी और प्रायः चटकीले रंगों में की गई है । इन पांडुलिपियों के चित्रों में मानवाकृति के प्रत्यांकन में कुछ अनूठी विशिष्टताएँ देखने को मिलती हैं । इनमें सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करनेवाली बात चेहरे के तीन-चौथाई से अधिक भाग को पार्श्ववर्ती दिखाने का ढंग है, जिससे आँखें अस्वाभाविक रूप से अधिक आगे की ओर बढ़ी हुई और नुकीली लंबी नासिका कपोलों की रूपरेखा से कहीं आगे की ओर निकली हुई दर्शायी गई हैं । उधर छाती की चौड़ाई इतनी बढ़ा-चढ़ाकर दिखाई गई है कि प्रायः स्त्री और पुरुष की आकृति में भेद कर पाना कठिन है ।

चित्रकला के लिहाज से सर्वथा अंधकारपूर्ण शताब्दियाँ

उपर्युक्त छुटपुट नमूनों को छोड़कर ७वीं से १५वीं शती ई० के बीच की दीर्घ कालावधि में, जहाँ तक कि चित्रकला का संबंध है, हमें कलात्मक हलचल के कोई आसार देखने को नहीं मिलते । इस समय तक अपनी जन्मभूमि में बौद्धमत का पूर्णतया अवसान हो चुका था और एक सर्जनात्मक प्रेरक शक्ति के रूप में उसकी गतिविधि सर्वथा समाप्त हो चुकी थी । इस दीर्घ कालावधि में भारत का राजनीतिक वातावरण लगातार अस्थिर बना रहा––यही इस युग में चित्रकला के अभाव का संभवतः प्रमुख कारण रहा होगा । इस युग के उत्तरार्द्धकाल में आकर भारत पर मुस्लिम आक्रमणों का सशक्त और वेगपूर्ण दौरदौरा छा गया । ऐसी स्थिति में चित्रकला के पुष्पित-पल्लवित होने की कोई गुंजाइश नहीं हो सकती थी । हाँ, बौद्ध धर्म के अवसान के बाद हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान के फलस्वरूप मूर्तिशिल्प के क्षेत्र में इस युग ने अवश्य ही अनूठी सिद्धियाँ प्राप्त कीं । इसकी प्रेरणा नवोत्थित हिन्दू धर्म से ही मिली थी । ये सिद्धियां हमें ऐलिफैन्टा, एलोरा और जावा के बोरोबोदुर जैसे अद्भुत कलामंदिरों की सृष्टि में देखने को मिलती हैं, जहाँ पाषाण में शिल्प का सर्वोत्कृष्ट चमत्कार साकार हुआ है । यह माना जा सकता है कि इस काल की जो भी चित्रकारी रही होगी, उसका अधिकांश या तो जलवायु के प्रकोप अथवा विदेशी आक्रान्ताओं की ध्वंसलीला के फलस्वरूप नष्ट-भ्रष्ट हो गया होगा । लेकिन इस युक्ति से इस युग में चित्रकला के सर्वथा अभाव की बात का पूर्ण समाधान नहीं होता ।

मध्य एशियाई बौद्ध कला-सामग्री

कुछ विद्वानों की धारणा है कि इस युग में आकर जब चित्रकारों के लिए भारत में अपने कौशल के प्रदर्शन की कोई गुंजाइश न रही, तो उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र स्थानान्तरित करके हिमालय के उस पार के तिब्बत एवं पूर्वीय तुर्किस्तान के उन प्रदेशों में जा जमाया, जहाँ बौद्ध मत अभी भी एक जीवित शक्ति बना हुआ था । यह याद रखना चाहिए कि इन प्रदेशों पर गोबी की मरुभूमि अभी अपना विनाशक पंजा नहीं फैला पाई थी और खोतान तथा काशगर के आसपास की भूमि अभी काफी उपजाऊ तथा सुखद बनी हुई थी । साथ ही अरबवालों की सैन्यशक्तिपोषित धर्म-विस्तार की लालसा

ने भी अपनी निगाह अभी इस क्षेत्र पर नहीं डाली थी। फलस्वरूप वहाँ के राजवंश अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण जीवन बिता रहे थे। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता सर ऑरेल स्टाइन एवं प्रो० फॉन लेकाक ने मध्यकालीन भारतीय कला के साथ सीधा संबंध जोड़नेवाली प्रचुर कला-सामग्री इस क्षेत्र से खुदाई में प्राप्त की है। इस मूल्यवान् सामग्री का अधिकांश भित्तिचित्रों, पांडुलिपियों एवं रेशमी तङ्काओं के रूप में उपलब्ध है, जिनमें से कुछ इस समय नई दिल्ली के 'मध्य एशियाई पुरातत्त्व-संग्रहालय' में सुरक्षित हैं। ये मध्य एशियाई भित्तिचित्र बहुत-कुछ अजन्ता के गुहाचित्रों से मिलते-जुलते हैं, यद्यपि इनकी तिथि अजन्ता के सब से बाद के चित्रों से भी काफी पश्चाद्कालीन है। लक्षणों में ये चित्र सर्वथा बौद्ध हैं और रेखांकन में भी स्पष्टतया भारतीय कला-संप्रदाय के हैं, यद्यपि उनमें किंचित् चीनी प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इन भित्तिचित्रों का श्रेष्ठतम उदाहरण दन्दान-उइलिक से प्राप्त आठवीं शती ई० का वह चित्र है, जिसमें शिशुसहित एक अप्सरा-राजकन्या दिखाई गई है, जिसके पास ही उपदेश देते हुए अर्हत् दिग्दर्शित हैं (यह चित्र सर ऑरेल स्टाइन के स्मरणीय ग्रन्थ 'प्राचीन खोतान' में मुद्रित है)। विशेषज्ञों का कथन है कि यह कृति अजन्ता ही के चित्रकारों की तूलिका का प्रसाद हो सकती है, कारण अजन्ता के चित्रों से इसका आश्चर्यजनक सादृश्य है।

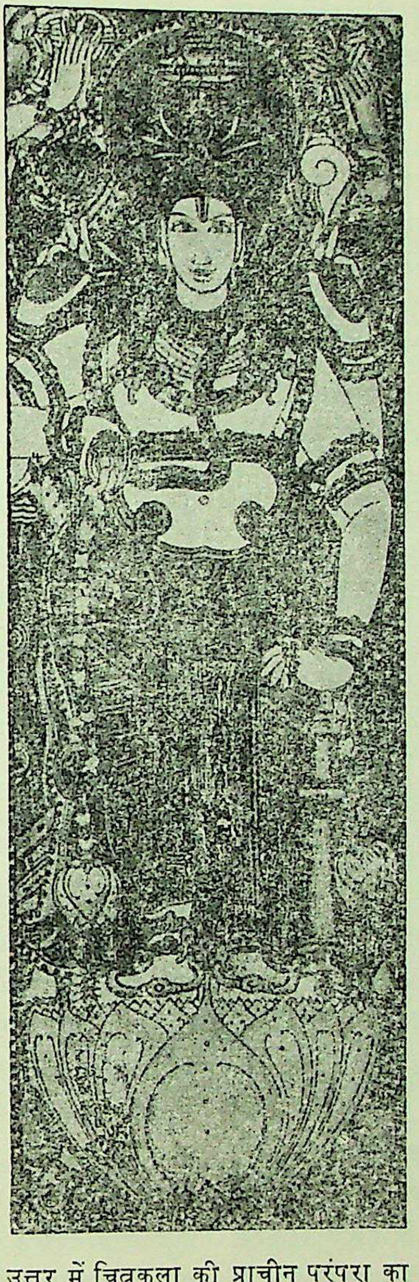

उत्तर में चित्रकला की प्राचीन परंपरा का अवसान हो जाने पर भी दक्षिण में उसका तारतम्य जारी रहा, जिसकी साक्षी १६वीं शती ई० की यह छवि है [फो०—'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)']।

उधर प्रो० फॉन लेकाक ने च्यू-त्जू नामक क्षेत्र से अनेक चित्रित रेशमी पट खोज निकाले हैं, जो कि निस्संदिग्ध रूप से तिब्बत के 'तङ्का' नामक चित्रपटों के प्रारूप हैं। च्यू-त्जू से प्राप्त उक्त चित्रपट आठवीं शती ई० और उस के बाद के हैं तथा देखने में बौद्ध चित्रकारी के इस विशेष अंग के विकास के प्रारंभिक स्तर की झाँकी प्रस्तुत करते हैं। ११ वीं शती ई० के एक चीनी समीक्षक टँङ-चुन का कथन है कि "बंगाल के नालन्दा नामक स्थान में भिक्षुगण पाश्चात्य कपड़े पर बुद्ध और बोधिसत्वों के चित्र बनाया करते थे।" इस कथन से इतिहासकारों की यह धारणा दृढ़ हुई है कि १०वीं शती ई० से पूर्व के युग में बंगाल और तिब्बत के बीच घनिष्ट संपर्क रहा होगा।

अजन्ता की चित्रकला-परंपरा का तारतम्य तिब्बत के मन्दिरों और मठों में जारी रहा, जिनकी दीवारें बौद्ध धर्म के विविध पहलुओं का दिग्दर्शन करानेवाले भित्तिचित्रों से सुसज्जित हैं। ये भित्तिचित्र पश्चाद्कालीन होने पर भी स्पष्टतः (अजन्ता आदि की) प्राचीनकला-परंपराकी याद दिलाते हैं, यद्यपि उन पर कुछ-कुछ चीनी कला की भी छाया दिखाई पड़ती है। यह सच है कि काल के प्रभाव से तिब्बती कला किसी अंश तक रूपान्तरित होकर विशिष्ट रूढ़ियों में निबद्ध हो गई फिर भी बिना हिचक के वह अभी भी मूल भारतीय बौद्ध कला-परंपरा की सीधी वंशज मानी जा सकती है।

चित्रकला के क्षितिज पर शताब्दियों तक छाई रहने वाली ऊपर उल्लिखित धुंध जब कुछ-कुछ साफ होने लगती है, तो हम देखते हैं कि इस युग तक आते-आते बौद्ध चित्रकारी के परम्परागत रूप और उसकी कार्यविधि में सर्वथा परिवर्तन हो चुका है। अब भव्य मूर्तिशिल्प एवं उत्कृष्ट कोटि की चित्रकारी से सज्जित विशद सभामंडपों से युक्त गुहामन्दिर विदा हो चले और धर्म तथा कला के महान् प्रेरणा-स्रोत बौद्ध मत की स्रोतस्विनी भी सदा के लिए इस भूमि पर से उठ गई। उसके बजाय अनेक रूपों में व्यक्त शिव, विष्णु, दुर्गा जैसे देवी-देवताओं एवं राम-कृष्ण जैसे मानवीय अवतारों की भव्य देव-मंडली से अलंकृत हिन्दू धर्म का सितारा खस्वस्तिक पर

दमकते दिखाई देने लगा। अब बुद्ध, बोद्धिसत्व, उनकी शक्तियाँ, जिन्, तीर्थंकर आदि का बोलबाला समाप्त हो गया। मन्दिर भी सिमटकर मानो आकार में लघुतर हो गए और यदि वे कहीं अति सुडौल भी बने रहे, तो उन की दीवारों पर इतनी खाली जगह बाकी नहीं रही कि उन पर भित्तिचित्र अंकित किए जा सकें! सच तो यह था कि चित्रकला अब विशेष रूप से धार्मिक दृश्यों, कथानकों, आख्यानों, उपदेशों, आदि के प्रसार-प्रचार का वाहन न रहकर लौकिक उपयोग की चीज बन गई। अब वह सांप्रदायिक या प्रचारात्मक जातीय वस्तु न रहकर एक वैयक्तिक खानगी वस्तु बन गई। अब भित्तिचित्र जन-जन के लिए निर्मित देवालयों को अलंकृत करने के बजाय राजपुरुषों के प्रासादों को सुसज्जित करने के लिए प्रयुक्त किए जाने लगे। ये स्थान सर्वसाधारण की पहुँच से सर्वथा परे की वस्तु थे। वस्तुतः अब सब-कुछ सिमटकर ऐसा संकुचित हो गया था, मानो हम दूरदर्शक की उल्टी ओर से सारा दृश्य देख रहे हों! जो कभी भीमाकार रहे, वही अब बन गए बौने, और फलतः किसी समय की विशद भित्तिचित्रकारी का स्थान अब अत्यन्त लघु आकार की तसवीरों ने ले लिया!

राजपूत शैली के चित्र

गुजराती पांडुलिपियों के चित्रों से लेकर राजपूत शैली की प्रारंभिक चित्रकारी की ओर भारतीय चित्रकला ने किस प्रकार कदम बढ़ाया, इस युगांतकारी घटना पर प्रकाश डालनेवाली कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। वस्तुतः राजपूत शैली के जो भी चित्र अब तक मिले हैं, वे सब के सब मुगल शैली के चित्रों की समसामयिक कृतियाँ हैं और यह मुगल चित्रकारी स्वयं ईरान की चित्रकला के साथ राजपूत शैली का सुखद सम्मिश्रण मात्र थी। गुजराती पांडुलिपियों और राजपूत मुगल चित्रकारी के बीच की कालावधि में उत्तर भारतीय या राजपूत चित्रकला का रूप ठीक-ठीक क्या रहा होगा, यह अभी भी रहस्य के परदे में छिपा हुआ है। डॉ० कुमार स्वामी ने कृष्ण-लीला विषयक एक छवि एवं रागमाला-संबंधी कतिपय चित्रों का इस युग की लाक्षणिक कृतियों के रूप में उदाहरण प्रस्तुत करके १५वीं शती ई० की गुजराती पांडुलिपियों के चित्रों के साथ उनका नाता जोड़ने का प्रयास किया है। परन्तु उनकी उपर्युक्त धारणा, साथ ही यह युक्ति भी कि परिवर्द्धित करने पर मुगल लघु चित्र सहज ही सामान्य बड़े चित्रों जैसे दिखाई देते हैं तथा राजपूत चित्र भी इसी भाँति देखने पर भित्तिचित्र जैसे जान पड़ने लगते हैं, केवल पंडितों की अटकल मात्र हैं और फलतः अति विवादास्पद धारणा है।

साधारण पाठक के लिए तो इतना भर जान लेना ही पर्याप्त होगा कि 'राजपूत चित्रकला' का अर्थ राजस्थान, बुंदेलखंड तथा पंजाब के हिमाचल प्रदेश की कला से है, और उसका समय सोलहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी ई० तक की कालावधि है। राजस्थानी वर्ग में जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, किशनगढ़, बूंदी और अन्य कुछ स्थानों की चित्रकारी सम्मिलित हैं और पहाड़ी वर्ग जम्मू, चम्बा, काँगड़ा, बसौली, गुटेर और गढ़वाल आदि की शैलियों में विभाजित है। पहाड़ी शैलियाँ तिथिक्रम में राजस्थानी वर्ग से बाद की और अपेक्षाकृत अधिक भावपूर्ण, काव्यमय एवं कुछ-कुछ स्त्रैण भाव से युक्त हैं।

राजपूत शैली के चित्रों से मुगल शैली की चित्रकारी की पृथक् पहचान करना अति सरल है। कुछ लघु चित्रों के सिवा ये दोनों शैलियाँ भावना, विषय और दृष्टिकोण में एक-दूसरे से बिल्कुल ही भिन्न हैं। डॉ० कुमारस्वामी और श्री पर्सी ब्राउन जैसे समीक्षकों ने इन दोनों शैलियों की चित्रकारी के आकृति-भेद, विषय-भेद एवं विधि विषयक अंतर का बड़े सराहनीय ढंग से सारांश प्रस्तुत कर दिया है।

डॉ० कुमारस्वामी लिखते हैं कि "इन दोनों कला-परंपराओं के शुद्ध नमूने प्रायः उनके विषय मात्र को जानकर और उनकी शैली देखकर केवल एक ही निगाह में हर हालत में एक-दूसरे से पृथक् पहचाने जा सकते हैं। वस्तुतः मुगल बादशाहों के संस्मरणों की भाँति मुगल चित्रकारी से भी स्पष्ट रूप से व्यक्ति विशेष अथवा घटना विशेष में दिलचस्पी का भाव झलकता है। मुगल कला मूलतः मानवछविचित्रण एवं कालानुक्रम में घटित बातों के आलेखन की कला है; यहाँ तक कि अपनी कृतियों के प्रति स्वतः चित्रकारों का भी दृष्टिकोण वैयक्तिक रंग में रँगा हुआ है, जिसका प्रमाण यह है कि इन चित्रों पर आलिखित हस्ताक्षरों की बदौलत कम से कम सौ मुगल चित्रकारों के नामों की जानकारी आज हमें है, जबकि राजपूत चित्रकारों में से आधे दर्जन के भी नाम गिनाना मुश्किल होगा! मुगल चित्रकारी सुबद्ध (अर्थात् विशिष्ट नियमों में बँधी हुई), नाटकीय, बहिर्मुखी एवं चुनाव की प्रवृत्तिवाली कला है। उधर राजपूत चित्रकला तत्वतः लोककला है, जो सभी वर्गों के लोगों की अभिरुचि की पूर्ति करती है और जिस जीवन का चित्रण करती है, उस से पृथक् उस के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती—वह गीतिकाव्य की-सी भावपूर्ण कला है।

"मुगल चित्रकारी में रंगों के मृदुल उतार-चढ़ाव एवं वातावरण के उपयुक्त प्रभावों से काम लिया गया है, जबकि राजपूत कला के रंग ऐसे हैं, मानो वे शीशे पर चढ़ाए गए हों या

कलाई जैसे हों ! उन्हें विविध प्रभावों की उपज के लिए मिश्रित करने का प्रयत्न कभी भी नहीं किया गया । मुगल आकृतियों की रूपरेखाएँ जहाँ एकदम ठीक-ठीक और धैर्यपूर्वक अंकित हैं, वहाँ राजपूत चित्रकारी में ऐसी बात नहीं है—यहाँ रेखाएँ अविरल नहीं वरन् अनर्गल भाव से इस प्रकार खींच दी गई हैं मानों किसी वस्तु का संकेत मात्र देने अथवा उसका भान करा देने भर को तेजी से सहज भाव से घसीट दी गई हों ! जबकि मुगल चित्रकारी में रंगों के उतार-चढ़ाव द्वारा आकृतियों को कुछ-कुछ उभारने का भी प्रयास दृष्टिगत होता है और इसमें कुछ सफलता भी मिली है, वहाँ राजपूत चित्रकारी इसके विपरीत सर्वथा सपाट जैसी रही है । इस प्रकार तत्वतः जहाँ मुगल चित्रकारी आधुनिक-सी है, वहाँ राजपूत चित्रकारी निपट मध्यकालीन है !"

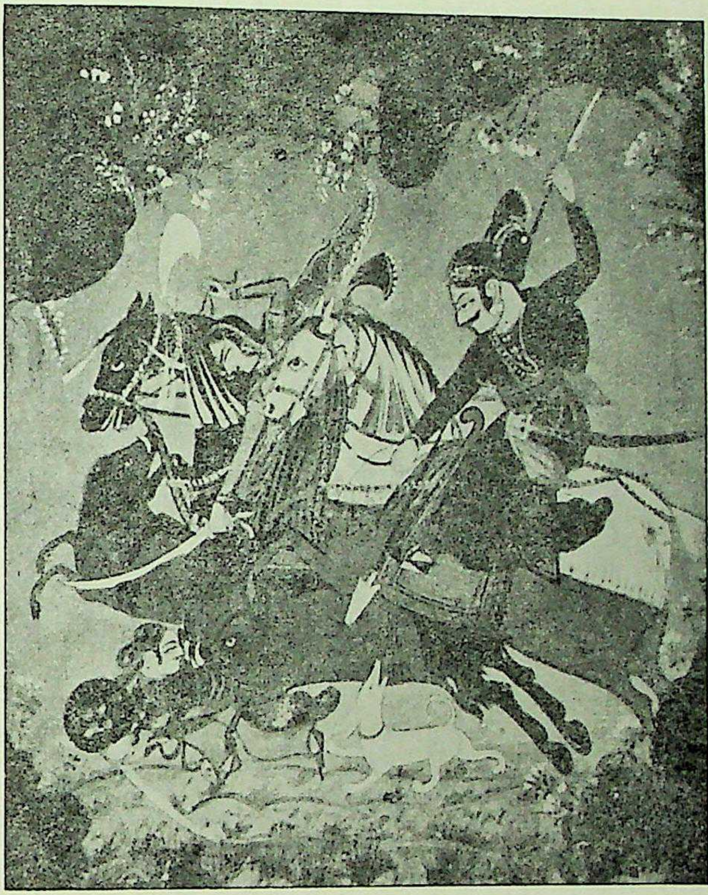

राजपूत शैली की बूंदी-कलम की चित्रकारी का एक नमूना, जिसमें आखेट का दृश्य चित्रांकित है [चित्र—'भारत-कलाभवन, वाराणसी' के सौजन्य से] ।

उधर पर्सी ब्राउन का कथन यह है कि "राजपूत चित्रकारी एक लोकतांत्रिक एवं रहस्यवादी कला है । वह अभिजातवर्गीय राजकीय मुगल कला से सर्वथा विपरीत है (जो एक शुद्ध यथार्थवादी कला है) । राजपूत कला तत्वतः जनता की कला है, जिसकी सृष्टि जनसाधारण ने निजी मनोरंजन एवं गौरव के हेतु की है । यह कला साधारण ग्रामवासियों के सीधे-सादे जीवन, कामकाज, खेल-मनोरंजन, धर्मानुष्ठान एवं गृहजीवन का प्रतिबिंब है और इन सब से कहीं अधिक वह एक दर्पण की भाँति उनके धार्मिक वातावरण की झलक दिखाती है । अतः इस कला के दो विशद पहलू हैं—एक ओर तो वह साधारण भारतवासी के दैनिक जीवन के विविध चित्र हमारे सामने रखती; दूसरी ओर उस पौराणिक अंतर्जगत् का चित्रपट प्रस्तुत करती है, जोकि हर भारतीय की कल्पना में सदैव रमा करता है और जिसकी आधारशिला पर ही उसका अस्तित्व वस्तुतः स्थापित है !"

राजपूत कला के इस विशद चित्रभांडार में हमें जनसाधारण के प्रतिदिन के जीवनक्रम की विविध झाँकियाँ देखने को मिलती हैं । यहाँ हम ग्वालों, शिल्पियों, स्वर्णकारों, छीपियों (कपड़े पर छींट छापनेवालों), जरदोजी का काम करनेवालों, दस्तकारों, छकड़ों पर यात्रा करते हुए अथवा मार्ग के किनारे की सराय में पड़ाव डाले हुए बटोहियों, पनघटों पर गपशप में लीन रमणियों, घरेलू पशुओं, मंदिरों में पूजारत भक्तजनों, आदि-आदि की सभी प्रकार की झाँकियाँ देख सकते हैं ।

इसके अतिरिक्त राजपूत चित्रकारी को अधिकांश में हम पौराणिक कहकर भी पुकार सकते हैं, कारण उसमें रामायण-महाभारत की घटनाओं का प्रचुर चित्रण किया गया है । यह बताने की आवश्यकता नहीं कि उक्त दोनों महा-ग्रन्थ सदियों से भारतीय जनजीवन के धार्मिक एवं आध्यात्मिक स्तरों की आधार-शिला जैसे रहे हैं ।

राजपूत शैली के अनेक चित्र उक्त महाकाव्यों में वर्णित नाटकीय घटनाओं तथा वैष्णव संप्रदाय की 'गीत-गोविन्द' जैसी कृतियों के चित्रण से युक्त हैं । इसके अलावा इस शैली की चित्रकारी का एक महत्वपूर्ण अंग वह भी है, जिसमें भारतीय संगीत की विविध राग-रागिनियों को चित्रबद्ध करने का प्रयास किया गया है । ऐसे चित्रों की मालिकाएँ 'रागमाला' के नाम

से प्रख्यात हैं और सोलहवीं शती ई० के उत्तरार्द्ध काल से लेकर आधुनिक काल तक ऐसी अनेक चित्रमालाएँ सामने आई हैं। इन चित्रों में छः राग और छत्तीस रागिनियों को प्रस्तुत किया गया है, जिनसे सभी शिक्षित भारतीय सुपरिचित हैं। इन्हें पहचानना सरल है, कारण इन राग-रागिनियों में से हर एक का संगीत के स्वरों में बद्ध अपने-अपने लक्षणों के अनुरूप एक मूर्त चित्र आकल्पित किया गया है। इस प्रकार निर्मित किया गया प्रत्येक राग-रागिनी का चित्र रंगों एवं रेखाओं के माध्यम से अभिव्यक्त की गई उक्त राग-रागिनी की स्वरलिपि की छवि जैसा है। दूसरे शब्दों में, एक ओर गायक चित्रांकित छवि को संगीत की लय में परिणत करके विशिष्ट राग या रागिनी की सृष्टि करता और दूसरी ओर चित्रकार उक्त राग-रागिनी की लय को छवि में परिणत कर देता है।

पहाड़ी शैली––जम्मू, काँगड़ा आदि

राजपूत शैली से मुगल चित्रकारी की ओर बढ़ने से पहले पंजाब के हिमाचल-प्रदेशीय क्षेत्रों में उद्भूत उस महत्वपूर्ण एवं रोचक चित्रकला-शैली के प्रति भी ध्यान देना आवश्यक है, जोकि आम तौर पर 'पहाड़ी चित्रशैली' के नाम से पुकारी जाती है। मुगल साम्राज्य के विघटन के साथ ही शाही दरबारों में चित्रकला को जो आश्रय एवं सम्मान प्राप्त था, वह लगभग समाप्त हो गया और फलतः राजकीय संरक्षण से वंचित कलाकारों के कुटुंब राजधानी के पास-पड़ौस के छोटे-छोटे राज्यों में जाकर शरण लेने लगे। चूंकि दिल्ली के एकदम समीप के क्षेत्र राजनीतिक दृष्टि से दिन पर दिन अधिकाधिक अशान्त होते जा रहे थे और वहाँ ललित कलाओं की शांतिपूर्वक साधना करना अब संभव नहीं था, अतः अधिकांश चित्रकार अपना बोरिया-बँधना समेटकर वहाँ से उठ गए और हिमालय की गोदी में सुरक्षित छोटी-छोटी पहाड़ी रियासतों में जा बसे।

यहाँ वातावरण शान्त था और यद्यपि कलाकारों के लिए जी भरकर पुरस्कार पाने की गुंजाइश यहाँ न थी, फिर भी जो कुछ मिल सकता था उससे मजे में उनका गुजर-बसर चलाया जा सकता था। इन कलाकारों ने हिमालय की शीतल हरित एकान्त उपत्यकाओं में आकर रामायण-महाभारत की कथाओं, कृष्ण-बलराम के अद्भुत पराक्रमों, नायक-नायिका-भेद संबंधी प्रकरणों, दुर्गासप्तशती आदि शाक्त ग्रन्थों, राजकीय स्त्री-पुरुषों के समूहों, जुलूसों और जनसाधारण के नितप्रति के जीवन से संबंध रखने वाले अन्य रोचक विषयों पर चित्रों के ढेर लगा दिए!

इस पहाड़ी कला-संप्रदाय का आदि वर्ग जम्मू एवं अन्य डोगरा राज्यों में विकसित हुआ, जिसका समय १७वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध से आरम्भ हुआ माना जाता है। जम्मू-शैली का सब से महत्वपूर्ण चित्र-समूह रामायण की कथा से संबंधित उन बृहदाकार चित्रों का है, जिनमें लंका के घेरे की झाँकी दिग्दर्शित की गई है। परन्तु इस शैली के चित्रों में–चाहे वे रामायण की कथा से संबंधित हों, चाहे रागमाला अथवा नायक-नायिका-भेद विषयक हों––ललित भाव में पगी उस कमनीय चित्रकारी के दर्शन नहीं होते, जिसे पहाड़ी कलम की विशेषता माना जाता है! वैसे इस शैली के चित्रों की संख्या बहुत बड़ी है, जिसमें छुटपुट पौराणिक विषयों के साथ-साथ कृष्णलीला विषयक विविध कथानकों एवं १७वीं-१८वीं सदी ई० के उत्तरार्द्ध काल की अनेक मानव-छवियाँ भी सम्मिलित हैं।

काँगड़ा-शैली

'पहाड़ी चित्रकला' की सबसे प्रसिद्ध शैली वस्तुतः 'काँगड़ा-चित्रशैली' है, जिसकी शाखाएँ गढ़वाल तक फैली हुई है। इस शैली का उदय १८वीं सदी ई० के आरम्भकाल में हुआ था और काँगड़ा के कटोचवंशीय अंतिम प्रतापी राजा संसारचंद (१७७४-१८२३ ई०) के राज्यकाल में वह अपने गौरव के चरम विन्दु पर पहुँच गई थी। यद्यपि यह शैली अति वेगपूर्वक विकसित हुई और बहुत थोड़े दिनों तक ही टिक पाई, फिर भी राजपूत चित्रकारी के क्षेत्र में उसका उत्पादन-परिमाण सब से अधिक रहा है। काँगड़ा-कलम के अभिप्राय प्रायः वही रहे हैं, जो कि राजपूत चित्रकारी की अन्य शैलियों में पाए जाते हैं। इस शैली के चित्रों पर जो अभिलेख मिलते हैं, वे सब देवनागरी हिन्दी अक्षरों में ही हैं और अधिकतर प्रख्यात हिन्दी कवियों–विशेषकर केशवदास–के काव्य-ग्रंथों से लिए गए हैं। इन चित्रों के दृश्य परीलोक के-से राजप्रसादों और उद्यानों के वातावरण में निर्मित किए गए हैं, जिसकी पृष्ठभूमि में हिमालय की निचली श्रेणियों में बहती व्यास नदी की छवि दिग्दर्शित है (जोकि नादौन के निकट सुजानपुर में राजा संसारचन्द के उद्यानों एवं राजप्रासादों की याद दिलाती है)। चित्रों के कथानक एवं शृंगाररसपूर्ण कामुक विषय तत्कालीन राजपूत राजदरबारों के दैनिक जीवन की निकट की झाँकी देखने का दुर्लभ अवसर हमें प्रदान करते हैं। यह बात नल-दमयन्ती की कथा विषयक प्रसिद्ध चित्रमाला के बारे में विशेष रूप से कही जा सकती है, जिसमें विवाहोत्सव, सरकारी कामकाज, व्यायाम, दैनिक पूजा-पाठ, भोज और दावतें तथा प्रणय-लीला आदि सभी की झाँकियाँ प्रत्यांकित मिलती हैं।

डॉ० रंधावा, श्री आर्चर तथा श्री कार्ल खंडालावाला जैसे अनुसंधानकर्त्ताओं की परिश्रमशील खोजों के फलस्वरूप इस शैली के अनेक नये चित्र प्रकाश में आए हैं। जिन पाठकों को इस विषय में दिलचस्पी हो, वे डॉ० रंधावा कृत "काँगड़ा और बसौली के चित्र" (२ खंडों में), श्री आर्चर कृत "पंजाब की पहाड़ियों की चित्रकारी" तथा श्री खंडालावाला कृत काँगड़ा-शैली के चित्र विषयक विस्तृत ग्रन्थ का अनुशीलन करके लाभ एवं आनन्द पा सकते हैं। साधारण पाठकों के लिए तो काँगड़ा-शैली विषयक डॉ० कुमारस्वामी का संक्षिप्त विवेचन ही पर्याप्त होगा। वह लिखते हैं कि "यहाँ आकर (राजपूत चित्रकारी) की शैली पूर्णतया बदल चुकी है। अब झुकाव अधिकाधिक यथार्थवादिता की ओर है। अब मुगल एवं योरपीय प्रभाव भी सर्वथा अनुपस्थित नहीं मिलते। उदाहरणार्थ नाटकीय ढंग से यदा-कदा रात्रि की जो झाँकियाँ दिग्दर्शित मिलती हैं, उनमें चित्रांकित मशालों द्वारा छोड़ी गई गहरी छायाएँ अथवा अंधकारपूर्ण पृष्ठभूमि में आतिशबाजियों के फलस्वरूप उपजी सुनहली रश्मियों की वर्षा की झाँकी इन्हीं बाहरी प्रभावों का असर है। परंतु इस शैली की सबसे बड़ी देन एक ऐसी कमनीय नारी-मूर्ति की सृष्टि है, जो उसकी ही अपनी वस्तु है और जिसके आकर्षण की कोई सीमा नहीं है। यह नारी-प्रतिमा राजस्थानी नमूनों जैसी भारी-भरकम नहीं, वरन् एक अनुपम कमनीयता से युक्त है। उसकी गति में जो अदा है, उसके सामने कोई ठहर नहीं पाता! उसकी पोशाक की लहराती हुई रेखाएँ लालित्य को बढ़ान के लिए जान-बूझकर खींची गई हैं। वस्तुतः इस शैली की विशेषताओं में इन लहराती हुई अखंड रेखाओं के प्रयोग से अधिक विशिष्ट दूसरी लाक्षणिकता नहीं। ये रेखाएँ न तो ईरानी शैली की-सी सुलेखनकलाविशिष्ट हैं, न आदि राजस्थानी शैली की-सी स्पष्ट हैं, प्रत्युत वे एक विशुद्ध रागिनी की सृष्टि करती-सी जान पड़ती हैं। अपनी निर्धारित आकृतियों को अधिक स्पष्ट करने के हेतु इन लहराती रेखाओं को बारबार दोहराकर उनका प्रयोग करते ये चित्रकार कभी अघाते ही नहीं! फलतः इन चित्रों में यद्यपि विशुद्ध सौन्दर्य-तत्त्व उतना नहीं मिलता, जितना कि प्रारंभिक राजपूत शैलियों में दृष्टिगत होता है, फिर भी इस प्रयोग द्वारा इन चित्रों में जिस विशिष्ट आकर्षण की सृष्टि हुई है, उसका जादू विवश करने वाला है—उसमें एक ऐसे वैयक्तिक भाव का समावेश है, जैसा कि किसी रमणी की अपनी अदा में पाया जाता है।

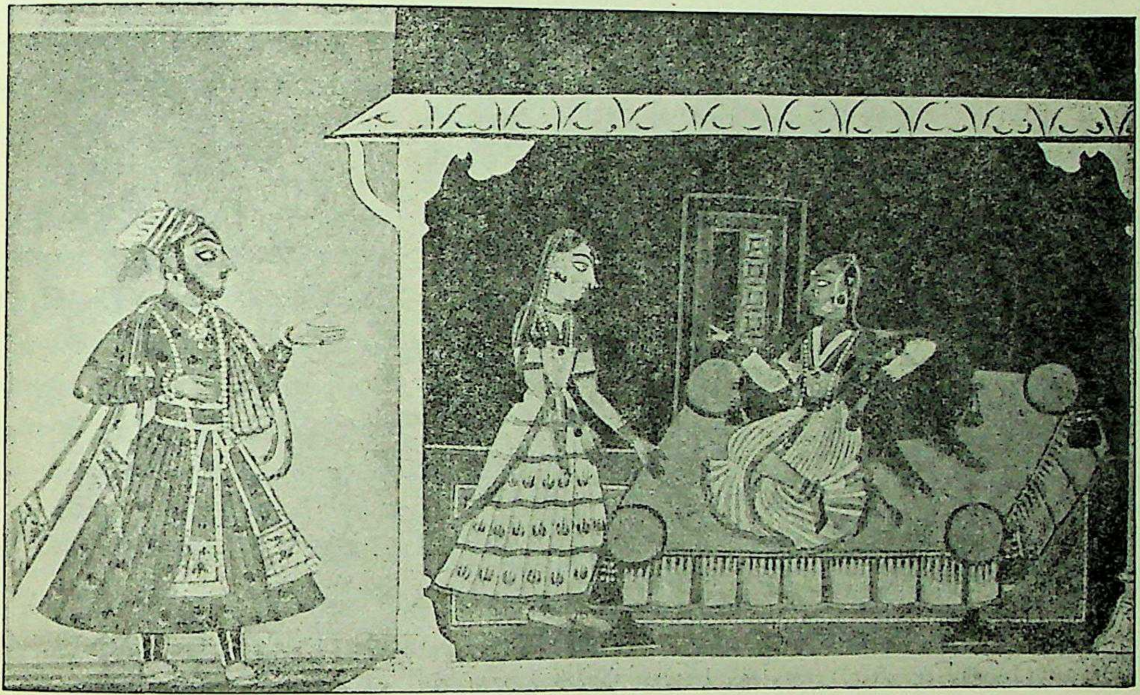

बसौली शैली की पहाड़ी कलम का एक चित्र (१८वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध), जिसमें दूती द्वारा प्रणय-संदेश भेजने की झाँकी दिग्दर्शित की गई है [चित्र—'भारत-कलाभवन, वाराणसी' के सौजन्य से]।

"वास्तव में प्रारंभिक राजपूत शैली की रागमाला-विषयक पुरुषत्वमूलक चित्रकारी के मुकाबले में काँगड़ा-कलम विशेष रूप से नारी-तत्त्व से अभिभूत कला है, जो इन्द्रियजनित आवेगों से प्रेरित होने के बजाय मूलतः भावनाप्रधान है। यही लाक्षणिक

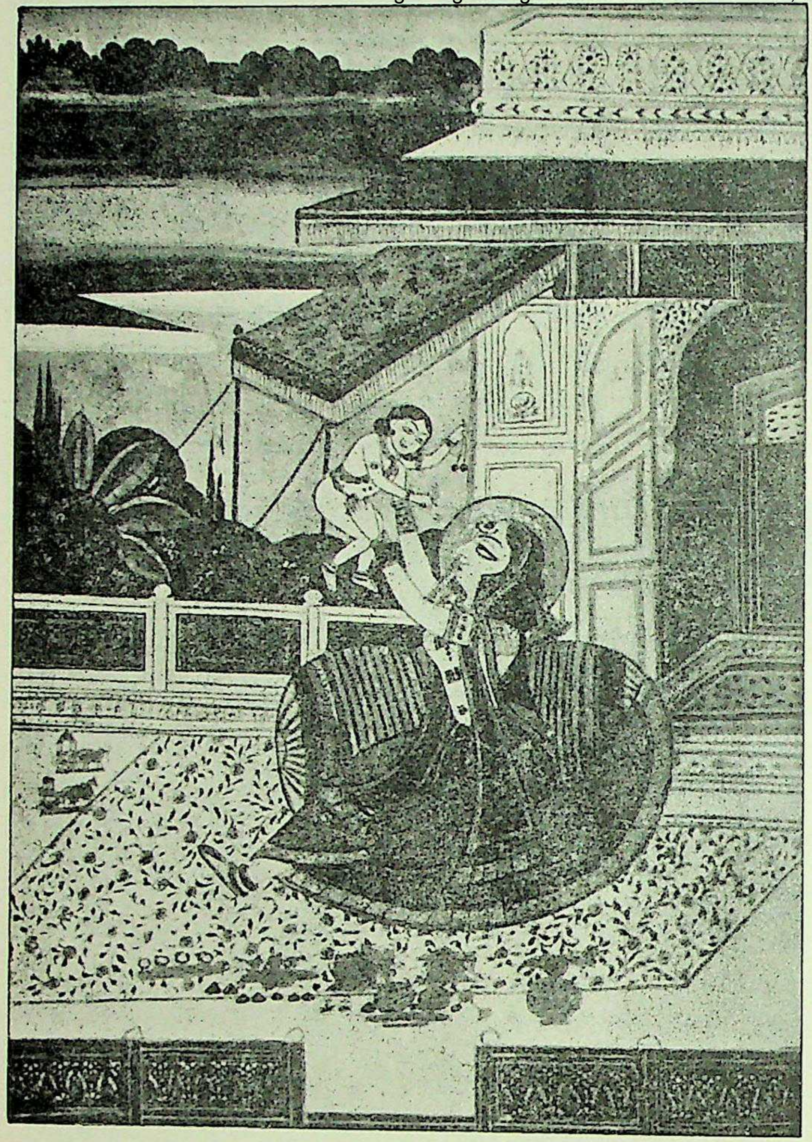

राजपूत शैली की जयपुर-कलम का एक चित्र, जिसमें बालक कृष्ण और उनकी माता की छवि दिग्दर्शित है [फो० —'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)']।

गुण इस शैली के चित्रों में प्रयुक्त रंगों में भी देखने को मिलता है, जो कि शुद्धता और शीतलता की भावना से युक्त हैं। यहाँ इन रंगों का प्रयोग बिलकुल दूसरे ही प्रकार से हुआ है। ये चित्र के दृश्य के विविध स्तरों के निर्माण के लिए नहीं, प्रत्युत आलिखित आकृतियों की रूपरेखाओं के क्षेत्र को भरने के लिए ही प्रत्युक्त हुए हैं, जिससे कि जो वस्तु अब हमारे सामने प्रस्तुत होती है, उसे तूलिकाजनित चित्र कहने के बजाय रंगों से पूरित ड्राइंग की चित्रकारी कहना अधिक उपयुक्त होगा। सच पूछिए तो इस शैली की अनेक आकर्षक तस्वीरें वे अधूरी और अपूर्ण कृतियाँ एवं रेखाचित्र हैं, जिनमें आकृतियों की रूपरेखाएँ तो अंकित हैं, पर उनकी पृष्ठभूमि में रंग भरने का काम अभी अधूरा ही पड़ा है।"

गढ़वाल शैली

पहाड़ी शैली की चित्रकारी की गढ़वाल-शाखा का प्रादुर्भाव १८वीं शताब्दी ई० के आखिरी दिनों में जाकर हुआ, जबकि काँगड़ा का राजनीतिक वातावरण अधिकाधिक अनिश्चित-सा हो चला था। यह अनुमान करना अनुपयुक्त न होगा कि राजकीय संरक्षण के ह्रास के फलस्वरूप काँगड़ा-शैली के अनेक चित्रकार अपने जन्मस्थल को छोड़कर ऐसे नवीन कर्मक्षेत्र की खोज में निकल पड़े, जहाँ भरणपोषण की समस्या के समाधान की संभावनाएँ अधिक थीं। काँगड़ा के राजा संसारचन्द की दो पौत्रियाँ गढ़वाल के शासक को ब्याही गई थीं। अतः बहुत संभव है कि वहाँ के कुछ कलाकार इन राजकुमारियों के साथ उनके ससुराल में जा बसे हों। गढ़वाल-शैली के चित्रकारों में मोलाराम, चैतू और मान्कू नामक तीन कलाकारों के नाम प्रमुख हैं। इन चित्रकारों की शैली बहुत-कुछ काँगड़ा-शैली जैसी ही है, परंतु वह अपेक्षाकृत कुछ निम्न कोटि की है।

अन्य उत्तरकालीन शैलियाँ

उत्तरकाल की अन्य शैलियों में 'सिक्ख-शैली' (१७७५–१८५० ई०) विशेषतया उल्लेखनीय है। इस शैली का विषय मुख्य रूप से मानवछवि का चित्रांकन है, जिसमें प्रमुख सिक्ख गुरुओं एवं कतिपय शासकों तथा उनके मुसाहिबों के एकाकी अथवा दरबार के सामूहिक चित्र सम्मिलित हैं। इन चित्रों की शैली प्रायः वैसी ही है, जैसी कि पंजाब के पहाड़ी क्षेत्र में प्रचलित थी। ये चित्र भावपूर्ण हैं और उनकी रचना सुघढ़ है। इससे भी बाद को विकसित होनेवाली लखनऊ और पटना की चित्रकारियों में अधिकतर योरपीय चित्रकला की नकल करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। उनका जो कुछ भी महत्व है, वह केवल उनके द्वारा चित्रांकित समसामयिक ऐतिहासिक व्यक्तियों के महत्व के नाते है। सच तो यह है कि अब मध्यकालीन चित्रकारी की सर्जन-प्रतिभा, काव्य-भावना एवं कमनीयता का सर्वथा ह्रास हो चला था और कला सामयिक घटनाओं

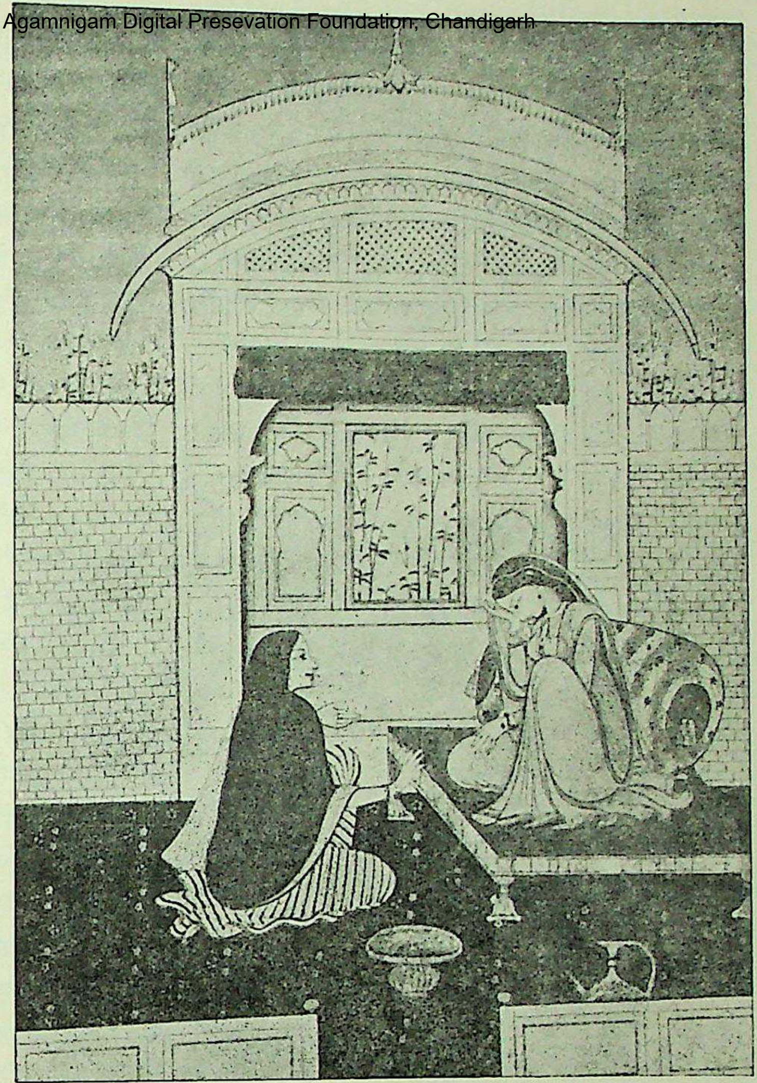

काँगड़ा-शैली (१८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्धकाल) का एक सुन्दर चित्र जिसमें अपनी अनुचरी सहित एक रमणी की छवि दिग्दर्शित है [चि० —'भारत-कलाभवन, वाराणसी' के सौजन्य से]।

का आलेख करने अथवा उसका वृत्तान्त प्रस्तुत करने का एक साधन मात्र बन गई थी। इस युग में आकर विदेशी प्रभाव का दौरदौरा बढ़ चला। इस से देश की मौलिक चित्र-शैलियों का अन्त हो गया। सन् सत्तावन के स्वातंत्र्य-संग्राम की विफलता के उपरान्त जब ब्रिटिश शक्ति की बढ़ती हुई, तो फलस्वरूप अधिकतर भारतीय कलाएँ असमय ही काल के गाल में समा गईं। इसका कारण एक तो उनके प्रति प्रारम्भिक ब्रिटिश शासकों का दंभ-युक्त उपेक्षा का भाव था, दूसरे भारतीय संरक्षकों की तद्विषयक उदासीनता भी इसके लिए कोई कम जिम्मेदार न थी।

मुगल शैली

भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में मुगल शैली का प्रादुर्भाव बाबर द्वारा मुगल साम्राज्य की प्रस्थापना के साथ हुआ। इस शैली का उद्गम मूलतः ईरान या (अधिक सही तौर पर) ईरानी-मंगोल कला-स्रोतों से हुआ होगा, जो कि स्वतः कदाचित् चीन में प्रचलित भारतीय कला-परंपराओं से अनुप्राणित हुए थे। हुसैनी मिर्जा बायसांकुर और शाह तमस्प के संरक्षण में ईरान की चित्रकला अपनी उन्नति के चरम बिन्दु पर पहुँच गई और उसने बिहजाद तथा आगा रजा जैसे प्रसिद्ध चित्रकार पैदा किए। बाबर ने अपना कला प्रेम तिमूरवंशीय पूर्वजों से वसीयत के तौर पर प्राप्त किया था। उसने अपने संस्मरणों में बिहजाद का नामोल्लेख किया है। आगा रजा का पुत्र अबुल हसन जहाँगीर के दरबार के सर्वोच्च चित्रकारों में से था और उस कलाप्रेमी बादशाह ने उसे 'नादिर-अल-जमाँ' की सम्मानपूर्ण उपाधि प्रदान की थी।

अपने राजकीय जीवन के घटनापूर्ण उतार-चढ़ाव के बावजूद बाबार का पुत्र हुमायूँ भी कला के प्रति अपने पैतृक अनुराग से वंचित नहीं रहा। उसने अपनी खोई हुई राजगद्दी वापस पाते ही मीर सय्यद अली तथा ख्वाजा अब्दुस्समद जैसे प्रख्यात ईरानी चित्रकारों को अपने राजदरबार में आकर काम करने एवं भारतीय चित्रकारों को प्रशिक्षित करने का बुलावा दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ तक कि उसकी उत्पत्ति का सवाल है, मुगल चित्रकारी भारतीय और ईरानी चित्रकलाओं के समन्वय का फल थी।

अकबर की नीति अपने एकमात्र प्रबल विरोधी वीर राजपूतों से हाथ मिलाकर एक सशक्त भारतीय राष्ट्र का विकास करने की थी। इसी अभिप्राय से उसने स्वयं भी एक राजपूत राजकुमारी के साथ विवाह किया था, जिसका सामाजिक प्रभाव यह पड़ा था कि मुगल राजदरबार के जीवन और वातावरण में काफी हद तक हिन्दू रीति-रिवाज और व्यवहारों का समावेश हो गया था। कला के क्षेत्र में इसका सुपरिणाम

राजपूत और ईरानी शैलियों के समन्वय के रूप में हुआ। इस तरह मुगल शैली की प्रख्यात चित्रकारी को जन्म मिला। अकबर ने भारतीय चित्रकारों को न केवल महाभारत-रामायण जैसे अपने पौराणिक ग्रन्थों को चित्रित करने में ही जुटाया, बल्कि निजामी के काव्य और 'अनवर-ए-सुहेली' जैसी फारसी कृतियों को चित्रित करने के लिए भी उसने उन्हें बढ़ावा दिया।

यह एक उल्लेखनीय बात है कि शिराज के अब्दुस्समद, ताब्रीज के मीर सय्यद अली तथा फर्रुखबेग कल्माक जैसे विदेशी मुसलमान कलाकारों के साथ-साथ अब पहलेपहल पचास से भी अधिक माने हुए भारतीय चित्रकारों के भी नाम सामने आते हैं, जिन्हें अपने मुस्लिम सहयोगियों के साथ शाही चित्रशाला में काम करने का सम्मान प्राप्त था। आज के इस जमाने में, जब कि थोथे प्रचार (प्रोपेगैण्डा) द्वारा ढोल बजानेवालों के आगे खरी वस्तु प्रायः छिपी रह जाती है, इन मुगलकालीन महान् हिन्दू और मुसलमान कलाकारों में से कुछ का नाम स्मरण करना एक अच्छी बात होगी, जिन्होंने अपनी श्रेष्ठ प्रतिभा एवं धैर्ययुक्त परिश्रम द्वारा कला की एक अति मूल्यवान् वसीयत हमारे लिए छोड़ी है। नीचे की नामतालिका इसी उद्देश्य से दी जा रही है :—

हिन्दू चित्रकार

अनंत, असी कहार, केशव कहार, खेमकरन, दसवंथ, गोविन्द, जगन्नाथ, तुलसी, धनराज, धरमदास, नंद, नरसिंग, पारस, प्रेम, माधो, भगवान, भवानी, भीम, भूरा लछमन, महेश, शंकर, शिवदास, सूरदास, बालचंद, बिशनदास, मनोहर, पदार्थ, भगवती, चितरमन उर्फ कल्यानदास, गोवर्धन, नन्हा, राय अनूप आदि।

मुसलमान चित्रकार

इब्राहीम, जमशेद, जमाल, दौलत, नकी, मंसूर (जिसे जहाँगीर ने 'उस्ताद' तथा 'नादिर-अल-अस्र' अर्थात् युग के चमत्कार का खिताब दिया था), मिस्किन मुहम्मद काश्मीरी, सरवन, हुसैन चेला, आलम, दौलत, इनायत, मीर हाशिम, अबुल हसन, गुलाम, खलीफ खुरासानी, मुहम्मद अब्द, मुहम्मद शरीफ (अमीर-ऊल-उमरा) आदि।

वाराणसी के प्रख्यात कला-समीक्षक राय कृष्णदास ने अकबर के युग (१५५६–१६०५ ई०) के मुगल शैली के चित्रों को निम्न चार मुख्य वर्गों में बाँटा है :—

१. हमजानामा और शाहनामा जैसी फारसी कृतियों की पांडुलिपियों की तस्वीरें।
२. रामायण, महाभारत, हरिवंश, नल-दमयन्ती, कथासरित्सागर, आदि भारतीय पौराणिक एवं कथापरक ग्रन्थों के चित्र।
३. बाबरनामा, अकबरनामा, तारीखेअल्फी, आदि ऐतिहासिक महत्व के ग्रन्थों और जीवनियों के सचित्र आलेख।
४. मानवीय छवियाँ।

अबुलफज्ल के शब्दों में "बादशाह ने स्वयं अपनी छवि तैयार कराई और आज्ञा दी कि तमाम उमराओं की छवियाँ तैयार की जाएँ। इस तरह इन छवियों का एक बहुत बड़ा संग्रह तैयार हो गया।" यही लेखक चित्रकला एवं चित्रकारों के प्रति अकबर की दिलचस्पी और अनुराग का जिक्र करते हुए लिखता है कि किस प्रकार बादशाह सप्ताह में एक बार नियमपूर्वक शाही चित्रशालाओं में निर्मित नवीन कृतियों का निरीक्षण किया करता था और जो कृतियाँ असाधारणतया उत्कृष्ट होती थीं, उनके कलाकारों को भरपूर पुरस्कार दिया करता था! अकबर के कई एक चित्रकार मंसवदार भी थे और वे राज्य में ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित थे। स्वभाव से अकबर मनमौजी प्रकृति का था और यदि उसे कोई वस्तु जँच जाती थी, तो इस बात का विचार किये बिना कि उसे किसने निर्मित किया है, वह उसे सहर्ष स्वीकार कर लेता था। जाँच की उसकी एक कसौटी यह थी कि किसी भी कृति के तत्व सत्य-विषयक उसकी अपनी धारणा से मेल रखते हैं या नहीं! चित्रकारी के क्षेत्र में इस विशिष्ट कसौटी पर वह यह परखा करता था कि कोई भी कृति प्रकृति से किस दर्जे तक मेल रखती है! बादशाह की इस रुचि का परिणाम यह हुआ कि भारतीय कला की एक नवीन शैली उपजी, जिसका सामान्य विधान तो ईरानी शैली का-सा था और आकृतियाँ एवं वास्तु आदि कुछ अंश तक ईरानी तथा कुछ अंश तक राजपूत शैली के थे, परन्तु पृष्ठभूमि की रंग-योजना तथा पर्स्पेक्टिव पर कभी-कभी योरपीय कला का प्रभाव दृष्टिगत होने लगता था।

शाही और उच्च अमीर वर्ग के क्षेत्रों में चित्रों की दिन पर दिन बढ़ती जा रही माँग के फलस्वरूप चित्रकारों द्वारा प्रयुक्त कला-सामग्री—विशेषतया कागज, पानी में घुलनशील रंग एवं तूलिका आदि—उच्च कोटि की होने लगी और उनमें पर्याप्त सुधार हुआ। अबुल फज्ल ने लिखा है कि १५९० ई० के लगभग "चित्रकारों द्वारा प्रयुक्त सामग्री में बड़ी उन्नति हुई और रंगों के मिश्रण में खास तौर से सुधार हुआ।" इस तरह का बहुत ऊँचे दर्जे का एक कागज, जिस पर चित्रकारी की जाती थी, दक्खिन में दौलताबाद (देवगिरि) तथा दिल्ली के पड़ोस में 'कागजीपुरा' नामक गाँव में बनाया जाता

था। इस कागज का निर्माण बाँस की लुगदी से किया जाता था और उसका उत्पादन करने में दबाने, बेलन चलाने एवं गोलाकार पत्थरों से घिसाई करके चिकना बनाने तक की विविध क्रियाएँ प्रयुक्त होती थीं। इस कागज के जो नमूने आज देखने को मिलते हैं, वे या तो हल्के पीले बादामी रंग के या बिस्कुट के रंग के हैं और उनकी सतह की बनावट 'पार्चमेंट' नामक चमड़े के बर्क जैसी है।

अब तक मुगल साम्राज्य की जड़ें मजबूती के साथ जम चुकी थीं और आसपास के राजपूत राज्यों के साथ भी किसी हद तक उसका मित्रता का संबंध स्थापित हो चुका था। अतः शान्ति और समृद्धि के इस युग में आकर शाही चित्रशालाओं के कलाकारों का ध्यान अब अकबर के जमाने में चित्रित प्राचीन लोकगाथाओं एवं पौराणिक कथाओं की ओर से हटकर शाही दरबार की शान-शौकत तथा वहाँ की दिन-प्रति-दिन की घटनाओं के प्रति केन्द्रित हो चला। मुगल चित्रकारी का सर्वोपरि विकास और उसकी सिद्धियों की पराकाष्ठा जहाँगीर के शासनकाल में आकर हुई, जबकि इस शैली पर से पुरातन ईरानी प्रभाव के चिह्न धीरे-धीरे उठ चले और उसके बदले उस पर एक प्रकार की प्रत्यक्ष यथार्थवादिता एवं प्रकृति के सूक्ष्म निदर्शन की भावना छा गई। इस काल में जहाँगीर की अनेक भव्य एवं यथार्थ छवियों के अतिरिक्त उसके द्वारा लिखित संस्मरणों की भी अनेक सचित्र प्रतिलिपियाँ तैयार की गईं। तत्कालीन मुगल दरबार की झाँकी पानेवाले अनेक योरपीय यात्रियों ने दरबारी चित्रकारों की कलाकृतियों में जहाँगीर की गहरी दिलचस्पी का उल्लेख किया है और कहा है कि बादशाह अपने विशिष्ट चित्रकारों की प्रतिभा एवं शिल्प-कौशल का बड़े गर्व के साथ उल्लेख किया करता था।

इस युग की कला के प्रिय विषय थे विशिष्ट व्यक्तियों की छवियों एवं आखेट के दृश्यों का चित्रण। उधर जहाँगीर की अपने साम्राज्य के पेड़-पौधों एवं जीव-जन्तुओं के प्रति गहरी दिलचस्पी के कारण अनेक उत्कृष्ट दरबारी चित्रकार वनस्पति एवं जानवरों का चित्रण करने के लिए भी प्रेरित हुए। फलतः उस्ताद मंसूर, मनोहर, पदार्थ और इनायत जैसे चोटी के कलाकारों की तूलिका के प्रसाद के रूप में हिरन, सिंह, मारखोर (हिमालय का जंगली बकरा), सारस, टिटिहरी, बसंता, जंगली मुर्ग, तीतर-बटेर, काला हिरन (जिसका आखेट करते हुए स्वयं जहाँगीर भी दिखाया गया है), बहरी या शिकरा, हाथी, ऊँट आदि-आदि कई जीवों के चित्र हमें मिले हैं। इन चित्रों में से कई, जिनका जहाँगीर ने अपने संस्मरणों में बड़े गर्व के साथ उल्लेख किया है, आज ब्रिटिश म्यूज़ियम के वांटेज-संग्रह में देखने को मिल सकते हैं। दुर्भाग्य से इस युग के पुष्प-चित्र बहुत ही कम संख्या में उपलब्ध हैं। अब तक संभवतः उस्ताद मंसूर द्वारा चित्रित ऐसी केवल दो ही तस्वीरें खोजी जा सकी हैं। हाँ, तस्वीरों के हाशियों पर सजावट के तौर पर प्रचलित तर्ज के फूलों के बॉर्डर का

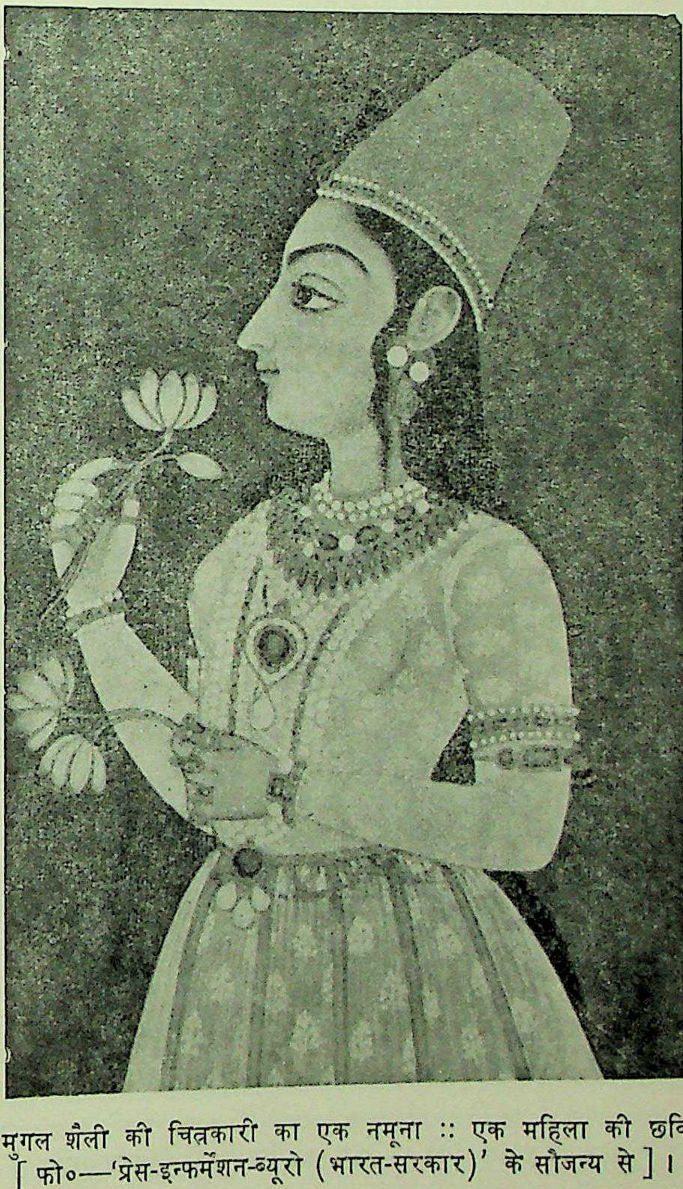

मुगल शैली की चित्रकारी का एक नमूना :: एक महिला की छवि
[फो०—'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)' के सौजन्य से]।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

काफी चित्रण उपलब्ध है, जो कभी-कभी मूल तस्वीरों जैसा ही सुन्दर एवं भव्य पाया गया है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि चित्रों के ये बॉर्डर कल्पना और रचना दोनों के लिहाज से मुगल चित्रकारी की अपनी एक विशेषता है। वे अधिकतर या तो मिश्रित रंगीन और सुनहले वर्ण में चित्रित किए गए हैं, या फिर नीले गुलाबी या बादामी इकरंगी पृष्ठभूमि पर सुनहले बनाए गए हैं। उनके खुशनुमा डिजाइनों का आधारभूत अभिप्राय प्रायः कोई पुष्पित लता या पौधे का चित्र होता है। ऐसे अभिप्राय आगरा के ताजमहल एवं दिल्ली के लाल किले की मुगल इमारतों में भी प्रयुक्त हुए हैं और वे लाहौर के शाही कारखाने के कालीनों के भव्य डिजाइनों में भी देखने को मिलते हैं। इस युग का बड़ा दौलत नामक प्रख्यात दरबारी चित्रकार ऐसे सुनहले बार्डर चित्रित करने तथा आलंकारिक लिपि में पाण्डुलिपियाँ तैयार करने का विशेषज्ञ था। अनेक चित्रों के हाशिए पर इस कलाकार के हस्ताक्षर के साथ स्वर्ण-चित्रकार की उपाधि प्रत्यांकित मिलती है, जो एक मूल्यवान् खिताब रहा होगा।

इन्हीं दिनों अंग्रेज, पुर्तगीज, फ्रेंच और डच सौदागरों, भाग्य आजमाइश के फेर में भटकते हुए विदेशी सैलानियों, घुमक्कड़ लुटेरों और साहसी यात्रियों आदि के द्वारा छोटे-बड़े आकार के योरपीय चित्रकारी के अनेक नमूने भारत में प्रविष्ट होने लगे। चूंकि इन सब लोगों को ललित कलाओं के प्रति जहाँगीर की गहरी दिलचस्पी का पता था, अतः इनमें से अधिकांश कृतियाँ बादशाह के निरीक्षण के लिए आगरे तक पहुँचती रहीं। सर टामस रो ने एक प्रसंग का जिक्र किया है, जब कि बादशाह ने अपने एक दरबारी चित्रकार से किसी एक छवि की पाँच नकलें बनवाई थीं और पूछने पर जब यह अंग्रेज राजदूत यह पता नहीं लगा सका कि उनमें असली चित्र कौन-सा था, जिसकी कि नकलें की गई थीं, तो बादशाह इस बात से बच्चों की तरह आह्लादित हो उठा था!

जहाँगीर के समय के लघु चित्रों के मुगल चितेरों द्वारा नकल की गई योरपीय मैडोना एवं ईसाई संतों की बहुत-कुछ मिलती-जुलती प्रतिछवियाँ उपलब्ध हैं। इस समय से मुगल चित्रकारी में आकृतियों में अधिकाधिक सजीवता लाने, पोशाक आदि को छाया के प्रयोग द्वारा उत्तरोत्तर यथार्थ बनाने तथा उचित पर्स्पेक्टिव से काम लेने की जो प्रवृत्ति बढ़ते दिखाई देती है, वह किसी अंश तक निस्संदेह पाश्चात्य कला के प्रभाव का ही परिणाम जान पड़ता है।

शाहजहाँ (१६२८–१६५८ ई०) के शासनकाल की मुगल चित्रकला तत्कालीन शाही दरबार की शान-शौकत एवं सुसमृद्धि का प्रतिबिम्ब मात्र है। अब दरबार के दृश्य कहीं अधिक तड़कीले-भड़कीले एवं आडंबरपूर्ण हो चले थे। सूक्ष्म बातों के चित्रांकन में प्रदर्शित उन्नत प्राविधिक कौशल, तूलिका-संचालन की कमनीयता एवं रंगों की उत्तमता

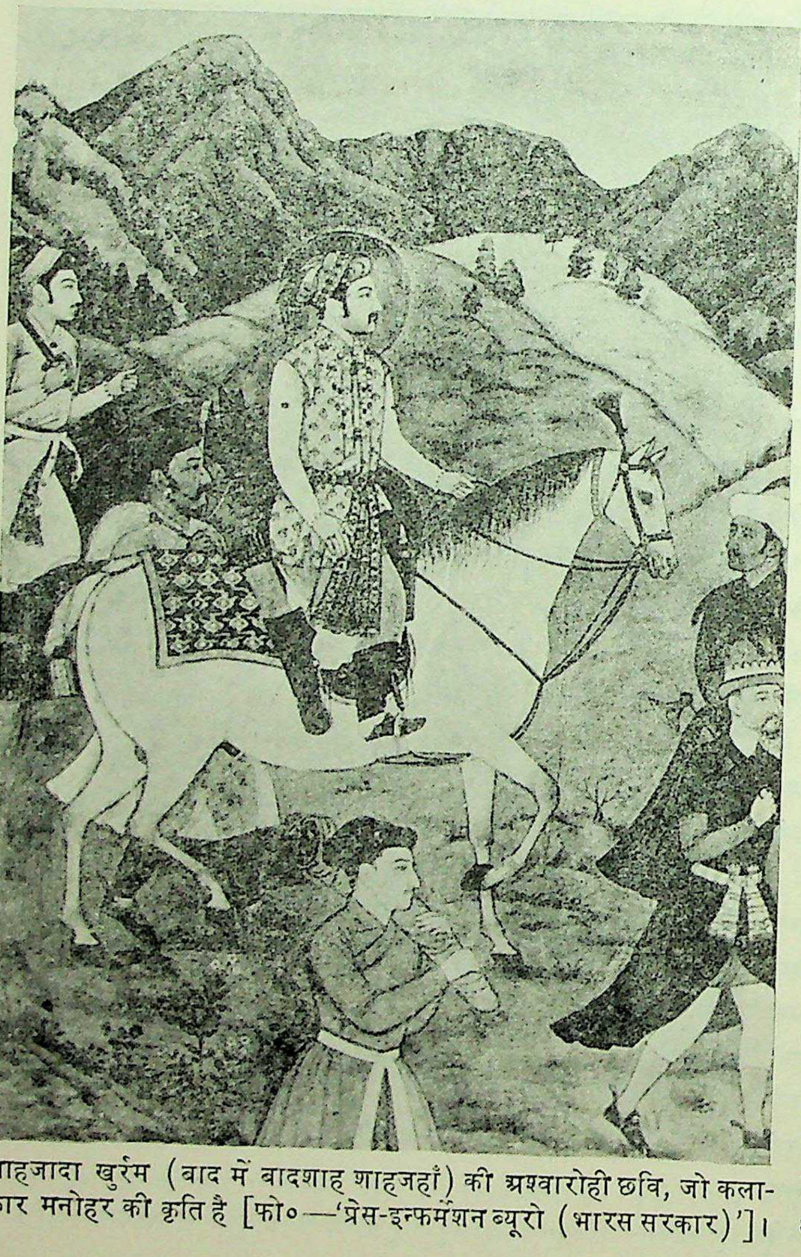

शाहजादा खुर्रम (बाद में बादशाह शाहजहाँ) की अश्वारोही छवि, जो कलाकार मनोहर की कृति है [फो०—'प्रेस-इन्फर्मेशन ब्यूरो (भारस सरकार)']।

के बावजूद इस युग की कृतियों से ऐसा आभास मिलता है, मानो कला के पूर्ववर्ती उच्च मानदण्ड का ह्रास हो चला था। शाही एवं अमीर वर्गों के स्त्री-पुरुषों की छवियों के साथ-साथ इस युग की कतिपय उत्तम कृतियाँ समसामयिक संतों, दरवेशों तथा पहुँचे हुए धर्मपुरुषों की छवियाँ हैं। चूँकि शाहजहाँ का झुकाव चित्रकला से कहीं अधिक स्थापत्य या वास्तु-निर्माण की ओर था, साथ ही उसके शासन के अंतिम दिनों में राजनीतिक गड़बड़ी का वातावरण पैदा हो जाने के फलस्वरूप दरबारी चित्रकारों को पूर्ववर्ती शाही संरक्षण का प्रेरक लाभ मिलना भी बंद हो गया था, अतः नतीजा यह हुआ कि ललित कलाएँ पिछड़ चलीं।

औरंगजेब (१६५८-१७०७ ई०) के गद्दी पर बैठने पर तो संगीत एवं चित्रकला की उपेक्षा की मानो पराकाष्ठा हो गई। यद्यपि इस बादशाह की किशोरावस्था से लेकर बुढ़ापे की जर्जरावस्था तक की अनेक छवियाँ मिलती हैं, तथापि पिछले बादशाहों के संरक्षण में काम करने वाले महान् चित्रकारों द्वारा रची गई कृतियों से इनका कोई मुकाबला नहीं। यों तो कौशल की दृष्टि से मुगल चित्रकारी का ठाठ ठेठ मुहम्मद शाह (१७२०–१७४८ ई०) के जमाने तक जारी रहा और उसकी कतिपय खूबियाँ तब भी बनी रहीं, परन्तु मुगल दरबार के नैतिक पतन का प्रभाव उस पर पड़े बिना नहीं रह सका। अब पग-पग पर तत्कालीन अमीर वर्ग के विलासितापूर्ण जीवन की झलक उसमें प्रतिबिंबित होने लगी। परिणाम यह हुआ कि इन उत्तरकालीन चित्रों में जनाने महलों की अंतरंग झाँकियाँ, संगीत और नृत्य की महफिलें, शराब की मंडलियाँ, प्रेमलीलाएँ और इसी प्रकार के कुत्सित दृश्यों की भरमार हो चली।

मुगल साम्राज्य के विघटन के साथ ही ललित कलाओं का संरक्षण-केन्द्र दिल्ली से उठकर पास-पड़ोस के राजपूत राज्यों एवं पंजाब की हिमाचल-क्षेत्रीय रियासतों में चला गया। अंत में नादिरशाह, अहमदशाह अब्दाली, सूरजमल जाट, मराठों, रोहिलों एवं सिक्खों के आक्रमण तथा लूट के फलस्वरूप अनेक मूल्यवान् कलाकृतियाँ इधर-उधर हो गईं और फलतः मुगल चित्रकारी को ऐसा गहरा धक्का लगा कि उसके आघात से वह सदा के लिए धराशायी हो गई!

ब्रिटिश काल में कला का ह्रास

सन् १८५७ ई० के स्वातंत्र्य-संग्राम के विफल होने पर जब भारत में ब्रिटिश राज्यशक्ति का पंजा पहले से कहीं अधिक मजबूत हो गया और देशी राजा एकदम पराक्रमहीन हो गए, तो उचित प्रेरणा एवं आश्रय के अभाव में भारतीय ललित कलाएँ एकदम क्षीण हो चलीं। पुराने जमाने के सर्वथा गुजर जाने और एक नया जमाना शुरू होने पर, वंशानुगत कला-व्यापार में लीन अनेक परिवार अपना पुराना धंदा छोड़कर भरण-पोषणार्थ दूसरे धंदों में लग गए। उधर बुद्धिजीवी शिक्षित वर्ग पाश्चात्य शिक्षा की मदिरा पीकर अपनी मातृभूमि के कला-कौशल को हीन दृष्टि से देखने लगा और उसके मस्तिष्क में यह भावना घर कर गई कि देश को गुलाम बनानेवाले विदेशी शासकों के यहाँ से जो कुछ भी आता था, वह स्वदेशी वस्तुओं से कहीं ऊँचे दर्जे की चीज थी! इस प्रकार हर पाश्चात्य वस्तु को गले लगाने के गलत जोश में हम अपने देश की कलाओं की अमूल्य वसीयत को सर्वथा भूल गए और हर बात में अपने विजेताओं का रंग-ढंग अपनाने लगे। उन्नीसवीं शताब्दी ई० के सातवें दशाब्द में मद्रास, बम्बई और कलकत्ता में अंग्रेज प्रधानाचार्यों के अधीन कला-विद्यालयों की प्रस्थापना और उनमें साउथ केनसिंगटन में प्रचलित विदेशी पाठ्यक्रम के प्रचलन ने भारतीय चित्रकला की मरणासन्न शैलियों के अवसान के क्रम को और भी वेगपूर्ण बना डाला।

चारों ओर छाए उपेक्षा और उदासीनता के इस गहन अन्धकार के बीच आशा की एक सूक्ष्म किरण ब्रिटिश शासकों द्वारा भारतीय पुरातत्व में ली गई गहरी दिलचस्पी के रूप में प्रकाशित हुई। बात यों हुई कि इस भूमि के विविध प्रदेशों को धमकी या कूटनीति से बलपूर्वक हड़पकर ब्रिटिश साम्राज्य-शक्ति ने जब अपना काफी विस्तार कर लिया, तो उसे हड़पी हुई भूमि का सूक्ष्म सर्वेक्षण करने की जरूरत महसूस हुई। इस काम के दौरान में अनायास ही भारतीय स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रकारी के अनेक विस्मृत स्मारक प्रकाश में आए। इस कार्य के लिए विचारवान् लोग युगों तक जनरल कनिंघम, फर्ग्युसन, बर्जेस, राजा राजेन्द्रलाल मित्र, डॉ० हरप्रसाद शास्त्री प्रभृति भारतीय पुरातत्त्वीय क्षेत्र के महान् अग्रदूतों का साभार स्मरण करते रहेंगे।

राष्ट्रीय जागृति और कला के पुनरुत्थान का आन्दोलन

तब १९०५ ई० में कर्जन की कूट चाल से बंगाल के विभाजन का कुचक्र रचा जाने पर, विरोध में 'स्वदेशी आन्दोलन' का सूत्रपात हुआ। इसी समय डॉ० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में कला के आँगन में भी एक महत्वपूर्ण अनुष्ठान आरंभ हुआ, जिसका लक्ष्य था भारतीय कला का पुनरुत्थान! 'स्वदेशी-आन्दोलन' के फलस्वरूप हर ब्रिटिश

वस्तु के बहिष्कार की जो प्रबल लहर उठी, उससे यह चेतना जाग्रत हुई कि प्रेरणा के लिए हमें अपनी मातृभूमि की ओर ही मुड़ना चाहिए और अतीत की गौरवपूर्ण सिद्धियों में ही अपने शानदार भविष्य के निर्माण का आधार हमें खोजना चाहिए। प्रसिद्ध कला-समीक्षक श्री पर्सी ब्राउन के शब्दों में "इन आन्दोलनकर्त्ताओं ने जो पहला कदम उठाया, वह अतीत की ओर लौट चलने का कदम था। उनकी दलील थी कि देश की नवीन कलाधारा पाश्चात्य तत्त्वों को अंगीकार करके एक संदिग्ध मार्ग पर बढ़ रही थी, जिसका न कोई ठौर था, न ठिकाना! अतः हमें वापस उसी मंजिल पर लौट चलना चाहिए, जहाँ से भटककर हमारी कला परंपरागत लाक्षणिकता खोकर विपथगामी हो चली थी। इसी लक्ष्य से प्रेरित होकर इस नवीन धारा के समर्थकों ने अतीत के गर्भ में से अजन्ता और सिगिरिया के भित्तिचित्र, तिब्बत के टङ्का नामक चित्रपट एवं मुगल तथा राजपूत शैली के मध्यकालीन कलाकारों के लघु चित्र जैसे पुरातन नमूने खोज निकाले। इन कृतियों तथा पूर्वीय कला की अन्य महान् सिद्धियों के अध्ययन-अनुशीलन के फलस्वरूप जो तत्त्व एवं परिणाम उनके हाथ लगे, उन्हीं की नींव पर उन्होंने इस नूतन आन्दोलन की प्रस्थापना की।"

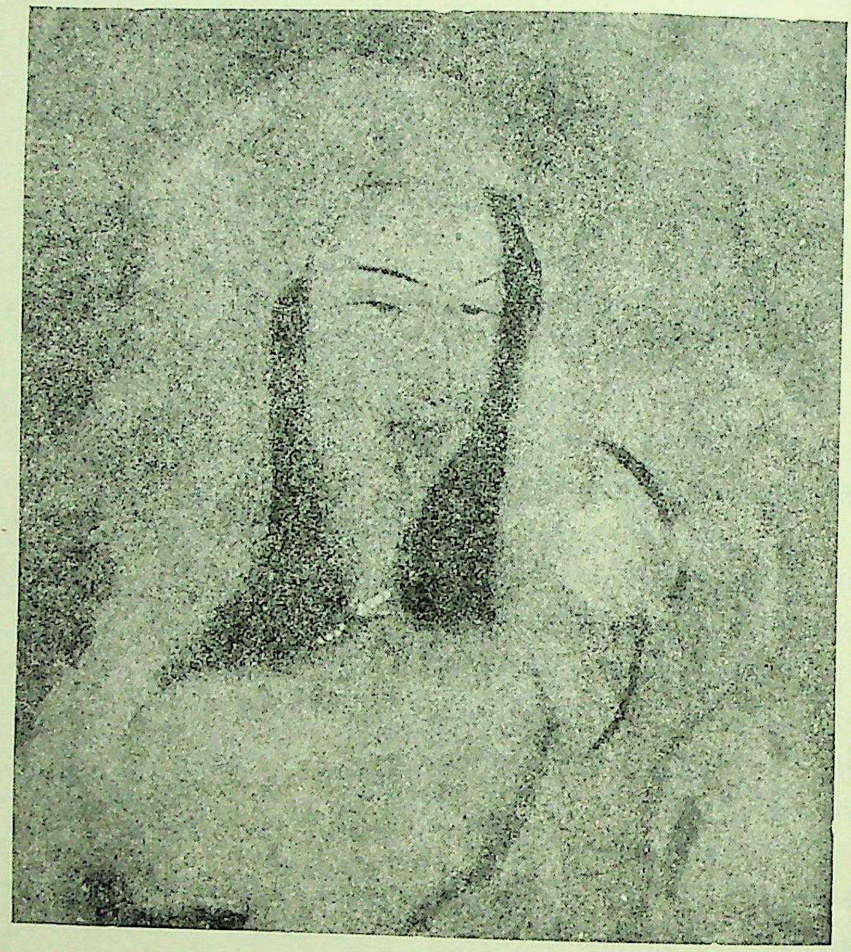

भारतीय कला के पुनर्जागरण के महान् विधायक डॉ० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कृति—'नूरजहाँ [फो०—'प्रेस-इन्फर्मेशन-ब्यूरो (भारत-सरकार)']।

अवनीन्द्रनाथ ने प्रतिभाशाली एवं दक्ष शिष्यों की एक टोली अपने आसपास जुटा ली थी। इसी टोली ने अपनी दृढ़ निष्ठा एवं लगन से भारतीय चित्रकला के उस नूतन संप्रदाय की प्राणप्रतिष्ठा की, जिसे आज हम 'बंगाल-शैली की चित्रकारी' के नाम से पहचानते हैं। इस शैली के चित्र मुख्यतः पानी में घुलनेवाले रंगों द्वारा निर्मित किए जाते हैं और उनमें भावों की गम्भीरता एवं सचाई के साथ-साथ प्राविधिक दक्षता एवं रस-निष्पत्ति का ऐसा अपूर्व समन्वय देखने को मिलता है, जैसा कि इस से पूर्व भारतीय चित्रकारी में कभी भी नहीं देखा गया था। इस समूह के चित्रकारों में प्रमुख थे सर्व श्री नंदलाल बसु, असित कुमार हल्दार, समरेन्द्रनाथ गुप्त, के० वेंकटप्पा, देवीप्रसाद रायचौधरी, हकीम मुहम्मद, समीउज्जमा, शारदा उकील, अब्दुर रहमान चुगताई, क्षितिन्द्रनाथ मजुमदार एवं और भी कई कलाकार, जिनमें इन पंक्तियों के लेखक का भी समावेश है। कलागुरु अवनीन्द्रनाथ के कुछ गण्यमान्य शिष्य आगे चल कर देश की विविध कला-संस्थाओं के अध्यक्ष बने और अपने समय में उन्होंने भी उतने ही दक्ष व प्रतिभावान् शिष्यों की अन्य एक पीढ़ी की भेंट दी।

स्वतंत्रता के उदय के उपरान्त बाहरी दुनिया के साथ देश के दिन-प्रति-दिन बढ़ते जा रहे संपर्क के फलस्वरूप भारतीय कला अब अपना परंपरागत रूप क्रमशः खोती चली जा रही है और विदेशी अनुकरण के दलदल में फँसकर आज उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं। यह उन्माद जब बीत चुकेगा और प्रस्तुत उबाल ठंडा पड़ जाने पर हमारे कला-क्षेत्र में जब परिपक्व आयु एवं अनुभव से प्राप्त होनेवाली विवेकशील प्रौढ़ता एवं प्रशाँत गंभीरता का भाव उपजेगा, तो अंततोगत्वा भारतीय कला का रूप क्या होगा, यह भविष्यद्वाणी करना इस मंजिल पर संभव नहीं है!

कला की पुरातन धाराएँ—(१४-१५)

प्राचीन चीन :: चित्रकला

कला के आँगन में भारत की भाँति चीन का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है और इस संबंधी उसकी साधना एवं सिद्धियों का लेखा-जोखा शताब्दियों के अंचल में फैला हुआ है। सबसे उल्लेखनीय बात जो उसके संबंध में कही जा सकती है, वह यह है कि भारत की भाँति चीनी कला का दृष्टिबिन्दु भी पाश्चात्य कला-दृष्टिकोण से सर्मथा भिन्न है। लीजिए, परिचय प्राप्त कीजिए!

ग्रीक कला के सिद्धान्तों में यह व्यवस्था दी गई थी कि 'समस्त कला अनुकरण मात्र है', और इसी व्यवस्थानुसार कलाकार प्रकृति के सम्मुख मानो दर्पण रखकर उसे (जहाँ तक मनुष्य के लिए सम्भव हो सकता है) प्रतिबिम्बित करने का प्रयास करते थे। मानवीय शरीर के अंगों की गठन का वे बड़ी बारीकी के साथ अध्ययन करते और प्रकृति के आधार पर ही अपनी कला का निर्माण करते थे। यदि कोई अतिमानवीय चित्रण अभीष्ट होता था, तो ग्रीस का कलाकार जो कुछ कर सकता था वह यही था कि सामान्य आकृतियों की अपेक्षा वह इस बार कहीं अधिक दक्षतापूर्वक और पूर्णतम आकार-प्रकार की योजना करता था। उसे कभी भी यह भान नहीं हो पाया कि कलात्मक अभिव्यक्ति के अन्य प्रकार भी हो सकते हैं, जो बाह्य निरीक्षण तथा अनुकरण पर उतने निर्भर नहीं होते, जितने कि आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि एवं मनोवैज्ञानिक संयोजना पर! ग्रीक कलाकार के लिए तो यही भर पर्याप्त था कि एक पूर्ण आकृति पूर्णतया निर्दोष रीति से अंकित हो जाय! इसीलिए ग्रीसवालों ने अपने कला-निर्माण में कभी भी कोई ऐसी बात लाने की चेष्टा नहीं की, जो साधारणतः इन्द्रियगोचर न हो अथवा जिसका विश्लेषण या नाप-जोख बुद्धि द्वारा न किया जा सके। यह बात लगभग समस्त पाश्चात्य कला पर लागू है।

पूर्व और पश्चिम के दृष्टिकोणों में मौलिक अंतर

इसके विपरीत पूर्वीय कलाकार के लिए स्थूल आँखों को जैसा दिखाई देता है, वैसा प्रकृति-चित्रण कोई मूल्य नहीं रखता। वह बाह्य रूपरेखा के भीतर गहरे घुसकर उस तत्त्व को बाहर ले आना चाहता है, जिसे वह उस वस्तु की सब से बड़ी विशेषता अथवा सार-रूप समझता है। वह वस्तु के उस सच्चे रूप की अभिव्यक्ति करना चाहता है, जिसकी उसने बाहरी भौतिक दृष्टि की अपेक्षा अपनी अन्तर्भूत गहरी साधना द्वारा अनुभूति की है। वह अपनी आत्म-शक्ति द्वारा आध्यात्मिक चरम सत्य के यथार्थ रूप का साक्षात्कार करने की चेष्टा करता है और अंकित की जाने वाली कला-वस्तु की आत्मा में मानो अपनी आत्मा को डुबा देना चाहता है। इस प्रकार रचना-वस्तु की भावनाओं तथा वृत्तियों के अनुरूप ही अपनी भावनाओं का तारतम्य जोड़ने का प्रयास वह करता है। उसके लिए बाह्य आकृति का कोरा अनुकरण अथवा चित्र पर प्रकाश एवं छाया का खेल दिखाने की अपेक्षा विषय के भावों एवं चित्तवृत्तियों को ग्रहण करना कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

कहते हैं कि वेनिस का महान् साहसिक यात्री 'मार्कोपोलो' अपने साथ समकालीन प्रसिद्ध इटैलियन चित्रकारों के कुछ चित्र कुबलाई खाँ के दरबार में चीन ले गया था। कुबलाई खाँ ने उन्हें गौर से देखा और अपने आश्रित चित्रकारों को बुलाकर उन पर सम्मतियाँ माँगीं। इस पर अधिकांश चित्रकारों ने तो एक विवेकपूर्ण मौन धारण कर लिया, किन्तु उनमें से

सबसे बूढ़ा व्यक्ति बोल उठा, “जनाब, ये चित्र ऐसे नहीं, जिन्हें हम चित्र कहते हैं ! ये तो ‘दीवार के झरोखे’ कहकर संबोधित किए जा सकते हैं ! ” उसका मतलब यह था कि जो भी चित्र दिखाए गए थे, वे महज यथार्थ वस्तुओं के प्रत्याङ्कन मात्र थे––उनमें न तो चित्रित विषय के भाव की ही कोई झलक मिलती थी, न उनका निर्माण करनेवाले चित्रकार के भावों या वृत्तियों की ही । प्रकृति की आत्मा के साथ कलाकार की आत्मा का यह एकीकरण, ईश्वरीय चेतना के साथ मानव चेतना का यह तादात्म्य-भाव तथा उसके फलस्वरूप अनावश्यक तत्त्वों को विलग करके इन्द्रियजनित अनुभूति को एक नवीन रूप देने का यह प्रयत्न पूर्वीय कला को पाश्चात्य कला से सर्वथा भिन्न कर देता है । ‘पूर्व पूर्व है और पश्चिम पश्चिम तथा इन दोनों का मिलाप कभी भी न होगा’–इस कहावत की सार्थकता केवल यहीं दृष्टिगोचर होती है । जिन लोगों को पूर्वीय कला में बाह्याकृति के यथार्थ चित्रण का अभाव बुरी तरह खटकता है, वे प्रायः इस तथ्य को भूल जाते हैं कि पूर्वीय एवं पश्चिमी कलाकारों के दृष्टिकोण कदापि एक जैसे नहीं हैं । पूर्वीय कलाकारों ने यदि यथार्थ चित्रण की उपेक्षा की है, तो इसलिए नहीं कि वे यथार्थ का चित्रण कर ही नहीं सकते थे, बल्कि इसलिए कि उनके आदर्श और विचार सर्वथा भिन्न थे । इस बात पर कोई भी विश्वास नहीं कर सकता कि जिन लोगों ने उस पुरातन काल ही में, जब कि सभ्यता की आलोक-रश्मियाँ योरप में पहुँच भी न पाई थीं, जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का उज्ज्वल परिचय दिया था, वे केवल इस एक ही विषय में असफल रहे हों कि प्रकृति का स्थूल फोटो जैसा चित्रण न कर सकें ! बात दरअसल यह नहीं थी कि वे इस तरह का चित्राङ्कन नहीं कर सकते थे, बल्कि सच तो यह था कि उन्होंने कभी ऐसा करना चाहा ही नहीं । आज के ‘अभिव्यंजनावाद’, ‘छायावाद’, ‘संकेतवाद’, अथवा ‘प्रभाववाद’ आदि ‘वाद’ जब शब्दों की सीमा में नहीं बँध पाए थे, उससे बहुत पहले ही पूर्वीय कलाकारों ने यह भली-भांति समझ लिया था कि इन्द्रियाँ जिसकी अनुभूति करती हैं, वह इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि वह जिसकी कि अनुभूति आत्मा द्वारा होती है । वास्तव में कलाकार के लिए आत्मा की भावनाओं का संवेदन ही अधिक महत्वपूर्ण है, न कि इन्द्रियों के द्वार में से छनकर ग्रहण किया गया प्रभाव !

हशिए-हो के छः सिद्धान्त

कला के प्रति चीनी दृष्टिकोण ‘हशिए-हो’ के छः सिद्धांतों द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है । उन सिद्धांतों की यहाँ कुछ चर्चा कर लेना अप्रासंगिक न होगा ! यह कुछ विचित्र-सी बात है कि ‘हशिए-हो’ के इन सिद्धांतों में से कई एक भारतीय चित्रकला के उन छः सिद्धान्तों से बहुत मिलते-जुलते हैं, जो कि वात्स्यायन के ‘कामसूत्र’ पर यशोधर की टिप्पणी में उल्लिखित हैं ।

‘हशिए-हो’ द्वारा प्रतिपादित चीनी कला के छः नियम ये हैं:–(१) लययुक्त प्राण-शक्ति एवं निजी जीवनगति; (२) विविध प्रकार के रेखाङ्कन में तूलिका की साधना; (३) रेखाङ्कित रूप और यथार्थ वस्तुओं के साथ उसका सादृश्य; (४) विविध वस्तुओं के अनुरूप रंगों का चयन; (५) उपयुक्त रचना एवं वर्गीकरण; और (६) पूर्ववर्ती महान् कलाकारों की परंपरा का अनुसरण ।

इन्हीं की जोड़ के भारतीय कला के छः सिद्धांत, जो ‘षडङ्ग’ अथवा चित्रकला के छः अंगों के नाम से जाने जाते हैं, निम्न श्लोक में व्यक्त हैं:––

‘रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम् ।
सादृश्यं वर्णिकाभंगं इति चित्रं षड़ंगकम् ।।

अर्थात् (१) प्रकृति में देखी जानेवाली वस्तुओं की बाह्याकृति और कलाकार द्वारा चित्रित आकृतियों का रूपभेद; (२) नाप या प्रमाण; (३) रसों अथवा भावों की निष्पत्ति; (४) प्रकृति की न्यूनता या अभाव की पूर्ति के हेतु चित्रण में विशेष लावण्य का समावेश; (५) सादृश्य–विशेषकर प्रसिद्ध कवियों या नाटककारों द्वारा प्रतिष्ठापित स्थायी संकेतों के अनुरूप चित्रण, एवं (६) रंगने की उपयुक्त शैली––ये ही चित्रकला के छः अंग हैं ।

हशिए-हो द्वारा प्रतिपादित छः सिद्धांतों में प्रथम सिद्धान्त ही सब से अधिक महत्वपूर्ण है––शेष पाँच तो केवल कला के ‘टेकनीक’ से सम्बन्ध रखते हैं । कुछ अनुवादकों ने प्रथम सिद्धांत का अर्थ ‘जीवनगति की अंतरात्मा का संचरण’ बताया है, दूसरों ने उसका अर्थ ‘लययुक्त प्राणशक्ति अथवा जीवन में अभिव्यक्त लययुक्त आध्यात्मिक गति’ के माने में किया है और अन्य कुछ ‘वस्तुओं में निहित लययुक्त गति के माध्यम द्वारा आत्मतत्त्व की जीवनगति की अभिव्यंजना’ कहकर उसे अभिहित करते हैं ।

“एक विशेष प्रकार की गति, लययुक्त जीवनी-शक्ति और आध्यात्मिकता पर जो यह जोर दिया गया है, उस में और अभी हाल में चित्रकारी में जीवन-गति, आकार-सम्बन्धी अभिव्यंजना और आत्मा की मूक वाणी के रूप में एक अमूर्त तत्त्व के होने की जो बात कही और लिखी जाने लगी है, उसमें बड़ी ही समानता है । किंतु प्रौढ़ विचारवालों के दृष्टिबिन्दु से जो

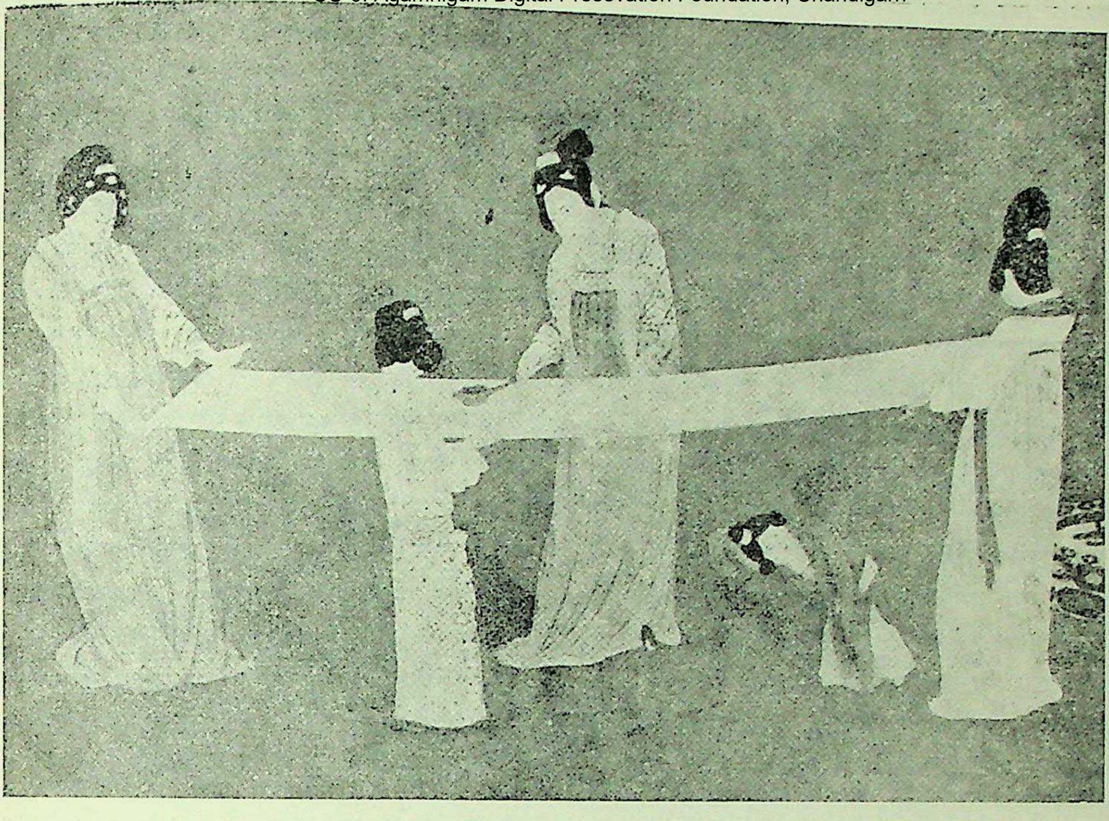

टैङ् राजवंश के युग का एक चित्र, जिसमें कुछ स्त्रियाँ नया रेशमी वस्त्र तैयार करते हुए दिखाई गई हैं। यह चित्र मूल रूप में चैङ् हुआन (७१३-७४२ ई०) नामक चित्रकार की कृति बताया जाता है।

बात सब से अधिक मार्के की है, वह है चित्र में जीवन का भाव होने पर जोर दिया जाना । कला-सम्बन्धी विचारधारा में हमें दो बृहत् समूहों में विभिन्न प्रकार के दो उद्देश्यों की धाराएँ प्रवाहित होते दिखाई देती हैं । एक में केवल अपने आसपास के जीवन का प्रतिबिम्ब उतारने की प्रवृत्ति है, तो दूसरे में एक बिलकुल नई वस्तु के सर्जन की, जिसमें अपनी निजी चेतना हो ।"

"चीनी कलाकार प्राकृतिक दृश्यों के प्रतिबिंब मात्र के चित्रण अथवा अनुकरण को गौण मानते हैं । उनके मतानुसार तो कला का मुख्य लक्ष्य दृश्यों को केवल प्रतिबिंबित कर देने की अपेक्षा कलाकृति को जीवन के कुछ विशिष्ट गुणों से अभिभूत कर देना है—उसे एक गति, एक प्रेरणा और संवेदना की एक शक्ति से युक्त कर देना है । अन्यथा वे पूछते हैं कि फिर 'सर्जन' के अर्थ ही क्या हैं?"

"दूसरे शब्दों में, भाव के साथ तादात्म्य स्थापित करके कलाकार उस महातंत्री की लय के साथ एकतान हो जाता है, जिससे समूची चेतन सृष्टि का निर्माण होता है । वह मानो सृष्टि के अन्तराल में से संजीवनी प्राणवायु खींचकर ले आता है और उससे अपनी भौतिक कला-रचना को अनुप्राणित कर देता है ।"

"और जब उस भाव की प्राप्ति हमें हो जाती है, तो ऐसा अनुभव होने लगता है मानो हम जीवन के—न केवल अपने ही बल्कि विश्व के जीवन के—निकट संपर्क में आ गए हैं!"—(लारेन्स बिनयन कृत 'फ्लाइट ऑफ दी ड्रेगन' से)

इस प्रकार हशिए-हो सौन्दर्य-क्षेत्र के उस छोर से बिल्कुल विपरीत दिशा से आरंभ करता है, जो अरस्तू तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक के अन्य रूढ़िग्रस्त पाश्चात्य सिद्धांतवादियों के लिए सब से महत्वपूर्ण रहा है । उसके लिए यह ग्रीक सिद्धान्त समझना कठिन था कि 'कला अनुकरण मात्र है' तथा कलाकार को इसी का अनुसरण करना चाहिए ।

चीनी चित्रकारी की लाक्षणिक विशेषता

चित्रों में लययुक्त जीवनी-शक्ति के होने का यह विचार संभवतः चीनी मस्तिष्क में इसलिए भी दृढ़ रूप से जम चुका था कि चीनी कलाकार अपने चित्रों में अनिवार्य रूप से एक विशेष प्रकार के माध्यम का ही प्रयोग करते थे । चीनी चित्र

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वास्तव में जल-मिश्रित तरल रंगों द्वारा तूलिका से अंकित लहरों के सिवा और कुछ नहीं होते । उनके द्वारा प्रयुक्त रंगों की तरलता ने तूलिका के स्वाभाविक लोच के साथ मिलकर चित्र में एक गतियुक्त चेतना का गुण लाने की धारणा को और भी दृढ़ कर दिया था । इसके विपरीत तैल-मिश्रित रंगों अथवा दूसरे किसी भी माध्यम द्वारा चित्रकारी करने की विधि इस लोच और गतिशीलता के भाव से एकदम प्रतिकूल पड़ती है । तैल-मिश्रित रंग स्वभावतः ही चिक्कट होता है और उसके द्वारा चित्रकारी करने की विधि बहुत अधिक परिश्रम माँगती है । तैल द्वारा कोई भी कलाकार कभी भी वैसी मधुर भाव से युक्त लहरदार चित्रकारी नहीं कर सकता, जो कि चीनी या जापानी उत्कृष्ट चित्रों में परिलक्षित होती है । जल-मिश्रित रंग तैलीय रंगों से कहीं अधिक सूक्ष्मतर, तरलतर और भावसूचक होते हैं; और चीनी चित्रकला की सारी शक्ति ही भावों के निदर्शन में है, न कि तथ्य-वस्तु के यथार्थ प्रत्याङ्कन या अभिलेखन में । चूँकि चीनी चित्र अधिकांश में रेशमी पट पर ही बनाए जाते हैं, अतएव उनमें बाद में किसी भी प्रकार के सुधार के लिए गुंजाइश नहीं रहती । वे या तो पूर्ण रूप से सफल चित्र होंगे, या फिर एकदम ही असफल । चित्रकार अपना चित्र अंकित करने के पहले निर्धारित विषय का चाहे हजारों तरह से अभ्यास कर ले, किंतु जहाँ चित्र को अंतिम रूप से अंकित करने का समय आया, वहाँ एकदम एक ही धारा-प्रवाह में बिना किसी तरह के सुधार-बिगाड़ या संशोधन के उसे अपनी कृति को समाप्त कर देना होगा । उसकी कृति एक विशुद्ध आनन्द एवं प्रयासहीन धारा-प्रवाह की ही उपज होनी चाहिए; बजाय इसके कि वह कलाकृति एक लम्बी कालावधि के कठोर परिश्रम का परिणाम हो, वह ऐसी होनी चाहिए मानो चित्रकार की अन्तरात्मा में उदित आध्यात्मिक मनोभाव का सार-रूप प्रतिबिम्ब विस्तृत होकर फुर्ती से उसकी आत्मा से सीधे रेशमी पट पर अंकित हो गया हो ।

एक सुप्रसिद्ध चीनी चित्रकार के विषय में यह कथा प्रसिद्ध है कि इसके पूर्व कि उसने अपने आपको चित्रण-कला का अधिकारी समझा, वह अपनी खिड़की के कागजी परदे पर चन्द्रमा की रोशनी से बाँस की पत्तियों की गिरती हुई झिलमिल छाया के चित्रण में चौदह वर्ष तक लगा रहा ! यह आध्यात्मिक तैयारी, निरंतर मनन और चिंतन द्वारा सत्य के अंतिम स्वरूप को छानने का यह कठोर प्रयास, पश्चिम में शायद ही कहीं पाया जा सकता है——यह केवल पूर्व की ही अपनी विशेषता है ।

चित्रकला पर लिखे गए 'सरसों का बगीचा' नामक एक चीनी प्रबंध में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है कि चीनी कलाकार किस प्रकार चित्रकारी करते थे । कहा गया है कि "कलाकार वस्तु का सूक्ष्म निरीक्षण करके मस्तिष्क में उक्त निरीक्षण का फल संचित रखता है । वह किसी रूप की कल्पना करता है और उस मनोवांछित कल्पना को अपने मस्तिष्क में साकार रूप देने के पश्चात् बड़ी फुर्ती के साथ सधी हुई तूलिका से वह उसे रेशमी पट पर उतार लेता है । तूलिका की इस प्रकार की सबल चेतनायुक्त अनुपम साधना द्वारा जिस व्यक्तिगत एवं अभूतपूर्व भाव का संदेश प्रेरित किया जाता है, वह दर्शक की निगाह में एकदम ही ऊँचा जँच जाता है ।" उसी प्रबन्ध में यह भी कहा गया है कि चित्र में 'जहाँ कलाकार की तूलिका का स्पर्श न हुआ हो, वहाँ भी उसके विचार की छाप तो रहती ही है !'

सांकेतिकता के मूल्य पर दिया जाने वाला यह जोर——यह मौन 'भाव-प्रदर्शन', चीनी कला के सुप्रसिद्ध विशेषज्ञ लारेंस बिनयन के अनुसार, 'विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, क्योंकि किसी भी अन्य कला ने चीनी कला की तरह शून्य को चित्र में अर्थयुक्त बनाने की खूबी को नहीं समझा है ।'

चीनी चित्रकला को प्रायः सुलेखन-कला के अनुरूप क्यों माना जाता है ?

प्रायः यह कहा जाता है कि चीनी चित्रकला बुनियादी तौर पर सुलेखन-कला जैसी है । इस कथन का उद्देश्य क्या है, और सुलेखन-कला क्या वस्तु है ? सुलेखन-कला का अर्थ है 'सुंदर लिखावट या लिपि में आलेखन ।' मानव सभ्यता के इतिहास के आरंभिक युग में ही विविध मानवीय कृतियों में सौंदर्य-तत्त्व का भाव प्रविष्ट हो चुका था और आम तौर पर यह माना जाने लगा था कि वर्णमाला के अक्षर भी कतिपय विशिष्ट आकार-प्रकार और लेखन-विधि के अनुसार ही अंकित होने चाहिए । इनका इस प्रकार का आलेखन स्वतः सुन्दरता का एक नमूना माना जाता था । लगभग सभी देशों में सुन्दर लिखावट के सम्बन्ध में व्यापक नियम बनाए गए और अच्छी लिपि लिखना भद्रता अथवा सुशिक्षा का एक आवश्यक अंग और लक्षण माना जाने लगा । ग्रीक, रोमन तथा उनसे भी पहले के मिस्रियों या असीरियावालों के सुन्दर अभिलेख प्रख्यात हैं । वे चित्राक्षर, कीलाक्षर अथवा वर्णाक्षरों में लिखित मिलते हैं । सुन्दर लिखावट-संबंधी यह अभिरुचि प्राचीन काल ही तक सीमित नहीं रही, बल्कि मध्य-युग से होकर वह आधुनिक काल तक आ पहुँची है । ईरान या

फारस में उत्तम लिपिकार प्रथम श्रेणी का कलाकार माना जाता था और उसके 'खुशखत' के नमूने कलात्मक चित्रों जैसे मूल्यवान् समझे जाते थे । क्रमशः सुलेखन-सम्बन्धी अनेक सूक्ष्म भावयुक्त शैलियों का विकास वहाँ हुआ, जिनकी खूबियों की परख, प्रशंसा अथवा मोल आँकने का काम केवल मार्मिक विशेषज्ञ ही कर सकते थे । सुप्रसिद्ध इतिहासकार अबुलफज्ल ने निम्न प्रकार की सुलेखन-शैलियों के नाम गिनाए हैं——१. सुल्स, २. नस्ख, ३. तौकी, ४. रिका, ५. मुहक्कक़, ६. रैहान, ७. तालीक, ८.नस्तालीक। इन में अन्तिम अर्थात् नस्तालीक को अकबर और जहाँगीर द्वारा बहुत अधिक मान दिया गया था । सुन्दर लिखावट लिखने वाले लिपिकारों को इन बादशाहों द्वारा बड़ी सम्मानपूर्ण उपाधियाँ दी जाती थीं, जैसे "जर्रीन-कलम", "अंबरीन-कलम", "मुश्कीन-कलम", इत्यादि ! कभी-कभी इन लोगों की कलाकृतियों पर शाही मोहर की छाप भी लगा दी जाती थी, जिससे और भी अधिक सम्मान की सूचना मिलती है । अबुल फज्ल कृत आईने-अकबरी में सुलेखन-कला के क्षेत्र में चमकने वाले उस युग के सुप्रसिद्ध लिपिकारों के नाम उत्कृष्ट चित्रकारों के ही समकक्ष रक्खे गए हैं, जिससे इस बात का प्रचुर आभास मिल जाता है कि मुगलकाल में सुलेखन-कला को कितना अधिक सम्मान दिया जाता था ।

फारसवालों की सुलेखन-कला संबंधी अभिरुचि चीनवालों ही से उपहार के रूप में प्राप्त हुई थी । यद्यपि यह सच है कि सुलेखन-कला के विकास में 'नेस्टोरियन ईसायत' और 'मेनीकेनिज्म' नामक मत का भी कुछ हाथ रहा, किन्तु प्रमुख रूप से यह चीन ही की देन थी, जिसकी धारा हुलागू, तैमूर, शाहरुख, आदि मंगोल विजेताओं के जत्थों के साथ चीन से ईरान में प्रवाहित हुई थी ।

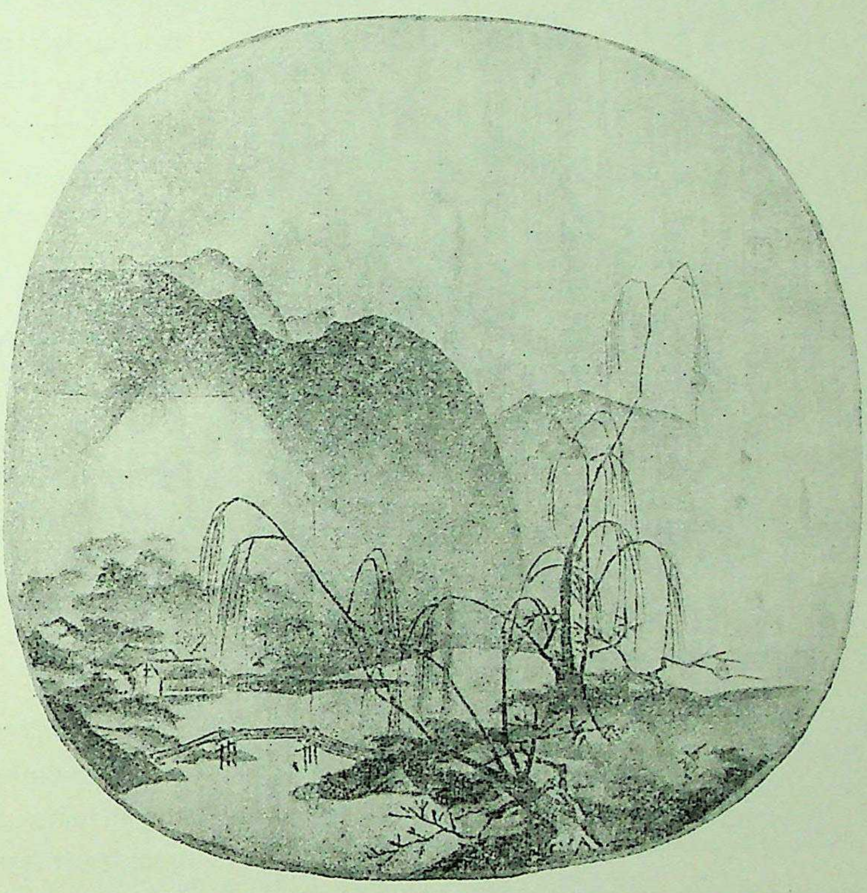

सुङ् राजवंश (९६०-१२८० ई०) के युग की एक कलाकृति, जो मा युआन नामक चित्रकार की रचना है। रेखाओं की बारीकी पर ध्यान दीजिए ।

चीन में सुन्दर लिखावट के लिए जो साधन काम में लाया जाता है वह तूलिका है, कलम नहीं । कलम संभवतः रोमन 'स्टाइलस' (शलाका) का ही एक परिष्कृत रूप है, जिसका कि प्रवेश ईरान में नेस्टोरियन ईसायत के साथ हुआ था। स्पष्ट है कि कलम का प्रयोग चाहे कितनी दक्षता के साथ किया जाय, उसके द्वारा तूलिका जैसा प्रवाह और सहज प्रयास का भाव नहीं लाया जा सकता । फलस्वरूप कलम द्वारा आलिखित कोई भी कृति हर हालत में एक प्रकार की नक्काशी जैसी ही रहेगी । यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि रोमन लिखावट यथार्थ में नक्काशीनुमा ही थी और उसके लिखने में जिस शलाका या 'इस्टाइलस' नामक यंत्र का प्रयोग किया जाता था, वह मोम की तख्ती की मुलायम सतह पर अक्षर कुरेदने का एक औजार मात्र था । इसके विपरीत तूलिका द्वारा आलेखन स्वभावतया लेखनी से अधिक सरल एवं प्रवाहयुक्त होता है । अतएव

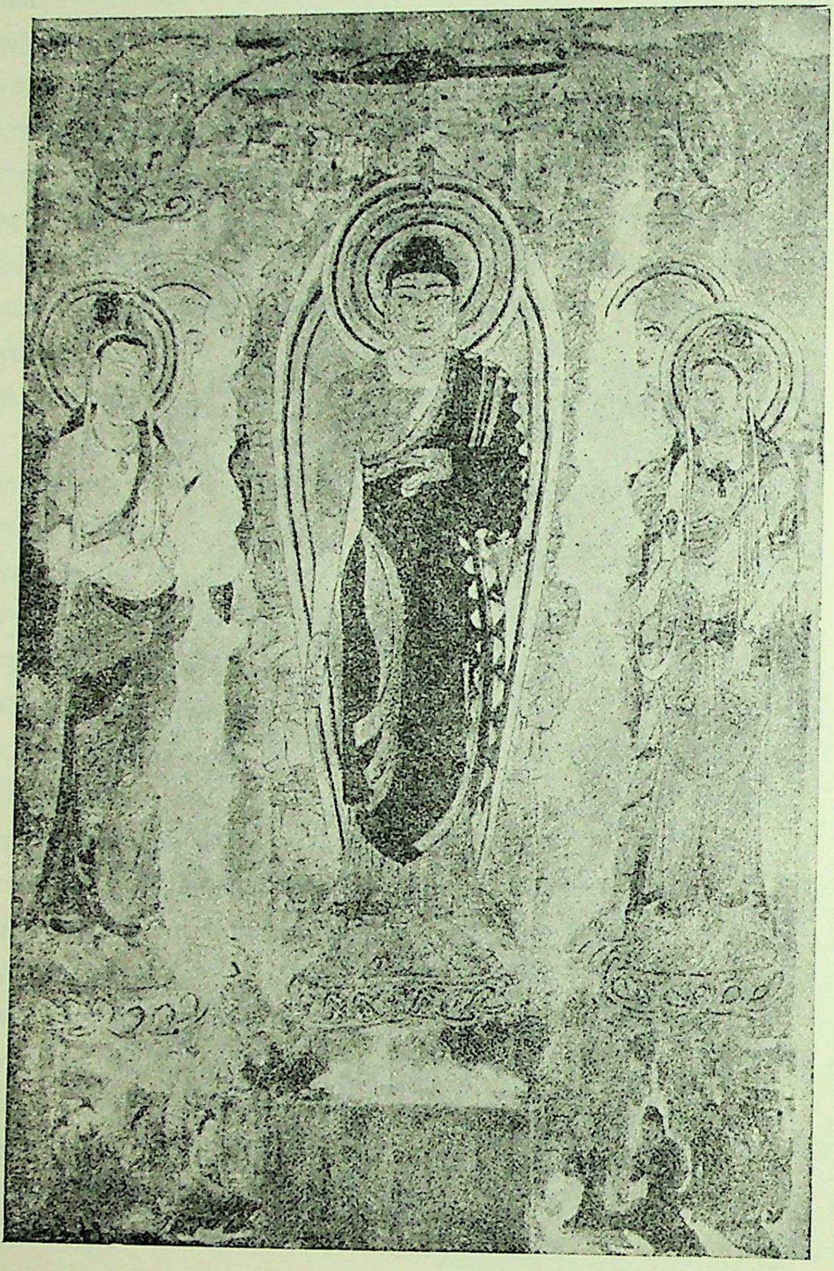

टैङ् राजवंश के युग की आठवीं या नवीं शती ई० की रेशमी छादपट्ट पर चित्रांकित शाक्यमुनि (बुद्ध) की एक छवि।

इस प्रकार का आलेखन नक्काशी के बजाय चित्रकारी से अधिक समानता रखता है।

यही कारण है कि चीन में हम सुलेखन-कला को चित्रकला की एक शाखा के रूप में देखते हैं अथवा दूसरे शब्दों में कहिए तो स्वयं चित्रकला को ही हम वहाँ सुलेखन-कला के एक गौरवपूर्ण विकसित रूप में प्रतिष्ठित पाते हैं। जीवन भर तूलिका की अनवरत साधना में रत रहने के फलस्वरूप चीनी चित्रकार उसे साधने में जो क्षमता प्राप्त कर लेता था, उसकी बराबरी योरपीय या चीन से बाहर का कोई भी कलाकार नहीं कर सकता। वर्ण-संबंधी गहराई या फीकेपन के उतार-चढ़ाव एवं द्योतनशक्ति से युक्त तूलिका-साधन में चीनी कलाकार की इस असाधारण क्षमता ने उस अद्भुत माध्यम 'चीनी स्याही' की सहायता से उसे अपने क्षेत्र में बेजोड़ बना दिया। चीनी चित्रकला में सुन्दर लिखावट और चित्रकारी दोनों प्रायः एक सम्मिलित रूप में दिखाई पड़ती हैं और प्रायः एक उत्कृष्ट चीनी चित्रकार अनिवार्य रूप से उत्कृष्ट कवि भी पाया जाता है। लारेंस बिनयन के शब्दों में "चीनी चित्रकला वहाँ के साहित्य-संसार में प्रचलित रूढ़ियों की भावनाओं से ओतप्रोत है। कतिपय पुष्प और पक्षी सदैव साथ-साथ ही चित्रित किए जाएँगे, चूंकि किसी विशेष कविता में उन दोनों का एक ही साथ वर्णन हुआ है! अनेक चीनी चित्रकार कवि भी थे और वाङवी जैसे कुछ व्यक्ति तो दोनों ही क्षेत्रों में प्रतिष्ठाप्राप्त थे। किंतु कला के क्षेत्र में वहाँ जो प्रवृत्ति पाई जाती है, वह प्रायः किसी कविता या कहानी के कथानक के एकदम ज्यों-के-त्यों चित्रण की नहीं, बल्कि उक्त कविता या कहानी के भाव के अनुरूप ही निज में भी एक भाव जगाने की रही है।"

प्रकृति-चित्रण

चीनी चित्रों के किसी भी संग्रह पर केवल एक सरसरी निगाह दौड़ानेवाले सामान्य दर्शक को भी यह पता लगे बिना नहीं रह सकता कि इनमें से अधिकतर का विषय प्राकृतिक दृश्यों का दिग्दर्शन अथवा अन्य नैसर्गिक अध्ययन मात्र है। उदाहरणार्थ, उनमें फूल, पौधे, हरियाली, कीड़े, पक्षी, जानवर, आदि के चित्रण की ही प्रचुरता मिलेगी। इन चित्रों में मानव का स्थान गौण या नगण्य-सा पाया जाता है। जहाँ कहीं मानवाकृतियाँ चित्रित भी की गई हैं, केवल गौण रूप ही में। इसके

विपरीत योरप की कलाओं में मानवाकृति ही प्रधान है और अन्य वस्तुएँ गौण । मानव ही उनका प्रधान नायक है । वहाँ हम हर कहीं अन्य सभी वस्तुओं की तुलना में मनुष्य की ही सर्वोपरि महत्ता का भव्य रूप चित्रित करने का प्रयत्न होते देखते हैं । यदि हमें चीन की कला में मानव के इस प्रकार अपेक्षाकृत बिलकुल नगण्य स्थान दिए जाने का कारण ढूंढ़ना है, तो हमें उस देश के सामाजिक ढाँचे की तह में गहरे उतरकर देखना होगा ! चीन की जनता मूलतः कृषिव्यवसायी रही है और इस कारण वे लोग प्रकृति की शक्तियों, जैसे आकाश, नक्षत्र, वायु, वर्षा, ऋतुचक्र आदि में गहरी दिलचस्पी रखते रहे हैं । मानव मस्तिष्क पर स्वभावतः उन्हीं वस्तुओं का सब से अधिक गहरा प्रभाव पड़ता है, जिनके संसर्ग में वह सब से अधिक आता है । चीनी कला में पर्वतों, नदियों, वृक्षों, पुष्पों, पक्षियों एवं पशुओं की प्रधानता का यही कारण है कि अत्यन्त प्राचीन काल से चीनी मस्तिष्क पर प्राकृतिक दृश्यों का वैसा ही गहरा प्रभाव पड़ता रहा है जैसा कि योरपीय कलाकारों के मन पर मानवाकृति का । यही कारण है कि चीनवालों की चित्रण-शैली का रूप हजारों वर्षों तक लगभग एक समान तथा सौंदर्य के उन्हीं सिद्धांतों से प्रेरित होता रहा है, जिनका कि विधान वहाँ के आरंभिक कलाकारों ने दो हजार वर्ष पूर्व किया था !

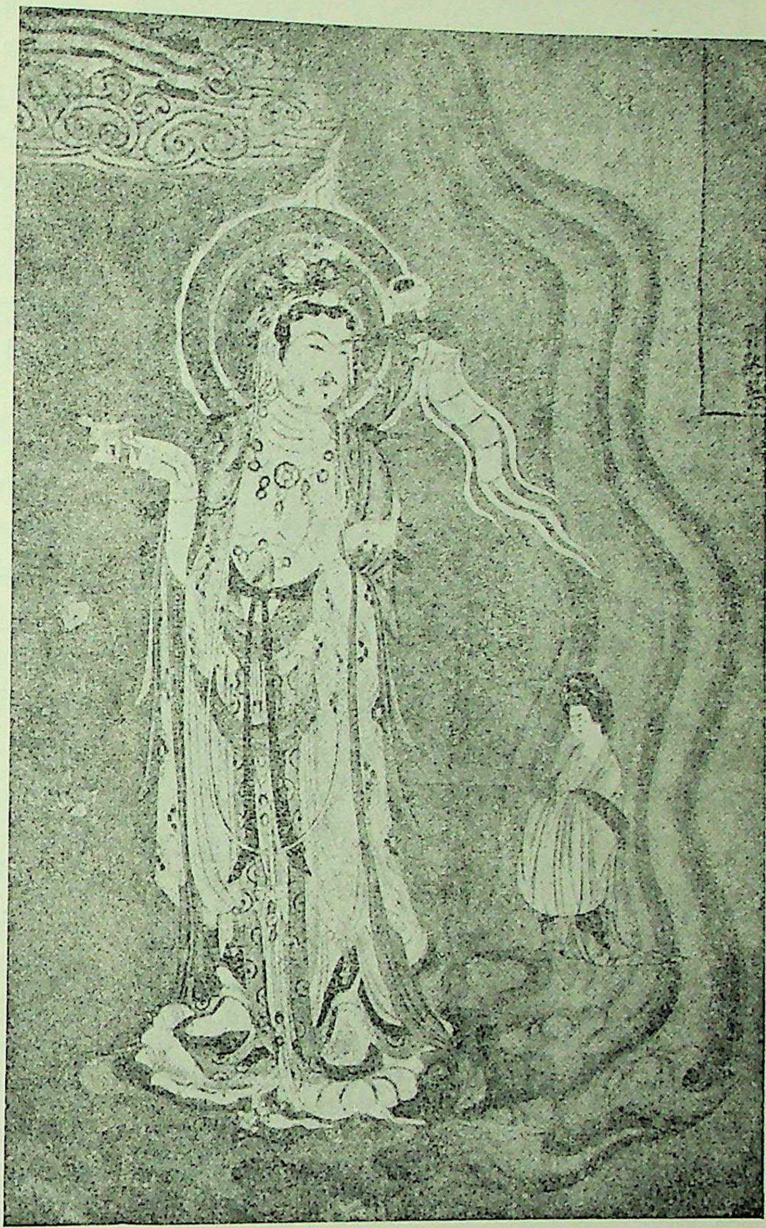

दसवीं शती ई० का एक चीनी चित्र, जिसमें आत्मा के पथ-प्रदर्शक बौद्ध देवता अवलोकितेश्वर की झांकी दिखाई गई है।

चीनी कला की यह कट्टर रूढ़िवादिता कतिपय विशिष्ट कारणों से है । अतः असंगत न होगा यदि हम सरसरी तौर पर इन कारणों पर नजर दौड़ा लें । चीनवालों की प्राचीन जीवनधारा में जिस बात की ओर सब से पहले ध्यान आकर्षित होता है, वह है उनका सामाजिक ढाँचा, जिसकी इकाई परिवार रही है न कि व्यक्ति । वहाँ पूर्वजों के रीति-रिवाज ने सब के लिए मान्य विधान का रूप ग्रहण कर लिया और कुटुंब की सत्ता बनाए रखना सब से बड़ी आवश्यकता समझी जाने लगी । इस कौटुम्बिक वेदी पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अधिकारों की आहुति चढ़ा दी गई । इस प्रकार वहाँ व्यक्ति सामाजिक शृंखला की एक कड़ी मात्र बन गया तथा इस अटूट शृंखला की सत्ता सर्वप्रधान हो गई । इस प्रकार की

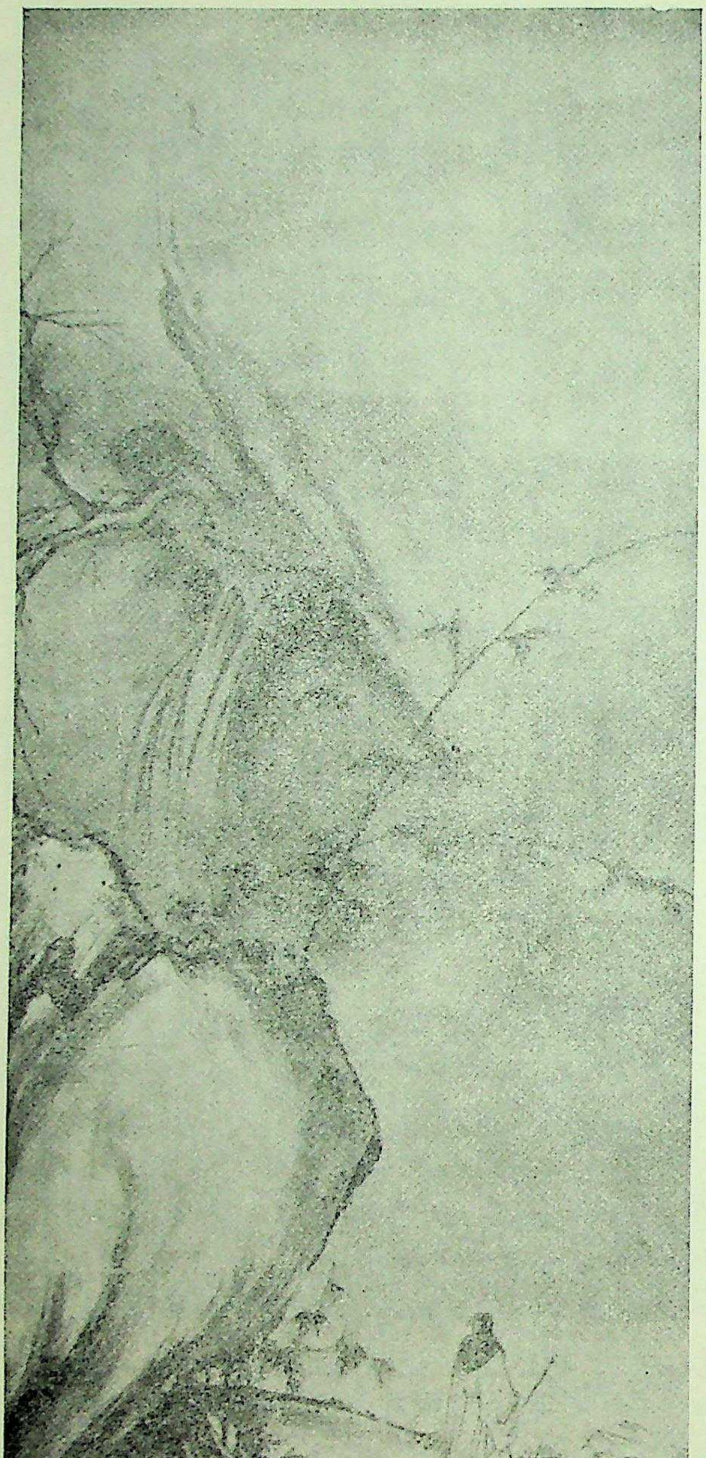

सुङ् राजवंश (९६०-१२८० ई०) के युग की एक सुन्दर कलाकृति, जिसमें हेमन्त ऋतु की झाँकी चित्रित है। जनश्रुति इसे हुई त्सुङ् नामक कलाकार की कृति बतलाती है।

परिस्थिति ने एक और महत्वपूर्ण प्रवृत्ति को जन्म दिया । यह थी दिवंगत पूर्वजों के प्रति अगाध धर्म-भावयुक्त श्रद्धा बनाए रखने, भविष्य के बजाय भूतकाल ही की ओर निरंतर पलटकर देखते रहने और अतीत को ही अंतिम सत्ता स्वीकार करने की प्रबल रूढ़िवादी प्रवृत्ति । इस प्रकार की संस्कृति के परिणामस्वरूप स्वभावतः ही वहाँ के जीवन में एकरूपता और सामंजस्य का भाव आ गया और फलस्वरूप वहाँ की कला में व्यक्ति की अपेक्षा जाति की छाप प्रमुख रूप से अंकित हो गई ।

कनफ्यूशियश और लाओत्जे का प्रभाव

इस विषय में यदि कुछ और गहरे उतरना हो, तो आवश्यक है कि हम चीन में कनफ्यूशियश और लाओत्जे (ये दोनों समकालीन थे और छठी शताब्दी ई० पू० में हुए थे) द्वारा प्रवर्तित जीवन संबंधी उन दो विभिन्न विचारधाराओं की भी कुछ जानकारी पा लें, जिनका कि चीनी जीवन के सभी अंगों पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा है । कनफ्यूशियश के मत को प्रायः एक विशिष्ट धर्म कहकर अभिहित किया जाता है, किंतु वह न तो एक धर्म ही है, न दार्शनिक विचारधारा ही । वस्तुतः वह एक नैतिक आदर्शयुक्त सामाजिक व्यवस्था है, जिसका लक्ष्य है मनुष्यों के पारस्परिक संबंध द्वारा समाज की स्थिति को स्थिर बनाए रखना । उसका आदर्श एक प्रकार का ऐसा समाजवाद था, जो कि एक कृषिजीवी जाति के लिए उपयुक्त हो । इस व्यवस्था में नित्यप्रति के जीवन में उचित व्यवहारसंबंधी बातें विधान और रीति-रिवाजद्वारा इस प्रकार नियन्त्रित की गई थीं कि उसके परिणामस्वरूप एक ऐसे समाज का जन्म होना अनिवार्य था, जिसमें व्यक्ति के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता था । इस व्यवस्था में इन बातों तक की निश्चित योजना पाई जाती है कि किसे किस प्रकार की टोपी पहनना चाहिए और शयन का सब से भद्र तरीका कौन-सा है !

ताओ-मत अर्थात् लाओत्जे द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था में इसके विपरीत जीवन के सम्बन्ध में एक बिलकुल भिन्न दृष्टिकोण मिलता है । इस मत का जन्म 'नीली नदी' की उपत्यका के निवासी

वन्य लोगों में हुआ था, जो 'ताओ' या प्रकृति के अंतराल में व्याप्त निराकार शक्ति के उपासक थे। नीली नदी के इन निवासियों के मन में प्रकृति के प्रति (अर्थात् चीन के उस भाग में बहुत अधिकता से पाए जानेवाले पर्वतों, नदियों, कुहासों और बादलों के प्रति) गहन अनुराग का भाव जमा हुआ था! वे लाओत्जे को अपने धर्म का आदि संस्थापक मानते थे। लाओत्जे व्यक्ति को कहीं अधिक महत्व देता था, क्योंकि विश्व में व्याप्त महान् निराकार शक्ति की धारणा के समर्थन के लिए आत्मा के व्यक्तिगत स्वरूप की महत्ता को स्वीकार करना आवश्यक था।

राजनीतिक पृष्ठभूमि

इस प्रकार चीनी कला की दो प्रमुख धाराओं अर्थात् रूढ़िवादिता और प्रकृति-पूजा का उद्गम हम चीन के इतिहास के प्रारम्भिक काल में कनफ्यूशियश और लाओत्जे की शिक्षाओं में पाते हैं। किन्तु निरे दार्शनिक या धार्मिक विचारों का दृढ़ता से जन-मस्तिष्क पर गहरी छाप जमा पाना तब तक संभव नहीं होता, जब तक कि उन्हें राज्य की शक्ति और समर्थन का बल भी प्राप्त न हो। चीनी राष्ट्र का सर्वप्रथम वास्तविक संगठन 'त्सीन' नामक तातार जाति के लोगों द्वारा हुआ, जोकि 'चाओ' वंश के राजाओं के अश्वपालों और सारथी का कार्य करते थे और साम्राज्य के सीमान्त पर रहते थे। इन लोगों ने एक शक्तिशाली केन्द्रीय राजसत्ता की स्थापना की और मंगोल घुमक्कड़ों के आक्रमण से देश की रक्षा करने के लिए चीन की सुप्रसिद्ध 'बड़ी दीवार' का निर्माण भी किया। इन्हीं लोगों के नाम पर इस देश का नाम 'त्सीन' या 'चीन' पड़ा। त्सीन लोगों को हान लोगों ने परास्त कर दिया। हान लोग कनफ्यूशियश के आदर्शों के पृष्ठपोषक थे। अतएव इन्होंने उन ग्रंथों को, जिनमें कनफ्यूशियश के विचारों का प्रतिपादन किया गया था, चीन के अन्यतम प्राचीन साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। हान-राजवंज के युग में साम्राज्य का विस्तार पश्चिम की ओर अधिक हुआ। इसके दो उद्देश्य थे--प्रथम तो मध्य एशिया की जंगली जातियों से चीन की रक्षा; दूसरे साम्राज्य

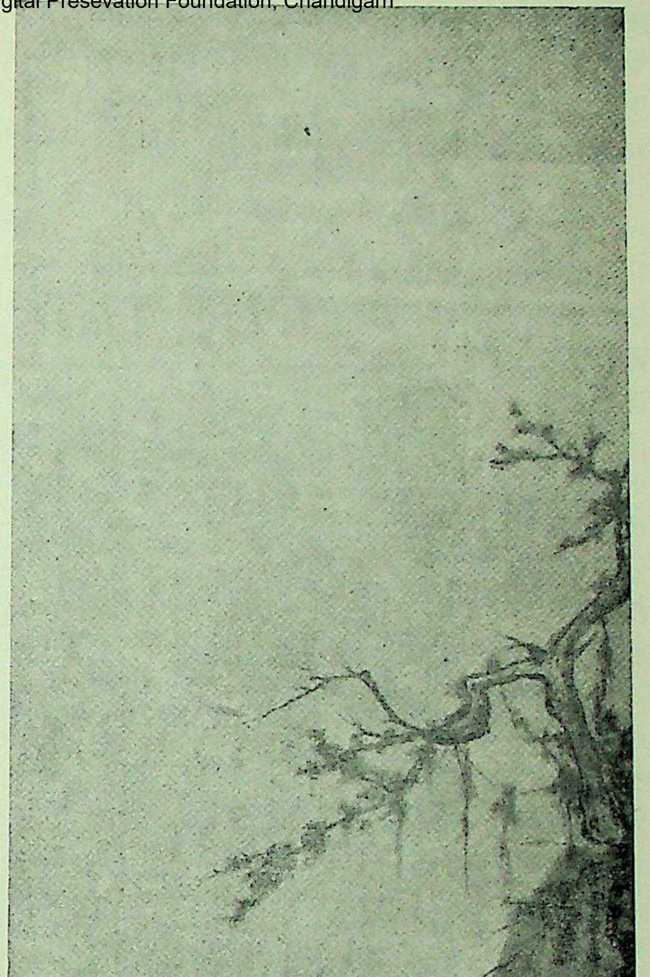

उसी काल की अन्य एक कृति, जिसमें पतझड़ का दृश्य चित्रित किया गया है। संभव है, दोनों चित्र एक ही कलाकार की देन हों!

के उन व्यापारिक मार्गों को खुला रखना, जिनके द्वारा चीन का रेशम तथा अन्य माल सुदूर पश्चिम में रोम-साम्राज्य तक जाता था। यह उल्लेखनीय है कि उस प्राचीन युग में ही चीन के रेशमी वस्त्र इतने प्रसिद्ध हो चुके थे कि रोमन लोग चीन को 'रेशम के देश' के ही नाम से पुकारते थे।

बौद्ध धर्म के साथ संपर्क और उसका प्रभाव

चीनी सभ्यता के इतिहास में विशद राजमार्गों का बड़ा महत्व रहा है। इन्हीं मार्गों से होकर व्यापारियों, धर्मयात्रियों और सेनाओं के विशाल झुण्ड प्रायः पूर्वीय और पश्चिमी एशिया के बीच आते-जाते रहते थे। जिन दिनों चीन में वहाँ की निजी संस्कृति ही पनप रही थी और सर्वमान्य रूढ़ियों का रूप लेती जा रही थी, उन्हीं दिनों इन विशद राजमार्गों पर क्रमशः बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। भारत से आए हुए बौद्ध भिक्षुओं और धर्मप्रचारकों का क्रमशः पूर्व की ओर अधिकाधिक विस्तार होता चला गया, विशेषकर पूर्वीय तुर्किस्तान में, जो कि चीनी साम्राज्य का ही एक आश्रित राज्य था। इसी प्रदेश के विस्तृत मरुभूमि से युक्त पठारों के बीच यहाँ-वहाँ बिखरे हुए कुछ इने-गिने नगरों में भारतीय धर्म और चीनी संस्कृति का महत्वपूर्ण समागम हुआ। इन दोनों के संयोग से कालान्तर में उस विशद आधारशिला की स्थापना हुई, जिस पर इसके बाद विकसित होनेवाली चीन की भावी महान् कला की इमारत खड़ी हुई।

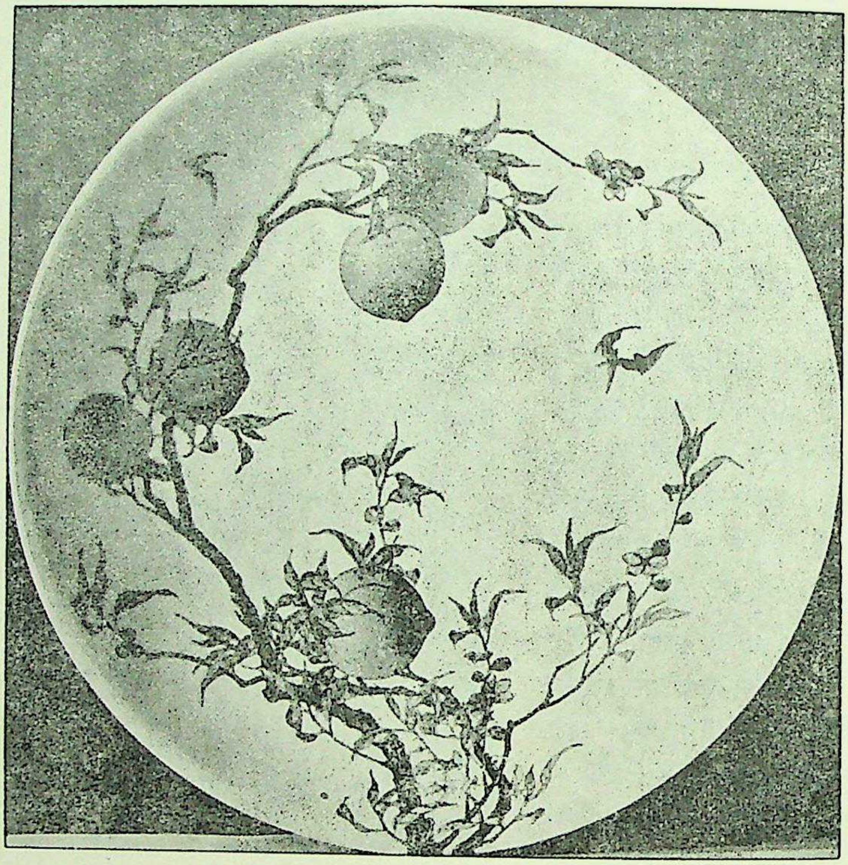

चिङ् राजवंश के युग की चीनी मिट्टी की एक तश्तरी पर चित्रित कमनीय झाँकी। इसका समय अठारहवीं शती ई० का पूर्वार्द्ध बताया गया है। इससे प्राकृतिक चित्रण में चीनी कलाकारों की सिद्धहस्तता का अनुमान किया जा सकता है।

इस कालावधि में शाक्य मुनि द्वारा निरूपित मूल बौद्ध धर्म में विशद परिवर्तन हो चुके थे। वस्तुतः हिमालय के उस पार से जो धर्म आया था, वह अब कठोर 'हीनयान' मत नहीं रह गया था, प्रत्युत उसका स्वरूप अधिक लोकग्राह्य बन चुका था, जिसमें बोधिसत्वों और उनकी 'शक्तियों' की कल्पना की भरमार हो चली थी। इन बोधिसत्वों में प्रधान थे 'अवलोकितेश्वर' नामक सर्वद्रष्टा देव। बौद्ध देवमंडली का यह सर्वोपरि देवाधिपति 'क्वान्नन' या 'क्वान्निन'––करुणा के देव––के नाम से चीनी और जापानी देवालयों का सर्वप्रधान देवता बन गया। चीन की विशिष्ट अभिव्यक्ति-प्रणाली में भारतीय विचारों के रूपान्तरितहोने की इस प्रक्रिया का प्रधान केन्द्र चीनी तुर्किस्तान था। यहाँ इतना स्थान नहीं कि हम सर ऑरेल स्टाइन, प्रोफेसर फॉन लेकाक एवं पेलिओ आदि विद्वानों की खोजों द्वारा उपलब्ध पुरातत्त्व-राशि का विवरण दे सकें। जिन्हें इस सम्बन्ध में विशेष जिज्ञासा हो, वे सर ऑरेल स्टाइन कृत 'सरिन्डिया', 'प्राचीन खोतान', 'सहस्र बुद्धों की गुफा', अथवा फॉन लेकाक कृत 'चीनी तुर्किस्तान के गड़े हुए खजाने' आदि ग्रंथों के पृष्ठों को उलट सकते हैं, जिनमें इस संबंधमें प्राप्त मूल्यवान् सामग्री की विस्तृत झाँकी प्रस्तुत है। इस युग के सुन्दरतम भित्तिचित्र, जिनकी खोज प्रो० फॉन लेकाक ने 'काईजाइल' और 'बेजेक्लिक' नामक स्थानों से की थी, आजकल बर्लिन के 'मानव वैज्ञानिक संग्रहालय' में सुरक्षित हैं। कतिपय महत्त्वपूर्ण सामग्री नई दिल्ली के संग्रहालय में भी देखी जा सकती है।

टैङ्-युग के बौद्ध चित्र

खेद की बात है कि खास चीन में इस सांस्कृतिक समाहार की प्रक्रिया का पूरी तरह आत्मीकरण और प्रकाशन टैङ-राजवंश के काल में जाकर हुआ। यह युग यों तो चीन की समस्त कलाओं—चित्रकारी, भास्कर्य, धातुकारी, काव्य और संगीत—का स्वर्णयुग था, किन्तु उसके अन्तिम दिनों में बौद्ध मत के विरुद्ध प्राचीन रूढ़िवादिता की प्रतिक्रिया की एक प्रबल लहर देश में उठ खड़ी हुई थी, जिसने कालान्तर में एक विद्रोह का रूप धारण कर लिया था। इस प्रतिक्रिया ने टैङ-राजवंश को उखाड़ फेंका और फलस्वरूप चीन में पुनः कनफ्यूशियश द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था की जोरों से स्थापना हो गई। विद्रोहियों ने बौद्ध विचारों का अनुसरण करनेवाले हर व्यक्ति को तलवार के घाट उतारना शुरू किया और इसके साथ-साथ उन्होंने सुन्दर भित्तिचित्रों से सुसज्जित अनेक मठों और देवालयों का भी विध्वंस कर दिया, जिस से कला संबंधी अनेक अमूल्य कृतियाँ नष्ट हो गईं। यह सच है कि दसवीं सदी ई० में चीन में फिर बौद्ध मत के पुनरुज्जीवन की एक लहर उठी, किन्तु उस समय तक अधिकांश चित्र और भित्तिचित्र ऐसे नष्ट हो चुके थे कि उनका उद्धार संभव नहीं था। टैङ-युग के भित्तिचित्रों के अवशेषों में सब से प्रसिद्ध है 'वसंतोत्सव' नामक विख्यात चित्र के वे जीर्ण-शीर्ण अंश, जो ऑरेल स्टाइन को १९१४ ई० में तुर्फान में मिले थे। ये सचमुच ही प्रशंसा के योग्य हैं। ये चित्र इसी युग की कुछ और तस्वीरों से, जो कि अब जापानी संग्रहालयों में सुरक्षित हैं, बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं और उन्हीं जैसी शैली तथा कलात्मक प्रेरणा की अभिव्यक्ति का प्रदर्शन वे करते हैं। इस प्रकार की अधिकांश चित्रकारी बौद्ध विषयों से संबंधित हैं। वस्तुतः टैङ-युग की मध्यतम रचनाएँ बौद्ध प्रेरणाओं की ही उपज थीं। इन चित्रों में सर्वश्रेष्ठ है वू ताओत्सू की रचनाएँ, जो सर्वश्रेष्ठ चीनी चित्रकार माना जाता है। कहते हैं कि इस महान् कलाकार ने तीन सौ से भी अधिक भित्तिचित्र रचे थे, किन्तु दुर्भाग्यवश उसकी अद्वितीय प्रतिभा की झलक दिखाने के लिए आज उनमें से एक भी शेष नहीं रहा है। टैङ-काल के बौद्ध चित्रों में से कुछ, जिन पर कि प्रान्तीयता की छाप है, पॉल पेलिओ और सर ऑरेल स्टाइन द्वारा चीन के पश्चिमी सीमाप्रदेश के तुन-हुवाङ नामक स्थान में खोजे गए हैं। उनमें से कुछ चित्र नई दिल्ली के मध्य एशियाई पुरातत्त्व-संबंधी संग्रहालय में देखे जा सकते हैं। इनमें से कई चित्रों पर नवीं और दसवीं सदी ई० की तिथि अंकित है। इनका काफी ऐतिहासिक महत्व है। तुन-हुवाङ से प्राप्त ये चित्र अधिकांशतः अमिताभ बुद्ध, जो कि पश्चिमी 'स्वर्गभूमि' के अधिष्ठाता माने जाते थे, तथा उनके मानस-पुत्र अवलोकितेश्वर अथवा 'करुणा के देव' से संबंधित हैं, जो कि बाद में नारी-आकृति में चित्रित किए गए हैं। 'स्वर्ग' संबंधी ऐसे अनेक चित्र मिलते हैं, जिनमें प्रायः बुद्ध (अधिकतर अमिताभ) की अधीनता में अनेक दिव्य

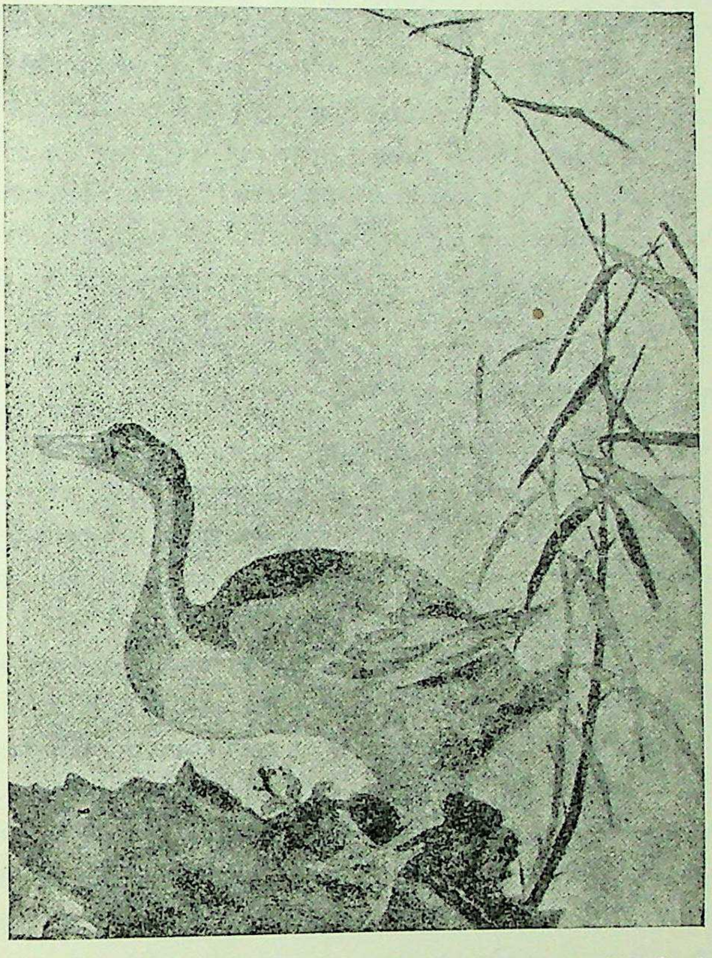

रेशमी परदे पर चित्रित चिङ-राजवंश के युग की एक सुन्दर झाँकी, जिससे चीनी कलम की बारीकी का अनुमान किया जा सकता है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आत्माओं की मंडली एक पुनीत नृत्योत्सव के चारों ओर एकत्रित चित्रित पाई जाती हैं। असंख्य मानवाकृतियों से युक्त इन जटिल चित्रांकनों में से कई एक रचना-संबंधी अद्भुत शान्तिसूचक सुसंगति और वर्ग-वैचित्र्य के सौंदर्य से अभिभूत हैं। उनमें चित्रित आकृतियों की व्यवस्था में किसी प्रकार की गड़बड़ी या भोंडापन नहीं पाया जाता। धर्मार्थ उत्सर्ग किए गए अन्य चित्रों में महान् बोधिसत्वों, विशेषतया क्वान्नन (करुणादेव) अथवा बौद्ध गाथाओं के दृश्यों का चित्रण है। बोधिसत्वों के चित्रों में आकृतियाँ, वेशभूषा, चेहरे, आभूषण आदि हूबहू मूल भारतीय मूर्तियों के ही अनुसार बनाए गए हैं। दूसरे प्रकार के अर्थात् बौद्ध गाथाओं के चित्रों में वेशभूषा और इमारतें आदि विशुद्ध चीनी ढंग की हैं। इन विशाल चित्रों के अगल-बगल अंकित छोटे-छोटे दृश्यों से उस युग के लौकिक विषयों के चित्रण की शैली की एक झलक हमें मिल जाती है। इन्हीं में चित्रित दाताओं या दापकों के चित्रों से हमें उस युग की वेशभूषा का भी अनुमान हो जाता है।

प्राकृतिक दृश्य-चित्रण

टैङ-युग की एक और लाक्षणिक विशेषता है प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रों के लिए चीन में 'शान् सुई' शब्द का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ है 'पर्वत और जल'। इस प्रकार के चित्रों के लिए निरंतर बहनेवाली जलधाराओं तथा मध्य पर्वतमालाओं का दृश्य ही सब से प्रिय विषय माना जाता है। इस प्रकार का जो चित्रण चीनी चित्रों में पाया जाता है, उसमें एक विशेष प्रकार की सूक्ष्मता तथा आध्यात्मिकता का भाव निहित रहता है, जिसके द्वारा दिन और रात्रि के आठों पहर तथा भिन्न-भिन्न ऋतुओं में उन पर्वतों के भिन्न-भिन्न सूक्ष्म भावों और चित्तवृत्तियों का अभिलेखन किया रहता है। इनमें कभी भी एक दृश्य का प्रत्यांकन नहीं पाया जाता, प्रत्युत यहाँ-वहाँ उड़ते हुए अनेक भावों और चित्तवृत्तियों के सम्मिलन का प्रयास दिखाई देता है, जिनसे दृश्य विशेष की सृष्टि हो जाती है। ली श्शू-शून (जन्म ६५१ ई०) पहला विख्यात चित्रकार था, जिसने विशुद्ध प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण को ही अपना एकमात्र कार्य क्षेत्र बनाया। उसके पुत्र ने उसकी आलेखन-विधि को जारी रखकर उसका विकास किया। अंत में वाङवी नामक कवि-चित्रकार के हाथों में पहुँचकर तो प्राकृतिक दृश्य-चित्रण की यह कला एकबारगी ही खिल उठी। वाङवी ने एक प्रकार की इकरंगी रोशनाई द्वारा चित्रण करने की विधि का विकास किया। उसमें प्राकृतिक दृश्य भाव का गौण अंग मात्र बन गया। यह श्शू-शुन और उसके संप्रदाय की कृतियों से कहीं अधिक आत्मसूचक था। वाङवी के सुप्रसिद्ध चित्रपट 'वाङ चुआन् की दृश्यमाला' की प्रतिलिपियाँ अब भी विद्यमान हैं। जब उस महान् कलाकार द्वारा रेशमी पट पर आलिखित मूल चित्र जीर्णशीर्ण हो चला, तब उसे चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से उसकी पत्थर पर खोदकर एक प्रतिलिपि उतार ली गई। उसे डॉ० लॉउफर ने खोज निकाला है।

जानवरों का चित्रण

जानवरों के चित्रण की कला भी टैङ-युग में अपनी चरम सीमा पर जा पहुँची। इस युग की कब्रों या समाधियों में पाई गई सुंदर आकारवाली घोड़ों और ऊँटों की अद्भुत मृण्मय मूर्तियाँ एक आश्चर्यजनक वेग और व्यापक दृष्टिकोण की सूचना देती हैं। ग्रीक या मिस्री कब्रों में पाई गई जानवरों की मूर्तियों से ये कहीं बढ़कर हैं। इन रँगी हुई मिट्टी की मूर्तियों के सौंदर्य को देखकर अनुमान होता है कि इस युग का जानवरों का चित्रण अति उत्कृष्ट रहा होगा। त्साओ पा और उसका शिष्य हान कान, जो अपने गुरु से भी बढ़ा-चढ़ा था, इस युग के सब से प्रख्यात अश्व-चित्रकार थे और हान हुआङ भैंसों तथा ग्राम्य दृश्यों के चित्रण में सब को मात करता था। इसके अतिरिक्त इस युग में राजदरबार तथा अन्य सांसारिक विषयों के भी भव्य चित्र बनाए गए, जिनमें चाउ फैङ कृत "संगीत के श्रोता" नामक चित्र उल्लेखनीय है।

टैङ और सुङ-युग के बीच के युगान्तर-काल में चित्रकारी का दृष्टिबिंदु जानवरों और प्राकृतिक दृश्यों से हटकर पुष्पों और वनिताओं पर केन्द्रित हो गया। इस संधि-युग का सब से प्रख्यात चित्रकार हुआन चुआन था, जिसने प्राकृतिक दृश्य, पक्षी और पुष्प आदि का चित्रण किया है और जिसे चित्रकला में तथाकथित "अस्थिरहित विधि" (अर्थात् कोई रूपरेखा खींचे बिना ही चित्र बनाने की विधि) का आविष्कार करने का श्रेय दिया जाता है।

सुङकालीन स्वर्णयुग

चीनी कला के द्वितीय स्वर्णयुग का उदय सुङ-काल (९६०–१२८० ई०) के आरम्भ के साथ हुआ, जिसकी कलात्मक प्रतिभा के प्रस्फुटन की तुलना योरप में पुनरुज्जीवन-काल की कला-संबंधी प्रगति से की जा सकती है। योरपीय पुनरुज्जीवनकाल की भाँति सुङ युग ने भी अपना आदर्श अतीत में पाया। इस युग के दर्शन, काव्य और चित्रकला ने मिलकर चीनी प्राकृतिक दृश्य-चित्रण के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ निर्मित कीं। सुङ-राजवंश के सम्राटों की अधी-

नता में सारा चीन एक बार पुनः एकता के सूत्र में बँध गया। सम्राट् हिन सुङ स्वयं एक चित्रकार और शौकीन संग्रहकर्ता था। उसके राज्यकाल में पेकिङ्ग की 'चित्रकला-परिषद्' ख्याति के शिखर पर चढ़ गई और चीन के सभी भागोंसे प्रतिभावान् कलाकार उसकी ओर आकृष्ट होने लगे। राजकीय संरक्षण पाकर चित्रकला में यथार्थवादिता के प्रति अग्रसर होने की प्रबल लहर उठने लगी, यद्यपि शैली में कठोर सादगी का ही ध्येय बना रहा। अब पुष्पों का चित्रण चित्रकारों का अति प्रिय विषय बन गया, क्योंकि स्वयं सम्राट् भी एक प्रतिभावान् पुष्प-चित्रकार था। इसके अतिरिक्त बहुतेरे कलाकार रोशनाई द्वारा बाँस के पौधे के चित्रण का भी अभ्यास करते रहे, जिसमें उन्होंने अद्भुत दक्षता प्राप्त की। अनेक नई चित्रण-शैलियों का भी आविष्कार हुआ, उदाहरणार्थ मी फेई की रूपरेखारहित प्राकृतिक दृश्य-चित्रण की विधि, जिसमें सघन वर्षा अथवा कुहरे में से निकलते हुए वनाच्छादित शैल-शिखर तूलिका द्वारा मोटे तौर पर चित्रित रहते थे। शाओ-ता-निएँ ने शरद् या पतझड़ और हेमन्त-काल के दृश्यों के चित्र बनाए और फान क्वान अपने तुषार-मंडित हिमशिखरों के दृश्यों के सुन्दर आलेखन के लिए प्रख्यात हुआ।

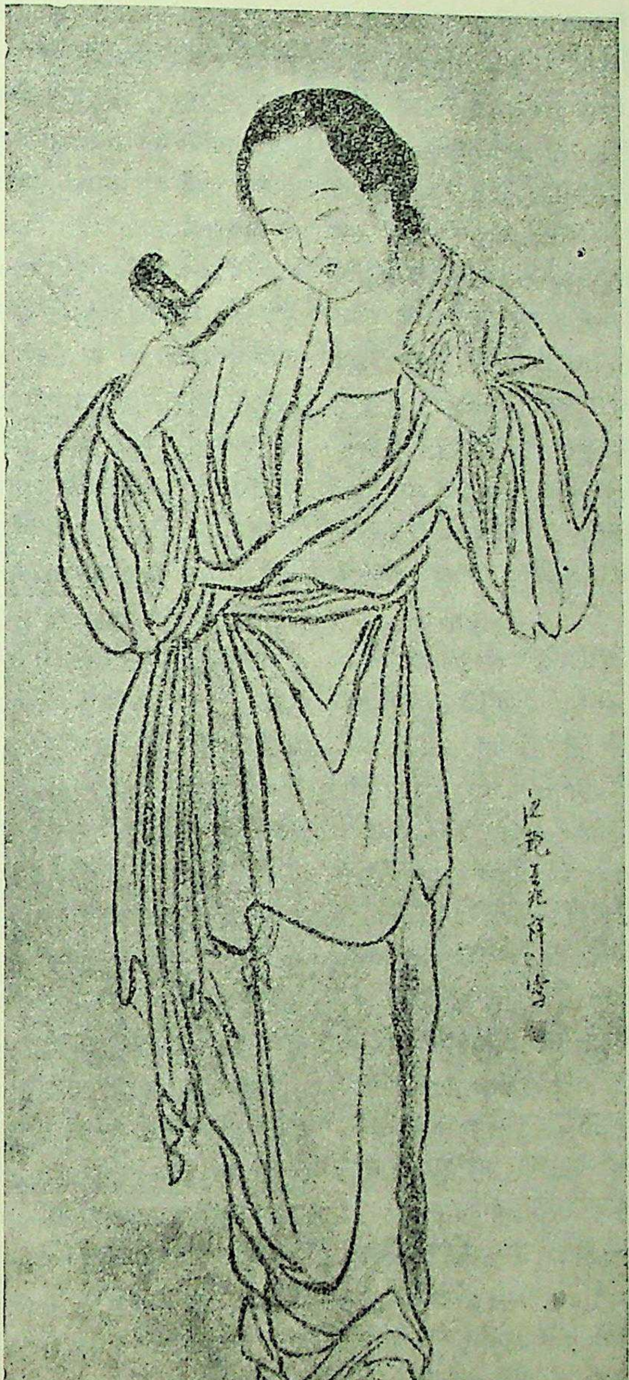

चिङ्-युग का एक आकर्षक चित्र, जो. वैङ् चाओ सियाङ् नामक चित्रकार (१८वीं सदी ई०) की कृति है।

सुङ-युग की कला के क्षेत्र में सब से प्रसिद्ध नाम ली-लुङ-मिएँ का है। उसे प्राचीन परम्परा के प्रति प्रबल अनुराग था। आरंभ में तो वह प्राचीन महान् कलाकारों की कृतियों की प्रतिलिपियाँ तैयार करने का ही काम करता रहा। पर बाद में वह एक अश्व-चित्रकार बन गया और अंत में सभी विषयों को छोड़करकेवलबौद्धविषयों के ही चित्रण में जुट गया! उसके चित्रों की प्रमुख विशेषता यह है कि वह रंगों का प्रयोग शायद ही कभी करता था—वह अपना चित्रांकन केवल अति सूक्ष्म भावपूर्ण रेखाओं द्वारा ही किया करता था! उसकी कृतियों की प्रतिलिपियाँ काफी संख्या में मिलती हैं।

'जेन' संप्रदाय के प्रभाव से चीनी कला में नया मोड़

११२७ई० में चंगीज खाँ के नेतृत्व में तातार लोग 'स्वर्ग के पुत्र' (चीनी सम्राट) के विरुद्ध उठ खड़े हुए और उन्होंने सारे उत्तरी चीन पर अधिकार कर लिया। इस परिवर्तन का स्पष्ट प्रतिबिंब तत्कालीन कला में भी दिखाई पड़ता है। जब वाह्य

परिस्थिति में जनता की अधिक दिलचस्पी नहीं रही——क्योंकि उसे पलटने में वे असमर्थ थे——तो इसके बदले कोलाहलमय जीवन से भागकर किसी सुन्दर शांत एकान्त की शरण लेने की कामना बलवती हो उठी । फलतः गगनचुंबी पर्वत-शिखरों और द्रुतगामी जलधाराओं के प्रति आकर्षण का भाव उमड़ चला, जो चीनी मस्तिष्क में पहले ही से घर किए हुए था। बौद्ध धर्म के 'जेन' (ध्यान) नामक संप्रदाय ने, जिसका प्रवेश चीन में छठी शताब्दी ईस्वी में एक भारतीय राजपुरुष के प्रयत्नों से हुआ था, अब चीनी मस्तिष्क में गहरी जड़ जमाना शुरू किया । इसका एक कारण संभवतः यह भी था कि इस मत के विचारों में प्राचीन ताओ-मत के सिद्धांतों से घनिष्ट समानता थी। इस नवीन मत में वाह्य जगत् की अवहेलना कर अंतर्जगत् की ओर अभिमुख होने पर विशेष रूप से जोर दिया जाता था । फलस्वरूप चित्रों में तड़कीले-भड़कीले, सुनहले और रंगीन वस्त्रों से सुसज्जित बुद्ध और बोधिसत्वों के बदले अब गहन ध्यान में निमग्न अर्हन्तों अथवा जेन संतों की आकृतियाँ अधिक दिखाई पड़ने लगीं । इस नवीन प्रवृत्ति ने दक्षिणी सुङों की कला को एक विशिष्ट काव्यमय भाव से अभिभूत कर दिया ।

इस युग के सब से प्रतिभावान् कलाकार ली टेङ और उसके दो मशहूर शिष्य शिया कुएई तथा मा युआन हैं । यद्यपि इस शैली की चित्रकारी बहुत शीघ्र चीन में अपनी लोकप्रियता खो बैठी, फिर भी दुनिया की निगाह में वही चीनी चित्रकला के सर्वोत्कृष्ट रूप की प्रतिनिधि मानी जाती है । एकीकरण की भावना और आवेग के भाव से युक्त इस शैली में हम सरलता और भव्यता का सुन्दर समन्वय पाते हैं ।

चीनी मूलतः कृषि-व्यवसायी रहे हैं, फिर भी उनकी चित्रण-कला के मूल में जो प्रेरक शक्ति काम करती रही है, वह उपजाऊ धरती के साथ परिश्रमशील मानव के संबंध में नहीं, प्रत्युत एक अधिक व्यापक विश्व-जनीन भाव में निहित रहा है, जिसमें प्रबल झंझावात धूमिल कुहासा, उन्नत शैल-शृंग तथा उमड़ते हुए स्रोतरूपी प्राकृतिक शक्तियों के साथ मानव आत्मा के निकट सौहार्द्र का भाव अंतर्हित है ।

युआन या मंगोल-युग के प्रादुर्भाव के साथ ही चीनीचित्रकला ने एक बार फिर अपना वेग गँवा दिया । अब घोड़ों का चित्रण ही प्रधान विषय बन गया, चूंकि मंगोल लोग मूलतः घुमक्कड़ जाति के लोग थे और घोड़ों और ऊँटों पर निर्भर थे । इस युग का सब से मशहूर अश्व-चित्रकार चाओ-मैङ्गफू था, जो प्राकृतिक दृश्यों और पुष्पों के चित्रण में भी दक्ष था । अन्य एक समकालीन विख्यात चित्रकार 'जेन जेनफा' था, जिसकी अनेक कृतियाँ योरप और जापान के संग्रहालयों में मौजूद हैं ।

मिङ-युग की कला

मिङ-युग की कला में हम धार्मिक प्रेरणा का क्रमिक विलोप होते देखते हैं । अपने ही में लवलीन हो जाने के कारण अब चीन का बाहरी दुनिया से कोई प्रेरणाजनक संसर्ग नहीं रह गया । फलस्वरूप उसकी कला अन्तर्जगत् के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करने की अपेक्षा वाह्य पार्थिव वस्तुओं की सुन्दरता के चित्रण में उलझ गई । फिर भी इस युग में प्रसिद्ध चित्रकारों की एक नक्षत्र-मंडली का उदय हुआ, जिसका अधिकतर श्रेय मिङ-राजवंश के प्रथम सम्राट् द्वारा 'चित्रकला-परिषद्' की पुनर्स्थापना को था । इस युग के चित्रों के मुख्य विषय पक्षी, फूल और प्राकृतिक दृश्य थे और उनमें भड़कीले रंगों——विशेषकर नीले और सुनहले रंगों——की प्रधानता रहती थी। पर इस युग का प्रधान गौरव साधारण मिट्टी और चीनी मिट्टी के अति सुन्दर पात्रों का निर्माण था । मिङ-युग के चीनी के पात्र योरप में इतने अधिक लोकप्रिय बन गए कि 'पोर्सलेन' के लिए वहाँ 'चाइना' शब्द का ही प्रयोग होने लगा ।

चिङ (मंचू) राजवंश (१६४४-१९११ ई०) का युग पुरातन परम्परागत शैलियों के क्रमिक ह्रास का युग रहा, यद्यपि बुझती हुई चिनगारियों में कई उल्लेखनीय प्रतिभावान् कलाकारों के दर्शन भी होते हैं । अब चित्रकला ढीली-ढाली, निम्न कोटि की और सनक से भरी हो चली । इस युग के आरंभिक दिनों के शौकीन चित्रकारों में चू-टा नामक एक कलाकार के रोशनाई से बनाए पुष्पों और शिलाखण्डों आदि के चित्रों की विशेष सराहना की गई है । दूसरा प्रसिद्ध नाम सत्रहवीं शताब्दी के युन शाउ पिङ का है, जो चिङ-युग का सब से प्रख्यात पुष्प चित्रकार था ।

इसी काल के लगभग चीन के राजदरबार में पाश्चात्य ईसाई मिशनरियों का प्रवेश हुआ । इसके फलस्वरूप पहले-पहल चीन की भूमि में यथार्थवादिता का बीज बोया गया । परंतु सौभाग्य से चीनी मस्तिष्क में गहरी जड़ जमाए हुए परम्परावाद की रीढ़ बहुत मजबूत थी और उसकी शक्ति के आगे योरपीय चित्र चीनी कला पर स्थायी प्रभाव नहीं डाल सके । इस युग की मिश्रित वर्णसंकर कला के दो दिलचस्प नमूने ज्यूसेपकास्टालिओनेनामक जेसुइटपादरी तथा चिआओ पिङ-चेङ नामक चीनी चित्रकार की कृतियाँ हैं । महान् चीनी कलाकारों में से अंतिम शेनान पिन था, जो जापान में जा बसा था । उसका जापानी प्रकृतिवाद पर प्रेरक प्रभाव पड़ा ।

कला की पुरातन धाराएँ—(१६)

प्राचीन चीन :: मूर्तिशिल्प

पिछले अध्याय में हमने प्राचीन चीन की कला के सबसे महत्वपूर्ण अंग—चित्रकला—का विवेचन किया। आइए, अब कला के दूसरे महत्वपूर्ण अंग—मूर्तिशिल्प—के क्षेत्र में भी उसकी उपलब्धियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने का प्रयास करें।

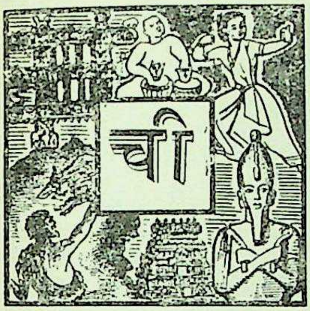

चीन की चित्रकला की भाँति वहाँ के भास्कर्य या मूर्ति-निर्माण-कला को भी एक अत्यंत प्राचीन वंशपरंपरा से युक्त होने का गर्व और गौरव प्राप्त है। इस क्षेत्र की प्राचीनतम कलाकृतियाँ और उनका इतिहास तो आज पुरातत्व के धुंधले कोहरे में विलीन हैं। हाँ, ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दी के अंतिम चरण के लगभग के 'दैत्याकार बर्बरों' की बारह भीमकाय मूर्तियों तथा हरिण के शीश एवं ड्रेगन के शरीर की मिश्रित दानवीय आकृतियों के साँचे में ढाले गए कुछ घंटाओं के विशाल ढाँचों का उल्लेख इतिहास में मिलता है, जिन्हें सम्राट् चिन शिह हुआङ ती ने अपने राज्य भर के युद्ध संबंधी शस्त्रों की धातु गलाकर बनवाया था। ये काँसे की दैत्याकार मूर्तियाँ कालान्तर में अंतिम हान राजवंश के तुङ चौ नामक राजा द्वारा गला डाली गई थीं। ये मूर्तियाँ मन्दिरों के उन द्वारपालों की भयंकर मूर्तियों से ही बहुत-कुछ मिलती-जुलती रही होंगी, जिनसे हमें उत्तरकालीन चीनी भास्कर्य में परिचय प्राप्त करने का अवसर मिलता है।

चिन, चाओ और हान-युग का शिल्प

काँसे की कुछ छोटी-छोटी मूर्तियों का पता चिन राजवंश के समय में हमें मिलता है। इनमें से अधिकांश बहुत छोटे आकार की हैं और धार्मिक बलिपात्रों के ढक्कनों पर अलंकार के रूप में प्रयुक्त की गई हैं। विशेषकर पशुओं की आकृतियों ही का आश्रय लिया गया है। ड्रेगनों के चित्र पहलेपहल इसी युग में सामने आते हैं, जो अत्यन्त भयानक, वीभत्स और विचित्र हैं। कभी-कभी बड़े घंटों के पकड़ने के दस्ते भी इन्हीं आलंकारिक दैत्याकृतियों से विभूषित मिलते हैं। धारणा की जाती है कि चाओ-काल की कला (११२२-२५६ ई० पू०), जो कि चिन-युग के ठीक पहले की थी, सांकेतिक और बहुत-कुछ रेखागणित की आकृतियों में निबद्ध रही होगी।

उधर हान-युग की कला के जो थोड़े-बहुत नमूने प्राप्य हैं, उनसे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि इस युग का भास्कर्य मानवाकृति की अपेक्षा पशुओं की आकृतियों के चित्रांकन के लिए अधिक उपयुक्त था। चीनी मूर्तिकला पर सब से बड़े प्रामाणिक लेखक प्रो० ऑसवाल्ड साइरन ने हान-युग की कला की विशेषताओं का बड़े प्रशंसनीय ढंग से संक्षेप में निम्न वर्णन किया है—

"प्राचीन चीनी लोगों ने किसी समय भी मानवाकृति को स्वतः कला का निमित्त नहीं माना, वरन् उसका उपयोग केवल किसी क्रिया अथवा चेतना के पहलू विशेष को साकार बनाने के लिए ही किया। वे शारीरिक गढ़न अथवा मांसपेशियों की बनावट से कहीं अधिक विशेष प्रकार की आकृतियों, मनोभावों एवं परिधान-संबंधी बारीकियों का चित्रांकन करने में ही दिलचस्पी लेते थे। किन्तु पशुओं की प्रस्तर-मूर्तियों के निर्माण में बिल्कुल ही दूसरी बात घटित होती है। इस क्षेत्र की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ तो (बावजूद इसके कि वे बहुधा छोटे आकार की ही हैं) ऐसी चिरस्मरणीय महान् रचनाएँ हैं, जो किसी भी अन्य राष्ट्र अथवा युग की पशु-मूर्तियों से घटकर

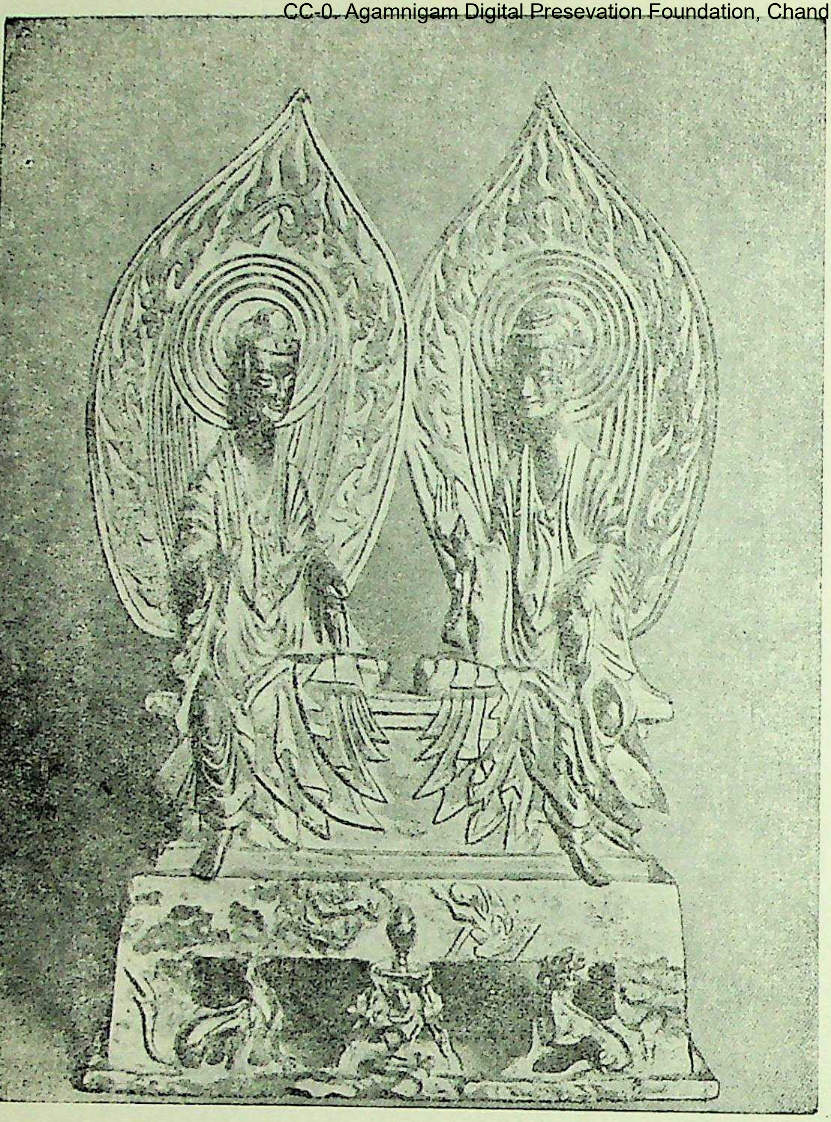

छ: राजवंशों के युग (लगभग ५१८ ई०) की प्रभुतरत्न और शाक्यमुनि (बुद्ध) की काँसे की एक कलापूर्ण प्रतिमा।

नहीं ठहरेंगी। आरंभ के युगों में जो रूढ़िप्रियता दिखाई देती है, उससे अवास्तविकता की ध्वनि नहीं निकलती, प्रत्युत शारीरिक संगठन, गति-संबंधी सौष्ठव एवं मूर्ति की साकारता ही अधिक प्रस्फुटित हुई है। इस प्रकार कला की दृष्टि से ये मूर्तियाँ महान् तथा प्रभावपूर्ण हैं।"

हानकालीन मूर्तिकारों ने न केवल अलग-अलग पशुओं के निर्माण में ही, बल्कि पशु-समूहों के चित्रांकन में भी नैपुण्य प्राप्त किया। अक्सर उन्होंने दो-तीन पशुओं को साथ-साथ बड़ी सुघराई से सजाया है और उन्हें अधिक से अधिक पेचीदगी के साथ जटिल और विचित्र स्थितियों में खड़ा किया है। युद्ध करते हुए पशुओं की प्रतिमाएँ तो और भी दर्शनीय हैं, क्योंकि उनमें अंगों के तनाव एवं मांसपेशियों की हरकतों का पूर्ण विकास चित्रित किया गया है तथा शरीर एक दूसरे से इस प्रकार उलझे हुए प्रतीत होते हैं कि वे सब मिलकर शिल्पकार की ललित कल्पना को एक बहुत ही सजीव और कलात्मक ढंग से मूर्तिमान् बना देते हैं। पशुओं के भिन्न आकार-प्रकार का सब से अच्छा प्रदर्शन समाधियों में प्रतिष्ठापित करने के लिए निर्मित मिट्टी की लघु मूर्तियों में मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मिट्टी ही वह सरलतम और सब से सुलभ माध्यम है, जिसमें पत्थर अथवा लकड़ी की अपेक्षा कला-नैपुण्य और चतुराई के प्रदर्शन की सब से अधिक गुंजाइश होती है। यही कारण है कि चीन की ये मिट्टी की मूर्तियाँ कहीं अधिक यथार्थवादी और सजीव हैं, जैसा कि गढ़ी हुई पाषाण-मूर्तियों में देखने को नहीं मिलता; क्योंकि माध्यम के कड़ेपन और लचीलेपन के अभाव के कारण पत्थर में ऐसी मूर्तियों की अभिव्यंजना में स्वाभाविकता नहीं आ पाती। जो पशु अपने मृत स्वामियों की समाधियों तक अनुगमन करते थे, उनकी मूर्तियां मृतक के साथ दफनाने का रिवाज था। इसी प्रकार परलोक में अपने स्वामियों की सेवा करने के लिए इन पशुओं की मूर्तियों के साथ भृत्यों की भी मूर्तियाँ रखी जाती थीं। समाधियों पर उत्सर्गित 'मिंग-ची' नामक इन मानव-मूर्तियों में प्रायः आश्चर्यजनक कौशल देखने को मिलता है--वे सजीव-सी मालूम पड़ती हैं। पूर्वकाल में चीन में पत्नियों के शव भी पतियों के साथ गाड़े जाते रहे होंगे, क्योंकि हान-काल की इन लघु मूर्तियों में सामान्यतः दुबली-पतली महिलाओं की मूर्तियाँ भी अत्यधिक पाई जाती हैं। इन स्त्रियों की लम्बी पोशाक की चौड़ी आस्तीनें देखकर 'किमोनो' नामक जापानी पोशाक की याद आ जाती है।

इसमें संदेह नहीं कि हान-काल में विशाल प्रस्तर-मूर्तियाँ भी विद्यमान रही होंगी, किन्तु राजनीतिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप कलाकृतियों का इस सीमा तक विनाश हुआ

कि विजेताओं ने पागलपन के आवेश में अधिकांश बहत्तर कृतियों को एकदम नष्ट कर दिया। सियन्फू जिले में घोड़ों और वृषभों की कई प्रतिमाएँ पाई गई हैं, जो कि प्रसिद्ध सेनानायक हो-चू-पिङ की मृत्यु की स्मारक हैं। पर इन्हें देखने से कभी-कभी ऐसा मालूम होने लगता है कि उनमें कला का अपेक्षाकृत बहुत कम विकास हो पाया है।

समाधिगृहों का मूर्तिशिल्प

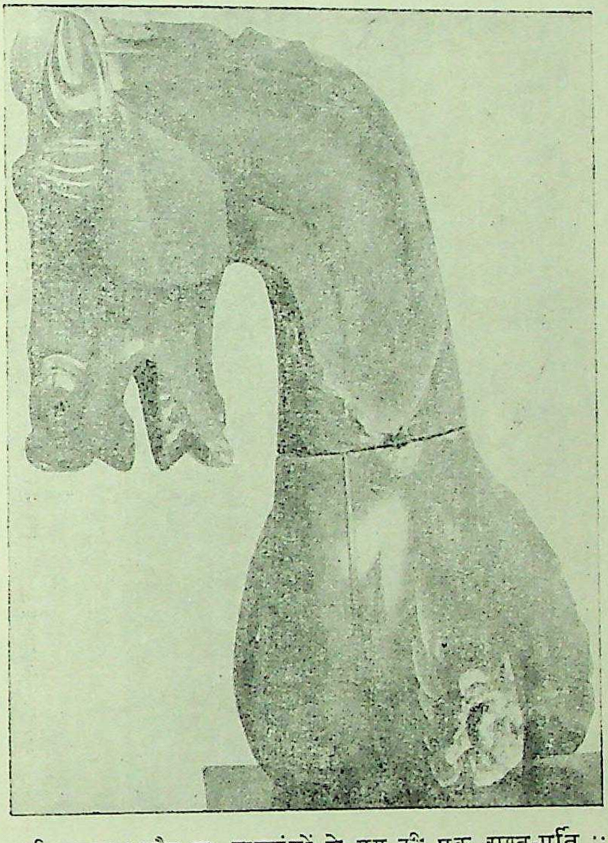

वाई तारतार और छः राजवंशों के युग की एक अश्व-मूर्ति :: इसका समय चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईस्वी के लगभग माना जाता है। इसके चित्रण को देखकर पशुओं के मूर्ति-निर्माण अथवा चित्रांकन में चीनी प्रतिभा की क्षमता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

हान-युग की कलाकृतियों के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे पाठक को तत्कालीन चीनी कला तथा प्राचीन मिस्र की कला में निःसंदेह बहुत-कुछ समानता दिखाई देगी। यह समानता, जो कि ऊपरी निगाह में छिछली मालूम पड़ती है, वास्तव में गहराई तक जाती है, यद्यपि दोनों की कलाभिव्यंजना का स्वरूप नितान्त भिन्न है। मूर्ति निर्माण-कला के क्षेत्र में चीनियों ने जो रचनात्मक प्रयास किया, वह मृतात्माओं के निमित्त ही था, न कि जीवित प्राणियों के लिए। इसके प्रमाण में न केवल उपर्युक्त मिट्टी और पत्थर की प्रतिमाओं के विभिन्न नमूने ही पेश किए जा सकते हैं, बल्कि स्तूपों के सम्मुख खड़े किए गए शिल्प-स्तंभों और समाधिगृहों की सजावट के लिए निर्मित अनेकों उभरी हुई मूर्तियों का भी उल्लेख किया जा सकता है। ये स्मारक 'शेन-ताओ' या प्रेतात्मा-पथ के (जो कि समाधि-स्थान तक जाता था तथा आगे चलकर स्तूप से दक्षिण दिशा की ओर एक सीधी रेखा में धीरे-धीरे बढ़ा दिया जाया करता था) मानो प्रथम सोपान की सूचना देते थे। समाधि के भीतरी भाग में प्रायः दो या तीन कक्ष होते थे (जैसा कि कोरिया की समाधियों में भी देखा जा सकता है)। इनमें पहला कक्ष प्रेतात्मा का अन्तःकक्षगृह कहलाता था और ऐसा माना जाता था कि मृतात्मा निधन के बाद इसी कक्ष में निवास करेगी। इसके अतिरिक्त पीछे के कमरे में विभिन्न प्रकार के पात्रों तथा काँसे और मिट्टी की बनी गृहस्थी की विविध वस्तुओं के साथ शवाधार रखा रहता था। इन समाधियों में अधिकांश सजावट के काम, चाहे वे शिल्प के रूप में रहे हों, चाहे चित्रकारी के रूप में, इसी प्रेतात्मागृह में केन्द्रित रहते थे। उसकी दीवारें प्रायः प्राचीन इतिहास और पुराणों की स्मारक घटनाओं के चित्रों तथा नैतिक शिक्षा देनेवाले चित्रों से आच्छादित रहा करती थीं।

उपर्युक्त प्रेतात्मा-पथ की दोनों बाजू में कभी-कभी प्रतीकसूचक आकृतियों के कई सजावट के स्तंभों को खड़ा करने की भी प्रथा थी, जैसा कि हम मिस्र की समाधियों के सामने कतारों में प्रस्थापित स्फिक्स की मूर्तियों के रूप में देखते हैं। ये स्तंभ साधारणतः विशाल आकार के सुसज्जित चौकोर प्रस्तरखंडों पर निर्मित होते थे। वे १५ फीट से लेकर २० फीट तक ऊँचे होते थे। सिरे पर से बाहर की ओर निकली हुई अपनी कारनीसों के कारण वे सिरे की ओर से जरा भारी-से देख पड़ते थे। फलतः वे यथार्थ में बहुत सुन्दर नहीं होते थे। ऐसे स्तम्भ होनान, शान्तुङ्ग, जेचनान प्रांतों में अधिकतर मिलते हैं। किन्तु शिल्प की दृष्टि से उनमें से केवल एक स्तंभ की जोड़ी ही वास्तव में महत्वपूर्ण है। यह शेन नामक व्यक्ति की समाधि के पास निर्मित है, जो कि १८०० वर्ष पूर्व जेचनान प्रदेशमें मरा था। इन स्तंभों के ऊपर चारों दिशाओं के प्रतीकों का बड़ा सुन्दर

लाक्षणिक निदर्शन किया गया है—दक्षिण दिशा का लाल पक्षी, पूर्व का श्वेत व्याघ्र, पश्चिम का नीले ड्रेगन और उत्तर का काले कच्छप द्वारा। ये पशु-प्रतिमाएँ अपनी रेखाओं की सजीवता तथा अलंकारपूर्ण चित्रणशैली के कारण प्राचीन युग की काँसे और मिट्टी की सर्वोत्तम कलाकृतियों की तुलना में रक्खी जा सकती है। इस शैली में हमें उसी स्फूर्ति और स्नायविक खिचाव के दिग्दर्शन की झलक मिलती है, जो कि इस काल के छोटे-छोटे काँसे के आभूषणों में विशेष रूप से पाई जाती है। सम्भव है, इन पर पश्चिमी एशिया की कलाकृतियों का प्रभाव पड़ा हो।

हान-युग की समाधियों पर बनी हुई उतृंकित मूर्तियाँ विभिन्न कोटि की और अधिक रोचक हैं, परन्तु वे चित्रकला की एक शाखा जैसी प्रतीत होती हैं। वे रूढ़िगत रेखा-शैली में अंकित हैं, जिसमें चीनी चित्रकारों के कुशल तूलिका-संचालन का ही अनुकरण किया गया है। वे ग्रीस, मिस्र अथवा असीरिया की उभरी हुई मूर्तियों जैसी उतृंकित प्रतिमाएं नहीं हैं। इन मूर्ति-समूहों में बहुधा अश्वारोहियों तथा रथों के लम्बे जुलूस अथवा रथों की निगरानी करते चलते हुए सवारों एवं मनुष्यों की कतारें दिखाई जाती हैं, जो संभवतः मृत व्यक्ति की परलोकयात्रा की झाँकी प्रस्तुत करती हैं। ये मूर्ति-समूह एक के ऊपर एक मंजिलवार सजाए गए हैं, जैसा कि ग्रीस के मिट्टी के पात्रों की चित्रकारी में देखा जाता है। ऐसी सजावट में मानवाकृतियों, पशुओं, वृक्षों, गृहों तथा इस प्रकार की अन्य वस्तुओं की एक-एक अलग-अलग कतारें बनी होती हैं, जो कि खाली पृष्ठभूमि के कारण उन चीजों के छाया-चित्र जैसी मालूम पड़ती है। इनमें कलाकार की निपुणता मुख्यतः आकृति की रूपरेखा अथवा खुदी हुई रेखाओं के उत्तम प्रदर्शन में ही निहित होती है, क्योंकि इन समाधि-मूर्तियों में वस्तुतः मूर्तिकारी बहुत कम है और ठीक अर्थ में इसे भास्कर्य कहना कठिन है। इसे तो पत्थर पर चित्रकारी का एक प्रयत्न कहना ही उपयुक्त होगा।

टैङ्-युग (६१८-९०६ ई०) की एक कलापूर्ण प्रतिमा :: कठोर तपस्या में निरत शाक्यमुनि की इस मूर्ति पर लाख-चपड़े द्वारा रंग चढ़ाया गया है।

जो पाश्चात्य विद्वान दूसरे देशों की कला की हर अच्छाई को प्रायः ग्रीक कला से प्रभावित मानने की प्रवृत्ति रखते हैं, वे यह मानते हैं कि चीनी अश्व-चित्र ग्रीस के अश्व-चित्रों के ही अनुकरण हैं, यद्यपि ऐसी धारणा की पुष्टि के लिये कोई प्रमाण नहीं है! यों तो यह भी कहा जा सकता है कि ग्रीस की कला की सारी बातें मिस्र की कला की ही देन हैं और ग्रीसवालों ने मिस्र की कला से जो भी लेने लायक था ले लिया। वस्तुतः चीनी तक्षण-कला का स्वरूप ग्रीक तक्षण-कला से बिल्कुल ही भिन्न है। चीनी भास्कर्य प्रधानतः स्मारक-विषयक, आलंकारिक और रूढ़िगत भावना से ओतप्रोत है, जब कि ग्रीक कला वस्तुतः यथार्थवादी, आडंबरपूर्ण (कलात्मक अर्थ में) तथा शरीरगठन और उसकी गतिविधि के वाह्य निदर्शन से ही अधिक वास्ता रखती है। वह अंतस्तल के सौंदर्य एवं प्राणधारा के चित्रण की ओर से सर्वथा पराङमुख है। यह आश्चर्य की बात होगी यदि यह माना जाय कि चीनियों सरीखी जन्मना अश्वारोही जाति ने अश्व-मूर्तियों का निर्माण करना सुदूर ग्रीस से सीखा हो, जबकि दूसरे हर पशु की मूर्ति के निर्माण में उन्होंने ग्रीक कला की सहायता के बिना ही अपनी कलाप्रतिभा का पूरा-पूरा प्रयोग करने में सफलता पाई थी! वू परिवार की समाधियों के प्रवेश द्वार पर निर्मित वंशचिह्न-सूचक ड्रेगनों, व्याघ्रों और सिंहों की मूर्तियाँ यह अच्छी तरह प्रदर्शित कर देती हैं कि चीनी शिल्पकार ग्रीसवालों की सहायता के बिना ही इस क्षेत्र में क्या कमाल दिखा सकते थे! वस्तुतः यह

विश्वास करना कठिन है कि चीनी अश्व-मूर्ति तथाकथित बक्ट्रियन स्रोत की उपज थी।

हान-वंश के पतन के पश्चात् चीनियों की कला-प्रतिभा में कुछ उतार-सा आ गया, क्योंकि इस के बाद के काल में चीन में अशान्तिपूर्ण युद्ध और राज-नीतिक उथल-पुथल का वातावरण छा गया था। इस युग में कला के क्षेत्र में क्या हुआ, इसके विषय में बहुत ही कम हाल मालूम हो सका है, लेकिन ऐसा विश्वास किया जाता है कि हान-काल की कला-विषयक रूढ़ियाँ इस काल में भी जारी थीं। पत्थर की छोटी-छोटी मूर्तियाँ अब भी यथापूर्व समाधियों में रखी जाती रहीं और साधारण जीवन के वास्तविक दृश्य तो, जिनमें तत्कालीन पुरुषों और स्त्रियों के जीवन चित्रित रहते थे, इसी काल में सर्वप्रथम दृष्टिगोचर हुए। ऐसे दृश्य प्रायः गाते हुए, मुर्गियाँ चराते हुए, बच्चों को गोद में लिये हुए अथवा इसी प्रकार के काम-धंधों में व्यस्त स्त्री-पुरुषों की उन मिट्टी की मूर्तियों में देखने को मिलते हैं, जो होनान प्रान्त में पाई गई हैं।

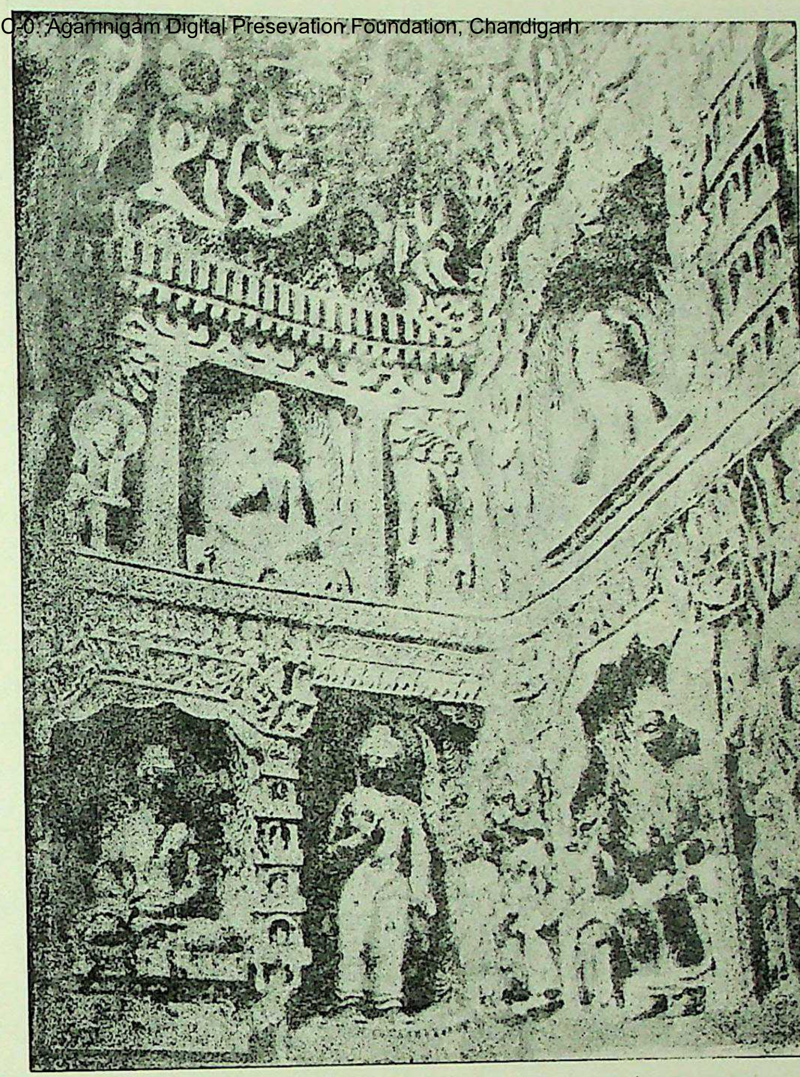

शांसी प्रान्त के ता-तङ्-फू नामक स्थान के समीप स्थित एक गुफा-मंदिर की दीवारों पर उत्टंकित बुद्ध-मूर्तियों की झाँकी।

छः राजवंशों के युग की भव्य कलाकृतियाँ

छः राजवंशों के काल की बृहत्तर और सब से भव्य कृतियाँ नानकिंग के राजवंशों के लिए निर्मित हुई हैं। ये दो विभिन्न श्रेणियों में विभाजित हैं––सिंह-मूर्तियाँ तथा 'शिमेरा' की मूर्तियाँ। 'शिमेरा' चीनी परम्परा में ड्रैगन और शेर इन दोनों के समागम से उत्पन्न पौराणिक पशु माना गया है। उसकी और वास्तविक सिंह की आकृति में मुख्यतः यही भेद पाया जाता है कि जहाँ चीनी मूर्तियों में असली शेर के कन्धों पर पंख प्रदर्शित रहते हैं, वहाँ शिमेरा के शरीर पर ड्रैगन जैसे बड़े-बड़े स्केल होते हैं और आलंकारिक दाढ़ी भी। सर्वप्रथम शिमेरा शुङ्ग-वेन-ती की समाधि में प्रतिष्ठित हुआ था और उसका समय ४३३ ई० माना जाता है। सभी चीनी सिंहों की मूर्तियों के समान वह एक विशालकाय पेकिनी कुत्ते जैसा दिखाई देता है और उसके बदन भर में स्केल हैं तथा कानों और कन्धों पर दो जोड़े पंख भी प्रदर्शित किए गए हैं। छठी शताब्दी के आदि से अन्त तक ये शिमेरा सम्राटों की शक्ति के प्रतीक और शाही समाधियों के संरक्षक बने रहे। विशेषज्ञों की दृष्टि में इन अद्भुत प्राणियों की प्रतिमाएँ चपलता और ओज के प्रदर्शन का चरम उदाहरण हैं। उनकी असाधारण भयंकरता और उमड़ते हुए शक्तिप्रवाह की सभी योरपीय कला-पारखियों ने सराहना की है और अपने बृहदाकार शरीर के बावजूद, ये पशु-मूर्तियाँ देखने में कड़े पक्के फौलाद की लचीली छड़ या कमानी जैसी प्रतीत होती हैं।

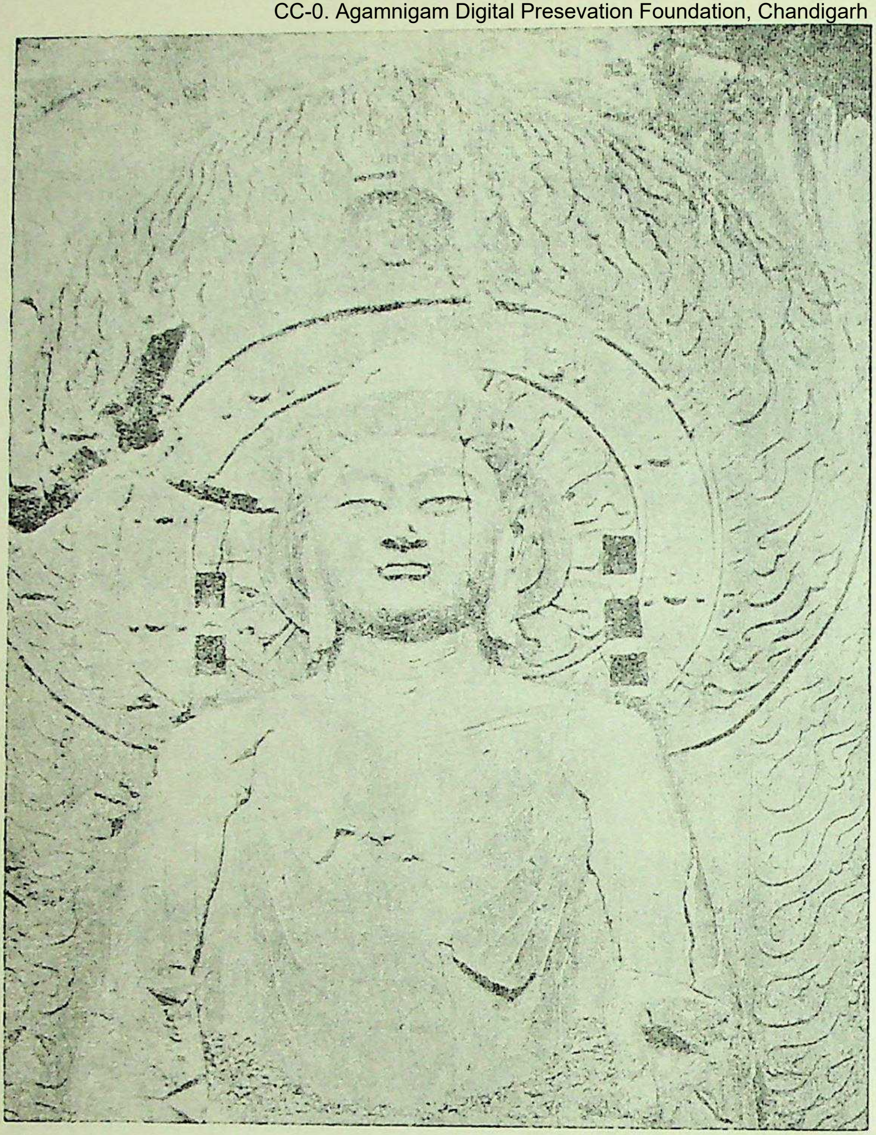

होनान प्रान्त की लुङ्मीन नामक सुप्रसिद्ध गुफा में स्थित विशाल बुद्ध-मूर्ति ।

पंखेवाले सिंह भी, जिन्हें सभी कला के समालोचक शिमेरा के समान ही महत्वपूर्ण समझते हैं, उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए होते थे, जो कि राजघराने के परिवारों की समाधियों के संरक्षक शिमेरा की स्थापना में निहित था । पंखवाले सिंहों की मूर्तियों के सब से प्राचीन और महत्वपूर्ण समूह लियाङ् परिवार के सदस्यों अर्थात् सम्राट वू-ती के बन्धु-बान्धवों की समाधियों पर प्रतिष्ठित हैं । शिमेरा और सिंह दोनों ही बिल्ली की जाति के पशु हैं और दोनों के विशाल टेढ़ी-मेढ़ी गर्दनें हैं । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, शेर के स्केल नहीं होते और न शिमेरा की तरह उनके आलंकारिक दाढ़ी ही होती है । इसके बजाय उनके एक लम्बी-सी जवान होती है, जो कि खुले हुए जबड़ों से बाहर निकले हुए सीने पर लटकती रहती है । योरपीय विद्वानों का अनुमान है कि पंखदार सिंह की प्रतिमा बनाने का मूल विचार चीनियों को असीरिया के पंखयुक्त सिंहों को देखकर हुआ होगा । यह एक आश्चर्य की बात है कि उत्तरी प्रान्तों में इन सिंह-मूर्तियों के कहीं निशान नहीं दीखते, जो कि तारतारों के प्रभुत्व में थे । फलतः चीन में असीरियन कला का प्रवेश संभवतः खोतान होकर आनेवाले प्रसिद्ध रेशम-व्यापार के मार्ग से हुआ होगा ।

धर्म-मूर्तियों का निर्माण :: बौद्ध मूर्तियाँ

अब हम छः राजवंशों के युग के भास्कर्य के सब से महत्वपूर्ण विभाग अर्थात् धार्मिक मूर्ति-निर्माण के विषय पर आ रहे हैं । यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि भारतीय कला का प्रभाव चीन पर उस समय पड़ा था, जब भारत और मध्य एशिया में उसका विकास हुए काफी दिन हो चुके थे । इस समय तक आते-आते धार्मिक विषयों के भिन्न-भिन्न स्वरूप, प्रतीक आदि की निश्चित रूपरेखाएँ बन चुकी थीं, अतएव चीनी लोगों ने उन्हें उसी प्रकार ज्यों-का-त्यों अपना लिया, जिस प्रकार कि उन्होंने बौद्ध धर्म-ग्रंथों को अपना लिया था । यदि इस संबंध में उन्होंने कुछ संशोधन भी किए, तो उनका संबंध विषय की अपेक्षा कलात्मक दृष्टि से अर्थ-निरूपण से ही अधिक था । इस प्रकार मूर्तियों के निर्माण-संबंधी बौद्ध नियमों का कड़ाई के साथ पालन करने के कारण चीन की धार्मिक कला ने बहुत अंश तक अपनी स्वाभाविक विकासजन्य लाक्षणिक विशेषताओं को खो दिया । ऐसा मालूम होता है कि वहाँ के कलाकार धार्मिक विषयों के चित्रांकन संबंधी निश्चित नियमों की बेड़ियों में जकड़कर सदैव बेचैन बने रहे और उन्हें वास्तविक निश्चिन्तता कभी भी नहीं प्राप्त हो सकी । चीन की बौद्ध मूर्तियों में से अधिकतर में शांत स्थिर मुद्रा में बैठे या खड़े हुए पृथक्-पृथक् व्यक्तियों का ही चित्रण पाया जाता है

और सिवाय किसी विशेष लाक्षणिक भावभंगी के उनमें गति का अन्य कोई चिह्न नहीं दिखाई दे सकता। उनके शीर्षभाग एक ही विशेष नमूने के हैं, यद्यपि उनमें स्थानीय शैली के अनुरूप कहीं-कहीं जरा-सा परिवर्तन भी देखा जा सकता है। बहरहाल उनमें हमें सस्ती यथार्थवादिता का कोई प्रयास नहीं दिखाई देता, जो कि पाश्चात्य जगत् में कला के नाम से अभिहित किया जाता है। चीन में सब से प्राचीन बौद्ध प्रतिमाएँ काँसे की छोटी-छोटी मूर्तियाँ हैं, जिनमें कला की दृष्टि से कोई कौशल नहीं मिलता। इनमें खड़ी ज्वालाग्नि अथवा पत्ते की शक्ल की द्युति के आगे, जिसमें ज्वालाग्नि रूपी आभूषण खुदे हुए होते हैं, आसन लगाए हुए अथवा खड़े हुए बुद्ध का चित्रण किया गया है। उनके परिधान स्पष्टतः गान्धार के परिधानों की याद दिलाते हैं और छोटी-छोटी प्रतिमाओं के पीछे की द्युति भी स्पष्टतः गान्धार कला की विशेषता जान पड़ती है।

युआन-राजवंश के काल की क्वान्नन या करुणादेव की एक प्रतिमा :: यह मूर्ति लकड़ी की बनी हुई है और इसका समय १२८२ ई० के लगभग माना जाता है।

चीन में बौद्ध मूर्तियों का सब से विशाल समूह शांसी प्रान्त के सुप्रसिद्ध यून काङ् नामक गुफा-मन्दिरों में मिलता है। इस स्थान पर जो बहुमूल्य सामग्री प्रदर्शित है, उसमें शैली-संबंधी विभिन्न विचारधाराएँ अथवा प्रवृतियाँ देखने को मिलती हैं, जिनमें कुछ तो मध्य एशिया और भारत से आई हुई और कुछ चीनी कला के आरम्भिक स्वरूपों से संबंधित पाई जाती है। यहाँ की कई आलंकारिक कृतियों में स्पष्ट रूप से ईरानी शैली की विशेषताएँ देखी जाती हैं और तक्षशिला तथा पेशावर के उत्‍कीर्ण भास्कर्य में स्थापत्य-कला-विषयक जो नमूने मिलते हैं, ठीक वे ही यहाँ की कृतियों में भी हमें मिलते हैं। साथ ही यहाँ सजावट की उन शैलियों की भी झलक हम पाते हैं, जो हमें हान-युग का स्मरण कराती हैं। यहाँ की शिलाखण्ड में खोदकर बनाई गई मूर्तियों में सब से प्रसिद्ध एक विशेष शैली में निर्मित की गई बुद्ध और बोधिसत्वों की भीमकाय प्रतिमाएँ हैं, यद्यपि कला की दृष्टि से ये विशाल मूर्तियाँ अपेक्षाकृत गौण भागों में पाई गईं इनसे छोटी प्रतिमाओं से कहीं घटकर हैं। उक्त लघुतर प्रतिमाओं के निर्माण में चीनी शिल्पियों ने लालित्यपूर्ण आकृति तथा सुसंगत रेखाचित्रण को सफल बनाने की अपनी क्षमता का पूर्ण उपयोग किया है।

शिल्पकला की यही शैली होनान प्रान्त के लुङ् मीन के सुप्रसिद्ध गुफा-मंदिरों में भी पाई जाती है। इन गुफा-मन्दिरों का निर्माण-कार्य ४९४ ई० के लगभग किसी समय आरम्भ हुआ था। यह बड़े दुःख की बात है कि यहाँ की अधिकांश सुन्दर कलाकृतियाँ विध्वंस की प्रवृत्ति के कारण पिछले दिनों नष्ट हो गईं, जिसके परिणामस्वरूप यहाँ की मौलिक कलाकृतियों में से मुश्किल से १० प्रतिशत बच रही हैं। इनमें से कुछ प्रतिमाओं के पुराने मस्तकों के स्थान पर ऐसे मिट्टी के मस्तक लगा दिए गए हैं, जिनकी बनावट पहले से एकदम निकृष्ट है।

लुङ् मीन की सब से सुन्दर और सब से प्राचीन प्रतिमाएँ तथाकथित लेवो लाओ तुङ् नामक गुफा में हैं। ये गुफाएँ नीचे से लेकर ऊपर तक तह पर तह खुदे हुए ताकों से भरी हुई हैं, जिनमें बुद्ध और बोधिसत्वों की विभिन्न प्रतिमाएँ या तो अकेले या सेवा में उपस्थित भिक्षुओं के चित्रों सहित निर्मित हैं। इनमें से अधिकांश प्रतिमाएँ छठी शताब्दी के आरंभिक वर्षों में निर्मित हुई थीं। होनान में कुंगसिन के निकट शिन-कू-सू के गुफा-मन्दिरों में भी इस प्रकार की कलाकृतियाँ पाई जाती हैं। एक अन्य प्रसिद्ध गुफा-समूह तीन लुङ्-शान का है, जहाँ की प्रतिमाएँ संभवतः ५६० ई० और ५८० ई० के मध्य में किसी समय निर्मित हुई थीं। ये प्रस्तर-मूर्तियाँ बड़े ही कौशल से बनाई गई हैं। यहाँ बुद्ध अरहतों, भिक्षुओं और दानियों के मध्य में बैठे

हुए हैं। विशेषता यह है कि हाथों के चित्रण में परम्परागत भारतीय मुद्रा का प्रयोग हुआ है, साथ ही बुद्ध का दायाँ कन्धा अनाच्छादित है, जो कि विशेष रूप में एक भारतीय रूढ़ि है और चीन की बुद्ध-प्रतिमा में केवल बाद के टैङ-कालीन शिल्प में ही देख पड़ती है।

चिह-ली प्रान्त की प्रतिमाएँ भी करीब-करीब इसी ढंग की हैं, लेकिन वे साधारण शिलाखण्ड के बजाय संगमरमर से निर्मित हैं। इसी प्रकार यून-मेन-शान की विशाल प्रतिमाएँ भी चौपहल शिलाखण्ड काटकर बनाई गई हैं और कुछ अधिक नैपुण्य के साथ उसी परम्परा को जारी रखती हैं।

टैङ्-काल :: चीनी मूर्तिशिल्प का स्वर्णयुग

चीन की समस्त ललित कलाओं तथा कारीगरियों का पूर्ण विकास टैङ-काल (६१९-९६० ई०) में हुआ। टैङ-काल का प्रथम चरण कला की दृष्टि से साधारणतः चीन का सर्वश्रेष्ठ युग समझा जाता है। चीन में बौद्ध शिल्प की सब से अधिक परिपक्व और सर्वोत्तम कृतियाँ इसी युग की देन हैं। उनकी सब से बड़ी विशेषता उनकी सर्वांगसंपूर्ण पूर्णता है। इनमें आकृतियों का पूर्ण और सशक्त विकास हुआ है और सजावट बड़ी वैभवपूर्ण और शानदार है।

तीन-लुङ-शान की गुफाएँ, जो इसके बाद निर्मित हुईं, यह प्रमाणित करती हैं कि यह स्थान भारतीय कला के प्रभाव-क्षेत्र का विशेष केन्द्र था। यहाँ का सब से आकर्षक प्रतिमा-समूह वह है, जिसमें बुद्ध मैत्रेय अन्य दो आकृतियों के साथ एक ऊंचे आसन पर पल्थी मारे बैठे हुए हैं। इस प्रतिमा की अंग-स्थिति, मुद्रा एवं शारीरिक गठन से एक ऐसी निश्चिन्तता, आकर्षण एवं निर्द्वन्द्वता का भाव टपकता है,जो की चीनी प्रतिमाओं में बहुत ही कम देखने में आता है। खेद है कि यहाँ की कई मूर्तियों को तोड़-मरोड़कर योरप और अमेरिका के विभिन्न अजायबघरों में उनके अंग बाँट दिए गए हैं।

कुछ प्रतिमाओं में हम देखते हैं कि महात्मा बुद्ध का प्रमुख चित्र तो न्यूनाधिक रूप में परम्परागत शैली में निर्मित हुआ है, किन्तु उसके साथ के बौद्ध सन्यासियों और भिक्षुओं का चित्रण सजीव रोमन चित्रों के समान बड़े यथार्थवादी ढंग से हुआ है ! इस प्रकर की कृतियाँ इस बात की द्योतक हैं कि शिल्पकार अब विशुद्ध धार्मिक प्रेरणा से ही संतुष्ट नहीं रहे थे, बल्कि उन्होंने प्रकृति और मानव-जीवन की ओर भी दृष्टि डाली थी।

टैङ्-काल के अंतिम दिनों में धार्मिक प्रतिमाओं की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई। किन्तु मूर्तिकलाविषयक विशेष प्रकार की निपुणता का अब ह्रास हो चला था। मूर्तिकला ने अब चित्रकला के निजी गुणों का अनुकरण करने का प्रयत्न आरंभ किया था और बहुत-सी मूर्तियाँ तो सचमुच ही चित्रकला की सर्वश्रेष्ठ कृतियों के आधार पर अथवा अनुकरण में निर्मित हुई थीं और उन्हीं की भाँति वे रंगी और सजायी गई थीं।

उत्तरकाल

१२वीं और १३वीं शताब्दी में भास्कर्य द्वारा चित्रकारी करने का बड़ा चलन हो गया। इस काल की बहुत-सी प्रतिमाएँ लकड़ी और लाख के काम द्वारा निर्मित हुईं। इन प्रतिमाओं में से अधिकांश या तो खड़े हुए बोधिसत्वों अथवा क्वान्नन (करुणा का देवता अथवा देवी) की हैं, जो कि बौद्ध देवमंडली के महान् अवलोकितेश्वर का अवतार माना जाता है। क्वान्नन, जो कि आरंभ में नर था, १७वीं शताब्दी के लगभग नारी में परिणत हो गया और अब शिल्पकारों ने बोद्धिसत्व-वाले गुणों की अपेक्षा उसके स्त्रीत्व के गुणों पर अधिक जोर देना शुरू किया। लकड़ी के तथा सोने के मुलम्मे-वाले इन क्वान्ननों के अतिरिक्त अरहतों के रूप में प्रस्तर-प्रतिमाओं का भी निर्माण होता रहा, जो बड़ी सजीव हैं और शायद जीवित नमूनों से प्रेरणा ग्रहण करके बनाई गई हैं।

युआन अथवा मंगोल राजवंश ने नवसर्जन की अपेक्षा अधिकतर विनाश ही किया। अतः इस वंश के सम्राट् कोई नई प्रेरणा नहीं प्रदान कर सके––केवल उसी हद तक कला की ओर से वे अनुरक्त रहे, जहाँ तक कि उसके द्वारा सम्राटों और उनके सेनापतियों के गौरव के चित्रण का सवाल था। यह सच है कि ये सम्राट् सहिष्णु थे। किन्तु किसी प्रकार बौद्ध धर्म और कन्फ्यूशियश के मतों का प्रभाव मंगोल काल में आकर जनता के मस्तिष्क से जाता रहा। हाँ, ताओ धर्म का प्रभाव बढ़ता गया। शांसी प्रान्त में हाओ-तीन-क्वान की गुफा-मूर्तियाँ ताओ-मतावलम्बी दार्शनिक पी-यून-सू के जीवन की घटनाएँ चित्रित करती हैं। इनमें इस युग से पूर्वकाल की चित्रकारी-संबंधी रुचि काफी मात्रा में दृष्टिगोचर होती है।

मिङ-काल (१३६८-१६४३ ई०) में चीनी शिल्पकला की प्रभावोत्पादकता तथा शक्तिसम्पन्नता का तेजी से ह्रास होने लगा था। बौद्ध-प्रतिमाओं के निर्माण की फिर एक बार बाढ़-सी आ गई और 'अरहतों' का निर्माण सर्वाधिक लोकप्रिय विषय बन गया। किन्तु आरंभिक कालों की कलाकृतियों को जो धार्मिक प्रेरणा स्फूर्ति प्रदान करती रही थी, वह अब बहुत मंद पड़ गई और कलाकारों की प्रवृत्ति नैसर्गिक चित्रण की ओर बढ़ने लगी। इस काल की प्रतिभा वस्तुतः भास्कर्य के क्षेत्र में नहीं, बल्कि बढ़िया मिट्टी के पात्रों के निर्माण में प्रकट हुई थी।

कला की पुरातन धाराएँ—(१७)

प्राक्-रोमन या एट्रस्कन कला

मिस्र से ग्रीस और ग्रीस से इटली अर्थात् रोम की ओर अग्रसर होना स्वाभाविक ही है; कारण, रोम को ग्रीस ही से कला-प्रेरणा मिली थी। परंतु इटली में रोमन सभ्यता का उदय होने से पहले ही एट्रस्कन नामक एक पूर्ववर्ती जाति ने अपनी अद्भुत कला की झाँकी दिखाकर मानो उसके भव्य भविष्य का बीजारोपण कर दिया था। ये अद्भुत लोग कौन थे और कला की कैसी वसीयत वे अपने पीछे छोड़ गए, आइए, रोम की कला का अध्ययन आरंभ करने से पहले इस संबंध में जानकारी प्राप्त कर लें !

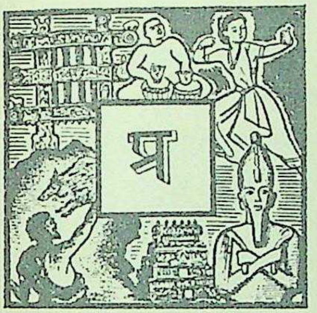

प्रश्न उठता है कि क्या रोम की कला के विकास का कोई प्रागैतिहासिक या आदिम युग भी था? इस सम्बन्ध में सच पूछिए तो निश्चित रूप से हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। हाँ, हाल के स्थापत्य-पुरातत्त्व-सम्बन्धी अनुसन्धानों से रोम के आरम्भिक निवासियों के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें अवश्य प्रकाश में आई हैं। रोम के आदिमवासी आजकल के पोलीनेशियन लोगों की भाँति दलदली जमीन में लट्ठे आदि गाड़कर बनाए गए घरों में रहते थे। ये असभ्य तो नहीं थे और परिष्कृत जीवन व्यतीत करते थे, पर कला के लिहाज से उनकी संस्कृति विशिष्टता लिए हुए नहीं थी। हाँ, उनके बाद एक कलाकार जाति अवश्य वहाँ उदित हुई। पर ये लोग वहाँ के मूलवासी नहीं थे। ये संभवतः एशियाई थे या आयोनिक ग्रीस से आए थे। अपने निवासस्थान इत्रूरिया के नाम पर इतिहास में ये लोग 'एट्रस्कन' कहलाते हैं।

एट्रस्कन जाति की पहेली

ये एट्रस्कन लोग कौन थे, इस सम्बन्ध में हम निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कह सकते। जाति-सम्बन्धी अन्य अनेक पहेलियों की भाँति इस प्रश्न का उत्तर भी सम्भवतः तब तक नहीं दिया जा सकेगा, जब तक कि एट्रस्कन अभिलेख ठीक-ठीक न पढ़ लिए जाएँगे। यह सच है कि इन अभिलेखों के अक्षर तो पढ़ लिए गए हैं, किन्तु जिस भाषा में ये अभिलेख लिखे गए हैं, वह पृथ्वी पर से इस प्रकार पूर्णतया लुप्त हो गई है कि इन अभिलेखों का अर्थ अभी तक नहीं लगाया जा सका है। किसी दिन, जब कि भाषाविद् विद्वान् एट्रस्कन शब्दों का अर्थ लगा सकेंगे, हम इन प्राचीन लोगों का घनिष्ट परिचय प्राप्त कर सकेंगे। तब तक हमें इतिहासकार हेरोडोटस की इस धारणा से ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा कि एट्रस्कन लोग मूलतः एशिया से आए थे और जीविका के साधनों की खोज में लीडिया से एशिया माइनर में होते हुए वे इटली में आ बसे थे।

यह उल्लेखनीय बात है कि हेरोडोटस के इस वक्तव्य को ग्रीस के एक दूसरे इतिहासकार डायोनाइसियस ने, जो ई० पू० पहली शताब्दी में सम्राट ऑगस्टस के राज्यकाल में हुआ था, नितान्त अप्रामाणिक बतलाया है। रोम की प्राचीनता पर लिखित अपने २२ भागोंवाले महान् ग्रन्थ में उसने यह मंतव्य प्रकट किया है कि हेरोडोटस का यह कथन कि इत्रूरिया के निवासी मूल रूप में एशियाई थे, बिलकुल निराधार है। उसकी राय में इत्रूरिया के लोग योरपीय नस्ल के ही थे और वे हमेशा से इटली में ही रहते आए थे। इत्रूरिया-निवासियों के पूर्वजों के सम्बन्ध में ये परस्परविरोधिनी धारणाएँ तब तक प्रचलित रहीं, जब तक कि पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इत्रूरिया की भूमि की खुदाई न की और इस प्रकार भाग्यवश नवीन समाधान उन्हें न मिल गया।

एट्रस्कन कला का मसोपटामिया की कला से सादृश्य

मोटे तौर पर टाइबर नदी, आर्नो नदी और अपेनाइन पर्वतमाला के बीच का सारा प्रदेश इत्रूरिया के अन्तर्गत माना जाता था। इत्रूरिया कभी एक शक्तिशाली राष्ट्र था, जिसके समुद्री बेड़ों का पश्चिमी भूमध्यसागर पर सशक्त प्रभुत्व स्थापित था। पड़ौसी कारथेज-निवासियों के विरुद्ध लड़ाई में कई बार उसने सफलता प्राप्त की थी। जब इत्रूरिया में खुदाई की गई, तो पुरातत्ववेत्ताओं को पता चला कि वहाँ की सभी पुरानी कलाकृतियों पर एशिया की बहुत गहरी छाप है! उनमें निहित भावनाए, उन पर की गई कारीगरी और उनकी शैली स्पष्टतया एशियाई है तथा एट्रस्कन मूर्तियों एवं सोने और काँसे के काम में बेबिलोनिया या मसोपटामिया के मैदान के दूसरे भागों की कारीगरी के साथ स्पष्टतः सादृश्य पाया जाता है। एट्रस्कन उभड़े हुए भित्तिचित्रों में वर्णित विषयों में भी एशियाई कृतियों से गम्भीर सादृश्य पाया गया है। इनके मृगया के यथार्थवादी दृश्यों के चित्रण में वही विशेष प्रवृत्ति हमें देखने को मिलती है, जो असीरियन कला में बहुतायत के साथ पाई जाती है। फिर भेड़ के गुर्दे और आँतों द्वारा शकुन-संस्कार की उसी प्रकार की प्रथा यहाँ भी हमें मिलती है, जैसी कि कैल्डिया में प्रचलित थी; यद्यपि ईजियन सागर की सीमा पर या स्वयं ग्रीस प्रायद्वीप में बसनेवाली जातियों में कहीं भी उसका लवलेश नहीं मिलता। इटली के शेष भाग की कला का आयोनिया, लीडिया या क्रीट और माइकीनी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता। ऐसी अवस्था में यह सुनिश्चित है कि प्राचीन एट्रस्कन लोगों ने अपने मातृप्रदेश के साथ किसी-न-किसी प्रकार का सम्पर्क अवश्य बनाए रखा होगा, अन्यथा वे सैकड़ों मील दूर रहते हुए इन परंपराओं को बनाए रखने में इतने दिनों तक समर्थ नहीं हो सकते थे।

मेहरावदार छतों के निर्माता

इत्रूरिया में धनुषाकार या मेहराबदार छत के निर्माण की कला के अस्तित्व स इस प्रदेश और असीरिया में सांस्कृतिक सम्बन्ध होने की पुरातत्वविदों की धारणा और भी पुष्ट होती है। यह सर्वविदित है कि मानव इतिहास के आरम्भिक काल में ही पश्चिमी एशिया के लोग धनुषाकार छत बनाने की कला से परिचित थे। ऐसी धनुषाकार छतों के बारे में न तो ग्रीक लोग और न उनके गुरु मिस्रवाले ही कुछ जानते थे--वे केवल चौरस छतों का ही प्रयोग करत थे। यह अनुमान किया जाता है कि चूँकि मिस्री और यूनानी बड़े-बड़े पत्थरों को ही घर बनाने के काम में लाते थे और ईंट का प्रयोग नहीं करते थे, इसीलिए वे धनुषाकार छत का आविष्कार नहीं कर पाए। इसी प्रकार असीरिया और बेबिलोनिया के लोगों ने (जो केवल ईंटों से काम लेते थे, पत्थर से नहीं) धनुषाकार छतें बनाने की ओर ही विशेष रूप से ध्यान दिया। 'इत्रूरिया में अनेक धनुषाकार छतों का पाया जाना--जबकि इटली के दूसरे भागों में रहनेवाले लोग, जिन्होंने ग्रीसवालों से कला की दीक्षा ली थी, भवन-निर्माण की इस पद्धति से एकदम अपरिचित थे---इस कथन के पक्ष में एक पुष्ट प्रमाण है कि एट्रस्कन लोग एशियाई जाति के थे और वे ट्राय के युद्ध (मोटे तौर पर ई० पू० लगभग १००० वर्ष) के शीघ्र बाद ही अपने मूल निवासस्थान को छोड़कर इटैलियन प्रायद्वीप में टाइबर नदी के ठीक उत्तरी क्षत्र में आ बसे थे।'

रोमन लोगों द्वारा एट्रस्कन जाति की पराजय

एट्रस्कन लोगों के प्राचीन भवनों की कलात्मक परिष्कृतियों से यह स्पष्ट है कि वे सुसंस्कृत व्यवहार और उत्तम रुचिवाले प्राणी रहे होंगे। किंतु अधिकतर कलाप्रिय जातियों की भाँति उनमें भी राजनीतिक संगठन और दृढ़ता का अभाव था। उनके विभिन्न नगर-राज्य सदैव एक दूसरे के विरुद्ध तने रहते थे, अतएव जब रोमवासियों के साथ इन लोगों का संघर्ष आरंभ हुआ, तो शत्रु रोमन लोगों के ऊँचे दर्जे के राजनीतिक कौशल और एकता के मुकाबले बेचारे एट्रस्कन न टिक सके। एक के बाद एक उनके शहर रोम के अधिकार में आते गए और उस दशा में भी वे आपस में ही लड़ते रहे! आखिरकार ई० पू० तीसरी शताब्दी के अन्त तक समूचे इत्रूरिया पर रोम का पूर्ण आधिपत्य हो गया।

इत्रूरिया की विजय से न केवल रोम की प्रतिष्ठा ही में अपूर्व वृद्धि हुई, बल्कि उसकी व्यापारिक समृद्धि और वैभव का भी प्रचुर विस्तार हुआ। प्राचीन काल से ही इत्रूरिया अपनी ताँबे की खानों के लिए प्रसिद्ध था और उसके निकटवर्ती एल्बा द्वीप में लोहे की भी बहुतायत थी। लौह आदि धातुओं के व्यवसायों में एट्रस्कन लोगों की दक्षता इसी कारण से थी। अतएव जब उनका राज्य रोमन लोगों द्वारा अपने साम्राज्य में मिला लिया गया, तो रोम भी व्यवसाय-क्षेत्र में तीव्र गति से उन्हीं की भाँति उन्नत होने लगा।

एट्रस्कन कला में माधुर्य का अभाव

अपनी समस्त कलात्मक परिष्कृतियों के बावजूद एट्रस्कन कला में एक प्रकार का अशोभनीय और भयोत्पादक भाव

पाया जाता है--उसमें वह सर्वांगीण माधुर्य और आकर्षण नहीं मिलता, जैसा कि ग्रीक लोगों की कला में हम पाते हैं। हाँ, आरम्भिक ग्रीक मूर्तिकला में पाई जानेवाली रहस्यमय मुस्कान एट्रस्कन कला में बहुत दिनों बाद तक भी हमें देखने को मिलती है, जब कि अपने जन्मस्थान में वह कभी की विलुप्त हो चुकी थी। एट्रस्कन कलाकारों द्वारा निर्मित जो मानव-प्रतिमाएँ आज उपलब्ध हैं, उनको देखकर यह भान होता है कि प्राचीन असीरियन लोगों की कठोरता इत्रूरिया के अपने इन वंशजों की मुखाकृति में अब भी एक हल्की-सी छाप छोड़े हुए थी। किन्तु इसके विपरीत एट्रस्कन स्त्रियों की मुखाकृति में गिद्ध जैसी नासिकावाली अपनी परदादियों की अपेक्षा कहीं अधिक सरलता और सुकुमारता देखने को मिलती है। सुखी गृहस्थ-जीवन--विशेषतया सुखी वैवाहिक जीवन--(जो कि उतरकाल के साम्राज्यवादी रोम में विलुप्त-सा हो चला था) के पर्याप्त प्रमाण एट्रस्कन कला में मिलते हैं। इसके जीते-जागते साक्षी उनके वे असाधारण शवाधार (सार्कोफेगस) और टेराकोटा की मूर्तियाँ हैं, जिनमें हम पति-पत्नी को मृत्यु में भी बहुधा एक दूसरे से संयुक्त पाते हैं।

माइकीनियन लोगों की तरह एट्रस्कन भी मृत व्यक्तियों की आकृति का एक हूबहू नकली आवरण बनाते थे। बहुत सम्भव है कि यह मिस्रवालों की प्रथा का अनुकरण रहा हो, जो कि मृत व्यक्तियों की मोमियाई के बाहरी आवरण के ऊपर उनके शिरोभाग की मूर्ति अंकित किया करते थे। ग्रीक-मिस्री काल में यह प्रथा पूर्णता को पहुँच गई थी। एट्रस्कनों द्वारा चलाई गई इस तर्ज की आगे चलकर उनके रोमन पड़ोसियों ने भी--विशेषकर धनवान् कुलीन नागरिकों ने--नकल की। एट्रस्कन पद्धति का अनुसरण करते हुए वे अपने पूर्वजों की मोम की मुखाकृति को घर के बीच के कमरों की दीवारों पर जड़ने के विचार से सुरक्षित रूप से बचाए रखने लगे। एट्रस्कन लोगों की यह प्राचीन प्रथा रोमनों द्वारा ग्रहण कर लेने के कारण आज के योरपीय परिवारों में भी चली आई है। इसका जीता-जागता प्रमाण यह है कि योरप में पारिवारिक चित्र भोजन-गृहों की दीवारों पर प्रायः अब भी उसी रूप में लगे रहते हैं, जिस रूप में कि रोमन लोगों के गृहों के बीच के कमरों की दीवारों पर सम्माननीय मृत व्यक्तियों की मुखाकृतियों की पंक्तियाँ लगी रहती थीं।

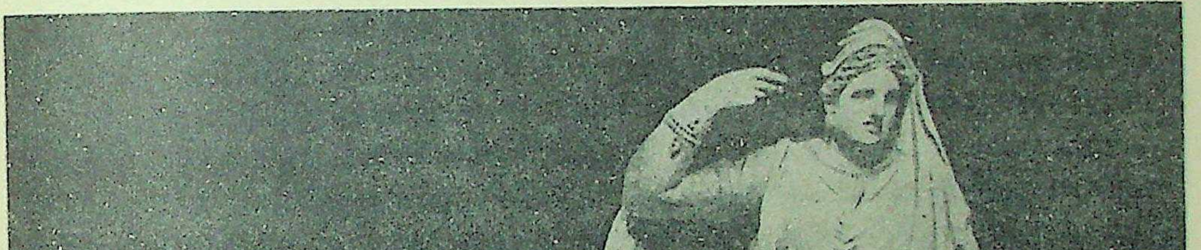

तीसरी शती ईस्वी पूर्व का एक एट्रस्कन शवाधार। यह 'ब्रिटिश म्युजियम' में सुरक्षित है। इसी प्रकार के अन्य एक शवाधार का चित्र खंड ६ में पृ० २२४८ पर देखिए।

टेराकोटा की कारीगरी में दक्षता

प्रायः प्रत्येक प्राचीन जाति के समान ये एट्रस्कन लोग भी टेराकोटा (अर्थात् पकाई हुई मिट्टी) की कारीगरी में बहुत ही दक्ष थे। बहुमूल्य पत्थरों पर खुदाई के प्रचलन के बहुत पहले मनुष्य ने मुलायम कच्ची मिट्टी में चीजों को गढ़कर अपनी क्रियात्मक प्रवृत्तियों को विकसित होने दिया होगा। ऐसा सम्भवतः जादू के कृत्यों के लिए उसने किया होगा। कड़े पत्थर की अपेक्षा गीली मिट्टी को काम में लाना बहुत सरल है। लेकिन कच्ची मिट्टी से बनी मूर्तियों के साथ कठिनाई यह थी कि वे अपेक्षाकृत नाजुक रहती थीं और सूखते ही टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाती थीं। इसीलिए अपने इतिहास के आरम्भकाल ही में मनुष्य ने मिट्टी की मूर्तियों को आग में पकाकर उन्हें अधिक स्थायी बनाना सीखा था। इस प्रकार पकाई हुई मिट्टी की कारीगरी के प्रमाण प्राचीन मेक्सिको और पेरू से लेकर चीन और जापान तक दुनिया के प्रायः सभी भागों में देखने को मिलते हैं। स्वयं हमारे अपने देश में भी पकी हुई मिट्टी की कारीगरी के उत्कृष्ट नमूने मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा, लोथल, रूपड़, उज्जैन, वाराणसी, नालन्दा, पहाड़पुर, कौशाम्बी, बोधगया तथा अन्य अनेक स्थानों की खुदाई में बहुतायत से पाए गए हैं। इनमें पिछले दिनों वाराणसी के पास राजघाट में पाए गए नमूने सब से अधिक कलापूर्ण हैं।

टेराकोटा की कृतियाँ बहुत ही नाजुक होती हैं, अतएव इस माध्यम द्वारा बृहदाकार मूर्तियाँ तैयार करना अत्यधिक कठिन होता है। ग्रीक लोग अपनी तनाग्रा की प्रसिद्ध कलाशालाओं में छोटे आकार की मूर्तियाँ बनाते थे। लेकिन ग्रीक टेराकोटा की कोई भी मूर्ति एट्रस्कन लोगों के प्रसिद्ध 'विला गायलियो शवाधार' अथवा न्यूयार्क के मेट्रोपालिटन म्यूजियम में सुरक्षित योद्धाओं की एट्रस्कन मूर्तियों के आकार-प्रकार को नहीं पहुँच सकी हैं।

आलंकारिक शैली का बाहुल्य

एट्रस्कन लोगों की मूर्तिकला में ग्रीक लोगों की भाँति स्वाभाविकता नहीं है। इसके बजाय उनमें आलंकारिक शैली के प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। आलोचकों के अनुसार योरप की कला के इतिहास में एट्रस्कन अलंकार अपना सानी नहीं रखते। उनके शवाधारों की सजावट, पात्रों की चित्रकारी में पाए जानेवाले आभूषणों और अलंकारों की भरमार तथा पहनावे की सामग्री से स्पष्ट पता चलता है कि एट्रस्कन लोग अवश्य ही एशियाई विचारों के कलाप्रेमी जन रहे होंगे। उनकी समाधियों में जो असली जवाहरात, धातु के पात्र तथा मूर्तियाँ आदि पाई गई हैं, उनसे भी इसी बात की पुष्टि होती है। सुनहले वस्त्राभूषणों और कंठहारों से लेकर पच्चीकारी की हुई मंजूषा और धातु-निर्मित चारपाइयों तक धातु-कला के सम्पूर्ण क्षेत्र में एट्रस्कन लोग अत्यन्त दक्ष थे। उनके एक सुसज्जित रथ में प्रयुक्त धातु की चद्दरों के अलंकरण में प्राचीनकालीन दृढ़ता टपकती है (दे० पृ० २२४७ का चित्र)। उनके दर्पणों पर रेखाचित्रों का ऐसा निपुण प्रयोग हुआ है कि चौरस वस्तु पर संस्थान-नैपुण्य की उनकी क्षमता का उससे स्पष्ट पता चलता है। घर को सजाने की सामग्री में भी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तुओं से लेकर बड़ी-बड़ी चीजों पर उनके द्वारा बारीक कारीगरी की गई है। एट्रस्कन अवशेषों में बहुतायत से पाई जानेवाली छोटे नमूने की एक मूर्ति काँसे के बड़े बर्तनों की मुठिया के रूप में काम में लाए जाने के लिए ही बनाई गई थी।

पात्र-निर्माण और चित्रकारी

बहुत दिनों तक योरप के विद्वानों का यह विश्वास रहा कि पात्र-निर्माण और पात्र-चित्रकारी ग्रीक कला की नहीं, बल्कि एट्रस्कन कला की विशेषता है। इत्रूरिया के मकबरों में कलापूर्ण पात्रों के कितने ही अच्छे-अच्छे नमूने मिले हैं, जिनमें वह प्रसिद्ध 'फ्राँशोआ पात्र' भी शामिल है, जिसका चित्र हम पिछले एक खंड में (पृष्ठ ९०८ पर) दे चुके हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इन पात्रों को पहले बिना किसी सन्देह के स्थानीय एट्रस्कन कृति मान लिया था। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें स्थानीय मिट्टी की बनी हुई चीजें भी थीं--खासकर सुप्रसिद्ध 'बुकेरो नीरो' नामक काले बर्तन इसी कोटि के थे--किन्तु अब यह स्वीकार किया जाता है कि यहाँ के सभी श्रेष्ठतम नमूने एथेन्स, चेल्सिस और कारिन्थ से ही आए थे।

एट्रस्कन भित्तिचित्रकारी के कई एक नमूने कोरनेटो, चिन्सी, वुल्सी, सर्वेटेरी आदि के समाधि-स्थलों में पाए गए हैं। ये भित्तिचित्र ग्रीक लोगों के चित्रों के अनुकरण पर बनाए गए जान पड़ते हैं और यद्यपि देखने में वे बड़े मनोरञ्जक हैं, किन्तु उनमें कला के लिहाज से ऐसी कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है, जिससे उन्हें श्रेष्ठ कहा जा सके। हाँ, प्राक्-रोमन काल के जीवन का चित्रण करने के कारण वे ऐतिहासिक दृष्टि से अवश्य महत्वपूर्ण हैं। इनमें शराब के प्यालों और दावतों में निमग्न एट्रस्कन सरदारों की विलासप्रियता का अच्छा चित्रण मिलता है। इन भित्तिचित्रों में गायकों और नर्तकों का भी दिग्दर्शन है।

कला की पुरातन धाराएँ—(१८)

रोमन कला :: विशेषताएँ

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वायरन ने 'गौरवशाली ग्रीस और भव्य रोम' नामक अपनी सुप्रसिद्ध उक्ति में सूत्र रूप में बहुत ही सुन्दर ढंग से ग्रीक और रोमन कला की आधारभूत विशेषताओं का परिचय दे दिया है । रोमन कला का विवेचन करने से पहले यह उचित है कि हम उस कला-प्रेरणा के प्रधान लक्षणों का अन्वेषण करें, जो कि संसार की इन दो प्रसिद्ध प्राचीन जातियों की कलात्मक अभिव्यंजना के मूल में निहित थी ।

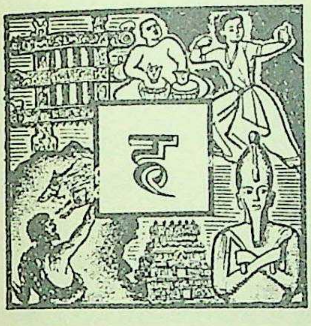

हम देख चुके हैं कि ग्रीक कला का प्रधान लक्षण प्रत्येक वस्तु को देवत्व की कोटि पर अथवा आदर्श रूप में गौरवान्वित करने के प्रयत्न में निहित था । यह कला प्रकृति की महान् शक्तियों को आदर्श रूप में गौरवान्वित करती और उनको देवी-देवताओं का व्यक्तित्व प्रदान कर देती थी । उसने राष्ट्रीय महापुरुषों को अतिमानव और अर्द्ध-देवों के रूप में चित्रित किया है, यहाँ तक कि सुदृढ़ शरीरवाले कसरती नौजवानों को भी, उनके शारीरिक सौंदर्य की पूर्णता के लिए, अर्ध-देवों की कोटि में रख दिया है ! इतना ही नहीं, ग्रीक दन्तकथाओं में ऋतुओं, नृत्य-समारोहों और वृक्षों तक का रूपकमय वर्णन किया गया है और उन्हें वहाँ की कला में वैसा ही स्थान दिया गया है ।

ग्रीक कला की लाक्षणिक विशेषता——सौंदर्योपासना

ग्रीक कला में, जिधर भी दृष्टि डाली जाय सर्वत्र उत्साह के साथ देवों और देवसदृश स्त्रियों तथा पुरुषों का ही माहात्म्य-चित्रण हुआ है ! इस प्रवृत्ति को अधिक उपयुक्त शब्द के अभाव में हम 'सौंदर्योपासना' के नाम से अभिहित कर सकते हैं । ग्रीक सौन्दर्योपासना की इस प्रवृत्ति में विचार एवं कर्म के सामंजस्य और रूप की परिपूर्णता की उपासना का भाव निहित था और उसके साथ आनन्द की भावना, सहज हर्षातिरेक एवं आत्मानुभूति की भावना भी मिश्रित थी । यही भावना हमें ग्रीक कला का मूल स्रोत जान पड़ती है ।

ग्रीक लोग सौन्दर्य को कितना ऊँचा स्थान देते थे और उसके आगे दूसरे गुणों को किस प्रकार तुच्छ समझते थे, इसका पता एथेन्स की रूपवती नर्तकी फ्राइनी की प्रसिद्ध कथा से स्पष्ट रूप से चलता है । फ्राइनी को गिरफ्तार करके दुश्चरित्रता के अपराध में नगर के निर्वाचित पंचों की अदालत में उस पर मुकदमा चलाया गया था और उसे प्राणदण्ड की सजा सुना दी गई थी । उसके प्रेमी ने माननीय न्यायाधीशों से उसकी मुक्ति के लिए शक्ति भर कहा-सुना और उस पर तरस खाने की प्रार्थना की, किन्तु न्यायाधीश कठोर बने रहे और अपन निश्चय पर पुनर्विचार करने के लिए तैयार नहीं हुए । निराश होकर वह दौड़कर सम्मुख उपस्थित उस कमनीय अपराधिनी के पास पहुँचा और उसके रेशमी परिधान को फाड़कर विचारकों को ललकारते हुए उसने कहा कि यदि अब भी तुम्हें सन्देह हो कि ऐसे सुन्दर शरीर में ऐसा कुत्सित पाप रह सकता है, तो भले ही तुम इसे अपराधिनी करार दो! 'एरियोपैगस' (विचारक-मण्डली) के सम्मानित बुजुर्गों ने अपनी दाढ़ियाँ खजलाते हुए प्रश्नसूचक दृष्टि से एक दूसरे की ओर देखा, साथ ही छिपकर एक निगाह उस पूर्णयौवना अपराधिनी के उत्कृष्ट शारीरिक सौन्दर्य पर भी डाली ! उन्होंने आपस में सलाह-मशविरा शुरू किया । बिना किसी नतीजे पर पहुँचे बहुत देर तक वे तर्क-वितर्क करते रहे और अंत में एक ठंडी आह के साथ उन्होंने उसकी रिहाई की आज्ञा दे दी ! फ्राइनी का प्रेमी तथा उत्साही वकील था प्रैक्सिटिलीज

नामक प्रसिद्ध मूर्तिकार, जिसने बाद को अपनी प्रेमिका को वीनस की एक मूर्ति के रूप में अमर कर दिया।

रोमन कला की लाक्षणिक विशेषता––शक्ति

सौन्दर्य के आगार शान्तिपूर्ण ग्रीक मन्दिरों में बड़ी सजधज के साथ स्थापित ग्रीस के पौराणिक आदर्श की ऊपर उल्लिखित कलाकृतियों से अपनी दृष्टि हटाकर जब हम रोमन कला की ओर मुड़ते हैं, तो उसकी भव्यता, विशालता तथा दर्पपूर्ण तड़कभड़क से अभिभूत हो उठते हैं। इस कला में ग्रीक कला की विशेषता––सरलता, आकर्षण तथा मनोहारिता के साथ संयमित शक्ति के संयोग––के दर्शन नहीं मिलते। न यहाँ व्यक्तिगत भावना, व्यक्तित्व की उपासना तथा व्यक्तिगत सम्बन्धों का ही चित्रण मिलता है। इनकी जगह हम दीर्घकाय आकारों की अभिव्यक्ति, एक विशद सामाजिक चेतना, विजयोल्लसित वैभव, राजसी भव्यता तथा राजनीतिक प्रभुता को ही चित्रित पाते हैं। जिस तरह ग्रीक कला का प्रधान लक्षण 'सौन्दर्य' है, उसी तरह रोमन कला का प्रधान लक्षण कहा जा सकता है––'शक्ति'। शक्ति-प्रदर्शन तथा धूमधाम और शानशौकत, आदि रोम के अन्य देशों पर प्रभुत्व स्थापित करने के स्वाभाविक परिणाम थे। अतः उसके दीर्घकालीन इतिहास के प्रत्येक युग की कला में ये गुण अनिवार्य रूप से प्रतिबिंबित हैं।

रोमन वैभव और विलासी जीवन की पृष्ठभूमि

इत्रूरिया की विजय के बाद से रोम अपने पड़ोस के सभी नगरों को निर्दयतापूर्वक आत्मसात् करता चला गया और अंततोगत्वा उस स्थिति में पहुँच गया, जबकि सारे प्रायद्वीप पर उसका अधिकार हो गया। इस शक्ति-प्रसार की अतृप्त तृष्णा को शान्त करने के प्रयत्न में उसने पड़ोसी प्रदेशों पर भी अधिकार करना आरम्भ किया, जिसके फलस्वरूप जर्मनिया (जर्मनी), गॉल (फ्रांस), डालमेशिया, ग्रीस, मिस्र, लीबिया––यहाँ तक कि सुदूर ब्रिटेन तक का सारा प्रदेश––उसकी छत्रछाया में आ गया। रोमन लोगों की शासन-प्रतिभा ने सभी विजित प्रदेशों में उनके राज्य को सुदृढ़ बना दिया और इन देशों का धन सोने के निर्यात के रूप में खिचकर लगातार रोम को जाने लगा। इस प्रकार कैपिटोलाइन पहाड़ियों पर गड़ेरियों की छोटी-सी बस्ती से विकसित होकर रोम नगरी अमरपुरी कहलाने लगी और वह तमाम 'राष्ट्रों और देशों की जननी' के रूप में प्रतिष्ठित हो चली।

रोमन साम्राज्य की लगातार वृद्धि के साथ स्थापत्य के विकास की भी आवश्यकता अनुभव की गई। फलतः सड़कों और पुलों, मेहराबदार ऊँचे बाँधों और नहरों, किलों और भव्य प्रासादों का बनना आरम्भ हुआ। रोम के सैनिक स्थापत्य-विशारदों ने बड़ी-बड़ी योजनाओं में हाथ लगाया, जिनमें से अधिकांश आज भी एशिया, योरप और अफ्रीका के विभिन्न भागों में विद्यमान हैं। रोमन कलाकारों ने नगर-निर्माण की कला को, जिसके सम्बन्ध में ग्रीक लोगों को भी अधिक जानकारी नहीं थी, एक ललित कला का रूप दे दिया। इस प्रकार नागरिक स्थापत्य रोमन कला की प्रमुख विशेषता बन गया। रोमन विजयी सेनापतियों के नायकत्व में साम्राज्य की वृद्धि के साथ-साथ उनकी सफलता के लिए हर्ष मनाने और जनता को यह दिखलाने के लिए कि शासक उनके लिए क्या कर रहे हैं, साम्राज्य के सभी भागों में विजय-तोरण और स्तम्भ खड़े किए जाने लगे। रोमांचक घटनाओं में दिलचस्पी रखनेवाले करदाताओं की परितुष्टि के लिए चतुर सम्राटों ने बड़े-बड़े क्रीड़ाभवन और रंगभूमियाँ बनवाना शुरू किया, जहाँ मनुष्य और पशुओं के द्वन्द्व-युद्ध के प्रदर्शन होने लगे। इन प्रदर्शनों में मनुष्य खतरनाक पशुओं के साथ कभी-कभी निरस्त्र होकर लड़ा करते थे! साम्राज्य के पतन के दिनों में बेकार बातों में समय गँवानेवाले रोम के नागरिकों के मनोरंजन के लिए सार्वजनिक स्नानगृह, सभागृह और प्रार्थनागृह आदि भी बनवाए गए, जहाँ हर प्रकार के व्यापार होते थे, जैसा कि पेट्रोनियस और जुवेनल आदि लेखकों की कृतियों से पता चलता है। इन स्थानों में धनियों के विलास और आत्मविज्ञापन का नग्न प्रदर्शन होता था और सामान्यतः यह विश्वास हो गया था कि ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो धन के द्वारा खरीदी न जा सकती हो।

अन्य देशों की कलाकृतियों का अपहरण

किन्तु उपर्युक्त उक्ति केवल एक सीमा तक ही सत्य थी, क्योंकि धन की कितनी भी मात्रा न तो प्रतिभा को उत्पन्न कर सकी है और न कभी कर सकेगी। वस्तुतः जब तक प्रकृति द्वारा किसी व्यक्ति में प्रतिभा के बीज न बोए गए हों, चाहे कितना भी धन क्यों न खर्च किया जाय, उसे प्रतिभावान् नहीं बनाया जा सकता। निरंतर व्यस्त रहनेवाले रोमवासियों को कला के सम्बन्ध में चिन्तन करने का अवकाश ही कहाँ मिलता था! अतः उन्हें अपने देवालयों, घरों और स्त्रियों की शृङ्गार-सामग्री तैयार करने के लिए कलाकारों, मूर्तिकारों और कारीगरों को बाहर से बुलाना पड़ता था। ग्रीस की संगमरमर की अद्भुत कलाकृतियाँ और मिस्र की पाषाण में निर्मित सुस्पष्ट आकृतियाँ रोमवासियों को श्रद्धा और आश्चर्य के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भाव से भर देती थीं ! ये चीजें ऐसी थीं, जिनका निर्माण रोमन विजेताओं के वश के बाहर की [illegible] थीं। ये ग्रीक और मिस्री मूर्तियाँ तथा मिस्र के चतुष्कोणीय स्तंभ, विजयी सेनाओं के स्वदेश वापस लौटने पर, हरण करके रोम लाए जाते और पकड़े गए बन्दियों एवं लूटी गई सामग्री के साथ विजय-सम्बन्धी जुलूसों में उनका भी सार्वजनिक प्रदर्शन किया जाता था। यद्यपि लोगों में सौन्दर्य की पिपासा जगने लगी थी, परंतु उसकी तृप्ति के साधन उनके घर में न थे, अतः रोमन लोगों ने विजित प्रदेशों की कलाकृतियों को हर लाने और कला के नाम पर जो भी निम्न कोटि की चीजें मिलें उनसे ही अपने घरों को सजाने की नीति ग्रहण की। रोम में इस प्रकार ग्रीक कला की घटिया कृतियों का इकट्ठा होना रोमन कला के विकास पर हानिकर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता था। यही कारण था कि रोमन कला के सर्वोत्तम काल की कृतियाँ भी ग्रीस की आरंभिक कलाकृतियों के निर्जीव अनुकरण से आगे कभी भी नहीं बढ़ पाईं !

मानवाकृतियों के निर्माण में विशेष कुशलता

हाँ, मूर्तिकला का एक अंग ऐसा अवश्य था, जिसमें रोमन लोगों ने उल्लेखनीय उन्नति की थी। यह था सजीव मानवाकृतियों का अंकन। मूर्ति-अंकन का यह अंग, जो ग्रीस में उसकी राष्ट्रीय समृद्धि के ह्रासावस्था के दिनों में आरम्भ हुआ था, रोमन कला में उत्कृष्ट सजीवता के साथ पुनर्जीवित होते दिखाई दिया। रोम ने प्रतिभावान् सूरमाओं की जिस नक्षत्र-मण्डली को जन्म दिया था, कृतज्ञ नागरिक उनकी स्मृति को कला की सहायता से चिरस्थायी बना देना चाहते थे। अतएव रोमन कला में मानव-मूर्ति-शिल्प की जो अनेक कृतियाँ पाई जाती हैं, उनमें रोम के प्रत्येक क्षेत्र के उल्लेखनीय पुरुषों की मानो एक पूरी सचित्र चारु-चरितावली-सी अंकित मिलती है। राजनीतिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्र के विशिष्ट पुरुषों की इन प्रामाणिक अनुकृतियों की बदौलत रोम के ऐतिहासिक चित्रपट की झाँकी चित्रित करने में बड़ी सुगमता हो गई है।

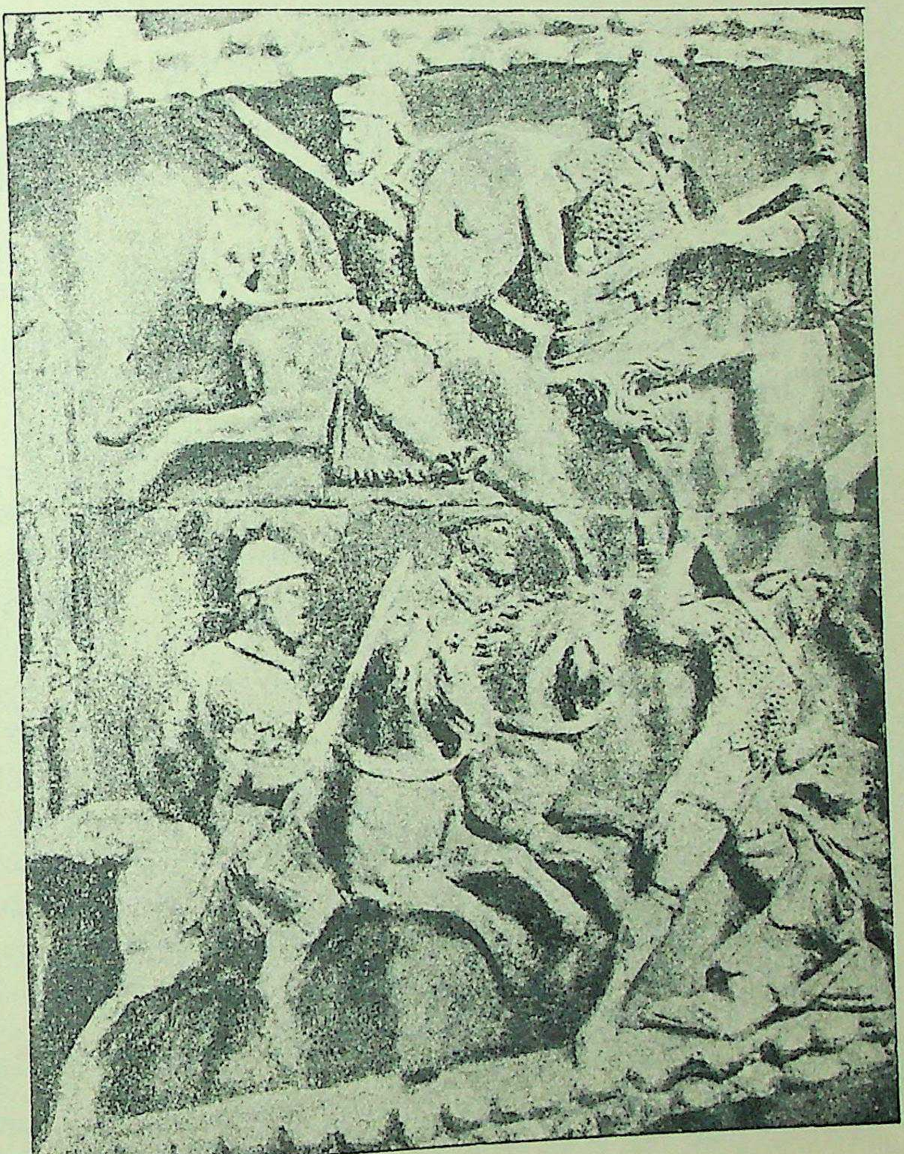

जिस प्रकार ग्रीक कला की विशेषता 'सौन्दर्यानुभूति' है, उसी तरह रोमन कला की लाक्षणिक विशेषता 'शक्ति' है। रोम में मार्कस के स्मारक-स्तंभ (द्वितीय शताब्दी ईस्वी) पर उभरे हुए इस मूर्ति-चित्र से इस बात का सार्थक रूप से अनुभव किया जा सकता है।

कला की पुरातन धाराएँ—(१६)

रोमन कला :: स्थापत्य

इटली में कला के उदय और उसके मूल स्रोतों का दिग्दर्शन हम पिछले प्रकरण में कर चुके हैं, साथ ही रोमन कला की लाक्षणिक विशेषता की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा चुका है। आइए, अब रोमन कला के विविध अंगों पर विस्तारपूर्वक विचार करें। प्रस्तुत लेख में स्थापत्य के क्षेत्र की रोमन सिद्धियों पर प्रकाश डाला गया है। अगले प्रकरण में रोमन मूर्तिकला एवं चित्रकला का विवेचन किया जाएगा।

ग्रीस की कला के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह स्वयं ग्रीस देश की ही भूमि की नैसर्गिक उपज थी और आरंभ से अन्त तक संपूर्णतया उसी प्रदेश की होकर वह रही, जहाँ पर कि उसका जन्म हुआ था। एथेंस नगर एक आदर्श नैसर्गिक विकास की उपज था। वह समुद्र के किनारे बसा हुआ था और वहाँ का एकापॉलिस उपद्रव के दिनों में भागकर आए हुए लोगों का शरणागार-सा बन जाता था। इसी कारण एथेंस का व्यापार और व्यवसाय सदैव समृद्ध बना रहा।

उधर रोम की दशा इससे नितान्त भिन्न थी। प्राचीन सभ्यताओं के एक सूक्ष्मदर्शी आलोचक के शब्दों में, रोम एथेंस की भाँति 'दैवनिर्मित' न होकर 'मनुष्य-निर्मित' नगर था। रोम एक धीमी बहनेवाली छोटी-सी गँदली नदी के किनारे समुद्र से दूर अनियमित ढङ्ग से बसा हुआ था और जब तक उसके सम्राटों ने आसपास की दलदली जमीन को पाटकर उसे बस्ती बसाने लायक नहीं बना दिया, वहाँ मलेरिया तथा दूसरे संक्रामक रोगों का आतंक छाया रहता था। पानी की शिकायत तो रोम में हमेशा ही बनी रहती थी और पीने योग्य पानी का मीलों की दूरी तक कहीं भी पता नहीं था। एथेन्स और रोम की प्राकृतिक स्थितियों के इस अंतर का उनकी कला के विकास-क्रम पर गहरा प्रभाव पड़ा था।

रोमन स्थापत्य शत-प्रति-शत उपयोगितावादी था

यह पुरानी कहावत है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। अतः जिन प्राकृतिक बाधाओं के कारण आरंभिक रोमवासी कष्ट पा रहे थे, बाद की शताब्दियों के दक्ष रोमन इञ्जीनियरों की रचनात्मक प्रतिभा ने उन्हें दूर कर दिया। रोमन लोग व्यावहारिक प्राणी थे और फलस्वरूप उनकी स्थापत्य-कला आदि से अन्त तक मुख्यतः उपयोगितावादी ही रही है। ग्रीक लोगों के स्थापत्य की भाँति रोमन स्थापत्य उन बन्धनों को तोड़कर, जिन्होंने उसे माँ धरित्री के साथ बाँध रक्खा था, उच्च अनुभूतियों के गगन-प्रदेश में अपने पंख नहीं फैला सका। रोमन फोरम, देवालय, बैसिलिका, स्नान-गृह, रंगशालाएँ, कौतुकगृह, विजय-द्वार, स्तम्भ-पंक्तियाँ और प्रासाद आदि—बावजूद इसके कि उन पर मूर्तिकला और सजावट-सम्बन्धी कारीगरी का एक मुलम्मा चढ़ाया गया है—प्रमुख रूप से उपयोगितावादी ही दृष्टिगोचर होते हैं। उनका निर्माण किसी-न-किसी राजनीतिक या नागरिक आवश्यकता के कारण ही हुआ था।

रोमन नगर-जीवन का केन्द्र—'फोरम'

'फोरम'—जो स्पष्टतः उसी शब्द से निकला है, जिससे संस्कृत के 'पुरम्' शब्द की व्युत्पत्ति हुई है—फ्रेंच 'प्लास', इटालियन 'प्लाजा', अंग्रेजी 'मार्केट प्लेस' अथवा हिन्दुस्तानी 'चौक' की भाँति नगर का एक खुला केन्द्रीय भाग होता था, जहाँ लोग आपस में मिलते, सौदा खरीदते या राजनीतिक

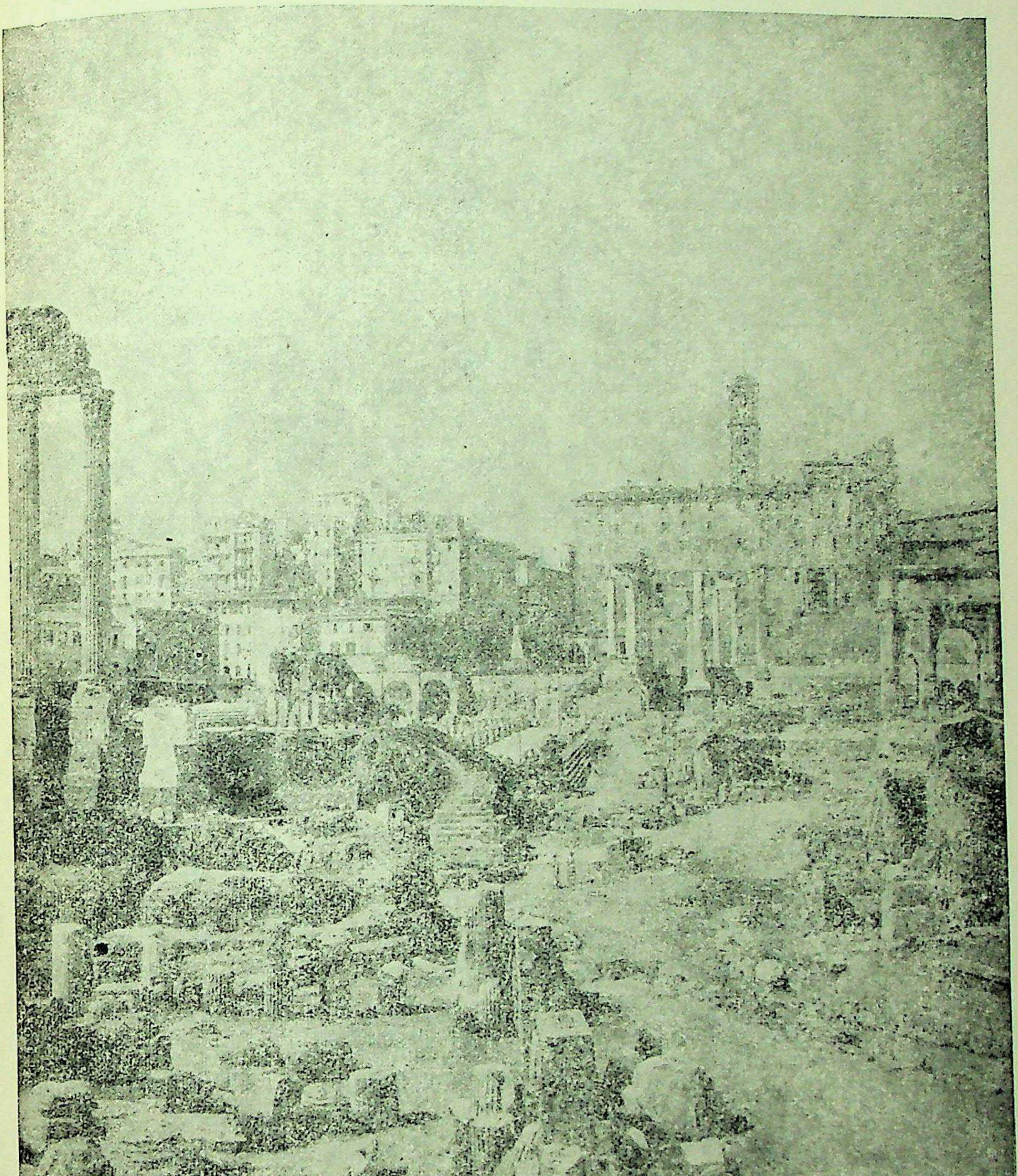

रोम के 'फोरम रोमेनम' नामक सुप्रसिद्ध चौक के खँडहर :: १८७०ई०में खुदाई करने पर इस फोरम की सुंदर इमारतों के ये टूटे-फूटे अंश निकले थे, जो रोम के भव्य अतीत की याद दिलाते हैं। अपनी असली दशा में यह स्थान कैसा दिखाई देता रहा होगा, इसके दो कल्पना-चित्र क्रमशः पृष्ठ २२७५ और २६३२ पर दिए गए हैं।

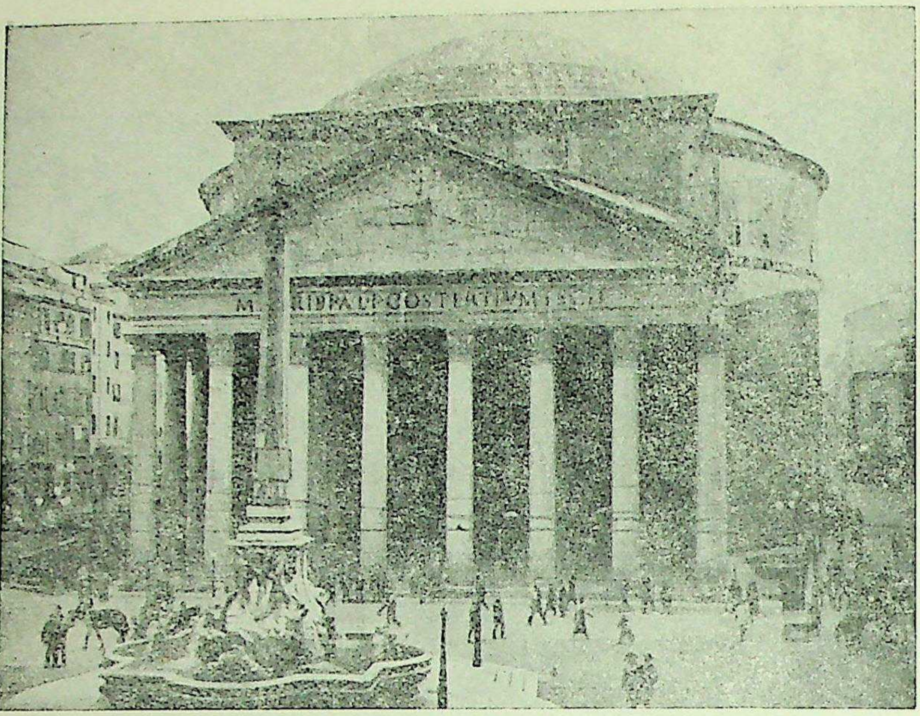

रोमन देवालयों का सिरमौर :: रोम का 'पैन्थियन' नामक प्राचीन मंदिर। आजकल यह ईसाइयों का गिरजाघर (चर्च) बन गया है ।

प्रदर्शनों के लिए एकत्रित होते थे । रोम नगर में कई फोरम थे, जो रोमन नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाए गए थे । अपने चारों ओर बने भवनों के द्वारा वे न केवल नगरनिवासियों की धर्म, कानून और व्यापार संबंधी मान्यताओं ही की झलक देते, बल्कि रोम की उस सामूहिक जीवनधारा पर भी प्रकाश डालते थे, जिसका रूप राजतंत्र, गणतंत्र और साम्राज्य सभी प्रकार के शासनों के अन्तर्गत एक-सा ही बना रहा था ।

रोमन फोरमों में सब से प्राचीन था 'फोरम रोमेनम', जो कि अमरपुरी रोम की सात पहाड़ियों के बीच की घाटी में स्थित था । यह स्थान पहले रथों और घोड़ों की दौड़ तथा उन प्रतिद्वन्द्विताओं के काम में आता था, जो आगे चलकर विशालकाय 'एम्फीथिएटरों' या रंगशालाओं में होने लगी थीं । नगर के प्रमुख सार्वजनिक भवन इसी स्थान के चारों ओर बने थे । रोमन वैभव के गौरवपूर्ण दिनों में विजय-स्तंभों और मूर्तियों से सुसज्जित तथा बरामदों, स्तंभ-पंक्तियों, मन्दिरों, बैसिलिकाओं और दूकानों से घिरा हुआ यह स्थान सचमुच ही बड़ा शानदार मालूम पड़ता होगा । रोम के दूसरे फोरम ट्राजान (वही फोरमों में सब से बड़ा था), जूलियस सीजर, ऑगस्टस, वेस्पेसियन और नर्वा नामक महान् योद्धाओं के नाम पर स्थापित किए गए थे । इनके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार के फोरम भी इस नगर में थे, जो 'फोरम बोएरियम' कहलाते थे । यहाँ विशेष प्रकार के बाजार लगा करते थे ।

राजधानी और प्रान्तों में पाए जानेवाले फोरम वहाँ की सुनिश्चित नगर-योजना के आरंभिक उदाहरण थे । वे रोमन साम्राज्य के अति दूरवर्ती सीमान्त भागों में भी पाए गए हैं, जैसे कि सीरिया के पामाइरा, सामारिया, एण्टीओक और दमिश्क नामक नगरों में; एशिया माइनर के पर्गेमम नगर में; उत्तरी अफ्रीका में टिमगाड और टेबेस्सा नामक स्थानों में और इंगलैंड में सिल्चेस्टर तथा अन्य कुछ स्थानों में। इन सभी फोरमों में राहगीरों को सूर्य के ताप से बचाने के लिए स्तंभ-पंक्तियों से युक्त गलियाँ होने के चिह्न पाए जाते हैं।

रोमन देवालय

रोमन देवालय एट्रस्कन और ग्रीक देवालयों के ढाँचों को मिलाकर बनाए गए प्रतीत होते हैं । वे साधारणतया चतुष्कोण आकार के हैं और ग्रीक मन्दिरों की भाँति उनके चारों ओर स्तंभ-पंक्तियाँ भी पाई जाती हैं । मन्दिर के मुख्य प्रवेश-द्वार की सीढ़ियाँ बाजू में ठोस पत्थर की मजबूत नीची दीवारों से आबद्ध हैं, जिनके सिरे पर प्रायः अनेक मूर्तियाँ लगी रहती हैं । इस प्रकार के सब से प्रसिद्ध देवालय हैं रोम नगर के 'फारचूना विराइलिस' और 'मार्स अल्टोर', नीम्स नगर का 'मेजों कारे', सीरिया का बालबेक नामक स्थान का महान् देवालय, पामाइरा का सूर्य का मन्दिर और स्पलाटो का इस्कूलेपियस का विख्यात मन्दिर ।

एक दूसरे प्रकार के रोमन देवालय भी मिलते हैं, जो वृत्ताकार या बहुकोणीय ढाँचे पर बने हुए हैं । बहुत सम्भव है कि ये देवालय इत्रूरियावासियों के प्राचीन मंदिरों के नमूनों पर बनाए गए हों । इस प्रकार के मन्दिरों के प्रमुख उदाहरण हैं रोम के वेस्टा और मेटर मेटूटा के मन्दिर एवं पैन्थियन नामक प्रसिद्ध देवालय; स्पलाटों का जुपिटर का मन्दिर;

बालबेक का वीनस का देवालय; टिवोली का वेस्टा का मंदिर और नीम्स का डायना देवी का उपासनालय।

रोम का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर--'पैन्थियन'

इन सब में रोम का 'पैन्थियन' नामक मंदिर निःसंदेह सबसे अधिक प्रभावशाली है और आज भी उत्तम अवस्था में है। भीमकाय आकार के इस देवालय की भव्यता तथा रहस्य-भावना से मानव-हृदय अभिभूत हो जाता है। बहुत सम्भव है कि यह देवालय जूलिया-वंश के पारिवारिक देवताओं को उत्सर्गित किया गया हो। इस मन्दिर का विशाल गुम्बद आकाश के सम्पुटित छत्र के सदृश जान पड़ता है। यह मन्दिर नाना प्रकार की स्थापत्य-कृतियों से जी भरकर सजाया गया है और कुल मिलाकर इमारत का दृश्य बड़ा ही भव्य है। प्रकाश के लिए पैन्थियन में जो अद्भुत व्यवस्था की गई है, उसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध अंग्रेज स्थापत्य-विशारद सर बैनिस्टर फ्लेचर लिखते हैं--'इस विशाल नेत्र (केंद्रीय गुंबद के सिरे पर के गोलाकार खुले झरोखे) के निर्माण का लाक्षणिक अर्थ यही हो सकता है कि समस्त देवताओं के इस सम्मिलित देवालय में पूजा ऐसे भवन में की जाय, जिसपर स्वर्ग का वितान खुला रहे। यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि इस अकेले वातायन से ही इस इमारत के सभी भाग उस समय भी पर्याप्त रूप से प्रकाशित रहते हैं, जबकि इसके काँसे के विशाल द्वार बाहर छाई हुई धूप के प्रकाश का प्रवेश होने देने के लिए खुले नहीं रहा करते!'

रोमन सम्राट हैड्रियान के काल में, पैन्थियन की निचली मंजिल में बाहर की ओर पैंटीलिया के चमकनेवाले सफेद संगमर्मर के टुकड़े लगे हुए थे और ऊपर की दोनों मंजिलों की दीवारों पर एक प्रकार का पलस्तर लगा था। मन्दिर का गुम्बद, जिसके निचले हिस्से में सीढ़ियाँ-सी बनी हुई थीं, उन दिनों मुलम्मा की हुई काँसे की चद्दरों से मढ़ा हुआ था। ६५५ ई० में ये चद्दरें हटाकर कुस्तुन्तुनियाँ भेज दी गयीं और उनके स्थान पर सीसे की चद्दरें लगा दी गयीं। पैन्थियन के अग्रगृह में जो अष्टकोण अलिन्द बना हुआ है, उसमें नक्काशी करके 'दैत्यमर्दन' अर्थात् टाइटन्स (दैत्यों) एवं देवताओं के युद्ध की झाँकी का काँसे का एक भव्य मूर्ति-चित्र अंकित किया गया था

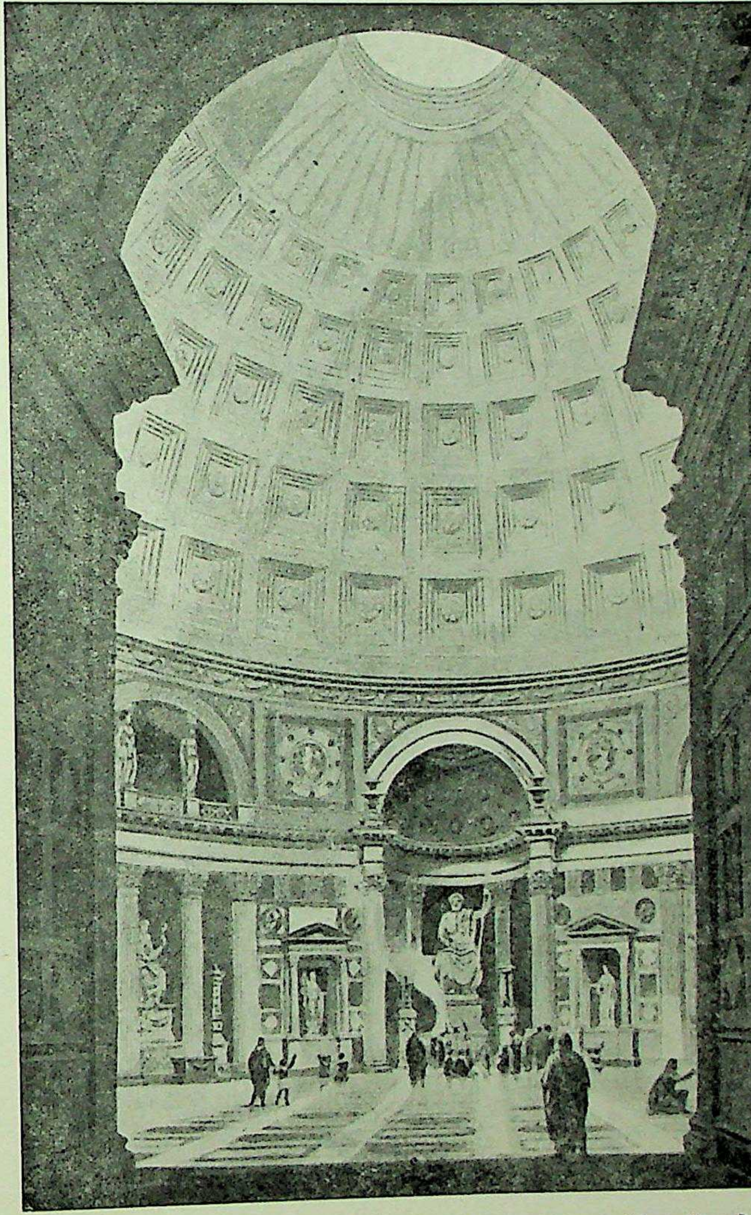

ईसाई प्रभाव में आने से पहले 'पैन्थियन' नामक रोम का प्रसिद्ध मंदिर भीतर से कैसा दिखाई देता रहा होगा, इसका यह एक काल्पनिक चित्र है। प्रकाश आने के लिए भवन की छत में बनाए गए खुले झरोखे पर ध्यान दीजिए!

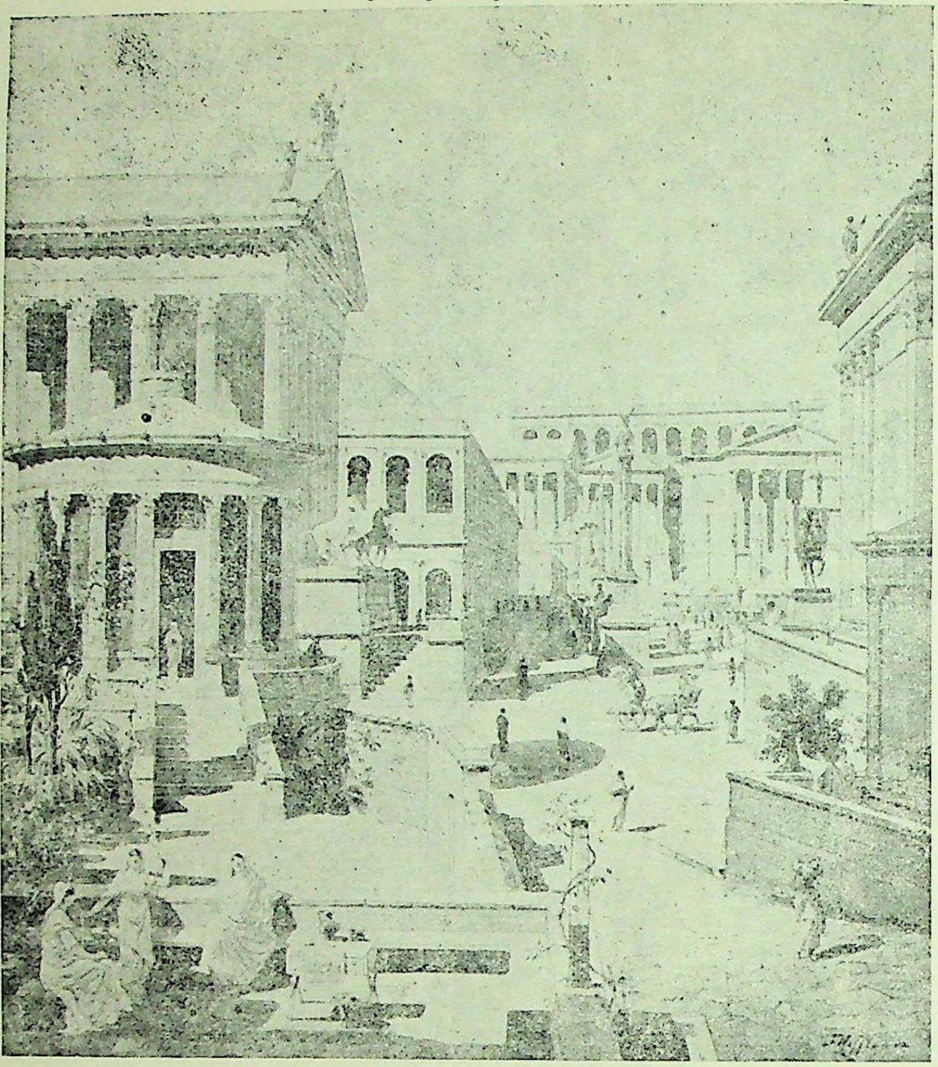

'फोरम रोमेनम' अपने गौरव के दिनों में कैसा दिखाई देता रहा होगा, इसकी एक कल्पना। इसी फोरम का एक और काल्पनिक दृश्य पृष्ठ २२७५ पर देखिए।

और उसके पीछे की चौड़ी अटारी में भी काँसे की भव्य मूर्तियों के समूह आश्रित थे। रोमन राजतंत्र और धर्मतंत्र में कितने ही परिवर्तनों के बावजूद, इतनी शताब्दियों के बाद भी यह देवालय अभी तक सुरक्षित बचा रहा है और आज भी धार्मिक उपासना के काम में आता है, यह उसके गौरव का सूचक है। किन्तु आज उसमें जिस धर्म की उपासना की जाती है, वह मूर्तिपूजक रोमन लोगों की 'देवमंडली' के अधिक आकर्षक और चित्र-विचित्र धर्म के बजाय ईसाइयों की एकेश्वरवादी उपासना का नीरस धर्म है। ६०८ ई० में पोप बोनीफ़ेस चतुर्थ ने इस देवालय को 'शहीदों की मंडली' की प्रसिद्ध वीर आत्मा सांता मारिया की स्मृति में उत्सर्गित कर दिया था और कैटेकुम्ब नामक समाधिगृहों से शहीदों की अस्थियों के ढेर लाकर यहाँ रखवा दिए गए थे। तब से इस देवालय का उक्त भाग 'सांता मारिया रोटुण्डा' के नाम से प्रसिद्ध है। तब से इसकी रोमन प्रतिमाएँ, संगमर्मर का बाह्य आवरण, इन्द्रधनुष की चमकवाला काँसे का पत्तर और आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करनेवाला सोने का मुलम्मा आदि वहाँ से हटा दिए गए हैं। किन्तु फिर भी अपनी सरल रचना और गढ़न के संतुलन के कारण यह इमारत आज भी सारे संसार द्वारा प्रशंसित है।

रोमन न्यायालय और व्यापार-केन्द्र अथवा 'बैसिलिका'

'बैसिलिका', जो न्यायालय और क्रय-विक्रय के केन्द्रों का काम देते थे, अपनी केन्द्रीय स्थिति से इस बात को स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं कि प्राचीन रोम में कानून और व्यापार को कितना महत्व प्राप्त था। ये रोमन इमारतें (जो विशेष प्रकार की हैं) प्राचीन-कालीन और ईसाई स्थापत्य के बीच की कड़ियाँ जैसी हैं। बैसिलिका सम्भवतः रोम में विकसित ग्रीक मन्दिर का रूप था। सामान्यतया वह एक ऐसे ढाँचे के अनुसार बनाया जाता था, जिसका आकार असम चतुर्भुज होता था। इसकी लम्बाई चौड़ाई से दूनी होती थी। लम्बाई के एक सिरे से दूसरे सिरे तक खम्भों की दो या चार कतारें बनी होती थीं, जिनके द्वारा तीन या पाँच गलियाँ बन जाती थीं। ऊपरी भाग में गैलरियाँ और स्तंभ-पंक्तियाँ बनी रहती थीं, जिन पर छत टिकी होती थी। अन्दर आने का फाटक बगल में होता था अथवा एक सिरे पर बना रहता था। न्यायाधीशों के बैठन का स्थान दूसरे सिरे पर एक चबूतरे पर होता था, जो साधारणतया अर्द्धवृत्ताकार होता और कभी-कभी स्तम्भ-पंक्तियों या नीचे झुके हुए छज्जे के द्वारा मुख्य भवन से अलग कटा

रहता था। मंच के चारों ओर 'असेसरों' के बैठने के लिए आसन होते थे। बीचोबीच में कुछ ऊँचाई पर 'प्रीटर' या न्यायपति का आसन होता था और सामने की ओर वेदी होती थी, जहाँ पर कार्यारम्भ के पूर्व बलि चढ़ाई जाती थी। यह इमारत, जो साधारणतया लकड़ी की छत से ढकी होती थी, कभी-कभी अगल-बगल खुली रहती और उसका बाहरी भाग अपेक्षाकृत सादा और बिना सजावट का होता था।

रोम के सब से प्रसिद्ध बैसिलिका ट्राजान और कान्सटैन्टाइन के थे। उनके क्षेत्रफल क्रमशः ३८५ × ८७ फीट तथा ३६५ × ८३ फीट थे। अन्य बैसिलिका उन सभी स्थानों पर मिलते हैं, जहाँ-जहाँ रोमन साम्राज्य का झंडा गड़ा था—उदाहरणार्थ ट्रेव्स, टिमगाड और सिल्चेस्टर (इंग्लैण्ड) में। वस्तुतः जहाँ-कहीं रोमनों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया था, वहाँ पर न्याय की व्यवस्था के लिये बैसिलिका बनाना उनकी नगर-निर्माण-योजना का महत्वपूर्ण अंग होता था।

सार्वजनिक स्नानागार

रोमन इमारतों में उनके सार्वजनिक स्नानागारों का भी एक महत्वपूर्ण स्थान था। इन 'थर्मी' या विशाल सार्वजनकि स्नानागारों का निर्माण सम्भवतः ग्रीक व्यायामशालाओं के विकास की नैसर्गिक पराकाष्ठा का फल था। आज अपनी भग्नावस्था में भी वे प्रमोदप्रिय रोमन जनता की दिनचर्या और प्रथाओं की स्पष्ट झलक दिखाते हैं। एम्फीथिएटरों की भाँति ये स्नानागार भी रोमन सभ्यता की मुख्य विशेषताओं में से हैं। इन स्नानागारों के प्रमुख भग्नावशेष रोम और पाम्पिआई में मिलते हैं। १६वीं शताब्दी में (जबकि वे आज की अपेक्षा अधिक सुरक्षित थे) पैलेडिओ द्वारा तैयार किए गए रेखाचित्रों से उनकी भव्यता के विषय में बहुत-कुछ जाना जा सकता है। ये स्नानागार केवल विलासपूर्ण जलक्रीड़ा के लिए ही नहीं बनाए गए थे, बल्कि वे ही नगर के गपशप और समाचारों के केन्द्र भी थे। वे उन दिनों आजकल के क्लब का-सा काम देते थे। वे सार्वजनिक जीवन के मिलन-स्थान के समान थे। इसके अतिरिक्त भाषण, शारीरिक व्यायाम, खेल-कूद के लिए भी वे काम में आते थे। ये स्नानगृह साम्राज्यवादी रोम के दैनिक जीवन के प्रमुख अंग बन चुके थे। उनमें प्रवेश के लिए कभी-कभी लगभग आधा पैसा प्रवेश-शुल्क भी देना पड़ता था, लेकिन आगे चलकर उन सम्राटों ने, जो कि लोकप्रिय होना चाहते थे, साधारण जनता के लिए उनमें निःशुल्क प्रवेश की आज्ञा दे दी थी।

इन सार्वजनिक स्नानगृहों के प्रबन्ध के लिए एक संचालक, एक प्रवेश-शुल्क एकत्र करनेवाला अधिकारी और एक प्रहरी होता था। दूसरे कामों के लिए उनमें सेवकों का एक दल होता था, जिनमें नाई, उबटन लगाने या मालिश करनेवाले, नाखून काटने और रँगनेवाले, पानी गरम करनेवाले, रोशनी जलानेवाले आदि सैकड़ों गुलाम होते थे, जिनके द्वारा स्नान मनबहलाव का अत्यधिक विलासपूर्ण साधन बन जाता था।

आम तौर पर ये स्नानागार एक ऊँचे मंच पर बनाए जाते थे और उनके चारों तरफ चहारदीवारी होती थी। उनके

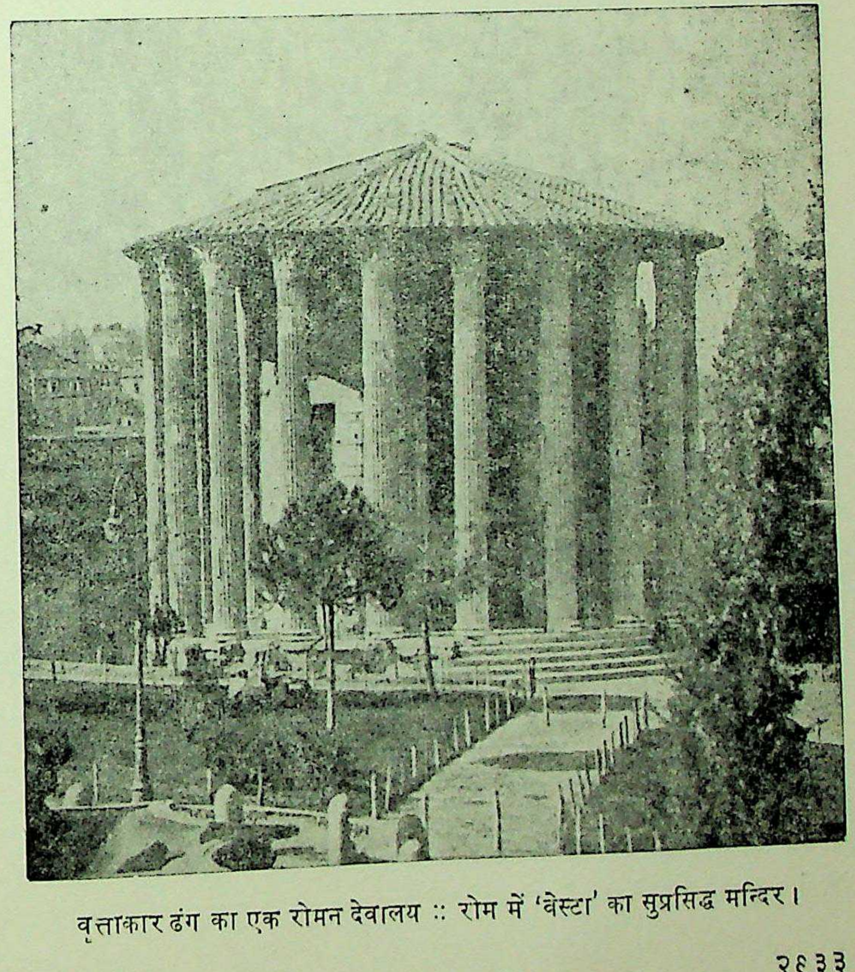

वृत्ताकार ढंग का एक रोमन देवालय :: रोम में 'वेस्टा' का सुप्रसिद्ध मन्दिर।

नीचे के भाग में भट्ठे और प्रबन्ध-विभाग के लिए कमरे आदि होते थे। इनके निम्न तीन प्रमुख विभाग होते थे:—

(क) विशाल मध्यवर्त्ती भवन—इसमें 'टेपीडेरियम' या उष्ण विश्रामगृह, 'कैलिडेरियम' या गरम जल से स्नान के लिए उष्ण कमरा, 'सुडेटोरियम' या सब से गरम कमरा, 'फ्रिजिडेरियम' या ठंडा कमरा (जिसमें 'पिसाइना' या तैरने के लिए जलाशय भी बना रहता था), आदि भाग होते थे। ये सब स्नान-क्रिया से संबंध रखते थे और आज के तुर्की हमाम के आयोजन से बहुत-कुछ मिलते थे। इनके अलावा इनमें 'एपोडाइटेरिया' या वस्त्रागार तथा 'अङ्क्टोरिया' या तेल एवं उबटन लगाने के कमरे भी रहते थे, जहाँ कि 'अलिप्टोर' नामक सेवक स्नानार्थियों की देह मलता, उबटन लगाता और 'स्टाइजिलस' से रगड़कर उनके शरीर का मैल छुड़ाता था। कभी-कभी इस केन्द्रीय भवन के साथ 'स्फीयरीस्टेरियम' या गेंद खेलने का कमरा, एक पुस्तकालय और छोटा-सा नाट्यगृह भी जुड़ा रहता था।

(ख) आसपास का विस्तृत खुला आँगन — यह केन्द्रीय भवन के चारों तरफ पार्क की तरह का एक घेरा था, जिसमें वृक्ष लगे रहते थे। यह प्राङ्गण मूर्तियों तथा फौव्वारों से सजाया रहता था। इसका एक भाग व्यायामशाला के उपयोग में आता था, जिसके अगल-बगल में ऊँचाई पर दर्शकों के लिए बैठने के आसन होते थे। कुश्ती, दौड़, उछल-कूद, घूंसेबाजी जैसे व्यायाम के खेल यहीं होते थे।

(ग) बाहरी कक्षा-शृंखला—इस भाग में व्याख्यान के कमरे तथा दार्शनिकों, कवियों एवं राजनीतिज्ञों के एकत्रित होने के लिये विशेष कक्ष बने रहते थे। इनसे संबद्ध स्तंभों की पंक्तियोंवाले बरामदे, जो कि रोम के सभी खुले हुए स्थानों की एक विशेषता थे, लोगों की धूप से रक्षा करने का काम देते थे। कृत्रिम नहर के जल से भरे जानेवाले एक बहुत बड़े जलाशय द्वारा स्नानागार के गरम और ठंडे हम्मामों को जल पहुंचाया जाता था। दूसरे कमरे दूकानदारों को किराए पर उठा दिए जाते थे, या स्नानागार के विशाल प्रबन्ध-विभाग में काम करने वाले असंख्य दासों के काम में आते थे।

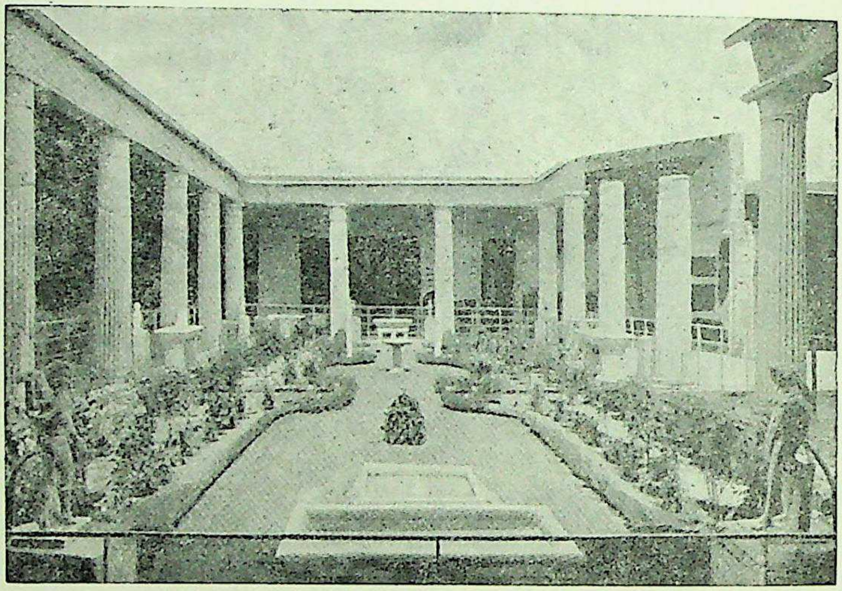
पाम्पिआई नगर की खुदाई में निकला एक रोमन मकान (पुनर्निर्मित)।

रोम के सब से प्रसिद्ध स्नानागार काराकाला और डायोक्लीटियन के थे। काराकाला के स्नानागार में १,६०० स्नान करने वालों के लिए प्रबन्ध था। यह आज यद्यपि भग्नावस्था में है, फिर भी उसके विभिन्न भागों की रचना का हमें स्पष्ट पता लगता है। यह स्नानागार २० फीट ऊंचे एक चबूतरे पर बना हुआ था, जो कि लम्बाई में हर दिशा में १ मील के पांचवें भाग से भी अधिक था। इसका केन्द्रीय भवन, जो कि केवल स्नान के लिए ही उपयोग में आता था, ७५० फीट लम्बा और ३८० फीट चौड़ा था। वह लन्दन के वेस्टमिन्स्टर पैलेस के बराबर एवं सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश म्यूजियम' या ब्रिटिश न्यायालय की इमारत के आकार से कहीं बड़ा था। इसका सारा फर्श नक्काशी के चित्रों से भरा था और दीवारें एक विशेष प्रकार के प्लास्टर को रंगकर बनाए गए चित्रों से सज्जित थीं। इस स्नानागार के विशालकाय स्तंभ ग्रैनाइट, पोरफायरी, अलबैस्टर तथा ईजियन द्वीप-समूह में पाए जानेवाले अन्य दुर्लभ संगमरमर पत्थरों से बनाए गए थे। इन मण्डपों में प्राचीनकाल की कई उत्तम कृतियां प्रतिष्ठापित थीं, जो ग्रीस से लाई गई थीं अथवा रोम के ग्रीक कलाकारों द्वारा निर्मित हुई थीं। पन्द्रहवीं शताब्दी में योरप के पुनरुज्जीवनकाल में इन सार्वजनिक स्नानागारों की खुदाई होने पर उनमें से प्राचीन काल की बहुत-सी सर्वोत्तम कृतियों के नमूने खोद निकाले गए थे और वहां से हटाकर वे रोम के वेटिकन अथवा दूसरे संग्रहालयों में पहुंचा दिए गए थे। वहां से बाद में वे योरप के दूसरे संग्रहालयों में हटा दिए गए। डायोक्लीटियन के स्नानागार की रचना साधारणतः काराकाला के स्नाना

गार से मिलती-जुलती है । उसमें लगभग ३ हजार व्यक्तियों के लिए स्नान का प्रबन्ध था ।

इन सार्वजनिक स्नानागारों में लोग अनेक प्रकार के व्यसनों की पूर्ति के लिए एकत्रित होते थे । फलतः वहाँ प्रचलित अबाध स्वच्छन्दता और कामुकता के परिणामस्वरूप इसाइयों के जमाने में आकर उन पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे । ५वीं शताब्दी ईस्वी में हूणों द्वारा रोम में जल लानेवाली कृत्रिम नहरों के नष्ट-भ्रष्ट कर दिए जाने तथा वहाँ की जनसंख्या घट जाने के कारण इन स्नानागारों का प्रयोग दिनोदिन कम होता गया और उनकी उपयोगिता जाती रही । आगे चलकर ये स्नानागार मध्य युग और पुनरुज्जीवनकाल के शिल्पियों के लिए पत्थर की खदानों का काम देने लगे, अर्थात् उनमें लगे हुए मूल्यवान् पाषाणों को खोद-खोदकर लोग ले जाने लगे और इस प्रकार वे सदा के लिए अस्त-ध्वस्त हो गए ।

विजय-द्वार और विजय-स्तंभ

विजयी सम्राटों और सेनापतियों के सम्मान में निर्मित मेहराबदार विजय-द्वारों का भी रोम की इमारतों में ऊँचा स्थान था । ये इमारतें रोमन कला की एक प्रमुख विशेषता थीं, जिनकी झाँकी हमें आज के योरप में भी देखने को मिलती है । पेरिस का 'आर्क द् त्रिआँफ', बर्लिन का 'ब्रेंडेनवर्गर टार', लन्दन का 'संगमरमर का द्वार' जैसी रचनाएँ प्राचीन रोमन प्रथा की ही याद हमें दिलाती है । टाइटस, ट्राजान, सेवेरस, कान्सटैण्टाइन तथा दूसरे कितने ही सूरमाओं के सम्मान में बनाए गए रोमन विजय-द्वार इटली भर में फैले हुए हैं और यरूशलम, पार्थिया तथा अन्य स्थानों पर भी रोम की प्राचीन विजय की साक्षी देते हैं ।

रोमन विजय-स्तंभों में इतनी प्रसिद्धि किसी दूसरे को नहीं है, जितनी सम्राट ट्राजान के स्तंभ की है, जो कि डेसिया पर उसके विजय प्राप्त करने के उपरान्त बनाया गया था । इसकी कुल ऊँचाई ११५ फीट और घेरा १२ फीट है । डेसिया के युद्ध की घटनाएँ उभरे हुए चित्रों के रूप में इस स्तंभ के चारों ओर इस तरह उतृंकित की गई हैं, मानो उन्हें किसी धातुपत्र पर लिपिबद्ध करके स्तम्भ के ऊपर मढ़ दिया गया हो ! यह चित्रांकन ८०० फीट लम्बे और ३।। फीट चौड़े भाग में किया गया है और इस पर लगभग २,५०० नाटकीय दृश्यों के चित्र खींचे गये हैं ! मध्य युग के ईसाई

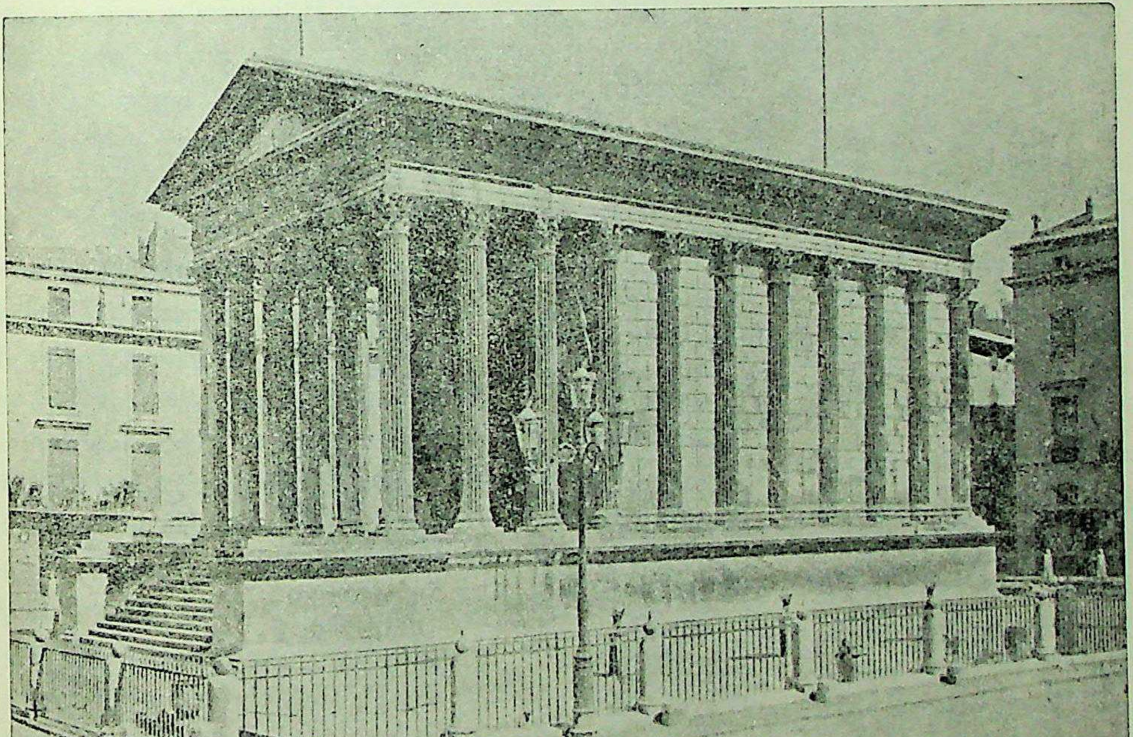

फ्रान्स के नीम्स नामक स्थान में स्थित रोमन युग की एक भव्य इमारत—'मेजों कारे' । यह भवन सबसे उत्तम रूप से सुरक्षित रोमन इमारतों में से एक है।

धर्मान्धों ने इस स्तम्भ के शिरोभाग पर स्थित सम्राट् की गरुड़ सिंहासन पर बैठी हुई मूर्ति को गिरा दिया और उसके स्थान पर ईसाई सन्त पीटर की मूर्ति बिठा दी । यही दशा 'मेडिटेशन्स' (मनन) के प्रसिद्ध लेखक दार्शनिक सम्राट् मारकस ओरीलियस की एक मूर्ति की भी हुई ! डैन्यूब की विजय के उपलक्ष में बनाए गए स्तम्भ पर बनी उसकी मूर्ति पोप सिस्टस पंचम की आज्ञा से हटा दी गई और उसके स्थान पर ईसाई सन्त पॉल की एक मूर्ति स्थापित कर दी गई ।

नाट्यशालाएँ और एम्फीथिएटर

भव्यता, विशालता और उपयोगिता की दृष्टि से रोमन नाट्यशालाओं और रंगशालाओं (एम्फीथिएटरों) की इमारतें रोमन स्थापत्य में अपना सानी नहीं रखती थीं । रोमन नाट्यगृहों का ढाँचा ग्रीक नमूनों के ढंग पर बनाया गया था। उन्हें रोमन रुचि के अनुकूल बनाने के लिये केवल कुछ साधारण परिवर्तन उनमें कर दिए गए थे । इस प्रकार उनमें दर्शकों के बैठने का स्थान, जिसमें एक के ऊपर दूसरी गैलरियाँ बनी रहती थीं, अर्द्धवृत्त कार ही रहने दिया गया था। ग्रीक नाट्यगृहों का केन्द्रीय भाग, जो कि नर्तक और गायक पात्रों के लिए निश्चित रहता था, यहाँ दर्शकों के बैठने के स्थान का ही एक अंग हो गया था । यह रोमन व्यवस्थापकों तथा उच्च श्रेणी के लोगों के बैठने के लिये सुरक्षित रहता था। स्टेज अब चौड़ा और ऊँचा हो गया था। रोमन नाट्यगृह केवल पहाड़ियों को काटकर ही नहीं बनते थे, बल्कि कंकरीट की मेहराबें खड़ी करके भी उनकी रचना होती थी । ये मेहराबें अपने ऊपर टिकी हुई बैठने के आसनों की पंक्तियों को थामे रहती थीं । इन पंक्तियों के नीचे अनेक बरामदे होते थे, जो कि एकाएक वर्षा होने पर बचाव का काम देते थे । फ्रान्स के दक्षिण में ऑरेन्ज नामक स्थान में बना हुआ रोमन नाट्यगृह, जो कि अब भी पूर्ववत् दशा में है, कुछ अंशों में पहाड़ों के भीतर काटकर बनाया गया है और कुछ अंशों में बाहर से उठाया गया है। इसका व्यास ३४० फीट है । इसमें ७ हजार दर्शक बैठ सकते हैं ! इसका स्टेज २०३ फीट चौड़ा और ४५ फीट ऊँचा है। रोमनों के दूसरे नाट्यगृहों के उदाहरण रोम का मार्सेलस, एथेन्स में हीरोड्स, एटिकस का ओडियन, तथा आस्टिया, पाम्पिआई, टाओरमीना, टिमगाड और वैरूलैमियम (बाथ) के नाट्यगृह है ।

'एम्फीथिएटर' रोम की अपनी विशेषता थी, यहाँ तक कि ग्रीक भाषा में इसके लिये कोई उपयुक्त शब्द ही नहीं था । ये रचनाएँ समूचे रोमन साम्राज्य के क्षेत्र में पाई जाती हैं और उनसे रोमनों के चरित्र और जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है । रोमन लोग नाट्यमंच पर होनेवाले स्वाँग की अपेक्षा शस्त्रधारी वीरों के प्राणघातक मल्लयुद्ध को अधिक पसन्द करते थे । राष्ट्र के लिए सैनिकों को शिक्षण देने की यह प्रथा रोमन लोगों द्वारा बड़ी हितकर समझी जाती थी । शस्त्रधारी योद्धाओं का द्वंद्वयुद्ध सम्भवतः मृत व्यक्ति की आत्मा के लिए मनुष्य की बलि देने से संबंध रखनेवाले पुरातन धार्मिक श्रोद्ध-संस्कारों का स्मारक था । जिस दीर्घवृत्ताकार रंगशाला में ये युद्ध होते थे, वह वास्तव में आमने-सामने बनी हुई दो रंगशालाओं को एक में मिलाकर बनाई गई थी। योद्धाओं के मल्लयुद्ध के अतिरिक्त यह स्थान नौ-सैनिक प्रदर्शनों के लिए भी काम में आता था । ऐसे अवसरों पर समूचा स्थान पानी से भर दिया जाता था, ताकि उस पर जहाज उसी तरह से तैर सकें, जिस तरह वे समुद्रों में तैरा करते हैं !

साँड़ों की लड़ाई के काम में आनेवाले स्पेन के आधुनिक अखाड़े या 'एरिना' रोमनों के शानदार एम्फीथिएटरों के ही क्षुद्र वंशज है । उनकी बनावट वैसी ही है और उनका प्रयोग भी उसी उद्देश्य के लिए होता है । लैटिन भाषा में 'एरिना' शब्द का अर्थ रेत अथवा बलुवा समुद्रतट है और इन अखाड़ों का यह नाम इसीलिए पड़ा है कि उनमें रेत बिछी रहती थी, ताकि मल्लयुद्ध करनेवालों के रक्त को वह सोख ले और उसका चिह्न आसानी से मिटाया जा सके ।

'कलीशियम' नामक महान् रंगशाला

संसार का सब से प्रसिद्ध एम्फीथियेटर रोम का 'कलीशियम' है । इसे रोमन सम्राट् वेस्पेसियन ने बनवाना शुरू किया था और ऊपरी मंजिल को छोड़कर (जो तीसरी शताब्दी में जोड़ी गई थी) सम्राट् डोमीशियन द्वारा वह पूरा किया गया था । यह इमारत मनुष्य के रचना-कौशल द्वारा निर्मित अब तक की सब से आश्चर्यजनक कृतियों में से एक है। रोमवासियों के चरित्र में निर्दयता और तड़क-भड़क का जो अंश था, उसकी यह इमारत सजीव प्रतीक है । यह रोम की शक्ति का भी प्रतीक है । भविष्यवक्ताओं ने यह भविष्यवाणी की थी कि "जब कलीशियम का विनाश होगा, तब रोम का भी विनाश हो जायगा !" आकार में यह ६२० फीट लम्बा और ५१३ फीट चौड़ा विस्तृत दीर्घवृत्ताकार है । इसकी हर मंजिल में ८० मेहराबदार दरवाजे बने हैं और निचली मंजिल के दरवाजों से होकर तमाशा देखने के लिए बैठने की जगहों पर जाने का रास्ता बना है । अखाड़े या रंग-

भूमि का मुख्य भाग २८७ फीट लम्बा और १८० फीट चौड़ा एक अण्डाकार स्थान है, जिसके चारों ओर १५ फीट ऊँची एक दीवार है। इस दीवार के पीछे सम्राट् तथा अग्रपुरोहित, ब्रह्मचारिणियों, सभासदों, न्यायाधीशों एवं राज्य के दूसरे उच्च राज्याधिकारियों के बैठने का स्थान था। पदाधिकारियों के इन आसनों के पीछे, जो 'पोडियम' कहलाते थे, ८० हजार दर्शकों के बैठने के लिए एक बृहत् स्थान बनाया गया था, जिसके नीचे बरामदे और सीढ़िय बनी हुई थीं! भवन के सब से नीचे के भाग में, जो रंगभूमि के धरातल के समतल होता था, जंगली जानवर रखे जाते थे। बैठने के आसन चार मुख्य भागों में बँटे हुए थे। नीचे के दो भाग या विशाल घेरे अश्वारोहियों और रोमन नागरिकों के लिए थे। एक घेरेदार दीवार तीसरे भाग से इस हिस्से को अलग करती थी। तीसरे भाग के ऊपर सब से ऊपरी बैठक की पंक्तियाँ थीं, जिनमें जाने का रास्ता चारों ओर बने हुए बरामदों में से होकर था। पृ० २२७६ पर इसके अवशेषों का चित्र देखिए।

प्राचीन इमारतों में कलीशियम अपने ढंग की अनोखी इमारत है। उसके बनाने में स्थापत्य-कला की बारीकियों से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक कठिनाइयाँ पड़ती थीं, विशेषकर इस कारण कि रोमन लोगों ने इस दैत्याकार इमारत को नीचे से ऊपर तक समूची चुनकर बनाया था। इस विशाल इमारत में उस प्रकार के किसी बाहरी सहारे का बिल्कुल उपयोग नहीं किया गया था जैसा कि ग्रीक लोग अपने यहाँ दर्शकमण्डली के बैठने के स्थान को धरती के भीतर खोदकर नाट्यशालाओं के निर्माण में काम में लाते थे। अन्य एम्फीथिएटर वेरोना, पाम्पिआई, पोजिओली, कैपुआ, साइरेक्यूज, नीम्स, आर्ल तथा (कारथेज के

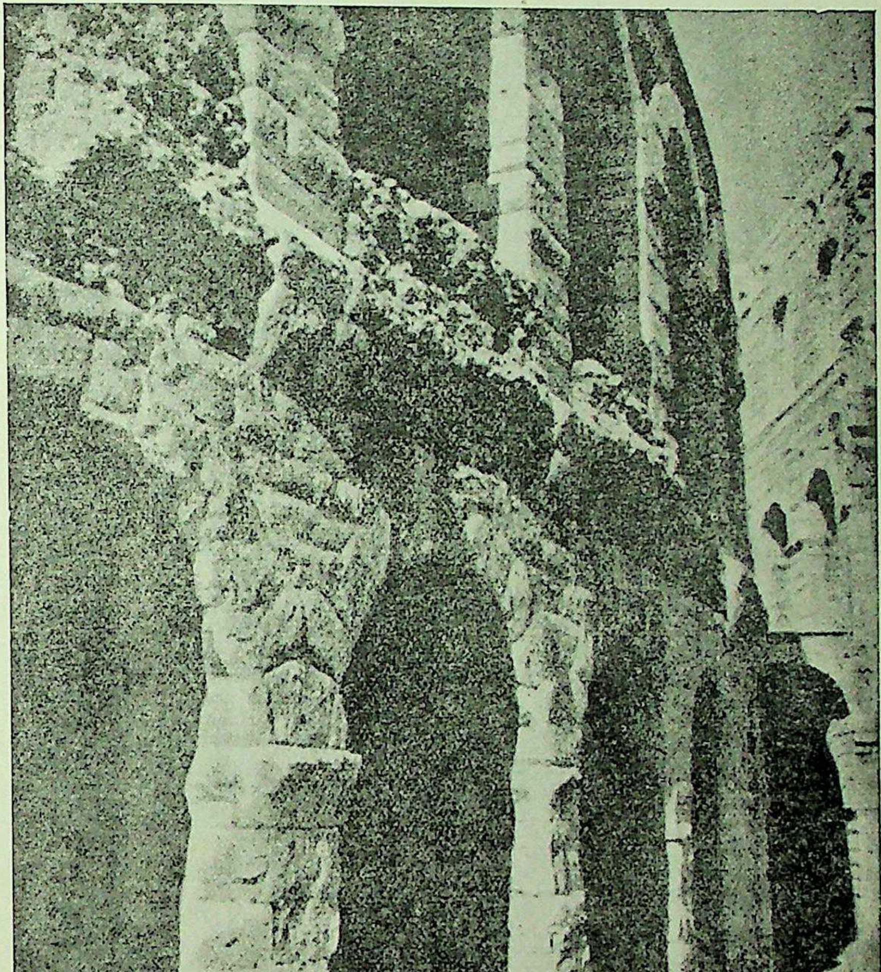

वेरोना के विशाल एम्फीथिएटर के बाहरी पृष्ठभाग की स्तंभ-पंक्तियों का एक अंश।

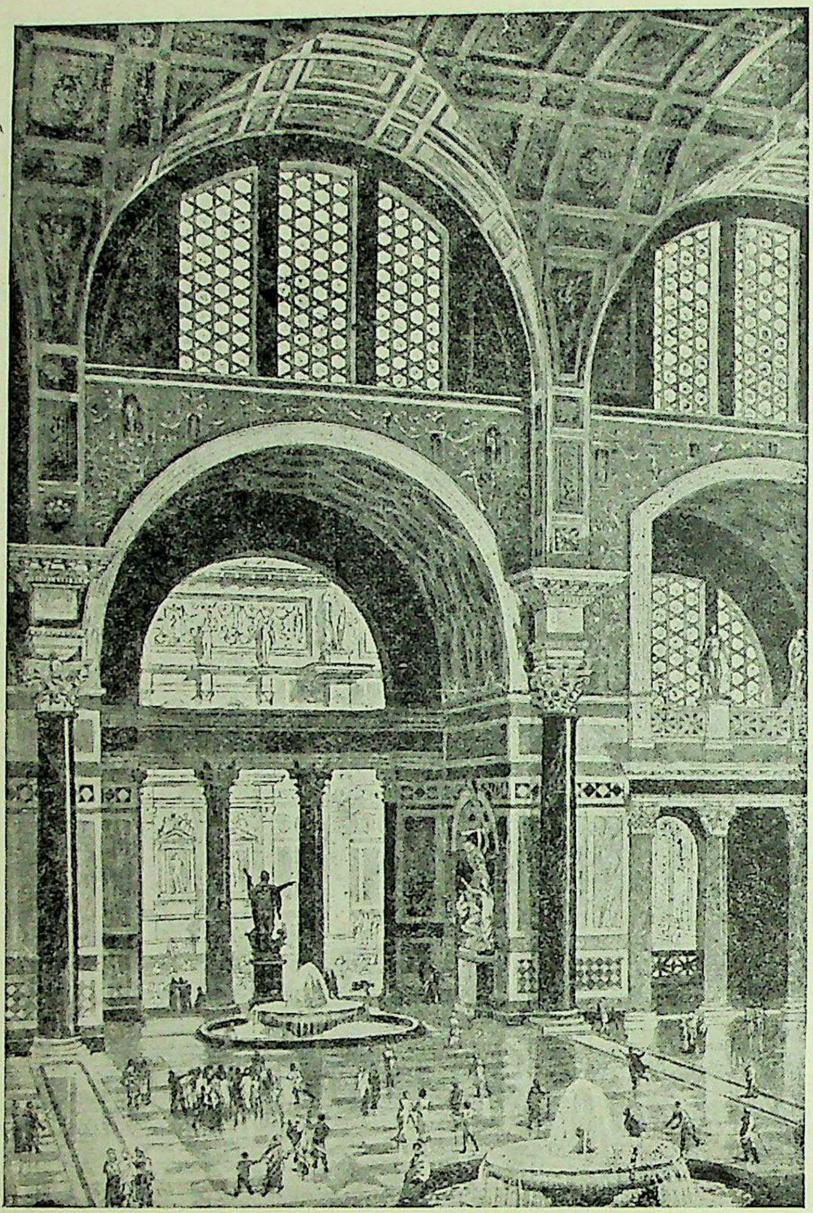

रोम में स्थापित काराकाला का सुप्रसिद्ध स्नानागार अपनी असली हालत में कैसा दिखाई देता होगा, इसकी एक परिकल्पना।

पास) एल जम में पाए जाते हैं । वेरोना के एम्फीथिएटर के अवशेष बहुत-कुछ सुरक्षित हैं (दे० २९३७ पृ० का चित्र)।

रोमन 'सरकस' और समाधियाँ

रोमन 'सरकस' का ढाँचा ग्रीसवासियों के 'हिप्पोड्रोम' की तरह ठीक व्यायामशालाओं पर आश्रित था, जो मुख्यतया दौड़ तथा व्यायाम के अन्य खेलों के प्रयोग में आता था । रोमन सरकस घुड़दौड़ तथा रथों की दौड़ के लिए बनाया जाता था । सब से प्रसिद्ध सरकस मैक्सिमस, मैक्सेंशियस, डोमिशियन, हैड्रियान तथा नीरो के थे । मैक्सिमस के सरकस का जूलियस सीजर ने पुनर्निर्माण कराया था । यह २,००० फीट लम्बा और ६५० फीट चौड़ा था । इसमें ढाई लाख आदमी बैठ सकते थे !

रोमन समाधियों के रूप में भी काल का प्रवाह अपने अनेक स्मृति-चिह्न छोड़ गया है । ये समाधियाँ ग्रीस की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में पायी जाती हैं। रोमन लोगों में शव को जलाने और जमीन में गाड़ने, ये दोनों ही प्रकार के अंत्येष्टि-संस्कार प्रचलित थे । इस प्रकार एक ही समाधि-भवन में मृत शरीर के लिए शवाधार और शवभस्म के लिए भस्मपात्र ये दोनों साथ-साथ पाए जाते हैं । ईसाई सन् की पहली तीन शताब्दियों तक प्रायः प्रत्येक रोमन सम्राट का शव एक शानदार चिता पर रखकर जलाया जाता था । शव को जलाने के साथ ही मृत शरीर से निकलकर जानेवाली आत्मा के प्रतीक के रूप में चितास्थान से एक गरुड़ पक्षी के उड़ने के लिए जगह छोड़ दी जाती थी । दूसरी शताब्दी में मृत शरीर को जलाने की प्रथा कम होने लगी और धनी नागरिकों के शवों को मसालों से लेपकर सुदृढ़ और बहुमूल्य शवाधारों में रखा जाने लगा ।

रोमन समाधियाँ पाँच प्रकार की होती थीं––अस्थि सुरक्षित रखनेवाली, स्मृति-चिह्नवाली, पिरामिड के आकार की, मंदिर के आकार की और पूर्वीय ढंग की । पहले प्रकार की समाधियाँ जमीन के नीचे छोटे मेहराबदार कमरों में होती थीं । ये 'कोलम्ब्रिया' और 'लोकुली' नामक दो प्रकार की थीं । 'कोलम्ब्रिया' में मृत व्यक्तियों के भस्मपात्र रखे जाते थे । इन पर मृत व्यक्तियों के नाम खुदे हुए होते थे । 'लोकुली' में शव को रखकर उसके मुँह पर पत्थर की एक पटिया जड़ दी जाती थी, जिस पर मृत व्यक्ति का नाम अंकित कर दिया जाता था । आगे चलकर ये मेहराबें रोम के 'कैटेकुम्बस' नामक क्षेत्र के नाम पर (जहाँ ये अधिकता से पाई गई हैं) 'कैटेकुम्ब' कहलाने लगीं । सब से प्रसिद्ध कब्रें सीसीलिया मेटेल्ला, ऑगस्टस सीजर और हैड्रियान की हैं

कला की पुरातन धाराएँ—(२०)

रोमन कला :: मूर्तिशिल्प और चित्रकारी

यद्यपि रोमन लोगों ने अपनी कला की कुंजी मुख्यतः ग्रीक कला से प्राप्त की थी तथापि यह कहना उनके प्रति अन्याय करना होगा कि कला के इतिहास में उनकी सिद्धियाँ सिवा अनुकरण के कुछ भी नहीं हैं ! पिछले प्रकरण में स्थापत्य के क्षेत्र में रोमन उपलब्धियों का लेखा-जोखा हम प्रस्तुत कर चुके हैं। आइए, अब मूर्तिशिल्प और चित्रकारी के क्षेत्र की उनकी सिद्धियों का विवेचन करें !

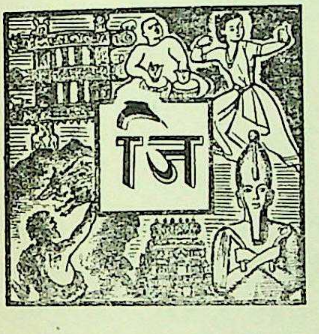

जिस प्रकार परमेश्वर के तीन रूपों की अभिव्यक्ति की त्रिमूर्ति द्वारा कल्पना की जाती है, उसी तरह मानवीय दृश्य कलाओं को भी तीन वर्गों में विभाजित करने की एक प्रथा-सी पड़ गई है । ये हैं स्थापत्य या भवन-निर्माण, भास्कर्य या मूर्तिशिल्प और चित्रकारी । कुछ विचारकों के अनुसार इनमें स्थापत्य ही मूलभूत या 'आधार' है, शेष दोनों अंग उस पर आश्रित हैं या 'आधेय' मात्र हैं । उक्त मतानुसार यह आवश्यक है कि पहले किसी पात्र, भवन या कंदरा का निर्माण किया जाय; तदुपरान्त मूर्तियों या चित्रों द्वारा विभूषित करके उसकी सजधज और भी बढ़ाई जा सकती है ।

रोमन मूर्तिशिल्प का उद्भव और विकास

ग्रीक देवालयों के क्रमिक विकास का अध्ययन करते समय हम देख चुके हैं कि विशुद्ध उपयोगिता-संबंधी आवश्यकताएँ जब पूरी हो चलीं, तब भवन-निर्माताओं के मन में अपनी कृतियों को सौंदर्य के भाव से अभिभूत करने की भूख भी जगने लगी । इस सौन्दर्य-पिपासा ने ही ग्रीक भवनों की कठोर डोरिक शैली को क्रमशः अधिक शृंगारपूर्ण एवं स्त्रैण भावयुक्त कारिंथियन शैली में बदल दिया । इसी प्रवृत्ति ने देवालयों को सजाने में प्रयुक्त असंख्य मूर्तियों, चौकी एवं दीवारों पर की पट्टियों, शिखरपट्ट पर अंकित प्रतिमाओं तथा अंततोगत्वा मंदिर के निर्माण में धन द्वारा सहायता करनेवाले दायकों की मानव-मूर्तियों को जन्म दिया था ।

हम देख चुके हैं कि ग्रीक कला के उत्तरकाल में इस ढंग की मानव-मूर्तियों के निर्माण का रिवाज किस प्रकार अधिकाधिक बढ़ चला था । वास्तव में ग्रीक लोगों के आरंभिक आदर्शवाद के ढल चुकने के शीघ्र बाद से ही वहाँ वीरोपासना की रीति चल पड़ी थी । अब सार्वजनिक स्थानों में अधिकांश में मानवाकृति देवताओं की मूर्तियों के बदले राजपुरुषों शक्तिधर शासकों या नेताओं की प्रतिमाओं की ही भरमार हो चली थी, जिनमें देवतुल्य सर्वशक्तिमत्ता और गौरव-गरिमा का भाव प्रदर्शित रहता था । रोमन लोगों ने उत्तरकालीन ग्रीक लोगों से ही अपनी कला की कुंजी पाई थी । अतः उन्होंने मानव-मूर्ति-निर्माण की इस प्रचलित प्रथा को जारी रक्खा । इसका एक सुपरिणाम यह हुआ कि रोम के गौरवशाली सुपुत्रों की संपूर्ण ज्वाज्वल्यमान नक्षत्र-मंडली अमिट संगमरमर में सदा के लिए सुरक्षित हो गई । यह सच है कि रोमन मूर्तियों में अधिकतर ग्रीक मूर्तियों की ही नकलें पाई जाती हैं, किन्तु रोमन लोगों को इस बात के लिये तो श्रेय देना ही होगा कि उन्होंने उस समय भी ग्रीक परंपरा को जारी और जीवित बनाए रक्खा था, जब कि स्वयं ग्रीस में उक्त कला-स्रोत करीब-करीब सूख चुके थे !

जैसा कि प्रायः होता है, रोमन कला का भी प्रारम्भ धर्म-मंदिर के प्रांङ्गण में ही हुआ था । सभी आदिम कलाकृतियां मूलतः या तो भक्तिमूलक होती हैं या शव-संस्कार संबंधी ।

अपन आरम्भिक देवालयों में रोमन लोगों ने एट्रस्कन लोगों का अनुकरण किया था, जिन्होंने स्वयं ग्रीक मंदिरों की नकल की थी। रोमन देवालयों के त्रिभुजाकार शिखरपट्ट टेराकोटा की मृण्मय मूर्तियों से विभूषित किए जाते थे, जो निश्चय ही एट्रस्कर लोगों की कला की याद दिलाती हैं। सच पूछिए तो मिट्टी की कारीगरी, भास्कर्य और काँसे से मूर्तियाँ ढालने की कला के सम्बन्ध में रोमन लोग जो कुछ भी जानकारी रखते थे, उसके लिए वे लगभग संपूर्णतया एट्रस्कन लोगों के ही ऋणी थे। 'हिप्नास' या निद्रा की सुप्रसिद्ध मूर्ति, रोम के प्रतिष्ठापक युगल बन्धु रेमस और रोम्यूलस को दुग्धपान कराती हुई मादा भेड़िया की काँसे की प्रतिमा और तथाकथित 'वक्ता' या 'ब्रूटस' की विख्यात मूर्तियाँ रोमनों द्वारा काँसे की ढलाई के उत्तम आरंभिक उदाहरणों में से हैं। किन्तु काँसे की ढलाई की परिमितता और विशेष अड़चनों से रोमन कलाकार शीघ्र ही ऊबने लगे और उनका ध्यान पाषाण से गढ़कर मूर्ति बनाने की ओर खिंचने लगा। इटली की अनेक संगमरमर की खदानों से मूर्ति-निर्माण के लिए उम्दा संगमरमर मिलने लगा था। इस अवसर से समुचित लाभ उठाने में रोमन कलाकारों ने देरी नहीं की। ग्रीस के पुरातन या उत्तर युग की संगमरमर की अनेक कलाकृतियाँ, जो छँट-छँट कर विजेता रोमन सेनानायकों के साथ-साथ रोम में प्रवेश कर चुकी थीं, रोमन कलाकारों के लिए नकल करने या प्रेरणा पाने के लिए बहुत ही उपयोगी आदर्शों या नमूनों का काम देने लगीं। इस प्रकार उनका भास्कर्य बहुत शीघ्र ग्रीस का मुकाबला करने लगा।

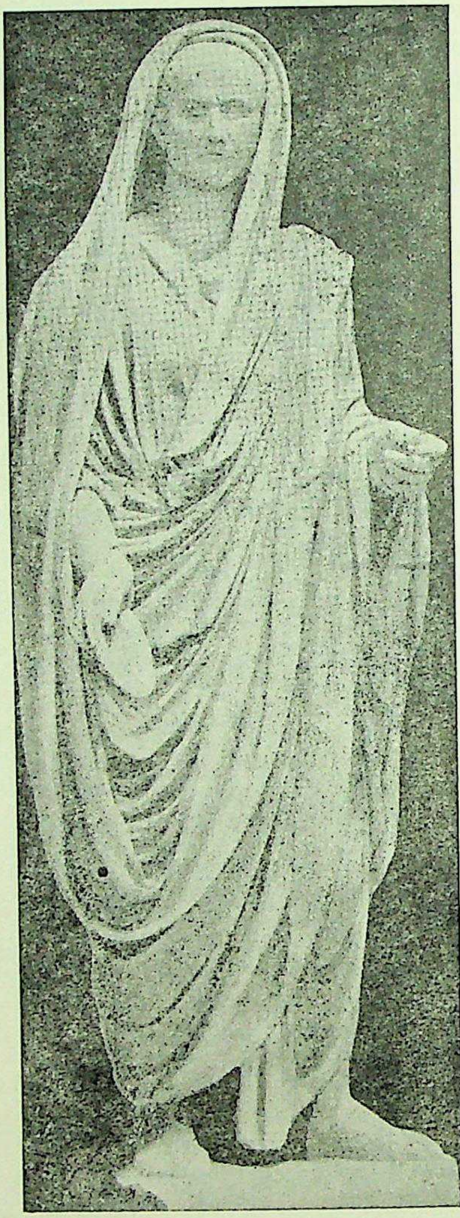

प्रथम शती ई० की एक रोमन-मूर्ति।

पेसीटीलीज का कला-संप्रदाय

क्रमशः नेपल्स में भास्कर्य का एक स्थानीय कला-संस्थान विकसित हो उठ खड़ा हुआ, जिसने एलेक्जेण्डर के युग की उन आदर्श ग्रीक कृतियों का अनुसरण करना आरंभ कर दिया, जिनका प्रजातंत्र के जमाने के रोमन संग्रहकर्त्ता बहुत ऊँचा मूल्य आँकते थे। इस संस्थान की एक विशेषता यह थी कि इसके अनुगामी कलाकारों ने बड़ी चतुराई से यह बात भाँप ली थी कि ग्रीस की अति पुरातन आरम्भिक मूर्तियाँ सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से उत्तरकालीन ग्रीक कृतियों से कहीं ऊँचे दर्जे की थीं। इसी वजह से इन लोगों ने अधिक शृंगारयुक्त और पांडित्यपूर्ण उत्तरकालीन ग्रीक शैली के बजाय अति प्राचीन आदि ग्रीक शैली का ही अनुसरण किया। इस शैली में बनाई गई कलाकृतियों का सर्वोत्तम नमूना तथाकथित 'पाम्पिआई की डायना' की मूर्ति है। "यह उस आडंबररहित परिश्रमपूर्ण शैली की नकल है, जिसमें अति प्राचीन ग्रीक शिल्पी गतिशील आकृति को व्यक्त करने का प्रयत्न करते थे। साँचे में ढली हुई-सी वह पुरातन मुस्कान, वे बड़ी-बड़ी आँखें, वह समान केशविन्यास आदि स्पष्ट रूप से यह बता देते हैं कि रोमन कलाकारों ने इसमें एक अति प्राचीन कृति का-सा भाव लाने के लिए कितना परिश्रम किया था।" कहते हैं कि इस कला-संप्रदाय का संस्थापक पेसीटीलीज नामक ग्रीक था, जो एक प्रसिद्ध मूर्तिकलाकार होने के अतिरिक्त एक विद्वान् लेखक भी था। उसका ग्रीक-कला पर लिखित पाँच खंडों का ग्रंथ प्लाइनी के सौंदर्यशास्त्र-संबंधी अनुशीलन का प्रधान स्रोत था। उसी के ग्रंथ से यह ज्ञात होता है कि आजकल की तरह वह अपनी कृति को मिट्टी में बनाता था और उसके शिष्य बाद को संगमरमर में उसकी नकल कर लेते थे। इफीजिनिया और ओरीस्टीज एवं तथाकथित 'इल्डेफांजो-समूह' के प्रसिद्ध मूर्ति-समूह इसी कला-संप्रदाय की कृतियाँ हैं और वे निर्विवाद रूप से ग्रीस के र्होड्स और प्रेक्सीटीलिज के स्कूलों की याद दिलाते हैं।

ऑगस्ट्स-काल का उत्कृष्ट शिल्प : 'आरापेसिस' नामक कला-मन्दिर

टोगा नामक पोशाक पहने एक रोमन नागरिक की प्रतिमा (प्रथम शती ई०)।

रोम में साम्राज्यशाही की स्थापना और प्रसार के साथ ही सम्राटों और जनता दोनों में विशाल इमारतें बनाने की सनक बढ़ने लगी। प्रत्येक सम्राट् अपने राज्यारोहण या विजय की यादगार में बेसिलिका, फोरम, सर्कस, स्नानागार, आदि बनवाने लगा, जिससे स्थापत्य-कलाकारों, मूर्तिकारों, चित्रकारों और सजावट करनेवाले कारीगरों को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला। सम्राट् ऑगस्टस की तो गर्वोक्ति थी कि 'मैंने रोम को एक ईंटों की बस्ती के रूप में पाया था और उसे संगमरमर की नगरी के रूप में छोड़ा है।' अपने सुदीर्घ शासनकाल में ऑगस्टस ने अनेक उपयोगी सार्वजनिक भवन निर्मित किए। उसे तथा उसके अनेक उच्चकुलीन मित्रों को कला के क्षेत्र में उन्नति के एक नवीन युग के उद्घाटन का श्रेय मिलना चाहिए। इस युग का भास्कर्य अधिकतर उभाड़कर खोदा हुआ या उतृंकित था, क्योंकि इस ढङ्ग के काम में जगह की बचत हो जाती थी। यह भित्तिचित्रों तथा संपूर्ण पृथक् मूर्तियों के बीच मानो समझौता-सा था। इन उभारकर बनाए गए अधिकतर मूर्ति-चित्रों में पौराणिक या धार्मिक कथाएँ अंकित की गई थीं। हाँ, कुछ में तत्कालीन जीवित व्यक्तियों का भी चित्रण किया गया था, जैसे कि ऑगस्टस द्वारा निर्मित 'आरापेसिस' (शान्ति पीठ) में, जिसे कि उसने गॉल और स्पेन की अपनी विजयों की स्मृति में बनवाया था। एंकाइरा (आधुनिक 'अंकारा', जो तुर्की प्रजातंत्र की राजधानी है) नामक प्राचीन ग्रीकनगर में ऑगस्टस द्वारा बनवाया गया एक विशाल मंदिर है, जिसकी दीवारों पर एक लम्बा आलेख खुदा है। यह आलेख 'ऑगस्टस सीजर का अंतिम वक्तव्य' माना जाता है। इस अभिलेख में उस प्रतापी सम्राट् ने अपनी प्रजा से विदा लेते हुए अपने संग्रामों, सुधारों और अपने शासनकाल में बनवाए गए भवनों को गिनाया है। उपर्युक्त आलेख में 'आरा पेसिस' या शान्ति-पीठ नामक स्मारक भवन का निम्न शब्द में उल्लेख किया गया है——'स्पेन और गॉल को पूर्ण रूप से शांत करके स्वदेश लौटने पर सिनेट (सर्वोपरि रोमन व्यवस्थापिका सभा) ने मेरी वापसी के उपलक्ष्य में धन्यवाद-प्रदर्शन के रूप में यह निश्चय किया कि केम्पस मारटियस नामक स्थान में एक वेदी या पीठस्थान का निर्माण कराया जाय और वह शांति देवी को उत्सर्गित कर दिया जाय।'

शान्ति के इस महिमामय मंदिर के भग्न अंश आज योरप के तमाम संग्रहालयों में बिखरे पड़े हैं। १९०२ ई० में पीटरसन नामक एक ऑस्ट्रियन पुरातत्त्ववेत्ता ने इस देवालय के मूलस्थान का पता लगाया और बड़ी सावधानी के साथ खुदाई करके शान्ति के इस मन्दिर के शेष भागों को धरती से १९ फीट नीचे से खोद निकाला। 'आरा पेसिस' का सब से मशहूर उभरा हुआ मूर्ति-चित्र वह फ्रीज है, जिसमें ऑगस्टस के एक सार्वजनकि जुलूस का दृश्य है। इसमें ऑगस्टस अग्रपुरोहित के वेश में है और उसके साथ दो कॉन्सल (रोम के उच्च पदाधिकारी) तथा उनके परशुधारी अनुचरों का एक दल है। इनके पीछे एक और मनोरंजक दल है, जिसमें महारानी लिबिआ, सम्राट् का दामाद अग्रिप्पा और उसका सौतेला पुत्र टीबेरियस है। तदुपरांत एन्टोनिया के साथ ड्रूसस बालक जर्मेनिकस को हाथ पकड़कर आगे ले चलते हुए दिखाया गया है। इनके पीछे सिनेट के सदस्यों और उच्चकुलीन रोमन पैट्रीशियनों का झुंड है, जो टोगा नामक अपनी लम्बी पोशाक में अति गंभीरतापूर्वक कतार बाँधकर

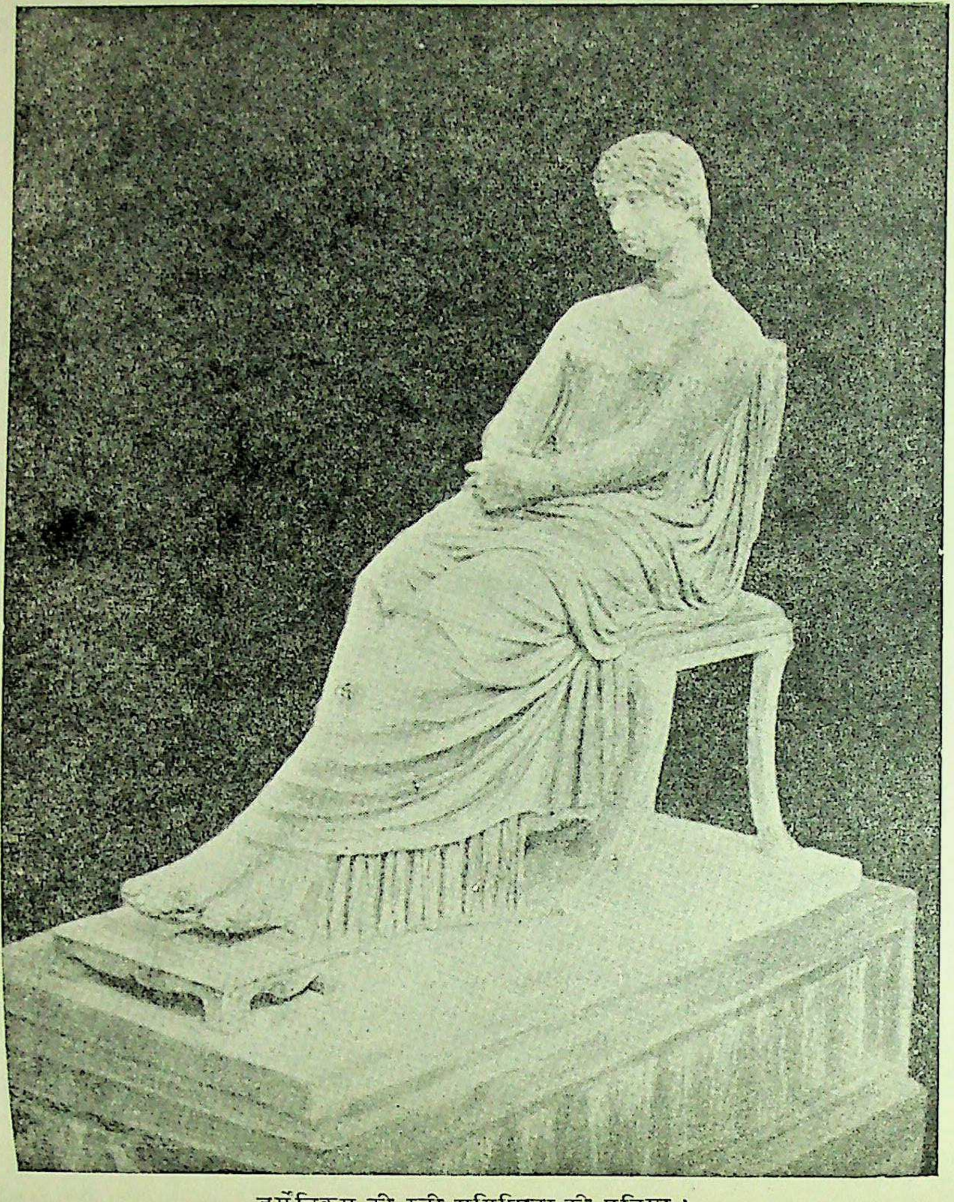

जर्मेनिकस की स्त्री अग्रिप्पिना की प्रतिमा ।

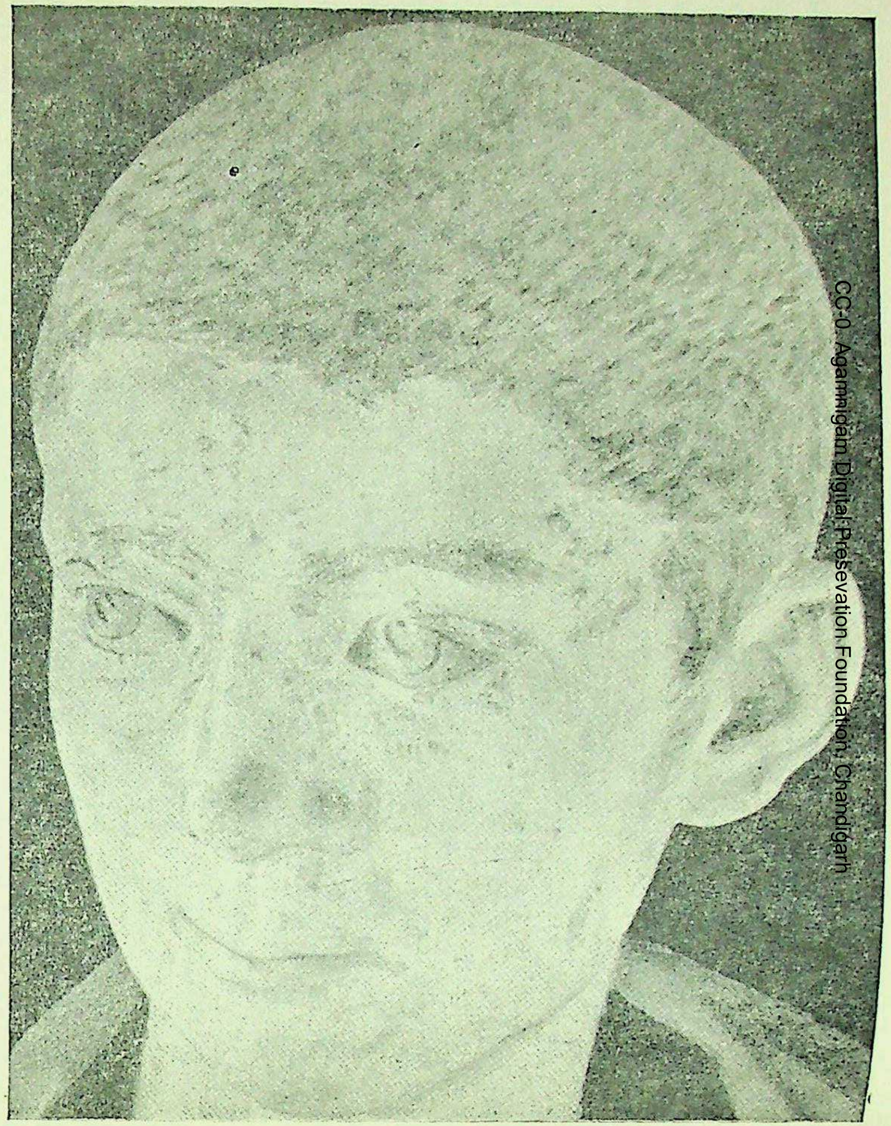

तीसरी शताब्दी ईस्वी की एक रोमन मानव-मूर्ति —— यह संभवतः सम्राट् फिलिप्पस माइनर के शीर्ष-भाग की छवि है । मूर्ति संगमरमर में बनी है ।

चल रहे हैं । रोमन राज्य के उच्च पदाधिकारियों और अमीर वर्ग के लोगों के जुलूस का जैसा यथार्थवादी चित्रण इस प्रतिमा में किया गया है,उससे श्रेष्ठतर चित्रांकन कहीं नहीं मिलता । आरा पेसिस की सजावट की कारीगरी हमें रोमन कला के चरम उत्कर्ष की झलक देती है । उससे प्रकृति के प्रति रोमन लोगों का गम्भीर और सच्चा अनुराग दृष्टिगत होता है, जिसका ऊपरी फ्रीज पर अंकित मानव-मूर्तियों की गहरी, यथार्थवादिता के साथ पूरी तरह सामंजस्य है । संक्षेप में, 'आरा पेसिस' नामक यह शान्ति-पीठ अपने निर्माण के युग तक की रोमन कला के इतिहास का एक गौरवपूर्ण संक्षिप्त चित्रपट-सा है, जिसमें एक ओर उत्तरकालीन ग्रीक युग की परंपरा की याद दिलानेवाली अनेक विशेषताएं हैं, तो दूसरी ओर वे मानव-मूर्तियाँ हैं, जो निश्चय ही एट्रस्कन यथार्थवादिता का विकसित रूप थीं । जहाँ उसमें प्रजातंत्र-युग की पुष्पमालाओं का अंकन है, वहाँ अन्त में ऑगस्टस सीजर के परिवार के चित्रांकन के रूप में साम्राज्य-शक्ति की विजय का भी स्पष्ट आलेख है ।

रोमन चित्रकारी——(१) 'पाम्पिआई-शैली'

नवीनता के समावेश की यह भावना ऑगस्टस के युग के रोम नगर के महान् सार्वजनिक भवनों और राजप्रासादों में ही दृष्टिगत नहीं होती है, बल्कि उसकी छाप साधारण घरेलू स्थापत्य में भी हमें नजर आती है । दुर्भाग्य से रोम की खानगी इमारतें काल के निर्मम हाथों द्वारा कभी की मिट्टी में मिल चुकी है । अतएव इनका परिचय पाने के लिये हमें दूसरे महान् रोमन नगर पाम्पिआई की ओर मुड़ना होगा, जिसे वैसुवियस नामक ज्वालामुखी ने बाद में आनेवाली पीढ़ियों के लिए अपनी उगली हुई लावा के नीचे दबाकर मानो मोमियाई की तरह सुरक्षित कर दिया था । इस मशहूर नगर के दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास से सब कोई इतने अधिक परिचित हैं कि उसको यहाँ फिर से दोहराने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती । लार्ड लिटन ने अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास 'पाम्पिआई नगर के अंतिम दिवस' में इसकी कथा को सदा के लिये अमर कर दिया है और कई साहसी चित्रपट बनानेवालों ने भी प्रत्येक देश के निवासियों को उससे परिचित कर दिया है । पुरातत्ववेत्ताओं के लगभग एक शताब्दी के अथक परिश्रम और अध्यवसाय के फलस्वरूप यह प्राचीन नगर करीब-करीब सारा-का सारा खोदकर बाहर निकाल लिया गया है और आज हम पाम्पिआई के इतिहास और जीवन के संबंध में मध्य युग के किसी भी नगर से कहीं अधिक बातें जानते हैं ।

रोमन गृह की प्रधान विशेषता 'एट्रियम' नामक वह छतदार रचना थी, जिसमें आसमान की ओर एक खुला वातायन रहता था । यह वातायन 'इम्प्लूवियम' के नाम से पुकारा जाता था । 'इम्प्लूवियम' के ठीक नीचे वर्षा के पानी को जमा करने के लिए एक हौज बना रहता था । यह हौज कभी-कभी पुष्पित कुमुदिनी और सुनहली मछलियों से सुशोभित रहता था । 'एट्रियम' की दीवारें कभी-कभी एक खास ऊँचाई तक संगमरमर से विभूषित रहती थीं, किन्तु प्रायः कम खर्च के विचार से इसके बदले रंगीन प्लास्टर ही का प्रयोग उसमें होता था । यह सजावट बहुत ही तड़क-भड़कदार रंगो से की जाती थी । दीवार या तो रंगीन संगमरमर से विभूषित रहती थी या आराइश द्वारा उसकी नकल उस पर बना दी जाती थी । इन दीवारों की कँगनी रँगी रहती थी । यदा-कदा दरवाजे और दीवार में उभरे हुए खंभे भी रँग दिए जाते थे, किन्तु प्रत्येक दशा में दीवार की सजावट को वे किसी प्रकार घटने नहीं देते थे । यह रोमन सजावट की 'प्रथम शैली' के नाम से पुकारी जाती है । संभव है, इसकी उत्पत्ति का स्रोत उत्तरकालीन अथवा एलैक्जेंडर के युग की ग्रीक कला रही हो । सजावट की इन रोमन शैलियों का चूँकि अन्य स्थानों की अपेक्षा सब से अधिक पाम्पिआई में ही अध्ययन किया गया है, अतएव ये भित्ति-शृंगारकला की 'पाम्पिआई शैली' के नाम से भी अभिहित की जाती हैं । पाम्पिआई-शैली की प्रथम शैली, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, 'इन्क्रस्टेशन' या 'संगमरमर-शैली' के नाम से पुकारी जाती है ('इन्क्रस्टेशन' 'क्रुस्टा' शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है——'संगमरमर की तख्ती') ।

रोमन चित्रकारी——(२) 'स्थापत्य-शैली'

दूसरी शैली 'स्थापत्य-शैली' के नाम से पहचानी जाती है, क्योंकि इसमें एक ऐसी स्थापत्यमूलक रचना का प्रयोग किया गया है, जिससे देखनेवालों पर पीछे की ओर बहुत दूर तक फैले हुए विस्तृत दृश्य का-सा प्रभाव पड़ता है । यह नाम उपयुक्त ही है, क्योंकि इस शैली से सजाए गए भवन में सचमुच ही स्तंभ-पंक्तियों और अन्य स्थापत्यमूलक विशेषताएँ दिखाई देती हैं, मानो वे दीवारों से पृथक् हों । इससे देखनेवाले के मस्तिष्क पर ऐसा प्रभाव पड़ता है, मानो पीछे बहुत गहराई तक उक्त दृश्य फैला हो । इस प्रकार कोई भी कमरा वास्तविक से अधिक बड़ा दिखाई देने लगता है । सजावट की यह 'स्थापत्य-शैली' शीघ्र ही इतनी अधिकता से काम में लाई जाने लगी कि रोम की चहारदीवारी के बाहर बने हुए

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अनेक शाही कुंज-भवनों में से एक की सारी की सारी दीवार एक पुष्पित झाड़ी के चित्र से विभूषित पाई गई है। इसमें मनोहर वृक्षों के समूह छत तक अपना सिर उठाए हुए चित्रित हैं और उनमें विविध रंगों के पक्षी भी दिखाए गए हैं। यद्यपि यह शैली मुश्किल से 'स्थापत्य-शैली' कही जा सकती है, फिर भी सजावट का सिद्धान्त इसमें वही है। यहाँ भी दीवारों की सजावट द्वारा कमरे को वास्तविक से अधिक बड़ा दिखाने का ही प्रयास क्रिया गया है।

रोमन चित्रकारी--(३) 'आलंकारिक शैली'

रोमन भित्ति-सजावट की तीसरी शैली 'आलंकारिक शैली' कहलाती है। इस शैली में पीछे की ओर गहराई दिखाने का प्रयत्न नहीं किया जाता, बल्कि सारी दीवार समान रूप से एक ही रंग में रंग दी जाती है--सफेद, काले या एक निराले ढंग के लाल रंग में, जिसका नाम 'पाम्पिअन लाल रंग' पड़ गया है। इसी पृष्ठभूमि पर हजारों तरह के छोटे आकार के अलंकार चित्रित किए रहते थे। यहाँ हमें सुन्दर पुष्पमालाओं की फ्रीजें (जो कि साँची, भरहुत और ग्रीक-भारतीय मूर्तियों में भी आम तौर से पाई जाती हैं), इन्हीं मालिकाओं द्वारा गूँथे गए खड़े हार, छद्मवेश की आकृतियाँ, छोटी-छोटी टोकरियाँ और विशेषकर शोभा के लिए लटकाए जानेवाले परदों आदि सभी के चित्र देखने को मिलते हैं। ये सब बड़ी सुसंगति के साथ सजाए रहते थे और उनके रंग दीवार की चकाचौंध पैदा करनेवाली तड़क-भड़क को कुछ मंद और मधुर बना देते थे। सजावट की यह आलंकारिक शैली लगभग रोमन सम्राट् नीरो के जमाने में बहुत अधिक प्रचलित हुई और उसके सुप्रसिद्ध 'स्वर्ण-प्रासाद' में अब भी इस शैली के अवशिष्ट चिह्न हमें देखने को मिल जाते है। इस सुनहले प्रासाद के ध्वंसावशेषों पर ही टाइटस के स्नानागार का भवन बनाया गया था, जिससे नीरो का यह प्रासाद उसकी कुर्सी या आधार बन गया। १५वीं शताब्दी में जब टाइटस के स्नानागार के नीचे से इस महल के अवशेष खोदकर निकाले गए, तो वे धरती के भीतर बनी कंदराओं के रूप में पाए गए। इसी कारण उनकी कुछ आलंकारिक विशेषताओं को 'ग्रोटेस्को' या (आधुनिक अंग्रेजी में) 'ग्रोटस्क' कहकर पुकारा गया ('ग्रोटो' का अर्थ है कंदरा)।

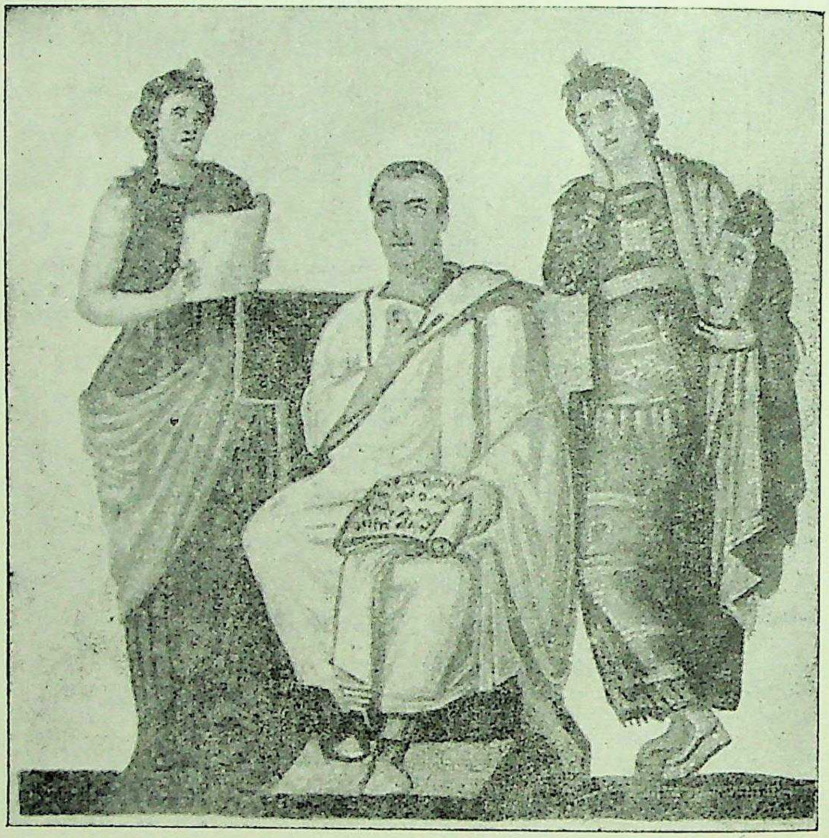

रोमन चित्रकारी का एक नमूना :: रोमन चित्रकला के कुछ भी अवशेष आज देखने को मिलते हैं, वे भित्तिचित्रों के रूप में ही है।

रोमन चित्रकारी --(४) भ्रान्तिवादी शैली'

पाम्पिआई के अन्तिम दिनों में, प्रथम शताब्दी ईस्वी के अन्त के लगभग एक और शैली का आविर्भाव हुआ, जो 'भ्रान्तिवादी' कही जाती है। इस शैली में स्वाभाविकता का दावा नहीं किया जाता, जैसा कि पहली और दूसरी शैली में किया जाता था। अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए इस शैली में स्थापत्य-संबंधी आकृतियाँ छोटे खंभों, फ्रीजों खिड़कियों आदि के रूप में चित्रित की जाती थीं। परन्तु वे सब ऐसी नूतन, असाधारण और जटिल रीति से पेश किए जाते थे, जो यथार्थवाद की दृष्टि से बिलकुल अनजान लगते थे। फिर भी उनमें अपनी एक मनोहरता और आकर्षण होता था, जिससे बहुत ही नाजुक कल्पना का भाव टपकता था। इस शैली की मनोरमता अधिकांश में उन स्पष्ट रँगो के कारण हैं, जो एक छोटे-से घेरे में बनाई गई असंख्य आकृतियों में निखरे थे।

तीसरे और चौथे प्रकार की शैलियों में दीवार के मध्य भाग में किसी प्रसिद्ध ग्रीक चित्र की प्रतिलिपि बनी रहती थी। यह उक्त चित्र की किसी नकल की अनुकृति होती थी, जो स्वयं न जाने कितनी नकल के बाद बनी होगी। स्थान के आकार-प्रकार के अनुसार संभवतः यह छोटी-बड़ी भी कर ली जाती थी। कुछ भी हो, पाम्पिआई के घरों के ये छोटे भित्तिचित्र ही प्रायः अनेक प्रसिद्ध किन्तु लुप्त प्राचीन चित्रों की एकमात्र बची हुई प्रतिलिपियाँ हैं। इन्हीं प्रतिलिपियों तथा कलश पर अंकित चित्रों एवं पच्चीकारी या मोजेक शैली के चित्रों की सामग्री से ही हम इस बात का कुछ अनुमान कर पाते हैं कि इनके मौलिक ग्रीक चित्र कैसे रहे होंगे !

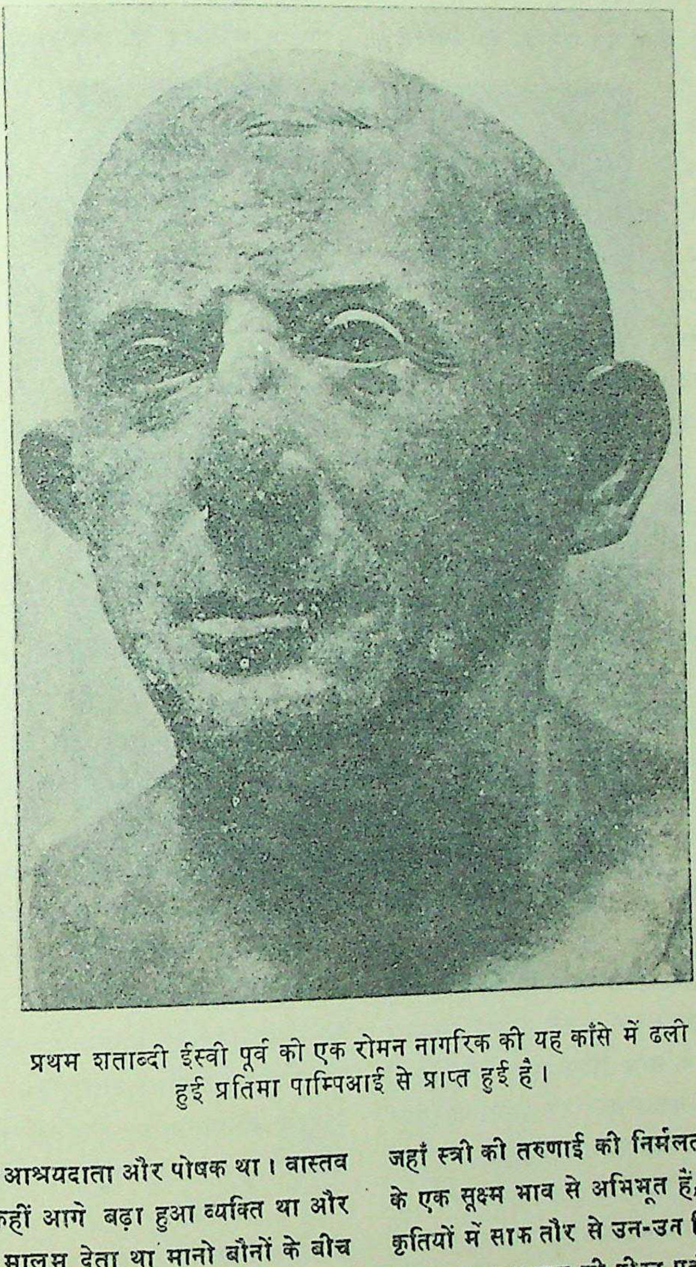

प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व की एक रोमन नागरिक की यह काँसे में ढली हुई प्रतिमा पाम्पिआई से प्राप्त हुई है।

रोमन मूर्तिशिल्प की लाक्षणिक विशेषता

स्वयं ऑगस्टस सीजर की——जिसके राज्य-काल में रोमन कला के सभी अंग प्रचुर रूप से पनपने और विकसित होने लगे थे——एलेक्जेंडर की भाँति बहुत अधिक मूर्तियाँ मिलती हैं। उसका महान् चाचा जूलियस सीजर भी कलाओं का एक उदार आश्रयदाता और पोषक था। वास्तव में, वह अपने युग से कहीं आगे बढ़ा हुआ व्यक्ति था और उसका व्यक्तित्व ऐसा मालूम देता था मानो बौनों के बीच कोई दैत्य विचर रहा हो ! युवा ऑक्टेवियन (ऑगस्टस सीजर) को अपने महान् चाचा से वसीयत के रूप में उसके कई गुण मिले थे, जिनमें से एक यह था कि उसकी तरह वह भी कलाकारों से अपना चित्र या मूर्ति बनवाने का बड़ा शौकीन था। इस प्रकार हम उसे १४ वर्ष के एक किशोर के रूप में, २५ वर्ष के युवा के रूप में, अपने सैनिकों के प्रति संभाषण करते हुए रोमन सम्राट् के रूप में, अग्रपुरोहित के रूप में और अन्य अनेक भेषों में चित्रित देखते हैं। रोमन रानियों और अन्य उच्च महिलाओं के भी विविध वेशभूषा और केश-विन्यास के साथ भिन्न-भिन्न रूप में उतारी गई अनेक प्रतिमूर्तियाँ मिलती हैं, जिनमें उनकी अपनी-अपनी भली-बुरी प्रकृति अमिट भाव से चेहरे पर अंकित दिखाई देती है। रोमन मानव-मूर्तिकारों की कृतियों की सजीवता का मोल आँकने के लिए वस्तुतः यही भर काफी होगा कि ऑगस्टस की पत्नी लिविया अथवा द्रूसस की स्त्री एन्टोनिया की मूर्तियों पर एक नजर डालकर क्लाडियस की दुराचारिणी स्त्री व नीरो की माता अग्रिप्पिना अथवा थिसेलिना, फास्टीना, पोप्पिया आदि इसी तरह की अन्य सम्राज्ञियों की मूर्तियों से उनकी तुलना की जाय ! कारण, पहली मूर्तियाँ जहाँ स्त्री की तरुणाई की निर्मलता, गंभीरता एवं मधुरिमा के एक सूक्ष्म भाव से अभिभूत हैं, वहाँ बाद को गिनाई गई कृतियों में साफ़ तौर से उन-उन स्त्रियों के चरित्र की पतनावस्था पर कलाकार की टीका पढ़ी जा सकती है !

संक्षेप में, सभी रोमन मानव-मूर्तियों की प्रमुख लाक्षणिक विशेषता 'निर्दयतापूर्वक चरित्रचित्रण' कहा जा सकता है।

रोम के विशिष्ट सामाजिक और प्रजासत्तात्मक वातावरण के कारण कलाकारों को चित्र या मूर्ति बनवानेवालों के साथ घनिष्ट रूप से हिलमिलकर अति निकट भाव से उनका अध्ययन करने का अवसर मिल जाता था, जिसके फलस्वरूप निश्चय ही सूक्ष्म निरीक्षण, विवेचन और चरित्र-विश्लेषण की उनकी शक्ति बहुत अधिक तीव्र हो जाती थी। इस युग में आकर मानव-मूर्तियाँ जाति विशिष्ट तक सीमित नहीं रहीं, बल्कि वे व्यक्ति-विशिष्ट हो गईं। ट्राजान का स्मारक-स्तम्भ, जिसका कि उल्लेख हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं, एक स्मारक के उद्देश्य से निर्मित होने के बावजूद वास्तव में मानव-मूर्तियों की एक लम्बी प्रदर्शनशाला-सा है। यह सच है कि वीरता का प्रदर्शन ही उसका मुख्य विषय है, फिर भी हमें उसमें बार-बार उसके संस्थापक सम्राट् के जीवन के अति घनिष्ट चित्र देखने को मिलते हैं। इसका रचयिता डेमेस्कस का प्रसिद्ध कलाकार अपोलोडोरस था, जो सम्राट् ट्राजान के साथ उसकी युद्ध-यात्राओं में गया था। उसने उसके डैन्यूब-तटीय संग्रामों का बड़ी चतुराई से इस स्मारक पर एक खाका-सा खींच दिया है।

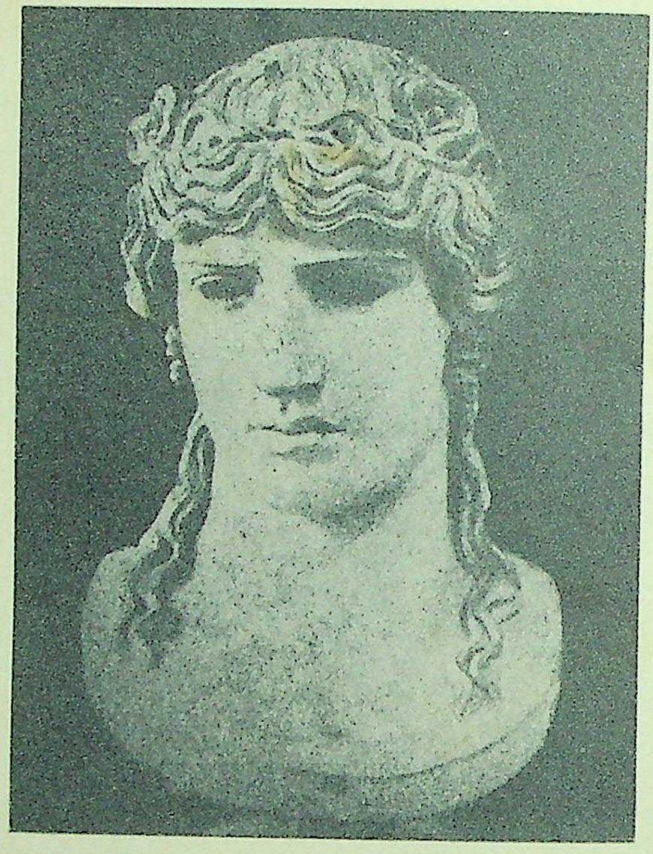

सम्राट् हैड्रियान के प्रेमपात्र एन्टोनियस की एक मूर्ति।

ट्राजान के बाद एक और महान् रोमन सम्राट् गद्दी पर बैठा। इसका नाम हैड्रियान था। ट्राजान की तरह यह भी स्पेन का रहनेवाला था। वह सुन्दर वस्तुओं का बड़ा प्रमी था। स्थापत्य, मिट्टी के पात्र, घोड़ों और नवयुवकों की परख में वह उस्ताद माना जाता था। उसे यात्रा का बेहद शौक था और सभी के अच्छे विचारों का संग्रह करने की उसमें सुसंस्कृत टेव थी। किसी भी देश में जो कुछ भी कलापूर्ण वस्तु उसे दिखाई पड़ती, उसको अपने प्रसिद्ध कुंजभवन में संग्रह करने का वह प्रयत्न करता था। प्राचीन मिस्र की कला के लिए उसके मन में विशेष रूप से झुकाव था और वहाँ की शैलियों का अपने अनेक महलों में विस्तार के साथ उसने उपयोग किया था। उसकी सौंदर्यलिप्सा मानो पराकाष्ठा पर पहुँच गई, जब कि उसने यह आज्ञा दी कि उसका प्रिय पात्र युवा एन्टोनियस एक अर्द्ध-देवता के पद पर प्रतिष्ठापित कर दिया जाय! यह बिथाइनियन युवक, जो अपने शारीरिक सौंदर्य के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध था, अंत में एक अजीब रहस्यमय ढंग से नील नदी में डूबकर मर गया! अपने इस अभागे प्रेमपात्र की याद हैड्रियान कभी भी नहीं भुला सका और उसने उसके सम्मान में मिस्र में एक नवीन नगर का निर्माण करने की आज्ञा दी! इस युवक की मूर्तियाँ बनाते समय सम्राट् के मूर्तिकारों ने उसे आदर्श रूप में चित्रित किया और फलतः एक नवीन कला-शैली का निर्माण किया, जो रोमन कला की अन्तिम शैली कही जा सकती है। एन्टोनियस की मूर्तियाँ हजारों ढंग से बनाई गई थीं; किन्तु सब में वही एक विशेषता दिखाई देती थी—अर्थात् पौरुष के साथ स्त्रैण विलासिता का मिश्रण!

एक और विशेष आकृति, जो इस युग की रोमन कला में प्रायः देखने को मिलती है, बर्बर बंदिनी की प्रतिमूर्ति है। रोमन नागरिकों की मिथ्या दर्प-भावना को इस विचार से बड़ी ही आत्मतुष्टि मिलती थी कि बर्बर लोगों की न केवल भूमि ही हड़पकर रोमन साम्राज्य के प्रान्तों में परिणत कर दी गई थी, वरन् रोमन सेनाधिपतियों की विजय की साक्षी के रूप में उनकी स्त्रियाँ भी पकड़कर रोम लाई गईं और घसीटी गईं थीं। तथाकथित बर्बर बंदिनी टुस्नेल्दा की प्रतिमा इस तरह की कृतियों का एक विशिष्ट उदाहरण है। उससे असहायता और अश्रुसिंचित करुणा का जो भाव टपकता है, वह रोमन कला में बहुत ही कम देखने को मिल सकता है। अन्य जाति के बंदियों की मूर्तियाँ भी प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं। इस प्रकार की मूर्तियों में उन जातियों की विशेषताएँ हम तुरन्त ही पहचान सकते हैं। यह रोमन कला के लिए कोई कम सफलता की बात नहीं है।

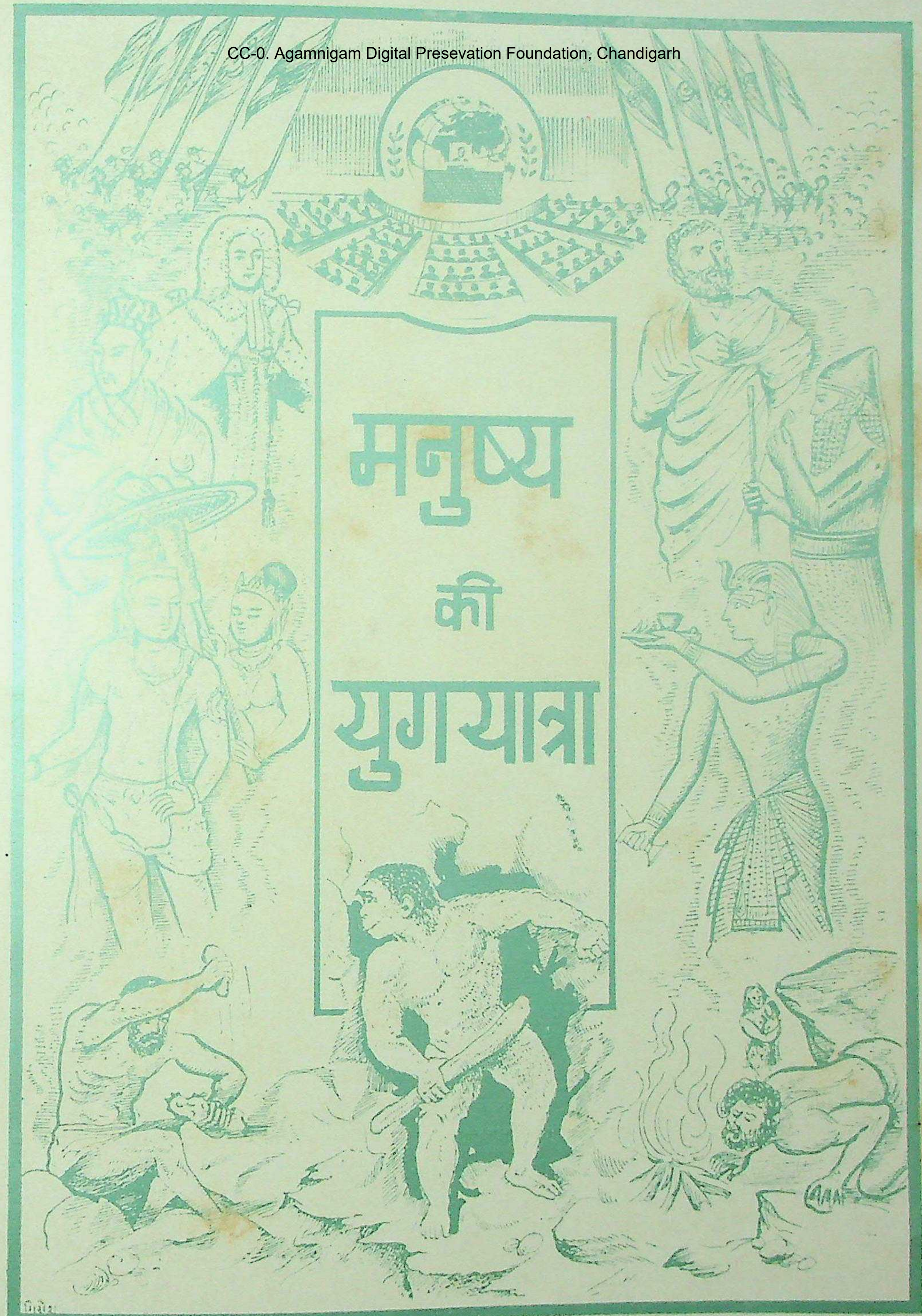

मनुष्य की युगयात्रा

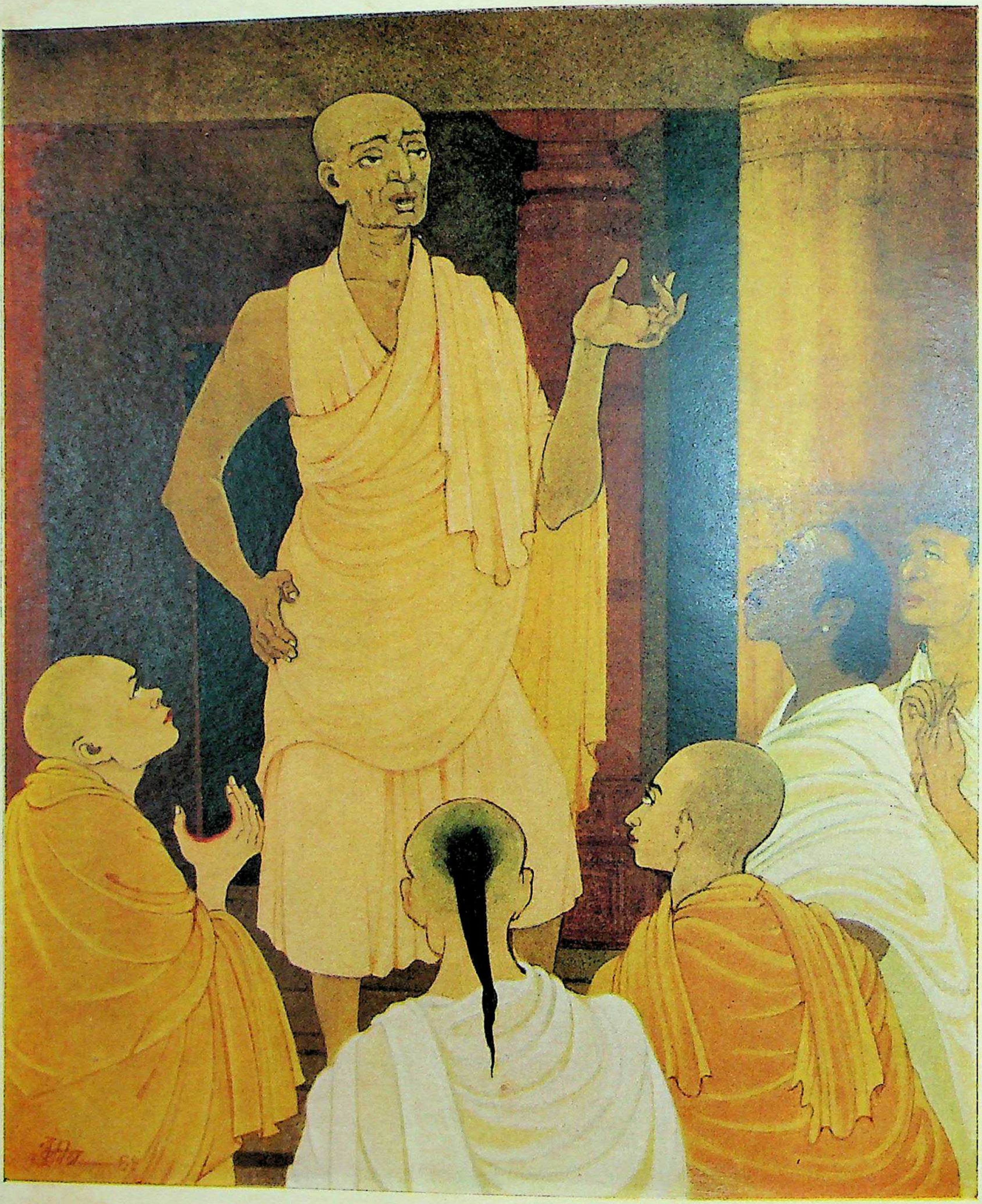

नालन्दा विश्वविद्यालय के द्वार पर प्रवेशार्थियों की परीक्षा

प्राचीन भारत के इस गौरवशाली अंतर्राष्ट्रीय विद्यापीठ में प्रवेश पाने के लिए काश्मीर से कन्याकुमारी तक के देश के विविध भूभागों के अतिरिक्त तिब्बत, चीन, दक्षिणी-पूर्वीय एशिया तथा सुदूर कोरिया तक के शिक्षार्थी आया करते थे। किन्तु प्रवेश सरल नहीं था। कहते हैं, विश्वविद्यालय के द्वार पर एक पंडित रहता था, जो अभ्यार्थियों की कठोर परीक्षा लिया करता और जो विद्यार्थी प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देते, उन्हें ही विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होने का सौभाग्य मिल पाता था (दे० पृ० २९६४)।

[चित्र—श्री० न० कु० मिश्र द्वारा]

भारतीय इतिहास का दूसरा प्रहर—(७)

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि :: राज्य-व्यवस्था

प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्र के अनुसार राज्य की उत्पत्ति मात्स्य न्याय एवं अराजकता का अंत करके शान्ति, सुव्यवस्था, सुरक्षा और न्याय की स्थापना के लिए ही हुई थी। उसका उद्देश्य जीवन के तीन पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ तथा काम—की प्राप्ति में सहायक होना था; अर्थात् मानव के इहलौकिक जीवन को सुख, शान्ति, सदाचार तथा सम्पन्नता प्रदान करने के लिए ही राज्य की सृष्टि हुई थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार "धर्म का पालन राज्य के अस्तित्व पर निर्भर माना जाता था। राजदण्ड के भय से सभी लोग स्वधर्म का पालन करते थे। जीविका का साधन भी दंडनीति बनी हुई थी। राष्ट्र की प्रजा कर्त्तव्यच्युत् और धर्ममार्ग से भ्रष्ट न हो जाय, स्वधर्म का पालन करता हुआ राजा उभय लोक में सुखी रहे, श्रेष्ठ सामाजिक मर्यादा की स्थिति एवं वर्णाश्रमधर्म की उचित परिस्थिति से प्रजा सुखी बनी रहे और किसी को भी किसी प्रकार का क्लेश न हो, यही था राज्य का उद्देश्य।"

अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने 'राजतंत्र', 'कुलराज्य', 'संघराज्य' और 'स्वायत्त शासन'—इन चार प्रकार की शासन-पद्धतियों का वर्णन किया है। 'राजतंत्र' में राजा सर्वेसर्वा होता है। कौटिल्य ने उसको सर्वगुणसम्पन्न बनाने का पूरा प्रयत्न किया है, ताकि वह स्वयं सुखी एवं समृद्ध बनकर निष्कंटक राज्य करता हुआ समस्त प्रजा को सुखी, समृद्ध और शांत बना सके। आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुसार राजतंत्र 'कुलराज्य' भी बन सकता था। यद्यपि कौटिल्य ने ज्येष्ठ पुत्र को ही राजगद्दी का अधिकारी माना है, पर उनका मत है कि यदि राजा के कई गुणवान् प्रजानुरंजक पुत्र हों, तो वे सब मिलकर राज्य कर सकते हैं। इसी प्रकार के राज्य को 'कुलराज्य' कहते हैं। समस्त परिवार द्वारा संचालित एवं संरक्षित कुलराज्य वैरी द्वारा आसानी से जीता नहीं जा सकता। कौटिल्य से पहले भारत में अनेक गणराज्य भी विद्यमान थे, जो प्रजातांत्रिक प्रणाली पर अपना-अपना शासन संचालित करते थे। देश की राजनीतिक दुर्बलता तथा शांति को बिखरते देखकर कौटिल्य ने उन सब को एकत्र कर एक विशाल 'संघराज्य' स्थापित करने की परिकल्पना की। इस संघराज्य में विभिन्न इकाइयों का अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहा। वे स्थानीय शासन और आंतरिक निर्णय में तो पूर्ण स्वतन्त्र थे, किन्तु केन्द्रीय शासन का प्रभुत्व मानने को विवश थे। संघराज्य के राजाओं में से एक को सब की सम्मति से मुख्य राजा चुना जाता था, जो संघ और केन्द्रीय शासन के प्रति वफादार रहता था। एक केन्द्रीय शासन के अंतर्गत प्रजा को जो अनेक स्वायत्त शासन के अधिकार दिए गए थे, उनका तात्पर्य केवल यही था कि प्रजा और राजा के मध्य कोई असंतोष, अभाव और मनोमालिन्य न उत्पन्न होने पावे।

राज्य के अंग

राज्य के स्वरूप पर विचार कर लेने के पश्चात् हमें उसके अंगों पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। इसके लिए भी कौटिल्य का अर्थशास्त्र ही मुख्य स्रोत है। उसके अनुसार राज्य के सात अंग हैं—१. राजा, २. अमात्य, ३. जनपद, ४. दुर्ग, ५. कोष, ६. दण्ड (सेना), और ७. मित्र। इनमें से प्रत्येक का नाम 'प्रकृति' था और सब के समुदाय को 'प्रकृतिमंडल' कहा

जाता था। इन अंगों का विस्तृत वर्णन करते हुए कौटिल्य ने निम्नांकित मुख्य शीर्षकों में उनका वर्गीकरण किया है——राजा, मंत्रिपरिषद तथा शासन; केन्द्रीय, प्रांतीय, जानपदीय तथा ग्राम्य; राजस्व, न्याय-विधान तथा वैदेशिक नीति।

राजतंत्र

कौटिल्य द्वारा वर्णित राज्य में प्राचीन भारत में राजतंत्र तथा प्रजातंत्र दोनों प्रकार की शासन-पद्धतियाँ प्रचलित थीं, किन्तु साधारणतया राजतंत्र की ही प्रधानता थी। गुप्तकाल में गणराज्यों का अन्त हो जाने से देश की एकमात्र शासन-पद्धति राजतंत्र ही रह गई। हम यहाँ पहले राजतंत्र और बाद को गणतंत्रमूलक शासन-प्रणालियों पर दृष्टि डालेंगे।

राजतंत्र की प्रणाली भारत में वैदिक काल से ही प्रचलित थी। पर उस समय भी राजा निरंकुश नहीं था, वरन् उस पर 'समिति' तथा 'सभा' का नियंत्रण रहता था। मौर्यकाल तथा उसके पूर्व कालान्तर में देश में कई प्रकार के राजतंत्र प्रचलित हो गए। उदाहरणार्थ, पूर्वमौर्यकाल में पूर्वीय भारत के कुछ राज्य सही अर्थ में साम्राज्य ही थे——वे केवल एक ही राजा——'एकराट्'——द्वारा शासित थे। उधर सिन्धु-तलहटी में कुछ ऐसे राजा भी थे, जो केवल युद्धकाल में आगे आते थे और शांतिकाल में वे अपना शासन-सूत्र मंत्रियों को सौंप दिया करते थे! स्पार्टा की तरह हमारे देश में भी कहीं-कहीं द्वैराज्य——द्वैध शासन-प्रणाली——प्रचलित थी। यह प्रणाली पूर्वमौर्यकाल एवं मौर्यकाल दोनों में ही विद्यमान थी। इस शासन-पद्धति में कहीं-कहीं वास्तविक राजा के साथ-साथ उसका 'युवराज' भी मिलकर सहयोगी की भाँति राज्य का शासन किया करता था।

वैदिक काल के बाद भी भारतीय राजतन्त्र का रूप निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी नहीं हो पाया। उसे सुनियन्त्रित एवं सीमित रखने के लिए वैदिक काल की 'सभा' तथा 'समिति' का स्थान अब पुरोहित, ब्राह्मण, प्रजा-हितचिन्तन, तथा देश के प्राचीन नियमों एवं परंपराओं ने ले लिया। इसके अतिरिक्त मंत्रिपरिषद् भी राजा के ऊपर अंकुश रखती थी। अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए राजा को वेदों तथा शास्त्रों का अध्ययन करना पड़ता था। अत्याचारी राजाओं को राजसिंहासन से हटा दिया जाता था। और तो और, साम्राज्यवाद के प्रमुख केन्द्र मगध में भी राजा ग्रामिकों से परामर्श किया करता था।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजा को राजनीति और शासन का सूत्रधार ही नहीं, वरन् राजर्षि भी मानता है। उसके अनुसार राजा 'विध्वंसक नहीं बल्कि श्रेय और कल्याण का संपादक तथा निर्माता एवं असत् का विनाशक' है। कौटिल्य ने धर्मानुकूल आचरण करनेवाले राजा को ही ईश्वरीय गुणों से संपन्न माना है। अयोग्य राजा को पदच्युत करने तथा अधर्मी, अन्यायी और व्यभिचारी राजा का वध करने का विधान भी अर्थशास्त्र में है। "राजा वही है, जिसमें नैतिक गुणों का प्राचुर्य हो।" कौटिल्य के अनुसार राजा को जितेन्द्रिय एवं प्रजानुरंजक होना चाहिए। उसे वृद्धों एवं विद्वानों का सत्संग करना चाहिए। उसे अधर्म, अनर्थ और अनाचारों से स्वयं दूर रहकर प्रजा को भी उनसे दूर रखना चाहिए।

राजतंत्र वंशानुगत था और उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र को ही प्राप्त होता था, किंतु राजा अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर दिया करता था। समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदाहरण इसके प्रमाण हैं। प्रजा या रईसों द्वारा राजा के निर्वाचित किए जाने के भी उदाहरण मिलते हैं। कभी-कभी राजवंश के ही किसी योग्य व्यक्ति को राजा चुन लिया जाता था और कभी-कभी बाहरी व्यक्ति भी निर्वाचित कर लिए जाते थे। राजाओं के सार्वजनिक चुनाव के कई उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं। बंगाल के राजा गोपाल, असम के राजा ब्रह्मपाल तथा दक्षिण भारत में नन्दिवर्मन पल्लवमल्ल का निर्वाचन प्रजा द्वारा ही किया गया था। हर्षवर्धन को स्थानेश्वर का सिंहासन भण्डि के नेतृत्व में रईसों की सभा द्वारा ही सौंपा गया था। काश्मीर के राजा यशस्कर का चुनाव भी ब्राह्मणों की सभा ने ही किया था। एक यूनानी लेखक का कहना है कि पंजाब के किसी भाग में सब से सुन्दर व्यक्ति को ही राजा चुना जाता था! भारत के कुछ भागों में मुख्यतया काश्मीर, उड़ीसा तथा तेलगू प्रदेश में स्त्रियाँ भी राजसिंहासन प्राप्त किया करती थीं। राजाओं द्वारा राजसूय-यज्ञ करने पर ही राज्यारोहण-संस्कार की पूर्ति होती थी और तभी राजा राजगद्दी पर बैठता था। मौर्यकाल के बाद शुङ्काल में ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान के क्रम में राजा द्वारा चक्रवर्ती-पद प्राप्त करने के लिए अश्वमेध-यज्ञ करने की प्राचीन परिपाटी फिर से प्रबल हो उठी, जिसका प्रचलन गुप्तकाल में भी जारी रहा। स्वयं समुद्रगुप्त ने भी अश्वमेध-यज्ञ किया था। स्पष्टतः यह राज्य की शक्ति के विस्तार और साम्राज्य के संगठन का एक अनुष्ठान था।

मौर्य तथा गुप्तकाल में राजत्व के सिद्धान्त में स्पष्ट परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे। मौर्यकाल के प्रारंभ में देवताओं का प्रिय होते हुए भी राजा केवल एक मनुष्य मात्र था। मौर्य सम्राट् दैवी अधिकार का दावा नहीं करते थे। सम्राट् अशोक

अपने को 'देवानांप्रिय' कहा करता था। बाख्त्री यूनानियों ने भी राजा द्वारा 'दैवी' पदवी धारण करने की प्रथा अपनाई। ईस्वी शताब्दी के प्रारंभ में एक पार्थियन राजा ने 'देवव्रत' का विरुद धारण किया और कुषाण सम्राटों ने भी 'देवपुत्र' की पदवी ग्रहण की। उत्तरमौर्यकाल में जिन प्रदेशों पर विदेशी शासन स्थापित हो गया, वहाँ के राजाओं में अपना दैवी अधिकार जतलाने की प्रवृति प्रबल होती गई, यहाँ तक कि गुप्तवंश की स्थापना होते-होते राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धांत सर्वाधिक मान्यता प्राप्त कर गया। प्रयाग के विजयस्तंभ-लेख में समुद्रगुप्त की तुलना केवल चार दिक्पालों——कुबेर, वरुण, इंद्र और यम से ही नहीं की गई है, वरन् वह सृष्टि का सर्जन एवं संहार करनेवाला महान् देवता माना गया है! इस युग के साहित्य में राजा को विष्णु का प्रतिनिधि मानकर 'धर्मावतार' कहा गया है। विष्णु की तरह राजा को भी 'पृथ्वीवल्लभ' कहा गया है। राजा के दैवी अधिकार का कभी-कभी विरोध भी किया गया। इस पक्ष का प्रबल समर्थक कवि बाण था, जो दैवी अधिकार के सिद्धान्त को केवल धोखा-धड़ी समझता था। किंतु हमें स्मरण रखना चाहिए कि गुप्तयुग में भी राजा लोग अपने को मौर्य सम्राटों की तरह प्रजानुरंजक अवश्य समझते थे। अशोक प्रजा को अपनी संतान समझता था और उसके प्रति पितृतुल्य व्यवहार करता था। अपने द्वितीय कलिंग-लेख में वह कहता है——"सभी मनुष्य मेरी सन्तान हैं और जिस प्रकार मैं अपनी संतति को चाहता हूँ कि वह सब प्रकार की समृद्धि और सुख इस लोक और परलोक में भोगे, ठीक उसी प्रकार मैं अपनी प्रजा की सुख-समृद्धि की भी कामना करता हूँ।" फाह्यान तथा य्वान च्वाङ् के वृतान्त इस विचारधारा के प्रबल पोषक हैं और वे सिद्ध करते हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा हर्षवर्धन भी अपने को प्रजा का शुभचिन्तक एवं कल्याणकर्ता समझना अपना कर्तव्य एवं धर्म समझते थे। प्रजा के प्रति राजा द्वारा पितृतुल्य व्यवहार करना भारतीय राजतंत्र की प्राचीन परंपरा थी।

राजा के अधिकार

राजा के अधिकार विविध एवं व्यापक थे। देश की सुरक्षा का दायित्व उसी पर था और युद्धकाल में वही रणभूमि में सेना का नेतृत्व ग्रहण करता था। न्याय का भी स्रोत राजा था। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को नितप्रति अपने शरीर की मालिश कराने का बड़ा चाव था और मेगस्थनीज का कहना है कि जब वह न्याय करने बैठता था, तो उसमें वह किसी भी प्रकार का व्यवधान या हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकता था——यहाँ तक कि मालिश का समय हो जाने पर भी वह न्याय करने को प्राथमिकता प्रदान करता था! महत्वपूर्ण दायित्व के पदों पर अधिकारियों की नियुक्ति स्वयं राजा द्वारा ही होती थी। नीति-निर्धारण करना एवं शासन-नियम बनाना भी राजा के ही अधिकार-क्षेत्र थे। इस प्रकार राजा सेना, न्याय, शासन आदि सभी विभागों का अधीश्वर था और उसे कानून बनाने का भी पूरा अधिकार प्राप्त था।

मंत्रिपरिषद्

केन्द्र में शासन-संचालनार्थ राजा की सहायता करने के लिए मंत्रिपरिषद् का विधान था। देश-काल की आवश्यकता के अनुरूप मंत्रिपरिषद् में सात से लेकर बीस तक मंत्री सम्मिलित किए जाते थे, यद्यपि साधारणतया राजा मंत्रिपरिषद् में थोड़े मंत्रियों का रखना ही अधिक पसन्द करते थे। मंत्री के अर्थ में तीन शब्दों का प्रयोग किया जाता था——सचिव, मंत्री तथा अमात्य। 'सचिव' परामर्शदाता था। पश्चिमी भारत के शक और क्षत्रपों के यहाँ दो प्रकार के सचिव थे——मति-सचिव तथा कर्म-सचिव। अर्थशास्त्र के अनुसार 'मंत्री' वह है, जो राजा के साथ एकान्त में मंत्रणा करे। मंत्रिपरिषद् के सदस्य राजा के साथ एकान्त में मंत्रणा न करके परिषद् के खुले अधिवेशन में विचार व्यक्त करते थे। आवश्यकता पड़ने पर राजा मंत्रिपरिषद् के सदस्यों से भेंट करके या पत्र-व्यवहार करके उनके विचार जानता था। वह मन्त्रिपरिषद् में व्यक्त किए हुए सदस्यों के विचारों को मानता था, यद्यपि उनकी मंत्रणा मानने के लिए वह बाध्य नहीं था। अर्थशास्त्र का आदेश है कि मंत्रियों की नियुक्ति करने में राजा बुद्धि, मेधा, स्वभाव, कुलीनता, साहस, धैर्य, शक्ति, विद्या, विनय, विवेक आदि सब की परीक्षा कर लेने के बाद किसी व्यक्ति को मंत्री बनाए।

प्रमुख राज्यकर्मचारी

मंत्रिपरिषद् के अतिरिक्त केन्द्र में राजा की सहायता करने के लिए कुछ प्रमुख कर्मचारी भी नियुक्त किए जाते थे। मौर्यकाल के पूर्व ऐसे कर्मचारियों में पुरोहित, सेनापति तथा महामात्र के नाम उल्लेखनीय हैं। रामायण तथा जातक-ग्रन्थों से पता चलता है कि काशी तथा कोशल में पुरोहित का विशेष महत्व था। एक बार केवल एक ही व्यक्ति काशी, कोशल तथा विदेह तीनों का पुरोहित था। किंतु कुरु-पांचाल तथा मत्स्यदेश में पुरोहित की अपेक्षा सेनापति का अधिक मान एवं प्रभाव था। सेनापति का पद लगभग राजा के समकक्ष था, क्योंकि

सेनापति प्रायः राजकुल का व्यक्ति ही हुआ करता था। मौर्यों के पहले तथा मौर्य एवं सातवाहन युग में 'महामात्र' नामक अधिकारी का भी पद बड़ा महत्वपूर्ण था। इन्हें विविध कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता था। अशोक के अभिलेखों से पता चलता है कि मौर्यकाल में महामात्रों के अतिरिक्त प्रान्तों तथा जिलों का शासन करने के लिए क्रमशः 'राजुक' तथा 'प्रादेशिक' नामक अधिकारियों की भी नियुक्ति की जाती थी। अर्थशास्त्र ने अठारह उच्चाधिकारियों अथवा 'तीर्थों' (विभागाध्यक्षों) का विधान किया है, जिनमें मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति आदि प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त अधिकारियों का एक और महत्वपूर्ण वर्ग था, जिन्हें 'अध्यक्ष' कहते थे। अधिकारियों की नियुक्ति में जाति-पाँति तथा धर्म अथवा संप्रदाय का कोई विचार नहीं किया जाता था; यहाँ तक कि वैश्य और यवन भी राज्य के उच्च पदों पर नियुक्त किए जाते थे।

गुप्त तथा उत्तरगुप्तकालीन प्रशासन में राजा की सहायता करने के लिए जिन मंत्रियों की नियुक्ति की जाती थी, उनमें गुप्त मंत्रणा देनेवाला मंत्री, 'संधिविग्रहिक' (युद्ध-मंत्री) तथा 'अक्षपटलाधिकृत' (अभिलेख-मंत्री) मुख्य थे। कुछ दूसरे भी अफसर थे, जिनका कर्त्तव्य मुख्यतया सामरिक था। इस कोटि के अफसरों में 'महाबलाधिकृत' तथा 'महादण्डनायक' प्रमुख थे। सैनिक तथा असैनिक अफसरों में कोई उल्लेखनीय भेद या अन्तर नहीं था। मंत्री महाबलाधिकृत भी हो सकता था और अमात्य तथा महादण्डनायक दोनों का पदभार भी एक ही व्यक्ति वहन कर सकता था। सचिव या मंत्री का पद वंशानुगत हो गया था। 'कुमारामात्य' का पद बड़े गौरव का था। वह किसी भी विभाग का कार्य-संचालन करने के लिए नियुक्त किया जा सकता था। अनेक राज्यों में 'राजगुरु' का पद भी बड़ी मर्यादा एवं प्रतिष्ठा का था, किंतु अब एक प्रकार से पुरोहित के पद का अन्त हो चुका था।

प्रान्तीय शासन

मौर्यकाल में सुविस्तृत साम्राज्य स्थापित हो जाने के कारण शासन-सुविधा के लिए साम्राज्य को अनेक प्रान्तों में बाँट देने की परिपाटी चल पड़ी। अशोक के अभिलेखों से प्रमाणित है कि कि मौर्यकाल में मुख्य प्रान्तों का प्रबंध राजकुल के 'कुमार' किया करते थे। साधारण छोटे प्रांतों के शासक 'राजुक' कहलाते थे। जब-तब प्रमुख सामन्त भी प्रान्तीय शासक नियुक्त किए जाते थे। मौर्यकाल में तक्षशिला, उज्जयिनी, तोषली (धौली) और सुवर्णगिरि नामक नगरियाँ प्रांतीय शासकों की राजधानियाँ थीं।

गुप्तकाल में साम्राज्य शासन की सुविधा के लिए जिन इकाइयों में बँटा हुआ था, उन्हें भुक्ति, देश, राष्ट्र और मण्डल कहते थे। 'भुक्ति' प्रांत को कहते थे, जिस पर शासन करनेवाले प्रांताधीश को 'उपरिक' कहा जाता था। भुक्ति 'विषय' या 'मण्डलों' में विभक्त रहता था, जो आधुनिक जिलों के समान था। उसके शासक को 'विषयपति' कहते थे।

प्रांतों का शासन केन्द्र के ही अनुरूप होता था। प्रांताधीशों के अपने अलग मंत्री होते थे तथा शासन-संचालन में उन्हें पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त थी।

नगर एवं गाँवों का शासन

मौर्य राजधानी पाटलिपुत्र की शासन-व्यवस्था का वर्णन हमें मेगस्थनीज के यात्रा-विवरण से प्राप्त होता है, जिससे यह अनुमान लगता है कि अन्य बड़े नगर भी इसी प्रणाली से शासित होते होंगे। मेगस्थनीज के अनुसार नगर का शासन पाँच-पाँच सदस्यों की छः समितियाँ करती थीं, जिनमें से प्रत्येक की देख-रेख में एक अलग-अलग विभाग था। नगर के अधिकारी को 'नागरक' या 'निगमप्रधान' कहते थे।

शासन का निम्नतम आधार ग्राम था, जो भारतीय जीवन की कील या धुरी था। गाँव के शासन का मुख्य अधिकारी 'ग्रामणी' या गाँव का मुखिया था। उसका पद प्रायः वंशानुगत था। मौयकाल में पाँच अथवा दस ग्रामों का अधिकारी 'गोप' कहलाता था। 'ग्रामणी' चोरों तथा डाकुओं से गाँव की रक्षा करता तथा राजा की ओर से भूमिकर भी वसूल करता था। उसकी सहायता चिरकाल से ग्राम-सभा करती आ रही थी, जिसमें सभी सम्मानित ग्राम-वृद्ध सम्मिलित रहते थे। महत्वपूर्ण अवसरों पर डुग्गी पीटकर ग्राम-सभा की बैठक बुलाई जाती थी। यह पंचमण्डली गाँव के लोकमत का प्रतिनिधित्व करती थी और उसे शासन एवं न्याय के अधिकार प्राप्त थे। ग्राम-सभा या पंचमण्डली विभिन्न छोटी-छोटी समितियों में बँटकर ग्राम-संबंधी विभिन्न कार्यों की देख-रेख करती थी, जैसे बगीचों की निगरानी, तालाब तथा कुओं से पानी देना तथा झगड़ों का निपटारा करना, आदि। आजकल की सहकारी समितियों की भाँति ग्राम-सभाएँ लोगों को रुपया उधार देकर महाजनी का भी काम करती थीं। गाँव के शासन का खर्च चलाने के लिए राज्य की ओर से ग्रामों से वसूल की गई मालगुजारी का कुछ अंश ग्राम-सभा को दे दिया जाता था। इसके अतिरिक्त ग्राम-सभाएँ झगड़ों का निर्णय करते समय वादी-प्रतिवादी पर अर्थदंड लगाकर भी अपनी आर्थिक स्थिति सुरक्षित रखती थीं। केन्द्रीय सरकार ग्राम-शासन पर केवल

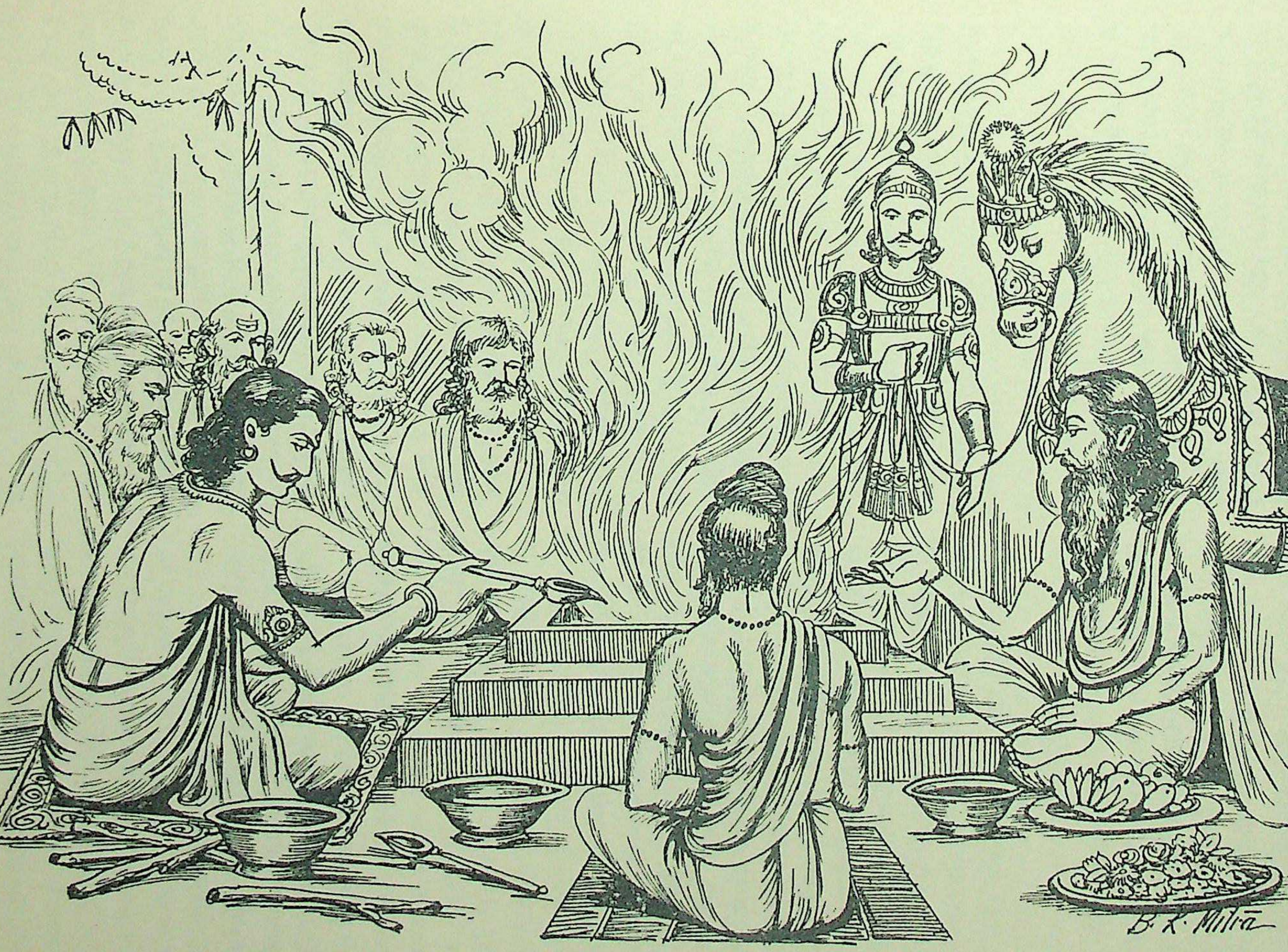

मौर्यकाल के बाद शुङ्गकाल में प्राचीन ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान की लहर जोरों से उठने पर, राजा द्वारा चक्रवर्त्ती-पद की प्राप्ति के हेतु, 'अश्वमेध-यज्ञ' करने की परिपाटी फिर से चल पड़ी, जिसका तारतम्य गुप्तकाल तक जारी रहा। स्वयं सम्राट् समुद्रगुप्त ने भी अश्वमेध-यज्ञ किया था। इस अनुष्ठान का उद्देश्य स्पष्टतः राजनीतिक था। वह राज्यशक्ति के संगठन एवं साम्राज्य-विस्तार का एक सबल तरीका था !

दृष्टि रखती थी, वह उसमें हस्तक्षेप नहीं करती थी। ये संस्थाएँ ग्राम्य जीवन की अक्षुण्ण अंग थीं। अपनी छोटी-सी सीमा में परिमित साधनों के अनुसार वे विद्या, कला तथा धर्म (मंदिर, पुरोहित आदि) को संरक्षण प्रदान करती थीं। वे सुदृढ़ एवं सुस्थिर ग्राम्य जीवन के अजेय एवं अभेद्य दुर्ग का-सा काम करती थीं और प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं को जीवित रखने का श्रेय एक प्रकार से उन्हीं को प्राप्त था। युद्ध तथा शांति के समय ये ग्रामीण जनता के सामूहिक लोकमत को व्यक्त करती थीं।

आय के स्रोत

अर्थशास्त्र के अनुसार दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज तथा वणिक्पथ, ये आमदनी के सात मुख्य स्रोत थे। 'दुर्ग' के अन्तर्गत २१ विभाग थे, जिनसे प्राप्त कर 'दुर्ग' की आमदनी कहे जाते थे। भूमिकर, व्यापारियों से होनेवाली आय, नदियों के घाट की उतराई तथा नालों का कर, यह सब आमदनी 'राष्ट्र' कहलाती थी। भूमिकर (भाग) उपज का छठा भाग होता था, जो राज्य को नकद या अनाज के रूप में दिया जाता था। संभवतः इसीलिए राजा को "षड्भागिन्" कहा जाता था। खदानों के ठेके की आमदनी, विदेश से आये हुए नमक आदि पर उसके मूल्य के छठे हिस्से के रूप में लिया गया टैक्स और खनिज पदार्थों के संबंध में जो अपराध किये जाते थे उन पर लिया गया जुरमाना आदि से होनेवाली आय 'खनि' कहलाती थी। फूल, फल, सुपारी आदि के बीजों तथा अदरक, हल्दी आदि के खेतों की आमदनी 'सेतु' कहलाती थी। जंगल-विभाग की सब प्रकार की आमदनी 'वन' कही जाती थी। गाय, भैंस, भेड़, बकरी, साँड़, बैल आदि पशुओं से होनेवाली आमदनी 'व्रज' कहलाती थी और जलमार्ग तथा स्थलमार्ग से होनेवाली सब प्रकार के व्यापारों की आमदनी को 'वणिक्पथ' के नाम से पुकारा जाता था।

उपर्युक्त कर राज्य की सामान्य दशा में उगाहे जाते थे, किंतु आपत्ति या संकट उपस्थित होने पर अतिरिक्त कर भी लगाए जाते थे। कर लगाते समय यह ध्यान रक्खा जाता था कि प्रजा पीड़ित, संतप्त और उद्विग्न न होने पाए।

आमदनी का अधिकतम अंश कृषकों से प्राप्त होता था। अतः कृषि-व्यवस्था का संक्षिप्त सिंहावलोकन करना आवश्यक होता है। प्राचीन भारत की कृषि-व्यवस्था की तीन मुख्य विशेषताएँ थीं। सर्वप्रथम यह कि राजा तथा किसान का सीधा संबंध था। बीच में जमींदार सरीखा कोई मध्यस्थ नहीं था। प्रजा राजकोष में सीधे मालगुजारी जमा कर सकती थी। दूसरे यह कि भूमिकर उपज का छठा भाग था, जो राज्य पर संकट उपस्थित होने पर उपज का एक-चौथाई तथा राज्य के समृद्ध होने पर कभी-कभी घटाकर उपज का आठवाँ भाग भी कर दिया जाता था। तीसरे यह कि यद्यपि भूस्वामी राजा ही होता था, फिर भी बराबर मालगुजारी अदा करने पर किसान अपने खेत से बेदखल नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार भूमि पर उसका वंशानुगत स्वत्व स्थापित हो जाता था। इसके अतिरिक्त खेती की उपज बढ़ाने तथा किसानों को सुखी और संपन्न बनाये रखने के लिए राज्य की ओर से अनेक सहायताएँ भी प्रदान की जाती थीं।

न्याय-प्रबंध

न्याय का प्रधान स्रोत स्वयं राजा था। मौर्यकाल के पहले राजकाज में संलग्न रहने के कारण अधिकांश न्यायकार्य राजाओं ने 'व्यावहारिकों' (न्यायाधीशों) को सौंप दिया था। उन्होंने — 'विनिश्चय-महामात्र' की अदालत से लेकर स्वयं राजा की कचहरी तक — अनेक शृंखलाबद्ध न्यायालयों की स्थापना कर दी थी, जिनमें प्राचीन परंपराओं को दृष्टि में रखकर न्याय किया जाता था। फौजदारी के मामलों के निर्णय में निर्दोष सिद्ध करने के लिए कभी-कभी अग्नि-परीक्षा आदि की भी शरण ली जाती थी। यूनानी लेखकों का कहना है कि मौर्यकाल में विदेशियों के मुकदमों का निर्णय करने के लिए पृथक् न्यायाधीश हुआ करते थे। तत्कालीन दण्डविधान कठोर था। गुप्तकाल में न्याय-प्रबंध में जिला न्यायाधिकारियों की सहायता स्थानीय 'सेठ' और 'कायस्थ' लोग करते थे, जो क्रमशः व्यापारिक तथा अधिकारी वर्ग के प्रतिनिधि हुआ करते थे। अर्थशास्त्र में दीवानी तथा फौजदारी मामलों के फैसले के लिए क्रमशः 'धर्मस्थीय' तथा 'कण्टकशोधन' नामक न्यायालयों का विधान किया गया है। धर्मस्थीय के न्यायाधीश 'धर्मस्थ' तथा कण्टकशोधन के 'कण्टकशोधक' कहलाते थे। अनाचार, व्यभिचार, रिश्वतखोरी तथा राज्य-विरोधी मामलों का फैसला कण्टकशोधन-न्यायालय में हुआ करता था। इन न्यायालयों में धर्मस्थीय की अपेक्षा अधिक दण्ड दिया जाता था। कौटिल्य ने जनता को सुपथ पर चलाने के लिए निष्ठुर, कठोर या तीक्ष्ण दण्ड देने का विरोध किया है। उसके मत से उदार दण्ड देना ही ठीक होता है, क्योंकि कठोर दण्ड देने से प्रजा दुःखी होती है एवं राजा से उद्विग्न और खिन्न हो जाती है। पर जो राजा दण्ड देने में कमी करता है, उसका प्रभाव घट जाता है, जिससे जनता उसका तिरस्कार करने लगती है और जो राजा उचित दण्ड देता है, वही जनप्रिय होता है।

सैन्य प्रबन्ध

सेना का प्रधान स्वयं राजा होता था। सेना चतुरंगिणी होती थी—पैदल, अश्वारोही, रथ तथा गज। आगे चलकर जल-सेना का भी प्रबन्ध होने लगा। यूनानी लेखकों के मतानुसार जब सिकन्दर के नाविक भारत से लौटते समय अपना जहाजी बेड़ा खेने में असफल हुए, तो उसने सिन्धु के तट पर रहनेवाले पटु नाविकों द्वारा ही अपना बेड़ा उक्त नदी के वक्षःस्थल पर फिर से चालू करवाया था। संभवतः मौर्य सम्राटों द्वारा जहाजी बेड़ा तैयार करने के पूर्व नदियों की तलहटी के राजाओं ने अपने पास छोटे-छोटे जलपोतों का रखना प्रारम्भ कर दिया था। यूनानियों के वृत्तान्तानुसार युद्धकला में भारतीय लोग एशिया की अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक कुशल एवं प्रवीण थे, किंतु अपने अश्वारोहियों की अपेक्षाकृत त्रुटियों के कारण उन्हें विदेशियों के सम्मुख पराजित होना पड़ता था। भारत के सैनिक अपनी गज-सेना में अधिक विश्वास एवं भरोसा रखते थे। यही उनकी पराजय का कारण बनी।

रणभूमि में सेना का नेतृत्व प्रायः राजा स्वयं ग्रहण करता था। सिकंदर के सेनापतियों के विरुद्ध चन्द्रगुप्त मौर्य ने स्वयं सेनापतित्व ग्रहण किया था और कलिंग के भीषण रक्त-पात एवं नर-संहार का कर्ता स्वयं अशोक था। चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना में ६,००,००० पैदल, ३०,००० अश्वारोही, ९,००० हाथी और ८,००० रथ थे। यह विशाल सेना एक युद्ध-परिषद् द्वारा शासित होती थी, जिसके ३० सदस्य पाँच-पाँच की छः समितियों में विभक्त थे। अंतिम मौर्य राजाओं के दुर्बल शासनकाल में सेना का प्राधान्य सेनापति के हाथ में आया और सैनिकों की स्वामिभक्ति राजा के प्रति न होकर सेनापति के प्रति अधिक हो गई।

गुप्त तथा उत्तरगुप्तकाल में सेना के तीन ही अंग रह गए और रथों का प्रयोग धीरे-धीरे घटने लगा। राजस्थान के कुछ राजा अपनी सेना में ऊँटों का भी जत्था रखने लगे थे। जल-सेना अब भी प्रचलित थी, जिसकी सहायता से हिन्द महासागर के अनेक द्वीप जीते गए थे। दक्षिण के कुछ राज्यों के पास अच्छी नस्ल के घोड़े नहीं थे, अतः वहाँ के राजाओं ने अरब से घोड़े मँगवाए थे। सेना में रँगरूटों की भर्ती किसी विशेष जाति तक ही सीमित नहीं थी। इस युग के कई योग्यतम सेनानायक ब्राह्मण थे।

अर्थशास्त्र के अनुसार राजधानी की रक्षा के लिए नियुक्त सेना 'मौल', किराए पर युद्ध करनेवाली सेना 'भृत', मित्र राज्य की सेना 'मित्र', एवं शत्रु राज्य की सेना 'अमित्र' कहलाती थी। शत्रु से रक्षित रहने तथा विजय प्राप्त करने के लिए युद्धक्षेत्र में व्यूह-रचना का विशेष महत्व था।

वैदेशिक नीति

अर्थशास्त्र के विधानानुसार मौर्य राज्य की वैदेशिक नीति संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधी भाव नामक छः नीतियों के आधार पर संचालित थी। दो राजाओं के परस्पर मेल हो जाने को 'संधि', शत्रु का कोई अपकार करना 'विग्रह', संधि-विग्रह आदि कुछ न करके तटस्थ रहना 'आसन', दूसरे पर आक्रमण करना 'यान', विजयी या बलवान् राजा को पत्नी, पुत्र, कोष आदि देकर संधि करना 'संश्रय', और कभी सन्धि कभी विग्रह करने को 'द्वैधी भाव' कहते हैं। अर्थशास्त्र का विधान है कि शत्रु की अपेक्षा अपने को कमजोर समझने पर संधि कर लेनी चाहिए। अपने आपको शक्तिशाली समझे, तो विग्रह करे। अपनी और शत्रु-शक्ति को समान समझे, तो तटस्थ रहकर आसन-नीति का अवलंबन करे। अपनी शक्ति देखकर युद्ध के लिए देश-काल आदि उपयुक्त समझे, तो यान-नीति की शरण ले। दुर्बल पड़ने पर राजा संश्रय का प्रयोग करे और यदि किसी कार्य में सहायता की आवश्यकता हो, तो द्वैधी भाव का प्रयोग करे। राजाओं को चाहिए कि विदेशों में राजदूतावास स्थापित करें और वहाँ जो राजदूत नियुक्त किए जाएँ, वे उस देश के राजा, वहाँ की प्रजा तथा देश भर की भौगोलिक, राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक स्थितियों का अध्ययन करते रहें। अपने गुप्तचरों द्वारा उस देश की आन्तरिक बातों की जानकारी भी प्राप्त करें। राजा को चाहिए कि वह विजित देश की प्रजा को अनुग्रह और परिहार एवं दान और सत्कार द्वारा संतुष्ट बनाए रखने की चेष्टा करे।

प्रजातंत्र :: गणराज्य और संघीय शासन-प्रणाली

बुद्धकालीन भारत के राजनीतिक जीवन का वर्णन करते समय हम गणराज्यों के दस शक्तिशाली संघ का उल्लेख कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त ५०० ई० पू० से ४०० ई० तक पंजाब और सिंध में भी गणतंत्रों की प्रधानता रही, जिनमें यौधेय, कुणिन्द, मद्र, मालव और क्षुद्रक, शिव और अम्बष्ठ तथा आर्जुनायन प्रमुख थे।

यद्यपि ये राज्य गणतन्त्र थे, फिर भी आजकल के अर्थ में वे पूर्णतया प्रजातांत्रिक नहीं थे। उनकी सर्वोच्च शक्ति संघ-सभा या परिषद् में निहित थी, जो कुलीनों की प्रतिनिधि संस्था थी। वस्तुतः हम इन गणराज्यों को कुलीन गणतंत्र या अल्पतंत्र कह सकते हैं, क्योंकि जनसाधारण—किसानों और मजदूरों—

की इन गणराज्यों के प्रशासन में तनिक भी पहुँच या गणना नहीं थी और उन लोगों को कुलीन सदस्यों के ही निर्णय के अनुसार कार्य करना पड़ता था। कुछ भी हो, इन सभाओं या परिषदों द्वारा सार्वजनिक मामलों पर निर्णय वाद-विवाद के बाद किया जाता था। परिषद् के सभापति का चुनाव होता था और उसे राजा कहते थे। राजा के अतिरिक्त उपराजा, सेनापति और भाण्डागारिक आदि राज्य के बड़े अधिकारी भी चुने जाते थे। परिषद् के सदस्यों का पुरानी प्रथा के अनुसार राज्याभिषेक होता था। परिषद् में सभी सदस्यों का पद समान होता था। कभी-कभी कई गणराज्य मिलकर एक संघराज्य भी बनाते थे।

संघीय कार्य-पद्धति

परिषद् के अधिवेशन संथागार या उद्यान (आराम) में होते थे। संथागार में सदस्यों के बैठने का स्थान निश्चित होता था, जिसको 'आसन' कहते थे। बैठने के लिए चटाई या सादे एवं बिना किनारीदार आसन होते थे। आसन लगाने एवं बतानेवाले का नाम 'आसनप्रज्ञापक' था।

अधिवेशन के लिए उपस्थिति की कम से कम संख्या का भी विचार किया जाता था, जिसको 'गणपूर्ति' कहते थे। जब तक कम से कम दस परिषद्-सदस्य न उपस्थित हों, सभा की वैध कार्यवाही प्रारम्भ नहीं हो सकती थी; किन्तु सीमांतीय देशों की संघीय बैठक के लिए विशेष स्थितियों में यह नियतोपस्थिति या गणपूरक संख्या घटाकर ५ कर दी गई थी। पूरक संख्या में संघ के अध्यक्ष की गिनती नहीं होती थी। परिषद् में प्रस्ताव करने को 'प्रतिज्ञा', उसको नियमपूर्वक रखने को 'स्थापन' और उसके पढ़ने को 'ज्ञप्ति' कहते थे। उसके बाद उसकी नियमित 'अनुस्सावन' या आवृत्ति होती थी, जिससे सभी लोग उसे सुन लें। प्रतिज्ञा के ऊपर वाद-विवाद भी होता था और तब मत लिया जाता था, जिसको 'छन्द' या स्वतन्त्र विचार कहते थे। किसी सदस्य का मौन रह जाना उसकी सहमति समझी जाती थी। जो सदस्य पक्ष में होते थे, उन्हें मौन धारण करने को कहा जाता था और जो कोई विरुद्ध होता, वह अपना मत व्यक्त करता था। संघ के द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव 'संघकर्म' (ऐक्ट) कहलाते थे। जब कभी संघ में किसी 'प्रतिज्ञा' पर मतभेद या वाद-विवाद बढ़ जाता था, तो परिषद् का अध्यक्ष तटस्थ रहता था और अन्य सदस्यों को नियन्त्रित एवं संयमित रखने का पूर्ण प्रयास करता था। यदि अध्यक्ष किसी दल का पक्षपात करता हुआ प्रतीत होता था, तो परिषद् में उसकी भर्त्सना की जाती थी।

परिषद् के अधिकार

गणराज्य की सर्वोच्च सत्तासंपन्न संस्था होने के कारण परिषद् संघ की वैदेशिक नीति का नियंत्रण करती, युद्ध की घोषणा करती, मैत्रीपूर्ण संधियाँ स्थापित करती, राजदूतों का स्वागत करती तथा गणराज्य के प्रशासन पर विचार करती थी। संघ में मुद्रा प्रचलित करने का विशेषाधिकार भी परिषद् को ही प्राप्त था।

चूँकि परिषद् अधिक सदस्यों की एक विशाल संस्था थी, अतः नित्यप्रति के शासन को संचालित करने तथा उसकी देखरेख करने के लिए पाँच-छः सदस्यों की एक प्रबंधकारिणी समिति का चुनाव कर लिया जाता था, जिसका प्रधान परिषद् का अध्यक्ष ही होता था। प्रबंधकारिणी के प्रत्येक सदस्य को एक-एक विभाग—जैसे वैदेशिक नीति, राजकोष, न्याय, पुलिस, सुरक्षा तथा भूमिकर—सौंप दिया जाता था। प्रबंधकारिणी समिति परिषद् के सम्पूर्ण नियंत्रण में रहती थी। सभी महत्वपूर्ण दायित्व के पदों पर अधिकारियों की नियुक्ति परिषद् स्वयं करती थी।

गणतंत्रों का मूल्यांकन एवं देन

उपर्युक्त संघ तथा गणतंत्र पश्चिमोत्तर तथा पूर्वोत्तर भारत में ईस्वी पूर्व सातवीं शताब्दी से तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व तक खूब फूलते-फलते रहे। मौर्य साम्राज्य के उदय से उन्हें कुछ आघात पहुँचा और सक्रिय राजनीति से वे कुछ दिनों के लिए विलुप्त हो गए, किंतु ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी से हम उन्हें फिर सक्रिय एवं सजीव होते पाते हैं। ये राज्य धनी और सुशासित थे और सब से बड़ी बात तो यह थी कि इन्हीं गणराज्यों ने विश्व की तीन महान् विभूतियों को जन्म दिया था——एक तो गीतामृत पिलानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण (जो अन्धक-वृष्णि गण-संघ के प्रधान थे); दूसरे महात्मा गौतम बुद्ध (जो शाक्यों के गणराज्य से संबंधित थे) और तीसरे वर्द्धमान महावीर (जो वैशाली गणराज्य में अवतरित हुए थे)।

इस प्रकार प्राचीन भारत के सांस्कृतिक जीवन के विकास में इन छोटे-छोटे गणराज्यों की अनुपम देन थी। भारत की आपत्तिकालीन परिस्थितियों में इन्हीं गणराज्यों ने स्वतंत्रता का दीपक जीवित रक्खा। उनके आगे ग्रीक तथा शक आक्रमणकारियों के छक्के छूट गए थे। पर पारस्परिक अनैक्य, जातीय अभिमान, तथा मौर्य और गुप्त साम्राज्यवादी नीति उनके लिए घातक सिद्ध हुई और उसी का परिणाम था कि अंत में वे ऐतिहासिक रंगमंच पर से एक-एक करके विदा हो गए।

भारतीय इतिहास का दूसरा प्रहर—(८)

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि :: सामाजिक स्थिति

प्राचीन भारतीय समाज की एक प्रमुख विशेषता थी उसकी वलिष्ठ पाचनशक्ति एवं लचीलापन ! वह चिरंतनकाल से अनेक विदेशी जातियों एवं सभ्यताओं से संपर्क स्थापित करता चला आ रहा था। उसने परिवर्तित परिस्थितियों में अपने को कभी जड़ नहीं बनने दिया और गतिशील रहकर वह निरंतर सक्रिय एवं प्रगतिशील वना रहा। इसी का सुपरिणाम था कि जितनी विदेशी आक्रमणकारी जातियाँ——ईरानी, यूनानी, शक, पह्लव, कुषाण और हूण——प्राचीनकाल में इस भूमि में प्रविष्ट हुईं, उन्हें भारतीय समाज ने अपने में विलीन करके उन्हें पूर्णतया भारतीय वना लिया। तीसरी शताब्दी में आन्ध्र के इक्ष्वाकु राजाओं ने शक-कन्याओं से विवाह करना अनुचित नहीं समझा था। तोरमण हूण का पुत्र मिहिरकुल पक्का शैव हो गया था। इस प्रकार भारतीय समाज का दरवाजा केवल उसमें पैदा होनेवालों के ही लिए नहीं, वरन् सभी के लिए समान रूप से खुला हुआ था और जिसने उसमें बैठकर गहरी डुवकी लगाई, वह अपने विदेशीपन के मैल का प्रक्षालन कर शुद्ध भारतीय वन गया। मुस्लिम आक्रमण से पूर्व की प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था का अध्ययन करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है। कारण, जव से भारतीय समाज ने अपना यह लचीलापन खोया, तभी से उसका पतन आरम्भ हुआ।

मौर्यकालीन भारतीय समाज की स्थिति का ज्ञान हमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र, अशोक के धर्म-लेख और मेगस्थनीज के यात्रा-विवरण से प्राप्त होता है। मेगस्थनीज के अनुसार भारतीय समाज में तब सात वर्ग विद्यमान थे, जो (१) दार्शनिक, (२) कृषक, (३) ग्वाल, (४) व्यापारी, शिल्पी और नाविक, (५) सनिक, (६) निरीक्षक एवं गुप्तचर, तथा (७) राजा की परिषद् के सदस्य या सरकारी कर्मचारी द्वारा निर्मित थे। मेगस्थनीज का यह वर्गीकरण पेशे की दृष्टि से था अर्थात् कर्ममूलक था, जन्ममूलक नहीं। यूनानी लेखकों का कहना है कि तत्कालीन भारत में न कोई अपनी जाति के बाहर विवाह कर सकता था और न कोई अपने जातिगत पेशे को छोड़कर दूसरा पेशा ही ग्रहण कर सकता था। उदाहरणार्थ, न तो सैनिक कृषक का कार्य अपना सकता था और न शिल्पी दार्शनिक का। मौर्यकाल में आश्रम-व्यवस्था पूर्ण रूप से लागू थी।

सातवाहनकाल में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने चातुर्वर्ण-व्यवस्था को पुनर्जीवित एवं पुनर्स्थापित करना चाहा, क्योंकि जितने भी विदेशी हिंदू समाज में प्रविष्ट होते जा रहे थे, वे सब अपने को क्षत्रिय कहते थे और मनु ने ऐसे क्षत्रियों को अनादृत एवं तुच्छ क्षत्रियों की संज्ञा प्रदान की थी तथा स्वयं गौतमीपुत्र क्षत्रियों का दमन करना अपना धर्म समझता था।

जाति-प्रथा का विकास

भारतीय समाज वर्णश्रिम-व्यवस्था तथा चार पुरुषार्थों——धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—की आधार-शिला पर टिका हुआ था। उसमें विदेशियों एवं विधर्मियों के विलीनीकरण की आशंका ने लोगों को अपने रक्त की शुद्धता बनाए रखने के लिए चिन्तित तथा उत्तेजित कर दिया और इस प्रकार जाति-प्रथा का जन्म हुआ। किंतु इसके बंधन गुप्तकाल तक वैसे कठोर एवं जटिल नहीं हो पाये थे, जैसे कि वे बाद को बन

की इन गणराज्यों के प्रशासन में तनिक भी पहुँच या गणना नहीं थी और उन लोगों को कुलीन सदस्यों के ही निर्णय के अनुसार कार्य करना पड़ता था । कुछ भी हो, इन सभाओं या परिषदों द्वारा सार्वजनिक मामलों पर निर्णय वाद-विवाद के बाद किया जाता था । परिषद् के सभापति का चुनाव होता था और उसे राजा कहते थे । राजा के अतिरिक्त उपराजा, सेनापति और भाण्डागारिक आदि राज्य के बड़े अधिकारी भी चुने जाते थे । परिषद् के सदस्यों का पुरानी प्रथा के अनुसार राज्याभिषेक होता था । परिषद् में सभी सदस्यों का पद समान होता था । कभी-कभी कई गणराज्य मिलकर एक संघराज्य भी बनाते थे ।

संघीय कार्य-पद्धति

परिषद् के अधिवेशन संथागार या उद्यान (आराम) में होते थे । संथागार में सदस्यों के बैठने का स्थान निश्चित होता था, जिसको 'आसन' कहते थे । बैठने के लिए चटाई या सादे एवं बिना किनारीदार आसन होते थे । आसन लगाने एवं बतानेवाले का नाम 'आसनप्रज्ञापक' था ।

अधिवेशन के लिए उपस्थिति की कम से कम संख्या का भी विचार किया जाता था, जिसको 'गणपूर्ति' कहते थे । जब तक कम से कम दस परिषद्-सदस्य न उपस्थित हों, सभा की वैध कार्यवाही प्रारम्भ नहीं हो सकती थी; किन्तु सीमांतीय देशों की संघीय बैठक के लिए विशेष स्थितियों में यह नियतोपस्थिति या गणपूरक संख्या घटाकर ५ कर दी गई थी । पूरक संख्या में संघ के अध्यक्ष की गिनती नहीं होती थी । परिषद् में प्रस्ताव करने को 'प्रतिज्ञा', उसको नियमपूर्वक रखने को 'स्थापन' और उसके पढ़ने को 'ज्ञप्ति' कहते थे । उसके बाद उसकी नियमित 'अनुस्सावन' या आवृत्ति होती थी, जिससे सभी लोग उसे सुन लें । प्रतिज्ञा के ऊपर वाद-विवाद भी होता था और तब मत लिया जाता था, जिसको 'छन्द' या स्वतन्त्र विचार कहते थे । किसी सदस्य का मौन रह जाना उसकी सहमति समझी जाती थी । जो सदस्य पक्ष में होते थे, उन्हें मौन धारण करने को कहा जाता था और जो कोई विरुद्ध होता, वह अपना मत व्यक्त करता था । संघ के द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव 'संघकर्म' (ऐक्ट) कहलाते थे । जब कभी संघ में किसी 'प्रतिज्ञा' पर मतभेद या वाद-विवाद बढ़ जाता था, तो परिषद् का अध्यक्ष तटस्थ रहता था और अन्य सदस्यों को नियन्त्रित एवं संयमित रखने का पूर्ण प्रयास करता था । यदि अध्यक्ष किसी दल का पक्षपात करता हुआ प्रतीत होता था, तो परिषद् में उसकी भर्त्सना की जाती थी ।

परिषद् के अधिकार

गणराज्य की सर्वोच्च सत्तासंपन्न संस्था होने के कारण परिषद् संघ की वैदेशिक नीति का नियंत्रण करती, युद्ध की घोषणा करती, मैत्रीपूर्ण संधियाँ स्थापित करती, राजदूतों का स्वागत करती तथा गणराज्य के प्रशासन पर विचार करती थी । संघ में मुद्रा प्रचलित करने का विशेषाधिकार भी परिषद् को ही प्राप्त था ।

चूँकि परिषद् अधिक सदस्यों की एक विशाल संस्था थी, अतः नित्यप्रति के शासन को संचालित करने तथा उसकी देखरेख करने के लिए पाँच-छः सदस्यों की एक प्रबंधकारिणी समिति का चुनाव कर लिया जाता था, जिसका प्रधान परिषद् का अध्यक्ष ही होता था । प्रबंधकारिणी के प्रत्येक सदस्य को एक-एक विभाग — जैसे वैदेशिक नीति, राजकोष, न्याय, पुलिस, सुरक्षा तथा भूमिकर — सौंप दिया जाता था । प्रबंधकारिणी समिति परिषद् के सम्पूर्ण नियंत्रण में रहती थी । सभी महत्वपूर्ण दायित्व के पदों पर अधिकारियों की नियुक्ति परिषद् स्वयं करती थी ।

गणतंत्रों का मूल्यांकन एवं देन

उपर्युक्त संघ तथा गणतंत्र पश्चिमोत्तर तथा पूर्वोत्तर भारत में ईस्वी पूर्व सातवीं शताब्दी से तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व तक खूब फूलते-फलते रहे । मौर्य साम्राज्य के उदय से उन्हें कुछ आघात पहुँचा और सक्रिय राजनीति से वे कुछ दिनों के लिए विलुप्त हो गए, किंतु ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी से हम उन्हें फिर सक्रिय एवं सजीव होते पाते हैं । ये राज्य धनी और सुशासित थे और सब से बड़ी बात तो यह थी कि इन्हीं गणराज्यों ने विश्व की तीन महान् विभूतियों को जन्म दिया था——एक तो गीतामृत पिलानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण (जो अन्धक-वृष्णि गण-संघ के प्रधान थे); दूसरे महात्मा गौतम बुद्ध (जो शाक्यों के गणराज्य से संबंधित थे) और तीसरे वर्द्धमान महावीर (जो वैशाली गणराज्य में अवतरित हुए थे) ।

इस प्रकार प्राचीन भारत के सांस्कृतिक जीवन के विकास में इन छोटे-छोटे गणराज्यों की अनुपम देन थी । भारत की आपत्तिकालीन परिस्थितियों में इन्हीं गणराज्यों ने स्वतंत्रता का दीपक जीवित रक्खा । उनके आगे ग्रीक तथा शक आक्रमणकारियों के छक्के छूट गए थे । पर पारस्परिक अनैक्य, जातीय अभिमान, तथा मौर्य और गुप्त साम्राज्यवादी नीति उनके लिए घातक सिद्ध हुई और उसी का परिणाम था कि अंत में वे ऐतिहासिक रंगमंच पर से एक-एक करके विदा हो गए ।

भारतीय इतिहास का दूसरा प्रहर—(८)

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि :: सामाजिक स्थिति

प्राचीन भारतीय समाज की एक प्रमुख विशेषता थी उसकी वलिष्ठ पाचनशक्ति एवं लचीलापन ! वह चिरंतनकाल से अनेक विदेशी जातियों एवं सभ्यताओं से संपर्क स्थापित करता चला आ रहा था। उसने परिवर्तित परिस्थितियों में अपने को कभी जड़ नहीं बनने दिया और गतिशील रहकर वह निरंतर सक्रिय एवं प्रगतिशील बना रहा। इसी का सुपरिणाम था कि जितनी विदेशी आक्रमणकारी जातियाँ--ईरानी, यूनानी, शक, पह्लव, कुषाण और हूण--प्राचीनकाल में इस भूमि में प्रविष्ट हुईं, उन्हें भारतीय समाज ने अपने में विलीन करके उन्हें पूर्णतया भारतीय वना लिया। तीसरी शताब्दी में आन्ध्र के इक्ष्वाकु राजाओं ने शक-कन्याओं से विवाह करना अनुचित नहीं समझा था। तोरमण हूण का पुत्र मिहिरकुल पक्का शैव हो गया था। इस प्रकार भारतीय समाज का दरवाजा केवल उसमें पैदा होनेवालों के ही लिए नहीं, वरन् सभी के लिए समान रूप से खुला हुआ था और जिसने उसमें बैठकर गहरी डुबकी लगाई, वह अपने विदेशीपन के मैल का प्रक्षालन कर शुद्ध भारतीय वन गया। मुस्लिम आक्रमण से पूर्व की प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था का अध्ययन करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है। कारण, जव से भारतीय समाज ने अपना यह लचीलापन खोया, तभी से उसका पतन आरम्भ हुआ।

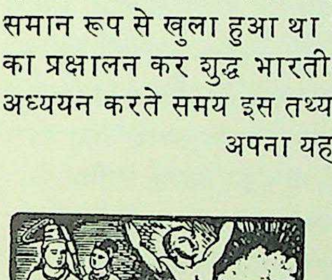

मौर्यकालीन भारतीय समाज की स्थिति का ज्ञान हमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र, अशोक के धर्म-लेख और मेगस्थनीज के यात्रा-विवरण से प्राप्त होता है। मेगस्थनीज के अनुसार भारतीय समाज में तब सात वर्ग विद्यमान थे, जो (१) दार्शनिक, (२) कृषक, (३) ग्वाल, (४) व्यापारी, शिल्पी और नाविक, (५) सनिक, (६) निरीक्षक एवं गुप्तचर, तथा (७) राजा की परिषद् के सदस्य या सरकारी कर्मचारी द्वारा निर्मित थे। मेगस्थनीज का यह वर्गीकरण पेशे की दृष्टि से था अर्थात् कर्ममूलक था, जन्ममूलक नहीं। यूनानी लेखकों का कहना है कि तत्कालीन भारत में न कोई अपनी जाति के बाहर विवाह कर सकता था और न कोई अपने जातिगत पेशे को छोड़कर दूसरा पेशा ही ग्रहण कर सकता था। उदाहरणार्थ, न तो सैनिक कृषक का कार्य अपना सकता था और न शिल्पी दार्शनिक का। मौर्यकाल में आश्रम-व्यवस्था पूर्ण रूप से लागू थी।

सातवाहनकाल में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने चातुर्वर्ण-व्यवस्था को पुनर्जीवित एवं पुनर्स्थापित करना चाहा, क्योंकि जितने भी विदेशी हिंदू समाज में प्रविष्ट होते जा रहे थे, वे सब अपने को क्षत्रिय कहते थे और मनु ने ऐसे क्षत्रियों को अनादृत एवं तुच्छ क्षत्रियों की संज्ञा प्रदान की थी तथा स्वयं गौतमीपुत्र क्षत्रियों का दमन करना अपना धर्म समझता था।

जाति-प्रथा का विकास

भारतीय समाज वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा चार पुरुषार्थों--धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—की आधार-शिला पर टिका हुआ था। उसमें विदेशियों एवं विधर्मियों के विलीनीकरण की आशंका ने लोगों को अपने रक्त की शुद्धता बनाए रखने के लिए चिन्तित तथा उत्तेजित कर दिया और इस प्रकार जाति-प्रथा का जन्म हुआ। किंतु इसके बंधन गुप्तकाल तक वैसे कठोर एवं जटिल नहीं हो पाये थे, जैसे कि वे बाद को बन

गए। जैन और बौद्ध सुधारक सम्प्रदायों ने वर्ण और जाति की सिर्फ बुराइयों की ही निन्दा की थी; उनको निर्मूल करने की चेष्टा उन्होंने कभी भी न की। फिर भी उनकी आलोचना से समाज किसी अंश में प्रभावित अवश्य हुआ था।

गुप्तकाल में जाति-पाँति का विचार परिपक्व नहीं हुआ था। खान-पान, विवाह और पेशे के संबंध में वर्तमान कठोरता तब नहीं थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने विधिविहित व्यवसायों को छोड़कर दूसरे पेशे भी ग्रहण कर सकते थे। जाति-पाँति में बाद को पेशे, खान-पान और विवाह के विचार की प्रधानता हो गई। इस दृष्टि से उस समय जाति-पाँति का विकास नहीं हुआ था। जाति-पाँति का विधि-विधान मूलतः मनु द्वारा रचित मनुस्मृति में स्पष्ट किया गया है। कुछ लोगों का विचार है कि यह ग्रन्थ प्रथम शताब्दी ईस्वी के आसपास रचा गया होगा। यह धर्म-संहिता हिन्दू समाज की जाति-व्यवस्था को दृढ़ करने में बड़ी सहायक सिद्ध हुई है। इसके अनुसार जो जाति-व्यवस्था बनी, उसमें प्राधान्य ब्राह्मणों का था, जिन्हें समाज में अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे।

जाति-व्यवस्था ने खान-पान की शुद्धता एवं सफाई पर बल देकर लोगों में कुछ अच्छी आदतें भी डालीं। उसने अंधाधुन्ध रक्त-सम्मिश्रण की क्रिया पर रोक-थाम लगा दी और प्रत्येक जाति के धर्म एवं कर्त्तव्यों का निरूपण कर आचरण की शुद्धता पर बल दिया। उसने प्रत्येक पेशे को सम्मान एवं उपादेयता का बाना पहना दिया और शोषण तथा अनाचार की स्थिति में प्रत्येक जाति को इस योग्य बना दिया कि अपने पेशे के हित की रक्षा के लिए वह एक होकर आवाज उठा सके। प्रख्यात इतिहासकार विल ड्यूरेण्ट के मतानुसार जाति-व्यवस्था ने भारत को सैनिक तानाशाही अथवा धनिक-तंत्र के चंगुल से सुरक्षित रखा तथा आक्रमणों एवं क्रांतियों द्वारा जनित दीर्घकालीन राजनीतिक अव्यवस्था के वातावरण में सामाजिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक सुव्यवस्था को निरन्तर अविच्छिन्न बनाए रखा। सैकड़ों अराजकतापूर्ण राजनीतिक परिवर्तनों के मध्य भी ब्राह्मणों ने जाति-व्यवस्था द्वारा हिन्दू समाज को स्थायी रखने के साथ-साथ समूची भारतीय सभ्यता को सुरक्षित रखकर उसका संवर्द्धन एवं पोषण किया।

स्त्रियों की स्थिति

प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियाँ यद्यपि पुरुष की आश्रिता थीं और सती-प्रथा का भी प्रचलन था, तथापि उनकी स्थिति दासियों की-सी कदापि न थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतीय रमणियाँ अस्त्र-शस्त्र ग्रहण कर सजातीय पुरुष सैनिकों के साथ वैरी दल का सामना करने के लिए रणभूमि में उतरी थीं। वे शिक्षा से भी वंचित न थीं। कुछ तो बड़ी ही विदुषी थीं। बौद्ध साहित्य के अनुसार कुछ राजकुमारियों द्वारा विरचित कविताएँ 'थेरी गाथा' में सुरक्षित हैं। स्वयंवर की प्रथा का काफी प्रचलन था और पत्नी पति की अर्द्धांगिनी मानी जाती थी। पर्दा-प्रथा बिल्कुल न थी। अर्द्धांगिनी होने के नाते स्त्रियों को पति के प्रत्येक धर्म-कर्म में आधा भाग मिलता था! रईसों और राजाओं में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। प्रायः स्त्रियाँ राजा की अंग-रक्षिका भी नियुक्त की जाती थीं। विधवा रानी गौतमी बलश्री के संबंध में नासिक का एक अभिलेख बताता है कि विधवाएँ सच्चाई, दानशीलता एवं धार्मिकता का संयमित जीवन व्यतीत करती थीं। इसीलिए उक्त रानी को "राजर्षिवधू" कहकर संबोधित किया गया है। विधवा रानियाँ अपने अल्पवयस्क पुत्रों की ओर से शासन की भी देखरेख करती थीं। गुप्तकाल में स्त्रियाँ प्रायः शासन-कार्य में महत्वपूर्ण योग दिया करती थीं। कन्नड़-प्रदेश में तो वे गाँव की मुखिया तथा प्रांतों के गवर्नर के रूप में भी कार्य किया करती थीं। दक्षिण की कुछ राजपरिवार की स्त्रियाँ गाने-बजाने में भी अति पटु थीं। उनमें से कुछ अपनी कला का सार्वजनिक प्रदर्शन भी किया करती थीं। प्रसिद्ध है कि राज्यश्री अपने भाई हर्ष के पीछे बैठकर य्वान च्वाङ द्वारा प्रदत्त बौद्ध धर्मोपदेश सुना करती थी। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि उच्च घराने की कन्याएँ बहुत सुसंस्कृत होती थीं और वे उस युग की सांस्कृतिक हलचलों में सक्रिय भाग लेती थीं।

विवाह-पद्धति

हिन्दू समाज में विवाह एक धार्मिक संस्कार माना जाता है। जब जाति-प्रथा का विकास हुआ, तो शुद्धता बनाए रखने के लिए सवर्ण विवाह अर्थात् अपनी ही जाति में विवाह करने की प्रथा प्रचलित हुई। सपिण्ड एवं सगोत्र तथा असवर्ण विवाह वर्जित हुए। कन्यादान, पाणिग्रहण, सप्तपदी तथा वधू द्वारा वर के घर में प्रवेश हिन्दू वैवाहिक पद्धति की मुख्य विशेषताएँ हैं और विवाह एक स्थायी धार्मिक बंधन माना जाता है।

अर्थशास्त्र में विवाहधर्म का निरूपण करते समय कौटिल्य ने आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन किया। वे ये हैं--(१) वस्त्र एवं आभूषणों से सजाकर विधिवत् कन्यादान देना 'ब्राह्म विवाह' है; (२) कन्या और वर दोनों सहधर्म पालन करने की प्रतिज्ञा कर जिस विवाह के द्वारा बँधते हैं, उसे 'प्राजापत्य विवाह' कहते हैं; (३) गऊ का जोड़ा लेकर जो विवाह

किया जाता है, उसे 'आर्य विवाह' कहते हैं; (४) वेदी के समीप बैठकर जो कन्यादान दिया जाता है, वह 'दैव विवाह' कहलाता है; (५) कन्या और वर अपने-अपने माता-पिता से बिना पूछे स्वेच्छा से जो विवाह कर लेते हैं, उसे 'गान्धर्व विवाह' कहते हैं; (६) कन्या के पिता को धन देकर जो विवाह किया जाता है, वह 'आसुर विवाह' है; (७) किसी कन्या का अपहरण कर उससे विवाह करना 'राक्षस विवाह' कहलाता है; तथा (८) सोती हुई कन्या को उठाकर ले जाना पैशाच विवाह' है।

प्रथम चार प्रकार के विवाह धर्मानुकूल माने जाते थे। आसुर एवं पैशाच विवाह निषिद्ध थे। राक्षस, पैशाच तथा गान्धर्व विवाह क्षत्रियों के उपयुक्त बताए गए हैं तथा आसुर विवाह करने का आदेश वैश्यों तथा शूद्रों को था। ब्राह्म विवाह ब्राह्मणों के लिए उपयुक्त बताया गया था। समाज में तलाक का भी विधान था। अर्थशास्त्र के अनुसार स्त्री नीच, परदेशी, प्रवासी, राजद्रोही, हत्यारे, जाति और धर्म से पतित तथा नपुंसक पति को छोड़ सकती थी।

कुटुम्ब, खान-पान, वस्त्राभूषण, आमोद-प्रमोद

समाज पितृप्रधान कुटुम्बों के संगठन पर आधारित था, जिनमें जन्म से मृत्युपर्यन्त अनेक संस्कार किए जाते थे—जैसे कि जातकर्म, नामधेय, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, समावर्तन, विवाह तथा अन्त्येष्टि।

खाने के ढंग के अनुसार खाद्य पदार्थ निम्नांकित श्रेणियों में विभक्त थे। कूचकर तथा चबा-चबाकर खानेवाले पदार्थ को 'भक्ष्य' एवं 'चर्व्य' कहते थे। चूसकर ग्रहण किया जानेवाला पदार्थ 'चोष्य', चाटकर खाया जानेवाला 'लेह्य' तथा पीकर ग्रहण किया जानेवाला 'पेय' कहलाता था। ठोस तथा तरल पदार्थ कितनी मात्रा में लिए जाएँ, इसका भी विधान किया गया था। ठूँस-ठूँसकर अधिक भोजन करना वर्जित था। भर-पेट भोजन करने में आधा ठोस पदार्थ, एक चौथाई तरल तथा एक चौथाई भाग वायु के लिए छोड़ देने का वैज्ञानिक एवं स्वास्थ्यपूर्ण विधान रक्खा गया था। भोजन के प्रारंभ में क्षुधावर्द्धक वस्तु ग्रहण करने का तथा अंत में मीठी चीज खाने का विधान था। भोजन के बीच छः घंटे का विराम होना आवश्यक बताया गया था। मुख्यतया निरामिष आहार का ही नियम था। स्वास्थ्यवर्द्धन के लिए भोजन की क्या महत्ता है, प्राचीन भारतीय इससे पूर्णतया अवगत थे।

लोगों को कुश्ती तथा जादूगरी का काम दिखाने का बड़ा शौक था। जुआ तथा चौपड़ खेलने की भी प्रथा थी। कौटिल्य ने द्यूताध्यक्ष की नियुक्ति द्वारा जुआरियों पर राज्य का नियंत्रण स्थापित करने का विधान बनाया था। मद्यपान साधारणतया प्रचलित था, पर ब्राह्मणों के लिए इसका निषेध था। मौर्य युग का प्रधान आमोद "समाज" था, जिसमें पशुओं या रथों की दौड़ या लड़ाई कराई जाती थी। लोगों को सजावट तथा श्रृंगार का बड़ा शौक था। वात्स्यायन के अनुसार, किसी भी नागरिक को घर से निकलने के पूर्व शरीर में चन्दन का अनुलेप, पहनने के वस्त्रों में खशबू या इत्र, गले में माला, आँखों में काजल, मुख में पान-सुपारी डालकर दर्पण के सम्मुख खड़ा हो जाना चाहिए, तब बाहर कदम रखना चाहिए। लोग सूती, ऊनी तथा रेशमी तीनों प्रकार के वस्त्र धारण करते थे। संभवतः शकों तथा कुषाणों के आगमन के उपरांत ही यहाँ के लोग सिले हुए वस्त्र पहनने लगे। उसके पूर्व लोग केवल दो वस्त्र—उत्तरीय तथा अन्तरीय—धारण करते थे। हाथ में छड़ी रखने का भी शौक था। स्त्रियाँ सिर पर सीसफूल या चूड़ामणि; कानों में कुण्डल या कर्णफूल; गले में हार एवं मोतियों की माला तथा वनमाला; हाथों में कंगन; ऊँगलियों में अँगूठी; कमर में करधनी तथा पैरों में नूपुर पहना करती थीं।

अस्पृश्यता और दास-प्रथा

थोड़ी-बहुत मात्रा में छुआछूत की प्रवृत्ति उन दिनों भी भारतीय समाज में थी। फाह्यान के विवरण से स्पष्ट है कि चाण्डाल बस्ती से बाहर रहते थे और चलते समय आगाह करने के लिए सड़क पर लकड़ी पीटते हुए चलते थे, ताकि उनके स्पर्श से अन्य लोग अपवित्र एवं दूषित न हो जाएँ।

मौर्य काल में दास-प्रथा भी प्रचलित थी। यद्यपि मेगस्थनीज के विवरण के आधार पर यह कहा जाता है कि भारत में दास-प्रथा नहीं थी, तथापि अशोक के शिलालेखों तथा धर्मशास्त्रों से इस प्रथा का प्रचलन सिद्ध होता है। अशोक ने अपने शिलालेखों में बारम्बार दासों के प्रति सद्व्यवहार करने का संकेत किया है। किंतु पाश्चात्य देशों में दासों के प्रति जो अमानुषिक व्यवहार किया जाता था, वैसा व्यवहार भारत में नहीं था।

आर्थिक स्थिति :: कृषि और पशुपालन

वैदिक काल से ही भारत के आर्थिक जीवन का मेरुदण्ड कृषि रही है। जिस युग के आर्थिक जीवन का सिंहावलोकन हम यहाँ कर रहे हैं, उसमें भी भारत की बहुसंख्यक जनता खेती पर ही निर्भर थी। तब भी देश की अधिकांश जनता

की अपेक्षा गाँवों में ही रहती थी। ग्राम-सभाओं द्वारा स्वशासित इन गाँवों के प्रमुख द्वारा उगाहा गया उपज का छठा भाग राजा को भूमिकर के रूप में मिलता था। राजा स्वेच्छा से किसी भी गृहपति (कृषक) से प्राप्त होनेवाली मालगुजारी को माफ कर सकता था। गृहपतियों के अधिकार सुरक्षित थे, क्योंकि खेती के ऊपर उनका पूरा अधिकार था। किसानों का जीवन सुखी एवं संतुष्ट था और उनमें जातीयता की भावना इतनी बढ़ी हुई थी कि सारे ग्राम के सामूहिक हित के सम्मुख वे अपने निजी स्वार्थ की तनिक भी परवा नहीं किया करते थे। मौर्य काल के आर्थिक संगठन का वर्णन करते हुए यूनानी लेखकों ने साधारण जनता को कृषक, पशुपालक, शिकारी, व्यापारी और शिल्पी इन वर्गों में विभक्त किया है। उनका कहना है कि उन दिनों किसानों से कोई भी सैनिक या सामरिक सेवा नहीं ली जाती थी, प्रत्युत उन्हें अपना सारा समय कृषि के विकास में ही लगाना पड़ता था। हाँ, आपद्काल में किसानों को निर्धारित भूमिकर के अतिरिक्त कुछ और विशेष कर राज्य को देना पड़ता था, यद्यपि इसका अवसर बहुत कम ही आता था।

बेगार की भी प्रथा प्रचलित थी; किंतु शक शासक रुद्रदामन् ने सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कराते समय यह अभिमान व्यक्त किया है कि उसने इतना बड़ा रचनात्मक कार्य कराने में लोगों से न तो अतिरिक्त कर ही लिया और न बेगार ही ली! सातवाहन राजाओं के कुछ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कभी-कभी ग्राम-सभाओं या विशेष व्यक्तियों को परिहार (कर से मुक्त) 'वाटिकाएँ' तथा 'क्षेत्र' (खेती योग्य भूमि) दानस्वरूप दे दिए जाते थे। किसानों की फसलें प्रायः अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा टिड्डी दल के आक्रमण से नष्ट हो जाया करती थीं। ऐसे संकट के समय में राज्य की ओर से किसानों को सहायता दी जाती थी।

अर्थशास्त्र के अनुसार, गाँव में रहता हुआ किसान यदि बोने के समय खेतों में बीज नहीं बोता या खेत को ही छोड़ देता था, तो उसे १२ पण दण्ड देना पड़ता था। परन्तु किसी आकस्मिक विघ्न के कारण जब किसान ऐसा नहीं कर पाता था, तो वह दोषी नहीं माना जाता था। जिनके पास माफी की जमीन थी, वे दूसरी जगह रहते हुए भी अपनी भूमि के स्वामी माने जाते थे।

गुप्त राजाओं के समय में जनसाधारण का जीवन अत्यन्त सुखी था। कर बहुत हल्के थे। प्रजा अत्याचारों से पीड़ित नहीं की जाती थी। यद्यपि बेगार की प्रथा अब तक प्रचलित थी, किन्तु श्रमिकों को मजदूरी दी जाती थी।

इन दिनों कृषि के अतिरिक्त कुछ लोगों की जीविका का साधन पशुपालन तथा आखेट करना भी था। कृषि को हानि पहुँचानेवाले जानवरों तथा चिड़ियों से खेती की रक्षा का भार पशुपालकों तथा शिकारियों को सौंपा गया था।

उद्योग-धंधे तथा शिल्प

खेती तथा पशुपालन के साथ-साथ अनेक उद्योग-धंदे तथा शिल्प भी प्रचलित थे। बौद्ध ग्रन्थों में प्रायः अठारह शिल्पों का उल्लेख मिलता है, जिनमें कुछ महत्वपूर्ण तथा कुछ हीन समझे जाते थे। महत्वपूर्ण वर्ग में बढ़ई, लुहार, सुनार रथकार, कुम्हार, तन्तुवाय (जुलाहे), जौहरी तथा हाथीदाँत के शिल्प सम्मिलित थे। हीन वर्ग में चमार, मछुआ, शिकारी, नर्तक, अभिनेता तथा सपेरे का काम करनेवाले लोग सम्मिलित थे। साधारणतः सभी पेशे वंशानुगत हो चुके थे, यद्यपि दूसरों के पेशे को अपनाने में कोई रुकावट या असुविधा न थी।

शिल्पियों के विषय में कौटिल्य का विधान था कि "कारीगर लोग स्थान, समय और कार्य को तय करने के बाद ही काम किया करें। जो शिल्पी स्थान, समय और कार्य के तय करने में बहाना करे और ठीक समय पर काम न करे, उसकी मजदूरी का चौथाई हिस्सा काट लिया जाय और उससे दुगना जुरमाना वसूल किया जाय। परंतु यदि किसी आकस्मिक घटना या हिंसक प्राणी द्वारा बाधा उपस्थित हो, तो उसे अपराधी न समझा जाय।······रजक (धोबी) लोग काष्ठफलक (लकड़ी के पटे) पर या चिकने, मुलायम पत्थर पर ही कपड़ों को साफ करें। अन्यत्र पखारने पर यदि कपड़ा फट जाय, तो उसका नुकसान उनसे लिया जाय।······यदि सुनार निम्न कोटि के नौकरों-चाकरों के हाथ से (अशुचिहस्तान) सोने चाँदी के बने हुए जेवर (सरूप) सुवर्णाध्यक्ष (सरकारी आफिसर) को सूचित किए बिना ही खरीदे, तो उसे १२ पण दण्ड दिया जाय।"

गिल्ड या श्रेणियाँ

एक ही शिल्प या व्यवसाय करनेवाले लोग विशिष्ट श्रेणियों में संगठित थे, जिनके अपने-अपने नियम और उपनियम बने थे। ये शिल्प-श्रेणियाँ प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन में पूर्णतया व्याप्त थीं। उनमें से प्रत्येक का एक प्रमुख अथवा 'ज्येष्ठक' या 'श्रेष्ठिन्' होता था, जिसका पद अत्यन्त उत्तरदायित्व और गौरव का था। कभी-कभी अनेक श्रेणियाँ अपने हित-संपादन एवं उन्नति के लिए एक 'महाश्रेष्ठिन्' के नीचे संगठित हो जाती

थीं, जिसकी सहायता 'अनुश्रेष्ठिन्' करती थी। राज-दरबार में ज्येष्ठक लोगों को बड़ा सम्मान प्राप्त था और उनकी श्रेणियों का बहुत बड़ा आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभाव था। ये श्रेणियाँ वर्तमानकाल के बड़े बैंकों का काम भी करती थीं। श्रेणियों के प्रबंध तथा उनके सदस्यों के पारस्परिक झगड़ों का निर्णय करने के लिए ज्येष्ठक की अध्यक्षता में उनकी एक छोटी-सी कार्यकारिणी समिति होती थी, जिसे न्याय एवं प्रशासन संबंधी अधिकार प्राप्त थे। ये श्रेणियाँ चीजों के मूल्य पर नियंत्रण रखती और सदस्यों द्वारा निर्मित वस्तुओं की अच्छाई तथा शुद्धता की वे गारण्टी लेती थीं। वे बैंकों की तरह जनता तथा सदस्यों का धन अपने पास जमा करती, ब्याज पर रुपया उधार देती एवं धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं को समय-समय पर आर्थिक अनुदान या सहायता भी दिया करती थीं। कुछ श्रेणियों की अपनी निजी सेनाएँ भी हुआ करती थीं। इस प्रकार उनका सैनिक महत्व भी था। सभी श्रेणी-अधिकारियों के ऊपर 'भाण्डागारिक' नामक अधिकारी होता था, जो राज्य का कोषाध्यक्ष और सभी श्रेणियों का सर्वोच्च अधिकारी माना जाता था।

इस प्रकार श्रेणियाँ बहुधंधी संस्थाएँ थीं, जो एक साथ श्रमिक-संघ (ट्रेड-यूनियन), मूल्य-नियंत्रण-अधिकारी, बैंकर तथा महाजन सभी का काम करती थीं। इन संस्थाओं ने पुश्तैनी व्यवसायों की कार्यकुशलता की रक्षा एवं विकास में प्रचुर योग दिया। उन्होंने समाज तथा राज्य को समय-समय पर आर्थिक सहायता भी प्रदान की और अपने सदस्यों तथा जनसाधारण के आर्थिक कल्याण को सुनिश्चित एवं स्थिर बनाया। उनकी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए राज्य उनकी आन्तरिक स्वतंत्रता का सदैव सम्मान करता रहा एवं उसने उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध किया। जब कभी ये शिल्प-श्रेणियाँ कोई समाज-विरोधी कार्य करती या ऐसे पारस्परिक झगड़ों में फँस जाती थीं, जिनसे उनका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता था, तो राज्य हस्तक्षेप करने से भी नहीं चूकता था।

वाणिज्य-व्यापार

उद्योग-धन्धों के साथ उन दिनों वाणिज्य-व्यापार की भी पर्याप्त उन्नति हुई। निर्यात और आयात के रूप में जल-थल दोनों मार्गों द्वारा देशी और विदेशी व्यापार होता था। ईस्वी पूर्व सातवीं शताब्दी के भारत का ब्रह्मा, मलय (सुवर्णभूमि), लंका (ताम्रपर्णी) तथा बेबीलान के साथ वैदेशिक व्यापार संबंध स्थापित हो चुका था। मौर्य काल में भारत का व्यापार सीरिया, मिस्र तथा यूनानी सभ्यता से प्रभावित योरप के अन्य देशों के साथ भी होता था। पाटलिपुत्र में विदेशी व्यापारियों की एक बहुत बड़ी संख्या रहती थी, जिनकी देख-भाल के लिए एक पृथक् समिति की स्थापना की गई थी। ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी के लगभग भारत ने रोमन साम्राज्य से घनिष्ट व्यापारिक संबंध स्थापित कर लिया था। उन दिनों विदेशों के साथ भारत का सामुद्रिक व्यापार भी होता था। 'मिलिन्द पञ्ह' में प्रथम शताब्दी ईस्वी में भारत के समुद्री व्यापार के बढ़ते हुए क्षेत्र का उल्लेख मिलता है। सामुद्रिक व्यापार के लिए भारत के पश्चिमी तट पर भरुकच्छ (भड़ोच) तथा शूरपार्क (सोपारा) तथा पूर्वीय तट पर ताम्रलिप्ति (तामलुक) और पल्लव प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। नदी-तट के बन्दरगाहों में मध्यभारत में सहजाति, यमुना-तट पर कौशाम्बी, गंगा पर वाराणसी, चम्पा और पाटलिपुत्र एवं सिन्धु-तट पर पट्टल के नाम उल्लेखनीय हैं।

व्यापारिक स्थल-मार्गों में सुप्रसिद्ध 'रेशम-मार्ग' का भी उल्लेख किया जा सकता है, जो पाटलिपुत्र से तक्षशिला होता हुआ मध्य तथा पश्चिमी एशिया को जाता था। पाटलिपुत्र अनेक व्यापारिक स्थल-मार्गों का उद्गमस्थान था, जहाँ से दक्षिण, पश्चिम तथा पूरब की ओर सड़कें जाती थीं। इन मार्गों पर कई प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र स्थित थे। दूसरा मार्ग राजगृह से श्रावस्ती होता हुआ दक्षिण में गोदावरी के तट पर स्थित प्रतिष्ठान या पैठन नगर तक जाता था। इसमें छः पड़ाव करने पड़ते थे और कई नदियाँ पार करना पड़ती थीं। उन दिनों पुल नहीं थे। अतः केवल 'तीर्थों' (अर्थात् उन स्थानों से जहाँ नदी पैदल पार की जा सके) तथा नौ-क्रमों अर्थात् नावों द्वारा बनाए गए अस्थायी पुल या चह से नदियाँ पार की जाती थीं। तीसरा पथ राजस्थान के मरुस्थल को पार करता हुआ पश्चिम की ओर सिंधु-तट पर स्थित सौवीर नामक बन्दरगाह तक जाता था। इन वणिक्-पथों पर स्थित प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र थे पश्चिम में विदिशा (आधुनिक भिलसा), उज्जैन, सूरत, भड़ोच; दक्षिण में पैठन, महाबलीपुरम् तथा काञ्ची; और उत्तर में स्यालकोट।

इन वणिक् पथों पर व्यापारी लोग पशुओं पर कीमती माल लादकर बड़े-बड़े कारवाँ या सार्थ बनाकर चलते थे और उनका अगुवा सार्थवाह कहलाता था, जो रात में आकाश के तारों को देखकर मार्ग-निर्देश करता था। इन राजमार्गों में तक्षशिला होकर मध्य एशिया तथा पश्चिम एशिया को जानेवाला पथ सब से प्रसिद्ध था। इस पर तक्षशिला के अतिरिक्त गंगा की तलहटी के साकेत, श्रावस्ती, बाराणसी और राजगृह जैसे महानगर स्थित थे। यह मार्ग अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित

था। इसी पर चलकर असंख्य विद्यार्थी तक्षशिला को जाते थे। किंतु अन्य मार्गों पर डकैती का बड़ा भय लगा रहता था और विशेषकर निर्जन मार्ग पर व्यापार की सामग्री लेकर चलना तो काफी खतरा मोल लेना था।

निर्यात और आयात

देश से बाहर जानेवाली वस्तुओं में मलमल, रेशम, किमखाब, सुईकारी का सामान, औषधि, सुगंधियाँ, मसाले, हाथी-दाँत की वस्तुएँ, रत्न-आभूषण, बरतन आदि मुख्य थे। भारतीय मलमल तथा काली मिर्च की खपत रोम में सब से अधिक थी। कहते हैं, वहाँ दो अशर्फी की एक सेर कालीमिर्च बिकती थी! रोमन रमणियों द्वारा भारतीय मलमल की अत्यधिक माँग और उससे होनेवाली बेपरदगी के विषय में एक रोमन लेखक का कहना है कि "वे बुनी हुई हवा के जाले पहनकर अपना सौंदर्य दिखाती हैं!" ७७ ई० में प्लीनी नामक एक रोमन लेखक ने भारत द्वारा रोमन व्यापार से प्राप्त महान् लाभ की ओर संकेत करते हुए लिखा था कि "भारतीय माल रोम में आकर सौगुने मूल्य पर बिकता है और भारतवर्ष रोम से प्रति वर्ष साढ़े पाँच करोड़ का सोना खींच लेता है! यह धन हमें अपनी ऐयाशी और स्त्रियों के कारण ही देना पड़ता है!" आयात द्वारा देश के अन्दर आनेवाली वस्तुओं में मीठी शराब, अंजीर, चाँदी के बरतन और राजकीय अन्तःपुर के लिए सुन्दर एवं रूपवती दासियाँ प्रमुख थीं।

व्यापारिक सामानों का दाम सिक्कों में चुकाया जाता था, परन्तु दूर के क्रय-विक्रय में हुण्डियों का भी उपयोग होता था। मुद्राओं में निष्क, सुवर्ण और शतमान नाम के सिक्के तो पहले से ही चले आ रहे थे, किंतु सब से अधिक चालू सिक्का कार्षपण था, जो चाँदी और ताँबा दोनों ही धातुओं का बनता था। ताँबे के छोटे सिक्के "मासक" और "काकनिका" कहलाते थे। रोमन साम्राज्य से स्वर्ण की प्राप्ति होने पर कुषाणकाल में सोने के सिक्के भी बनने लगे थे और कुषाणों से प्रभावित होकर ही गुप्तकालीन सुवर्ण के सिक्कों का निर्माण हुआ था। ग्रामीण आर्थिक जीवन में क्रय-विक्रय सामानों की अदला-बदली (विनिमय) से होता था। ऋण पर ब्याज देने की प्रथा भी प्रचलित थी।

शिक्षा-प्रणाली :: गुरुकुल

प्राचीन काल में भारत में आजकल की तरह कोई पृथक् राजकीय शिक्षा-विभाग नहीं था। केवल सम्राटों तथा अन्य धनीमानी व्यक्तियों की उदारता के बल पर चलनेवाले अनेक ऋषि-मुनियों के आश्रम तथा गुरुकुल ही उच्च शिक्षा के केन्द्र थे, जिनकी अपनी अलग-अलग विशेष परंपराएँ एवं आदर्श हुआ करते थे। गुरुकुल में प्रविष्ट होने के पहले विद्यार्थी अपने ग्राम के मंदिर या पीपल के पेड़ के नीचे स्थित प्रारंभिक चटशाला में ग्राम-पंडित या पुरोहित के चरणों में बैठकर पढ़ना-लिखना तथा हिसाब लगाना सीख लेता था। गुरुकुल में जाकर विद्यार्थी अपने गुरु की (जो उसका आध्यात्मिक पिता होता था) वैयक्तिक देखभाल एवं नियंत्रण में ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए अध्ययन करता था। गुरु सर्वोच्च नैतिक चरित्र एवं मानसिक तथा आध्यात्मिक गुणों से सम्पन्न होते थे। वे अपने जीवन में अनुभूत ज्ञान और तथ्यों को निष्कपट भाव से विवेक एवं योग्यतानुसार अपने शिष्यों को बताया करते थे। शिष्य भी संयम तथा सदाचारमय जीवन व्यतीत करते हुए गुरु की सेवा करते और उनके प्रति अत्यधिक सम्मान एवं श्रद्धा प्रदर्शित करते थे।

गुरुकुल अर्थात् गुरु का आश्रम बस्ती से दूर प्रकृति की निराली छटा से आवृत्त वनों में स्थित रहता था। यदि कोई गुरु अपनी विद्वत्ता तथा धर्माचरण के लिए अधिक प्रख्यात होता था, तो दूर-दूर से छात्रों के झुण्ड उसके आश्रम पर उसकी पद-रज लेने एकत्रित हुआ करते थे। कालान्तर में ऐसे छोटे-छोटे गुरुकुल प्रसिद्ध विद्या-केन्द्रों या विश्वविद्यालयों में परिणत हो जाया करते थे। प्राचीन भारत के इस प्रकार के शिक्षा-केन्द्रों में तक्षशिला, वाराणसी, नालंदा, वलभी, विक्रमशिला तथा ओदन्तपुरी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

गुरुकुलों के सत्र का समारम्भ वर्षाऋतु के श्रावण मास में उपाकर्म या श्रावणी-संस्कार द्वारा होता था। इस समय देवताओं की तुष्टि के हेतु यज्ञ किया जाता था तथा विद्यार्थियों को नूतन यज्ञोपवीत धारण करना पड़ता था। सत्र का अंत उत्सर्जन-समारोह द्वारा किया जाता था और तब विद्यार्थी अपने-अपने घर चले जाते थे। विद्यार्थियों के शैक्षिक जीवन की परिसमाप्ति समावर्तन-संस्कार द्वारा होती थी, जब वे अपना ब्रह्मचर्य-जीवन समाप्त कर (जटा, दण्ड, मेखला त्याग कर) गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश करते थे। विद्यार्थियों को लगभग बारह वर्ष तक गुरुकुल में रहना पड़ता था।

गुरुकुल के पाठ्यक्रम में अनेक विषयों का अध्ययन एवं अध्यापन सम्मिलित था। वेद, वेदांग, तर्कशास्त्र तथा दर्शन के साथ-साथ व्यावसायिक विषयों की भी शिक्षा वहाँ दी जाती थी, जैसे आयुर्वेद, शस्त्रास्त्र-विद्या तथा राजनीति। तब आजकल की तरह कोई परीक्षा-प्रणाली तो थी नहीं। गुरु जब शिष्य की योग्यता तथा प्रगति से संतुष्ट हो जाता था, तो

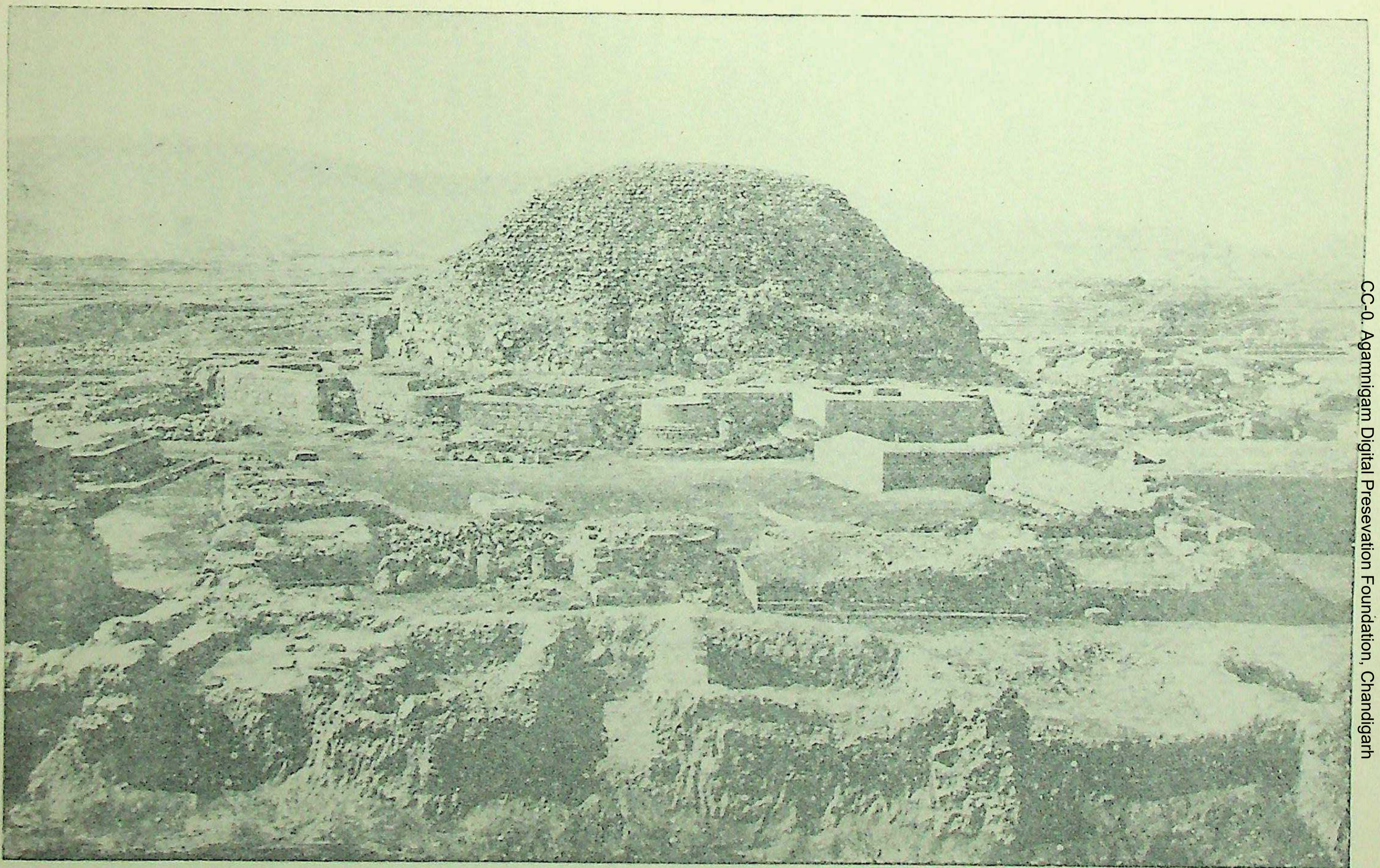

प्राचीन भारत के महान् विद्या-केन्द्र 'तक्षशिला' के ध्वंसावशेष [फो०—'भारतीय पुरातत्त्व-विभाग' के सौजन्य से]।

उसे घर चले जाने की अनुमति मिल जाया करती थी। परंतु किसी पाठ्यक्रम की समाप्ति पर शिष्य को विद्वानों की मंडली के सम्मुख उपस्थित होना पड़ता था, जो कभी-कभी उसकी परीक्षा लिया करते थे। घर जाने के पूर्व शिष्य गुरु को गुरु-दक्षिणा देते थे।

तक्षशिला का महान् विश्वविद्यालय

प्राचीन काल में भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्र में स्थित तक्षशिला के महान् विद्या-केन्द्र को बड़ा गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। भारत के सुदूर कोनों से झुण्ड के झुण्ड विद्यार्थी वहाँ पहुँचा करते थे। बौद्ध जातक कथाओं में हमें इस विश्वविद्यालय की झाँकी देखने को मिलती है। विद्यार्थी सोलह वर्ष की आयु प्राप्त करने पर तक्षशिला में प्रवेश पाते थे और कई वर्षों तक वहाँ रहने पर ही उनकी शिक्षा पूरी होती थी। यहाँ लगभग ६८ विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी, जिनमें अर्थशास्त्र, राजनीति, धनुर्विद्या, खड्गविद्या, आयुर्वेद तथा शल्यचिकित्सा का भी समावेश था। अरुणोदय के साथ ही विद्यार्थी अपना-अपना बिस्तर छोड़ देते थे और नित्य-कर्म से निवृत्त हो मध्याह्न तक अपने-अपने पाठ में संलग्न रहते थे। भोजन तथा विश्राम के उपरान्त अपराह्न में पढ़े हुए पाठ की पुनरावृत्ति एवं पुष्टि की जाती थी। विद्यार्थी अपनी-अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार ५०० से लेकर १,००० कार्षपण तक गुरुदक्षिणा के रूप में दिया करते थे। निर्धन छात्रों को गुरु की घरेलू सेवाएँ करना पड़ती थी। किन्तु कक्षा में धनी-गरीब का कोई भी भेदभाव नहीं था। जातकों के अनुसार कहा जाता है कि प्रत्येक गुरु की कक्षा में लगभग ५०० छात्र होते थे। पर वास्तव में ये प्रायः १५-२० से अधिक नहीं होते थे। अध्यापकों की सहायता उपाध्यापक, किया करते थे, जो प्रायः वहाँ के कुशाग्रबुद्धि पुराने शिष्य होते थे। अपने निर्धारित पाठ्यक्रम की पूर्ति पर छात्र, घर लौटते समय, इधर-उधर देश का भ्रमण करके विविध प्रान्तों के रीति-रिवाजों का भी अध्ययन करते थे और घर लौटकर अपने माता-पिता के समक्ष अर्जित ज्ञान का प्रदर्शन करते थे। ईस्वी पूर्व ७०० से लेकर छठी शताब्दी ई० पर्यन्त तक्षशिला बहुत ही उन्नतिशील रहा। इसके बाद हूणों के आक्रमण के फलस्वरूप उसका सदा के लिए नाश हो गया।

तक्षशिला की समकालीन सर्व विद्याओं की दूसरी ज्ञान-स्थली वाराणसी नगरी थी। पर यह अपेक्षाकृत छोटा केन्द्र था और तक्षशिला में पढ़े हुए लोग वाराणसी में अध्यापक हुआ करते थे। तक्षशिला की कीर्ति मंद होने पर ही वाराणसी का प्रकाश-पुंज फैला। आगे चलकर काशी (वाराणसी) ब्राह्मण-धर्म और संस्कृत विद्या का मुख्य केन्द्र बन गई।

नालन्दा का महान् विद्या-केन्द्र

प्राचीन भारत का अन्य एक महान् विश्वविद्यालय नालंदा में था, जिसकी स्थापना गुप्त-शासनकाल में हुई थी और जिसके भग्नावशेष बिहार के पटना जिले में राजगिरि के निकट आज भी मौजूद हैं। बुद्धघोष के अनुसार यह राजगिरि से एक योजन पर था। ह्वान च्वाङ् के मतानुसार आम्रकुंज के मध्य तड़ाग में 'नालन्दा' नाम का एक नाग रहता था, उसी के नाम पर इसे नालन्दा कहने लगे। दूसरा मत यह है कि यहाँ बोधिसत्व ने प्रचुर दान दिया था, इसीलिए इसका नाम नालन्दा पड़ गया।

बुद्ध-निर्वाण के बाद राजा शक्रादित्य ने यहाँ एक विहार बनवाया था, चूँकि भगवान् बुद्ध ने स्वयं यहाँ अनेक बार विश्राम किया था। महावीर स्वामी ने भी यहाँ चौदह चातुर्मास बिताए थे। इस प्रकार नालन्दा, जो पहले से ही एक धार्मिक एवं बौद्धिक स्थान था, कालान्तर में विद्या तथा संस्कृति का अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त केन्द्र बन गया, जहाँ केवल भारतवर्ष से ही नहीं वरन् मध्य एशिया, चीन, कोरिया तथा जावा तक के विद्यार्थी आया करते थे।

ज्यों-ज्यों विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती गई, उनके आवास का भी प्रश्न सामने आता गया और इस प्रकार चतुर्दिक् दीवारों से घिरे विश्वविद्यालय के प्रांगण में विशाल छात्रावासों, पुस्तकालयों, अध्यापन-कक्षों तथा प्रयोगशालाओं के गगनचुंबी भवन ऊँचे उठते चले गए। इस विशाल विद्यामंदिर में प्रविष्ट होने के लिए एक बड़ा भारी प्रवेश-द्वार बना हुआ था, जहाँ एक द्वार-पंडित बैठता था। वह नूतन प्रवेश के इच्छुक छात्रों की परीक्षा लिया करता था। जो अभ्यार्थी उसके प्रश्नों का उत्तर सफलतापूर्वक दे लेते थे, उनके लिए विद्यामन्दिर का प्रवेश-द्वार खुल जाता था और असफल अभ्यार्थियों को निराश होना पड़ता था। आम्रकुंजों से घिरे प्रांगण के मध्य रंग-विरंगे कमलपुष्पों से आच्छादित स्वच्छ जल से परिपूर्ण यहाँ के तालाब की निराली छटा विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को सरस्वती की आराधना के हेतु निरंतर प्रेरित करती रहती थी। नालन्दा बौद्ध विश्वविद्यालय था।

नालन्दा विश्वविद्यालय को ख्याति चतुर्दिक् फैल गयी थी और यहाँ पढ़े हुए छात्रों की उस युग की सुसंस्कृत विद्वद्मंडली में बड़ी प्रतिष्ठा होती थी। इस विश्वविद्यालय में धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, श्रीमति, शीलभद्र, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित

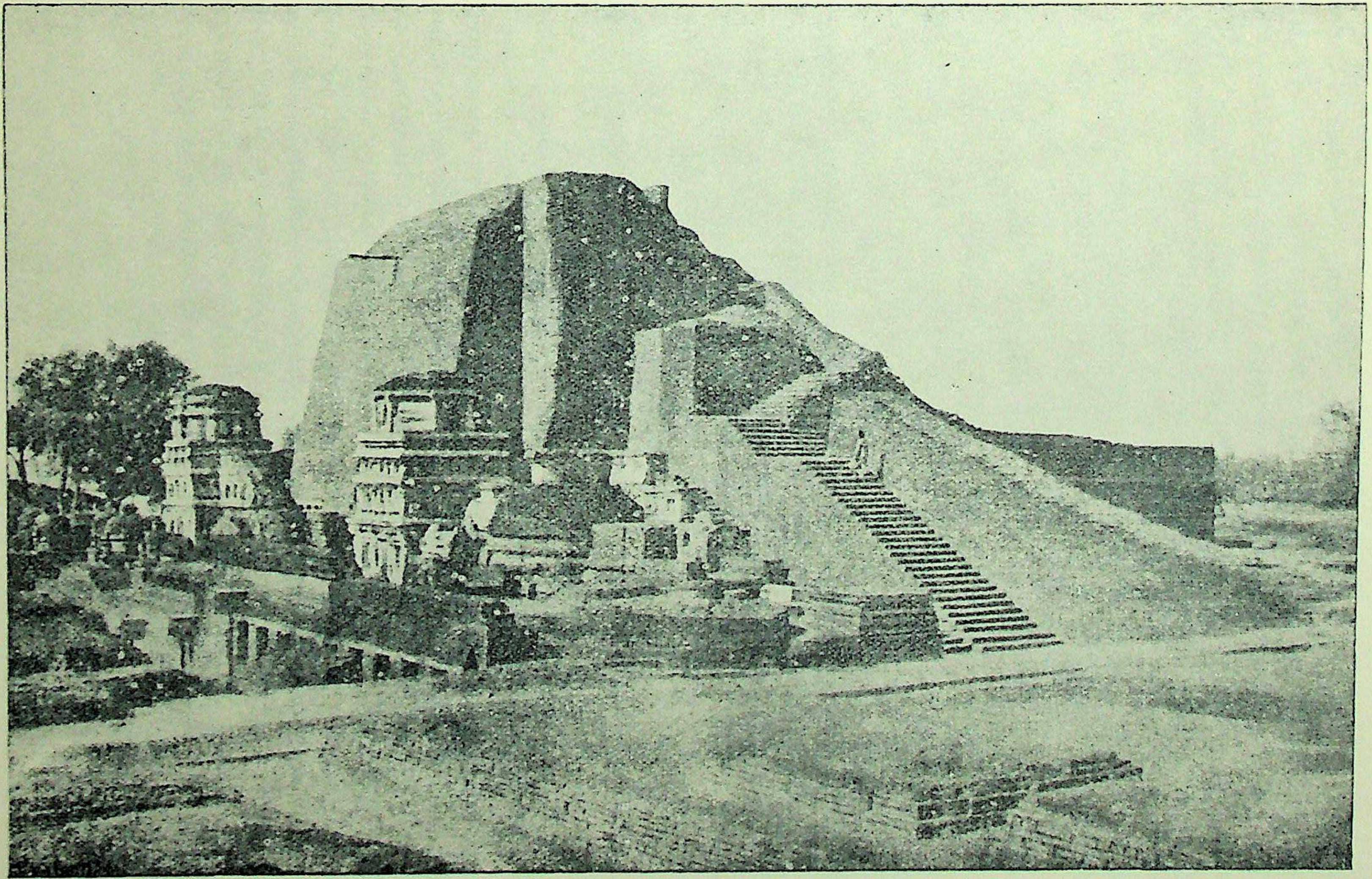

प्राचीन काल के अन्य एक महान् भारतीय विद्या-संस्थान 'नालंदा' के खँडहर [फो० — 'भारतीय पुरातत्व-विभाग' के सौजन्य से] ।

तथा पद्मसंभव सरीखे सुप्रसिद्ध विद्वानों का समाज उपस्थित था। शीलभद्र प्रधानाध्यापक थे। अध्यापकों तथा विद्यार्थियों को मिलाकर कुल दस सहस्र व्यक्ति इसकी चहारदीवारी के अन्दर रहते थे, जिनमें डेढ़ हजार तो केवल अध्यापक ही थे। इस संस्था का संचालन एवं प्रबंध शृंखलाबद्ध अधिकारियों द्वारा किया जाता था, जिनमें 'कुलपति' का स्थान सर्वोच्च श्रेणी पर था। उसकी सहायता एक 'पंडित' करता था। इस विद्या-मंदिर का पुस्तकालय सर्वोत्कृष्ट था, जो तीन भव्य भवनों ---रत्नसागर, रत्नोदधि तथा रत्नरंजक---में स्थित था। नालन्दा की शिक्षण-विधि में भाषण, तर्क तथा वाद-विवाद सम्मिलित था और यहाँ पढ़ाए जानेवाले विषयों में महायान बौद्ध धर्म एवं बौद्ध मत की अन्य शाखाओं संबंधी दर्शन के अतिरिक्त वैद्यक, साहित्य, कला, वैदिक एवं जैन दर्शन, तंत्र, खगोलविद्या तथा नीतिशास्त्र का अध्ययन भी सम्मिलित था। नालन्दा-विश्वविद्यालय को अनेक राजाओं द्वारा पर्याप्त आर्थिक अनुदान प्राप्त होता था। इसीलिए यहाँ के छात्रों को भोजन, वस्त्र, आवास तथा औषधि की कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। गुप्तवंश के शासकों, हर्षवर्धन, पालवंश के राजाओं, यहाँ तक कि सुदूर स्थित सुवर्णद्वीप के राजा बालपुत्रदेव तक ने इस शिक्षण-केन्द्र के हेतु मुक्तहस्त होकर दान दिया था।

नालन्दा से शांतरक्षित तथा पद्मसंभव सरीखे धर्मप्रचारक बौद्ध मत का प्रचार करने के लिए तिब्बत गए थे। इस विद्या-केन्द्र में य्वान चाङ्, ह्वेन-चू, हुई-ली, तैंग, ताओ-सिंग, आर्यवर्मन् तथा बुद्धधर्म सरीखे विदेशी विद्वान् अपनी ज्ञान-पिपासा शांत करने आए थे। इस प्रकार यह स्थान विभिन्न आदर्शों, विचारों तथा संस्कृतियों का संगम बन गया था। इसका अस्तित्व ५०० ई० से तेरहवीं शताब्दी तक बना रहा। तब मुसलमान आक्रमणकारियों के प्रहार का शिकार बन वह सदा के लिए अस्त हो गया। उक्त आक्रमणकारियों ने बड़ी निष्ठुरता से इस ज्ञानपीठ को—जिसने तत्कालीन जगत् को भारतीय ज्ञान, विज्ञान, धर्मशास्त्र, साहित्य, दर्शन, कला, शिल्प, आदि का दान दिया था---जी भरकर लूटा और जलाया!

वलभी, विक्रमशिला और ओदन्तपुरी

नालन्दा ने देश में अन्य शिक्षण-केन्द्रों की स्थापना के लिए भी प्रेरणा प्रदान की। इनमें से एक था वलभी का विश्वविद्यालय, जिसका उद्भव सौराष्ट्र के मैत्रक राजाओं के विद्या-प्रेम के फलस्वरूप हुआ था। इसकी स्थापना गुणमति तथा स्थिरमति नामक विद्वानों के करकमलों द्वारा की गई थी। थेरवादी बौद्ध धर्म के अध्ययन का यहाँ विशेष प्रबंध था। नालंदा की तरह यहाँ का पुस्तकालय भी बहुत बड़ा था।

उधर उत्तरी मगध में स्थित विक्रमशिला-विश्वविद्यालय की स्थापना बंगाल के पालवंशी राजा धर्मपाल द्वारा की गई थी। जब नालन्दा-विश्वविद्यालय का सूर्य ढलने लगा था, तभी यह शिक्षा-केन्द्र प्रकाश में आया था। यहाँ तिब्बती भाषा, धर्म तथा साहित्य के अध्ययन एवं अध्यापन के अतिरिक्त धर्म, साहित्य, दर्शन, न्याय तथा तंत्रशास्त्र की शिक्षा का भी विशेष प्रबन्ध था। इस विश्वविद्यालय का नालन्दा से विशेष संपर्क था और यहाँ के भी अनेक पंडित तिब्बत भेजे गए थे। यहाँ के अध्यापक-वर्ग में रत्नवज्र, लीलावज्र, कृष्णसमरवज्र, तथागतरक्षित, दीपंकर श्रीज्ञान, बोधिभद्र, कमलरक्षित और नरेन्द्र श्रीज्ञान नामक आठ महापंडित और दूसरे १०८ पंडित थे। दीपंकर श्रीज्ञान प्रधान आचार्य थे। तिब्बत-निवासियों ने कृतज्ञतापूर्वक विक्रमशिला के इन पंडितों के उपदेशों को आर्ष-वाक्य मानकर उन्हें अपने धर्म का संरक्षक स्वीकार किया था।

विक्रमशिला की तरह ओदन्तपुरी का विश्वविद्यालय भी पाल राजाओं की उदारता एवं संरक्षण के कारण जनमा था। इसकी स्थापना गोपाल नामक राजा ने आठवीं शताब्दी ई० के मध्य में की थी। यह विद्या-केन्द्र पाटलिपुत्र के निकट स्थित था और यहाँ तांत्रिक विद्याओं का विशेष अध्ययन होता था। लगभग एक सहस्र छात्र यहाँ विद्योपार्जन करते थे।

प्राचीन भारत के इन विश्वविद्यालयों ने संस्कृति की सुरक्षा तथा विकास करने में महान् योग दिया। इनके प्रभाव ने दर्शन तथा कला को विकासोन्मुख किया। यहाँ तिब्बत, मध्य एशिया, चीन, कोरिया तथा जावा से विद्यार्थी आया करते थे और यहाँ के आचार्य गिरि-शिखर एवं सिंधु लाँघकर विदेशों में धर्म-प्रचारार्थ जाया करते थे। इन धर्म-प्रचारकों ने भारतीय साहित्य का तिब्बती तथा चीनी भाषाओं में अनुवाद करके इस देश की संस्कृति का प्रसार कर 'बृहत्तर भारत' की स्थापना करने में महान् योग दिया। उनकी बदौलत संस्कृत भाषा तथा साहित्य और भारतीय कला तथा रीति-रस्म का फैलाव सुदूर देशों तक हुआ। भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार करने और विदेशी विचार-धारा का भारतीय जीवन के साथ समन्वय स्थापित करने में इनकी देन अतुल्य थी।§

---

§ इस युग की कला एवं साहित्य-क्षेत्र की महान् उपलब्धियों का विस्तृत विवरण 'कला' एवं 'साहित्य' विभागों के अंतर्गत पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है, अतः उन्हें फिर से यहाँ दोहराया नहीं गया। पाठक कृपया उल्लिखित विवरण यथास्थान पढ़ लें!

भारतीय इतिहास का दूसरा प्रहर—(६)
सांस्कृतिक पृष्ठभूमि :: 'बृहत्तर भारत'

उत्तुंग गिरिशृंगों, बीहड़ मरुस्थलों एवं अथाह समुद्रों द्वारा उपस्थित बाधाओं को पार कर भारतीय संस्कृति इस देश की सीमाओं से परे के जिन विशाल प्रदेशों में फैली, उन्हें ही सम्मिलित रूप से 'बृहत्तर भारत' कहते हैं। इस सांस्कृतिक क्षेत्र के निर्माण को भारत की सांस्कृतिक दिग्विजय अथवा उसका सांस्कृतिक साम्राज्य भी कह सकते हैं। इस क्षेत्र के अंतर्गत लंका, ब्रह्मदेश, तिब्बत, चीन, जापान, कंबोडिया, मलाया, जावा और मध्य एशिया के अतिरिक्त सुदूर अमेरिका का पश्चिमी जगत् भी सम्मिलित था।

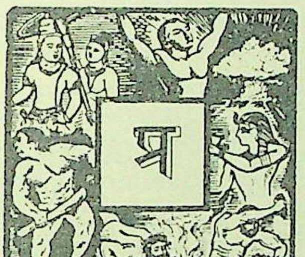

प्रकृति ने भारत की भौगोलिक स्थिति को इस योग्य बना रखा है कि वह अपने पूर्व तथा पश्चिम के देशों एवं जातियों से निरंतर संपर्क बनाए रख सके। फलतः चिरंतन काल से ही विभिन्न जातियों एवं सभ्यताओं के साथ इस देश का संबंध स्थापित होता आया है। इन संबंधों से केवल भारत ही लाभान्वित नहीं हुआ है, वरन् इस प्रकार अपने संपर्क में आनेवाले देशों तथा जातियों को लाभान्वित कर, उन्हें सभ्यता एवं संस्कृति का पाठ पढ़ाने में भी वह सफल हुआ है।

'बृहत्तर भारत' के निर्माण के कारण

'बृहत्तर भारत' का निर्माण सहसा नहीं हुआ। वह कई शताब्दियों के अनवरत अनुष्ठान का परिणाम था।

भारत के इस सांस्कृतिक प्रसार के तीन मुख्य साधन थे—धर्म-दूत, उपनिवेशक तथा व्यापारी। अशोक के समय से पास-पड़ौस के सभी देशों में बौद्ध धर्म-प्रचारकों के अभियान का एक ताँता-सा लग गया था। इस धर्म-दूतों ने भारत की संस्कृति का प्रकाश उन देशान्तरों में फैलाने में अमूल्य योग दिया। उधर पुरानी दुनिया के सामुद्रिक मार्गों के ठीक बीचोबीच स्थित होने के कारण भारत का व्यापारिक संबंध (जल-थल मार्गों से) पश्चिम तथा पूर्व दोनों ओर के देशों से था। प्रायः भारत के बन्दरगाहों से व्यापारी पश्चिम तथा पूर्व की ओर हाथी-दाँत तथा मोरपंख के बने हुए सामानों और मसालों से भरे हुए जहाजों को लेकर जाया-आया करते थे। ये भारतीय नाविक एवं व्यापारी भारतीय संस्कृति के सक्रिय दूत एवं प्रचारक का काम करते थे।

सांस्कृतिक प्रसार के इस अभियान में दक्षिण भारत ने सर्वाधिक स्तुत्य कार्य किया था।

भारत तथा पश्चिमी जगत्

पश्चिमी एशिया की चार हजार वर्ष पुरानी प्रसिद्ध 'हित्ति 'सभ्यता' के विवरण में हम बता चुके हैं कि किस प्रकार १५ वीं शती ईस्वी पूर्व के वहाँ के पुरातत्वावशेषों में इस प्रकार के अभिलेख मिले हैं, जिनमें मित्र, वरुण, इन्द्र आदि वैदिक देवताओं एवं दशरथ आदि भारतीय राजन्यों का नामोल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि अति प्राचीन काल ही में भारतीय संस्कृति की रोशनी पश्चिमी एशिया में फैल चुकी थी!

इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि ईरान, लघु एशिया तथा मिस्र प्राचीन काल में ऐसे तीन मुख्य केन्द्र थे, जहाँ संसार के विभिन्न भागों के विद्वान् एकत्रित होकर धर्म तथा दर्शन संबंधी महत्वपूर्ण विषयों पर विचार-विनिमय किया करते थे। इन देशों के साथ भारत का सांस्कृतिक एवं व्यापारिक संबंध था। यूनानी तथा ईरानी परंपराओं के अनुसार—जिन्हें मैक्समूलर तथा विन्टरनित्ज सरीखे पाश्चात्य विद्वान् भी सत्य

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मानते हैं—इन देशों में भारतीय दार्शनिक [illegible] रहते थे और वैदिक एवं उपनिषदिक सिद्धान्तों द्वारा इन देशों की विचार-धारा को प्रभावित किया करते थे। ईरानियों और वैदिक आर्यों की भाषा, धर्म, कर्मकाण्ड और रीति-रस्मों में नाम-मात्र का अंतर था। पारसी धर्म-ग्रंथों की भाषा में साठ-सत्तर प्रतिशत शब्द शुद्ध संस्कृत के हैं।

कहा जाता है कि हिन्दू सभ्यता के अवशेष रूस तथा साइबेरिया के विभिन्न भागों में भी पाए गए हैं और इस बात के भी प्रमाण विद्यमान हैं कि योरप के कुछ उत्तरी भागों में अश्वमेध यज्ञ भी किए गए थे! लिथुआनिया में आज भी हिंदुओं के-से बहुतेरे रीति-रस्म प्रचलित हैं और वहाँ की नदियों के नाम भारतीय उत्पत्ति के हैं, जैसे नेमुना (यमुना), स्त्रोबती (सरस्वती) तथा नर्बदे (नर्मदा)। लिथुआनिया की जातियों के नाम भी स्पष्टतया भारतीय प्रतीत होते हैं, जैसे कुरु, पुरु, यदव, सुदव आदि।

यूनानी दार्शनिक एवं विद्वान् पियागोरस, सुकरात तथा प्लेटो के सिद्धान्त भारतीय विचारधारा से प्रभावित थे। कहा जाता है कि पियागोरस 'पृथ्वीगुरु' नामक एक हिन्दू विद्वान् था, जो अपने दार्शनिक विचारों का प्रचार करने के लिए यूनान गया था! यदि यह कथानक न भी मान्य हो, तो भी यह तो निर्विवाद है कि पियागोरस का संपर्क भारतीय दार्शनिक विचारों के साथ ईरान में स्थापित हुआ था और पहले पर दूसरे के विचारों का प्रभूत प्रभाव पड़ा था। सर विलियम जोन्स के अनुसार पिथागोरस के विचारों तथा सांख्य सिद्धान्तों में उल्लेखनीय समानताएँ हैं। कोलब्रुक ने सिद्ध किया है कि पिथागोरस के सिद्धान्तों की उत्पत्ति भारत में ही हुई थी। उसका कहना है कि 'पिथागोरस के विषय में मैं बेरोकटोक यह मानता हूँ कि यह यूनानी विद्वान् अपने भारतीय गुरुओं का चिर ऋणी है।' श्रेडर भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा है कि पिथागोरस के विचारों की जन्मभूमि भारतवर्ष है। मैक्समूलर ने सिद्ध किया है कि सुकरात के जमाने में भारतीय दार्शनिक एवं चिन्तक एथेन्स तक जाया-आया करते थे और उनका सुकरात के साथ गंभीर वादविवाद एवं विचार-विनिमय हुआ करता था।

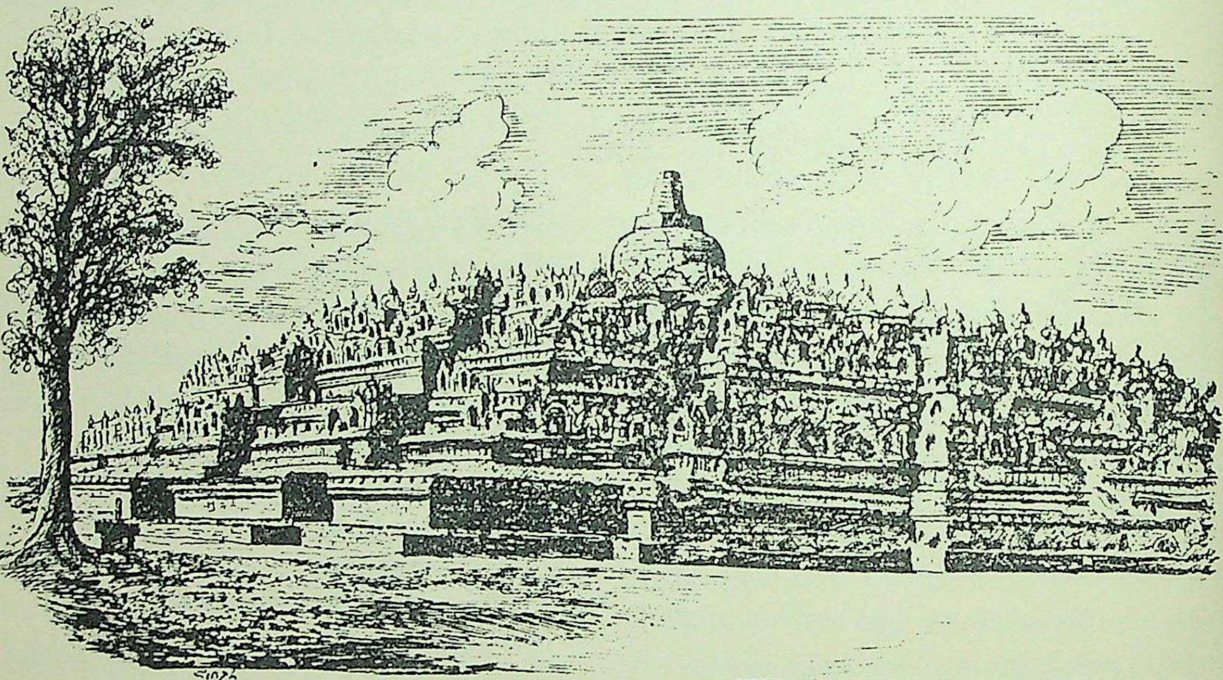

भारतभूमि की सीमाओं से परे भारतीय संस्कृति के प्रकाश के विकिरण का ज्वलन्त प्रतीक—जावा का 'बोरोबोदुर' नामक महान् हिन्दू-बौद्ध देवालय।

सुकरात का शिष्य प्लेटो भी भारत का कम ऋणी नहीं था। उसने एशिया के देशों का सांस्कृतिक भ्रमण भी किया था और इस सिलसिले में वह ईरान होकर भारत आया था और यहाँ के सांख्य-दर्शन से वह बहुत प्रभावित हुआ था। हापकिन्स का कहना है कि प्लेटो के ग्रंथों में सांख्य-दर्शन के विचार भरे हुए हैं। उसने आत्मा आदि के विषय में सारथी तथा घोड़ों की जो उपमा दी है, वह कठोपनिषद् के एक मंत्र की याद दिलाती है।

सिकन्दरिया के 'थेरेप्यूट' तथा फिलिस्तीन के 'एसेनीज' नामक सम्प्रदाय के लोग---जो जंगलों में जाकर तपस्या करने तथा वैराग्य, समाधि और ब्रह्मचर्य-व्रत पर बल देते थे---दरअसल बौद्ध मतावलंबी भिक्षु थे, जो पश्चिम के देशों में बौद्ध सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। थेरेप्यूट शब्द पाली भाषा के 'थेरपुत्त' शब्द का रूपान्तर है, जिसका अर्थ होता है 'बुद्ध का पुत्र'। प्रबल प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि ईसाई धर्म के विकास में बौद्ध धर्म का प्रभूत प्रभाव पड़ा था। ईसाई धर्म ने अपने निवृत्तिमूलक, वैराग्य-प्रधान धर्म की बहुत-सी बातें भारत से ही ग्रहण कीं। 'द अननोन लाइफ ऑफ जीसस क्राइस्ट' नामक अनुवादित पुस्तक---जिसकी मूल पाण्डुलिपि तिब्बत में लुटोविच नामक एक रूसी अन्वेषक को प्राप्त हुई थी---ईसाई धर्म पर भारतीय प्रभाव की सत्यता की पुष्टि करती है। इस पुस्तक से सिद्ध होता है कि ईसा मसीह बारह वर्षों तक यरूशलम में अनुपस्थित थे और इस अवधि में उन्होंने उत्तरी भारत की यात्रा करके वहाँ के कई प्रसिद्ध नगरों, विद्या के प्रमुख केन्द्रों तथा भारतीय विद्वानों एवं संत-महात्माओं के दर्शन किए थे।

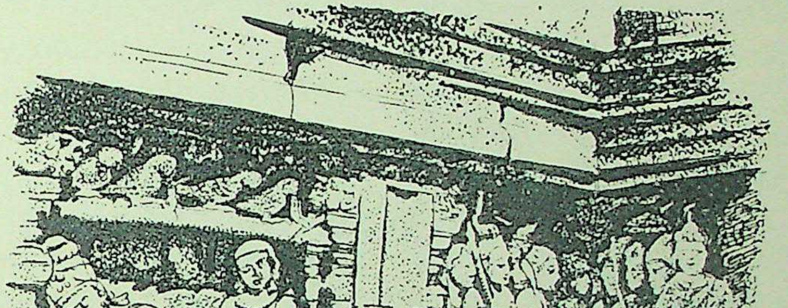

जावा के 'बोरोबोदुर' नामक देवालय का एक मूर्तिशिल्प, जिससे वहाँ की कला पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव की स्पष्ट झाँकी मिलती है।

ईसा मसीह के जन्म के पूर्व पश्चिमी एशिया में भारतीय दर्शन तथा धार्मिक विश्वासों का काफी प्रचलन था। सीरिया के प्रसिद्ध लेखक जेनोब का कहना है कि ईस्वी पूर्व दूसरी तथा तीसरी शताब्दियों में आर्मीनिया में भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा प्रचलित थी और उनके मन्दिर तथा मूर्तियाँ वहाँ निर्मित हुई थीं। चौथी शताब्दी ई० के प्रारंभ में आर्मीनिया में लगभग पाँच सहस्र कृष्णोपासक विद्यमान थे!

भारत ने कुछ अंशों में अरब की संस्कृति पर भी गहरा प्रभाव डाला। वहाँ का और ईरान का सूफी संप्रदाय वेदान्त से पूरी तरह प्रभावित था। अब्बासी खलीफाओं के प्रोत्साहन से बगदाद में आयुर्वेद, गणित, ज्योतिष आदि विविध विद्याओं के संस्कृत ग्रंथों का अरबी अनुवाद हुआ। अरबों ने ही भारत की दशमलव अंकगणना-प्रणाली को अनेकों भारतीय विद्याओं सहित योरप तक पहुँचाया।

दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विचारों के क्षेत्र में ही नहीं, वरन् साहित्यिक क्षेत्र में भी भारतीय कृतियों ने पाश्चात्य देशों को काफी अंश तक प्रभावित किया। 'पंचतंत्र' तथा 'हितोपदेश' का अनुवाद बहुत पहले ही विदेशी भाषाओं में हो चुका था।

प्रागैतिहासिक अमेरिका की सभ्यता भी (जिसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा) भारतीय संस्कृति से काफी प्रभावित थी। जब योरपवालों ने पहली बार अमेरिका की भूमि पर उपनिवेशों की स्थापना की, उस समय वहाँ हिन्दू रीति-रस्म एवं रहन-सहन का काफी प्रचलन था। मेक्सिको में गणेश की उपासना होती थी और माया-सभ्यता की कला दक्षिणी भारत की कला से मेल खाती थी। मेक्सिको तथा भारत के लोगों के लोकजीवन में भी बड़ा उल्लेखनीय सादृश्य था। सर विलियम जोन्स का कहना है कि दक्षिणी अमेरिका के पीरू-निवासी भारत के सूर्यवंशी थे। इसी से वे लोग सूर्य की उपासना किया करते थे। अतएव यदि पीरू में रामायण की कथा घर-घर प्रचलित पाई जाए, तो इसमें कोई बड़े अचरज की बात नहीं है! पीरू के प्राचीन काव्य-ग्रंथों के प्रत्येक पृष्ठ पर रामायण तथा महाभारत की छाप पाई जाती है। दक्षिणी अमेरिका के इंका-राजवंश के संस्थापक संभवतः भारत के 'आयर' (आर्य?) ब्राह्मण ही थे। इंका लोगों में जाति-पाँति की प्रथा प्रचलित थी और वे लोग यज्ञोपवीत धारण करने का संस्कार उसी प्रकार मनाते थे, जैसे कि आज भी भारत में ब्राह्मण मनाया करते हैं।

पीरू की भाषा के एक सहस्र से अधिक शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत-धातु से हुई है! श्री चमनलाल ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू अमेरिका' में लिखा है कि "इन अमेरिकनों का हिन्दुओं के चार युगों में विश्वास; उनकी गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली; पंचायत-प्रथा; इन्द्र, गणेश तथा अन्य हिंदू देवताओं की उपासना; हिन्दुओं के धार्मिक भजन-कीर्तन का प्रयोग और उनके जन्म-मरण-संस्कार; सती-प्रथा तथा विवाहोत्सव, आदि निस्संदेह सिद्ध करते हैं कि हिंदुओं ने ही सर्वप्रथम अमेरिका को ढूँढ़ा था।"

पाश्चात्य जगत् भारत का कितना ऋणी है, इसका अति सुन्दर मूल्यांकन प्रसिद्ध अमेरिकन चिंतक एवं लेखक विल ड्यूरण्ट ने इस प्रकार किया है—"भारतभूमि हमारी जाति की जन्मभूमि और संस्कृत भाषा योरपीय भाषाओं की जननी हैं; वह हमारे दर्शन और गणित की जननी है; बुद्ध के द्वारा वह ईसाई धर्म के आदर्शों की जननी है; ग्राम-पंचायतों द्वारा वह स्वशासन एवं प्रजातंत्रवाद की जननी है! भारत माता कई तरीकों से हम सबों की जननी है।"

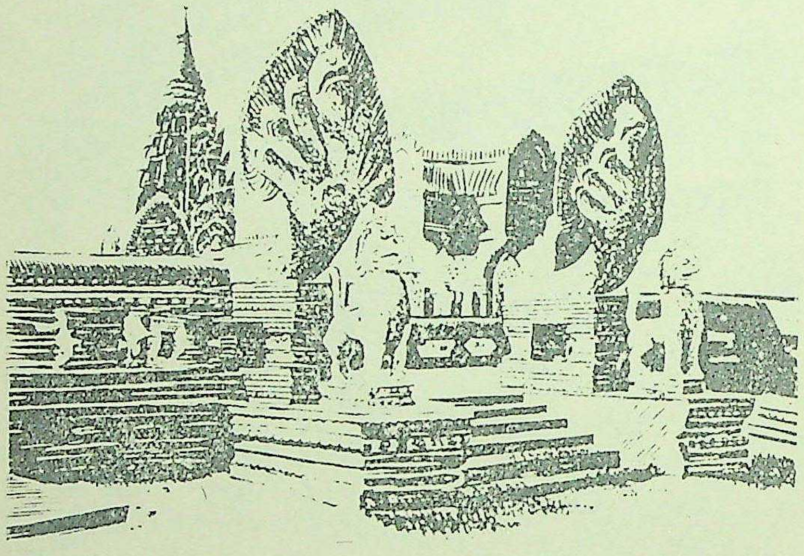

अंगकोर वाट के प्रख्यात हिंदू देवालय के प्रवेश-द्वार की पुनर्निमित भाँकी :: यह देवालय रामायण-महाभारत के दृश्यों के मूर्तिशिल्प से खचित है।

भारत तथा मध्य एशिया

मध्य एशिया भारतीय संस्कृति एवं बृहत्तर भारत का सुदृढ़ गढ़ था। यहाँ के विभिन्न प्रदेशों—बैक्ट्रिया, खोतान, मीरान, कूचा या कुचार, तुरफान तथा तन-हुआँग—में प्राप्त भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के अवशेष उक्त कथन की सत्यता को प्रमाणित करते हैं। दूसरी शताब्दी ईस्वी से झुण्ड के झुण्ड भारतवासी पंजाब तथा काश्मीर से जाकर तारीम नदी की तलहटी में बस गए थे और वहाँ उन्होंने अनेकों नगरों को बसाया था। ये लोग इस क्षेत्र में भारतीय धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति के सफल प्रचारक सिद्ध हुए। खोतान तथा उसके आसपास के प्रदेशों में अनेकों बौद्ध स्तूपों, मठों तथा विहारों के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। कहा जाता है कि खोतान शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'गोदान' शब्द से हुई है, जो सिद्ध करता है कि यहाँ ब्राह्मण-संस्कृति का बोलबाला था। खोतान में बौद्ध धर्म का प्रचार विरोचन नामक काश्मीरी महात्मा ने किया था। यह अंत में विद्या का एक महान् केन्द्र बन गया। यहाँ पर महायान शाखा का गोमती-विहार नामक एक प्रसिद्ध बौद्ध विश्वविद्यालय था, जहाँ एशिया के विभिन्न भागों से (विशेषतया चीन से) लोग पढ़ने आया करते थे। यहाँ का कुलपति बुद्धसेन नामक पंडित था, जो भारतीय था। चौथी शताब्दी ई० के फाहियान नामक यात्री ने खोतान को बौद्ध धर्म का एक जबरदस्त केन्द्र पाया था। पुरातत्वीय खुदाई से भी यह ज्ञात हुआ है कि यहाँ की भाषा, कला, रीति-रिवाज आदि पर भारत का गहरा प्रभाव पड़ा था। मध्य एशिया की भारतीय बस्तियों की एक विशेषता यह थी कि वहाँ के दक्षिणी भाग में खरोष्ठी लिपि और प्राकृत का तथा उत्तर में ब्राह्मी लिपि और संस्कृत का प्रचार था। दक्षिण में खरोष्ठी में लिखी प्राकृत का वहाँ की राजभाषा के रूप में प्रचलन था।

यह उल्लेखनीय बात है कि संस्कृत भाषा में बौद्ध धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त यहाँ से प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष के दो नाटक भी मिले हैं। कूचा (कुचार) ने भारतीय संस्कृति के प्रसार में विशेष भाग लिया था। वहाँ का राजा बौद्ध धर्म का प्रगाढ़ भक्त था। लगभग दस हजार बौद्ध मंदिर तथा सैकड़ों विहार वहाँ बने हुए थे। कई भारतीय कूचा में जाकर बस गए थे और वहाँ के स्थानीय निवासियों के साथ अन्तर्विवाह करके उनके समाज में घुल-मिल गए थे।

भारत और चीन

बृहत्तर भारत तथा एशिया के सांस्कृतिक इतिहास में भारत और चीन का सांस्कृतिक सम्पर्क बड़ा महत्व रखता है। कुमारजीव सरीखे महान् भारतीय प्रचारकों की बदौलत मध्य एशिया के मार्ग से बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति का चीन में प्रवेश हुआ था। कहते हैं, चीन और भारत के सांस्कृतिक सम्पर्क

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

का श्रीगणेश लगभग ६० ई० में हुआ था, जब हानवंशी सम्राट् मिग-ती (५८-७६ ई०) ने यह स्वप्न देखा था कि एक स्वर्ण-पुरुष उठकर उसके राजप्रासाद में प्रविष्ट हो रहा है। दरबारियों का विश्वास था कि यह स्वर्णपुरुष था भारतीय देवता 'फो तो' (भगवान् बुद्ध)! फलतः सम्राट ने अठारह चीनियों का एक शिष्ट-मंडल बौद्ध धर्म संबंधी सामग्री एकत्रित करने के लिए भारत भेजा। इस शिष्ट-मंडल को बौद्ध मूर्तियाँ, ग्रंथ तथा विद्वानों को लाने की आज्ञा दी गई थी। तभी से दोनों देशों में शिष्ट-मंडलों तथा चिंतक तीर्थ-यात्रियों का परस्पर आना-जाना होता रहा और फलस्वरूप चीन तथा भारत के बीच दृढ़ सांस्कृतिक मैत्री हो गई। चीन में पहुँचनेवाले प्रथम भारतीय विद्वान् कश्यप मातंग तथा धर्मरक्ष थे। उन लोगों के स्वागतार्थ चीन में पहला बौद्ध मठ राजधानी लोयांग के पास पो-मा-सी (श्वेताश्व) विहार के रूप में बनवाया गया। यह मठ तीन शताब्दियों से भी अधिक काल तक चीन में बौद्ध धर्म का सब से बड़ा गढ़ बना रहा। टैङ्-वंश का शासनकाल (६१८-९०७ ई०) भारत-चीनी सांस्कृतिक साहचर्य एवं चीन में बौद्ध धर्म का स्वर्णयुग माना जाता है। उन दिनों काश्मीर संस्कृत विद्या तथा बौद्ध साहित्य का प्रमुख केन्द्र था। वहीं के अधिकांश भारतीय विद्वानों ने चीन में भारतीय संस्कृति के प्रसार का स्तुत्य कार्य किया था। सहस्रों भारतीय व्यापारी, संन्यासी तथा विद्वान् चीन के प्रमुख नगरों में भारतीय ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित करने का प्रशंसनीय एवं अनुपम कार्य कर रहे थे। नालन्दा-विश्वविद्यालय के विद्वानों को इस कार्य के लिए विशेष श्रेय प्राप्त है। सैकड़ों बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया और भारतीय विद्वान् अपार कष्ट झेलते हुए चीन में जाकर १२०० वर्षों तक भारतीय ग्रंथों का चीनी भावान्तर करते रहे। चीन के ऊपर भारतीय प्रभाव केवल धर्म के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था, वरन् चीनी कला, शिल्प, संगीत तथा विज्ञान भी भारतीय प्रभाव से अछूता नहीं रहा। चीन की मूर्ति-कला पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। चीनी रईस भारतीय संगीत के प्रेमी एवं संरक्षक थे। भारतीय खगोलविद्या, गणित, अंकगणित तथा आयुर्वेद को भी चीन में बड़ा प्रोत्साहन प्रदान किया गया तथा उक्त विषय के ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद करवाया गया। डॉ० तैन का कहना है कि चीनी संस्कृति पर भारतीय विचारों की गहरी छाप दृष्टिगोचर होती है।

चौथी शताब्दी ई० में चीन के रास्ते बौद्ध धर्म एवं भारतीय संस्कृति का प्रवेश कोरिया में हुआ और पाँचवी शताब्दी तक सारा कोरिया बुद्ध का उपासक बन गया। प्राचीन कोरिया के [illegible] नगर सिल्ला के एक समूचे मंदिर का अलंकरण भारतीय शैली में ही किया गया है।

जापान

चीन की तरह जापान को भी बौद्ध धर्म का वरदान मिला, किंतु सीधे भारत से नहीं, वरन् चीन और कोरिया की राह से। छठी शती ई० में कोरिया के राजा ने जापान के सम्राट् के साथ मैत्री स्थापित करने की इच्छा से उसकी सेवा में बुद्ध की मूर्ति तथा बौद्ध ग्रंथों का उपहार भेजा था। उसके साथ ही एक पत्र भी था, जिसमें लिखा था कि "बौद्ध धर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म है तथा इसको अंगीकार करनेवालों को अपरिमित लाभ पहुँचा है। यह भारतवर्ष से कोरिया तक के सभी देशों में मान्य हो चुका है।" शीघ्र ही बौद्ध धर्म को जापानी राजाओं का प्रबल संरक्षण प्राप्त हो गया और सातवीं शताब्दी ई० के अंत में जापान में यह घोषणा प्रकाशित कर दी गई कि प्रत्येक घर में बुद्ध का मंदिर होना चाहिए। आठवीं शताब्दी ई० जापान के इतिहास में नारा-युग कहलाती है। इस युग में वहाँ बौद्ध धर्म का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि सम्राट् शोमू (७२४-७५६ ई०) अपने को भगवान् बुद्ध का अनन्य भक्त कहने में गर्व एवं गौरव का अनुभव करता था। उसने बुद्ध की काँसे की एक विशालतम प्रतिमा बनवाई, जिसकी ऊँचाई ५३।। फीट तथा वजन ५०० टन है! जापान के होरीयूजी नामक स्थान के मंदिर की दीवारों पर अजन्ता की चित्रकारी की नकल उतारी गई है।

तिब्बत

तिब्बत में भारतीय संस्कृति के प्रचार का इतिहास सातवीं शताब्दी में प्रारंभ हुआ, जब वहाँ के राजा स्रोङ-सेन-गम्पो ने नेपाल तथा चीन की राजकुमारियों से विवाह करके और उनके धर्म से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म को अंगीकार कर लिया। तब भारतीय संस्कृति के ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद कराया गया और अनेकों भारतीय विद्वान् तिब्बत गए। बहुतेरे बौद्ध धर्मावलंबी तिब्बती शिक्षार्थी भी भारतीय विश्वविद्यालयों में विद्योपार्जन करने आए। नालन्दा-विद्यापीठ के प्रसिद्ध विद्वान् शांतरक्षित ने भी तिब्बत के राजा ति-सांग-दे-सान के निमंत्रण पर वहाँ पदार्पण किया और राजा ने उनके स्वागतार्थ एक पृथक् मठ का निर्माण करवाया। तब आठवीं शताब्दी के मध्य में नालंदा के दूसरे प्रसिद्ध विद्वान् पद्मसंभव और ग्यारहवीं शताब्दी में विक्रमशिला-विश्वविद्यालय के प्रमुख आचार्य अतीश भी भारतीय संस्कृति का संदेश लेकर तिब्बत पहुँचे। इस प्रकार बौद्ध धर्म के माध्यम द्वारा धर्म, दर्शन,

साहित्य और कला के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति से प्रभावित होकर तिब्बत ने भरपूर लाभ उठाया। वस्तुतः असभ्यता और बर्बरता के पंक से बाहर निकालकर तिब्बत को सभ्यता के आसन पर बिठाने का श्रेय भारत को ही है।

लंका

कहते हैं, ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी में विजयसिंह नामक एक भारतीय राजकुमार लंका पहुँचा था और उसने वहाँ की एक राजकुमारी से विवाह कर लिया था। कहा जाता है कि उसी के नाम पर इस द्वीप का नाम सिंहल द्वीप पड़ा और वही सिंहली जाति का पुरखा माना जाता है। ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी में महेन्द्र और संघमित्रा (अशोक महान् के पुत्र तथा कन्या) लंका गए और उन दोनों ने वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया। बहुत शीघ्र ही लंका में भिक्षु-भिक्षुणियों के संघ स्थापित किए गए तथा बौद्ध धर्म लंका का राजधर्म बन गया। प्रसिद्ध बौद्ध धर्म-दूत बुद्धघोष, जिसे बौद्ध धर्म का शंकराचार्य कहते हैं, पाँचवीं शताब्दी ई० के मध्य में लंका गया। वहाँ उसने हीनयान शाखा के अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों की अधिकारपूर्ण टीका तैयार करके उनका संपादन किया। बौद्ध धर्म से प्रभावित होने पर लंका की रचनात्मक प्रतिभा वहाँ के साहित्य एवं कला में प्रस्फुटित हुई। इस प्रकार बौद्ध धर्म लंका में भारतीय संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार का प्रभावशाली माध्यम सिद्ध हुआ। सिगिरिया के भित्तिचित्रों पर बाघ तथा अजंता की चित्रकला की स्पष्ट छांया दृष्टिगोचर होती है। उधर अनुराधापुर एवं पोलोन्नरुवा का शिल्प गुप्तकालीन कला से प्रभावित है।

ब्रह्मदेश

ब्रह्मदेश में बौद्ध धर्म, दर्शन तथा संघ-अनुशासन सम्बन्धी विशाल साहित्य पाली भाषा में पाया जाता है। वहाँ संस्कृत-साहित्य के प्रचार के भी चिह्न प्राप्त हुए हैं। वहाँ के बौद्ध धर्मशास्त्रों पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्टतया अंकित है। ब्रह्मदेश के रहन-सहन, धर्मशास्त्र तथा कला, सभी पर भारतीय प्रभाव पड़ा है। जहाँ तक कला का संबंध है, पीगू का प्रसिद्ध 'आनंद-मंदिर' भारतीय मस्तिष्क की ही उपज है। आधार से लेकर शिखर तक इस मंदिर के प्रत्येक भाग पर भारतीय प्रतिभा एवं शिल्प की छाप अंकित है। तभी तो अपने देश पर भारतीय संस्कृति का ऋण स्वीकार करते हुए एशियाई महासम्मेलन में ब्रह्मदेश के शिष्ट-मंडल के नेता ने कहा था—"मैं तो विदेश नहीं, अपने ही घर आया हूँ। हम संस्कृति के केन्द्र से (भारत से) संबद्ध हैं। हम विचार में समीप हैं, भूगोल में समीप हैं, समाज और संस्कृति में भी समीप हैं।"

दक्षिण-पूर्वीय एशिया

'बृहत्तर भारत' की परिधि के अन्तर्गत दक्षिण-पूर्वीय एशिया के सभी भाग आते हैं। ईस्वी सन् के आरम्भ से ही कंबोज (कम्बोडिया), स्याम, चंपा, मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि प्रदेशों के साथ भारत के सांस्कृतिक तथा राजनीतिक संबंध सुदृढ़ हो गए थे। इनमें से कुछ द्वीप धर्म और शिक्षा के लिए भारत के अत्यधिक ऋणी हैं तथा कई द्वीपों की तो सभ्यता बिल्कुल भारतीय ही है। उस समय भी जब कि भारत में हिंदुओं की राज्य-शक्ति कम हो गई थी, इन स्थानों में भारतीय सभ्यता अपनी चरम सीमा को पहुँची हुई थी। आजकल भी पूर्वीय द्वीपसमूह के कुछ द्वीप (जैसे बाली) सभ्यता और संस्कृति में पूर्णतया भारतीय बने हुए हैं। कहा जाता है कि "बाली द्वीप में हिंदू धर्म जिस पवित्रता के साथ जी रहा है, उस पवित्रता के साथ वह अब भारत में भी उपलब्ध नहीं है!" इस क्षेत्र के राजाओं तथा नगरों के नाम संस्कृत में मिलते हैं और यहाँ के निवासी शिव, विष्णु, लक्ष्मी तथा सरस्वती देवी के उपासक हैं। यहाँ की स्थापत्य तथा मूर्तिकला पर गुप्तकालीन शैली का प्रभाव है।

दक्षिण-पूर्वीय एशिया में भारतीय संस्कृति के महान् स्मारक-चिह्न हैं 'अंगकोर वाट' तथा 'बोरोबुदुर' के प्रसिद्ध मंदिर। पहला कंबोज में (कम्बोडिया) तथा दूसरा जावा में है। इनके अवशेष यह स्मरण कराते हैं कि कि सारा पूर्वीय एशिया एक समय भारतीय संस्कृति की सुगंध से सुगन्धित था। अंगकोर वाट में विष्णु का एक विशाल मंदिर है, जिसका निर्माण बारहवीं शताब्दी में वहाँ के राजा सूर्यवर्मन् द्वितीय के शासनकाल में हुआ था। यह मंदिर प्रस्तर में अनूठे महाकाव्य जैसा है, जिसमें रामायण तथा महाभारत के दृश्यों को मूर्तियों द्वारा दर्शाया गया है। 'बोरोबुदुर' जावा में हिन्दू तथा बौद्ध धर्म का एक महान् देवालय है। यह एक विशाल स्तूप है। यह पत्थर के रूप में मानो एक वीरगाथा है। यहाँ लगभग दो हजार मूर्तिशिल्पों द्वारा जातकों में वर्णित भगवान् बुद्ध के जीवन की घटनाओं को अंकित किया गया है। प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ फरग्युसन का मत है कि बोरोबुदुर सहित जावा के अन्य मंदिरों का निर्माण करने के लिए शिल्पी भारतवर्ष से ही बुलाए गए थे।

कितना महान् था यह जगद्गुरु भारत, जिसने चारों ओर के देशों को अपने सांस्कृतिक गौरव एवं सौरभ से इस प्रकार सुवासित किया था!

प्राचीन और मध्यकालीन चीन—(१)
११२३ ई० पू० से प्रथम शती ई० तक

चीन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आदि काल पर खण्ड २ में प्रकाश डाला जा चुका है। चीन की अपनी यह खास विशेषता है कि यहाँ आदि काल ही से लिखित इतिहास की अटूट शृंखला उपलब्ध है। इसका कारण यह है कि सरकारी तौर पर विधिवत् इतिवृत्त लिखने की दृढ़ परंपरा वहाँ रही है। इससे चीनी इतिहास का विस्तारपूर्वक चित्रपट प्रस्तुत करना अन्य देशों की अपेक्षा सुविधाजनक है।

शांग-काल में ही 'जो' जाति ने पश्चिमी चीन में अपना एक छोटा-सा राज्य स्थापित कर रक्खा था। तुर्की जाति की एक शाखा होने के कारण उसकी संस्कृति चीन की संस्कृति से भिन्न थी। उसके पास काँसे के शस्त्रास्त्र थे और युद्ध में वह रथों का व्यवहार करती थी। पश्चिमी चीन में उसका प्रवेश दूसरी जातियों के दबाव से हुआ। शांग-संस्कृति के सम्पर्क से उसकी संस्कृति की मूल तुर्की विशेषता कम हो गई।

'वू वांग' और 'जो कुंग'

राज्य-सत्ता पर अधिकार होते ही 'जो' योद्धाओं ने तीन वर्ष के अनवरत युद्ध के बाद पूर्व-प्रदेश के ५० छोटे राज्यों को अपने अधीन करके शांग-वंश के अवशिष्ट राजनीतिक प्रभाव को नष्ट किया। सम्राट् वेन वांग के युद्ध-कुशल पुत्र फा ने, जिसका पौराणिक नाम 'वू वांग' था, राज्य की रक्षा और विजय को स्थायी बनाने के निमित्त अपने समर्थकों और सहायकों को उनकी मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा के अनुरूप पुरस्कार में भूमि वितरित की। उसके इस कार्य से राज्य-सत्ता के विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ सामन्तवाद का उदय हुआ, जिसके कारण राज्य के विस्तार में बड़ी सहायता मिली। चीनी साहित्य के प्रसिद्ध 'काव्य-ग्रन्थ' में सामन्त-प्रथा के दुर्गुणों का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है, जिससे पता चलता है कि सामंतों द्वारा कृषकों से बेगार कराना बहुत पुरानी कुरीति है। भूमि पर अल्पसंख्यक व्यक्तियों का अधिकार हो जाने पर बलात् काम लेने की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है।

सामाजिक क्षेत्र में भी इस युग में मौलिक परिवर्तन हुए। वू वांग के मुख्य काय जंत्री में सुधार, विभिन्न स्तरों की पाठशालाओं की स्थापना, रोगियों तथा वृद्धों के विश्रामगृहों का निर्माण, राजधानी को हटाकर सी-आन-फू ले जाना आदि थे।

वू वांग की मृत्यु के बाद उसके छोटे भाई 'जो कुंग' के संरक्षण में उसका पुत्र 'चुंग वांग' सिंहासनासीन हुआ। चीन के इतिहास में जो कुंग (तान) को अति आदर और श्रद्धा का स्थान प्राप्त है। उसकी गणना चीन के तीन महान् सत्पुरुषों में की जाती है। उसने भूमि-व्यवस्था में सुधार के लिए 'कूप-क्षेत्र' की प्रथा चलाई। इसके अंतर्गत प्रत्येक सामंत की कृषि-योग्य भूमि को ३० 'मौ' (भूमि की चीनी नाप) लम्बे और उतने ही चौड़े वर्गों में विभक्त किया जाता था। इन भूमिखंडों को १० 'मौ' वर्ग के ९ भागों में बाँटा जाता था। बीच के वर्ग में एक कुआँ होता था। किनारे के आठ खंड आठ कृषक परिवारों को दिए जाते थे, किन्तु बीच का भाग सामंत की सम्पत्ति होती थी। जो कुंग ने उत्पादन बढ़ाने के लिए भी नियम बनाए। कृषि-भूमि पर पेड़ लगाने का निषेध किया गया। केवल निवासस्थान के निकट रेशम के कीड़ों के लिए शहतूत के पेड़ लगाने की आज्ञा दी गई।

आगे चलकर इसी वंश में 'गंभीर मू' के नाम से विख्यात एक राजा हुआ। वह लंबी यात्राएँ करने में अद्वितीय था!

अनुश्रुति के अनुसार उसने 'चलायमान मरु' (ईरान) तथा 'हरे पक्षियों के देश' (संभवतः भारत) की भी यात्रा की थी।

बाद के राजाओं में ली वांग कठोर दमन के लिए प्रसिद्ध है। जब जनता ने ली वांग की इस दमन-नीति की खुली आलोचना की, तो आलोचना का अन्त करने के लिए उसने संदिग्ध व्यक्तियों को प्राणदंड दिया। इसके फलस्वरूप जब विरोध का स्वर बंद हो गया, तो उसने अपने प्रधान मंत्री से पूछा—"अब कहाँ हैं सब बकवास करनेवाले?" प्रधान मंत्री का उत्तर स्मरणीय है! उसने कहा—"जो कुछ आपने किया है, वह तो जनता की वास्तविक भावनाओं को दबाने के लिए आवरण मात्र है; किन्तु यह जान लीजिए कि जनता के मुँह को बंद करना नदी के प्रवाह को रोकने से भी अधिक भयावह है! प्रवाह का अवरोध नदी को अन्य दिशाओं में फैलने के लिए बाध्य करता है और स्वाभाविक प्रवाह की अपेक्षा अधिक हानि पहुँचाता है। जनता की भी यही दशा है। जिस प्रकार नदी की बाढ़ के संकट का निवारण उसके उचित प्रवाह से होता है, उसी प्रकार जनता पर प्रभाव रखने के लिए भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता देना आवश्यक है।"§ इस घटना के कुछ ही समय बाद प्रजा के विद्रोह के कारण ली वांग को प्राण लेकर भागना पड़ा!

समाज-व्यवस्था

चीन की प्राचीन समाज-व्यवस्था में मान की दृष्टि से प्रथम स्थान दार्शनिकों तथा विचारकों को दिया गया। इसके बाद क्रमशः कृषकों, कारीगरों, वणिकों (जो उत्पादक न होने के कारण हीन माने जाते थे), गृहिणियों और अंत में हिंसा-जीवियों की गणना की गई है।

आर्थिक जीवन में स्थिरता आते ही व्यावसायिक संघों के रूप में नागरिक समाज के संगठन में एक अपूर्व परिवर्तन हुआ। संघों के सदस्य एक दूसरे से रक्त द्वारा सम्बन्धित नहीं थे। यह मात्र एक ही व्यवसाय के व्यक्तियों का कृत्रिम पारिवारिक संगठन था। ग्रामीण जीवन को नियमित बनाने में जो स्थान ग्राम के अग्रजों को प्राप्त था, वही स्थान नगर के जीवन में संघ के अग्रजों का था।

इसी काल में सांस्कृतिक आंदोलन का प्रतिनिधित्व करनेवाले पुजारियों, कुल, ग्राम तथा व्यावसायिक संघों के बीच इतिहास में अपने ढंग के एक नये निराले शासक वर्ग की सृष्टि हुई। यह था 'मैन्डरिन' विद्वानों का वर्ग। राजा और प्रजा के बीच मैन्डरिन मध्यस्थ का कार्य करते थे। दूरस्थ प्रदेश के राजकाज में वे बहुत उपयोगी थे। सम्राट् के लिए कर वसूल करना और न्याय-व्यवस्था करना इनका मुख्य काम था।

पुरातन युग में ही चीनियों ने अनूठी प्रतिभा का परिचय दिया था। उनके कार्य-कलापों में विशेष उल्लेखनीय हैं—लेखन-कला, ज्योतिष, जंत्री, दिशासूचक यंत्र, गणित, तौल की दशमलव-योजना, संगीत विद्या, वाद्ययंत्र तथा स्वरलिपि, कृषि-यंत्र, औषधि-शास्त्र, रेशम, चित्रकला, आय-व्यय का खाता, निबंध-शास्त्र, कविता तथा गल्प-साहित्य, इत्यादि। इन्हें लेकर एक विस्मयजनक सूची बनती है! 'जो' युग के पूर्व-काल में राज्य-संचालित समाजवाद, क्रय-विक्रय के नियंत्रण, नगर-विकास तथा सिंचाई की योजनाओं के प्रारम्भिक प्रयासों का भी स्पष्ट आभास मिलता है।

शासन-व्यवस्था का उचित निरूपण इसी काल में हुआ। 'जो कुंग' के समय से उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक शासन-व्यवस्था का स्वरूप ऐसा ही बना रहा। भारतीय इतिहास में चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में पाटलिपुत्र के प्रबंध के लिए जैसे विभागों की स्थापना हुई थी, वैसे ही विभाग 'जो' राज्य-काल में भी बनाये गये थे।

पाँच राज्यों की शताब्दी

'जो' शासक पिंग वांग की मृत्यु से लेकर कुङ्ग फू-त्जू के जन्म तक के सौ वर्ष 'पाँच राज्यों की शताब्दी' कहलाते हैं। केन्द्रीय राज्य-सत्ता के क्षीण होने पर अनेक छोटे राज्यों ने स्वतंत्र सत्ता धारण की। विदेशी बर्बरों से युद्ध करने के अतिरिक्त ये राज्य पारस्परिक युद्धों में भी संलग्न रहते थे। इनमें से चौ, सुंग, जिन, चिन और चू अधिक शक्तिशाली थे। लगभग ५४६ ईसवी पूर्व चीन के चौदह राज्यों के प्रतिनिधियों ने सुंग की राजधानी में एक प्राचीन 'राष्ट्र-संघ' की स्थापना की थी। पर यह राज्य-मंडल अधिक दिन न चल सका। स्थापना के थोड़े ही दिन बाद चार बड़े राज्यों ने आपस में युद्ध छेड़कर इसका अन्त कर दिया।

दार्शनिक धर्मप्रचारकों की शृंखला

युद्ध और अव्यवस्था के वातावरण में स्वतंत्रबुद्धि दार्शनिकों को नवीन विचारों के प्रचार के लिए विशेष अवसर मिला। चीन का दर्शन प्रकृति-पुरुषवादी है। भारतीय सांख्य की भाँति चीनी दर्शन में द्वन्द्ववाद का आभास मिलता है, जिसके अनुसार सम्पूर्ण जगत् दो प्रधान तत्त्वों की प्रक्रिया से बना माना जाता है, यद्यपि इस संबंध में 'ची' (वायव्य रूप) और 'ली' (स्थूल रूप) की कल्पना बाद की है।

---

§ हर्ष—चीन का प्राचीन इतिहास।

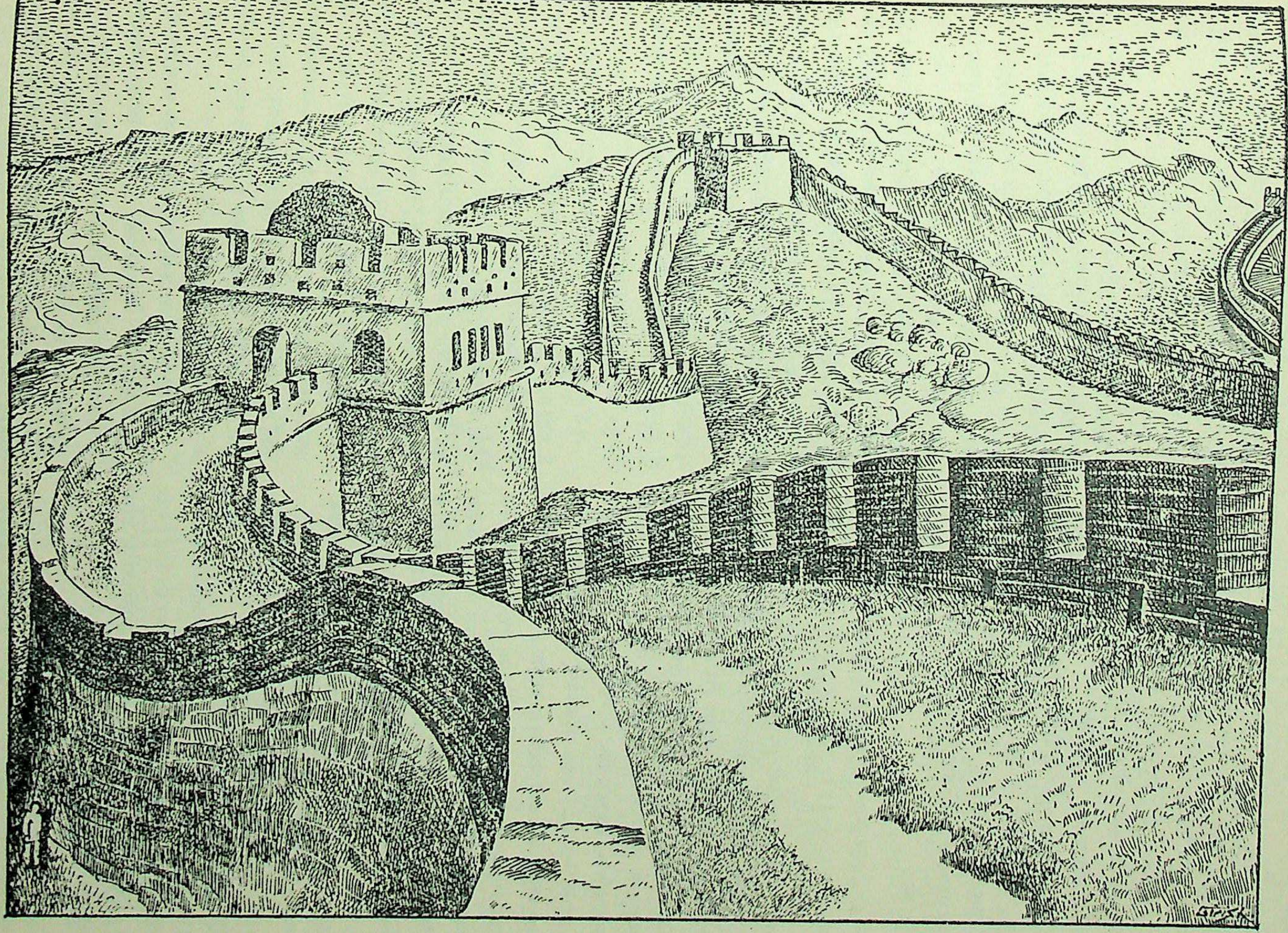

प्राचीन चीन की निर्माणकला की साक्षी वहाँ की १,५०० मील लंबी 'महान् दीवार', जिसका निर्माण तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व हुआ था।

जिस प्रकार वेदों में यत्र-तत्र रोगमुक्ति के लिए प्राकृतिक शक्तियों (वायु, जल, आदि) की स्तुति तथा आह्वान किया गया है, उसी प्रकार चीन के दार्शनिक ग्रंथों में भी स्वास्थ्य-लाभ तथा मांगलिक तावीजों के लिए वायु, जल आदि की पूजा का वर्णन मिलता है। आत्मवाद के क्षेत्र में 'यांग' और 'यिन' के सम्मिश्रण के अनुपात के अनुसार पूर्वजों की सद्-असद् आत्मा के प्रति श्रद्धा अथवा भय का विवरण मिलता है। इसी कारण सभी युगों में पूर्वज-पूजा चीनी धर्म का प्रमुख अंग माना जाता रहा। लौकिक क्षेत्र में वहाँ भूत-प्रेत इत्यादि की पूजा का भी प्रचलन था। सम्राट् राष्ट्र का सर्वप्रमुख धर्माधिकारी माना जाता था। इसी कारण वह 'देवपुत्र' की उपाधि धारण करता था।

लाओत्जे और कुंग फू-त्जू (कन्फ्यूशियश)

धर्म-प्रचारकों में सर्वप्रथम लाओत्जे का नाम आता है। उसका जन्म ६०४ ईस्वी पूव हुआ था। यह वह समय था, जब कि सम्पूर्ण मानव-जगत् शताब्दियों की अलस निद्रा के बाद कौतूहल तथा जिज्ञासा से प्रेरित होकर जागृति और चैतन्य के लक्षण दिखा रहा था। यूनान, ईरान, भारत तथा चीन में इस युग में एक साथ जागृति की लहर उठी थी। चीन में इस नवजागृति का प्रथम प्रतीक लाओत्जे था। उसका मत कुंग फू त्जू से भिन्न था। उसके शांत किन्तु रहस्यमय विचारों की आधारशिला थी मूल प्रकृति से सामंजस्य स्थापित करना। इस अभिप्राय से वह जीवन को 'दौ' मार्ग पर लाना आवश्यक समझता था। विभिन्न टीकाकारों ने इस शब्द के अलग-अलग अर्थ लगाए हैं। लाओत्जे का कहना था कि "जो जानते हैं, वे बताते नहीं; जो बताते हैं, वे जानते नहीं।"

कालान्तर में लाओत्जे के सिद्धान्तों में बड़ा परिवर्तन हुआ। उसके सिद्धान्तों के मूल रूप को विचारकों ने 'ताओवाद' तथा परिवर्तित रूप को 'दौवाद' कहा है।

लाओत्जे के कुछ ही समय बाद चीन के सर्वप्रसिद्ध दार्शनिक कुंग फू-त्जू (कन्फ्यूशियश) का उदय हुआ। कुंग का जन्म ५५० ई० पू० हुआ था। चीन के जीवन, सामाजिक व्यवस्था और आचार-विचार पर कुंग फ-त्जू का व्यापक प्रभाव पड़ा है। उसके जीवन और विचारधारा पर अन्यत्र प्रकाश डाला जा चुका है (दे० खंड २, पृ० ७४२-७४६)।

'मुंग को', 'ज्वांग-त्जू' और 'मो दी'

कुंग फू-त्जू के बाद उसके मत के मुख्य प्रचारक और व्याख्याता 'मुंग को' का उल्लेख करना अनिवार्य है। 'मुंग को' यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो का समकालीन था। उसका कथन था कि प्रत्येक मनुष्य जन्मना सात्विक वृत्ति का होता है और सामाजिक समस्याओं का उद्भव मनुष्य के स्वभाव से नहीं, वरन् शासन की बुराइयों से होता है। अतएव उसकी राय थी कि या तो दार्शनिक राजा हो अथवा राजा ही दार्शनिक हो जाय।

उसका मत था कि अच्छा शासक अन्य देशों के विरुद्ध युद्ध नहीं करता—उसके शत्रु हैं दरिद्रता और अज्ञान, जिनके विनाश के लिए वह सर्वदा प्रयत्नशील रहता है। दरिद्रता और अज्ञान से अपराध और अव्यवस्था का जन्म होता है, अतएव जीविकोपार्जन के साधनों के अभाव के कारण किए गए अपराधों के लिए दंड देना स्वयं अपराध है।

उसने युद्ध को अपराध माना और उसकी घोर निन्दा की। एक स्थल पर उसने लिखा है कि जो अपने को व्यूह-रचना तथा युद्ध में कुशल मानते हैं, वे महान् अपराधी हैं! उसने कहा, "जब राजा बड़ी भूल करे, तो मंत्री को उसका विरोध करना चाहिए। यदि बार-बार कहने पर भी राजा कान न दे, तो उसे सिंहासन से हटा देना चाहिए।" "जो जनता का हृदय प्राप्त कर लेता है, वह राज्य प्राप्त कर लेता है; जो हृदय खो देता है, वह राज्य भी खो देता है।" ८४ वर्ष की अवस्था में २८९ ई० पू० उसका देहान्त हुआ।

कुंग फू-त्जू के मत के प्रचार में जो स्थान 'मुंग को' का रहा है, वही लाओत्जे के दौवाद के प्रचार में 'ज्वांग-त्जू का' था। यदि चीनी विचारधारा पर कुंग का इतना गहरा प्रभाव न होता, तो ज्वांग-त्जू को कहीं अधिक ख्याति मिलती। अपने गुरु की भाँति उसे भी बाह्य प्रदर्शन और आडम्बर से चिढ़ थी। उसके प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यमय विचारों के दृष्टान्त के रूप में एक कथा कही जाती है—"मैंने एक बार स्वप्न में देखा कि मैं एक तितली हूँ। मुझे केवल तितली होने की चेतना थी, अपने मानव व्यक्तित्व के प्रति मैं अचेतन था। अकस्मात् जग जाने पर मैं नहीं जानता हूँ कि तब मैं मनुष्य था और तितली होने का स्वप्न देख रहा था अथवा वस्तुतः मैं एक तितली हूँ और अब मनुष्य होने का स्वप्न देख रहा हूँ!"

जो-वंश की अंतिम शताब्दियों में न केवल लाओत्जे और कुंग के अनुयायियों ने अपने मतों का प्रचार किया, वरन् अन्य दार्शनिक परिपाटियों का भी प्रभाव फैला। काशी और एथेन्स की भाँति लोयांग में भी, जो चीन में शिक्षा तथा राज्य-सत्ता का तत्कालीन प्रधान केन्द्र था, विचार-विमर्श तथा पांडित्य-प्रदर्शन के लिए दार्शनिकगण बड़ी संख्या में एकत्र हो रहे थे। इनमें 'मो दी' ने समाजवाद और पारस्परिक स्नेह के सिद्धांत

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

का प्रतिपादन किया । उसका कथन था कि एक शिशु की संग्रह करने की इच्छा से लेकर साम्राज्य-स्थापना की इच्छा तक सब प्रकार का स्वार्थ ही बुराइयों का मूल है ! इस शांतिवाद से आरम्भ कर 'मो दी' ने राज्य-सत्ता के सिद्धांत की इतनी कठोर भर्त्सना की कि अधिकारियों के हृदय में भय समा गया ! उसके आकर्षक सिद्धान्तों की अव्यावहारिकता का 'मुंग को' ने घोर विरोध किया । चिन वंश के प्रथम सम्राट् ह्वांग दी ने जब सभी प्राचीन ग्रंथों को भस्म करने की आज्ञा दी, तब कुंग के मत के ग्रंथों के साथ 'मो दी' के मत की भी सभी पुस्तकें नष्ट कर दी गईं ।

चौथी शताब्दी ई० पू० यांग जू ने इन सब से सर्वथा विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया । उसने घोर नैतिक अहंवाद के आधार पर दर्शन की एक परिपाटी चलाई । यांग जू का मत था कि जीवन दुःखपूर्ण है, अतएव उसका मुख्य प्रयोजन सुख ही है । देवताओं का अस्तित्व नहीं है । मृत्यु के बाद स्वर्ग आदि की कल्पना मिथ्या है । भारत में चार्वाक और यूनान में एपीक्योर नामक दार्शनिकों ने भी इसी प्रकार के सिद्धान्तों का प्रचार किया था ।

परन्तु इन सब दार्शनिकों का सम्मिलित ज्ञान भी बढ़े हुए भ्रष्टाचार को, जिसके कारण 'जो' राज्य का अन्त हुआ, रोक सकने में असमर्थ सिद्ध हुआ ।

चिन राजवंश :: प्रतापी 'शी ह्वांग दी'

'जो वंश' के अंतिम राजा नान वांग ने लगभग साठ वर्ष (३१४-२५६ ई० पू०) तक राज्य किया । आंतरिक विद्रोह, दुर्भिक्ष तथा बर्बर हूणों के आक्रमणों ने राज्य की शक्ति को क्षीण कर दिया था । नान वांग की संधियाँ तथा अन्य प्रयत्न आगंतुक संकट में राज्य को अक्षुण्ण न रख सके । नान वांग की मृत्यु के बाद राज्य का संरक्षक चिन के राजा द्वारा बन्दी कर लिया गया ।

चिन वंश का सब से प्रतापी राजा 'शी ह्वांग दी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ । चीन राष्ट्र का वास्तविक संस्थापक यही था । इसी ने राष्ट्र को 'चिन' की संज्ञा दी, जो कालान्तर में 'चीन' शब्द में बदल गया । विरोधी राज्यों पर विजय प्राप्त करके उसने सम्पूर्ण देश को एकता के सूत्र में बाँध दिया ।

हूणों के प्रबल आक्रमणों को रोकने के लिए सीमा पर बनी हुई चौकियों तथा परकोटों को क्रमबद्ध करने का महान् कार्य भी शी ह्वांग दी ने ही किया । रक्षापंक्ति की इस १,५०० मील से अधिक विस्तृत श्रृंखला के निर्माण में लाखों व्यक्तियों से बलात् काम लिया गया था । पहले इस बेगार में बन्दियों, अपराधियों और बधिकों को झोंका गया था । इसके बाद कुंग के मतानुयायी विद्वानों की बारी आई थी ! वर्षों के कठिन परिश्रम के बाद चीन की यह प्रसिद्ध दीवार बनकर तैयार हुई । हूणों के आक्रमणों को रोकने में कुछ समय तक यह दीवार सफल रही । इसके अतिरिक्त राष्ट्र की रक्षा के लिए सम्राट् ने अन्य उपाय भी किए । उसने पहाड़ी टीलों को काटकर सड़कों तथा पुलों का निर्माण किया और राज्य के विभिन्न भागों को परस्पर संबद्ध कर सुरक्षा के योग्य बनाया ।

सात लाख बन्दियों और अपराधियों से बलात् काम लेकर शीअन यांग के निकट उसने अपने लिए एक विशाल प्रासाद भी बनवाया । कहा जाता है कि इस प्रासाद के मध्य कक्ष में, जिसकी छत ६० फीट से भी अधिक ऊँची थी, दस हजार व्यक्ति एकत्र हो सकते थे ! यह प्रासाद सम्राट् के भय और गर्व दोनों का प्रतीक था । उसकी हत्या के अनेक प्रयत्न हो चुके थे । किसी तांत्रिक की सलाह के अनुसार वह प्रति दिन अपना शयनकक्ष बदलता रहता था ! शी ह्वांग दी का सब से निकृष्ट कार्य कुंग फू-त्जू के मत की पुस्तकों को नष्ट करवाना था ! वह कुंग के 'आदर्श सम्राट्' की परिभाषा में बँधना नहीं चाहता था । उसका देहान्त २१० ई० पू० हुआ और शिआंग यू तथा लिऊ पान के संयुक्त नेतृत्व में विद्रोहियों ने चार वर्ष बाद ही राजधानी पर अधिकार कर लिया । लिऊ पान ने ही कौत्जू के नाम से प्रख्यात 'हान-वंश' की नींव डाली ।

हान-वंश :: महान् सम्राट् 'वू दी'

हान-वंश का सब से महान् शासक वू दी (१४०-८७ ई० पू०) हुआ । ५४ वर्ष के उज्ज्वल राज्य-काल में उसने अनेक बार आक्रमणशील हूणों को पराजित किया । उसने साहित्यिकों को प्रश्रय देकर साहित्य-सर्जन को प्रोत्साहन दिया और कुंगवादी लुप्त ग्रन्थों का अनुसंधान कराया । अंतिम वर्षों में वू दी ने दौवाद के प्रति महती आस्था दिखाई । उसके समय में केन्द्रीय राज्य-सत्ता का दूर तक विस्तार हुआ ।

वू दी के समय में पश्चिम की ओर राज्य का विशेष रूप से प्रसार हुआ । सिंहासन पर बैठते ही उसने देखा कि शी ह्वांग दी द्वारा निर्मित रक्षापंक्ति हूणों के प्रबल आक्रमणों को रोकने में अपर्याप्त है । अतः उसने शकों के साथ संधि करके प्रत्याक्रमण की नीति ग्रहण की और हूणों को परास्त किया । इन युद्धों के संचालन का श्रेय उसके सेनापतियों को है, जिन्होंने अपनी वीरता और पराक्रम से हूणों के आक्रमण की लहर को रोककर अप्रत्यक्ष रूप से रोमन साम्राज्य को धक्का पहुँचाया और इतिहास में अपने शौर्य की अमिट धाक जमा दी ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हान-युग में चीन की अपूर्व आर्थिक समृद्धि हुई। इन्हीं दिनों चीन और पश्चिम के देशों के बीच नए व्यापारिक सम्बन्धों का भी श्रीगणेश हुआ। चीनी माल तुर्किस्तान से होकर दूर-दूर के देशों में जाने लगा। अब हिन्दूकुश के मार्ग से सिन्धु नदी द्वारा फारस की खाड़ी से होकर व्यापार का दूसरा एक रास्ता भी खुल चुका था। कुषाण सम्राट् कनिष्क की मध्यस्थता से इस मार्ग के निर्माण में विशेष प्रोत्साहन मिला था।

ऐसे उन्नत युग की छत्रछाया में साहित्यिक जागृति का होना भी अवश्यम्भावी था। लेखन-तूलिका का आविष्कार यद्यपि चिन-काल में हुआ था, फिर भी उस काल में लेखनी की अपेक्षा असि का प्राबल्य था, अतः उसका यथार्थ उपयोग हान-काल ही में आकर हुआ।

नवजागृति के इस युग में पुराने कुंगवादी विद्वानों का प्रभाव और मान बढ़ा। विनष्ट और लुप्त ग्रंथों की खोज का कार्य आरम्भ हुआ। जो ग्रंथ अप्राप्य थे, वृद्धों की स्मृति से उनका अक्षरशः पुनरुद्धार किया गया।

सम्राट वू दी ने सुलेखन के लिए रेशमी वस्त्रों और धन का पुरस्कार निर्धारित करके लिपिकारिता को प्रोत्साहन दिया। काव्य की भी प्रर्याप्त उन्नति हुई।

कागज के आविष्कार से पुस्तकों के उत्पादन में सुविधा मिली। इसका अनुमान तत्कालीन सरकारी पुस्तकालय के ग्रन्थों की संख्या से लगाया जा सकता है। कहते हैं, तत्कालीन राजकीय पुस्तकालय में शास्त्रीय विषयों पर ३,१२३, दर्शन पर २,७०५, सामरिक शास्त्र पर ७९०, गणित पर २,५२८ और औषधि-विज्ञान पर ८६८ पुस्तकें थीं! १,३१८ ग्रन्थ तो अकेले काव्य ही से संबंधित थे!

हान-कालीन साहित्य के विकास का इतिहास तत्कालीन महिला साहित्यकार 'पान जौ' के उल्लेख के बिना अपूर्ण रहेगा। उसका भाई सरकारी इतिहासकार था, जो सेनापति 'दो शिन' के पतन के बाद उसका प्रतिपक्षी होने के संदेह में कारावास में डाल दिया गया था। उसकी मृत्यु बंदीगृह में ही हुई। योग्य भगिनी ने सम्राट् से सहायता पाकर अपने भाई की कृतियों को संशोधित करके प्रकाशित किया। हान-वंश के बारह सम्राटों का इतिहास 'हान ग्रन्थ' इसी महिला के अध्यवसाय का फल है। उसके परिश्रम और योग्यता से प्रसन्न होकर सम्राट् ने उसे सम्राज्ञी की आचार्या के पद पर नियुक्त किया था।

बौद्ध धर्म का उदय

हान-राज्य की सब से महत्वपूर्ण घटना थी चीन में बौद्ध धर्म का उदय। बौद्ध धर्म का प्रचार वहाँ कब आरम्भ हुआ, यह कहना कठिन है। फिर भी ऐसा अनुमान किया जाता है कि १२३ ई० पू० कोई सेनापति तुर्किस्तान से एक स्वर्ण-प्रतिमा लाया था, जो संभवतः गौतम बुद्ध की थी। सम्राट् मिंग दी (५८ ई० से ७६ ई०) ने इंडोपार्थियन सम्राट् गोंडोफरनीज के पास राजदूत भेजकर कश्यप मातंग और गोभरण नामक दो बौद्ध संतों को धर्म-प्रचार के लिए आमंत्रित किया था और राजधानी में एक बौद्ध मंदिर बनवाया था। सम्राट् मिंग के राज्यकाल की तिथियों को ध्यान में रखते हुए चीन के प्रचलित धर्मों में इस तीसरे धर्म के प्रवेश का समय ६७ ई० के आसपास माना जाता है।

चीन के पारिवारिक आदर्शों की परम्परा और बौद्ध विहारों के संगठन के स्वतःविरोधी होने की भ्रामक धारणा के कारण चीन में बौद्ध धर्म की प्रगति धीमी रही। परन्तु धीरे-धीरे इस धर्म को चीन की संस्कृति में वह स्थान प्राप्त हुआ, जो अन्य धर्मों को नहीं मिला। इसका कारण था महायान बौद्ध सम्प्रदाय के स्वरूप में वह परिवर्तन, जो उसमें भारत से चीन तक आने में हो चुका था। चीनी भूमि पर महायान-सम्प्रदाय ने बहुदेववादी होकर अनेक स्थानीय देवताओं को अपने अंक में भर लिया और बहुत-से प्राचीन वीरपुरुषों को बोधिसत्व अथवा पूर्ववर्ती बुद्ध मान लिया। निर्वाण के सिद्धांत में भी अपूर्व कायाकल्प हुआ। वर्तमान चीन में प्रचलित बौद्ध धर्म की दस शाखाएँ सिद्धांत और व्यवहार में भारतवर्ष में प्रतिपादित बौद्ध धर्म से पूर्णतया: भिन्न हैं।

चीन की संस्कृति पर बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा। कला के क्षेत्र में अब राजसभा के शिष्टाचार के वृत्त से हटकर कलाकार का चित्त बौद्ध संतों के जीवनचरित्र तथा बौद्ध परलोकों के दृश्य चित्रित करने में लग गया। पैगोडा तथा विजय-तोरण के निर्माण के रूप में चीन की वास्तुकला पर भी बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है। उच्चारण और लेखन को सरल बनाकर भाषा-विज्ञान पर भी उसने असर डाला। इसी प्रभाव के अंतर्गत संस्कृत के अनुरूप वर्णमाला बनाने का प्रयत्न भी हुआ। बौद्ध धर्म के महान् सांस्कृतिक उद्दीपन की पृष्ठभूमि में ही हान-काल की साहित्यिक नवजागृति हुई। इस मत के प्रभाव से व्यवहार तथा शिष्टाचार में भी कोमलता एवं संस्कार का प्रादुर्भाव हुआ। दौवादी रहस्यवाद की सर्वोत्तम परम्परा को चीनी बौद्ध धर्म ने बड़ी कुशलता के साथ अपना लिया।

हान-काल का उत्तरार्द्ध

हान-काल के पूर्वार्द्ध में रणकुशल सेनापतियों के शौर्य एवं साहस के कारण आक्रमणशील बर्बर जातियों को पराजय

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मानकर पीछे हटना पड़ा था। उत्तर-हान-काल में हूण जातियों के आक्रमण फिर आरम्भ हुए, इस कारण २५ ई० में राजधानी को सी-आन-फू से हटाकर लोयांग ले जाना पड़ा।

इस घटना से हान-काल लगभग दो समान भागों में बँट जाता है। इनमें पूर्वार्द्ध या पश्चिमी हान-काल आंतरिक शान्ति एवं बाह्य विजय का तथा उत्तरार्द्ध या पूर्वीय हान-काल अशांति का युग था। पूर्वीय हान-काल में दो नाम उल्लेखनीय हैं—यांग चियेन (पश्चिम का कुंग फू-त्जू) और मा युआन। यांग चियेन को घूस देने का प्रयत्न किया गया। अस्वीकार कर देने पर देनेवाले ने कहा—'ले लीजिए, कोई नहीं जानेगा।' यांग ने उत्तर दिया—'देवता जानते हैं, पृथ्वी जानती है, मैं जानता हूँ, तुम जानते हो। तो फिर कैसे कहते हो कि कोई कभी नहीं जानेगा !'

आक्रमण की लहरों को चूर करनेवाला दुर्धर्ष सेनापति मा युआन इस युग का दूसरा स्मरणीय व्यक्ति था, जो राष्ट्र के सम्मान की रक्षा में देश की सीमा पर बर्बरों के विरुद्ध सदैव सन्नद्ध रहा ! वह घोड़े पर हमेशा तनकर बैठा और हुनान की बर्बर जातियों से युद्ध करते हुए वृद्धावस्था में वीरगति को प्राप्त हुआ ! उसका कहना था कि 'पुत्र-पुत्रियों से घिरी रोग-शैया पर प्राण देने की अपेक्षा सेनापति के शव का समरांगण से घोड़े की खाल में लपेटकर लाया जाना अच्छा है !'

हान-काल में चीन की बहुमुखी उन्नति

हान-काल में चीन में केवल राज्य-विस्तार से ही व्यापार की उन्नति नहीं हुई, वरन् राज्य के अन्दर भी यातायात की पर्याप्त सुविधावृद्धि से उसे सहायता मिली। हान सम्राटों ने चिन सम्राट् शी ह्वांग दी के सड़कों के निर्माण-कार्य को आगे बढ़ाया। सड़कों के किनारे तीन-तीन मील पर सरायें (दिंग) बनवायी गईं। इन सरायों में धनी और निर्धन, सामन्त और कृषक, स्त्री और पुरुष सभी के टिकने-ठहरने का प्रबंध था। हान-काल के पूर्वार्द्ध में चीन में ऐसी ३,००० सरायों के होने का उल्लेख मिलता है !

ईसा से कई वर्ष पहले ही चीन में डाकघर थे। मुख्य मार्गों के किनारे राज्य की ओर से दो-दो मील पर कार्यालय बनाए गए थे। सरकारी कर्मचारी घोड़ों पर सवार होकर एक कार्यालय से दूसरे तक पत्र पहुँचाया करते थे।

शिन-वंश :: 'वांग मांग'

९ ई० पू० वांग मांग ने शिन (नवीन) वंश की स्थापना की। नाम के अनुरूप वांग मांग ने सम्पूर्ण राज्यव्यवस्था को नए साँचे में ढालना चाहा। धनवान् और निर्धन का अन्तर बहुत बढ़ चुका था। नये सम्राट् ने 'जो' के सामंत द्वारा प्रचलित भूमि की सार्वजनिक कूप-व्यवस्था की पुनर्स्थापना के लिए धनियों की भूमि छीनकर उसका पुनर्वितरण किया। पुरातनवाद की धुन में उसने पुरानी मुद्रा तथा कौड़ियों का भी प्रचलन किया। अपनी योजनाओं की सफलता के लिए उसने अनवरत परिश्रम किया। किन्तु व्यावहारिक राजनीति से पृथक् स्वप्नद्रष्टा के समान वह यह नहीं सोच सका कि आदिम अवस्था के लौटाने से सामाजिक स्थिति में सुधार नहीं हो सकता !

पूर्वीय हान :: 'क्वांग वू दी'

समाज-व्यवस्था हान-काल में ही इतनी जटिल हो गई थी कि उसके ऊपर कोई दूसरा सीधा-सादा ढाँचा नहीं गढ़ा जा सकता था। इसी अव्यवस्था तथा अराजकता से लाभ उठाकर एक हानवंशीय राजकुमार ने युद्ध में वांग मांग और उसके राज्यवंश की इतिश्री कर दी। २५ ई० में 'पूर्वीय हान' के नाम से हान-वंश की एक नवीन शाखा का आरम्भ हुआ। नए सम्राट् क्वांग वू दी (कांतिमान और साहसी) ने अपनी राजधानी लोयांग में रखने का निश्चय किया।

क्वांग वू दी विद्वान् और योग्य शासक था। कुंग फू-त्जू के सिद्धान्तों में वह निष्णात था। उसके राज्यकाल में शिक्षा का प्रचार हुआ और प्रथम विश्वविद्यालय की नींव पड़ी। पाठशालाओं में विद्यादान के अतिरिक्त नैतिक शिक्षा का भी प्रारम्भ हुआ।

किन्तु यह अवस्था अधिक दिनों तक न चल सकी। क्वांग वू दी के अयोग्य उत्तराधिकारियों के समय में ऐश्वर्य और विलासिता अपनी चरम सीमा को पहुँच गई। एक ओर सामंत विलास में मत्त थे, दूसरी ओर वणिक-वर्ग धनसंग्रह में संलग्न था। किसानों ने भी भूमि का परित्याग कर व्यापार एवं मजदूरी करना आरंभ कर दिया था। फलस्वरूप सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचा ध्वस्त होने लगा।

इसी समय राजदरबार के कतिपय हिजड़ों तथा राजवंश के सदस्यों में सत्ता-प्राप्ति के लिए संघर्ष छिड़ा। इस संघर्ष की चपेट में हान-राज्य विनष्ट हो गया।

हान-काल के अन्तिम वर्ष घोर उत्पातमय और उपद्रवपूर्ण थे। उद्दंड सेनापतियों का नियंत्रण दुर्बल राजाओं के लिए कठिन था। राज्य-सत्ता क्षीण हो गई थी। सम्राट् केवल नाम भर को रह गए थे। दूसरी शताब्दी ई० में त्सौत्सौ नामक एक साहसी ने राजधानी पर अधिकार कर लिया और सम्राट् को पदच्युत् करके हान-राजवंश का अन्त कर दिया।

प्राचीन और मध्यकालीन चीन—(२)

२२० ई० से १२७९ ई० तक

हान-वंश के पतन के बाद यद्यपि चीन की राजनीतिक परिस्थिति सदैव की भाँति फिर से कुछ समय के लिए गड़बड़ और अव्यवस्था के गर्त में पड़ गई, तथापि प्रसिद्ध टैङ्-वंश और उसके बाद उच्छ्वसित गौरवशाली सुङ्-वंश के तत्त्वावधान में देश की ऊर्ध्वगामी शक्तियों ने पुनः जोर भरा और फलतः न केवल राजनीतिक ऐक्य की दिशा में, प्रत्युत कला, साहित्य, विज्ञान, धर्म, उद्योग, व्यापार आदि सभी क्षेत्रों में सर्वतोमुखी उत्थान हुआ। इस अभ्युत्थान में इसी युग में चीन में जड़ जमानेवाले बौद्ध धर्म का प्रमुख हाथ था!

तृतीय शती ईस्वी के दूसरे दशक में हान-वंश के पतन की घड़ी से लेकर तेरहवीं शती ई० के अंत में मंगोलों की सत्ता एवं संस्कृति के प्रभाव में आने के पूर्व तक, चीन के इतिहास की मूल प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात कर लेना समीचीन प्रतीत होता है। २२० ई० में हान-वंश के पतन के पश्चात् चीन में राजनीतिक अनैक्य, विभाजन एवं निर्बलता का एक दीर्घकालीन युग प्रारंभ हुआ और लगभग चार सौ वर्षों (२२० से ५९८ ई०) तक वहाँ किसी ऐसे वंश का सिक्का एवं प्राबल्य न जम पाया, जो कि हान-वंश की तरह देश को ठोस राजनीतिक एकता प्रदान करता! इस निर्बलता एवं अनैक्य से लाभ उठाकर उत्तर की विभिन्न आक्रमणकारी जातियों ने चीन की रक्षा करनेवाली प्रसिद्ध दीवार को लाँघकर उसके मर्मस्थल पर आक्रमण कर दिया। वे दक्षिण के उर्वर एवं धनी प्रदेशों की ओर बढ़ने लगीं तथा उत्तरी प्रदेशों पर तो उन्होंने अपना राज्य भी स्थापित कर लिया। चूँकि भारतीय संस्कृति की तरह चीनी संस्कृति की पाचन-शक्ति भी प्रबल थी, अतः ये आक्रमणकारी विजेता कालान्तर में चीनी सभ्यता एवं संस्कृति में समा गए!

युद्धों एवं आक्रमणों से भयभीत चीनी जनता जब उत्तर से भागकर दक्षिण की ओर आने लगी, तो चीनी संस्कृति का केन्द्र उत्तर से हटकर यांग-सी नदी की तरेटी में आ गया। जनसंख्या की वृद्धि के साथ प्रभावशाली रईस एवं धनी कुटुम्बों का उत्थान हुआ, जिन्होंने महत्त्वपूर्ण पदों को अपने एकाधिकार में रखने का भरपूर प्रयत्न किया। राजनीतिक विभाजन एवं बाह्य आक्रमणों के बावजूद भी चीनी लोग एक विस्तृत साम्राज्य की महत्ता को नहीं भूल सके थे। इससे उनमें एकता की भावना बनी रही, जो आगामी वंशों द्वारा देश में राजनीतिक ऐक्य स्थापित करने में सहायक सिद्ध हुई।

इस बीच विदेशों से चीन का व्यापारिक संबंध पूर्ववत् बना रहा और दक्षिण के बंदरगाहों में बराबर विदेशी व्यापारी आते-जाते रहे। इन्हीं दिनों चीन में बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ, जो वहाँ के जीवन का अभिन्न अंग बन गया। इस नवीन मत से चीनी जीवन का प्रत्येक क्षेत्र अनुप्राणित हो उठा।

ऐश्वर्यशाली टैङ्-वंश (६१८-९०७ ई०)

हान-वंश के पतन से प्रभूत राजनीतिक विघटन एवं विभाजन को दूर करके चीन को अल्पकालीन राजनीतिक एकता सुइ-वंश (५८९-६१८ ई०) ने प्रदान की थी! इस वंश का सब से प्रतापी सम्राट् याँग-ती बड़ा उत्साही, योग्य तथा महत्वाकांक्षी योजनाओं को बनानेवाला व्यक्ति था। किन्तु दुर्भाग्यवश कुछ लोगों ने विद्रोह करके उसका वध कर डाला। सुइ-वंश की समाप्ति करके विद्रोही सरदार ली-युआन ने जिस वंश की नींव डाली, वह बड़ा ऐश्वर्यशाली सिद्ध हुआ। इतिहास में वह टैङ्-वंश के नाम से प्रसिद्ध है। इस वंश का सब

से प्रसिद्ध एवं प्रतापी सम्राट् ली-शिह्-मिंग (६२७-६५० ई०) था, जो इतिहास में ताइ-त्सुंग के नाम से विख्यात है। उसका बाईस वर्षों का शासन टैङ्-वंश का स्वर्णकाल माना जाता है। उसने अपनी विजय एवं विस्तारनीति से चीन को राजनीतिक एकता प्रदान की और शासन-सुधारों से साम्राज्य को सबल बनाया। टैङ्-साम्राज्य का विस्तार पूर्व में कोरिया तथा मंचूरिया तक, पश्चिम में कैस्पियन सागर तक, दक्षिण में अनाम तक तथा उत्तर में बाह्य मंगोलिया तक था। इस वंश के दीर्घकालीन शासनकाल में चीन के साहित्य, कला, व्यापार, कृषि तथा धर्म की अपूर्व उन्नति हुई। इन्हीं दिनों अनेक बौद्ध धर्म-प्रचारक बहुत बड़ी संख्या में भारत से चीन पहुँचे तथा उधर ह्वान चाङ् सरीखे अनेकों चीनी यात्री बौद्ध धर्म का अध्ययन करने के लिए भारत आए। इसके अतिरिक्त पारसी तथा ईसाई धर्म-प्रचारकों के भी जत्थे चीन पहुँचे और सम्राट् ने उन सबों की आवभगत की तथा उन्हें सुरक्षा एवं धर्म-प्रचार की स्वतंत्रता प्रदान की।

चीन की इस सर्वतोमुखी उन्नति के पीछे चीनी तथा विदेशी जातियों का रक्त-सम्मिश्रण, भारतीयकरण द्वारा प्रभूत आध्यात्मिक प्रेरणा तथा चीन के महान् सम्राट् ताइ-त्सुंग की प्रतिभा इन सभी तत्त्वों का हाथ था! जिस समय टैङ्-वंश का सूर्य अपने चरम विन्दु पर चमक रहा था, उसी समय सम्राट् मिंग-हुआंग (७१३-७५६ ई०) ने साठ वर्ष की अवस्था में यांग-क्वी-फी नामक सत्ताइस वर्षीया रमणी की मधुर मुस्कान पर अपने सिंहासन की बाजी लगा दी! परिणाम यह हुआ कि ऐन-लू-शन नामक व्यक्ति के नेतृत्व में––जो स्वयं उक्त कामिनी के कटाक्ष से घायल था––चीन में विद्रोहाग्नि भभक पड़ी। मिंग-हुआंग को राज्य से हाथ धोना पड़ा और उसके उत्तराधिकारी एक शताब्दी तक शांति स्थापित करने में असमर्थ रहे। इस प्रकार टैङ्-वंश का अन्त अनिवार्य हो गया।

टैङ्-वंश के पतनोपरान्त अर्द्ध-शताब्दी से अधिक काल तक (९०७-९६० ई०) चीन में गृह-युद्ध एवं अव्यवस्था का दौर-दौरा रहा और साम्राज्य अनेक छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। यह युग 'पाँच वंशों के शासनकाल' के नाम से प्रसिद्ध है।

सुङ्-काल (९६०-१२७९ ई०)

उक्त अव्यवस्था एवं अराजकता को दूर करके चीन को पुनः शांति एवं राजनीतिक एकता प्रदान करने का श्रेय चाओ-कुयेंग-इन नामक सैनिक को था, जिसने सुङ्-वंश की नींव डाली। यह व्यक्ति ताइ-त्सु के नाम से सुङ्-साम्राज्य का प्रथम सम्राट् बना (९०७-९७६ ई०)। सैनिक योग्यता के अतिरिक्त उसमें राजनीतिक दूरदर्शिता तथा चरित्र की महानता के भी गुण विद्यमान थे। उसने चीन को एक सबल एवं प्रगतिशील साम्राज्य में परिणत कर दिया। सुङ्-वंश ने टैङ्-वंश की अपेक्षा अधिक समय तक शासन किया और चीन के सांस्कृतिक विकास में उसकी देन काफी ठोस रही। उसने चीन की प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति को आधार मानकर उसे विकासोन्मुख करने का सफल प्रयत्न किया। इस युग में मुद्रणकला के विकास से शिक्षा तथा ज्ञान के प्रसार में काफी सहायता मिली। इसके अतिरिक्त कला, साहित्य तथा नूतन कन्फ्यूशियसवाद को भी संरक्षण प्राप्त हुआ।

वांग-ऐन-शि का समाजवाद

सुङ्-काल की सब से महत्वपूर्ण घटना वांग-ऐन-शि (१०२१-१०८६ ई०) नामक मंत्री के सद्प्रयत्नों से स्थापित समाजवाद था, जिसका उद्देश्य प्रजा के शोषण तथा सामाजिक विषमता को दूर कर चीन में समाजवादी ढाँचे का अर्थ-तंत्र स्थापित करना था। वांग-ऐन-शि प्रकांड विद्वान् एवं कुशल राजनीतिज्ञ था। १०६८ ई० में जब वह मंत्री-पद पर नियुक्त हुआ, तो साम्राज्य दिवालिया हो रहा था। अतः वह तुरंत चीन की वित्त-व्यवस्था को सुधारने में दत्तचित्त हो गया। उसने यह सिद्धांत निश्चित किया कि नागरिकों के कल्याण का दायित्व राज्य को ही वहन करना चाहिए। उसका कहना था कि "श्रमिकों की सहायता करने तथा उन्हें धनिकों की शोषण-चक्की में पिसने से बचाने के लिए राज्य को वाणिज्य, उद्योग-धंधों तथा कृषि का सारा प्रबंध अपने ही हाथ में ले लेना चाहिए।" उसने बेगार की पुरातन प्रथा का अंत कर दिया; बाढ़ रोकने के लिए बड़े-बड़े बाँध बनवाए; किसानों को धनी महाजनों के चंगुल से छुड़ाकर उन्हें हल-बीज आदि के लिए साधारण ब्याज पर ऋण दिया तथा बेरोजगारों को रोजगार दिलाया। मजदूरों की मजदूरी तथा दैनिक प्रयोग में आनेवाली वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने के लिए प्रत्येक जिले में नियंत्रण-बोर्ड की स्थापना की गई और वाणिज्य का राष्ट्रीयकरण किया गया। कृषि की सारी उपज सरकार खरीद लेती थी, जिसका कुछ अंश तो संकटकाल के लिए सुरक्षित कर लिया जाता था और शेष की बिक्री सरकारी कण्ट्रोल की दूकानों द्वारा की जाती थी! सरकारी आय-व्यय के आँकड़ों को तैयार करने तथा बजट के लिए एक आयुक्त की नियुक्ति की गई थी। बूढ़ों तथा निर्धनों की सहायता के लिए पेंशन देने की व्यवस्था भी की गई थी और शिक्षा तथा परीक्षा-पद्धतियों में भी सुधार किए गए थे।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

खेद की बात थी कि वांग-एन-शि के उक्त सुधार स्थायी न हो सके और उसे प्रबल विरोधी तत्वों का सामना करना पड़ा। चीनियों की जन्मजात रूढ़िवादिता तथा इन सुधारों को कार्यान्वित करनेवाले पदाधिकारियों के भ्रष्टाचार के कारण राष्ट्रीय समाजवाद की उक्त रूपरेखा एक अधूरा सपना बनकर ही रह गई! उलटे इस अनुष्ठान की असफलता सुङ्-वंश के पतन में सहायक हो गई। मंगोलों के आक्रमण ने शीघ्र ही सुङ्-साम्राज्य की कब्र खोद दी।

सांस्कृतिक जीवन, राज्य एवं प्रशासन

सिद्धान्ततः चीनी साम्राज्य की सर्वोच्च सत्ता सम्राट् में निहित थी, जिसे दैवी शासनाधिकार प्राप्त थे। किन्तु वस्तुतः प्रत्येक वंश की स्थापना प्रायः किसी शक्तिमान् योद्धा द्वारा ही की जाती थी और वह वंश राज्य की बागडोर तभी तक सफलतापूर्वक अपने हाथों में रख पाता था, जब तक कि उसके वंशज चरित्रवान्, बलवान् तथा प्रभावशाली बने रहते थे। ज्योंही शासक विलासिता, दरबारियों के षड्यंत्र तथा कामिनी-कंचन के शिकार बनते थे, त्योंही उस वंश का अंत अनिवार्य हो जाता था और देश में पुनः कु-शासन तथा विद्रोहों की ज्वाला धधकने लगती थी। शासन की सुविधा के लिए समूचा साम्राज्य १८ प्रान्तों में विभक्त था, जिनमें प्रत्येक का प्रमुख शासक एक गवर्नर होता था। स्थानीय शासन व्यवस्था के लिए प्रत्येक प्रान्त छोटी-छोटी इकाइयों में विभक्त था, जिन्हें 'हशियेन' कहते थे। 'हशियेन' के शासक के बहुमुखी कर्त्तव्य थे—वह न्यायाधीश, पुलिस-कप्तान, कलक्टर, धर्माधिकारी तथा मुख्य प्रशासक सभी कुछ था।

सम्राट् के नीचे उसी के द्वारा नियुक्त तथा केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी एक विशाल नौकरशाही थी। नौकरशाही के दो अंग थे—सैनिक एवं असैनिक; जिनमें पहले की अपेक्षा दूसरा अंग अधिक गौरवपूर्ण एवं शक्तिशाली था। इन पदों पर लोगों की नियुक्ति जन्म के आधार पर नहीं, वरन् योग्यता के आधार पर की जाती थी, जिसकी प्राप्ति के लिए कठिन प्रतियोगी परीक्षाएँ हुआ करती थीं। फलतः लोगों को कन्फ्यूशियस के साहित्य एवं प्राचीन दर्शन का विशेष अध्ययन करना पड़ता था। चीन में सैनिकों की अपेक्षा विद्वानों तथा दार्शनिकों का अधिक आदर एवं सम्मान था और वे ही वहाँ की सांस्कृतिक एकता के प्रतीक थे। कन्फ्यूशियस का विधान था कि सम्राट् को अपने पाशविक बल से नहीं, वरन् नैतिक एवं चारित्रिक बल से प्रजा को वशीभूत करना चाहिये। अधिकांश सामाजिक नियंत्रण केन्द्रीय सरकार तथा उसके पदाधिकारियों द्वारा नहीं, वरन् स्थानीय स्वायत्ताधिकारप्राप्त इकाइयों--कुटुम्ब, ग्राम-वृद्ध तथा श्रेणियों--द्वारा किया जाता था। केन्द्रीय सरकार तो समूचे साम्राज्य को केवल एकता के सूत्र में परिबद्ध करती थी। वह समाज की विभिन्न इकाइयों के आन्तरिक मामलों में कोई भी हस्तक्षेप नहीं करती थी। चूंकि चीन की साम्राज्यवादी केन्द्रीय सरकार की शक्ति इस प्रकार विकेन्द्रित थी, इसीलिए शक्तिशाली एवं सुसंगठित आक्रमण को रोकने में वह असमर्थ सिद्ध होती थी। इसी निर्बलता के कारण उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों में भी चीन को योरप और जापान के आक्रमणों का शिकार बनना पड़ा।

सामाजिक जीवन

प्राचीन चीन के सामाजिक जीवन का आधार कुटुम्ब था, जो उतना ही महत्वपूर्ण था जितना कि राज्य। चीनियों में राज्य-भक्ति की अपेक्षा कुटुम्ब-भक्ति अधिक सबल थी। यदि कोई व्यक्ति अपने कौटुम्बिक लाभ के लिए राज्य के हितों की उपेक्षा करता था, तो उसका यह कार्य क्षम्य था। चीन में कुनबापरस्ती अवगुण नहीं, अपितु गुण माना जाता था। जो कार्य आजकल राज्य का कल्याण-विभाग अपने नागरिकों के लिए करता है, प्रायः वही कार्य वहाँ के कुटुम्ब अपने सदस्यों के लिए करते थे। वे नवयुवकों की शिक्षा-दीक्षा तथा रोजगार का प्रबंध करते एवं परिवार के बिगड़े हुए और पथभ्रष्ट सदस्यों को अनुशासन का पाठ पढ़ाकर उन्हें सुपथ पर लाने एवं निर्बल एवं बुड्ढों की परवरिश करने का भी दायित्व उठाते थे। यदि किसी परिवार का सदस्य कोई अपराध करता था, तो राज्य उस व्यक्ति को नहीं, वरन् उसके कुटुम्ब को दोषी ठहराता था! धनिकों में परिवार के बड़े-बूढ़ों के नायकत्व में सम्मिलित कुटुम्ब की भी व्यवस्था प्रचलित थी। कुटुम्ब के मृत सदस्यों की स्मृति में प्रत्येक परिवार में उनके नाम की तख्तियाँ रक्खी जाती थीं। पुत्र माता-पिता के अनन्य भक्त एवं आज्ञाकारी होते थे।

व्यक्ति की अपेक्षा कुटुम्ब की अधिक महत्ता होने के कारण ही शादी-व्याह वैयक्तिक सुख की प्राप्ति के लिए नहीं, अपितु वंशवृद्धि के लिए होते थे। निःसंतान व्यक्ति समाज में सब से बड़ा पापी समझा जाता था। कन्याओं की अपेक्षा पुत्र का जन्म अधिक भाग्यशाली माना जाता था। संतानरहित होने पर अपनी वंश-परम्परा को जारी रखने के लिए लोग दूसरे के पुत्र को गोद भी ले सकते थे। समाज में स्त्रियों का स्थान पुरुषों की अपेक्षा निम्न समझा जाता था। स्त्रियों को तंग जूते पहनाए जाते थे, जिनसे उनके पाँव बड़े न हो सकें!

इस प्रथा का उद्देश्य चीनी लोगों द्वारा अपनी कन्याओं के सौंदर्य की अभिवृद्धि करना था, क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि उपयुक्त वर की प्राप्ति के हेतु कन्याओं के पैरों का छोटा होना अत्यावश्यक है ! इस प्रथा से स्त्रियों को काफी कष्ट होता था और वे स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करने, स्वास्थ्यवर्द्धक कसरत या कार्य करने में सर्वथा असमर्थ रहती थीं । किंतु कुटुंब में माता का बड़ा सम्मान किया जाता था और सामान्यतया एक पुरुष के लिए पत्नीव्रती होने का ही विधान था । यदि किसी व्यक्ति की स्त्री रोगादि के कारण पुत्रवती होने में असमर्थ होती थी, तो वह संतान के लिए दूसरी शादी भी कर सकता था ।

आर्थिक जीवन

चीन के आर्थिक जीवन का मेरुदण्ड कृषि थी और लगभग ८० प्रतिशत लोग खेती किया करते थे । मुख्य उपज धान की थी, किन्तु कहीं-कहीं गेहूँ भी पैदा होता था । लोग चाय पैदा करने तथा उसे पीने के बड़े शौकीन थे । अधिकांश प्रजा सूती वस्त्र धारण करती थी, किन्तु विभिन्न किस्म का चीनी रेशम भी शताब्दियों से प्रसिद्ध था, जिसका प्रयोग विशेष अवसरों पर किया जाता था । बाँस, फल-मेवे तथा कन्द-मूल आदि भी उपयोगी समझकर काफी उगाए जाते थे । लोग भेड़, बकरी, मुर्गी, बत्तख तथा मछली पालते और खाते थे । चीनी कृषक खादों का भी प्रयोग करते थे--वे मल-मूत्र द्वारा उत्तम खाद तैयार करते थे । ये लोग संघों और समुदायों द्वारा कार्य किया करते थे । फलतः व्यापारियों तथा शिल्पियों के अपने अलग-अलग संघ हुआ करते थे, जिन्हें हम 'श्रेणी' कहते हैं । विभिन्न कुटीर उद्योग-धंधे इसी प्रकार की अलग-अलग 'श्रेणियों' में सुसंगठित थे । यद्यपि चीनी समाज में विद्वानों एवं दार्शनिकों तथा कृषकों की तुलना में व्यापारियों का स्थान निम्नतर समझा जाता था, तथापि समाज में उनकी संख्या कम न थी । गाँवों में निश्चित समय पर बाजार लगते थे, जहाँ व्यापारी और किसान दोनों ही क्रय-विक्रय के हेतु एकत्रित हुआ करते थे । व्यापारिक उन्नति आवागमन के साधनों पर अवलंबित थी । सड़कें अच्छी नहीं थीं । अधिकतर माल नदियों तथा नहरों में चलनेवाली नावों द्वारा इधर-उधर पहुँचाया जाता था । सवारी तथा माल ढोने के काम में घोड़े, खच्चर और ऊँट भी काम में लाये जाते थे । लोग सोना, चाँदी तथा ताँबे का काफी प्रयोग करते थे । चीन की मौलिक आर्थिक समस्या थी दरअसल उसकी बढ़ती हुई जन-संख्या के लिए भोजन, वस्त्र तथा आवास का प्रबंध करने की, जो कि उसे आज भी घेरे हुए है !

धर्म और दर्शन

चीनियों के धार्मिक जीवन की कई विशेषताएँ थीं । चीनी सामान्यतः कन्फ्यूशियस द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का समर्थक होते हुए भी अपने घर में ताओ मत तथा बौद्ध धर्म के संत-महात्माओं की मूर्तियों एवं चित्रों को भी संगृहीत करता था । साधारणतया प्रत्येक चीनी कुटुंब में इस देश में प्रचलित तीनों प्रमुख धर्मों --कन्फ्यूशियस, ताओ तथा बौद्ध मत--का समान आदर होता था । लोग धर्म को लौकिक तथा पारलौकिक दोनों जीवन को सुखी एवं आनंददायक बनाने का साधन मानते थे । वे पितरोपासना, वीरोपासना तथा भूत-प्रेत--'कुइ'--में भी विश्वास करते थे । 'यिन' और 'यांग' में भी वे विश्वास करते थे ['यिन' स्त्रीवाचक तथा अज्ञान, अभाग्य एवं दुःख अर्थात् तामसी वृत्ति का प्रतीक था और 'यांग' पुरुषवाचक तथा ज्ञान, सौभाग्य, आनंद और कल्याण अर्थात् सात्त्विकी वृत्ति का]।

बौद्ध धर्म के प्रचार ने चीनी दार्शनिकों को काफी प्रभावित किया । बोधिधर्म द्वारा संस्थापित 'ध्यान-सम्प्रदाय'--'चान' या 'जेन' मत—से प्रभावित होकर अधिकांश चीनी दार्शनिकों की प्रवृत्ति एकान्तसेवी होकर ध्यानावस्थित होने की होने लगी ।

कुछ लोगों ने कन्फ्यूशियस के सिद्धान्तों को निरर्थक समझा और इस बात पर बल दिया कि जीवन की गुत्थियों को सुलझाने में जीर्ण-शीर्ण कन्फ्यूशियसवाद असमर्थ है । किंतु बारहवीं शताब्दी में चीन में कन्फ्यूशियसवाद फिर से उठा । इसका श्रेय चू-ह्सी नामक तत्त्ववेत्ता को था । उसका कहना था कि प्राकृतिक नियमों तथा मनुष्य के जीवन के बीच सामंजस्य स्थापित करना ही नैतिकता है और नैतिक नियमों के अनुसार राज-काज का संचालन ही सर्वोच्च राजनीतिज्ञता है । अतः प्रकृति के अनुसरण में ही बुद्धिमत्ता तथा शान्ति की कुञ्जी छिपी है ।

चू-ह्सी के सिद्धांतों का प्रबल विरोधी वांग यांग-मिंग नामक दार्शनिक था । वह महायान बौद्ध धर्म से बहुत प्रभावित था । उसके मतानुसार बाह्य संसार एवं प्रकृति के नियमों के साथ सामंजस्य स्थापित करने से श्रेयस् की प्राप्ति नहीं होती, अतः अपने हृदय में ही परमानंद तथा शांति की प्राप्ति करनी चाहिए । वह ईश्वर को कल्पना की मनगढ़न्त वस्तु नहीं, वरन् सर्वव्यापक महान् नैतिक शक्ति समझता था । किंतु वांग की अपेक्षा चू-ह्सी को ही अधिक ख्याति एवं लोकप्रियता प्राप्त हुई ।

कला-कौशल

चीनियों की कलाभिरुचि जगत्प्रसिद्ध है। टैङ् और सुङ वंशों की दीर्घकालीन समृद्धि ने चीनी कला के प्रत्येक अंग का पोषण किया। इस संबंध में अन्यत्र विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है। उत्तर-सुङ्काल में कपड़ा बुनने तथा धातु का सामान बनाने की कला अपने चरम विकास को पहुँच गई। प्रस्तर-कला की भी बहुत उन्नति हुई। लकड़ी पर पच्चीकारी करने तथा हाथीदाँत का सामान बनाने में तो चीनियों से केवल जापानी लोग ही होड़ ले सकते थे। आभूषण बनाने में भी चीनी अति प्रवीण थे। चिड़ियों के पंख, बाँस, रंगीन कागज या रेशम का पंखा बनाने तथा वार्निश किए हुए सामानों को बनाने में भी उन्होंने काफी नाम कमाया था। ताओ मत तथा बौद्ध धर्म से चीनी कला को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

बड़े-बड़े भवनों का निर्माण चीन में बहुत कम हुआ। वहाँ नगरों की सुरक्षा के हेतु दीवारें, पुल, मंदिर तथा महल बनते थे; किन्तु ये भवन कई मंजिल के नहीं बनाए जाते थे। चूंकि अधिकांश चीनी भवन लकड़ी के बनते थे, अतः प्राचीन भवनों के बहुत कम अवशेष बचे हैं। चीन के सर्वश्रेष्ठ भवन बौद्ध मंदिर थे, किंतु भारत के मंदिरों की तुलना में वे नगण्य थे।

साहित्य तथा शिक्षा

कागज के निर्माण तथा मुद्रणकला के विकास ने चीनी साहित्य की उन्नति में बड़ी सहायता पहुँचाई। फलतः इतिहास, शब्दकोश, ज्ञानकोश, गद्य-पद्य, कविता तथा कन्फ्यूशियस, ताओ एवं बौद्ध मत के साहित्य की बड़ी अभिवृद्धि हुई। टैङ्-शासनकाल चीनी कविता का स्वर्णयुग माना जाता है। इस युग के कवियों में तीन चीनी काव्य के शिरमौर माने जाते हैं— लीपो, तूफू तथा पो चू-इ। लीपो प्राकृतिक सौन्दर्य एवं सुरा का प्रेमी था। उसकी रचनाओं में इन्हीं दोनों विषयों की प्रतिच्छाया दिखाई देती है। अंग्रेजी साहित्य में जो स्थान कीट्स का है, वही स्थान चीनी साहित्य में तूफू का है। उसका जीवन दुःख में बीता था। अतः उसकी रचनाओं में मानव की करुण पुकार अधिक सुनाई पड़ती है। पो चू-इ जनसाधारण का कवि था। उसकी भाषा सरल एवं बोधगम्य थी तथा उसके विषय जीवन की वास्तविकता से संबन्धित थे। यदि टैङ्-वंश चीनी कविता का स्वर्ण-युग था, तो सुङ्-काल गीतिकाव्यों के चरमोत्कर्ष का युग था। इस युग के प्रमुख गीतकार थे ऊ-यांस्यू, सूशिह्, चाऊ पेंग-एन, सिन चि-ची तथा च्यांग-कू-इ। सूशिह् साहित्य-जगत् में सूतुंग-पो के नाम से प्रसिद्ध है और उसके गीतों में बौद्ध दर्शन की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। मंगोल आक्रमण के पूर्व चीन में उपन्यास का विकास नहीं हुआ था। उसमें विज्ञान-साहित्य की भी कमी थी। गणित तथा नाट्य-साहित्य का भी अभाव था। परन्तु औषधि-विज्ञान तथा कृषि पर प्रचुर साहित्य उपलब्ध था।

चीन की शिक्षा-पद्धति कन्फ्यूशियस के आदर्शों पर आधारित थी। उसका विश्वास था कि शिक्षा पर राज्य का कोई भी नियंत्रण नहीं होना चाहिए और आदर्श व्यक्ति को तर्कशास्त्र, नीति, राजनीति तथा इतिहास का पंडित होना चाहिए। चीन की शिक्षा-प्रणाली विभिन्न परीक्षाओं के कारण बोझिल थी। वह विद्यार्थियों की स्मरण-शक्ति पर बहुत बल देती थी, क्योंकि उन्हें कन्फ्यूशियस के साहित्य एवं दर्शन को रट-रटकर परीक्षा में बैठना पड़ता था।

चीन का भारतीयकरण

चीन तथा भारत के सांस्कृतिक संबंध के बारे में 'बृहत्तर भारत' के प्रसंग में हम लिख चुके हैं कि किस प्रकार भारतीय संस्कृति के अग्रदूत——विशेषकर भारतीय व्यापारी एवं बौद्ध धर्म-प्रचारक——चीन पहुँचे थे तथा चीनी शिक्षार्थी भी तथागत की मातृभूमि की पदरज लेने तथा भारतीय ज्ञान-गंगा में डुबकी लगाने भारत आए थे।

भारत तथा चीन के मध्य यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान पाँचवीं तथा दसवीं शताब्दी ई० के बीच पाँच सौ वर्षों से भी अधिक काल तक चला। भारत आनेवाले चीनी यात्रियों में फाहियान, य्वान च्वाङ् तथा ई-त्सिंग के नाम तो सभी की जबान पर हैं। किंतु लोग उन प्रसिद्ध भारतीय विद्वानों के विषय में कुछ भी नहीं जानते, जिन्होंने बहुत बड़ी संख्या में चीन जाकर वहाँ भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रचारार्थ अपना जीवन उत्सर्ग किया था। इनमें कश्यप मातंग तथा धर्मरत्न की सेवाओं का का जिक्र तो 'बृहत्तर भारत' के प्रसंग में हो ही चुका है। चीन में बौद्ध धर्म एवं भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की पताका फहरानेवाला दूसरा प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय भारतीय विद्वान् था कुमारजीव, जो लगभग ३४३ ई० में पैदा हुआ था। वह था तो महायान-धर्मानुयायी, पर हिन्दू तथा बौद्ध दोनों धर्मों की ज्ञानराशि में उसकी समान गति थी। लगभग पैंतालीस वर्ष की आयु में ३८५ ई० में वह चीन पहुँचा और वहाँ के सम्राट् य्वान-च्वांग का राजगुरु बन गया। उसे वहाँ अत्यधिक सम्मान प्राप्त था। ४१३ ई० में अपनी मृत्यु होने तक वह बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करता रहा और पुराने अनुवादित ग्रन्थों का उसने संशोधन भी

किया। उसकी देखरेख में एक विशाल अनुवाद-केन्द्र खोल दिया गया था, जिसमें आठ सौ से अधिक विद्वान् कार्य करते थे ! कुमारजीव के इस अध्यवसाय के फलस्वरूप १०६ से अधिक भारतीय ग्रन्थों का––जिनमें महायान शाखा के अधिकांश धर्म-ग्रन्थ भी सम्मिलित थे––चीनी भाषा में अनुवाद तैयार हुआ ! कुमारजीव के आगमन के पूर्व चीन में बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा का प्रचलन था, किंतु उसके अथक परिश्रम के फलस्वरूप अब वहाँ महायान शाखा का प्राधान्य स्थापित हो गया। वहीं से यह मत सुदूर पूर्व के अन्य स्थानों में भी पहुँचा। कुमारजीव द्वारा अनुवादित ग्रंथों में 'सद्धर्म पुण्डरीक' चीनी बौद्धों में सर्वाधिक लोकप्रिय है। कुमारजीव केवल उच्च कोटि का अनुवादक ही नहीं, वरन् मौलिक चिन्तक भी था। उसका सर्वप्रिय चीनी शिष्य सेंग-चाओ था।

कुमारजीव के अतिरिक्त, चीन के भारतीयकरण में धर्मक्षेम, परमार्थ, बोधिधर्म तथा बज्रबोधि नामक अन्य कई भारतीय विद्वानों का भी गहरा हाथ था। धर्मक्षेम मध्यभारत का रहनेवाला था। प्रारम्भ में वह हीनयान-मतावलंबी था, किंतु बाद में महायान का प्रबल पोषक बन गया था। उसने २५ बौद्ध धर्मग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था, जिनमें अश्वघोष द्वारा रचित प्रसिद्ध काव्य 'बुद्धचरित' तथा 'महासन्निपत' नामक संग्रह विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उपदेशक के रूप में चीन में उसकी इतनी ख्याति बढ़ गई थी कि उत्तरी चीन के हूण राजा ने उसे अपने दरबार में आमंत्रित किया था। खेद की बात थी कि चीनी सम्राट् तथा हूण राजा में इस विद्वान् के संरक्षण के लिए इतनी प्रतिस्पर्द्धा बढ़ गई कि यह भारतीय पंडित ४३४ ई० में अपने चीनी संरक्षक द्वारा तलवार के घाट उतार दिया गया !

परमार्थ उज्जैन का एक ब्राह्मण संन्यासी था, जो अपना घरबार छोड़ पाटलिपुत्र में बस गया था। वहाँ उसने बौद्ध धर्माचार्य के रूप में अनुपम ख्याति अर्जित की। इसी समय चीनी सम्राट् ऊ-ती ने मगध-नरेश से बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ एक विद्वान् भेजने की याचना की और इस पुनीत एवं साहसिक कार्य के लिए उसका ही चुनाव किया गया। ५४६ ई० में वह समुद्र-मार्ग द्वारा नानकिंग पहुँचा और उसे शाही महल में आवास प्रदान किया गया। ५६९ ई० तक तेईस वर्षों की अवधि में उसने ७० से अधिक ग्रंथों का चीनी अनुवाद किया ! महायान-धर्मानुयायी होने के कारण उसने नागार्जुन, अश्वघोष, वसुमित्र, गुणमति, वसुबन्धु तथा असंग आदि सभी महायानी बौद्ध पंडितों की रचनाओं का अनुवाद एवं भाष्य किया। कपिलमुनि के सांख्य दर्शन पर ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका का भी चीनी अनुवाद एवं टीका करने का श्रेय उसे प्राप्त है।

बोधिधर्म एक क्रान्तिकारी उपदेशक था। वह दक्षिण भारत का रहनेवाला था। उसे बौद्ध धर्म के प्रचार में अधिक रुचि न थी, वरन् वह एक सच्चा अध्यात्मवादी था, जो खुल्लमखुल्ला यह उपदेश देता था कि मानव-हृदय में स्थित बुद्धस्वरूप ही वास्तविक सत्य है और उस बुद्ध-स्वरूप की प्राप्ति केवल आत्मबोध द्वारा ही हो सकती है, विद्या तथा कठोर तप से नहीं। चीनी सम्राट् के समक्ष उपस्थित होने पर बोधिधर्म ने उपदेश दिया था कि मंदिर तथा धर्म-ग्रंथ अधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण नहीं हैं। केवल आत्मज्ञान एवं आत्मदर्शन द्वारा ही परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है ! अनादिकाल से वैदिक ऋषि इसी शाश्वत सत्य का संदेश देते आ रहे हैं।

इस प्रकार ध्यानावस्थित होकर आत्मप्रत्यक्षीकरण करने का सिद्धान्त चीनियों में बड़ा लोकप्रिय बन गया। इसी से 'ध्यान-सम्प्रदाय' (चान) का आविर्भाव हुआ। 'जेन' मत के रूप में यह विचारधारा जापान तक पहुँची, जहाँ वह आज तक जीवित है।

बज्रबोधि ने चीन में 'मंत्रशास्त्र' का प्रचार किया। वह केरल का ब्राह्मण था, जो अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के कारण काञ्ची-नरेश का गुरु बन गया था। कालांतर में उसने तांत्रिक बौद्ध धर्म को अंगीकार कर लिया और सातवीं शताब्दी ई० के अन्त में नालंदा-विश्वविद्यालय में अध्ययन करने के लिए पहुँचा। वहाँ से अपने शिष्य अमोघवज्र के साथ ५८ वर्ष की अवस्था में वह ७१९ ई० में चीन गया, जहाँ उसने एक मंत्र-सम्प्रदाय की स्थापना की। यह संप्रदाय बौद्ध वज्रयान या भारतीय शाक्त सम्प्रदाय के समान था। इस मंत्र-सम्प्रदाय के लोग अपने सिद्धान्तों को गोपनीय रखते थे। बज्रबोधि के शिष्य अमोघवज्र ने सतहत्तर तांत्रिक ग्रंथों का चीनी अनुवाद किया।

भारतीय विचारों के इस विशाल एवं विस्तृत निर्यात की राशि कितनी विस्तृत थी, इसका अटकल उन ग्रन्थों के विशाल संग्रह से लगाया जा सकता है, जिन्हें डाक्टर रघुवीर चीन से लाए हैं। इनमें रामायण की कथा भी सम्मिलित है।

भारतीय संस्कृति का प्रभाव चीन की चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, नाट्यकला तथा संगीत सभी पर पड़ा। उसने चीन में ताओ तथा कन्फ्यूशियस द्वारा प्रतिपादित प्राचीन सिद्धान्तों को भी प्रभावित कर दिया। ताओ धर्म ने भारतीय संस्कृति के पारलौकिक तथा रहस्यपूर्ण पहलुओं को अपना लिया। उधर नूतन-कन्फ्यूशियसवाद भी भारतीय विचारों का समीकरण मात्र था।

अरब, तुर्क और मंगोल ::
इस्लाम का उदय और प्रसार

सातवीं शती ई० में अरब के मरुस्थल में इस्लाम मत का उदय और आगामी सौ वर्षों के भीतर ही सारे पश्चिमी एशिया तथा अफ्रीका और योरप के विस्तृत भूभागों पर उसकी राजनीतिक शक्ति का प्रसार इतिहास की एक अनूठी घटना है ! किस प्रकार यह पटपरिवर्तन हुआ, आइए, देखें !

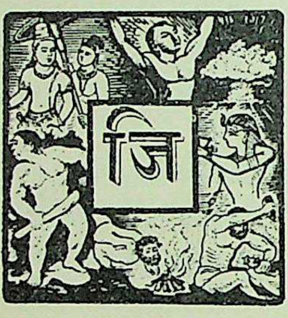

जिन दिनों उत्तरी भारत पर हर्षवर्धन का राज्य था तथा चीनी यात्री ह्वान च्वाङ् नालंदा-विश्वविद्यालय में अपनी ज्ञान एवं धर्म की पिपासा शान्त कर रहा था, उन्हीं दिनों अरब में एक नए मत का उदय हुआ । नक्शे पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि अरब प्रायद्वीप के पश्चिम में मिस्र, उत्तर में सीरिया तथा इराक, पूर्व में ईरान और कुछ पश्चिमोत्तर में बढ़कर एशिया माइनर (लघु एशिया) तथा कुस्तुनतुनिया स्थित हैं । यूनान की भी सीमाएँ कोई बहुत दूर नहीं है और भारत भी अरब-सागर के दूसरी ओर स्थित है । इस प्रकार अरब चीन को छोड़कर शेष सभी प्राचीन सभ्य देशों के केन्द्र में स्थित था । अरब में रहनेवाली जाति सेमेटिक जाति की एक शाखा है । अतः इन लोगों का संबंध एवं संपर्क प्राचीन सेमेटिक सभ्यताओं से अवश्य रहा होगा । इस पर भी अरब में समुन्नत सभ्यता क्यों नहीं पनपी ?

इस्लाम के उदय से पूर्व का अरब

अरब बीहड़ मरुभूमि है, जहाँ कोई विजेता स्वप्न में भी नहीं जाना चाहता था । जहाँ-तहाँ नखलिस्तान में सोतों या चश्मों के आसपास लोग खेती करते थे । समुद्र के निकट केवल दो नगर — मक्का और येथ्रिब (मदीना) — थे, जो पश्चिमी देशों के व्यापारिक मार्ग पर स्थित होने के कारण कुछ उन्नत थे । इस मरुभूमि के निवासी बद्दू कहलाते थे । ये लोग खानाबदोशों का जीवन व्यतीत करते थे और जानवरों को चराकर तथा लूटमार करके अपनी जीविका कमाते थे । इनकी युद्धप्रिय प्रकृति के कारण ईरान और बैजण्टाइन (पूर्वी रोमन साम्राज्य) के शासक इन्हें अपनी सेनाओं में सहर्ष भर्ती कर लेते थे । परस्पर एकता का उनमें नितान्त अभाव था । जिस प्रकार यूनानी लोग ओलिम्पिया के खेलों में एकत्रित होकर थोड़े समय के लिए अपने पारस्परिक भेद-भाव को भूल जाते थे, उसी प्रकार अरब-निवासी भी साल में चार महीने अपने पारस्परिक राग-द्वेष को छोड़कर मक्का में 'काबा' नामक घनाकार काले पाषाण की पूजा करने के लिए एकत्रित होते थे । मक्का उन दिनों अरब में मूर्तिपूजकों का प्रधान गढ़ था और काबा की प्रसिद्धि के कारण वह तीर्थयात्रियों का केन्द्र था ।

मुसलमान विद्वानों की प्रवृत्ति इस्लाम के उदय के पूर्व के अरब की तस्वीर प्रायः घोर अज्ञानान्धकारपूर्ण प्रस्तुत करने की ही रही है । किंतु ऐतिहासिक तथ्यों को दृष्टिगत करते हुए यह मानना पड़ता है कि अन्य सभ्यताओं की तरह अरब की संस्कृति भी पुरानी थी और फिनीशिया, क्रीट तथा कैल्डिया की अन्य सेमेटिक जातियों के साथ उसका घनिष्ट संबंध था । इस्लामोदय के पूर्व की अरब-सभ्यता विशेष रूप से यमन में पल्लवित एवं पुष्पित हुई थी । ईरानी तथा कुछ भारतीय शब्दों के सम्मिश्रण से, अरबी भाषा का हजरत मुहम्मद के समय तक अच्छा विकास भी हो चुका था । फिनीशियन लोगों की तरह अरब लोग भी समुद्रपार के सुदूर देशों में व्यापार करने जाते थे । कहते हैं, इस्लाम के उदय के पूर्व दक्षिणी चीन में कैण्टन के निकट एक अरब उपनिवेश था !

इस्लाम का उदय--हजरत मुहम्मद

अरब में जो नया मत उठ खड़ा हुआ, उसके प्रवर्तक हजरत मुहम्मद थे। उनका जन्म मक्का में ५७० ई० में हुआ था। उनका संबंध प्रसिद्ध कुरेशी-वंश से था, जिसके सदस्य काबा के पुजारी थे। तीर्थयात्रा के हेतु आए हुए यात्रियों के हाथ पीने का पानी बेचने का इस वंश का एकाधिकार था। चालीस वर्ष की आयु तक मुहम्मद के जीवन में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। उसी वर्ष खादिजा नामक एक धनाढ्य एवं सुसम्पन्न विधवा के साथ उन्होंने अपना विवाह कर लिया। धीरे-धीरे मुहम्मद को इल्हाम होने लगा अर्थात् उन्हें अचानक दौरा आ जाया करता और उस समय वे ऐसे रहस्यमय वचन बोलते, जो कि उनके परिवारवालों तथा मित्रों को देवोचित प्रतीत होते थे। उनके इन वचनों को उनके कुटुम्बी जन ताड़-पत्रों, टूटे-फूटे बर्तनों तथा चिकने चौकोर पत्थरों पर लिख लिया करते थे, जो कि एक सन्दूक में संग्रह करके रख दिए जाते थे। कालान्तर में मुहम्मद ने मक्का के निकट हिरा पर्वत की गुफाओं में एकांत जीवन व्यतीत करना प्रारंभ कर दिया और उनके धार्मिक विचार निखरने लगे। पर जब उन्होंने "ईश्वर अनेक नहीं, एक है और मुहम्मद उस परमेश्वर का नबी या पैगंबर है" की शिक्षा देनी शुरू की, तो स्वयं अपने जन्मस्थान में ही उनका तीव्र विरोध किया गया। अन्य सुधारकों की भाँति उनके संग भी अत्याचार किया गया; यहाँ तक कि उनके प्राणों पर नौबत आ गई। तभी उनके कुछ अनुयायी अबीसीनिया भाग गए और खदीजा की मृत्यु के उपरान्त स्वयं उन्होंने भी मक्का से भागकर येथ्रिब (मदीना) में शरण ली (६२२ ई०)। यह घटना अरब जाति के इतिहास में "हिजरत" के नाम से प्रसिद्ध है और तभी से मुसलमानों के सन् का श्रीगणेश माना जाता है।

येथ्रिब-निवासियों ने जी खोलकर हजरत मुहम्मद का स्वागत किया और वे उनके अनुयायी बन गए। तभी से येथ्रिब का नाम "मदीनतुन्नबी" अर्थात् नबी का नगर या मदीना पड़ गया। यह नगर मक्का के उत्तर में लगभग २७२ मील दूर स्थित है। जिन लोगों ने उनकी सहायता की थी, उन्होंने मदीना में एक मस्जिद बनवाई। कालांतर में उनके अनुयायियों की संख्या इतनी बढ़ गई कि मुहम्मद मदीना नगर के शासक बन गए! अब उन्होंने यह दृढ़ संकल्प किया कि जो लोग उनकी शिक्षाओं का विरोध करें, उन्हें खड्ग के बल से अपना मत अंगीकार कराया जाय! परिणामतः मदीना-निवासी यहूदियों तक को बरबस इस्लाम धम स्वीकार करना पड़ा।

६३० ई० में महम्मद ने मक्का पर चढ़ाई कर दी और युद्ध में विजयी होकर आखिर वे उस नगर में प्रविष्ट हुए। उन्होंने काबा के काले पाषाण को छोड़कर शेष सभी मूर्तियाँ नष्ट करवा दीं। अब मक्का ही अरब-निवासियों का धार्मिक तथा राजनीतिक केन्द्र बन गया। हजरत मुहम्मद की मृत्यु (६३२ ई०) में हुई। उसके पहले सारा अरब उनका अनुयायी बन गया चुका था। उनके देहावसान के उपरान्त उनके उत्तराधिकारी अबबक्र ने उनके वचनों का संग्रह करके उसे इस्लाम धर्म के प्रधान ग्रंथ--कुरान शरीफ--के रूप में प्रकाशित किया।

इस्लाम की पाँच मुख्य शिक्षाएँ ये थीं—ईश्वर एक है और मुहम्मद उसका नबी है; नित्य पाँच बार नमाज पढ़ना चाहिए; निर्धनों को खैरात या दान देना चाहिए; रमजान के महीने में व्रत या रोजा रखना चाहिए, और मक्का की तीर्थयात्रा करनी चाहिए। कुरान शरीफ के अतिरिक्त मुसलमानों का दूसरा पवित्र ग्रन्थ हदीस है।

आरंभिक खलीफा--सुन्नी और शिया नामक दल

अपने जीवनकाल में मुहम्मद साहब मुसलमानों के धार्मिक, साथ ही राजनीतिक अगुआ भी थे। इनके बाद इस्लाम का नेतृत्व खलीफा लोगों के हाथों में आया और वे लोग भी धार्मिक एवं राजनीतिक अगुआ माने जाने लगे। पहला खलीफा अबूबक्र हुआ। अबूबक्र के बाद दस साल तक ऊमर खलीफा रहा। इन दोनों खलीफाओं के समय में (६३२-६४४ ई०) अरब जाति की उन्नति की नींव पड़ी और एक शताब्दी के अन्दर ही इस्लाम अफ्रीका, योरप तथा एशिया में दूर-दूर तक फैल गया। कालान्तर में खलीफा-पद के लिए पारस्परिक गृह-युद्ध एवं झगड़े भी हुए। परिणाम यह हुआ कि एक साथ तीन खलीफाओं का उदय हुआ। इनके केन्द्र क्रमशः अफ्रीका में काहिरा, योरप में कुर्दवा और एशिया में बगदाद में थे। आगे चलकर इस्लाम में सुन्नी और शिया नामक दो विरोधी दल हो गए, जो आज भी मौजूद हैं। मुहम्मद साहब का दामाद अली कुछ समय तक खलीफा के पद पर रहा था, किन्तु संघर्ष के कारण वह मार डाला गया था। कुछ दिनों के बाद उसका बेटा हुसेन सपरिवार कर्बला के मैदान में तलवार के घाट उतार दिया गया। कर्बला की इस शोकपूर्ण घटना की यादगार में ही मुसलमान प्रतिवर्ष मुहर्रम मनाते हैं।

इस्लाम का विस्तार

हजरत मुहम्मद के मक्का से मदीने को पलायन करने के एक शताब्दी के अंदर ही सम्पूर्ण अरब, एशिया माइनर, उत्तरी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अफ्रीका (मिस्र से लेकर मोरक्को और अटलांटिक महासागर तक), स्पेन, ईरान, अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, सिंध तथा मंगोलिया पर अरब जाति का सिक्का जम गया। अरब लोगों का यह बृहत् साम्राज्य पश्चिम में पिरेनीज पर्वत (स्पेन) से लेकर पूर्व में मंगोलिया तक फैला था। पिरेनीज पर्वत के दूसरी ओर फ्रांक जाति के राजा चार्ल्स मारटेल ने सन् ७३२ ई० में अरबों को टूर्स की लड़ाई में पराजित कर दिया। इस घटना के फलस्वरूप मुसलमान स्पेन से उत्तर की ओर न बढ़ सके। इस्लाम की विजय के मार्ग को प्रशस्त बनाने में योरप तथा ईरान की आंतरिक दुर्व्यवस्था ने पर्याप्त मदद की थी। उन दिनों पूर्वी रोमन तथा ईरानी साम्राज्यों ने पारस्परिक युद्धों द्वारा अपनी-अपनी शक्ति क्षीण कर दी थी। वे इस्लाम के नये जोश और नवीन स्फूर्ति को दबाने में असमर्थ थे। विजित लोगों के सामने मुसलमान विजेताओं ने तीन विकल्प उपस्थित किए--या तो इस्लाम धर्म को ग्रहण करो, या कर-दान (जजिया) दो, अथवा मृत्यु का आलिंगन करो! इससे इस्लाम का तेजी से प्रचार हुआ!

अरबों का स्वर्णकाल

उमैया-वंश के लोग खलीफा के पद पर लगभग सौ वर्षों तक आसीन रहे। उन्होंने दमिश्क को अपनी राजधानी बनाया और उसे महलों, मस्जिदों तथा फौव्वारों से सजाकर सुंदर बना दिया। उन्होंने जिस विशेष प्रकार की स्थापत्य-कला का विकास किया, उसे 'सार्सेनिक स्थापत्य' कहते हैं। अन्त में उमैया-वंश को पराजित कर अब्बासी-वंश के खलीफाओं का सितारा चमका।

अब्बासी खलीफाओं में हारूनुर्रशीद (७८६-८०९ ई०) सब से अधिक यशस्वी एवं लोकप्रिय था। इसकी राजधानी बगदाद में स्थापित थी। उसका राज्य बड़ा समृद्धिशाली था। उसके समय में बगदाद बड़ा सुन्दर और धनी नगर था। वहाँ शिक्षा-संस्थाओं--मकतबों और मदरसों--का बाहुल्य था। कवि, दार्शनिक, धर्मशास्त्री, वैद्य और अनेक देशों के विद्यार्थी वहाँ विद्याध्ययन करने आते थे। बगदाद बहुत बड़ी व्यापारिक मंडी भी था। हारूनुर्रशीद का समय अरब जाति का स्वर्णकाल माना जाता है।

कालान्तर में अरब जाति के पतन का भी आरम्भ हुआ। जब सरल जीवन व्यतीत करनेवाले बद्दुओं का जीवन भोग-विलासपूर्ण हो गया, तो इस्लाम में जो प्रजातंत्रवादी गुण था उसका लोप हो गया और उसके स्थान पर निरंकुशता का नृत्य होने लगा। सुदूरस्थित प्रान्तों के अमीर तथा सूबेदार स्वतन्त्र हो बैठे। अन्त में तुर्कों तथा मंगोलों के आक्रमण ने लड़खड़ाते हुए अरब-साम्राज्य को सदा के लिए धराशायी कर दिया।

अरबी सभ्यता एवं संस्कृति

इस्लामी राज्य एवं प्रशासन के क्षेत्र में सम्पूर्ण शक्तियों का स्रोत खलीफा था। वह धरती पर ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था और राज्य तथा धर्म दोनों का सरताज था। उसके अधिकारों को चुनौती देना ईश्वर के विरुद्ध विद्रोह करना था। खलीफा के अधिकार एवं कर्त्तव्य किसी संविधान द्वारा निर्दिष्ट नहीं थे, अपितु वह एक अधिनायक की भाँति निरंकुशतापूर्वक शासन करता था। प्रजा को प्रशासकीय अधिकार नहीं थे, यद्यपि साम्राज्य की सुदूरवर्ती जातियाँ व्यावहारिक रूप में लगभग स्वतन्त्र थीं।

आर्थिक जीवन में अरब जाति मूलतः व्यापारी थी। अरब के व्यापारी अफ्रीका, एशिया तथा योरप—तीनों महाद्वीपों—में व्यापार किया करते थे। ये लोग कृषि भी किया करते थे और विभिन्न प्रकार की खादों के प्रयोग तथा सिंचाई के साधनों से भी अवगत थे। योरप में पालक के साग, झड़बेरी, नीबू, छुहारा, रुई, चावल, गन्ना तथा अनार का प्रचार उन्होंने ही किया। शीशे के बर्तन, गुलाब-जल, चमड़े का सामान, कपड़ा बुनना, मिट्टी के बर्तन बनाना तथा कृपाण और कवच बनाना अरब के मुख्य उद्योग थे।

अपने बृहत् साम्राज्य के विभिन्न भागों में उन्हें जहाँ-कहीं भी सर्वोत्तम वस्तुएँ एवं विचारधाराएँ नजर आईं, अरबों ने उनके सम्मिश्रण से एक नई सभ्यता का निर्माण किया। तलवार के बल से ईरान मुसलमान तो हो गया, परन्तु बगदाद के खलीफा स्वयं ईरानी सभ्यता और संस्कृति के रंग में रँग गए! यद्यपि अरबी आक्रमणकारी सिंध के आगे न बढ़ सके थे और सिंध पर अरबी शासन अस्थायी सिद्ध हुआ, तथापि भारतीय साहित्य एवं संस्कृति का भी अरब की सभ्यता पर भारी प्रभाव पड़ा।

इसके विपरीत स्वतः हिन्दुओं की संस्कृति, आचार-विचार, साहित्य, अध्यात्म विद्या इत्यादि पर अरब लोगों का कोई प्रभाव न पड़ा। हेवेल का मत है कि "इस्लाम के यौवनकाल में भारतवर्ष ही उसका गुरु था। उसी ने उसे अनेक विद्याएँ सिखलाईं और उसके साहित्य एवं कला इत्यादि को विशेष रूप दिया, न कि यूनान ने।" किंतु विलक्षणता तो यह है कि अरबी पंडित इस प्रकार के ऋण की स्वीकृति की कोई सूचना नहीं देते।

कुछ भी हो, अरब में भारतीय संस्कृति और ज्ञान का काफी आदर था, इस विषय में संदेह नहीं है। अब्बासी खलीफाओं के समय में और विशेषकर हारूनुर्रशीद के समय में सैकड़ों अरबी विद्वान् भारत की विद्याएँ और कलाएँ सीखने के लिए यहाँ भेजे गए थे। चिकित्सा, शिल्प, गणित (इल्मे-हिन्दसा, जिसे उन्होंने "हिन्द" या भारत से सीखा था), ज्योतिष (नजूम), रसायन (कीमिया), भूगर्भ विद्या, भूगोल और अध्यात्म-विद्या, इत्यादि इन्होंने भारत ही में आकर सीखी थी। एक बार हारूनुर्रशीद के बीमार पड़ने पर भारत से उसकी चिकित्सा करने के लिए मानक नामक वैद्य बुलवाया गया था। मानक बगदाद जाकर वहीं बस गया तथा एक औषधालय का प्रधान राजवैद्य नियुक्त कर दिया गया था। मानक के समय में छः और भारतीय चिकित्सक बगदाद में रहते थे। भारतीय वैद्यों के संपर्क में आकर अरब के हकीम एशिया और योरप में प्रसिद्ध हो गए थे। इनमें बोखारा-निवासी इब्न सिन्ना सब से प्रसिद्ध हकीम था।

अरब जाति के लोग स्वभावतः जिज्ञासु थे। इसी जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होंने भारत के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद अपनी भाषा में किया। भिन्न-भिन्न विषयों के सहस्रों संस्कृत-ग्रंथों के अनुवाद अरबी में कराए गए। बगदाद में अनुवाद का एक स्वतंत्र विभाग ही स्थापित कर दिया गया था, जिसमें भारत के बड़े-बड़े विद्वानों को बुलाकर रक्खा जाता था। हिजरी सन् की दूसरी शताब्दी में अरबों ने अपनी भाषा में बौद्ध साहित्य का अनुवाद किया, जो 'किताबुल-बुद्ध' और 'बिलावरवा बुदासिफ' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार ज्योतिष और गणित की पुस्तकों का अनुवाद उन्होंने 'सिन्द हिन्द' (सिद्धान्त) के नाम से, सुश्रुत का अनुवाद 'सुश्रुद' के नाम से, चरक का अनुवाद 'सिरक' के नाम से, पंचतंत्र का अनुवाद 'कलिलादमना' (करटक-दमनक) के नाम से, चाणक्य-नीति का अनुवाद 'शानक' के नाम से और हितोपदेश का अनुवाद 'बिदपा' के नाम से किया। अरब के द्वारा भारत की विद्याएँ अन्त में योरप तक भी पहुँची और इटली इत्यादि वहाँ के सभ्यता के केन्द्रों पर उनका स्थायी प्रभाव पड़ा। शतरंज का भारतीय खेल भी अरब होकर ही योरप पहुँचा था।

इसके अतिरिक्त अरबी लोगों ने पुरानी रोमन सड़कों की मरम्मत करवाई और अपने साम्राज्य के विभिन्न अंगों को मिलाने के लिए नई सड़कों का भी निर्माण किया। उन्होंने डाक-विभाग खोला, नहरें बनवाईं और शिल्प-कला में उन्नति की। उन्होंने बड़े-बड़े विश्वविद्यालय एवं पुस्तकालय स्थापित किए, जो योरप की उसी प्रकार की संस्थाओं से कहीं अच्छे थे। बगदाद, काहिरा तथा कुर्दबा के विश्वविद्यालय बहुत प्रसिद्ध थे। वहाँ के स्नातक अपने-अपने देशों में अरबी सभ्यता का प्रचार करते थे। पेरिस, ऑक्सफर्ड तथा इटली में स्थापित तत्कालीन विश्वविद्यालयों पर इन अरबी सभ्यता एवं संस्कृति के केन्द्रों का बड़ा प्रभाव पड़ा था। साहित्यिक क्षेत्र में भी अरब ने 'अलीबाबा और चालीस चोर', 'सिन्दबाद' तथा 'अलादीन का चिराग' नामक अमर कहानियाँ प्रदान की थीं। चीन के निवासियों से कागज बनाना सीखकर अरबों ने उसका प्रचार योरप में किया, जिसके कारण वहाँ के मानसिक जागरण और साहित्यिक विकास में बड़ी सहायता मिली। वे लोग रँगसाजी तथा पेड़-पौधों पर कलम भी करना जानते थे और उन्होंने पूर्वी देशों के अनेक पेड़-पौधों का प्रचार पश्चिम में किया था। सचमुच पूरब की अपेक्षा पश्चिम अरब जाति का अधिक ऋणी है।

अरबों ने अज्ञान के उस युग में योरप को ज्ञान सिखाया। अपने अधीन जातियों की सभ्यताओं के प्रमुख तत्त्वों को ग्रहण कर उन्होंने एक अलग संस्कृति को जन्म दिया। जब कभी योरपवालों को ज्ञान-विज्ञान की आवश्यकता प्रतीत हुई, उन्होंने स्पेन में अरब-साहित्य के पृष्ठों को उलटा-पलटा और उनसे लाभ उठाया। पन्द्रहवीं शताब्दी में विद्या के पुनरुत्थान एवं पुनरोदय की लहर आई। इस लहर के इस आश्चर्यजनक रूप में आगे बढ़ने का कारण यह था कि अरबवासियों ने ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं को पश्चिम में अब तक जीवित रक्खा था। परिणाम यह हुआ कि आगे के अनुसंधानों तथा आविष्कारों का मार्ग सरल हो गया। यही अरब की सभ्यता की सब से बड़ी देन है।

तुर्क जाति का इतिहास :: प्रारंभिक अवस्था

अरबी साम्राज्य के पतन के कारणों पर दृष्टिपात करते समय यह बताया गया है कि तुर्कों के लगातार आक्रमणों ने उसे धराशायी कर दिया। खुरासान के पश्चिमोत्तर में तुर्क और तातारी खानाबदोश सरदार बड़े भयानक थे। तुर्क लोग बड़े कुशल सैनिक थे। ईरान के बादशाहों की सेना में तुर्क सरदार ही सेनापति होते थे। वे ही लोग ईरानी अमीरों के चोबदार, अंगरक्षक तथा सीमा-प्रांतों के रक्षक भी होते थे। अतः ईरानी दरबारों में नौकरी करते-करते तुर्क भी ईरानी सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव से न बच सके। प्राचीन ईरान का आदर्श साम्राज्यवाद था। इस प्राचीन आदर्श को ईरानी लोग मुसलमान हो जाने पर भी छोड़ न सके। अतः तुर्क योद्धा भी शनैः-शनैः ईरान के आदर्शों अर्थात् साम्राज्यवाद के रंग में रँग गए और साथ ही फारसी के सुन्दर साहित्य और कला

के भी वे प्रेमी हो गए। [illegible] तुर्क लोगों ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया। ये लोग कट्टर सुन्नी थे।

इस प्रकार तुर्क लोगों के चरित्र पर तीन प्रकार की छाप पड़ी। इस्लाम धर्म के अनुयायी बनने पर वे उसके प्रचार-प्रसार के लिए बहुत उत्सुक बन गए और इसी में कीर्ति मानने लगे। युद्ध और लूट-मार करना उनका पैतृक कार्य था। इसके साथ ही साथ उनमें ईरान के साहित्य के ज्ञान से साम्राज्य स्थापित करने की आकांक्षा भी उत्पन्न हो गई। तुर्कों ने जहाँ-कहीं भी पदार्पण किया, वे अपने साथ यही भाव, आदर्श और चरित्र लेकर गए। दसवीं सदी ई० के बाद पूर्व के देशों में इस्लाम का प्रसार करनेवाले यही तुर्क थे।

इन लोगों ने भारत में भी अपना राज्य स्थापित किया। पर इन लोगों ने अपने को कभी भारत की संतान का नहीं समझा। उनकी दृष्टि हमेशा हिन्दूकुश के उस पार ही लगी रहती थी। हिन्दुओं ने भी उन्हें विदेशी एवं विधर्मी समझा। किंतु तुर्की और भारतीय सभ्यताओं के संघर्ष एवं संपर्क का कुछ परिणाम अवश्य हुआ।

सलजुक और उस्मानी तुर्क

ग्यारहवीं शताब्दी ई० में सलजुक तुर्कों के एक कबीले ने मसोपटामिया में घुसकर खलीफा को अपने हाथ की कठपुतली बना लिया। फिर आर्मीनिया को विजय करके उन्होंने एशिया माइनर नामक प्रदेश में प्रविष्ट हो बैजण्टाइन-साम्राज्य के अवशेषों का भी अंत कर डाला। मेलासगर्द के युद्ध (१०७१ ई०) में तुर्कों के आगे बैजण्टाइन-राज्य की सेना संपूर्णतया दलित हो गई और इसके बाद तुर्कों ने इस प्रबल वेग से धावा बोला कि एशिया में बैजण्टाइन राज्य-सत्ता का चिह्न तक शेष न रहा। इसके बाद उनकी वक्र-दृष्टि कुस्तुनतुनिया को हस्तगत करने पर लगी। १०७६ ई० में उन्होंने यरूशलम को भी अधिकृत कर लिया।

१३०० ई० में उस्मानी तुर्कों ने एशिया माइनर में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया और सुल्तान की पदवी धारण की। तब योरप के ईसाई शासकों की निर्बलता से लाभ उठाकर उन्होंने दक्षिणी-पूर्वी योरप पर भी चढ़ाई कर दी और डैन्यूब नदी के किनारे १३९६ ई० में निकोपोलिस नामक स्थान पर ईसाई सेनाओं को पराजित कर दिया। किंतु तैमूरलंग के उदय ने योरप में तुर्कों के विस्तार को कुछ काल के लिए रोक दिया। उस्मानी तुर्कों में मुहम्मद द्वितीय सब से योग्य था। उसने एक महती सेना लेकर १४५३ ई० में कुस्तुनतुनिया नगर को जीत लिया। कुस्तुनतुनिया का पतन योरप के इतिहास में एक युगपरिवर्तनकारी घटना थी। सुल्तान सुलेमान प्रथम के शासनकाल (१५२०-१५६६ ई०) में उस्मानी तुर्कों का साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। उसका विस्तार ईरान की खाड़ी तथा लाल सागर से लेकर उत्तरी अफ्रीका के किनारे अटलांटिक महासागर तक था! उसके अन्तर्गत एशिया माइनर, मिस्र, पूर्वी भूमध्यसागर तथा काला सागर के समीप के द्वीप, बलकान प्रायद्वीप एवं हंगरी आदि सभी क्षेत्र सम्मिलित थे। सुलेमान की मृत्यु के बाद तुर्की साम्राज्य पतनोन्मुख होने लगा।

समकालीन योरपीय राज्यों की तुलना में उस्मानी तुर्कों का साम्राज्य अधिक सम्पन्न था और उसका शासन भी अधिक सुव्यवस्थित था। उसके अधीन व्यापार, विद्या एवं साहित्य की उन्नति हुई। कुस्तुनतुनिया प्राचीनकाल से ही यूनानी संस्कृति तथा रोमन साम्राज्य का केन्द्र था। इसको अधिकृत कर लेने से तुर्कों की प्रतिष्ठा बढ़ गई। उस्मानी तुर्की साम्राज्य के विस्तार ने इस्लाम को भी बल प्रदान किया। कुस्तुनतुनिया में संत सोफिया के प्रसिद्ध ईसाई चर्च को तोड़कर वहाँ मस्जिद बना दी गई। अन्यत्र भी ईसाई चर्चों या गिरजाघरों की यही दशा की गई। तुर्कों ने ईसाई प्रजा पर कर लगाया और उन्हें सरकारी नौकरियों से भी वंचित रक्खा। कुस्तुनतुनिया के तुर्कों के हाथ में आ जाने से योरप और एशिया के बीच स्थल-मार्ग द्वारा होनेवाले व्यापार को बड़ा धक्का पहुँचा। इसलिए नए व्यापारिक मार्गों को ढूँढ़ने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। उधर कुस्तुनतुनिया में रहनेवाले यूनानी दार्शनिक प्राण-रक्षा के लिए योरप भाग गए। इससे योरप के बौद्धिक जागरण में सहायता मिली। वस्तुतः योरप के आधुनिक इतिहास का श्रीगणेश कुस्तुनतुनिया के पतन से ही होता है।

मंगोल जाति का उत्थान

मंगोल जाति का इतिहास सभ्य नागरिकों एवं खानाबदोश जातियों के संघर्ष की कहानी है। मंगोलों का आक्रमण एक प्रकार के भयानक भूचाल या दैवी प्रकोप के समान था, जिसके आगे मनुष्य का कोई बस नहीं चल सकता था। इन लोगों को नागरिक जीवन से बड़ी घृणा थी। अतः नदी, पर्वत तथा भयानक रेगिस्तान पार करके जहाँ-कहीं भी वे पहुँचे, उन्होंने उसे वीरान कर दिया। योरप को तो कुछ कम, किन्तु एशिया को उनकी सेनाओं के घातक आक्रमण का कई बार शिकार होना पड़ा।

मानव-सभ्यता को चुनौती देनेवाले ये मंगोल एक खानाबदोश जाति के लोग थे, जो मध्य एशिया के पूर्वी भाग में बैकाल झील तथा आमूर नदी के आस-पास रहती थी। ये लोग कबीलों

और फिरकों में संगठित होकर कंबल के तंबुओं में रहते थे। अपने डेरे-खेमे को घोड़ों पर लादकर ये एक चरागाह से दूसरे चरागाह में घूमा करते थे और अन्य भ्रमणशील जातियों को लटकर अपनी जीविका चलाते थे । कालान्तर में इन कबीलों ने आपस में मिलकर एक व्यक्ति को अपना नेता चुन लिया, जिसे वे लोग 'खाँ' कहने लगे।

चंगेज खाँ (११५५-१२२७ ई०)

यदि मंगोल जाति ने चंगेज खाँ सरीखे नेता को जन्म न दिया होता, तो संभवतः इतिहास में उसे कोई ख्याति ही न मिलती । चंगेज खाँ का जन्म ११५५ ई० में हुआ था। उसका असली नाम तिमूचिन था। बाल्यावस्था में ही उसके पिता का देहान्त हो गया था, किन्तु अपनी योग्यता के कारण उसने उत्तरोत्तर उन्नति की और मंगोल जाति के रईसों की सभा ने, जिसे कुरुलताई कहते थे, उसको अपना महान् नेता या खाँ चुन लिया । थोड़े ही दिनों बाद उसे 'चंगेज खाँ' की उपाधि से विभूषित किया गया । उस समय उसकी अवस्था ५२ वर्ष की थी। उसमें नेतृत्व ग्रहण करने की अद्वितीय प्रतिभा थी । वह इतिहास का सर्वोत्तम प्रतिभासंपन्न सैनिक योद्धा माना जाता है, जिसके सम्मुख सिकन्दर तथा जूलियस सीजर की भी कोई हस्ती न थी !

अपने निवास-स्थान से सहस्रों मील दूर तक मंगोलों की विजय का कारण उनकी बड़ी संख्या नहीं थी, वरन् उनका अनुशासन एवं सैनिक संगठन था, जिसे चंगेज खाँ ने प्रदान किया था । मंगोलों की सफलता का दूसरा कारण था उनका गुप्तचर-संगठन, जो उन्हें सुदूर प्रांतों के समाचार बराबर दिया करता था । चीन में बारूद का आविष्कार हो जाने से मंगोलों ने उसका प्रयोग करना सीख लिया था। इसके कारण भी विजय-श्री हमेशा उनके हाथ लगती थी।

चंगेज खाँ का साम्राज्य प्रशान्त महासागर के पश्चिमी तट से पूर्वी योरप तक फैला हुआ था, जिसमें चीन, मंगोलिया, तुर्किस्तान, फारस, अफगानिस्तान, पश्चिमोत्तर भारत, एशिया-माइनर तथा पूर्वी योरप का विशाल भाग सम्मिलित था। चंगेज खाँ की मृत्यु (१२२७ ई०) के बाद उसके सेनापति सबुतई ने योरप में रूस, पोलैण्ड और हंगरी को अधिकृत कर लिया। १२५२ ई० में मंगू 'खाँ' चुना गया । उसने कुबलाई खाँ को चीन का शासक नियुक्त किया । कुबलाई खाँ ने सिंचाई के लिए नहरें बनवाईं और चीन में युआन नामक राजवंश की स्थापना की । उसने टांगकिंग, अनाम और ब्रह्मा के कुछ भाग को अपने राज्य में मिला लिया । जापान तथा मलाया को अधिकृत करने का उसका प्रयास विफल सिद्ध हुआ, क्योंकि इस कार्य की पूर्ति के लिये मंगोलों के पास कोई जल-सेना न थी । इस प्रकार मंगोल-साम्राज्य का विस्तार पश्चिम में विश्चुला और डैन्यूब नदी से लेकर पूर्व में प्रशान्त महासागर तक और उत्तर में आर्कटिक महासागर से लेकर दक्षिण में ईरान की खाड़ी, हिमालय पर्वत तथा मलाया प्रायद्वीप नक था ! कुबलाई खाँ के दरबार में वेनिस का प्रसिद्ध यात्री मार्को पोलो कई वर्षों तक रहा । उसने अपनी यात्रा के विषय में एक प्रसिद्ध पुस्तक भी लिखी । कुबलाई खाँ की मृत्यु (१२९२ ई०) के बाद मंगोल-साम्राज्य कई स्वतंत्र टुकड़ों में विभक्त हो गया। इस छिन्न-भिन्न हुए मंगोल-साम्राज्य के खंडहरों पर तैमूर-लंग (१३६९-१४०५ ई०) ने पुनः अपने साम्राज्य की नींव डाली । उसने लगभग आधे एशिया को कब्जे में कर लिया। चीन की दीवार से लेकर मास्को तक के सारे भूभाग को उसने जीत लिया और १३९८ ई० में भारत पर भी चढ़ आया।

मंगोलों की देन

मंगोलों का अधिकांश समय युद्ध एवं लूटमार करने में ही बीतता था। अतः उन्होंने अन्य जातियों की तरह भव्य भवनों का निर्माण नहीं किया । मंगोल राजधानी कराकोरम डेरे-खेमों की ही नगरी बनी रही । इस पर भी मंगोल दरबार में एशिया और योरप के अगणित मनुष्य आते-जाते थे । खाँ का खेमा अमूल्य पदार्थों तथा लूट-मार की हुई वस्तुओं से भरा रहता था । मुस्लिम सौदागर अपना माल लेकर मंगोल खरीदारों के पास हमेशा उपस्थित रहते थे । उस समय के कारीगर, ज्योतिषी, गणितज्ञ तथा वैज्ञानिक मंगोल राजधानी में एकत्रित हुआ करते थे । बृहत् मंगोल-साम्राज्य में शांति एवं व्यवस्था स्थापित थी । बड़े-बड़े कारवाँ माल लेकर एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप को पहुँचते थे । इस तरह मंगोल जाति ने एशिया और योरप के बीच अधिक घनिष्ट संपर्क स्थापित कर दिया।

मंगोलों को अपने-अपने धर्म में मिलाने के लिए ईसाइयों, मुसलमानों तथा बौद्धों में एक प्रकार की होड़ लगी हुई थी और सब के प्रतिनिधि कराकोरम में अपना-अपना अड्डा जमाए हुए थे । कारण यह था कि इतनी बड़ी विजेता जाति को जो धर्म अपनी ओर आकर्षित कर लेता, उसी का सितारा चमक जाता। अन्त में चीन और मंगोलिया के मंगोलों ने बौद्ध धर्म, मध्य एशियावालों ने इस्लाम तथा रूस और हंगरीवालों ने ईसाई धर्म अंगीकार कर लिया। मंगोलों ने ही योरप में बारूद का प्रचार किया, जिससे युद्ध-कला में क्रान्ति हो गई !

पूर्वमध्यकालीन भारत—(१)

राजनीतिक पृष्ठभूमि

महाराजा हर्षवर्धन की मृत्यु हमारे देश के इतिहास में एक युगान्तकारी घटना थी, जिसके साथ प्राचीन भारत के इतिहास का अन्त तथा मध्यकाल का सूत्रपात होता है। हर्ष के रंगमंच से हटते ही भारत की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई और अशान्ति एवं अव्यवस्था का वह दौरदौरा शुरू हुआ, जो लगभग एक हजार वर्षों तक बना रहा! अब ऐसे कई छोटे-बड़े राज्यों की स्थापना हुई, जिनमें सार्वदेशिक होने की शक्ति नहीं रह गई थी, यद्यपि साम्राज्य-स्थापना के लिए वे निरन्तर परस्पर संघर्षशील बने रहे। इन डाँवाडोल राजनीतिक परिस्थितियों ने ईर्ष्या, द्वेष, कलह, संकुचित स्थानीय भावना तथा वंश की प्रधानता को जन्म देकर देश को अत्यन्त निर्बल बना दिया। परिणाम यह हुआ कि उसे विदेशियों एवं विधर्मियों के आक्रमण का शिकार बनकर शीघ्र ही पराजित, पददलित एवं दास होना पड़ा।

हर्षवर्धन के साम्राज्य के बाद देश में जो राजवंश प्रादुर्भूत हुए, वे 'राजपूत' कहलाए। इसीलिए ६४७ ई० से १२०० ई० तक के काल को भारतीय इतिहास में 'राजपूत-काल' कहते हैं। 'राजपूत' शब्द प्राचीन नहीं है। इसका प्रयोग मध्यकाल में आठवीं शताब्दी ई० से होना प्रारम्भ हुआ था। अधिकतर पश्चिमी विद्वानों ने राजपूतों का मूल स्रोत विदेशी माना है। उनका कहना है कि अनेक बाहरी आक्रान्ता जातियाँ--यथा शक, हूण आदि--देश में बस गई थीं और वे भारतीय संस्कृति को अंगीकार करके हिन्दू-जाति में घुल-मिलकर एक हो गई थीं--वे उसका अवयव बन गई थीं तथा अपने भेद-भाव को विस्मृति के गर्त में छिपा चुकी थीं। इन्हीं में से जो लोग उच्च वर्ग के थे और जिनका व्यवसाय एकमात्र युद्ध ही था, उन्हीं से राजपूतों की उत्पत्ति हुई। ये लोग अपने को प्राचीन क्षत्रियों की संतान मानने लगे। हिन्दू जनता में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए यह क्षत्रित्व का टीका परमावश्यक था। इनमें जो योग्य एवं वीर थे, उन्होंने अपने-अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित किए।

दूसरी विचारधारा यह है कि भारत के आदि निवासियों को--जो मूलतः क्षत्रिय नहीं थे, परंतु युद्ध-कार्यों में संलग्न रहते थे और शासनाधिकार भी प्राप्त करने लगे थे--धर्मरक्षक समझकर ब्राह्मणों ने क्षत्रिय वर्ण प्रदान कर दिया और उन्हें 'राजपूत' की सम्मानपूर्ण उपाधि प्रदान की। पौराणिक गाथानुसार ब्राह्मणों के यज्ञादि कर्मकाण्डों की असुरों से रक्षा के हेतु ब्रह्मा ने आबू पर्वत पर महर्षि वशिष्ठ द्वारा एक यज्ञ का शुभारंभ करवाया था तथा उस यज्ञकुण्ड में से अंत में चार क्षत्रिय वीर निकले थे। ये थे चाहमान (चौहान), परमार, चालुक्य तथा प्रतिहार। उन्हीं के नाम से राजपूतों के चार मुख्य वंश प्रचलित हुए।

राजपूतों का आदर्श तथा स्वभाव

राजपूतों की शूरता एवं वीरता तथा उनका साहस इतिहासप्रसिद्ध है। अपनी माँ-बहनों की लाज एवं सतीत्व की रक्षा के लिए वे अपने प्राणों की बाजी लगा देते थे और राजपूत रमणियाँ भी अपने सतीत्व की रक्षा के हेतु अग्नि की ज्वाला का आलिंगन कर जौहर-व्रत कर लेने में अपनी शान समझती थीं! राजपूत-जीवन का सर्वोच्च गौरव आत्मसम्मानार्थ संग्राम करके हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करना था! यही आगे जाकर उनकी विशिष्ट कमजोरी साबित

हुई, क्योंकि जिस अदम्य सैनिक उत्साह से प्रेरित होकर उन्होंने मुसलमानों के विरुद्ध अपने शौर्य एवं वीरता का परिचय दिया, उसी उत्साह ने उनमें परस्पर इतना बिलगाव एवं पार्थक्य भी उत्पन्न कर दिया कि वे आपस में एक-दूसरे से लड़-झगड़कर अपनी सारी शक्ति क्षीण कर बैठे, जिससे अन्त में वे अपनी यथेष्ट रक्षा न कर सके। वे देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत अवश्य थे, किन्तु उनकी देशभक्ति बड़ी संकीर्ण थी––विशद राष्ट्रीयता की भावना की उनमें कमी थी। राजपूतों के हृदय में अपने प्रदेश की रक्षा की भावना तो सदा विद्यमान रहती थी, पर इन्हें अपने वंश की प्रतिष्ठा का सब से अधिक ध्यान रहता था और इसीलिए ये परस्पर लड़ते और एक दूसरे को पराजित करने में ही आत्मगौरव मानते थे। उनका ध्येय था केवल पास-पड़ोस के शासकों से लड़ना और उनको अधीन बनाकर 'चक्रवर्ती' की उपाधि धारण करना। सामूहिक रूप से भारत की रक्षा के हेतु उन्होंने जैसा चाहिए वैसा प्रयत्न नहीं किया। हाँ, हिन्दू धर्म और सभ्यता का भरपूर रक्षण-पोषण उन्होंने अवश्य किया।

शरणागत की रक्षा करना राजपूत जाति का एक जन्मजात गुण था। ये लोग अपने प्रण के बड़े पक्के थे। राजपूतों का यह गुण राणा हम्मीर के चरित्र में देखा जा सकता है। ये लोग बड़े भावुक, धार्मिक एवं आस्तिक थे। कर्नल टाड के शब्दों में "क्या विलक्षण चरित्रवाले राजपूतों को छोड़कर इस भूमि पर कोई अन्य जाति ऐसी थी, जो महान् निराशा की इन शताब्दियों में अपनी सभ्यता तथा पूर्वजों के रीति-रिवाजों की रक्षा कर सकती थी ? मानव जाति के इतिहास में केवल राजस्थान की यह जाति ही एक ऐसी जाति थी, जो बर्बरता के आघातों का अदम्य उत्साह से सामना कर सकती थी और प्रहारों से धराशायी होकर भी फिर अदम्य उत्साह से ऊपर उठ सकती थी और आपत्तियों का सहर्ष स्वागत कर सकती थी !"

प्रमुख राजपूत वंश

दसवीं व ग्यारहवीं शताब्दी ई० में उत्तर व मध्यभारत में अनेक राजपूत-वंशों का उदय हुआ। दिल्ली के तोमर, अजमेर के चौहान, कन्नौज के प्रतिहार तथा गहरवार, धार (मालवा) के परमार, चित्तौड़ (मेवाड़) के गहलौत, जोधपुर के राठौड़, तथा बुन्देलखण्ड के चन्देल आदि इनमें प्रमुख थे।

कन्नौज का अभ्युदय

आठवीं शताब्दी ई० के प्रारंभ में प्रतापी राजा यशोवर्मन के नेतृत्व में कन्नौज का अभ्युदय हुआ। तब से बारहवीं शताब्दी के अन्त तक कन्नौज भारतीय राजनीति का प्रमुख केन्द्र बना रहा। राजपूत-काल में कन्नौज का वही महत्व था, जो मौर्यों और गुप्तों के काल में पाटलिपुत्र का था। उत्तरी भारत का प्रत्येक महत्वाकांक्षी शासक कन्नौज को अपनी राजधानी बनाना चाहता था। क्रमशः तीन महान् वंशों ने इसको अपनी राजधानी बनाया। आधी शताब्दी तक तो वह यशोवर्मन की राजधानी बना रहा। तब दो शताब्दियों तक प्रतिहारों की अध्यक्षता में रहा और तदनंतर एक शताब्दी तक गहरवार वंश के आधिपत्य में। ७३३ ई० में काश्मीर के महान् विजेता ललितादित्य मुक्तपीड़ ने यशोवर्मन की शक्ति को चुनौती दी और उसके सारे हवाई किलों को नष्ट कर दिया। यशोवर्मन की राजसभा में संस्कृत के महान् नाट्यकार भवभूति और प्राकृत के महाकाव्यकार वाक्पतिराज को राज्याश्रय प्राप्त था।

गुर्जर-प्रतिहार (७३०-१०२७ ई०)

गुर्जर-प्रतिहार वंश का उदय सर्वप्रथम दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान में छठी शती ई० के मध्य में हुआ था। भारतीय इतिहास में इस वंश की सब से बड़ी देन यह थी कि इसने अरब जाति को पूर्व की ओर बढ़ने से रोका था और उसको सिन्ध के भीतर ही सीमित रखा था। साम्राज्य-स्थापना के प्रयास में प्रतिहारों को दक्षिण के राष्ट्रकूटों तथा बंगाल के पालों से संघर्ष करना पड़ा। अन्त में इस वंश ने कन्नौज पर आधिपत्य जमा लिया (७८३ ई०)। कन्नौज के प्रतिहार-साम्राज्य का संस्थापक नागभट्ट एक महान् विजेता था। पर इस वंश का सब से प्रतापी राजा मिहिरभोज या भोज प्रथम था, जिसने ८४३ ई० से ८९० ई० तक राज्य किया। उसका राज्य हिमालय से लेकर नर्मदा तक और सौराष्ट्र से लेकर पश्चिमी बिहार तक फैला हुआ था ! मिहिरभोज ने अपने राज्य में जिन क्षेत्रों को जीतकर मिलाया, उन पर सीधा प्रशासन किया और महत्वपूर्ण सीमान्तक नाकों पर शक्तिशाली सेना तैनात की। उसने इस्लाम के आक्रमण से बचने के लिए भारत की प्रतिरक्षात्मक शक्ति को संगठित किया, जो डेढ़ शताब्दी से भी अधिक काल तक अप्रतिहत बनी रही। नवीं शताब्दी के अरब यात्री सुलेमान ने भोज की कार्यशैली तथा शासन-प्रबंध की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उसके राज्य में प्रजा सुखी थी।

मिहिरभोज का पुत्र महेन्द्रपाल भी बड़ा शक्तिशाली राजा था। वह कवियों तथा लेखकों का आश्रयदाता था। उसकी राजसभा में प्रसिद्ध कवि, नाट्यकार और रीतिशास्त्र के लेखक राजशेखर रहते थे। पर ९१० ई० में उसकी आँखें मुँदते ही

आंतरिक घरेलू झगड़ों और दक्षिण के राष्ट्रकूट तथा पूर्व के पाल नरेशों के आक्रमणों के कारण प्रतिहारों की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होने लगी। दूर के प्रांत साम्राज्य के बाहर निकल गए एवं सामन्तों ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। जब तक प्रतिहारों की शक्ति अक्षुण्ण थी, मुसलमान विजेता गंगा की घाटी में प्रवेश करने का साहस भी नहीं करते थे। किंतु अब उन्हें भारत के अन्दर घुसने का सुअवसर मिल गया। वस्तुतः प्रतिहारों के पतन से हिन्दू भारत का अंत सामने आ गया। ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद गजनवी ने कन्नौज पर दो बार आक्रमण किया था। प्रतिहार-वंश का अंतिम राजा यशपाल १०३६ ई० तक वर्तमान था।

गहरवार (गहड़वाल)

गहरवार लोग प्राचीन चन्द्रवंशियों की सन्तान थे। इनकी राजधानी पहले वाराणसी थी। १०५० ई० में गहरवार राजा चन्द्रदेव ने अंतिम प्रतिहार को हटाकर कन्नौज पर अधिकार कर लिया और तुर्कों से काशी, कोशल, कन्नौज तथा इन्द्रप्रस्थ की रक्षा की। इस वंश में गोविन्दचन्द्र बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसने अपने राज्य का प्रचुर विस्तार किया। वह दानी, विद्वान् और कवियों तथा लेखकों का आदर करनेवाला था। उसका पुत्र विजयचन्द्र भी वीर और यशस्वी हुआ। ११७० ई० में विजयचन्द्र का पुत्र जयचन्द्र गद्दी पर बैठा। वह बड़ा विजयी, दानी तथा वैष्णवधर्मावलंबी था। उसने राजसूय यज्ञ भी किया। वह कवियों तथा विद्वानों का आश्रयदाता भी था। उसकी राजसभा में श्रीहर्ष नामक महाकवि रहता था, जिसने 'नैषध-चरित' की रचना की थी। पर खेद तथा दुर्भाग्य की बात थी कि जब तुर्क लोग पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण कर रहे थे, गहरवारों तथा अजमेर के चौहानों में अनबन हो गई। ११९३ ई० में जब मुहम्मद गोरी ने चौहानों पर आक्रमण किया, तब जयचन्द्र ने देश के साथ विश्वासघात करके तुर्कों का साथ दिया! तुर्क भी बड़े कृतघ्न निकले। ११९४ ई० में शहाबुद्दीन गोरी ने कन्नौज पर भी आक्रमण किया। जयचन्द्र पराजित हुआ तथा तुर्कों ने कन्नौज और वाराणसी को जी भरकर लूटा और ध्वस्त किया।

अजमेर के चौहान

चौहान वंश का उदय राजस्थान के शाकम्भरी (सांभर) प्रदेश में आठवीं शताब्दी ई० में हुआ था। इस वंश का संस्थापक सामन्तदेव नामक एक सरदार था, जिसका समय संभवतः लगभग ७५० से ७७८ ई० के बीच रहा होगा। इस वंश का सातवां राजा बड़ा प्रतापी हुआ। तदनन्तर ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में अजयदेव ने अजयमेरु (अजमेर) नामक नगर बसाया और उसको अपनी राजधानी बनाया। ११५३ से ११६४ ई० तक इस वंश के वीर और यशस्वी राजा विग्रहराज (बीसलदेव) का सितारा चमका, जिसने दिल्ली से आगे बढ़कर हिमालय की तलहटी तक अपना राज्य-विस्तार किया। बीसलदेव कवि और लेखक भी था।

पृथ्वीराज चौहान

भारत के मध्यकालीन इतिहास में चौहान वंश का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इस वंश का सब से प्रसिद्ध, बलवान, प्रतापी और अंतिम राजा पृथ्वीराज चौहान (राय पिथौरा) (११७२-११९३ ई०) था। उसकी राजधानी दिल्ली में होने के कारण चौहान राज्य का राजनीतिक महत्व सर्वोपरि था। पृथ्वीराज ने अपने बल के अहंकार में महोबा और कन्नौज आदि के निकटवर्ती राजाओं पर केवल आक्रमण ही नहीं किया, प्रत्युत उनको अपमानित भी किया। राजनीतिक ऐक्य के अंकुर का राजपूतों में पहले ही से अभाव था। जो कुछ भ्रातृत्वजनित सहानुभूति थी, उसे भी उसने अपने हाथों खो दिया; विशेषकर कन्नौज के गहरवार उसके घोर शत्रु बन गए। ११९१ ई० में शहाबुद्दीन गोरी ने जब चौहानों के साम्राज्य पर पहली बार चढ़ाई की, तो पृथ्वीराज ने हिन्दू राजाओं का एक विशाल संघ तैयार किया और तराइन के मैदान में तुर्कों को हरा दिया! किंतु राजपूतों की पारस्परिक फूट एवं शत्रुता से लाभ उठाकर ११९३ ई० में शहाबुद्दीन गोरी ने पृथ्वीराज पर दोबारा आक्रमण किया! इस बार हिन्दू-संघ भी दुर्बल हो चुका था। पृथ्वीराज युद्ध में हारा और मारा गया। तुर्कों ने अजमेर और दिल्ली पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

पृथ्वीराज की पराजय भारतीय इतिहास की महान् दुर्घटना है। वह हिन्दू भारत का अंतिम ज्वाज्वल्यमान सितारा था। उसकी देशभक्ति और वीरता में किसी को भी संदेह नहीं। पर देश की शक्ति को ऐक्य के सूत्र में बाँधने में वह असफल रहा। दिल्ली उत्तरी भारत का सिंहद्वार था और चौहान शासन के कारण दिल्ली का मार्ग मुसलमानों के लिए बंद था। इसी से गंगा-यमुना की घाटी विदेशी आक्रमणों से बची रही थी। अब उसके हाथ से निकल जाने से समस्त उत्तरी भारत की विजय का मार्ग खुल गया। दिल्ली से हिन्दू राज्यश्री सर्वदा के लिए विलीन हो गई। इसके पश्चात् कोई हिन्दू शासक दिल्ली के सिंहासन पर नहीं बैठ सका। चौहान-साम्राज्य के साथ मानो भारतीय स्वाधीनता का भी अन्त हो गया।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मालवा के परमार :: साहित्यानुरागी राजा भोज

जब प्रतिहारों का आधिपत्य मालवा में समाप्त हो गया, तब दसवीं शती ई० के प्रारंभ में वहाँ परमारों की शक्ति का उदय हुआ। परमारों की शक्ति और राज्य को बढ़ानेवाला प्रधान व्यक्ति प्रसिद्ध वाक्पतिराज मुंज था, जिसने विजेता बनकर तथा कवियों और विद्वानों का पोषण कर सुयश कमाया। मुंज का भतीजा भोज (१०१८-१०६० ई०) परमार-वंश का सब से प्रतापी, प्रतिभाशाली तथा लोकप्रसिद्ध राजा हुआ। उसके शासनकाल में धारा नगरी वैभव के शिखर पर पहुँच गई। उसने कल्याणी के चालुक्यों को हराया। इसके पश्चात् चेदि के राजा गांगेयदेव को हराकर कान्यकुब्ज, वाराणसी और पश्चिमी बिहार तक सारा प्रदेश उसने जीत लिया। जब सौराष्ट्र और गुजरात पर तुर्कों का आक्रमण हो रहा था, तब भोज ने भारतीय शक्तियों की सहायता की और तुर्कों को वहाँ से भगाया। किंतु भोज के पड़ोसी राजा उसके शत्रु बन गए; फलस्वरूप चालुक्यों तथा कलचुरी राजाओं के संयुक्त मोर्चे के सम्मुख उसे झुकना पड़ा और आखिर १०६० ई० में वह युद्ध में मारा गया।

भोज का नाम भारतीय इतिहास और साहित्य में प्रसिद्ध है। वह समुद्रगुप्त एवं हर्ष की भाँति एक प्रतिभाशाली कवि तथा कलाप्रेमी था। उसने साहित्य, व्याकरण, धर्म, दर्शन, गणित, वैद्यक, विज्ञान, वास्तुकला, नाट्य-शास्त्र, रीति-शास्त्र आदि सभी विषयों पर ग्रंथ लिखे थे। धारा नगरी में उसने एक विश्वविद्यालय भी स्थापित किया था, जो संस्कृत के अध्ययन का केन्द्र था। उसने विशाल मंदिरों तथा भवनों का निर्माण कराया था। परमार राज्य १३०५ ई० तक बना रहा, जब अलाउद्दीन खिलजी ने उसे नष्ट कर दिया।

अनहिलवाड़ के चालुक्य (सोलंकी)

परमारों के राज्य के पश्चिम-दक्षिण में अनहिलवाड़ (गुजरात) के चालुक्य अथवा सोलंकी वंश का राज्य था। इस वंश का पहला प्रसिद्ध राजा मूलराज (९६१-९९६ ई०) था। उसका चौहानों तथा परमारों से संघर्ष होता रहा। वह शैव धर्म का माननेवाला था और ब्राह्मणों को दान देने तथा एक विशाल मंदिर बनवाने में उसने पर्याप्त धन व्यय किया था। सोमनाथ पर महमूद गजनवी का आक्रमण इसी वंश के भीम सोलंकी (१०१२-१०६४ ई०) के शासनकाल में हुआ था। महमूद ने चालुक्य राजधानी अनहिलवाड़ को भी घेर लिया था। इससे भीम इतना डर गया कि मुसलमान सेना का सामना न कर वह भागकर छिप गया! इस वंश में आगे चलकर कर्ण, जयसिंह, सिद्धराज और कुमारपाल नामक कई प्रसिद्ध राजा हुए। कुमारपाल (११४४-११७८ ई०) बड़ा महत्वाकांक्षी था। वह विद्या और कला का भी आश्रयदाता था। प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचन्द्र सूरि उसकी राजसभा में रहते थे, जिन्होंने धर्म, दर्शन, व्याकरण आदि विषयों पर अनेक ग्रंथों की रचना की थी। कुमारपाल ने सोमनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार भी करवाया था। यद्यपि वह शैव था, तथापि जैन लेखकों ने उसे जैन बतलाया है। जो भी हो, उसके ऊपर जैन धर्म का गहरा प्रभाव था और उसने अपने राज्य में जीवहिंसा का निषेध कर दिया था। कुमारपाल के बाद गुजरात के चालुक्यों का ह्रास प्रारंभ हो गया। उनका अन्तिम प्रसिद्ध राजा भीमदेव द्वितीय था, जिसने शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण को विफल कर दिया था। अन्त में कुतुबुद्दीन ऐबक ने ११९७ ई० में अनहिलवाड़ पर अधिकार कर लिया।

चन्देल

गहरवारों के राज्य के दक्षिण में, जहाँ आजकल बुन्देलखंड है, वहीं पर नवीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ में चन्द्रवंशी चंदेलों की शक्ति का उदय हुआ। चन्देलों की राजधानी खर्जूरवाह (खजुराहो) थी। दसवीं शताब्दी में प्रतिहार वंश के निर्बल हो जाने पर उसके सामंत इन चन्देलों की शक्ति बढ़ गई थी और स्वतंत्र शासक बनकर उन्होंने अपना राज्य ठेठ यमुना नदी तक बढ़ा लिया था।

चन्देल वंश में यशोवर्मन्, धंग तथा कीर्तिवर्मन् के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनका इतिहास अपने पड़ोसी चेदि के कलचूरियों से निरंतर युद्ध की कहानी है। कालिंजर के दुर्ग पर अधिकार स्थापित होने के कारण चन्देल राजाओं को कालिंजराधिपति भी कहा जाता था। प्रसिद्ध चंदेल राजा परमाल (परमर्दि) (११६५-१२०३ ई०), जिसके पास आल्हा-ऊदल जैसे वीर थे, ११८२ ई० में पृथ्वीराज चौहान से पराजित हुआ था। १२०३ ई० में महोबा पर कुतुबुद्दीन ऐबक के आक्रमण को भी वह न रोक सका। इस प्रकार कालिंजर पर मुसलमानों का झंडा फहराने लगा। यहीं से चन्देलों का अन्त हो गया।

चन्देल राजाओं ने हिन्दू संस्कृति की रक्षा का सराहनीय प्रयत्न किया। उन्होंने बाहरी आक्रमण से देश को बचाने में भी सहयोग दिया। उन्होंने कई सुन्दर मन्दिरों का निर्माण कराया। बुन्देलखण्ड में खजुराहो, कालिंजर तथा महोबा आज भी उनकी कीर्ति का बखान करते हैं।

सिन्ध, पंजाब तथा काश्मीर

सिंध में एक शूद्र-वंश का राज्य था। इस वंश के अंतिम राजा राय साहसी को उसके ब्राह्मण मंत्री ने हराकर राज्य अपने हाथ में कर लिया था। उसी मंत्री का पुत्र दाहिर था, जिसके समय (७१२ ई०) में सिंध पर अरबों का आक्रमण हुआ और सिंध मुसलमानों के हाथ में चला गया। उधर पंजाब में शाही-वंश का राज्य था, जो संभवतः कुषाणों के वंशज थे और अब पूणतः भारतीय हो गए थे। ये अपने को क्षत्रिय मानने लगे थे। पंजाब में इनकी राजधानी भटिण्डा थी। इनके तीन महान् सम्राट् जयपाल, आनंदपाल और त्रिलोचनपाल हुए, जिन्होंने मुस्लिम आक्रमणों का बड़े पराक्रम के साथ सामना किया। उन्होंने इन आक्रमणों को कुछ समय तक विफल भी बनाया।

पंजाब के उत्तर में काश्मीर का राज्य था। यहाँ सातवीं शताब्दी में दुर्लभवर्धन ने कर्कोटक अथवा नागवंश की स्थापना की थी। इस वंश में ललितादित्य मुक्तपीड़ (७२४-७६० ई०) नाम का बड़ा प्रतापी और विजयी राजा हुआ। उसने कन्नौज के राजा यशोवर्मन् को युद्ध में पराजित किया। उसकी विजयों का वर्णन कल्हण कविकृत 'राजतरंगिणी' नामक ग्रंथ में दिया हुआ है। इस वंश के कुछ राजा साहित्य और कला के आश्रयदाता थे। वामन और दामोदरगुप्त के अतिरिक्त रत्नाकर प्रधान सभापंडित था, जिसने 'हरविजय' महाकाव्य लिखा था। ग्यारहवीं शताब्दी के बाद का काश्मीरी इतिहास विलासिता, अत्याचार, शोषण तथा दुर्दशा का इतिहास है। सामान्यतया काश्मीर के राजा क्रूर, प्रजा के नाशक तथा धन-लोलुप थे। उन्हें प्रजा की तनिक भी चिन्ता न थी। फिर भी काश्मीर के पंडित सरस्वती की सेवा करते रहे। नवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक वहाँ संस्कृत के कई विद्वान् तथा कवि पैदा हुए। ललितादित्य के शासनकाल में निर्मित काश्मीर का सूर्यमंदिर प्रसिद्ध है। उसने शिव तथा विष्णु के भी अनेक मंदिर बनवाए थे।

वंगाल का पाल-वंश (७५०-११६२ ई०)

हर्ष के समकालीन शैव राजा शशांक की मृत्यु के पश्चात् बंगाल (गौड़) में अराजकता फैल गई। शशांक बौद्ध धर्म का कट्टर विरोधी था। उसने बौद्धों का नाश किया और बोधिवृक्ष को क्षति पहुँचाई। आठवीं शताब्दी के मध्य (सन् ७५०-७६० के बीच) की अशांत स्थिति में बंगाल के नेताओं ने परस्पर मिलकर अपने सरदार गोपाल प्रथम को राजा चुन लिया। उसी ने पाल-वंश की नींव डालकर अशांति एवं अव्यवस्था को दूर किया। उसका पुत्र धर्मपाल बड़ा विजयी और धार्मिक था। राज्य-विस्तार के हेतु उसे मालवा के प्रतिहारों और महाराष्ट्र के राष्ट्रकूटों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा। वह बौद्ध धर्म का माननेवाला था और विक्रमशिला (भागलपुर जिला) नामक महाविहार (विश्वविद्यालय) का निर्माण उसी ने कराया था। पाल-वंश के अंतिम 'राजाओं में रामपाल सब से अधिक शक्तिशाली और प्रसिद्ध हुआ। उसके सभा-कवि सन्ध्याकर नन्दी ने अपने 'रामचरित' नामक ग्रन्थ में उसका इतिहास लिखा है। पाल-काल में उल्लेखनीय सांस्कृतिक अभ्युदय हुआ। पाल-वंशी नरेश बौद्ध धर्मावलंबी थे। उन्होंने शिक्षा तथा कला के क्षेत्र में बहुत कार्य किया। नालन्दा तथा विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों में हजारों विद्यार्थी उन्हीं की दानशीलता के बल पर शिक्षा पाते थे। पाल राजाओं ने हजारों मठ-मंदिरों तथा मूर्तियों का निर्माण कराया। धार्मिक नीति में ये राजा बड़े सहिष्णु थे।

सेन-वंश (१०९५-१२०२ ई०)

पर पाल-शक्ति स्थायी न बन सकी। पूर्व से सेनों और पश्चिम से गहरवारों के आक्रमणों से यह वंश दबता गया। ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बल्लालसेन (११५९-११८५ ई०) ने उनकी शक्ति को सर्वथा नष्ट करके सेन-वंश के राज्य की सीमा ठेठ बिहार तक बढ़ा ली। इस वंश का मूल संस्थापक सामन्तसेन था। बल्लालसेन तथा लक्ष्मणसेन इस वंश के प्रसिद्ध राजा थे, जो स्वयं विद्वान् थे एवं विद्वानों के आश्रयदाता भी थे। लक्ष्मणसेन की राजसभा में 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव और पवनदूत के लेखक धोयिक नामक कवि रहते थे। लक्ष्मणसेन के बाद सेनवंश का शीघ्रता से ह्रास होने लगा। सेन शासक वैष्णव मत के कट्टर अनुयायी थे और बौद्ध मत के विध्वंसक थे। उनका शासन-काल ब्राह्मण-धर्म के प्रचार, जाति-व्यवस्था में सुधार और ऊँची जातियों में कुलीनता के प्रचार के लिए प्रसिद्ध है। सेन-राजाओं के शासनकाल में प्रजा साहित्य तथा भक्ति का ही रसास्वादन करती रही—राजनीतिक दृष्टि से इन राजाओं को सफलता न मिल सकी। अशांत वातावरण में भी शस्त्र के बदले शास्त्र की चर्चा सेन-राजसभा में होती रही और अच्छे साहित्यिक ग्रंथ लिखे गए! किन्तु देश की राजनीति में उनका सब से निकृष्ट कार्य था तुर्क विजेताओं के दल से मिलकर बौद्धों के नालन्दा-विश्वविद्यालय का विध्वंस करवाने में सहायक होना! इस घृणित कार्य के बाद तुर्क आक्रान्ताओं के हाथों स्वयं उनका भी अंत हो गया। ११९९ ई० में कुतुबुद्दीन के सेनानायक ने बंगाल

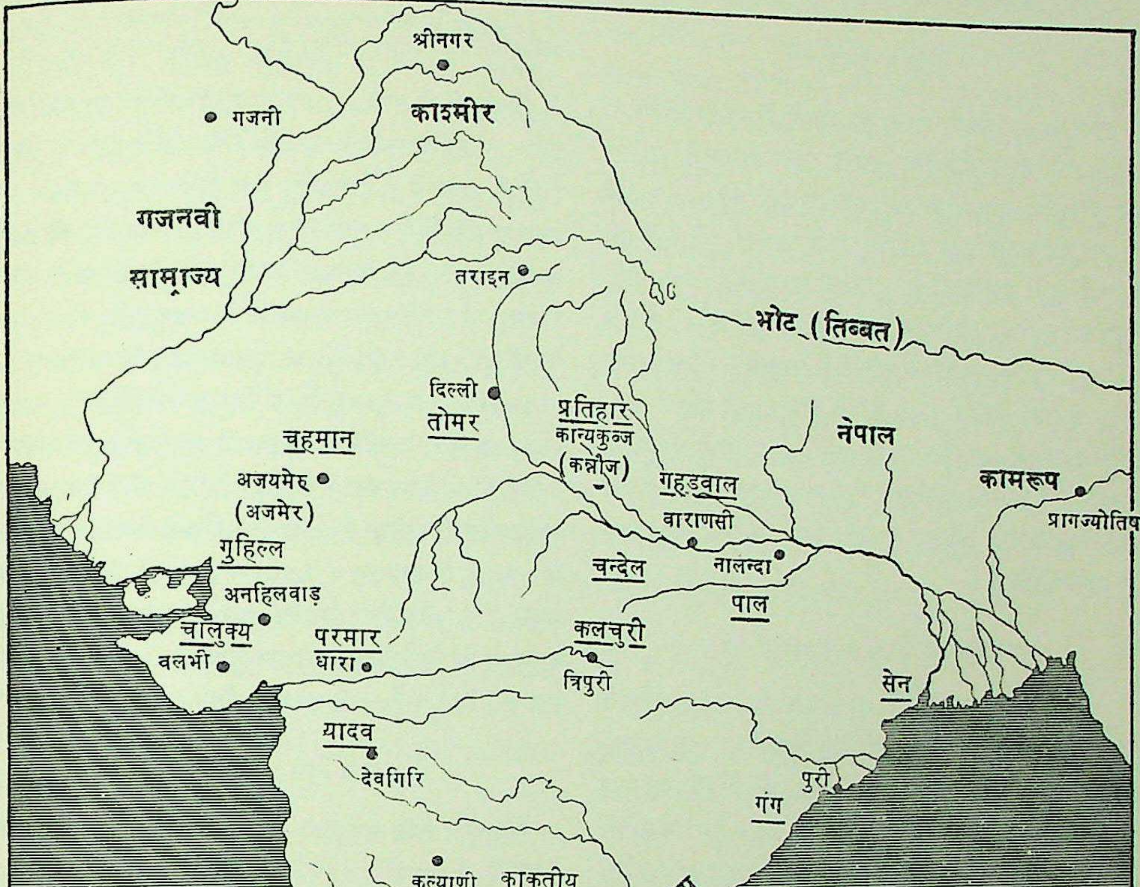
श्रीनगर
गजनी
काश्मीर
गजनवी
साम्राज्य
तराइन
भोट (तिब्बत)
दिल्ली
तोमर
प्रतिहार
कान्यकुब्ज
(कन्नौज)
चहमान
अजयमेरु
(अजमेर)
नेपाल
गहड़वाल
वाराणसी
कामरूप
प्रागज्योतिष
गुहिल्ल
अनहिलवाड़
चन्देल
नालन्दा
पाल
चालुक्य
वलभी
परमार
धारा
कलचुरी
त्रिपुरी
सेन
यादव
देवगिरि
पुरी
गंग
कल्याणी
काकतीय
वारंगल
उत्कल
वातापी
चोल
द्वारसमुद्र
होयसाल
कांची
मदुराइ
पांडय
अनुराधापुर
सिंहल

पूर्वमध्यकालीन भारत—राजपूत-युग

रेखाङ्कित नाम विविध क्षेत्रों पर शासनाधिकार स्थापित किए हुए प्रमुख राजवंशों को सूचित करते हैं। इनमें से बहुतेरे राजवंश पहलेपहल इसी युग में समुच्छ्वसित हुए थे।

पर आक्रमण किया और माधवसेन को हराकर उसके प्रान्त पर अपना अधिकार जमा लिया।

दक्षिण के राज्य

इस युग में दक्षिण भारत की राजनीतिक परिस्थिति भी उत्तर से भिन्न न थी। जिस प्रकार उत्तर भारत में हर्षवर्धन के साम्राज्य के पतन के बाद परस्पर संघर्षशील छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हो गई थी, उसी प्रकार दक्षिण में भी आन्ध्रों तथा वाकाटकों के साम्राज्य का अन्त होने पर छोटे-छोटे राज्य उत्पन्न हो गए थे, जो स्थायी रूप से सम्पूर्ण दक्षिण को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधने में असमर्थ थे। ये सदैव एक दूसरे से लड़ा करते थे। इस युग के शक्तिशाली दक्षिण भारतीय राज्यों में वातापी के राष्ट्रकूटों, कल्याणी के चालुक्यों, देवगिरि के यादवों, द्वारसमुद्र के होयसालों और सुदूर दक्षिण के पल्लव, चोल, पाण्ड्य तथा चेर राज्यों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

राष्ट्रकूट (७५३-९७३ ई०)

हर्षवर्धन के समकालीन तथा उसे पराजित करनेवाले वातापी के चालुक्य राजा पुलकेशिन् द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त चालुक्यों का राज्य (५५०-७५३ ई०) दुर्बल हो गया और आठवीं शताब्दी के मध्य (लगभग ७५३ ई०) में दन्तिदुर्ग ने चालुक्य राजा कीर्तिवर्मा द्वितीय से वातापी नगरी छीनकर राष्ट्रकूट-राज्य की स्थापना की। उसके उत्तराधिकारी कृष्ण प्रथम ने लगभग सारा दक्षिण भारत अपने अधीन कर लिया। उसी ने एलोरा के प्रसिद्ध कैलाश-मन्दिर का निर्माण कराया, जो भारतीय स्थापत्य का एक अद्भुत उदाहरण है। कृष्ण के बाद गोविन्द और उसके बाद ध्रुव नामक राजा हुआ। ध्रुव बहुत बड़ा विजेता था। उसके बाद गोविन्द तृतीय (७९३-८१४ ई०) और तदनंतर अमोघवर्ष प्रथम गद्दी पर बैठा। अमोघवर्ष (८१४-८७७ ई०) भी बड़ा विजेता, दानी तथा जैन धर्म का पोषक था। राष्ट्रकूटों को अपनी शक्ति का विस्तार करने में उत्तर में प्रतिहारों तथा दक्षिण में चालुक्यों, पल्लवों तथा चोलों के साथ निरंतर युद्ध करना पड़ा। इस वंश ने लगभग दो सौ वर्ष तक राज्य किया। राष्ट्रकूटों के आश्रय में जैन साहित्य की विशेष उन्नति हुई। गुर्जर-प्रतिहारों पर दबाव डालने के अभिप्राय से उन्होंने सिंध के अरबों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखा, जो राष्ट्रीय दृष्टिकोण से घातक था। उन्होंने अपने राज्य में अरबों को व्यापार करने, मसजिद बनाने और निजी कानून व्यवहार में लाने की स्वतन्त्रता भी दी थी। इसका मुसलमानों ने अनुचित लाभ उठाया।

कल्याणी के पश्चिमी चालुक्य (९७३-११९० ई०)

राष्ट्रकूटों के पतन के बाद चालुक्य-शक्ति का पुनरोदय हुआ। दसवीं शताब्दी के अन्त में तैलप द्वितीय (९७३-९९७ ई०) ने कल्याणी (हैदराबाद) में पुनः चालुक्य राज्य की स्थापना की, जिसे 'कल्याणी के पश्चिमी चालुक्य' की संज्ञा प्रदान की जाती है। कल्याणी के चालुक्यों की दक्षिण के चोल राजाओं और उत्तर के परमारों तथा कलचूरियों से बराबर लड़ाई होती रही। इस वंश का एक महान् शक्तिशाली राजा विक्रमादित्य छठा १०७६ ई० में सिंहासन पर बैठा था। वह विद्या एवं कला का पोषक था। उसकी राजसभा में 'विक्रमांकदेवचरित' का लेखक काश्मीरी पंडित बिल्हण और याज्ञवल्क्य-स्मृति की प्रसिद्ध टीका 'मिताक्षरा' के लेखक विज्ञानेश्वर रहते थे। उसके शासनकाल (१०७६-११२७ ई०) में बहुत-से भवनों और मन्दिरों का निर्माण हुआ। विक्रमादित्य के बाद चालुक्यों का फिर से पतन प्रारम्भ हुआ और बारहवीं शताब्दी के अंत (११९० ई०) में उनकी शक्ति समाप्त हो गई।

यादव तथा होयसाल

राष्ट्रकूटों तथा चालुक्यों का राजनीतिक उत्तराधिकार देवगिरि के यादवों (११९०-१३१८ ई०) ने ग्रहण किया, क्योंकि पश्चिमी चालुक्य सोमेश्वर चतुर्थ के शासन-काल में दक्षिण में होयसाल और उत्तर में यादव स्वतन्त्र हो गए थे और उनकी बढ़ती हुई शक्ति ने चालुक्यों के शासन का अन्त कर दिया था। यादव राजाओं ने वारंगल के काकतीय और द्वारसमुद्र के होयसाल राजाओं से कई बार लड़ाई लड़ी। होयसाल राजाओं को अपनी शक्ति का विस्तार करने में कदंब, चोल तथा पाण्ड्य राज्यों से भी मोर्चा लेना पड़ा। बारहवीं शताब्दी में दक्षिण के इन राज्यों में समस्त दक्षिणी क्षेत्र को अधीन करने के लिए परस्पर भीषण युद्ध होते रहे और प्रत्येक की यह इच्छा रही कि वह सब के ऊपर अपना आधिपत्य जमाए।

चालुक्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् सुदूर दक्षिण में भी विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रबल हो गई और वहाँ भी कई छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हो गई।

पल्लव-वंश

पाँचवीं से नवीं शताब्दी ई० तक दक्षिण भारत में पल्लव-वंश अत्यन्त शक्तिशाली रहा। पल्लव दक्षिण के वाकाटकों

की एक शाखा थी। इस वंश का संस्थापक बप्पदेव था और उसकी राजधानी कांची में थी। इस वंश का प्रसिद्ध राजा विष्णुगोप था, जिसने समुद्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार किया था। छठी शताब्दी ई० के बाद से इस वंश का शीघ्रता से विकास हुआ और उस समय से आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक पल्लव व चालुक्य राज्य स्वाभाविक शत्रुओं के समान लड़ते रहे। पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन् प्रथम (६०९-६२५ ई०) को ६०९-६१० ई० के लगभग चालुक्य राजा पुलकेशिन् द्वितीय ने हरा दिया। महेन्द्रवर्मन् का उत्तराधिकारी नरसिंहवर्मन् प्रथम (६२५-६४५ ई०) था, जिसके शासनकाल में पल्लव-शक्ति एवं कला चरम उत्कर्ष पर पहुँच गई। उसने चालुक्य राजा पुलकेशिन् को हराकर उसकी राजधानी वातापी पर अधिकार कर लिया। चालुक्यों, राष्ट्रकूटों, पाण्ड्यों और चोलों के संघर्ष के कारण यह वंश दुर्बल होता गया। चोल राजा आदित्य प्रथम ने अंतिम पल्लव राजा अपराजितवर्मन् को हराया और नवीं शताब्दी के अंत (८८० ई०) में पल्लव-शक्ति का अंत किया। पल्लव सनातनी हिन्दू थे। वे प्रायः वैष्णव रहे, किन्तु कभी-कभी उनमें कुछ शैव भी पाए गए। पल्लवों की कांची नगरी शिक्षा का विशाल केन्द्र था, जहाँ से दक्षिण में और सुदूर पूर्व के भारतीय उपनिवेशों में सफलतापूर्वक संस्कृति का प्रचार किया गया।

चोल-राज्य

चोल-वंश सुदूर दक्षिण का एक बहुत प्राचीन राजवंश था। इस वंश के राजा अपने को सूर्यवंशी क्षत्रिय मानते थे। पल्लवों के पतनोपरान्त चोल-शक्ति का पुनरोदय हुआ और अपना राज्य-विस्तार करने में चोलों को पाण्ड्यों, राष्ट्रकूटों तथा चालुक्यों से भीषण संघर्ष करना पड़ा। चोल-वंश में राजराज प्रथम (९८५-१०१४ ई०) तथा राजेन्द्र प्रथम (१०१४-१०४२ ई०) प्रसिद्ध राजा थे। ९८५ ई० में जब राजराज सिंहासन पर आया, तब चोल राज्य को उत्तर का भय जाता रहा, क्योंकि चालुक्यों ने राष्ट्रकूटों को हरा दिया था। फलतः चोल-वंश के स्वर्णयुग का श्रीगणेश हुआ। राजराज की गणना भारत के प्रसिद्ध विजेताओं में की जाती है। उसकी विशाल एवं विजयी सेना दक्षिण में लंका से लेकर उत्तर में कलिंग तक पहुँची थी। उसके पास एक बलशाली जहाजी बेड़ा भी था। वह योग्य शासक और साहित्य तथा कला को प्रश्रय देनेवाला राजन्य था। उसका पुत्र राजेन्द्र प्रथम अपने पिता से भी बढ़कर विजयी और योग्य हुआ। संपूर्ण दक्षिणापथ को जीतने के बाद उसकी सेना कलिंग, उड़ीसा, बंगाल और मगध होती हुई गंगा तक पहुँची। उसने 'गंगईकोण्ड' की पदवी धारण की और एक नगर बसाया, जिसका नाम गंगईकोण्ड-चोलापुरम् रखा। उसका जहाजी बड़ा अंडमान, निकोबार, ब्रह्मा, मलाया, सुमात्रा, जावा और पूर्वी द्वीप-समूह के अन्य टापुओं तक पहुँचा था। राजेन्द्र प्रथम के समय में भारतीय व्यापार, उपनिवेश और संस्कृति के प्रसार को बड़ा प्रोत्साहन मिला। उसके पश्चात् राजाधिराज, वीर राजेन्द्र, अधिराजेन्द्र आदि कई राजा इस वंश में हुए। अधिराजेन्द्र के बाद चोल-राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी। बारहवीं शताब्दी में परस्पर कलह की आग भड़की, जिसके कारण इस राज्य का ह्रास और भी तेजी से होना प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार चोलों का महत्व घट गया और उनके सुदूरवर्ती प्रांत अलग हो गए। चोल-वंश अपने सुशासन, कला-प्रेम और धार्मिक कार्यों के लिए प्रसिद्ध है। उसके शासनकाल में साहित्य और कला को प्रचुर प्रोत्साहन मिला। इस काल में संस्कृत और तमिल दोनों ही भाषाओं में उत्तम कोटि के ग्रंथ लिखे गए।

पांड्य तथा चेर

चोल-राज्य के दक्षिण-पश्चिम में पांड्द-वंश की सत्ता स्थापित थी। यह वंश बहुत पुराना था और मध्यकाल में पल्लव और चोल-राज्यों से इसका बराबर संघर्ष चलता रहा। चोलों के ह्रास के बाद पाण्ड्य-वंश की शक्ति कुछ बढ़ गई थी, किन्तु तुर्कों के आक्रमणों के सामने वह न ठहर सका।

पाण्ड्य-राज्य के पश्चिम में प्राचीन चेर-राज्य था। इसका प्रायः समूचे केरल पर आधिपत्य था। चेर-राज्य को क्रमशः आन्ध्र, चालुक्य, पल्लव, चोल और पाण्ड्यों का आधिपत्य सहन करना पड़ा। चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब मलिक काफ़ूर ने मदुरा पर चढ़ाई की, तब चेर राजा रविवर्मन कुलशेखर ने चोल और पाण्ड्य राज्यों के कुछ भागों को जीतकर अपनी सीमा का विस्तार किया था। रविवर्मन के बाद धीरे-धीरे चेर-वंश समाप्त हो गया।

भारत में इस्लाम का प्रवेश

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि राजपूत-काल में भारत में अनेक प्रतापी, पराक्रमी एवं प्रतिभाशाली शासकों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किए। गुर्जर-प्रतिहार तथा पल्लव साम्राज्यों ने ही मुसलमानों के पूर्वीय तथा दक्षिणी बढ़ाव को दीर्घकाल तक रोका था। इस युग के महान् शासकों में यशोवर्मन्, नागभट्ट द्वितीय, धर्मपाल, महिपाल, महेन्द्रवर्मन्, नृसिंहवर्मन्, मिहिरभोज तथा भोज केवल

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पराक्रमी योद्धा ही नहीं थे, वरन् वे धर्म, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान तथा ललित कला के आश्रयदाता एवं पोषक भी थे। ये सब सुसंस्कृत, सुयोग्य, प्रतिभावान् नरश्रेष्ठ थे। अपने-अपने वैयक्तिक गुणों, शौर्य एवं साहस के बल पर वे किसी भी समाज के आभूषण बन सकते थे। किन्तु "वैयक्तिक एवं वंशगत महत्वाकांक्षाओं के कारण भारतीय राजनीति ने एक मल्लयुद्ध का-सा रूप ले लिया था। लड़ाइयाँ बिना किसी विशेष या सार्थक कारणों के होती थीं, जो प्रत्येक सुयोग्य और महत्वाकांक्षी शासन को भी केवल अपनी ही पूर्ति के लिए अंकुशित करती रहती थीं।" तात्पर्य यह कि इस युग का भारत राजनीतिक दृष्टि से बहुत दुर्बल तथा भेद्य था। इस राजनीतिक दुर्बलता एवं अनैक्य ने ही मुसलमानों को भारत पर आक्रमण करने का आह्वान किया और उसका स्वाभाविक परिणाम हुआ हिन्दू भारत का अन्त! अतः यह कहना निराधार न होगा कि इस देश के राजतंत्र में एकता का अभाव ही भारत की दासता का मुख्य कारण सिद्ध हुआ।

इस्लाम के उदय तथा योरप और मध्य-पूर्व एशिया के देशों में उसकी विजय एवं विस्तार की गाथा पर हम पहले ही दृष्टिपात् कर चुके हैं। भारत में इस्लाम का प्रवेश दो ढंग से हुआ—एक तो शक्तिपूर्वक और दूसरे अरब व्यापारियों, फकीरों और दर्वेशों के प्रचार द्वारा। भारत की राजनीतिक-सामाजिक परिस्थिति और धार्मिक सहिष्णुता इस दिशा में काफी सहायक सिद्ध हुई। शताब्दियों पहले से अरब लोग भारत के साथ व्यापार करते आए थे। मुसलमान बन जाने के बाद अरब व्यापारी अपने छुहारे और खजूर के साथ भारत के पूर्वीय तथा पश्चिमी तटों तक इस्लाम का संदेश भी पहुँचाने लगे।

मुस्लिम दर्वेशों तथा फकीरों ने धर्म-प्रचार का यह काय ग्यारहवीं शताब्दी से प्रारंभ किया था और इन्हें प्रोत्साहित करनेवाली कोई राजनीतिक शक्ति उस समय न थी। उन्होंने अपने उपदेशों तथा चमत्कारों से जनता के कई वर्गों को मुसलमान बनाया। १००५ ई० में शेख इस्माईल बुखारा से भारत आया और उसने सैकड़ों लोगों को मुसलमान बनाया। इसी तरह १०६७ ई० में अब्दुल्लाह यमनी ने गुजरात में धर्म-प्रचार किया। बारहवीं शताब्दी ई० के प्रारंभ में नूर सतागर ईरानी ने गुजरात की कई नीच जातियों को मुसलमान बनाया। अगली शताब्दियों में प्रचार-कार्य करनेवाले मुस्लिम फकीरों में जलालुद्दीन बुखारी, सैयद अहमद कबीर, ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती, निजामुद्दीन औलिया (१४ वीं शती), ख्वाजा कुतुबुद्दीन, शेख अलाउद्दीन अली और अहमद साबिर पिरानकलियरवाले के नाम प्रसिद्ध हैं। हिन्दुओं की जाति-प्रथा के कारण पददलित एवं बहिष्कृत व्यक्तियों तथा नीच जातियों को मुसलमान बनाने में इन्हें सहज सफलता मिली।

पहला मुस्लिम आक्रमण

इस्लाम के बलपूर्वक प्रवेश का कार्य मुस्लिम आक्रान्ताओं ने किया। इनमें पहला आक्रमण ७१२ ई० में इमादुद्दीन मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर किया था। इसका कारण यह बताया जाता है कि अरब व्यापारियों का एक दल मलाबार-तट से लौटते समय अपने साथ दमिश्क के खलीफा तथा उसके सूबेदार के लिए भेंट की सामग्री लिए जा रहा था। सिंध के मुहाने पर कुछ समुद्री डाकुओं ने उसे लूट लिया और इन अरबों को देवल (कराँची) के बन्दरगाह में नजरबंद कर दिया। ईराक के सूबेदार ने आगबबूला होकर अपने दामाद तथा भतीजे इमादुद्दीन को, जिसकी अवस्था उस समय केवल सत्रह वर्ष की ही थी, एक शक्तिशाली सेना के साथ सिंध के राजा को दंडित करने के लिए भेजा। उस समय सिन्ध में राजा दाहिर था, जो ब्राह्मणवंशी था। दुर्भाग्य से उसके और प्रजा के बीच प्रेम एवं सद्भावना का सर्वथा अभाव था। प्रजा में असंतोष अधिक बढ़ा हुआ था। सिन्ध की बहुसंख्यक जनता जाट नस्ल की थी। वह बौद्ध धर्म को मानती थी। इससे ब्राह्मण धर्मानुयायी शासकों तथा बौद्ध धर्मानुयायी शासितों में द्वेषभाव फैल गया था। परिणाम हुआ दाहिर की पराजय तथा अरबों द्वारा सिंध की विजय!

पर इस दुःखान्त नाटक का एक सुनहला पृष्ठ भी है। कहते हैं, दाहिर की रानी के नेतृत्व में भारतीय वीरांगनाओं ने डटकर शत्रु से लोहा लिया, यद्यपि उनके प्रयत्न निष्फल रहे। तब अपने प्राणधन के वीरगति को प्राप्त होते देख उन्होंने वीरतापूर्वक राजपूत परिपाटी के अनुसार सहस्रों की संख्या में जौहर कर लिया!

भारत में इस्लाम की यह प्रथम विजय थी। पर इसका स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। अरबों का आक्रमण विफल रहा। वास्तव में जीतकर भी विजेताओं को भारत की संस्कृति के सामने नतमस्तक होना पड़ा। पर अरब आक्रमणकारियों को सब से मूल्यवान् वस्तु भारत की संस्कृति मिली। हैवेल के शब्दों में "जिस समय इस्लाम सीखने योग्य यौवन की अवस्था में था, उस समय उसे यूनान ने नहीं, वरन् भारत ने दीक्षा दी; उसके दर्शन तथा आध्यात्मिक-धार्मिक आदर्शों का निर्माण किया और उसके साहित्य, कला तथा स्थापत्य की विशिष्ट शैलियों को अनुप्राणित किया।"

स्थायी विजय के लिए इस्लाम को तीन सौ वर्षों बाद ग्यारहवीं शताब्दी में पुनः नए सिरे से प्रयत्न करने पड़े। ये प्रयत्न अन्य दिशा से और अन्य जाति--तुर्कों--द्वारा हुए। हम पिछले पृष्ठों में तुर्कों का परिचय प्राप्त कर चुके हैं। अरब लोग इस्लाम को कार्दोवा तक ले गए थे; ईरानियों ने उसे बगदाद पहुँचाया था और तुर्क उसे दिल्ली लाए। उनका मुख्य प्रतिनिधि था महमूद गजनवी (९९७-१०३० ई०), जिसने भारत पर लगातार सत्रह आक्रमण किए ! इन आक्रमणों की संख्या का इतना अधिक महत्व नहीं है, जितना कि उनके रूप एवं उद्देश्य का। महमूद को भारत में इस्लामी सत्ता की स्थापना से उतना वास्ता नहीं था, जितना कि धन की लूट से। वह तो महज हिंदू-मंदिरों की स्वर्णराशि लूटने आया था और लूट के उन धन से उसकी धनलिप्सा और भी अधिक तीव्र हो गई थी !

महमूद के आक्रमणों का एक पहलू और भी था। वह कट्टर इस्लाम के विरुद्ध धर्मद्रोह करनेवालों के विरुद्ध युद्ध करना भी चाहता था, चाहे वे मुसलमान ही क्यों न हों। हमें स्मरण रखना चाहिए कि सिंध तथा मुल्तान पहले से ही मुस्लिम प्रान्त थे और वे ऐसे धर्मद्रोहियों के शरण-स्थल बने हुए थे। मुल्तान का शासक अब्दुल फतेह दाऊद ऐसे धर्मद्रोही संप्रदाय से संबन्धित था, जो कट्टर इस्लाम को घृणा की दृष्टि से देखता था। ग्यारहवीं शताब्दी में पंजाब में शाही-वंश के राजा जयपाल का पुत्र आनंदपाल शासन कर रहा था। जब महमूद ने १००८ ई० में मुल्तान तथा पंजाब पर आक्रमण किया, तो मुल्तान के दाऊद तथा आनन्दपाल ने संयुक्त मोर्चा बना लिया, जैसा कि आगे चलकर पाँच सौ वर्ष बाद राणा साँगा तथा हसन खाँ मेवाती ने बाबर के विरुद्ध किया था ! उज्जैन, ग्वालियर, कन्नौज, दिल्ली तथा अजमेर के राजाओं के सम्मिलित हो जाने से यह संघ और भी शक्तिशाली बन गया। फरिश्ता लिखता है कि इस संघ के सदस्यों ने पेशावर के युद्ध में "मुसलमानों को भारत से निकाल भगाना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझा। आनंदपाल ने स्वयं सेना का नेतृत्व किया। .... काफिरों की सेना में दिन प्रति दिन वृद्धि होती गई और हर दिशा से उन्हें सहायता मिलने लगी। इस अवसर पर हिन्दू स्त्रियों ने अपने आभूषण बच दिए और जो धन मिला, उसे अपने पतियों के पास भेज दिया, जिससे उन्हें युद्ध की आवश्यकता की सब वस्तुएँ मिल सकें। ..... जो गरीब थीं, उन्होंने सूत कातकर तथा अन्य परिश्रम करके चन्दा भेजा।" किन्तु अकस्मात् जिस हाथी पर आनन्दपाल सवार था, वह गोलों की मार से घबड़ाकर पीछे मुड़कर भाग खड़ा हुआ ! हिंदुओं ने समझा कि हमारा सेनापति भाग गया है, अतः वे सब भी भाग खड़े हुए ! इस प्रकार मध्ययुगीन भारत का विदेशियों के विरुद्ध आयोजित अद्भुत रूप से संगठित यह महाप्रयत्न असफल हो गया !

अभूतपूर्व विध्वंस और लूट

राष्ट्रीय मोर्चे की इस विफलता ने महमूद को आगे की ओर बढ़ने को सहज ही प्रोत्साहित किया। नगरकोट, थानेश्वर, मथुरा, कन्नौज और सोमनाथ सभी स्थान इस लुटेरे के शिकार बने ! उसने इस देश की संस्कृति और कला के पीठस्थानरूपी भव्य मंदिरों को निर्दयतापूर्वक तोड़ा ! उनकी कलापूर्ण मूर्तियों को चूर-चूर कर दिया ! उसकी इस विनाश-लीला की पराकाष्ठा पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित सोमनाथ के महान् देवालय के विध्वंस और वहाँ की धनराशि की लूट में हुई ! सारे मानवीय इतिहास में इस लुटेरे से ज्यादा धनलोलुप और उस लिप्सा की तृप्ति के लिए तबाही मचा देनेवाला आक्रान्ता दूसरा शायद ही और कोई हुआ हो !

महमूद के चरित्र एवं कार्यों का मूल्यांकन करते हुए भारतीय लेखक प्रोफेसर हबीब का कथन है कि "इस्लाम के अनुसार न तो आक्रमणकारी का कलाकृतियों के प्रति बर्बर आचरण ही उचित था और न उसका लूट का उद्देश्य ही।" फिर भी धर्मान्ध लोगों ने उसे एक गाजी तथा अपने युग का महानतम मुस्लिम शासक समझा ! उसकी जीत का फल यह हुआ कि पंजाब से हिन्दू-शासन समाप्त हो गया।

अन्य आक्रमणकारी--शहाबुद्दीन गोरी

महमूद के दो सौ वर्षों बाद भारत में बलपूर्वक इस्लाम का प्रचार करनेवाला अन्य आक्रमणकारी शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी था, जो संभवतः अफगान था। यह आक्रान्ता निश्चय ही विजित प्रदेशों को अपने राज्य में सम्मिलित करने के उद्देश्य से भारत आया था। इसी के हाथों गहरवार तथा चौहान वंश का नाश हुआ। गोरी की विजय का मुख्य कारण यह था कि कन्नौज के राजा जयचन्द ने उसके विरुद्ध पृथ्वीराज का साथ नहीं दिया था, वरन् अपने दामाद के नाश से उसे अतीव प्रसन्नता हुई थी ! इसकी वजह यह थी कि पृथ्वीराज उसकी पुत्री को भगा ले गया था, गोकि वह राजकन्या स्वयं इस कार्य से सहमत थी। उन दिनों जयचन्द भारत का महानतम शासक था। उसका राज्य सब से बड़ा था। गोरी को तो हिंदुस्तान

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

की विजय करना था। वह ऐसे प्रभावशाली शासक के अस्तित्व को कैसे सहन कर सकता था! इसलिए ११९४ ई० में चन्दावर के युद्ध में जयचंद को भी गोरी के हाथों उसी घाट उतरना पड़ा, जिस घाट उसका दामाद दो वर्ष पहले उतर चुका था! जयचंद के पतन से मुहम्मद अधिकांश उत्तरी भारत का स्वामी हो गया। गोरी के सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक ने उत्तरी भारत के और भी भाग गोरी-राज्य में मिला लिए। अब मुसलमानों की दृष्टि बंगाल पर भी गई। बख्तियार खिलजी बिहार प्रांत को जीतकर, बौद्ध विश्वविद्यालय विक्रमशिला को नष्ट करता हुआ, बंगाल की राजधानी नदिया पर आक्रमण कर बैठा। सेन राजा महल से भाग गया और बिना श्रम के ही सारा राज्य विजेता के हाथों में चला गया! इस तरह पंजाब से बंगाल तक इस्लाम की विजय-पताका फहराने लगी। मन्दिर मसजिदों के रूप में परिणत हो गए। बंगाल के बौद्ध धर्मानुयायियों ने इस्लाम मत को अंगीकार कर विरोध की भावना त्याग दी। इस प्रकार हिन्दू भारत का अवसान हो चला।

हिन्दू भारत के पराभव का रहस्य

हम यह देख चुके हैं कि भारत पर पहले भी विदेशियों के आक्रमण हुए थे। ईरानी, यूनानी, शक, कुषाण और हूण आदि जातियों ने विविध अवसरों पर भारत पर आक्रमण किया। परन्तु प्रत्येक अवसर पर यह देश शीघ्र ही सम्हलकर स्वतंत्र हो गया। लेकिन मुसलमानों के इन आक्रमणों के बाद दीर्घकाल तक भारत ऐसा नहीं कर सका। इसका क्या कारण था? इस महत्वपूर्ण विषय के कारणों पर प्रकाश डालना अत्यावश्यक है।

मध्यकालीन भारत के पराभव के कारण वस्तुतः उसके राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सैनिक व्यवस्थाओं में निहित थे। हिन्दुओं में वीरता, शक्ति, आत्म-त्याग, कष्ट-सहन इत्यादि के गुण तो किसी प्रकार कम न थे। वे वीरों की भाँति प्राणोत्सर्ग करना जानते थे। उनमें स्वदेश तथा स्वधर्म के प्रति श्रद्धा और प्रेम की भी कमी न थी। वे संकट उपस्थित हो जाने पर एक संघ में मिलकर अपनी रक्षा करने को भी उद्यत हो जाते थे। सेना और अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग में भी उनके शत्रुओं में कोई विशेषता नहीं थी। तो फिर इन विशिष्ट गुणों से संपन्न होने के बावजूद भी हिन्दुओं का पराभव क्यों हुआ?

पहला कारण तो यह था कि इस युग में राजा तथा प्रजा में पारस्परिक सद्भावना का अभाव था। प्राचीन काल में इस देश में राजा प्रजा का रक्षक था। वह मंत्रिमंडल की सलाह से प्रजा के हित के लिए ही सारे कार्य करता था। परंतु पूर्वमध्यकाल में सब कहीं एकतांत्रिक एवं निरंकुश राज्यों की स्थापना हो जाने के बाद राजा मनमाने काम करने लगे। वे अपने में दैवी सत्ता का वास बताकर भोग-विलास में फँस गये। शासन में प्रजा का हाथ और दिलचस्पी नहीं रही। अतएव जब देश के ऊपर बाह्य आक्रमण हुआ, तो सारी प्रजा उसके विरोध में नहीं उठ खड़ी हुई। राज्य-परिवर्तन या शासन-परिवर्तन से प्रजा के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। अतः किसी विदेशी राजा के आ जाने पर भी प्रजा उसे उसी प्रकार कर देती थी, जिस प्रकार पुराने राजा को।

दूसरा कारण यह था कि पूर्वमध्यकालीन हिन्दू राजाओं में एकता का सर्वथा अभाव था। सभी अपने-अपने राज्य की सीमा का विस्तार करने तथा अपना प्रभुत्व फैलाने में ही लगे रहे। सामूहिक शक्ति संचारित करने का यदा-कदा जो प्रयास हुआ भी, तो वह निष्फल ही सिद्ध हुआ।

तीसरे, पूर्वमध्यकाल में प्रचलित धार्मिक भावना ने भी लोगों को संसार से विमुख कर उदासीन बना दिया। जैसा कि हम आगे देखेंगे, शंकर ने बौद्ध धर्म के विरुद्ध जिस अद्वैतवादी दर्शन का प्रचार किया, उसने जन-साधारण को कोई ऐसा प्रलोभन नहीं दिया, जिससे वे सांसारिक कार्यों में रत हो सकें। बुद्ध के निवृत्ति-मार्ग की तरह शंकराचार्य ने भी संन्यासी बनकर मठ में रहने का ही मत प्रचारित किया। इस प्रकार बौद्ध संघाराम तथा हिन्दू-मठों में कोई विशेष अंतर नहीं रह गया। सर्वत्र व्याप्त अहिंसा के भाव ने भी प्रजा में युद्ध के प्रति उदासीनता एवं अरुचि उत्पन्न कर रक्खी थी। परस्पर विरोधी मत अथवा संप्रदायों के अनुयायी आपस में न मिल सके। लोगों को इहलोक की अपेक्षा अपना परलोक बनाने की ही अधिक चिन्ता इस युग में रही।

चौथा कारण यह था कि पूर्वमध्यकाल का हिन्दू समाज अगणित जातियों एवं उप-जातियों में विभक्त था, जिसके कारण वह क्षीण होता जा रहा था। मुसलमानों के संपर्क से कितने ही हिन्दू जाति से अलग कर दिए जाते थे। इस तरह दलित एवं धर्म-भ्रष्ट कहे जानेवाले लोग दुबारा जाति में नहीं मिलाए जाते थे। समाज में कोई ऐसा सुधारक न था, जो देश की दुरवस्था देखकर जातियों में एकता उत्पन्न करने का प्रयत्न करता। फिर सामान्य जनता का यह दृढ़ विश्वास था कि राज्य करना और लड़ना केवल क्षत्रिय जाति का ही काम है। इससे लोगों के मन में धीरे-धीरे यह बात जम गई कि देश की रक्षा का भार केवल राजा और उसकी सेना पर ही है, जनता पर नहीं।

पाँचवाँ कारण सैनिक था। राजाओं के पास निजी सेना नहीं के बराबर होती थी। अपनी सुरक्षा आदि के लिए उन्हें

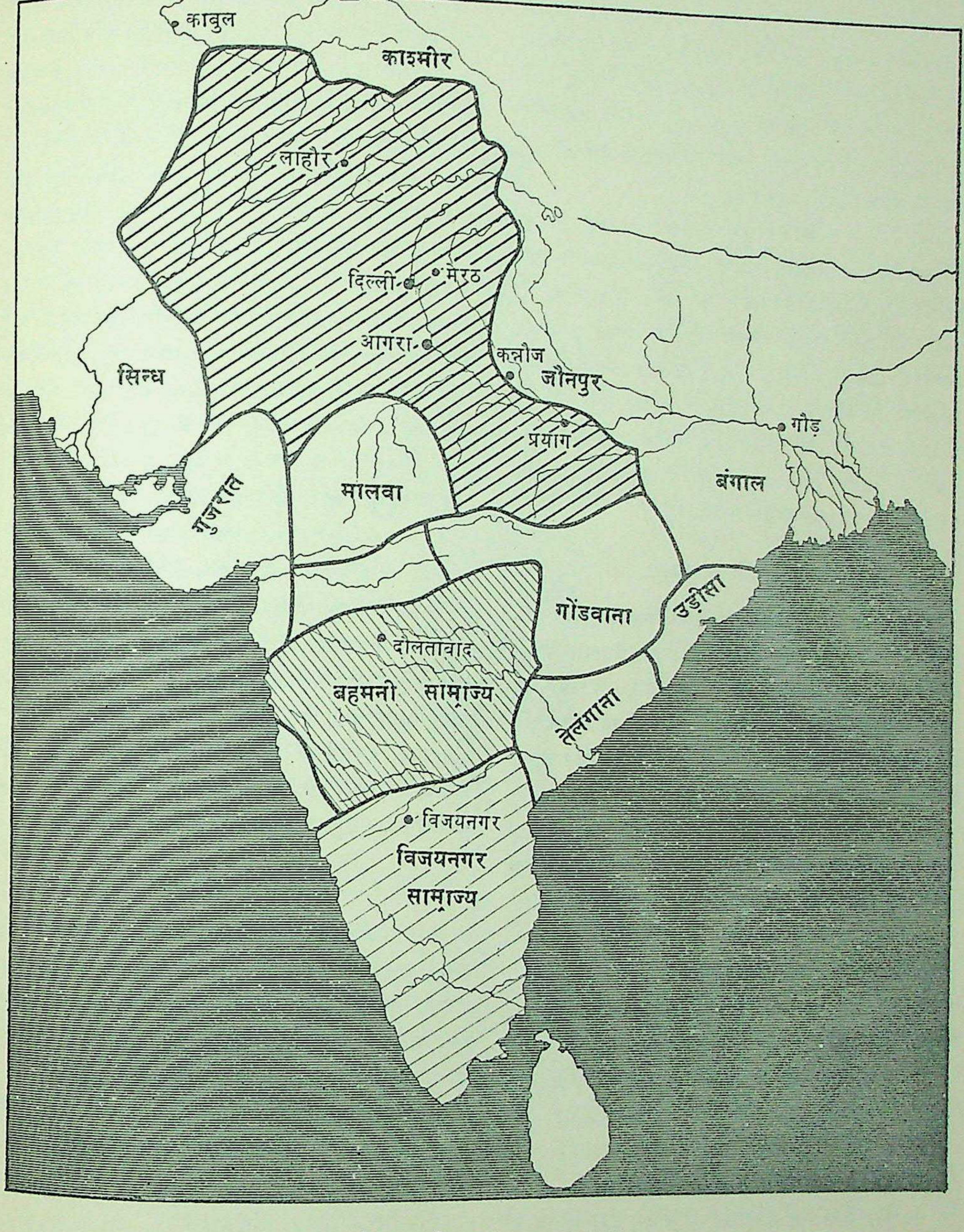
काबुल
काश्मीर
लाहौर
दिल्ली
मेरठ
आगरा
कन्नौज
जौनपुर
सिन्ध
गौड़
प्रयाग
गुजरात
मालवा
बंगाल
गोंडवाना
उड़ीसा
दौलताबाद
बहमनी साम्राज्य
तैलंगाना
विजयनगर
विजयनगर साम्राज्य

पूर्वमध्यकालीन भारत—सुल्तान-काल

उत्तर में मोटी तिरछी रेखाओं द्वारा तैमूरलंग के आक्रमण के समय दिल्ली की मुस्लिम सल्तनत का क्षेत्र दिग्दर्शित किया गया है। दक्षिण में इसी प्रकार अन्य प्रकार की रेखाओं द्वारा विजयनगर के प्रतापी हिन्दू-साम्राज्य एवं उसके पड़ोसी शक्तिशाली मुस्लिम बहमनी-साम्राज्य की सीमाएँ दिखाई गई हैं। इस काल के सिन्ध, गुजरात, मालवा, जौनपुर, काश्मीर आदि अन्य स्वतंत्र मुस्लिम राज्यों की सीमाएँ भी सूचित हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अपने सामन्तों तथा सरदारों के पास से आई हुई सेना पर ही निर्भर रहना पड़ता था। इस प्रकार इकट्ठी की गई विभिन्न दलीय सेना में सब से बड़ा दोष यह होता था कि नियमपूर्वक इसकी शिक्षा नहीं होती थी और न एक नेतृत्व में युद्ध करने का अभ्यास ही उसे होता था। जहाँ सभी नेता हों, उस सेना का तो ईश्वर ही रक्षक है! भारतीय सेना में हाथियों का उपयोग भी कई बार घातक सिद्ध हुआ।

सच तो यह है कि इस युग में आकर भारतीय समाज कुंठित हो गया था। देश में भीषण आर्थिक विषमता भी फैली हुई थी। भारतीय जीवन का ढाँचा भीतर से खोखला हो चला था। ऐसी स्थिति में प्रतिरक्षात्मक संघर्ष करने की क्षमता निःशेष हो जाती है। इस सम्बन्ध में श्री के० एम० पणिक्कर का मंतव्य विचारणीय है। उनका कहना है कि "देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए जनता में निरन्तर जागरूकता की भावना रहना आवश्यक है। सार्वजनिक जागरूकता राष्ट्रीय स्वतंत्रता की चौकीदार होती है।"

दिल्ली के सुल्तान

मुहम्मद गोरी की मृत्यु के पश्चात् विजित भारतीय प्रदेशों के शासन की बागडोर उसके प्रमुख दास और सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक के हाथ लगी। ऐबक १२०६ ई० में दिल्ली की गद्दी पर बैठा और उसी ने प्रसिद्ध 'दास-वंश' की नींव डाली, जिसके साथ दिल्ली-सल्तनत का इतिहास शुरू हुआ। कुतुबुद्दीन के सिंहासनारोहण से लेकर बाबर के आगमन (१२०६-१५२६ ई०) तक लगभग सवा तीन सौ वर्षों के इस 'सल्तनत-काल' में कुल पाँच मुस्लिम राजवंश तथा ३२ सुल्तान दिल्ली के तख्त पर बैठे। इन विदेशियों का निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासन रक्तपूर्ण खड्गनीति पर ही आधारित था। उनकी नीति निम्नांकित लक्ष्यों द्वारा निर्धारित थी :—

१. महत्वाकांक्षी तुर्की सैनिकों तथा अमीरों को मुट्ठी में रखना, ताकि वे सुल्तान के लिए भयावह न सिद्ध हो सकें।

२. अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए बहुसंख्यक हिन्दुओं के प्रयत्नों का अनवरत दमन।

३. मंगोलों के आक्रमण से पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा।

४. दक्षिण भारत में भी इस्लाम का ध्वज फहराना।

५. देश में शान्ति स्थापित करके एक सुदृढ़ शासन की जड़ जमाना।

इन लक्ष्यों की सिद्धि में जो सुल्तान जितना ही अधिक सफल हुआ, उसी अनुपात में वह उतना ही अधिक योग्य माना गया। इस कसौटी पर खरे उतरनेवाले सुल्तानों में दास-वंश के कुतबुद्दीन ऐबक, अल्तमश तथा बलबन; खिलजी-वंश के अलाउद्दीन; तुगलक-वंश के मुहम्मद तथा फीरोज और लोदी-वंश के सिकन्दर की गणना की जाती है। यदि दास-वंश (१२०६-१२९० ई०) के सुल्तानों के श्रम से दिल्ली सल्तनत की स्थापना और संगठन हुआ, तो निरंकुश और महत्वाकांक्षी अलाउद्दीन खिलजी (१२९६-१३१६ ई०) की युद्ध-नीति ने उसका विस्तार किया। उधर उस सनकी शासक मुहम्मद तुगलक (१३२५-१३५१ ई०) की प्रयोगात्मक और विचित्र योजनाओं से उत्पन्न आंतरिक विद्रोहों एवं उसके उत्तराधिकारी फीरोज (१३५१-१३८८ ई०) की चरित्रगत निर्बलताओं के कारण इस सल्तनत का ह्रास एवं विच्छेद भी प्रारम्भ हो गया। अंत में तैमूरलंग के आक्रमण (१३९८ ई०) ने उसे और भी क्षत-विक्षत कर दिया, यद्यपि सल्तनत के संध्याकाल में सिकन्दर लोदी (१४८९-१५१७ ई०) ने उसके पुनरुद्धार का निष्फल प्रयत्न किया।

उपर्युक्त सुल्तानों ने बहुसंख्यक विरोधी हिन्दुओं को दबाकर तलवार के बल पर अपना धर्म-प्रचार करने की भरपूर चेष्टा की। उन्होंने हिन्दू धर्म का सार्वजनिक पालन गैरकानूनी घोषित करके हिन्दू कलाकारों तथा शिल्पियों से ही अपनी मस्जिदों तथा मकबरों का निर्माण करवाया। उनमें से कुछ विद्वान् भी थे और उन्हें विद्वानों, कवियों तथा दार्शनिकों की संगति पसन्द थी। अतः किसी अंश तक उनसे कला और साहित्य को आश्रय भी मिला। साथ ही चूँकि भारत में ही टिककर उन्होंने अपनी लूट का खजाना खर्च किया, अतः वह सम्पत्ति लौटकर पुनः देश के ही आर्थिक जीवन में समा गई।

सल्तनत का पतन और स्वतंत्र राज्यों की स्थापना

दिल्ली सल्तनत के ह्रास एवं विनाश के कारण उसकी अराष्ट्रीय नीति में ही निहित थे। स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन, जिसका मूलाधार बहुसंख्यक प्रजा की अनुमति और सहयोग पर आश्रित न होकर शोणित की प्यासी खड्ग पर ही अवलंबित हो, भला कैसे स्थायी रह सकता था!

दिल्ली-सल्तनत के पतन तथा मुगल-साम्राज्य के अभ्युदय के बीच के काल में भारत में निम्नांकित स्वतन्त्र प्रांतीय राज्य प्रादुर्भूत हुए :—

१. उत्तर में जौनपुर तथा बंगाल।

२. मध्य में मालवा, गुजरात, खानदेश और सिंध।

३. दक्षिण में बहमनी तथा विजयनगर के साम्राज्य।

इनमें विजयनगर-साम्राज्य को छोड़कर शेष सभी मुस्लिम राज्य थे। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ केवल बहमनी

तथा विजयनगर साम्राज्यों का ही संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हैं ।

बहमनी-साम्राज्य

बहमनी-साम्राज्य मध्यकाल में दक्षिण भारत में मुस्लिम सत्ता का प्रतीक था । अपनी स्थापना से लेकर छिन्न-भिन्न होने की घड़ी तक यह प्रसिद्ध राज्य लगभग पौने दो सौ वर्ष (१३४७-१५२६ ई०) तक कायम रहा और इस अवधि में उसके १८ सुल्तानों ने उत्तर में पैनगंगा से दक्षिण में कृष्णा तथा पश्चिम में कोंकण से लेकर पूर्व में भोंगिर तक के विस्तृत राज्य पर शासन किया । इस राज्य ने यों तो अपने सभी पड़ोसी राज्यों से युद्ध किया, किन्तु उसका सब से प्रबल और दीर्घकालीन संघर्ष दक्षिण में समसामयिक हिंदू शक्ति के प्रतिनिधि एवं प्रतीक—विजयनगर-साम्राज्य—के विरुद्ध चला । बहमनी-साम्राज्य के उत्कर्ष में कतिपय सुल्तानों की कमण्यता के अतिरिक्त उसके दो महान् मंत्रियों — सैफुद्दीन गोरी तथा महमूद गावाँ—की सेवाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । कालान्तर में यह साम्राज्य पाँच स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया—बरार (१४८४ ई०) बीजापुर (१४८९ ई०), अहमदनगर (१४९८ ई०), गोलकुण्डा (१५१८ ई०) तथा बीदर (१५२६ ई०) ।

विजयनगर का महान् सम्राट्—कृष्णदेवराय ।

विजयनगर-साम्राज्य

मुस्लिम शक्ति के बढ़ते हुए दौर के विरुद्ध हिन्दू शक्ति तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के हेतु मध्यकाल में उठनेवाली राजनीतिक शक्ति की लहर का सब से गौरवशाली स्वरूप विजयनगर-साम्राज्य के रूप में प्रकट हुआ (१३३६ ई०) । यह साम्राज्य उत्तर में कृष्णा से लेकर दक्षिण में कावेरी नदी तक और पूर्व-पश्चिम में समुद्र के एक किनारे से दूसरे किनारे तक फैला था । विजयनगर का उत्तरी विस्तार बहमनी-राज्य के कारण रुक गया । इसी तरह बहमनी राज्य को विजयनगर ने दक्षिण की ओर नहीं बढ़ने दिया ! इसीलिए दोनों लगातार एक दूसरे को चुनौती देते रहे । विजयनगर के राजाओं में हरिहर द्वितीय ने (१३७९-१४०४ ई०) महाराजाधिराज का विरुद धारण किया । उसे "वर्णाश्रम धर्म का समर्थक, वेद-विहित परिपाटियों का पुनःसंस्थापक तथा वेद-भाष्यों का प्रकाशक" कहा जाता है । परन्तु विजयनगर का महानतम शासक तो था कृष्णदेव राय (१५०९-१५२९ ई०), जिसके शासन-काल में यह राज्य उन्नति के शिखर पर पहुँच गया । कृष्णदेवराय एक आदर्श राजा था । उसमें शूरता, वीरता, धार्मिक सहिष्णुता, दानशीलता, क्षमाशीलता, विनम्रता, न्यायप्रियता, साहित्य-प्रेम तथा कलाभिरुचि कूट-कूटकर भरे थे । वह पक्का वैष्णव था, साथ ही महान् सेनानायक भी । कहते हैं, उसकी सेना में ६० हजार पैदल तथा ३२ हजार सवार थे ।

विजयनगर का उद्देश्य इस्लाम का दमन करना नहीं था । वहाँ के नरेशों ने मुसलमानों को अपनी सेना में ही भर्ती नहीं किया, वरन् उन्हें अपने राज्य में पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता एवं सुविधा भी प्रदान की ! इस साम्राज्य का राजनगर—विजयनगर—भारत का सर्वाधिक संपन्न नगर था । यह रोम के समान विशाल एवं सुन्दर था । अनेक विदेशी यात्री यहाँ भ्रमण करने आया करते थे । अब्दुर्रज्जाक के शब्दों में "सारी दुनिया में ऐसा नगर न तो देखा गया है, न सुना ही गया !"

किंतु एक ही दिन में ही विजयनगर की सारी शक्ति, तड़क-भड़क तथा ऐश्वर्य विनष्ट कर दिया गया । बहमनी-साम्राज्य के खँडहरों पर उच्छ्वसित दक्षिण के बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुंडा तथा बीदर के सुल्तानों ने अपनी-अपनी सेनाएँ एकत्रित करके हिन्दू शक्ति के इस अंतिम विशाल गढ़ को घेर लिया और कृष्णा नदी के तट पर तालीकोटा के युद्ध में (१५६५ ई०) उसकी सेना को पराजित कर दिया । कहते हैं, विजयनगर की लूट और वहाँ के नागरिकों की हत्या पाँच मास तक चलती रही । उसका ऐसा सर्वनाश हो गया, मानो भूकंप आया हो !

पूर्वमध्यकालीन भारत—(२)

राज्य-व्यवस्था

पूर्वमध्यकालीन हिन्दू राज्य एवं प्रशासन-व्यवस्था के सिद्धान्तों की जानकारी के मुख्य स्रोत एवं साधन हैं इस काल में स्मृतियों पर लिखी गई टीकाएँ तथा नीतिशास्त्र पर लिखे गए स्वतंत्र मौलिक ग्रंथ। मेधातिथि तथा विश्वरूप द्वारा तैयार की गई स्मृति-ग्रंथों की टीकाएँ, सोमदेव नामक जैन विद्वान् द्वारा रचित 'नीतिवाक्यामृत', याज्ञवल्क्य-स्मृति पर विज्ञानेश्वर तथा अपरार्क की टीकाएँ, मनु-स्मृति पर कुल्लूक की टीका, नीतिशास्त्र पर हेमचन्द्र द्वारा रचित 'लघ्व-अर्हन्नीतिशास्त्र' तथा शुक्राचार्य की 'शुक्रनीति' आदि ग्रंथ इस काल के हिन्दू राजनीतिक सिद्धान्तों पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। हिन्दू राज्य-व्यवस्था के अलावा नव-संस्थापित सुल्तानकालीन मुस्लिम शासन-व्यवस्था पर भी इस प्रकरण में प्रकाश डाला गया है।

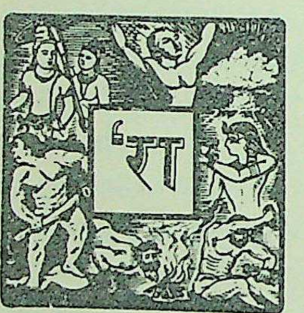

'राजधर्म' राजनीति का पर्यायवाची शब्द है और वह धर्मशास्त्रों पर आधारित है। राजधर्म अथवा राजा के कर्त्तव्य के अन्तर्गत मेधातिथि के अनुसार उसके सभी दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ तथा अग्निहोत्र संबंधी कार्य सम्मिलित थे। राजधर्म के दो मूल स्रोत थे--वैदिक तथा अवैदिक। दूसरा स्रोत पहले के अधीन था।

राजतंत्र

सामान्यतया केवल क्षत्रिय को ही 'राजन्' की उपाधि से विभूषित किया जाता था, किन्तु कभी-कभी गैर-क्षत्रियों को भी सदस्यता के सिद्धान्त के आधार पर राजन् की पदवी प्रदान की जा सकती थी। राजन् होने के लिए क्षत्रिय के पास राज्य का होना एवं साथ ही साथ उसका राजतिलकोत्सव भी होना परमावश्यक था। राज्य की सुरक्षा तथा प्रजा के हित एवं कल्याण के लिए राजतंत्र अनिवार्य था। राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की प्राचीन विचारधारा इस काल में भी निरन्तर विद्यमान एवं प्रवाहित रही। लक्ष्मीधर ने मनु तथा नारद-स्मृति से उद्धरण देकर इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। उनके मतानुसार प्रजा का यह परम कर्त्तव्य है कि वह राजा की आज्ञा शिरोधार्य करे तथा उसे सभी प्रकार का कर अदा करे। इस कर-दान के बदले प्रजा को अपनी सुरक्षा का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। अस्तु, राजा का का यह धर्म था कि वह प्रजानुरंजन करता हुआ न्याय प्रदान करे।

मेधातिथि के मतानुसार राजा यद्यपि सर्वशक्तिमान् होता है, पर उसकी कार्यपालिका शक्ति धर्म एवं लोकव्यवस्था द्वारा सीमित है। आर्य पद्धति के अनुसार प्रजापालक एवं प्रजारक्षक राजा को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। निर्धनों, अनाथों तथा विद्वान्-ब्राह्मणों की रक्षा करनेवाले राजा के लिए तो स्वर्ग के द्वार निरन्तर खुले रहते हैं ही, क्योंकि वे लोग राजा को किसी भी प्रकार का कर नहीं देते। किंतु जो लोग राजा को किसी भी प्रकार का कर अदा करते हैं, उनकी सुरक्षा का भार तो राजा का अनिवार्य (नित्य) कर्त्तव्य है और जो राजा करदाताओं की रक्षा नहीं करता, वह घोर पाप का भागी होता है तथा उसे दोहरा अपयश एवं कलंक लगता है--एक तो इहलोक में अपनी प्रजा का विश्वास वह खो बैठता है और दूसरे मृत्योपरांत उसे स्वर्ग की भी प्राप्ति नहीं होती।

शुक्रनीति

राजधर्म-संबंधी इस काल का सब से महत्वपूर्ण ग्रंथ 'शुक्रनीति' है। वह राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का पोषक

है। इस ग्रंथ के रचयिता शुक्राचार्य को कर्म के सिद्धान्त में अटल एवं दृढ़ विश्वास था। उनके मतानुसार इस भूतल पर हमारे सौभाग्य एवं दुर्भाग्य का कारण है हमारा संचित कर्म। इस जन्म के भी हमारे शुभाशुभ कर्मों का परिचालन हमारे पूर्वजन्म के कर्मों द्वारा ही होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार शुक्राचार्य के शब्दों में 'राजा अपने पूर्वजन्म के कर्मों एवं उग्र तपस्या और कठोर आत्मसंयम के फलस्वरूप राजपद को प्राप्त करता है।' शुक्राचार्य का कहना है कि--'राजा अपने कर्म के फलस्वरूप इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा तथा कुबेर इन आठ देवों के अंशों से परिपूर्ण होकर भूतल पर जन्म लेता है।' इस से स्पष्ट है कि राजा के निर्माण हेतु देवांश की आवश्यकता होती है और सो भी विभिन्न देवों के विशिष्ट अंशों की। इसीलिए राजा 'परमदेव' माना गया है। शुक्राचार्य के अनुसार 'राजा में पिता, माता, गुरु, भ्राता और मित्र अर्थात् सर्वोत्तम मानव के गुण विद्यमान रहते हैं।'

इस प्रकार सर्वोत्तम मानव एवं देव के गुणों से सम्पन्न राजा युग-स्रष्टा होता है और उसकी प्रजा पर भी अनिवार्य रूप से उसके चरित्र एवं व्यक्तित्व की अमिट छाप पड़ती है। वह प्रजा के आचार का प्रेरक होता है। राजा तथा प्रजा दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध है। राजा द्वारा सुरक्षा प्राप्त किए बिना प्रजा अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करती और बिना प्रजा का सहयोग प्राप्त किए राजा के सुख एवं समृद्धि की वृद्धि नहीं हो पाती।

तीन प्रकार के राजा

शुक्राचार्य के विचार से प्रकृति के सतोगुण, तमोगुण और रजोगुण के अनुसार राजा तीन प्रकार के होते हैं। धर्मात्मा एवं सदाचारी राजा में सतोगुण का प्राधान्य होता है और वह दैवी गुणसम्पन्न समझा जाता है। दुराचारी एवं पापात्मा राजा में तमोगुण का बाहुल्य होता है और वह आसुरी गुणसम्पन्न समझा जाता है, वह देव नहीं माना जा सकता। जो राजा रजोगुणप्रधान होगा, वह भी देव का स्थान नहीं पा सकता। वह मानवांशयुक्त समझा जाता है। शुक्रनीति उन्हीं राजाओं की उत्पत्ति दैवी मानती है, जो सतोगुणी हैं।

राजा के प्रति प्रजा के अधिकार

इस काल के धर्मशास्त्राचार्यों तथा नीतिकारों ने राज्य के हित की दृष्टि से प्रजा को यह अधिकार प्रदान किया था कि वह अत्याचारी राजा का वध भी कर सकती है। शुक्र के मतानुसार यदि ब्राह्मण लोग आततायी नरेश का वध शस्त्र द्वारा युद्ध करके भी करते हैं तो वे पाप के भागी नहीं होते। शुक्राचार्य प्रजा को यह उपदेश एवं अधिकार प्रदान करते हैं कि वह अधर्मी एवं दुराचारी राजा का देश छोड़ दे और उसके मन में यह भय निरन्तर उत्पन्न करती रहे कि वह (प्रजा) उस राजा के अत्यन्त शक्तिशाली एवं धर्मात्मा शत्रु के राज्य में जाकर बस जायगी। शुक्रनीति के अनुसार राजा प्रजा का दास होता है और प्रजा को चाहिए कि वह राष्ट्रविनाशक राजा का त्याग कर दे।

मंत्रि-परिषद्

राज्य की स्थिरता एवं उसके विधिवत् संचालन के लिए शुक्रनीति में राजा के लिए मंत्रि-परिषद् का रखना अनिवार्य बताया गया है। शुक्रनीति के अनुसार मंत्रि-परिषद् में दस अथवा आठ सदस्य होने चाहिये, जिनके नाम इस प्रकार दिये गये हैं--पुरोहित, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मंत्री, प्राड्विवाक, पंडित, सुमंत, अमात्य और दूत। इन सदस्यों को 'दस प्रकृति' की उपाधि दी गई है। जहाँ आठ सदस्यों की मंत्रि-परिषद् होती थी, उसमें पुरोहित तथा दूत के पद सम्मिलित नहीं किए जाते थे।

युवराज तथा राजकर्मचारी

हर्षवर्धन के अंत के साथ सम्राटों का भी अन्त हो गया था, फिर भी इस काल में अनेकों छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों के नरेश सम्राट् तथा महाराजाधिराज का रूढ़िगत एवं गर्वपूर्ण विरुद धारण किया करते थे। साथ ही साथ अनेक वंशों के प्रसिद्ध राजाओं ने अपने को अश्वपति, गजपति, नरपति तथा राजन्याधिपति की भी पदवियों से विभूषित किया था। चेदि के कलचूरियों में कर्ण तथा यशकर्ण ने और कुछ सेन नरेशों ने भी सम्राट् की पदवी के साथ-साथ उक्त विरुदों को धारण किया। सामान्यतया इस काल में भी स्थानीय परिवर्तनों के साथ गुप्त-साम्राज्य की ही शासन-व्यवस्था प्रचलित थी। राजा के पश्चात् दूसरा महत्वपूर्ण पद महाराज-पुत्र अथवा युवराज का होता था। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि प्रतिहारों, कलचूरियों, चन्देलों तथा परमारों आदि के राज्य में केन्द्रीय सरकार का शासन-भार वहन करने के लिए विभिन्न राजकर्मचारियों का वर्ग होता था, जिन्हें विभिन्न राज्यों में विभिन्न संज्ञाएँ प्रदान की गयी थीं। प्रतिहार सम्राटों के यहाँ केन्द्रीय सरकार के प्रमुख पदाधिकारी थे—दण्डपाशिक (पुलिस अफसर), महाप्रतिहार (राजमहल का मुख्य द्वारपाल), दण्डनायक (जनरल), और बलाधिकृत (सेनापति)।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कलचूरियों के यहाँ प्रधानामात्य या अमात्यमुख्य, धर्मकर्माधिकारी, संधिविग्रहिक, प्रतिहार, दुष्टसाध्य, आदि कर्मचारियों के नाम मिलते हैं। चन्देलों के यहाँ महासत्तक, मण्डलीक और सन्धिविग्रहिक प्रमुख अधिकारी थे।

बंगाल के पाल-वंशी शासकों ने भी गुप्त सम्राटों की तरह परमेश्वर, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, आदि की पदवी धारण की थी। पाल-वंश के अभिलेखों से पता चलता है कि राजा की सहायता करने के लिए केन्द्र में एक मंत्री होता था। एक प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली ब्राह्मण परिवार ने ऐसे सुयोग्य एवं विज्ञ पंडितों को जन्म दिया था, जिन्हें लगातार कई पीढ़ियों तक बौद्ध मतावलंबी पाल-वंश का मुख्यमंत्रित्व ग्रहण करने का सौभाग्य एवं गर्व प्राप्त हुआ था। पाल-वंश की केन्द्रीय प्रशासन-व्यवस्था में अनेकों विभाग थे और इन विभागों का प्रभारी अधिकारी भी होता था। जैसे वित्त-विभाग का शष्ठाधिकृत या शौल्किक, पुलिस का दण्डशक्ति या दण्डपाशिक, सेना और जलसेना का सेनापति और नावाध्यक्ष। बंगाल के सेन राजाओं ने अपने पूर्वाधिकारी पालों की ही शासन-व्यवस्था को कायम रक्खा; किन्तु सेन-वंश के प्रशासन की विशेषता यह थी कि शासन में राजमहिषी तथा पुरोहित का राजनीतिक प्रभाव बहुत अधिक था। सेन-नरेशों ने भूमि की पैमाइश कराकर नकद मालगुजारी वसूल करने का भी प्रबंध किया था। शुक्रनीति के अनुसार राज्य का शासन-भार राजकर्मचारी वर्ग पर निर्भर था। उनकी नियुक्ति राजा के द्वारा होती थी। यदि वे अपने कर्त्तव्यपालन में प्रमाद दिखलाते या असमर्थ होते थे, तो उनको उनके पद से पदच्युत करना राजा का ही कर्त्तव्य था।

आय-व्यय

आय का मुख्य साधन भूमिकर था, जिसे भाग, भोग या राजभोग कहते थे। यह भूमि की उपज का साधारणतः छठा हिस्सा होता था। सेन-वंशी अभिलेखों से पता चलता है कि बारहवीं शताब्दी में भूमिकर नकद लिया जाता था, जो 'पुराण' नामक चाँदी के सिक्कों में दिया जाता था। भूमिकर के अतिरिक्त उपरिकर, उद्रंग, सस्कन्धक तथा हिरण्य नामक कर भी कृषकों से वसूल किए जाते थे। कृषि के अतिरिक्त राजा को व्यापार से भी आमदनी हुआ करती थी। उद्योग-धंधों पर भी कर लगाया जाता था। राज्य की आमदनी इस ढंग से खर्च की जाती थी कि राजा और प्रजा में सद्भावना बनी रहे। जनता के कल्याण की दृष्टि से सार्वजनिक हित के कार्यों में — मंदिर, मठ, धर्मशाला तथा किले आदि के निर्माण में और संस्थाओं को दान देने में — राज्य की आमदनी का अधिकांश व्यय किया जाता था।

शासन की अन्य इकाईयाँ

शासन-सुविधा के लिए, गुप्त-साम्राज्य की भाँति इस काल के भी राज्य क्रम से भुक्ति (प्रांत), मंडल (जिला) तथा विषय (तहसील) नामक भागों में विभाजित थे। नगरों का शासन राज्य द्वारा नियुक्त कोटपाल तथा बलाधिकृत की देख-रेख में किया जाता था। मुस्लिम-काल का 'कोतवाल' शब्द इसी 'कोटपाल' शब्द का अपभ्रंश प्रतीत होता है। दो श्रेष्ठियों और एक सार्थवाह की नगर-समिति या नगर-परिषद् नगर के असैनिक कार्यों का शासन संचालित करती थी। शासन की सब से छोटी इकाई ग्राम था। शुक्रनीति के अनुसार ग्रामों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया था — कुम्भ, पल्लि और ग्राम। प्रथम श्रेणी के ग्राम आकार में बहुत छोटे होते थे। दूसरी श्रेणी में उन ग्रामों की गणना थी, जो कुंभ से कुछ बड़े होते थे। तीसरी श्रेणी में पल्लि से बड़ी पर नगर से छोटी बस्तियों को सम्मिलित किया जाता था। ग्राम का मुखिया या अधिकारी ग्रामपति कहलाता था। शुक्रनीति के अनुसार दस गाँवों का अधिकारी दाशग्रामिक या नायक, सौ गाँवों का अधिकारी सामंत तथा दस सहस्र ग्रामों का अधिकारी आशापाल कहा जाता था। प्राचीनकाल की भाँति ये ग्राम छोटे-छोटे गणराज्य जैसे थे, जो अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सर्वसंपन्न थे।

दक्षिण भारत की राज्य-व्यवस्था

भौगोलिक विभिन्नताओं के कारण दक्षिण भारत की राज्य-व्यवस्था में कुछ उल्लेखनीय अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं। दक्षिण के राष्ट्रकूट तथा चालुक्य नरेशों ने भी सम्राट् का विरुद धारण किया था, किंतु चालुक्य साथ ही साथ अपने को समस्तभुवनाश्रय, श्रीपृथ्वीवल्लभ, सत्याश्रयकुलतिलक तथा चालुक्याभरण की पदवियों से भी विभूषित किया करते थे। चोल-सम्राटों ने 'चक्रवर्तिन्' तथा 'त्रैलोक्य सम्राट्' की पदवी धारण की थी। राष्ट्रकूटों के यहाँ केन्द्रीय सरकार के प्रमुख पदाधिकारियों में महासंधिविग्रहिक, भण्डागारिक, बलाधिकृत, दण्डनायक तथा महाप्रचण्डदण्डनायक के नाम उल्लेखनीय हैं। कभी-कभी उच्च पदाधिकारियों का वंशानुगत चुनाव करने की भी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि अभिलेखों से ज्ञात होता है कि बलाधिकृत के पुत्र की नियुक्ति महासंधिविग्रहिक के रूप में की गई थी। चालुक्यों के अभिलेखों से पता चलता है कि ब्राह्मणों को उच्च पदों पर नियुक्त करने की आम प्रथा

थी, क्योंकि एक ब्राह्मण परिवार के सदस्य तीन पीढ़ियों तक दण्डनायक के रूप में राज्य की सेवा करते रहे। एक दूसरा ब्राह्मण राज्य के कोषागार का अध्यक्ष था और उसका पुत्र संधिविग्रहिक था। अन्य राजवंशों के नरेशों की भाँति चालुक्य नृपतियों ने भी एक ही व्यक्ति को कई महत्वपूर्ण पदों का प्रभारी नियुक्त किया था। प्रामाणिक सूत्रों से पता चलता है कि एक ही व्यक्ति धर्माधिकारिन्, महाप्रधान तथा दण्डनायक तीनों पदों पर आसीन था। पाण्ड्य नरेशों के यहाँ हस्ति-सेना के प्रभारी कार्यकर्ता को 'मतंगजाध्यक्ष' कहते थे।

स्थानीय शासन

राष्ट्रकूट-राज्य में स्थानीय शासन-प्रबन्ध की सुविधा के लिए १२, २४ तथा ८४ गाँवों के मण्डल बना दिए जाते थे, जिनकी तुलना उत्तर भारत की सामन्तीय जागीरों से की जा सकती है। नगरों का शासन पुरपति या नगरपति के अधीन था। महाराष्ट्र तथा दक्षिण गुजरात में गाँवों के मुखिया को 'ग्रामकूट' कहते थे। कन्नड़ क्षेत्र के गाँवों में 'महाजन' नामक ग्राम-संस्थाएँ होती थीं, जिनका काम स्थानीय कर वसूल करना तथा धार्मिक एवं पुण्य के कार्यों के लिए भूमिदान करना था। वेंगी के पूर्वी चालुक्यों के यहाँ ग्राम-शासन के संचालन के लिए निर्वाचित समितियाँ (पंचवार) हुआ करती थीं। पांड्य राजाओं की शासन-व्यवस्था में भी शासन की सब से छोटी इकाई 'ग्रामम्' था और कई ग्रामों को मिलाकर बननेवाली इकाई को 'कुडुम्' या 'नाडू' कहते थे, जिसे कभी-कभी संस्कृत में 'राष्ट्र' कहा जाता था। पाण्ड्य तथा चोल राज्य में ग्राम-शासन का संचालन 'सभा' या 'उर' द्वारा किया जाता था। ये संस्थाएँ अपनी कार्यक्षमता एवं ईमानदारी के लिए इतनी प्रसिद्ध थीं कि प्रायः राजा लोग उन्हें स्वर्ण-सिक्कों का स्थायी कोष सौंप दिया करते थे और उसके व्याज से जो आय होती थी, उससे मंदिरों की पूजा आदि का व्यय चलाया जाता था। 'उर' की प्रबन्धकारिणी को 'आलुगंणम्' कहते थे। चालुक्यों के स्थानीय शासन-प्रबन्ध की एक विशेषता यह थी कि प्रांतों तथा शासन की अन्य छोटी इकाइयों के प्रबन्ध के हेतु महिलाओं की नियुक्ति की जाती थी! सभा की बैठकें निश्चित समय पर और निश्चित् सार्वजनिक स्थान पर हुआ करती थीं। ऐसे अवसरों पर सभी भूमि-स्वामी सभा में उपस्थित हो सकते थे, किन्तु जिनके पास एक निश्चित संपत्ति होती थी और जिनका बौद्धिक एवं नैतिक स्तर ऊँचा हुआ करता था, वे ही लोग सभा की कार्यवाहियों में सक्रिय भाग ले सकते तथा उसकी विभिन्न निर्वाचित समितियों (वारीयम्) के सदस्य बन सकते थे। सभा पाँच 'वारीयम्' या कमेटियों में विभक्त रहती थी, जिसके सदस्यों का निर्वाचन पर्ची डालकर किया जाता था! सभा के अधिकार बहुत विस्तृत थे। वह ग्रामवासियों के अधिकारों का ब्योरा रखती थी तथा उनके ऐसे पारस्परिक झगड़ों का निपटारा करती थी, जिनका निर्णय दूसरी समितियाँ नहीं कर सकती थीं। वह मंदिरों की सफाई तथा उनमें पूजा करनेवाले और उपदेश देनेवालों के व्यय के लिए भूमिदान करती, औषधालयों का प्रबंध करती, कर वसूल करती तथा कर में छूट भी दे सकती थी। सभा के अपने अलग कर्मचारी होते थे, जो 'मध्यस्थ' कहलाते थे।

सामन्त-पद्धति

पूर्वमध्यकाल में भारत के विविध राज्यों में सामन्त-पद्धति का विकास हो चुका था। मध्यकालीन दानपत्रों में राज्याधिकारियों की सूची में प्रायः सर्वत्र ही 'सामन्त' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इससे प्रकट होता है कि प्रत्येक राज्य में सामन्तों का शासन प्रचलित था और प्रत्येक राज्य का शासन तभी सफल हो पाता था, जब कि शासक को सामन्तों का सचेष्ट एवं सक्रिय सहयोग प्राप्त हो। केन्द्र में स्वयं राजा का शासन होता था और चारों तरफ अधीनस्थ छोटे सरदार शासन करते थे, जिन्हें सामन्त या महासामन्त कहते थे। प्रारंभ में चन्देल तथा परमार दोनों ही प्रतिहारों के सामन्त थे तथा राष्ट्रकूट वातापि के चालुक्यों के। राष्ट्रकूट तो स्वतंत्र हो जाने पर भी सम्राट् का विरुद धारण करने के पूर्व "महासामन्ताधिपति" की ही पदवी से संतुष्ट रहे। शुक्रनीति के अनुसार जो व्यक्ति सौ ग्रामों का अधिकारी होता था, वह सामन्त कहलाता था। किन्तु व्यावहारिक रूप में प्रत्येक सामन्त की जागीरदारी लगभग ८४ गाँवों की होती थी! अधिकांश सामन्त स्वतः राजा की ही जाति और कुल के लोग होते थे। प्रतिहार तथा पाल नरेशों के अभिलेखों में सामन्त के लिए 'राजन्, राजन्यक, राजनक, सामन्त अथवा महासामन्त शब्दों का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं उन्हें महामाण्डलिक के नाम से भी पुकारा जाता था। राज्य की ओर से ऐसी नीति अपनायी जाती थी कि सामन्तों पर नियंत्रण बना रहे, ताकि वे स्वतंत्र एवं शक्तिशाली होकर राज्य को चुनौती न दे सकें। सामंत लोग कभी-कभी आपस में लड़ते-झगड़ते भी थे तथा स्वतंत्र होने की चेष्टा किया करते थे। कुलगौरव के वे कट्टर पोषक थे।

राज्य-प्रशासन में राष्ट्रकूटों के सामन्तों का प्रमुख हाथ था। इन्हें सैनिक अधिकार प्राप्त थे और ये लोग अपने सत्ताधारी महाप्रभु को सैनिक सहायता प्रदान कर उसकी ओर से

युद्ध करते थे। राज्य के केन्द्रीय प्रशासन एवं न्याय-व्यवस्था के अनुरूप बड़े-बड़े सामन्तों के अपने पृथक् न्यायालय तथा प्रशासन-संस्थाएँ भी हुआ करती थीं। सामन्त उच्च तथा निम्न श्रेणियों अथवा वर्गों में विभक्त थे--उच्च श्रेणी के सामन्त अपनी जागीरों की प्रजा पर कर लगा सकते थे तथा भूमि को बेच भी सकते थे। किंतु निम्न श्रेणी के सामन्तों को बिना महाप्रभु या उसके मंत्री की पूर्वस्वीकृति प्राप्त किए भूमि को बेचने आदि का कोई अधिकार न था। बड़े-बड़े सामन्त एक प्रकार से अर्द्ध-स्वतंत्र थे और उनकी जागीरों की स्थिति राज्यान्तर्गत छोटे राज्य के समान थी।

केन्द्रीय शासन के शक्तिहीन होते ही सामन्त लोग स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने लगते थे और इस प्रकार उनकी विद्यमानता राज्य के हित में घातक थी। उनके कारण देश का और अधिक विकेन्द्रीकरण हो गया।

ऊपर जिस राजतंत्रात्मक शासन-प्रणाली का वर्णन किया गया है, उसका विशिष्ट आधार जाति थी और राजा अपनी ही जाति का राज्य स्थापित कर लेता था। इस प्रकार जिस जाति के बाहुबल द्वारा राज्य की स्थापना की जाती थी, राजशक्ति उसी जाति में निहित रहती थी। ये राज्य जनानुमोदन और प्रजातांत्रिक भावनाओं से बहुत दूर थे।

जनता के हित एवं कल्याण-सम्पादन का भार तथा परस्पर सहयोग द्वारा सामूहिक उन्नति करने का दायित्व वंशानुगत राजसत्ताओं को नहीं, वरन् ग्राम-सभाओं को वहन करना पड़ता था, जो अपने आप में पूर्ण थीं। सर चार्ल्स मेटकाफ के शब्दों में, "एक राजवंश के बाद दूसरा राजवंश आया, एक क्रान्ति के बाद दूसरी क्रान्ति हुई, पर ग्राम-संस्थाएँ पहले की भाँति वहीं की वहीं निरन्तर बनी रहीं। ये ग्राम-संस्थाएँ ही, जिनमें से प्रत्येक एक पृथक् राज्य की भाँति थी, भारतीय जनता की रक्षा में सब से अधिक समर्थ रहीं। इन्हीं के कारण सब परिवर्तनों और क्रान्तियों में जनता की रक्षा होती रही।"

भारत में मुस्लिम-राज्य :: सुल्तानों के निरंकुश अधिकार और उनकी प्रशासन-व्यवस्था

भारत में मुस्लिम-राज्य धर्म-तांत्रिक था। सुल्तान राजनीति तथा धर्म दोनों ही का अगुवा होता था। सुल्तानों के अधिकार कुरान के नियमों द्वारा सीमित थे, पर व्यावहारिक रूप में वे स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश थे। सुल्तान ही शक्ति तथा न्याय का स्रोत, राज्य का सर्वोच्च सत्तासम्पन्न महाप्रभु तथा सेना का भी अध्यक्ष था। उसकी अनियंत्रित निरंकुशता के दो आधार थे—धर्म तथा सैन्य बल। जब तक वह कुरान में वर्णित नियमों एवं सिद्धान्तों का पालन करता रहता था, उसे चुनौती देनेवाला कोई न था।

कोई भी निरंकुश शासक अकेले राज्य-प्रशासन नहीं चला सकता था। अतः सुल्तान की सहायता के लिए मंत्री हुआ करते थे। इन मंत्रियों को केवल परामर्श देने अथवा सुल्तान की आज्ञापालन करने के अतिरिक्त अन्य कोई अधिकार न था। मंत्रिपरिषद् का एक प्रमुख होता था, जिसे वजीर या वजीर-ए-ममालिक कहते थे। सुल्तान के नीचे नायब या नायब-ए-ममालिक होता था, जिसका दर्जा वजीर से बड़ा होता था। सुल्तान के निर्बल होने पर नायब बड़ा प्रभावशाली हो जाता था। अन्य मंत्रियों में दीवान-ए-अर्ज, दीवान-ए-इन्शा, दीवान-ए-रिसालत, सद्र-उस्सुदूर तथा मजलिस-ए-खल्वत थे।

शासन-संचालन के लिए अन्य विभागाध्यक्ष भी थे, जिनमें काजी-उल-कजात (प्रधान न्यायाधीश), दीवान-ए-अश्रफ (महालेखाकार), हाजिब (गृह-प्रबंधक), वकीले-दार, (कुंजियाँ रखनेवाला), अमीरे-अखुर (अस्तबलों का अध्यक्ष), मीर इमारत (मुख्य इंजीनियर), अमीर कोही (कृषि-विभाग का संचालक) तथा शेख-अल-इस्लाम (राज्य का मुख्य धर्माधीश) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रांतीय प्रशासन भी लगभग केन्द्र के ही अनुरूप था और सूबेदार सुल्तान का ही प्रतिरूप था, जिसे नायब सुल्तान कहते थे। जिन दिनों सल्तनत का विस्तार सब से अधिक था, उस समय उसमें तेईस प्रान्त थे। जब तक सूबेदार सुल्तान के आज्ञाकारी बने रहकर उसे अपने सूबे की आमदनी भेजा करते थे और आवश्यकता पड़ने पर सुल्तान को सैनिक सहायता पहुँचाया करते थे, उनकी शक्ति अपरिमित रहती थी। केन्द्रीय सरकार की निर्बलता से लाभ उठाने का ये लोग सतत प्रयत्न करते रहते थे।

प्रांत अनेक 'शिकों' में विभक्त थे। 'शिक' के प्रधानाधिकारी को 'शिकदार' कहते थे, जो संभवतः एक सैनिक पदाधिकारी होता था और उसका कर्त्तव्य अपने 'शिक' में शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित करना होता था। कालान्तर में शिक 'परगनों' में विभक्त कर दिए गए। प्रत्येक परगने में बहुत-से गाँव थे, जिनकी अधिकतम संख्या संभवतः सौ होती थी। प्रत्येक परगने में एक 'चौधरी' तथा भूमिकर उगाहनेवाला अधिकारी रहता था। शासन की सब से छोटी इकाई ग्राम था, जहाँ प्राचीन ग्राम-पंचायतें निष्कण्टक ग्राम-प्रशासन करती थीं। गाँव की सफाई, शिक्षा तथा सुरक्षा का दायित्व इन्हीं ग्राम-पंचायतों का ही था। सामान्यतया सुल्तान उनके मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करते थे।

सैनिक संगठन, अर्थ और न्याय-व्यवस्था तथा धार्मिक नीति

सल्तनत की सेना में चार वर्ग के लोग सम्मिलित थे—— सुल्तान के स्थायी सैनिक, सूबेदारों तथा जागीरदारों की स्थायी सैनिक टुकड़ियाँ, युद्धकाल में भर्ती किए हुए रँगरूट तथा हिन्दुओं के विरुद्ध जेहाद या धर्म-युद्ध करने के लिए एकत्रित मुसलमान स्वयंसेवक । सुल्तान की स्थायी सेना प्रायः कम होती थी । उसके तीन अंग थे——अश्वारोही (घुड़सवार), पैदल सेना तथा हस्ति । घुड़सवार सेना के मेरुदण्ड माने जाते थे । वे दो खड्ग, एक कृपाण तथा तीर-धनुष से सुसज्जित रहते थे । किसी-किसी अश्वारोही के पास गदा भी रहता था । पैदल सिपाहियों के पास खड्ग, भाला तथा तीर-धनुष होते थे । धनुर्धर को 'धानुक' कहते थे । हाथियों का रखना केवल सुल्तान का विशेषाधिकार माना जाता था — किसी बिरले ही जागीरदार को हाथी पालने का अधिकार दिया जाता था । सेना में तुर्क, ईरानी, अफगान, मंगोल, अरब, अबीसीनियन, भारतीय मुसलमान तथा हिन्दू सभी सम्मिलित थे। ये केवल भाड़े के धनलोलुप सैनिक थे । चूँकि अधिकांश सैनिक तथा उनके अफसर मुसलमान थे, अतः वे देशानुराग एवं राष्ट्रीयता से नहीं, वरन् धर्मांधता से प्रेरित होकर ही युद्ध करते थे । सेना की समान शिक्षा, समान वरदी अथवा अन्य बातों के लिए कोई नियम नहीं था । बहुतेरे सैनिक और उनके घोड़े बिल्कुल अयोग्य और युद्ध-कौशल से अनभिज्ञ होते थे । सब को अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र, घोड़े तथा वर्दी आदि लाने पड़ते थे । प्रत्येक सूबेदार या जागीरदार अपनी-अपनी सेना को सब सामान देने का भार वहन करता था । खाने-पीने का सामान प्रायः विजित प्रदेशों की लूट से इकट्ठा किया जाता था ।

सल्तनत की आय का मुख्य स्रोत भूमि-कर था । जहाँ हिन्दू नरेश 'षड्भागिन्' (उपज का छठा भाग लेनेवाले) कहे जाते थे, वहीं पठान सुल्तानों ने सामान्यतया पैदावार का तिहाई भाग लेना आरंभ कर दिया था ! अलाउद्दीन खिलजी ने तो उपज का आधा भाग तक भूमि-कर के रूप में वसूल किया और यही प्रथा उसके बाद के अन्य वंशों ने भी जारी रक्खी ! इसके अतिरिक्त इस्लाम के नियमों के अनुसार और भी कई कर लिए जाते थे——जैसे उश्र, खिराज, खम्स, जकात तथा जजिया । 'उश्र' मुस्लिम जागीरदारों से उपज के दशमांश के रूप में लिया जाता था । 'खिराज' हिन्दू जागीरदारों से उपज के दशमांश से लेकर आधे भाग तक लिया जाता था ! 'खम्स' हिन्दुओं के विरुद्ध युद्ध में लूट का पंचमांश होता था ! 'जकात' सम्पन्न मुसलमानों की सम्पत्ति पर ढाई प्रतिशत के हिसाब से मस्जिदों के निर्माणार्थ एवं दरिद्र मुसलमानों के पालनार्थ लिया जाता था । 'जजिया' हिन्दुओं से इस्लाम अंगीकार न करने पर दंडस्वरूप तीन विभिन्न दरों से लिया जाता था ! इसके लिए समूची हिन्दू प्रजा तीन श्रेणियों में विभक्त कर दी गई थी । करों के कारण किसान अपनी गाढ़ी कमाई के एक-तिहाई भाग से अधिक का उपभोग नहीं कर सकते थे !

यद्यपि सुल्तान स्वयं न्याय का स्रोत था और न्याय करने के अभिप्राय से प्रति सप्ताह दो बार कचहरी करता था, तथापि सल्तनत की न्याय-व्यवस्था बड़ी ढीली-ढाली एवं असंगठित थी । धार्मिक मामलों का फैसला करने में सुल्तान की सहायता 'सद्र-उस्सुदूर' (मुख्य सद्र) तथा मुफ्ती करते थे । धर्मनिरपेक्ष मामलों का फैसला करने में उसे मुख्य काजी अथवा 'काजी-उल-कजात' से सहायता प्राप्त होती थी । मुख्य सद्र तथा मुख्य काजी दोनों पदों पर एक ही व्यक्ति आसीन रहता था । न्यायालयों में कुरान के नियमों के अनुसार फैसले किए जाते थे; अतः जहाँ वादी-प्रतिवादी के धर्म काजी के धर्म से भिन्न होते थे, वहाँ सच्चे न्याय की आशा करना दुराशा मात्र थी । दण्ड-विधान बड़ा कठोर था । अपराधियों के या तो हाथ-पैर काट लिए जाते थे या उन्हें मृत्यु की सजा दी जाती थी ! पुलिस का कोई समुचित प्रबन्ध न था । बड़े नगरों में कोतवाल हुआ करते थे । कारागारों की भी समुचित व्यवस्था न थी ।

सल्तनतकालीन भारत की राज-सत्ता का धर्म इस्लाम था । अतः सुल्तान तथा उसकी सरकार का यह कर्त्तव्य था कि वे इस धर्म की केवल रक्षा ही न करें, वरन् उसके सिद्धान्तों का प्रचार एवं प्रसार करने में कोई कोर-कसर न छोड़ें ! कुरान के अनुसार मुसलमान सुल्तान की सर्वोच्च कर्त्तव्यनिष्ठा यही थी कि वह मूर्ति-पूजा का अन्त करके गैर-मुसलमानों के विरुद्ध जेहाद करें तथा उनके राज्य (दारुल-हर्ब) को दारुल-इस्लाम (मुसलमानी राज्य) में परिणत कर दे । इसी कारण दिल्ली के सुल्तानों को अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा को मुसलमान बनाने की बड़ी चिन्ता लगी रहती थी । मुहम्मद तुगलक ने हिन्दू एवं बौद्ध मंदिरों का निर्माण तथा जीर्णोद्धार कतई बन्द करा दिया और फीरोज तथा सिकंदर लोदी ने तो सल्तनत की सारी शक्ति ही इस्लाम के प्रचार में लगा दी ! सल्तनतकाल में हिन्दुओं को 'जिम्मी' कहते और वे लोग सरकारी उच्च पदों से वंचित रक्खे जाते थे । उन्हें नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे, न स्वधर्मानुसरण की स्वतंत्रता प्राप्त थी । ऐसी ही नीति शिया मुसलमानों के साथ भी बर्ती जाती थी !

पूर्वमध्यकालीन भारत—(३)
सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति

पूर्वमध्यकाल में आकर भारतीय समाज में गहरा उथल-पुथल हो गया और उसका रूप अव क्या से क्या हो चला ! इसका कारण एक तो जाति-व्यवस्था का अधिक प्रबल हो उठना था, जिसके फलस्वरूप समूचे हिन्दू-समाज का अनेक उपजातियों और भेदभावमूलक श्रेणियों में जटिल विभाजन हो गया। दूसरे, इन्हीं दिनों भारत में इस्लाम के प्रवेश और सत्ता-धारण के परिणामस्वरूप उपजा वह राजनीतिक-सामाजिक विपर्यय, जिससे भारतीय समाज में पार्थक्य की भावना बलवती हो उठी थी ! आइए, इस युग-परिस्थिति पर निगाह डालें !

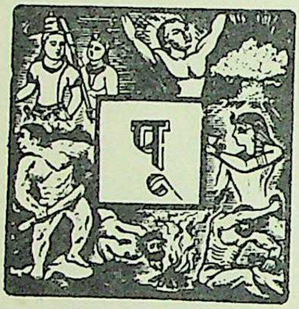

पूर्वमध्यकालीन भारत में प्राचीन वर्ण-व्यवस्था के साथ-ही-साथ समाज में जाति-पाँति का भेदभाव काफी बढ़ गया और अनेक उपजातियाँ उत्पन्न हो गईं। इन उपजातियों की उत्पत्ति के कारण थे-- जीविका, विवाह तथा धर्म। इन्हीं की बिना पर एक जाति दूसरी से पृथक् समझी जाती थी।

जाति-व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान

मेधातिथि के अनुसार शूद्रों, वैश्यों, क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों के मुर्दे श्मशान-भूमि के लिए क्रमशः नगर के दक्षिणी, पश्चिमी, उत्तरी तथा पूर्वी दरवाजों से निकाले जाने चाहिए ! समाज में ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्राप्त थे, यद्यपि धीरे-धीरे उनकी प्रधानता का अन्त हो रहा था। मत्स्यपुराण के अनुसार जघन्य अपराध करने पर भी ब्राह्मण मृत्युदण्ड के भागी नहीं थे। मेधातिथि का आदेश था कि दोषी एवं अपराधी ब्राह्मणों को न तो किसी प्रकार का शारीरिक दण्ड दिया जाय और न उनके ऊपर कोई जुर्माना ही किया जाय! यहाँ तक कि उन्होंने आततायी ब्राह्मण का भी वध वर्जित किया था ! किन्तु विश्वरूप ने आततायी ब्राह्मण के हत्यारे को ही नहीं, वरन् युद्ध में ब्राह्मण को मारनेवाले को भी क्षमा-प्रदान किया था। ऐसे ब्राह्मणों की विद्यमानता का भी प्रमाण मिलता है, जिनका निषिद्ध कर्म के करने के कारण छूना भी पाप समझा जाता था और वे समाज द्वारा बहिष्कृत थे। मत्स्यपुराण के अनुसार म्लेच्छ देश (त्रिशंकु, बर्बर, उड़ीसा, आन्ध्र, पंजाब, द्रविड़ तथा कोंकण) में रहनेवाले ब्राह्मणों को श्राद्ध में भोजनार्थ आमंत्रित नहीं किया जाता था। इस युग में ब्राह्मणों के महासामंत होने तथा खेती करने के भी प्रमाण मिलते हैं।

क्षत्रिय और वैश्यों का उत्थान

पूर्वमध्यकाल में समाज में क्षत्रियों की प्रधानता बढ़ चली और अब उन्हें 'राजपूत' शब्द से संबोधित किया जाने लगा। राजपूतों की मान्यता ब्राह्मणों के समान ही होने लगी और वे ही समाज के अगुआ एवं नेता माने जाने लगे। इस युग के कुछ क्षत्रिय तो ब्राह्मणों से भी अधिक विद्वान् थे। शासक होने के अतिरिक्त क्षत्रिय लोग खेती-बारी भी करते थे।

वैश्य लोग खेती-बारी तथा पशुपालन को छोड़कर अब व्यापार में अधिकाधिक् अभिरुचि लेने लगे थे और उनकी गणना द्विजों में होने लगी थी। फलतः अब समाज में वैश्यों का आदर बढ़ता जा रहा था।

शूद्रों की दयनीय स्थिति

शूद्रों के सामाजिक एवं धार्मिक अधिकार बहुत सीमित थे। पराशर-स्मृति के अनुसार शूद्र का अन्न ग्रहण करना, शूद्र की

संगति करना, शूद्र के संग एक ही आसन पर बैठना तथा शूद्र से विद्योपार्जन करना अपने को रसातल में ले जाना था! शूद्र रसोइए का कार्य भी नहीं कर सकता था। उसका दर्शन या स्पर्श भी वर्जित था। शूद्र का स्पर्श हो जाने पर द्विज को स्नान करके अपनी शुद्धि करना पड़ती थी! शूद्रों को वेद का पढ़ना-पढ़ाना तथा सुनाना भी वर्जित था। वे अपने यहाँ नामकरण तथा अन्य हिन्दू संस्कारों को तो कर सकते थे, पर इस अवसर पर मंत्रोच्चारण नहीं किया जा सकता था! संक्षेप में, शूद्रों के कर्त्तव्य तथा उनके अधिकार सीमित थे। यदि शूद्र अपने लिए वर्जित कर्मों को करता, तो वह पाप का भागी होता और यदि वह व्रत, उपवास, स्नान तथा पूजा आदि न करता, तो भी निष्पाप ही समझा जाता था।

मिश्रित वर्ग

जिनका जन्म ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य पिता और अन्य जाति की माताओं से हुआ समझा जाता था, उनकी गणना मिश्रित जातियों में की जाती थी। ब्राह्मण पिता तथा वैश्य माता से उत्पन्न लोगों की गणना 'अम्बष्ठ' जाति में की जाती थी और बृहद्धर्म पुराण के अनुसार अम्बष्ठ शूद्र थे। ब्राह्मण पिता तथा क्षत्रिय माता से उत्पन्न लोगों को 'भिषक्' कहते थे। वैश्य पिता तथा शूद्र माता से उत्पन्न लोगों को 'करण' कहते थे और बृहद्धर्म भी उन्हें शूद्र कहता है। मिश्रित जातियों में सब से तुच्छ चाण्डाल समझे जाते थे, जिनका कार्य अपराधियों को फाँसी के तख्ते पर लटकाना था। वे केवल मुर्दों पर से उतारा हुआ वस्त्र धारण कर सकते थे तथा उन्हें गाँव या नगर के बाहर रहने और किसी को स्पर्श न करने का स्पष्ट आदेश था! चाण्डालों की छायामात्र का भी स्पर्श वर्जित था! किंतु मेधातिथि के मतानुसार चाण्डाल की परछाईं छू जाने से कोई अपवित्र नहीं हो सकता था।

पांड्य राज्य के आठवीं शती ई० के शिलालेखों से पता चलता है कि मिश्रित जाति के वैद्य कुल के लोग वहाँ राज्य के उच्च पदों पर आसीन थे। शिलालेखों तथा साहित्यिक ग्रंथों के आधार पर यह भी पता चलता है कि करण जाति के लोग भी उच्च सरकारी पदों पर नियुक्त किए जाते थे।

विगत शताब्दियों में बाहर से आई हुई विदेशी जातियाँ हिन्दू-समाज में घुल-मिल गई थीं और उन्होंने ब्राह्मण-परिवारों से वैवाहिक संबंध स्थापित करना भी प्रारंभ कर दिया था। दास-प्रथा भी प्रचलित थी। विज्ञानेश्वर ने पन्द्रह प्रकार के दासों की गणना की है! ये दास घरों में काम करते थे और उनके साथ सद्व्यवहार किया जाता था। मेधातिथि ने दासों, उनकी स्त्री तथा पुत्रों के साथ मानवीय व्यवहार करने की संस्तुति की है।

स्त्रियों की स्थिति और विवाह-प्रथा

समाज में अन्तर्जातीय विवाह अपवादरूप में प्रचलित था। अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह तो पहले से ही प्रचलित थे, किन्तु मेधातिथि ने गान्धर्व विवाह की कटु निन्दा की है। कन्याओं का विवाह आठ वर्ष की आयु में कर देने की प्रथा थी और वर की आयु कन्या से अधिक होती थी। रजोदर्शन हो जाने पर यदि कन्या के माता-पिता उसका विवाह करने में असमर्थ रहते, तो मेधातिथि का विधान था कि ऐसी कन्या स्वेच्छा से शादी कर सकती थी। तलाक की प्रथा नहीं थी। विधवा-विवाह तथा स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी। मेधातिथि ने व्यभिचारी पुरुष को मृत्युदण्ड तथा व्यभिचारिणी स्त्री की नाक काट लेने की व्यवस्था की थी! यदि कोई पुरुष किसी स्त्री से बलात्कार करता था, तो केवल पुरुष ही दण्ड का भागी होता था।

इस काल के धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री को पतिपरायणा तथा उसकी आज्ञानुवर्तिनी होने का आदेश दिया था। पर स्त्री पर पति का निरंकुश प्रभुत्व नहीं स्थापित किया जा सकता था। पति द्वारा पीड़ित होने पर स्त्री राजा के पास पहुँचकर न्याय की याचना कर सकती थी। विधवाओं को संयमित जीवन व्यतीत करने का आदेश था। सती तथा जौहर की प्रथाएँ भी प्रचलित थीं। पर्दा-प्रथा न थी। कुमारी स्त्रियाँ मन्दिरों में दासियों का कार्य किया करती थीं। समाज में वेश्या-धर्म एवं गणिकावृत्ति की कमी न थी।

स्त्रियों की शिक्षा का उचित प्रबंध किया जाता था। मण्डन मिश्र की स्त्री भारती ऐसी विदुषी थी कि उसने अपने पति तथा शंकराचार्य के शास्त्रार्थ में मध्यस्थ का काम किया था! अवन्तिसुन्दरी अपने पति राजशेखर के समान सुन्दर कविता करती थी। भास्कराचार्य की पुत्री लीलावती ने गणितशास्त्र में निपुणता प्राप्त की थी। ये सब इसी युग में हुई थीं। राजघराने की स्त्रियाँ तो राज्य के शासन में भी भाग लेती थीं। काश्मीर की रानी दिद्दा और वारंगल के काकतीय वंश की रानी रुद्राम्बा के नाम इस संबंध में उल्लेखनीय हैं।

रहन-सहन

लोगों के रहन-सहन का स्तर सामान्यतया ऊँचा था और वे विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। इस काल में धारण किए जानेवाले वस्त्रों एवं आभूषणों से रहन-सहन के इस उच्च

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्तर का भान होता है। समकालीन अरब लेखकों--सुलेमान, इब्न-अल-फकी तथा अबूजैद--ने भी भारत-निवासियों के उच्च रहन-सहन का उल्लेख किया है। कन्दुक खेलना, झूला झूलना, संगीत, नृत्य, नाटक, काव्यगोष्ठी, पानगोष्ठी, उद्यान-यात्रा, पानयात्रा, आदि मनोविनोद के प्रमुख साधन थे।

शाकाहार के अतिरिक्त लोग मांस-भक्षण तथा सुरापान भी करते थे। ब्राह्मणों के लिए सुरापान महापातक माना जाता था। वैयक्तिक शारीरिक स्वच्छता एवं शौच का लोग बड़ा ध्यान रखते थे। समाज में कतिपय अन्धविश्वास भी प्रचलित थे। भूमिदान, स्वर्णदान आदि षोड्श महादानों की व्यवस्था थी। राजा लोग तुलापुरुष तथा हिरण्यगर्भ-संस्कार द्वारा ब्राह्मणों को दान देते थे।

विदेशी धर्मों के प्रति भारतीय समाज उदार एवं सहिष्णु था। अरब आलोचक मसूदी के शब्दों में, "हिन्दू लोग अपने मानसिक विकास, शासन, दर्शन, शारीरिक बल तथा सौंदर्य में अन्य सभी कृष्णवर्ण लोगों से सर्वथा भिन्न हैं।" मुस्लिम लेखक इद्रीसी ने बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखा था कि 'भारतवासी न्याय-प्रिय एवं कर्त्तव्य-परायण होते हैं। वे लोग अपनी सत्यनिष्ठा, ईमानदारी तथा स्वामिभक्ति के लिए इतने विख्यात हैं कि लोग प्रत्येक दिशा से उनके देश में एकत्रित होते हैं।' मार्को पोलो ने भी भारतीय चरित्र का बखान किया है। किन्तु प्रसिद्ध मुसलमान विद्वान् अलबेरूनी ने अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति भारतवासियों की अभिमान की भावना तथा प्रत्येक विदेशी वस्तु को हेठी नजर से देखने एवं उसका अवमूल्यन करने की प्रवृत्ति की बड़ी गहरी चुटकी ली है।

आर्थिक जीवन--कृषि, उद्योग तथा व्यापार

देश का मुख्य उद्यम खेती था और वही आर्थिक जीवन का मेरुदण्ड था। अधिकांश जनसंख्या गाँवों में ही रहती थी। किसान गाँवों में अन्न, फल तथा पुष्प पैदा करते थे। उपजाऊ भूमि को उर्वरा, सर्वोत्तम भूमि को मृतस्ना तथा रेगिस्तानी भूमि को मरुभूमि कहते थे। विविध प्रकार के अनाज--गेहूँ, जौ, धान आदि--तथा विभिन्न प्रकार की दालें, तेलहन, गन्ना और फल भी पैदा होते थे। कुएँ, नहर, तालाब तथा झीलों आदि से सिंचाई का प्रबंध किया जाता था। चोल राजाओं ने कावेरी नदी पर सिंचाई के लिए बहुत बड़ा बाँध बनवाया था तथा काश्मीर के राजा अवंतिवर्मन ने भी सूर्य नामक इंजीनियर से झेलम से कई नहरें निकलवाई थीं! किसान यह भलीभाँति जानता था कि बीज कैसे बोना चाहिए तथा किस बीज के लिए कैसी मिट्टी एवं भूमि उपयुक्त होगी। ९ वीं तथा १०वीं शताब्दियों के अरब लेखकों ने पश्चिमी भारत की उर्वरा भूमि तथा कृषि-उत्पादन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। गुजरात में आम, नारियल, नींबू, चावल तथा मधु बहुतायत से पैदा होता था। चावल के लिए मगध; केशर और अंगूर के लिए काश्मीर; चावल, रुई और शक्कर के लिए बंगाल; तथा पश्चिमी समुद्र-तट बाँस, चंदन, नारियल, खजूर, अदरख, दालचीनी, इलायची, काली मिर्च और कर्पूर के लिए प्रसिद्ध था।

इस काल में वस्त्र-उद्योग भी उन्नति पर था। सूती, ऊनी तथा रेशमी कपड़े तैयार किए जाते थे। मथुरा तथा वाराणसी से बढ़िया सूती कपड़ा (दुकूल) बनाकर अन्य स्थानों को भेजा जाता था। बंगाल अपने मलमल के लिए प्रसिद्ध था। मृगचर्म के बनानेवाले भी थे। बुनकर, दर्जी तथा रँगरेज भी प्रचुर थे। मेधातिथि के अनुसार परित्यक्ता तथा विधवा स्त्रियाँ अपने भरण-पोषण के हेतु सूत कातने तथा जालीदार कपड़ा बुनने का कार्य किया करती थीं।

धातुकर्म भी प्रचलित था। ताँबा, पीतल, लोहा, सीसा, टिन, चाँदी तथा सोने के पदार्थों का वर्णन समकालीन साहित्य में पाया जाता है। "अभिधान-रत्नमाला" से ज्ञात होता है कि पीतल तथा बंग (टिन) के उद्योग के लिए सौराष्ट्र प्रसिद्ध था। अग्नि-पुराण से पता चलता है कि देश में असि-निर्माण के पाँच मुख्य केन्द्र थे—खटीखत्र, रिषिक, सोपारा, वंग तथा अंग। इब्न हौकल के अनुसार सिन्ध में देवल की बनी हुई तलवारें प्रसिद्ध थीं। मन्दिरों में स्थापित मूर्तियाँ सोने, चाँदी तथा ताँबे की बनाई जाती थीं।

विदेशों के साथ भारत का व्यापार स्थल एवं जल-मार्गों द्वारा होता था। पश्चिम तथा मध्य एशिया के साथ व्यापार के प्राचीन स्थल-मार्ग के अतिरिक्त चीन के साथ भारत के व्यापार का एक नया स्थल-मार्ग तिब्बत होकर भी जाता था। इस युग में दक्षिणी अरब के साथ भारत का समुद्री व्यापार बड़ी तरक्की पर था। चीन तथा दक्षिणी-पूर्वी द्वीप-समूह के साथ भी समुद्री व्यापार होता था। इस काल के प्रसिद्ध भारतीय बंदरगाह ये थे--सिंधु नदी के मुहाने पर देवल; गुजरात-तट पर खम्भात, थाना और सोपारा; थोड़ी दूर दक्षिण बढ़कर सिन्दान; और मलाबार-तट पर कौलममलय। बंगाल की खाड़ी को पार करने के पूर्व जहाज यहाँ के बंदरगाहों से ताजा जल लेकर आगे की यात्रा प्रारंभ करते थे।

पश्चिमी तथा मध्य एशिया से घोड़े आते थे। कपिशा से उत्तम सुरा, अरब से छुहारे, चीन से रेशम (चीनांशुक) और दक्षिणी-पूर्वी एशिया से जवाहरात आते थे। निर्यात की

वस्तुएँ थीं--मसाले, बहुमूल्य रत्न, रेशमी और सूती वस्त्र, हाथी-दाँत, नील, चन्दन, कर्पूर तथा कस्तूरी।

श्रेणियाँ तथा संघ

मध्यकाल में नगरों की संख्या में काफी वृद्धि हुई, जो विशिष्ट व्यवसाय तथा व्यापार के केन्द्र थे। प्राचीन श्रेणियाँ अभी प्रचलित एवं जीवित थीं। खजुराहो के अभिलेख में विभिन्न श्रेणियों–तेली, माली और संगतराश–के नाम मिलते हैं। परंतु श्रेणियों से संघ अधिक प्रभावशाली थे, जिनमें एक ही प्रकार का उद्यम करनेवाले विभिन्न जातियों तथा विभिन्न प्रदेशों के लोग ही सम्मिलित हो सकते थे। कई श्रेणियाँ मिलकर सामूहिक रूप में धर्मार्थ दान भी देती थीं। दक्षिण भारत के आर्थिक जीवन में ग्राम-सभाओं का बड़ा महत्वपूर्ण एवं प्रभावपूर्ण हाथ था। ऋण विभिन्न ब्याज की दरों पर दिया जाता था। मजदूरी की भी भिन्न-भिन्न दरें थीं।

मार्को पोलो ने मलाबार-भूमि को विश्व का सर्वोत्तम एवं सब से अधिक धनी एवं समृद्धिशाली प्रांत बताया है। इससे प्रकट है कि मुसलमानों के आगमन के पूर्व देश की सामान्य आर्थिक परिस्थिति समुन्नत थी और जनसाधारण का जीवन-स्तर काफी ऊँचा था। परंतु मुसलमानों के आक्रमण, विजय तथा लूट ने इस उच्च आर्थिक स्तर को ध्वस्त करके पूर्णतया गर्त में मिला दिया।

शिक्षा

पूर्ववर्ती शिक्षा-प्रणाली इस युग में भी चालू थी और पाँच वर्ष की अवस्था प्राप्त हो जाने पर यज्ञोपवीत-संस्कार के पूर्व यज्ञ-हवनादि के साथ गुरु द्वारा शुभ दिन एवं शुभ मुहूर्त में बच्चे का विद्यारंभ-संस्कार कराया जाता था। तदुपरान्त बालक अक्षर-अभ्यास करता था और उसे "मातृकान्यास" (प्राइमर) तथा गणित पढ़ाई जाती थी। प्रारंभिक स्तर पर बालक को गाँव के किसी मन्दिर या वट-वृक्ष या पीपल के पेड़ के नीचे अध्यापक द्वारा पढ़ना-लिखना तथा हिसाब लगाना सिखाया जाता था। अध्यापक की जीविका गाँववालों की सहायता से चलती थी। रामायण-महाभारत तथा पुराणादि धार्मिक ग्रंथों का किसी आम स्थान पर सार्वजनिक पाठ किया जाता था, जिसे सुनने के लिए चाण्डाल भी उपस्थित होते थे। इस प्रकार की धार्मिक शिक्षा के प्रचार के लिए उदार एवं धर्मप्रेमी लोग दान दिया करते थे।

वेदाध्ययन और उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण के द्विजों को ही था। वेदों का अर्थ समझने के लिए व्याकरण का समुचित ज्ञान परमावश्यक था। शिल्पादि की शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी को चतुर शिल्पी के यहाँ उम्मीदवारी करनी पड़ती थी। राजकुमारों को वेद, सैन्य शास्त्र, अश्व एवं गजारोहण, रथ-संचालन, धनुर्विद्या, ललित कला तथा साहित्य की शिक्षा दी जाती थी।

विद्यार्थियों को सरल एवं सादा जीवन बिताना पड़ता था। उनके लिए भिक्षा माँगकर गुरु की सेवा में रत रहने का विधान था। गुरु को कुछ पारिश्रमिक देकर विद्या प्राप्त करना तथा शिष्य से शुल्क लेकर विद्या-दान करना दोनों ही उपपातक समझे जाते थे। समावर्तन-संस्कार के पूर्व विद्यार्थी गुरु को कुछ दक्षिणा देता था।

सामान्यतया स्त्री-शिक्षा का अभाव था, किन्तु राजकुमारियाँ तथा उच्च वर्गों की कन्याएँ पढ़ी-लिखी हुआ करती थीं। वे काव्य-रचना तथ विभिन्न शास्त्रों में पारंगत होती थीं। विद्वान् अपने-अपने घरों पर ही उच्च शिक्षा प्रदान करते थे। इसके अतिरिक्त राजाओं तथा उदार धनिकों के दान से बड़े-बड़े शिक्षालयों की भी स्थापना की गई थी। जिस प्रकार सातवीं शताब्दी ई० में नालन्दा तथा वलभी विद्या के प्रसिद्ध केन्द्र थे, उसी प्रकार इस काल में पूर्वीय भारत में विक्रमशिला, सोमपुर, जगद्दल तथा ओदन्तीपुर ख्यातिप्राप्त विद्यापीठ थे। ग्यारवीं शताब्दी में काश्मीर में शिक्षा के कुछ ऐसे केन्द्र भी स्थापित हुए, जहाँ क्षेमेन्द्र के कथनानुसार सुदूर गौड़ के भी विद्यार्थी विद्योपार्जन हेतु आया करते थे। दक्षिण भारत में पाण्डिचेरी के निकट बाहुग्राम नामक स्थान में स्थित 'विद्यास्थान' के नाम पल्लव नरेश नृपतुंगवर्मन के मुख्य मंत्री ने तीन गाँव दान दे दिए थे। कांचीपुरम् में राजसिंहेश्वर-मंदिर के पूर्व में एक प्रसिद्ध "कल्लूरी" (विद्यालय) था, जिसका वर्णन राजेन्द्र चोल प्रथम के अभिलेखों में आता है।

मुसलमानों के आक्रमण तथा विजय का इस शिक्षा-व्यवस्था पर घातक प्रभाव पड़ा।

सल्तनतकालीन भारत का मुस्लिम समाज

सल्तनतकालीन भारत के तत्कालीन शासक वर्ग में मध्य एशिया के विदेशी मुसलमान–विशेषतया तुर्क तथा अफगान–सम्मिलित थे। इन थोड़े से विदेशियों द्वारा ही शासन-सूत्र संचालित था और प्रधान सूत्रधार तुर्क थे, जिनका सल्तनत के प्रशासन में एकाधिकार स्थापित हो गया था। उनमें जातीय घृणा कूट-कूटकर भरी हुई थी और वे भारतीय नव-मुस्लिमों को सल्तनत की सरकारी नौकरियों एवं अधिकारपूर्ण पदों से

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दूर रखते थे । कालांतर में मध्य एशिया से भारत में प्रविष्ट होनेवालें अगणित मुस्लिम शरणार्थियों से अन्तर्जातीय विवाह कर लेने के कारण, तुर्कों की रक्त-शुद्धता समाप्त होने लगी और मुस्लिम-समाज में भी विभिन्न जातियाँ उत्पन्न हो गई । खिलजी-वंश के शासनकाल में यह सामाजिक परिवर्तन इतना दृढ़ एवं प्रभावशाली हो गया कि तुर्कों का शासन-संबंधी एकाधिकार शनैः-शनै क्षीण होने लगा और सल्तनत के प्रशासन में भारतीय मुसलमानों का महत्व तथा सहयोग उत्तरोत्तर बढ़ने लगा ।

भारतीय नव-मुस्लिम

सल्तनतकाल के प्रारंभ में नव-मुस्लिमों की संख्या कम थी, किन्तु धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ने लगी । इन नव-मुस्लिमों में अधिकांश वे नीचकुलोत्पन्न हिन्दू थे, जिन्होंने हिन्दू-समाज की त्रुटियों के कारण त्रस्त एवं असंतुष्ट होकर अपने पूर्वजों के धर्म को तिलांजलि देकर इस्लाम मत को अंगीकार कर लिया था । तेरहवीं शताब्दी ई० में इस नव-मुस्लिम दल का नेता अमीर ईमादुद्दीन रैहान था, जो बड़ा चतुर एवं दूरदर्शी था । अलाउद्दीन खिलजी तथा फीरोजशाह तुगलक के शासनकाल में नव-मुस्लिमों को प्रशासन में बड़ा संरक्षण मिला। मुस्लिम-समाज के लोग दो श्रेणियों में विभक्त थे—एक तो तलवार के धनी और दूसरे कलम के धनी। प्रथम वर्ग में विदेशी सैनिक सम्मिलित थे, जो इस शृंखला में बद्ध थे—खाँ, मलिक, अमीर, सिपहसालार तथा तर-ए-खायल । सब से ऊँची शृंखला पर खाँ लोग तथा सब से नीची शृंखला पर तर-ए-खायल लोग थे । चौदहवीं तथा पंद्रहवीं शताब्दियों में मुस्लिम-समाज का यह शृंखलाबद्ध संगठन ढीला पड़ने लगा था और इसकी महत्ता कम होने लगी । लेखनी के धनी भी विदेशी ही थे, पर वे थे गैर-तुर्क । उनमें से सरकारी कार्यालयों के लिए लिपिक तथा शिक्षा और धार्मिक सेवाओं के लिए कर्मचारी चुने जाते थे । इस वर्ग के सब से महत्वपूर्ण अंग थे उलेमा लोग । ये ही लोग धर्माधिकारी, अध्यापक तथा काजी हुआ करते थे । सरकार तथा समाज में उनका प्रभूत प्रभाव था, जो कभी-कभी अनिष्टकारी भी सिद्ध हुआ करता था ।

मुस्लिम-समाज की निम्नतम श्रेणी में शिल्पी, दूकानदार, मुर्हरिर, छोटे सौदागर तथा गुलाम सम्मिलित थे ।

सल्तनतकालीन हिन्दू-समाज

देश में ९५ प्रतिशत सख्या हिन्दुओं की थी और यही लोग अधिकांश भूमि के स्वामी थे । हिन्दू 'काफिर' समझे जाते थे और आरंभ में उनके सामने इस्लाम और मृत्यु, इन दो में से किसी एक को अंगीकार करने के अतिरिक्त और कोई चारा न था ! किंतु शीघ्र ही विजेताओं ने अनुभव किया कि इन्हें जीवित रखना और इनकी सेवाओं का उपयोग करना अधिक लाभदायक है । अतः उनसे केवल 'जजिया' वसूल किया जाने लगा । फिर भी कदम-कदम पर हिन्दुओं को राजनीतिक एवं आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था तथा उन्हें खुल्लम-खल्ला धार्मिक अपमान सहना पड़ता था । उन्हें अपनी इज्जत बचाने के लाले पड़े रहते थे । मुसलमानों की गृद्ध-दृष्टि से अपनी कुमारी कन्याओं को बचाने के अभिप्राय से ही हिन्दुओं में बाल-विवाह तथा पर्दा-प्रथा के दोष आ गए । फिर भी हिन्दू-समाज में स्त्रियों का आदर होता था । सम्भ्रांत परिवार की स्त्रियाँ विदुषी हुआ करती थीं । इस युग की पढ़ी-लिखी एवं विदुषी महिलाओं में रूपमती तथा पद्मावती के नाम स्मरणीय हैं । सती-प्रथा प्रचलित थी एवं जाति-पाँति का व्यापक भेदभाव ज्यों-का-त्यों वर्तमान था ।

सल्तनतकालीन आर्थिक जीवन

सल्तनतकालीन भारत का आर्थिक जीवन समृद्ध था। प्रायः दैनिक जीवन की सभी आवश्यक वस्तुएँ बहुतायत से उपलब्ध थीं । मुहम्मद तुगलक की अविवेकपूर्ण फिजूलखर्ची के बावजूद भी, देश में इतना धन था कि तैमूरलंग दिल्ली से लूट का अपरिमित माल उठा ले गया था ! मार्को पोलो, इब्नबतूता आदि ने, जो इस युग में भारत आए थे, यहाँ की अर्थ-समृद्धि का भूरि-भूरि बखान किया है ।

मुख्य उद्यम कृषि था और देश में इतना अन्न पैदा होता था कि आवश्यकताओं की पूर्ति से अवशिष्ट गल्ला विदेशों को भेजा जाता था । रुई, गन्ना, तेलहन, पोस्ता तथा फल बहुत मात्रा में पैदा होते थे । नगरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में कई उद्योग-धंधे प्रचलित थे । कुछ उद्योगों को राज्य-संरक्षण प्राप्त था और कुछ वैयक्तिक पूँजी द्वारा संचालित थे । दिल्ली में सुल्तानों के अपने निजी कारखाने थे, जहाँ हजारों जुलाहे तथा बुनकर रेशम तथा अन्य रेशों से माल तैयार करते थे । सोना, चाँदी तथा जरी का माल तैयार करने के लिए भी कारखाने मौजूद थे । वैयक्तिक उद्योगों में सूती, ऊनी तथा रेशमी वस्त्रों के अलावा, रंगसाजी, वस्त्रों की छपाई, चीनी-निर्माण, जूते, अस्त्र-शस्त्र, शराब तथा मिट्टी के बर्तन बनाना, धातु के बर्तन और कागज बनाना, मीनाकारी तथा जड़ाऊ काम आदि सम्मिलित थे । बंगाल और गुजरात के बने वस्त्र विशेष रूप से ख्यातिप्राप्त थे और विदेशों में उनकी अधिक माँग थी ।

यद्यपि सुल्तानों ने किसी ऐसी अर्थ-नीति का अनुशीलन नहीं किया, जिससे सामान्य जनता की भौतिक उन्नति सम्भव हो, फिर भी देश का आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार उन्नत था। प्राचीन "श्रेणी-संगठन" जीवित था और अन्य देशों के साथ भारत का व्यापारिक संबंध चालू था। समुद्र-मार्गोंद्वारा यहाँका व्यापार योरप, मलय-प्रदेश, चीन तथा प्रशान्त महासागर के अन्य देशोंऔर स्थल-मार्ग द्वारा मध्य एशिया, अफगानिस्तान, ईरान, तिब्बत तथा भूटान के साथ होता था। भारत में मुख्य आयात की सामग्री थे—घोड़े, खच्चर तथा अमीरों की भोग-विलास की सामग्रियाँ। उधर मुख्य निर्यात थे—अन्न, रेशमी-सूती वस्त्र, नील तथा अफीम। भारत का निर्यात इतना लाभदायक था कि "मसालिक-उल-अबसार" के लेखक का कहना है कि "सभी देशों के सौदागर भारत में शुद्ध सोना पहुँचाना कभी नहीं बन्द करते और वहाँ से बदले में जड़ी-बूटियाँ तथा गोंद लाते हैं।"

आवागमन के साधनों की कमी के कारण चीजों के भाव में देश भर में समानता नहीं थी। अकाल पड़ने पर महँगाई बढ़ जाती थी, किन्तु उपज की अधिकता के कारण बाजारोंमें मंदी भी आ जाती थी। पूँजी अल्पसंख्या के लोगों तक सीमित थी। सुल्तान, उनके दरबारी रईस, उच्च पदाधिकारी, हिन्दू राजा तथा जागीरदारऔर चोटी के हिन्दू व्यापारियों के हाथ में ही धन केन्द्रित था। मध्यम श्रेणी के लोग भी सम्पन्न एवं सुखी थे। परन्तु बहुसंख्यक सामान्य जनता नितान्त गरीब थी। उसकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति कठिनाई से हो पाती थी, क्योंकि उसकी गाढ़ी कमाई का दो-तिहाई भाग करों में जाता था। अकाल या अन्य आकस्मिक आर्थिक विपत्तियों के पड़ने पर सामान्य जनता को भूखों प्राण गँवाने पड़ते थे।

हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क का प्रभाव

आरम्भ से ही मुस्लिम विजेताओं की यह परंपरा चली आई थी कि जहाँ-जहाँ वे पहुँचते थे, वहाँ-वहाँ प्रायः समूची जनता को मुसलमान बना लिया करते थे। अभी तक उन्हें किसी ऐसी जाति से पाला नहीं पड़ा था, जो उनकी सारी शक्ति के विरुद्ध भी अपना अस्तित्व अक्षुण्ण बनाए रखने को कृतसंकल्प हो। किन्तु यहाँ भारत का तो नकशा ही दूसरा था! राजनीतिक एवं सैनिक दृष्टि से भेद्य एवं पराजित होकर भी हिन्दू-भारत सांस्कृतिक दृष्टि से अजेय था——उसकी अन्तरात्मा सजीव एवं पुष्ट थी। हैवेल के शब्दों में, "इस्लाम ने भारत के राजनीतिक केन्द्रों पर तो अधिकार कर लिया; उसकी सेनाओं को नियंत्रित किया और उसके राजस्व को हड़प लिया। किन्तु फिर भी इस देश ने अपनी सर्वप्रिय वस्तु —— बौद्धिक साम्राज्य—को हाथ से नहीं जाने दिया और उसकी आत्मा ने कभी भी घुटने नहीं टेके।"

अब तक हिन्दू-भारत की यह प्राचीन परम्परा चली आ रही थी कि इस्लाम के आगमन के पूर्व जितने भी विदेशी एवं विधर्मी भारत में प्रविष्ट हुए, वे सब अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व खोकर भारत को ही अपनी मातृभूमि मानकर उसकी सभ्यता एवं संस्कृति के अनन्य पुजारी बन गए। किन्तु बारहवीं शताब्दी में जब उसका संघर्ष मुसलमानों से हुआ, तो उन्हें (मुसलमानों को) वह अपने में न मिला सकी। उल्टे इस्लाम के बलपूर्वक धार्मिक परिवर्तन ने हिन्दुओं के अन्दर पार्थक्य, एकाकीपन और कट्टरपन की भावना बढ़ा दी।

परन्तु जब दो परस्पर विरोधी संस्कृतियाँ एक ही मैदान में डटकर एक दूसरे को चुनौती देने लगीं, तो आखिर यह शीत युद्ध कितने दिनों तक चलता! यद्यपि हिन्दू-मुसलमान शासित और शासक, विजित और विजयी होने के कारण एक दूसरे से बहुत दूर थे, पर मानव-समाज के अंग होने के नाते वे एक दूसरे के निकट आने का सचेष्ट प्रयास कर रहे थे। इस प्रकार हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृतियों के बीच अदृश्य रूप से समन्वय, सम्मिश्रण एवं सहयोग की प्रक्रिया भी प्रारंभ हुई, जो आगे चलकर मुगल सम्राट् अकबर के समय में अपने चूड़ान्त को पहुँच गई। दोनों ही संस्कृतियों का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ा। उल्लेखनीय बात तो यह है कि दिल्ली की अफगान सल्तनत के अधीन इन दोनों संस्कृतियों को एक दूसरे के निकट आने का उतना अवसर नहीं मिला, जितना कि गुजरात, मालवा, जौनपुर, दौलताबाद और बंगाल के स्वतंत्र प्रांतीय मुस्लिम-राज्यों में। कारण यह था कि इन राज्यों के शासन में हिन्दू कर्मचारियों का प्रचुर सहयोग था और वहाँ के सुल्तान तथा अन्य अमीर-ओ-उमरा हिन्दुओं के अधिक निकट संपर्क में थे। इसीलिए अहमदाबाद, माण्डू, आदि स्थानों में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों को एक दूसरे को प्रभावित करने का स्वर्णावसर प्राप्त हुआ। इन सांस्कृतिक सरिताओं का संगम——उनका पारस्परिक आदान-प्रदान, सहयोग, सम्मिश्रण, सामंजस्य एवं समन्वय——जीवन के विविध अंगों में परिलक्षित हुआ। इस नूतन प्रक्रिया का प्रभाव साहित्य, धर्म, प्रशासन तथा कला और स्थापत्य के क्षेत्रों में स्पष्ट दृष्टिगोचर हुआ।

हिन्दुओं की उदारता, सहिष्णुता, संग्रहणशीलता, पाचन-प्रवृत्ति तथा आत्मसात्करण की शक्ति के अतिरिक्त और अनेक तत्व इस हिन्दू-मुस्लिम सान्निध्य एवं सामीप्य में सहायक सिद्ध हुए। हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के बीच घनिष्ठता

CC0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उत्पन्न करनेवाले लोगों में अरबी तथा फारसी के उन विद्वानों का विशेष रूप से हाथ था, जिन्होंने अपने विशाल दृष्टिकोण के कारण सहानुभूतिपूर्ण ढंग से हिन्दू धर्म एवं संस्कृति का अध्ययन करके भारतीय जीवन को समझने का प्रयास किया था।

सूफी संतों ने भारतीय वेदांत तथा कुरान मत का एक मिश्रित रूप पेश करके पवित्र और सादे जीवन तथा जीव, ब्रह्म व जगत की एकता पर बल दिया था। इससे हिन्दू-मुसलमानों के एक-दूसरे के समीप आने में काफी योग मिला था। तभी संस्कृत भाषा में लिखित हिंदुओं के धार्मिक ग्रंथों का अनुवाद तथा सारांश तैयार कराकर उनका अध्ययन करने की भी प्रवृत्तियाँ शुरू हुई थीं। हिंदू-ज्योतिष तथा वैद्यक से मुसलमानों ने बहुत-कुछ सीखा। उर्दू भाषा का विकास भी हिंदू-मुसलमानों के समन्वय का ही एक प्रतीक था। अनेक मुसलमान कवियों ने हिन्दू-जीवन तथा परंपरा के संबंध में हिन्दी-कविता द्वारा उसके साहित्य की श्रीवृद्धि की और उधर हिन्दू लेखकों ने फारसी तथा उर्दू भाषा के माध्यम को अपनाकर मुसलमानी साहित्यिक परंपरा का निर्वाह किया। पहली श्रेणी में अमीर खुसरो (१२५५-१३२४ ई०), कुतुबन (पन्द्रहवीं शती) तथा मलिक मुहम्मद जायसी (सोलहवीं शती) और दूसरी श्रेणी में राय भानमल का नाम उल्लेखनीय है। खुसरो फारसी के प्रतिभाशाली कवि होने के अतिरिक्त अरबी, तुर्की और हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे और वह संस्कृत का भी ज्ञान रखते थे। उन्होंने हिन्दी और फारसी मिश्रित पद्यों की रचना करने के अतिरिक्त 'खालिक बारी' नामक एक कोष भी बनाया, जिसमें अरबी, फारसी और तुर्की शब्दों के पर्यायवाची हिन्दी शब्द पद्य में दिए गए हैं। कुतुबन 'मृगावती' नामक प्रेम-काव्य के रचयिता थे और जायसी ने 'पदमावत' नामक काव्य की रचना की थी।

हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के पारस्परिक आत्मसात्करण की इस प्रवृत्ति ने कला, स्थापत्य तथा संगीत के क्षेत्र में भी नूतन शैलियों को जन्म दिया। इन शैलियों का प्रादुर्भाव मुसलमान सुल्तानों के दरबार में हुआ।

धीरे-धीरे मुसलमान सुल्तानों ने हिन्दुओं को काफी संख्या में शासन के विविध विभागों में दायित्व के पदों पर रखना शुरू किया। चन्देरी के मेदिनीराय तथा उनके मित्रों को मालवा के मुस्लिम शासक के यहाँ उच्च पदों पर नियुक्त किया गया था। उधर दक्षिण के विजयनगर-साम्राज्य के सम्राटों ने भी मुसलमानों को अपनी सेना में नियुक्त किया था। बाबर के विरुद्ध युद्ध करते समय राणा साँगा की सेना में भी मुसलमान सैनिकों भी एक [illegible] विद्यमान थी! इन प्रवृत्तियों ने हिन्दू-मुस्लिम सान्निध्य को सुगम बना दिया।

शिक्षा

सल्तनतकालीन भारत में शिक्षा का कोई पृथक् एवं स्वतन्त्र सरकारी विभाग न था। सामान्य शिक्षा का प्रबंध प्रजा अपने लिए स्वयं ही करती थी। हिन्दुओं की प्रारंभिक शिक्षा गाँव के पंडित तथा पुरोहित द्वारा गाँव की पाठशाला में दी जाती थी। उच्च शिक्षालयों को विद्यालय कहा जाता था, जहाँ धर्म, दर्शन, व्याकरण तथा आयुर्वेद आदि की शिक्षा पंडितों द्वारा दी जाती थी। मुसलमानों की प्रारम्भिक शिक्षा मकतब में दी जाती थी। ये प्रायः मसजिदों से संबद्ध रहते थे। उच्च शिक्षालय मदरसा कहलाते थे, जो प्रायः बड़े तथा प्रसिद्ध नगरों में स्थापित थे। बादशाह इनकी सहायता करते थे। प्रसिद्ध विद्या-केन्द्रों में पुस्तकालयों की भी स्थापना की गई थी। इनमें दिल्ली का शाही पुस्तकालय सर्वप्रसिद्ध था। जलालुद्दीन खिलजी ने अमीर खुसरू को इसका पुस्तकालयाध्यक्ष नियुक्त किया था। जब मंगोलों के निरंतर आक्रमण से भयभीत होकर मध्य एशिया के विदेशी विद्वान् शरणार्थी बनकर दिल्ली आकर एकत्रित हो गए, तो यह स्थान पूर्व में इस्लामी विद्या का अद्वितीय केन्द्र बन गया था।

दिल्ली के तुर्क-अफगान सुल्तानों ने इस्लामी विद्या, कला तथा फारसी साहित्य को सरक्षण एवं प्रोत्साहन प्रदान किया। कुतुबुद्दीन ऐबक से लेकर सिकन्दर लोदी के समय तक लगभग प्रत्येक सुल्तान के दरबार में फारसी के लेखक, कवि, दार्शनिक, तार्किक तथा धर्माचार्य विद्यमान थे। कुछ सुल्तानों के दरबार का तो इस काल के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक भी सुशोभित करते थे। हसन निजामी, मिनहाजुद्दीन सिराज, जियाउद्दीन बरनी, शम्स-ए-सिराज आफिक, यहिया बिन अहमद तथा इसामी इसी प्रकार के फारसी-लेखक थे, जिनकी रचनाएँ इस काल के इतिहास के मूल स्रोत हैं। इस काल के फारसी शायरों में अमीर खुसरू तथा अमीर हसन देहलवी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। फारसी साहित्य सुल्तानों के दरबारियों तथा अमीरों तक ही सीमित था। उसका सम्पर्क सामान्य जनता से न था। फारसी-लेखक मूल भारतीय भाषा के शब्दों, भारतीय कथानकों, वीर-वीरांगनाओं तथा भारत के प्राकृतिक दृश्यों का अपनी रचनाओं से बहिष्कार करते थे।*

---

*इस युग की साहित्यिक और कला विषयक उपलब्धियों का विवरण 'साहित्य' और 'कला' विभागों के अंतर्गत देखिए।

पूर्वमध्यकालीन भारत—(४)
धार्मिक और दार्शनिक प्रवृत्तियाँ

मध्यकाल के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों ही में भारतीय संस्कृति के प्राङ्गण में धार्मिक और दार्शनिक हलचलों का एक अनूठा दौरदौरा शुरू हुआ, जिसने हिन्दू धर्म और विचारों को परिमार्जित-संशोधित करके उसका एक प्रखर दार्शनिक एवं लौकिक रूप संसार के सामने लाकर रख दिया। यह युग ज्ञान-भक्ति का संदेश सुनानेवाले महान् आचार्यों, संतों और भक्त कवियों का युग था! आइए, इस काल की अनूठी हलचलों पर दृष्टिपात करें!

भारत के प्राचीन धार्मिक विचारों, विश्वासों तथा रीति-रस्मों की मौलिक विशेषताओं की निरंतरता मध्यकाल में भी बनी रही, किन्तु उनकी सापेक्षिक महत्ता में बड़ा परिवर्तन उत्पन्न हो गया था। पौराणिक हिन्दू धर्म की दो प्रधान शाखाओं--शैव तथा वैष्णव—में एक दूसरे की अपेक्षा अधिक लोकप्रियता प्राप्त करने की होड़-सी लगी हुई थी। बौद्ध तथा जैन धर्मों की शक्ति घट चली थी, यद्यपि अस्थायी रूप से दक्षिण में जैन धर्म का प्राधान्य स्थापित हो गया था और बंगाल तथा बिहार में पाल राजाओं के संरक्षण में बौद्ध धर्म भी कुछ चमका था। इस काल में भारत के धार्मिक जीवन की दो प्रधान विशेषताओं—धार्मिक सहिष्णुता तथा मूर्तिपूजा--की वृद्धि हुई। धार्मिक सहिष्णुता की भावना ने संकुचित सांप्रदायिक मत-मतांतरों के भेदभाव पर विजय प्राप्त की। प्रायः एक ही राजघराने के शासक विभिन्न मतों के पोषक एवं अनुयायी होते थे। प्रतिहार राजवंश का संस्थापक स्वयं तो विष्णु का उपासक था और उसके तीनों उत्तराधिकारी क्रमशः शिव, भगवती तथा सूर्य के उपासक थे ! उधर पाल-नरेश भी स्वयं तो पक्के बौद्ध थे, किंतु उन्होंने अपने मुख्य मंत्री के पद पर ब्राह्मणों को नियुक्त किया था और उनके धार्मिक उत्सवों में भी वे सहर्ष सम्मिलित होते थे। अपनी पवित्र देवमूर्तियों के विध्वंसक मुसलमानों के प्रति भी इस देश के लोगों ने धार्मिक सहिष्णुता की ही भावना दरसाई थी।

इस युग में मंदिरों की संख्या में काफी वृद्धि हुई, साथ ही उनके ऐश्वर्य की भी बढ़ती हुई। राजाओं तथा धनी-मानी उदार व्यक्तियों द्वारा प्रदत्त संरक्षण के कारण ये मंदिर न केवल उच्च शिक्षा के केन्द्र ही बन गए, वरन् प्राचीन काल के बौद्ध मठों की भाँति आध्यात्मिक प्रेरणा तथा धार्मिक सेवा-कार्य के भी पीठस्थान बन गए। मठों ने भूखों को अन्न तथा रोगियों को औषधि देने का पुनीत कार्य भी अंगीकार कर लिया।

विभिन्न मतों का एक-दूसरे पर प्रभाव

इस युग के विभिन्न धार्मिक संप्रदायों ने परस्पर के आदान-प्रदान से एक दूसरे को भली-भाँति प्रभावित किया। शैव तथा वैष्णव संप्रदायों के प्रभाव में आकर बौद्ध तथा जैन धर्मों में ईश्वरवाद की प्रवृत्ति वेगवती हो गई। अब बुद्ध और जिन देवता के रूप में माने जाने लगे और उनकी मूर्तियाँ मंदिरों में स्थापित करके पूजी जाने लगीं। उनकी पूजा के समय भक्तिरसपूर्ण भजन आदि भी गाए जाने लगे। यह शिव तथा विष्णु के उपासकों का स्पष्ट प्रभाव प्रदर्शित करता है। उधर हिन्दू धर्म में जड़ जमा लेनेवाला अहिंसा का व्यावहारिक सिद्धान्त, जो आज भी भारतीय जीवन को अनुप्राणित किये हुए है, बौद्ध तथा जैन धर्मों का स्थायी प्रभाव था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इस युग की धार्मिक विचारधारा तांत्रिक मत से भी खूब प्रभावित हुई। बौद्ध धर्म को तो तांत्रिक संप्रदाय ने इतना प्रभावित किया कि उसकी हुलिया ही बदल गई! उसने शैव और वैष्णव संप्रदायों को भी प्रभावित करके उनमें परिवर्तन उपस्थित कर दिया। इस मत में यंत्र-मंत्र की सहायता से गूढ़ विषयों का ज्ञान प्राप्त कराकर मुद्राओं, न्यास आदि पर विशेष बल दिया जाता था। तांत्रिक संप्रदाय में कोई भी स्त्री-पुरुष बिना जाति-पाँति एवं ऊँच-नीच के भेदभाव के सम्मिलित हो सकता था। इस मत के अनुसार आध्यात्मिक विकास के तीन भाव, मार्ग या स्तर माने जाते थे—पशु, वीर तथा दिव्य। तीसरे स्तर पर पहुँचकर साधक का परमात्मा के साथ एकीकरण हो जाता है। तांत्रिक मद्य, मांस, मैथुन, मत्स्य और मुद्रा के पाँच 'मकारों' में गहरी आस्था रखते थे।

देश के धार्मिक जीवन पर इन तांत्रिक विचारों का विनाशकारी कुप्रभाव पड़ा। उसके कारण समाज में अंधविश्वास एवं अनैतिकता घर कर गई। तांत्रिक मत के प्रवर्तकों ने चाहे जिन उदात्त भावनाओं से प्रेरित होकर अपने असाधारण साधनों का निर्धारण किया हो, पर सामान्य साधकों एवं भक्तों के लिए वे बड़े भयावह तथा खतरनाक सिद्ध हुए! अधिकांश साधक वांछित एवं अभीष्ट परमानंद की प्राप्ति के पूर्व ही सांसारिक लोभ एवं तृष्णा-पाश में फँसकर मार्ग से विचलित हो जाते थे! मन्दिरों में सेवा-कार्य करनेवाली सैकड़ों रूपवती देवदासियों का जीवन इसी कारण भ्रष्ट एवं कलंकित हो गया।

इसी कारण इस युग के आरंभ में सर्वतोमुखी पतन एवं ह्रास की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। इस पतित धार्मिक एवं सामाजिक जीवन ने लोगों की संजीवनी शक्ति को समाप्त कर उन्हें पुरुषत्वहीन कर दिया। जान पड़ने लगा, जैसे शताब्दियों से विकसित भारतीय संस्कृति का विशाल भवन ढह पड़ेगा! अवनति की इस प्रक्रिया को विदेशी आक्रमणों ने और भी तीव्र गति प्रदान कर दी।

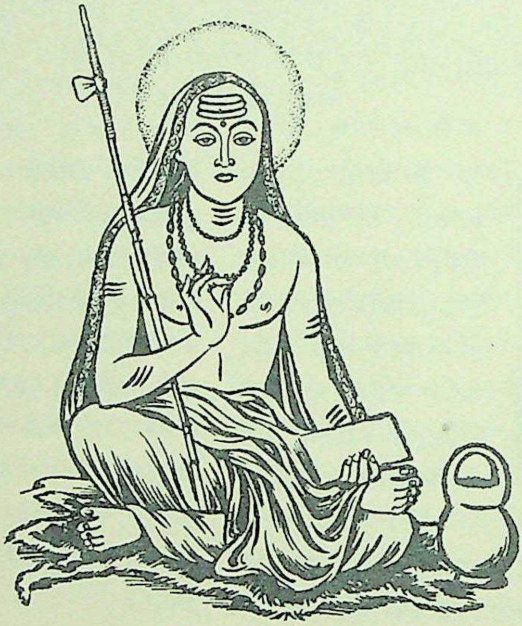

अद्वैतवाद के महान् प्रतिपादक आचार्य—श्रीशंकराचार्य।

जैन तथा दक्षिण भारत के वैष्णव संप्रदाय तान्त्रिक विचारों के इन कलुषित प्रभावों से बहुत-कुछ बचे रह गए। वैष्णवों की अपेक्षा शैव तथा शाक्त लोग तान्त्रिक विचारों से अधिक प्रभावित हुए। शक्ति-सम्प्रदाय तो एकदम तान्त्रिक मत का पर्यायवाची-सा बन गया और उसके आश्रय में निम्न स्तर के लोगों ने सुरा तथा सुन्दरी से सम्बन्धित अनुष्ठानों को सहर्ष अपना लिया।

पौराणिक हिन्दू धर्म तथा उसकी दो प्रमुख शाखाओं—शैव तथा वैष्णव मतों—के विरोधस्वरूप वैदिक 'मीमांसा' सिद्धान्त का आविर्भाव हुआ, जिसके प्रवर्तक तथा उन्नायक थे प्रभाकर, शबरस्वामी, कुमारिल भट्ट एवं मण्डन मिश्र। ये लोग वैदिक कर्मकांड को ही मुक्ति का साधन मानते थे। इन्हीं की चुनौती के फलस्वरूप शैव तथा वैष्णव धर्मों का प्रक्षालन एवं सुधार हुआ। परिणाम यह हुआ कि एक निखरा हुआ नवोदित हिन्दू धर्म सम्मान के शिखर पर विराजमान हो अन्य धर्मों को आत्मसात् करने की ओर अग्रसर हुआ।

राजपूत-काल में अधिकतर शैव संप्रदाय का प्राधान्य स्थापित था, क्योंकि अधिकांश राजवंशों ने इसे अंगीकार कर लिया था। काश्मीर शैव धर्म का एक प्रमुख गढ़ था। उधर वैष्णव धर्म का सुदृढ़ गढ़ दक्षिण का तमिल प्रदेश था, जहाँ आठवीं शताब्दी तक "आड़वार" नामक संतों ने तथा उसके पश्चात् अनेक "आचार्यों" ने इसकी प्रशंसनीय सेवाएँ की थीं। आड़वारों ने वैष्णव धर्म के भावात्मक पक्ष का तथा आचार्यों ने उसके ज्ञान या दार्शनिक पक्ष का समर्थन किया था। आचार्यों में सर्वप्रथम नाथमुनि का नाम लिया जाता है। उनके द्वारा प्रतिपादित सम्प्रदाय को 'श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय' कहते हैं। श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय के उन्नायकों में यामुनाचार्य तथा रामानुजाचार्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कहा जाता है कि विशिष्टाद्वैत के वास्तविक प्रवर्तक यामुनाचार्य ही थे और उन्होंने उन सभी सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर दिया था, जो रामानुज के नाम

से प्रचलित हुए। विशिष्टाद्वैत अथवा श्रीवैष्णव मत शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी। शंकर ने ज्ञान पर सर्वाधिक बल दिया था, जबकि रामानुज ने भक्तिवाद को दृढ़ दार्शनिक आधारशिला प्रदान की थी।

इस्लाम के आगमन से संतुलन में बिगाड़

इस पुनरोदित एवं पुनर्गठित हिन्दू धर्म के पैर संपूर्ण भारत पर अभी मुश्किल से ही जम पाए थे कि उसे इस्लाम के आक्रमण का सामना करना पड़ा! फलतः इतिहास में पहली बार भारत धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से स्थायी रूप से दो पृथक् गुटों में विभक्त हो गया। भारत में बाहर से आनेवाली पूर्ववर्ती जातियाँ उसकी बृहत् राष्ट्रीय-धारा में घुल-मिलकर एक हो गई थीं। किन्तु साढ़े सात सौ वर्षों से अधिक समय बीत जाने के बाद भी हिन्दू तथा मुसलमानों का भेदभाव आज भी भारत में बना हुआ है, यह खेद का विषय है। इसका एकमात्र कारण यह था कि इन आगन्तुकों ने कभी भी इस देश को अपनी मातृभूमि के रूप में स्वीकार नहीं किया और उन्होंने यहाँ के पुरातन वासियों को सदैव भेदभाव एवं घृणा की निगाह से ही देखा! इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि विदेशियों एवं विधर्मियों से अपनी पवित्रता एवं शुद्धता को सुरक्षित रखने के अभिप्राय से हिंदुओं ने अपने को इनसे एकदम कट्टरतापूर्वक पृथक् कर लिया और फलतः अपने लिए इतने कड़े नियम बना लिए कि उसका प्रभाव भावी धार्मिक एवं सामाजिक जीवन पर पड़े बिना न रहा। इससे हिन्दू धर्म तथा समाज की पाचन-शक्ति सदियों के लिए बिगड़ गई।

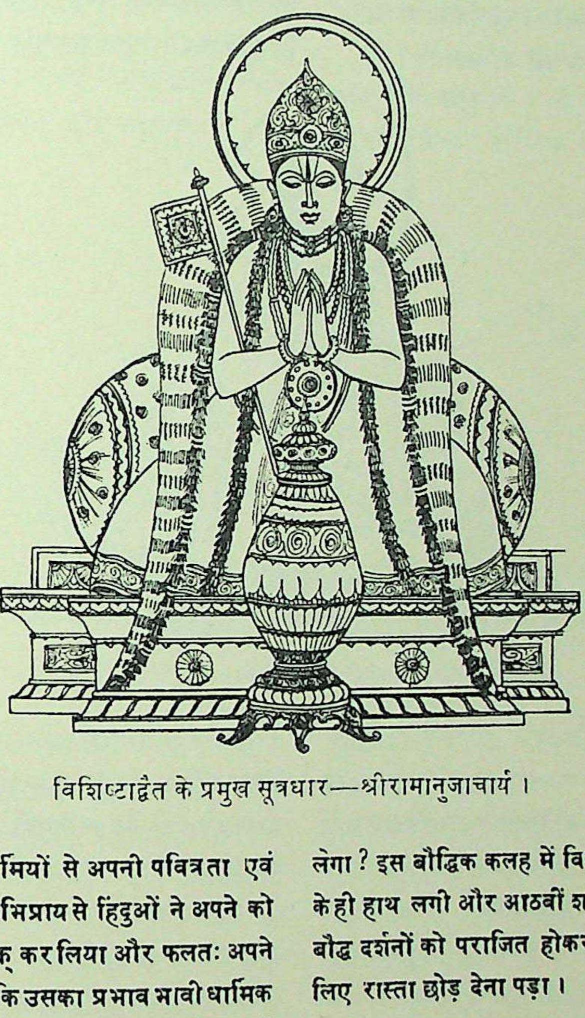

विशिष्टाद्वैत के प्रमुख सूत्रधार—श्रीरामानुजाचार्य।

दार्शनिक वाद-विवाद

नास्तिक तथा आस्तिक दर्शनों का पारस्परिक झगड़ा भारत में प्राचीन काल ही से चला आ रहा है। पहले में बौद्ध तथा जैन और दूसरे में हिन्दू धर्म के अनेक दर्शन सम्मिलित हैं। उनका कलह ६०९ ई० से लेकर १००० ई० के बीच अधिक तीव्र हो गया। नास्तिक तथा आस्तिक दर्शनों का यह बौद्धिक कलह दो मुख्य बातों पर आधारित था। नास्तिक लोग वेद को चुनौती देते थे और उन्हें वास्तविक ज्ञान का स्रोत एवं उद्गम नहीं मानते थे। ये लोग बुद्ध तथा महावीर स्वामी की शिक्षाओं एवं उपदेशों को ही अधिक पवित्र एवं भ्रांतिरहित समझते थे। उधर आस्तिक दार्शनिकों का प्रतिवाद यह था कि बुद्ध तथा महावीर सरीखे मानवों की शिक्षाओं में अभ्रांति हो सकती है। केवल ईश्वरोक्त वेद ही ज्ञान के अधिक प्रामाणिक और सत्य स्रोत माने जा सकते हैं। केवल ज्ञान के क्षेत्र में ही नहीं, वरन् दार्शनिक क्षेत्र में भी नास्तिकों की अपनी त्रुटियाँ थीं, जिन पर आस्तिकों के निरंतर प्रहार हुआ करते थे। बौद्ध लोग आत्मा की अमरता तथा ब्रह्म की अनश्वरता में विश्वास नहीं करते थे। उन लोगों द्वारा प्रतिपादित आत्मा की नश्वरता तथा कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त परस्पर विरोधी थे, क्योंकि यदि आत्मा अमर नहीं है, तो किए हुए कर्म का फल कौन भोगेगा और कौन एक शरीर से दूसरे शरीर में बार-बार जन्म लेगा? इस बौद्धिक कलह में विजयश्री अन्ततोगत्वा आस्तिकों के ही हाथ लगी और आठवीं शताब्दी का अन्त होते-होते जैन-बौद्ध दर्शनों को पराजित होकर आस्तिकवाद की विजय के लिए रास्ता छोड़ देना पड़ा।

प्राधान्य के लिये वेदान्त की चुनौती

उक्त बौद्धिक कलह में जहाँ तक नास्तिकों से मोर्चा लेने का सवाल रहा, सभी आस्तिक दर्शनों ने आपस में मेल और समझौता कर लिया। किन्तु ज्योंही नास्तिकों के पैरों तले से धरती खिसकने लगी और आस्तिकों के विरोधी कुचल दिए

गए, उनका दबा हुआ पुराना [illegible] पर उठ आया। इधर वेदान्त ने अन्य दर्शनों की भर्त्सना शुरू कर दी, उधर सांख्य-योग तथा न्याय-वैशेषिक परस्पर एक दूसरे की आलोचना-प्रत्यालोचना करने लगे। इस विवादपूर्ण एवं संघर्षमय वातावरण में मीमांसकों ने भी अपना प्राधान्य स्थापित करना चाहा। दोनों मीमांसा-दर्शनों को सब से बड़ा लाभ यह था कि वेदों के प्रति उनकी निष्ठा सर्वाधिक थी। इसी पृष्ठभूमि में कुमारिल तथा शंकर सरीखी विभूतियों ने भारत का भ्रमण कर प्रतिद्वन्द्वी दार्शनिकों को खुल्लमखुल्ला शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी। अन्ततोगत्वा वेदों द्वारा प्रतिपादित एवं उन पर आश्रित दर्शनों को ही विजयश्री प्राप्त हुई और सारा देश उनके झण्डे के तले आ गया।

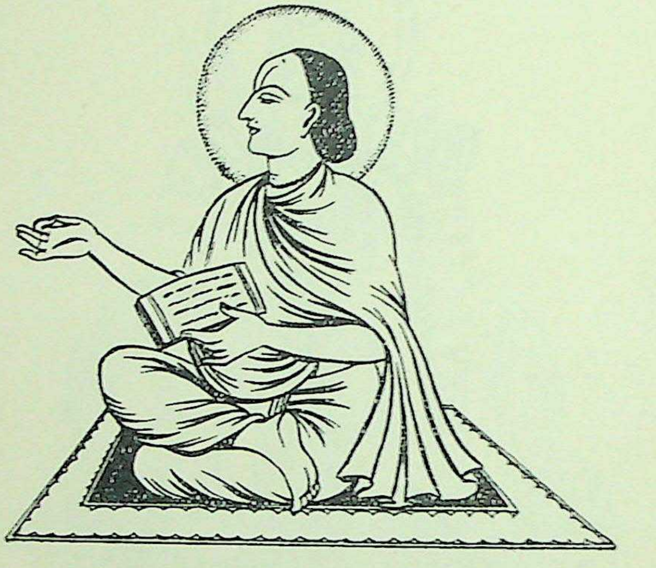

शुद्धाद्वैत एवं पुष्टि-मार्ग के प्रवर्तक—श्रीवल्लभाचार्य।

प्रारम्भ में दोनों मीमांसा के विचारों में एकता थी। किन्तु शनैः-शनैः दोनों में विच्छेद हो गया। वेद कर्म और ज्ञान दो बातों पर बल देते हैं। उपनिषद् अन्य बातों की अपेक्षा ध्यान, चिन्तन और ज्ञान पर अधिक बल देते हैं। प्रश्न यह था कि वेदों में जिन यज्ञों, संस्कारों तथा कर्मों का वर्णन किया गया है, क्या उनका करना सब के लिए सदैव आवश्यक है? इस प्रश्न पर दो प्रकार के विचार प्रकट किए गए। एक तो यह कि जीवन-पर्यन्त प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्णाश्रम के अनुसार कर्म में लगे रहना चाहिए। दूसरा यह कि ये कर्म तो किसी साध्य की प्राप्ति के लिए साधन मात्र हैं। अतः यदि कोई व्यक्ति इस जीवन तथा मृत्योपरान्त जीवन में सुख एवं आनन्द प्राप्त करना चाहता है, तब तो उसके लिए कर्म करना अभीष्ट है; किन्तु यदि कोई व्यक्ति जन्म-मरण के बंधन से छुटकारा—मोक्ष—पाने की कामना करता है, तो उसके लिए इन कर्मों का करना अनिवार्य नहीं। ऐसे व्यक्ति को तुरन्त सांसारिक सुखों से मुख मोड़कर—त्याग एवं तितिक्षा का जीवन व्यतीत कर, ध्यानमग्न एवं चिन्तनशील रहकर—संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। इसी प्रकार के विचार वेदान्तियों ने रक्खे। इन पर कुछ-कुछ बौद्ध-जैनविचारों की भी छाप थी, जो सांसारिक जीवन से विमुख थे।

अद्वैतवाद—श्रीशंकराचार्य

वेदान्त-विचारधारा के विकास में श्रीशंकराचार्य का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। शंकराचार्य का जन्म ७८८ ई० में दक्षिण भारत के एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। उन्होंने भारत में आध्यात्मिक क्रान्ति उत्पन्न करके हिन्दू धर्म की काया ही पलट दी। उन्होंने दिग्-दिगन्त में वेदान्त का नाद गुंजा दिया। उनकी शैली सुगम एवं आकर्षक थी, किंतु उनकी प्रवचन-शैली से भी अधिक आकर्षक एवं प्रभावशाली उनका व्यक्तित्व था, जिससे आकर्षित एवं प्रभावित होकर अनेक प्रतिद्वंद्वी भी उनके शिष्य बन गए थे। उनके सर्वविख्यात् शिष्य मण्डन मिश्र थे, जिन्होंने संन्यास ग्रहण कर सुरेश्वराचार्य नाम धारण किया था और अपने गुरु के दिखाए हुए मार्ग पर वेदान्त पर रचनाएँ की थीं। शंकर के सिद्धान्तों का सार यह था कि केवल 'ब्रह्म' ही सत्य है और सारा संसार (जो हम स्थूल दृष्टि से देखते हैं) 'माया' या स्वप्न के समान असत्य एवं मिथ्या है। शंकर के मत में ब्रह्म शुद्ध, सच्चिदानंद तथा निर्गुण है। उनके अनुसार जीव और ब्रह्म में मौलिक भेद नहीं है तथा मनुष्य को केवल ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति मिल सकती है। शंकराचार्य का यही दर्शन 'अद्वैतवाद' के नाम से विख्यात है। शंकराचार्य के जीवन एवं कृत्यों से हिन्दू धर्म को महती प्रेरणा प्राप्त हुई। उन्होंने उपनिषदों, भगवत्गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर टीकाएँ लिखीं और विविध देवी-देवताओं की स्तुति में स्तोत्र भी रचे। अपनी "दिग्विजय" के क्रम में शंकराचार्य ने बहुतेरे आचार्यों को परास्त किया। वह कोरे तत्त्वचिन्तक ही नहीं थे, वरन् एक सफल धर्मसुधारक एवं संगठनकर्ता भी थे।

तान्त्रिकों के कारण जो दोष हिन्दू धर्म में घुसकर उसे विकृत कर रहे थे, शंकराचार्य ने उन अवांछनीय तत्त्वों को उसमें से निकाल डाला। उन्होंने भारत के चारों कोनों में चार विशाल मठों की स्थापना के साथ ही साथ अपने उपदेशों को दूर-दूर तक पहुँचाने के लिए संन्यासियों के अखाड़ों की भी स्थापना की। इन मठों के अधिष्ठाता धर्म के पारंगत विद्वान् होते थे,

जिनका कर्त्तव्य धर्म की देखभाल करना था। उधर संन्यासियों का कर्त्तव्य धर्म का संदेश घर-घर पहुँचाना था। इन सुधारों के कारण शांकर मत विद्युत्-गति से देश भर में फैल गया। शंकराचार्य ८२० ई० में अल्पायु ही में इस संसार से विदा हो लिए ! उनके पश्चात् अनेक योग्य एवं ख्यातिप्राप्त लेखकों ने वेदांत पर अपनी-अपनी लेखनी चलाई और इस तरह अद्वैत वेदांत के अनेक विचारक उत्पन्न हुए। उधर वैष्णव एवं शैव संप्रदायों के भक्तिवादी लेखक भी वेदांत दर्शन को अपने-अपने मत की आधारशिला मानने लगे। वे अपने इष्टदेव को वेदान्त के ब्रह्म के अनुरूप ही समझने लगे। इससे वेदान्त की धारा और भी बलवती हुई।

विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत तथा शुद्धाद्वैत——रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ

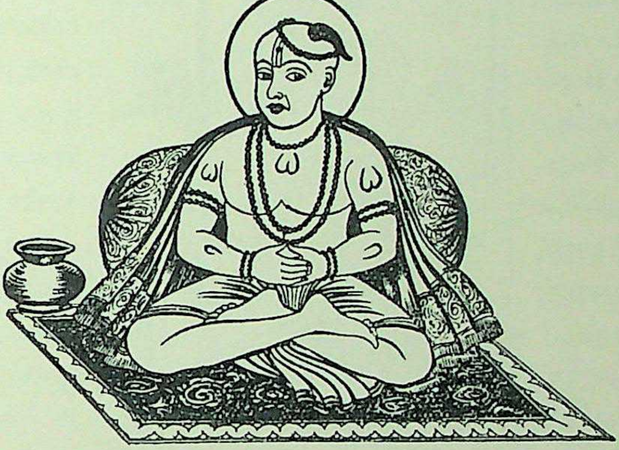

महाराष्ट्र में भक्ति-आन्दोलन के सूत्रधार—संत ज्ञानेश्वर।

शंकराचार्य के अद्वैत तथा ज्ञान-मार्ग के सिद्धांत ने भक्तिवाद पर गहरा कुठाराघात किया था, क्योंकि उनका निर्गुण ब्रह्म न तो किसी के हृदय में भक्ति उत्पन्न कर सकता था और न किसी की प्रार्थना ही वह सुन सकता था। किन्तु दुःख तथा विपत्ति पड़ने पर मनुष्य तो सान्त्वना एवं ढाढ़स चाहता है। भक्त को इनकी प्राप्ति केवल ऐसे ही भगवान् की शरण में जाने से मिल सकती है, जो पापी के प्रति दया प्रदर्शित करे और आवश्यकता पड़ने पर उसे शरण एवं सुरक्षा प्रदान करे। श्रीरामानुजाचार्य (१०१६-११३७ ई०) ने विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर भक्त को ऐसे भगवान् की राह बता दी, जो अखिल सद्गुणों का भाण्डार तथा सगुणस्वरूप है और जिसकी भक्ति मोक्षदायिका है। वह जीव और ब्रह्म में भेद मानते थे तथा कहते थे कि जीव और जगत् ईश्वर के दो विशेषण हैं। इसीलिए उनका मत 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। रामानुज ने भक्तिवाद को दृढ़ दार्शनिक आधारशिला प्रदान की।

इस काल में भक्तिमार्ग के दूसरे महान् पोषक थे आचार्य निम्बार्क (बारहवीं शताब्दी ई०), जिन्होंने जीव और ईश्वर को पारमार्थिक दृष्टि से अभिन्न मानकर व्यावहारिक रूप से उनकी भिन्न सत्ता का प्रतिपादन किया था। उनके मत को 'द्वैताद्वैत' कहा जाता है।

उधर मध्वाचार्य (११९९-१३०३ ई०) ने निर्गुण ब्रह्म को मिथ्या तथा सगुण ब्रह्म को अनन्त गुणों का भाण्डार मानकर यह घोषणा की कि जीव तथा ईश्वर एक नहीं हैं। उनके आराध्य विष्णु थे। उनका कहना था कि ज्ञान प्राप्त करने के साधन हरि-स्मरण, भजन, नाम-जप आदि हैं और निर्वाण, जीवन्मुक्ति आदि व्यर्थ का दंभ है। उनकी दृष्टि में सारूप्य व सालोक्य मुक्ति ही यथार्थ मुक्ति थी। इस प्रकार शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के विरोध में मध्वाचार्य ने जिस मत की स्थापना की, वह 'द्वैतमत' कहलाता है।

इन सभी मतों का खंडन करके वल्लभाचार्य ने माया को अलग करके ब्रह्म को अपने शुद्ध रूप में प्रस्तुत कर दिया। इसीलिए उनका दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' कहलाया। उनका मत 'पुष्टि-संप्रदाय' कहलाता है। वल्लभ का जन्म १४७९ ई० में हुआ था। उनके अनुसार ब्रह्म माया से अलिप्त है। वह एक होकर भी अनेक है — स्वतंत्र होकर भी भक्तों के अधीन है। भगवान् लीलारूप में अनेक रूप धारण करते हैं——ऐसा करने में वह सब से अलग बने रहते हैं। उनमें विकार नहीं आता। जगत् सत्य है, क्योंकि लीलाधाम भगवान् स्वयं जगत् के रूप में फैले हैं। ब्रह्म कारण है, जगत् कार्य; और जब कारण सत्य है, तो कार्य भी सत्य ही होगा। वल्लभ के अनुसार श्रीकृष्ण की प्राप्ति ही मुक्ति है। मोक्ष के लिए केवल भगवान् का अनुग्रह ही अपेक्षित है। अतः भक्त को चाहिए कि वह भगवान् के सम्मुख 'आत्मसमर्पण' कर दे।

भक्ति-आन्दोलन

जब भारत में इस्लाम प्रविष्ट हुआ, तब जाति-पाँति तथा ऊँच-नीच के भेदभाव से पीड़ित बहुदेववादी हिन्दू जनता को शंकराचार्य के अनुयायी, संसार को मिथ्या बताकर एवं ब्रह्म की सत्यता पर बल देकर, वर्णाश्रम के अंतर्गत केवल ज्ञान द्वारा संसार-सागर को पार करने का उपदेश दे रहे थे। ऐसे समय

में इस्लाम ने अपना पैर पसारकर ऊँच-नीच का भेदभाव मिटाने एवं जजिया आदि करों से मुक्त करने का लोभ इस देश की जनता को दिया। इससे दुराहे पर खड़ी हिन्दू जनता बड़े असमंजस में पड़ गई ! ऐसी संकटापन्न स्थिति में हिन्दुओं का प्राचीन भक्ति मार्ग एक दृढ़ कवच एवं संबल सिद्ध हुआ।

भक्ति के बीज वेदों में पहले ही से निहित थे। उधर श्रीमद्भगवद्गीता भी ज्ञान, कर्म एवं उपासना तीनों का समन्वय करती हुई भगवद्भक्ति का उत्कर्ष स्थापित कर चुकी थी। गीता के पश्चात् भक्ति की व्याख्या, महत्व एवं प्रचार करनेवाले तीन प्रसिद्ध ग्रंथ 'श्रीमद्भागवत,' 'नारद-भक्ति-सूत्र' तथा 'शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र' के रूप में सामने आए। श्रीमद्भागवत ने नवधा भक्ति की व्याख्या करके ज्ञान और वैराग्य को भक्ति की ही उपज बताया।

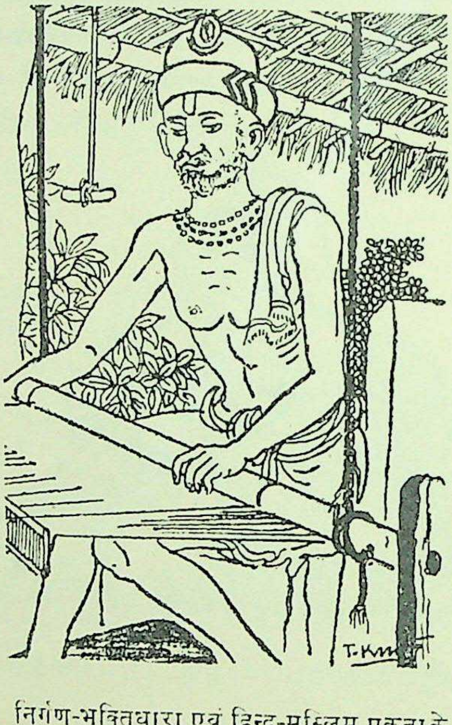

निर्गुण-भक्तिधारा एवं हिन्दू-मुस्लिम एकता के महासाधक—संत कबीर।

यह आन्दोलन पहले दक्षिण में उठा, जिसके नेता 'आड़वार' संत थे। 'आड़वार' तमिल भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है 'अध्यात्म-ज्ञानरूपी समुद्र में गहरा गोता लगानेवाला'। ये आड़वार संत अधिकतर नीच जातियों के ही व्यक्ति थे, जिन्होंने सातवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक जनता को अपने प्रेमरस से पूर्ण ललित पदों से आत्मविभोर कर दिया था। नम्रता, उदारता, शील और शिष्टता के ये अवतार थे। इनमें 'नम्मालवार' नीच अद्दूत जाति के थे। 'तिरुमंगै' डाकू थे, जो लूट के धन से मंदिर बनवाते थे। 'अंदाल' भी एक नीच जाति की स्त्री थी—वह श्रीरंगम् के रंगनाथ जी को अपना पति मानती थी। 'तिरुमंगै' द्वारा रचित छः पद्य-ग्रन्थ तमिल भाषा के वेदांग माने जाते हैं। भगवान् नारायण की उपासना में तल्लीन रहकर मानव मात्र को उनकी भक्ति का अधिकार देकर दुःख से जनता का उद्धार ही आड़वार संतों का प्रयत्न था।

उधर दक्षिण के अनेक संस्कृतज्ञ आचार्यों ने इस भक्ति-आन्दोलन को शास्त्रीय आधार दे दिया। इन आचार्यों में नाथमुनि, यामुनाचार्य तथा रामानुजाचार्य का नामोल्लेख पहले ही हो चुका है। नाथमुनि शूद्र कुलोत्पन्न नम्मालवार आड़वार की शिष्य-परंपरा में थे और उनका अपने पौत्र यामुनाचार्य तथा रामानुजाचार्य पर गहरा प्रभाव पड़ा था।

कालान्तर में इस आन्दोलन ने केवल दक्षिण तक ही सीमित न रहकर सार्वदेशिक रूप धारण कर लिया। इसी दौर में महाराष्ट्र, राजस्थान, उत्तर भारत, बंगाल और पंजाब सभी प्रांतों में विविध जातियों के अनेक संत हुए, जिन्होंने जाति-भेद का खण्डन किया तथा ईश्वर और सब धर्मों की मौलिक एकता पर बल दिया।

इन सब संतों का उपदेश यह था कि मनुष्य का बड़प्पन उसके जन्म पर नहीं, वरन् कर्म पर ही निर्भर है तथा ईश्वर-भक्ति द्वारा प्रत्येक मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। क्रमशः इस आन्दोलन की दो शाखाएँ हो गईं। ये 'राम-भक्ति-शाखा' तथा 'कृष्ण-भक्ति-शाखा' कहलाईं।

भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख नेता

रामानुज और वल्लभ के अलावा भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख नेताओं में रामानन्द, चैतन्य, ज्ञानेश्वर, नामदेव, नानक, कबीर, रैदास तथा मीराबाई, के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। रामानन्द तथा चैतन्य ब्राह्मण थे। नामदेव दर्जी थे। मीरा क्षत्राणी थीं। कबीर मुसलमान जुलाहा थे। रैदास मोची थे और नानक खत्री थे। स्वामी रामानन्द (१२९९-१४११) रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा के आचार्य थे। वे थे तो कान्यकुब्ज ब्राह्मण, तथापि उन्होंने सभी जातियों के स्त्री-पुरुषों को जनभाषा हिन्दी में राम की भक्ति का उपदेश दिया था। उनके बारह शिष्यों में सेनदास नाई, रैदास चमार तथा मुसलमान जुलाहा कबीर प्रमुख थे। चैतन्य महाप्रभु (१४८५-१५३३ ई०) का जन्म नदिया (बंगाल) में हुआ था। उन्होंने उत्तर तथा दक्षिण भारत की यात्रा करके, सांसारिक मायाजाल से मुक्त हो, भगवान् कृष्ण के ही पदारविन्दु को प्राप्त करने का उपदेश दिया था। उनकी शिक्षाओं का इतना गहरा प्रभाव पड़ा था कि लोग उन्हें विष्णु का अवतार मानने लगे ! उनके शिष्य सभी जाति एवं संप्रदाय के लोग थे। उनमें से कुछ तो मुसलमान भी थे और कुछ नीच जाति के हिन्दू थे। तेरहवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर ने ज्ञान और भक्ति का सुन्दर समन्वय स्थापित किया था। वहीं के दूसरे एक प्रसिद्ध संत थे नामदेव

(१२७०-१३५० ई०), जो जाति के शायद दर्जी या रँगरेज थे। उन्होंने ईश्वर की सगुण भक्ति की धारा प्रवाहित की थी। अनेक मुसलमान भी उनके शिष्य बन गए थे। नामदेव का कहना था कि व्रत, उपवास, तपस्या तथा तीर्थ आदि व्यर्थ हैं। केवल हृदय को शुद्ध रखना और हरि का नाम जपना ही श्रेयस्कर है। उनके समक्ष हिन्दू-मुसलमान सब समान थे।

पर हिन्दू-मुस्लिम समन्वय, सामंजस्य तथा सहयोग स्थापित करने का सर्वाधिक प्रयत्न आत्मदर्शी संत कबीर ने किया था। कबीर का अपने समय की बोल-चाल की भाषा पर पूर्ण अधिकार था और उसी के माध्यम द्वारा उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की भक्ति में अपनी 'साखियों' की रचना की थी। उनका अधिकांश समय काशी में बीता था और मगहर में जाकर उन्होंने आँखें मूँदी थीं।

कबीर ही की टक्कर के इस युग के दूसरे महान् संत नानक थे। इनका जन्म एक खत्री-परिवार में पंजाब के तलवंडी ग्राम में हुआ था। इन्होंने मक्का, मदीना, बगदाद और ईरान तक की यात्रा की थी। नानक ने केवल एक ईश्वर की भक्ति, धार्मिक सहिष्णुता तथा हिंदू-मुस्लिम एकता पर विशेष बल दिया था। उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म पर विश्वास रखते हुए, इन्होंने प्रख्यात सिक्ख-संप्रदाय की स्थापना की थी।

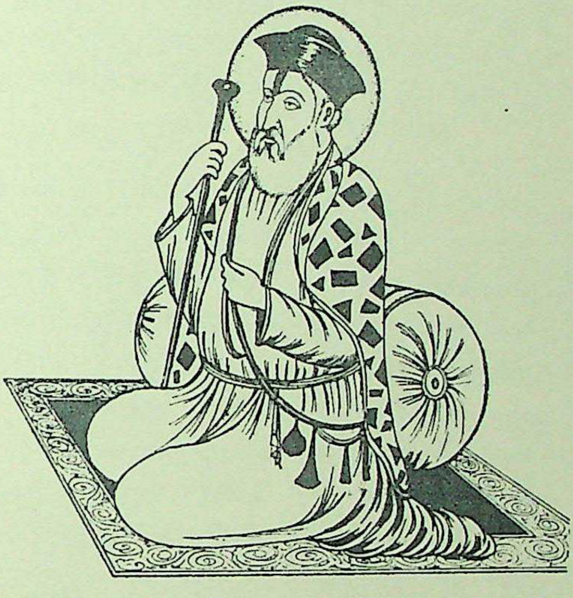

निर्गुण ज्ञानमार्ग के प्रतिपादक एवं सिक्ख-मत के संस्थापक—गुरु श्रीनानक।

भक्ति-आन्दोलन की देन

भक्ति-आन्दोलन के दो मुख्य उद्देश्य थे--इस्लाम की चोट से हिन्दू धर्म की रक्षा एवं संगठन तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता और सद्भावना स्थापित करना। इस आन्दोलन को प्रथम उद्देश्य में काफी सफलता प्राप्त हुई। सरदार पणिक्कर के शब्दों में, "जब उत्तर भारत मुसलमानों के शासन के अंतर्गत कराह रहा था, तब भक्ति के शीतल निर्मल स्रोत में स्नान करके ही हिन्दू धर्म की परिश्रान्त आत्मा को शान्ति मिली। भक्ति की भावना ने उसके हृदय के घावों पर मरहम-पट्टी का काम किया।······ भक्ति-सम्प्रदाय के संत और प्रचारक स्वयं विरक्त और भगवद्भक्त थे और जब उन्होंने अपने घट से अपनी वाणी द्वारा अमृत उड़ेलना आरम्भ किया, तब जनता उसका स्वागत करने और रसास्वादन करने के लिए हाथ फैलाए खड़ी थी। यही कारण है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्ति का दिव्य संदेश देश में बिजली की तेजी से फैल गया, जो वस्तुतः पलायनवाद और संसार के प्रति नैराश्य की भावना से उत्प्रेरित था।"

इस आन्दोलन से लोगों का यह विश्वास दृढ़ हुआ कि भगवान् के दरबार में सभी समान हैं। भक्ति-आन्दोलन के हिन्दू-समाज की परंपरागत रूढ़ियों के बंधन को ढीला करके उसे उदार बना दिया। समाज में यह भावना घर कर गई कि जो भक्त है, वह आदरणीय है, चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो। इस प्रकार भक्ति-संप्रदाय ने मनुष्य की प्रतिष्ठा स्थापित कर समाज में संतुलन लाने में सहयोग दिया।

इस आन्दोलन की एक और महान् देन थी देशी भाषाओं के साहित्य का विकास एवं उन्नयन। भक्तिवादी संतों ने अपने-अपने क्षेत्र की भाषाओं के माध्यम द्वारा ही अपढ़ साधारण जनता में अपने उपदेशों का प्रचार किया था। कबीर के दोहे तथा साखियाँ और मीराबाई के भजन हिंदी-साहित्य की अनूठी कृतियाँ हैं। इसी तरह नामदेव ने मराठी में, नानक ने पंजाबी में तथा चंडीदास और विद्यापति ठाकुर ने क्रमशः बंगाली तथा मैथिल भाषा में साहित्य की श्रीवृद्धि की थी। भक्ति-आन्दोलन का काल दरअसल देशी भाषाओं के साहित्य का स्वर्ण-काल था।

इस प्रकार ज्ञान-भक्ति की जो धारा मध्यकाल के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में समुच्छ्वसित हुई, उसका प्रवाह किसी के भी रोके नहीं रोका जा सका और वह भारत के इतिहास के इस युग विशेष में तो खूब ही उमड़ा। इसका दौरदौरा मुस्लिम काल के समूचे विस्तार में बना रहा। रामानन्द, चैतन्य, कबीर, नानक आदि के बाद सूरदास, नरसी मेहता, तुलसीदास, तुकाराम जैसे भक्त कवि और संत सामने आए। इसी दौर में आगे रामकृष्ण परमहंस और रमण महर्षि जैसे ज्ञानी भक्त पैदा हुए!

अमेरिका की प्राचीन सभ्यताएँ

:: मय, अज्तेक तथा इंका

मेक्सिको, मध्य अमेरिका तथा पीरू में विद्यमान अनेक पुरातत्त्वावशेष इस बात के साक्षी हैं कि पंद्रहवीं शताब्दी तक, कोलम्बस के आगमन के बहुत पूर्व, इस भूखंड में एक ऐसी सभ्यता पनप रही थी, जिसका राजनीतिक संगठन, सामाजिक एवं धार्मिक प्रगति तथा स्थापत्य, कला एवं आर्थिक क्रियाकलाप काफी परिमार्जित अवस्था को प्राप्त हो चुका था। दीर्घकाल तक उपेक्षित इस सभ्यता के निर्माता कौन थे, आइए, उनका परिचय प्राप्त कीजिए !

विद्वानों का मत है कि एशिया और उत्तरी अमेरिका के बीच बेरिंग-जलडमरूमध्य नामक जो सँकड़ी खाई है उसी को पार करके एशिया की कुछ जातियाँ अमेरिका में पहुँचीं और उन्होंने वहाँ पहलेपहल सभ्यता का दीप जलाया। अन्य का कथन है कि अमेरिका की प्राचीन सभ्यता के जन्मदाता वे थे, जो ग्रीनलैंड होकर योरप से अमेरिका में प्रविष्ट हुए थे। उधर श्रीचमनलाल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "हिन्दू अमेरिका" में काफी ऐतिहासिक खोज के आधार पर यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि अमेरिका हिन्दुओं का उपनिवेश था और वहाँ की प्राचीन सभ्यता——मय, इंका और अज्तेक आदि—मूलतः हिन्दू सभ्यता थी, जो ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व भी वहाँ पनप रही थी। ज्यों-ज्यों अधिकाधिक भारतीय व्यापारी, धर्म-प्रचारक एवं उपनिवेशक उत्तरोत्तर अमेरिका पहुँचते गए, त्यों-त्यों वहाँ की सभ्यता पर भारतीय सभ्यता का रंग अधिकाधिक चढ़ता गया——यहाँ तक कि वहाँ की कला, समाज-व्यवस्था, कृषि-प्रणाली, आदि सभी कुछ पर भारत की अमिट छाप अंकित हो गई।

श्रीचमनलाल के मतानुसार हिंदू धर्मग्रन्थों में जिस पातालपुरी का वर्णन आता है, वह इन्हीं सभ्यताओं का केन्द्रस्थल थी। भारत की तरह वहाँ भी नाग, शिवलिंग, सूर्य, इन्द्र आदि देवताओं की उपासना की जाती थी। पीरू की कविता के रामायण तथा महाभारत से प्रभावित होने के प्रमाण मिले हैं। जिस प्रकार भारत में छत्र को राज-चिह्न माना जाता है, उसी प्रकार अमेरिका में भी छत्र-धारण की प्रथा थी। जहाँ तक अमेरिका की इन प्राचीन जातियों की संस्कृति में नरमेध के प्रचलन का संबंध है, यह वस्तुतः ईसाई धर्म-प्रचारकों का एक अतिरंजित प्रचार है, जिसका ऊटपटाँग वर्णन देकर, अंत में योरपीय लुटेरों द्वारा उक्त सभ्यता के विनाश का औचित्य प्रमाणित करना वे चाहते थे।

मय-सभ्यता

'मय' तथा 'अज्तेक' जातियों के जीवन के विषय में जानकारी प्राप्त करने के स्रोत एवं साधन आज के दिन बहुत ही न्यून हैं, क्योंकि आक्रान्ताओं ने उनके मौलिक साहित्य एवं ग्रन्थों को आक्रमण के समय बुरी तरह नष्ट कर डाला था। अब उनके केवल दो ही मूल ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें एक ड्रेसडेन में तथा दूसरा पेरिस के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इनके अतिरिक्त बिशप लैण्ड के विवरणों से भी, जो स्पेन की सेना के साथ ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए मध्य अमेरिका गया था, मय लोगों की राजनीतिक संस्थाओं एवं जीवन पर किसी हद तक प्रकाश पड़ता है।

अमेरिका की प्राचीन सभ्यताओं में मय-सभ्यता सर्वाधिक उन्नत एवं विकसित थी। मय लोगों के पंचाङ्ग का श्रीगणेश ईस्वी पूर्व सातवीं शताब्दी (६१३ ई० पू०) से होता है।

मय जाति मध्य अमेरिका के यूकातान प्रायद्वीप, गौटेमाला तथा पश्चिमी होण्डूरा में बसी हुई थी । यहाँ उसने बड़े-बड़े नगर बसाए थे, जिनमें चिचेन-ईत्जा, उक्समल, लेबुआ, मयपन तथा चौमुलतन सब से प्रसिद्ध थे । १००० ई० के पहले ही मय-सभ्यता अपने चूड़ान्त को पहुंच गई थी । इसके बाद यूकातान प्रायद्वीप का उत्तरी भाग मय-सभ्यता का हृदय-स्थल बन गया था । प्रमुख मय-राज्यों ने मिलकर एक संघ की स्थापना की थी, जो लगभग एक शताब्दी तक कायम रहा था । इस सभ्यता में पुरोहितों का प्राधान्य था । कहते हैं, मय लोगों का सम्राट् स्वयं प्रधान पुरोहित होता था । वह सिद्धान्ततः निरंकुश था, लेकिन वस्तुतःसभी नगरों को स्थानीय स्वतंत्रता प्राप्त थी । इन नगरों का प्रशासन धार्मिक नेताओं द्वारा होता था । विभिन्न मय नगरों में पारस्परिक लड़ाई-झगड़े का कोई भी संकेत नहीं मिलता । प्रत्येक नगर को किसी-न-किसी शिल्प में विशेष पटुता के कारण ख्याति प्राप्त थी और इन सब का परस्पर व्यापार-संबंध समुन्नत था ।

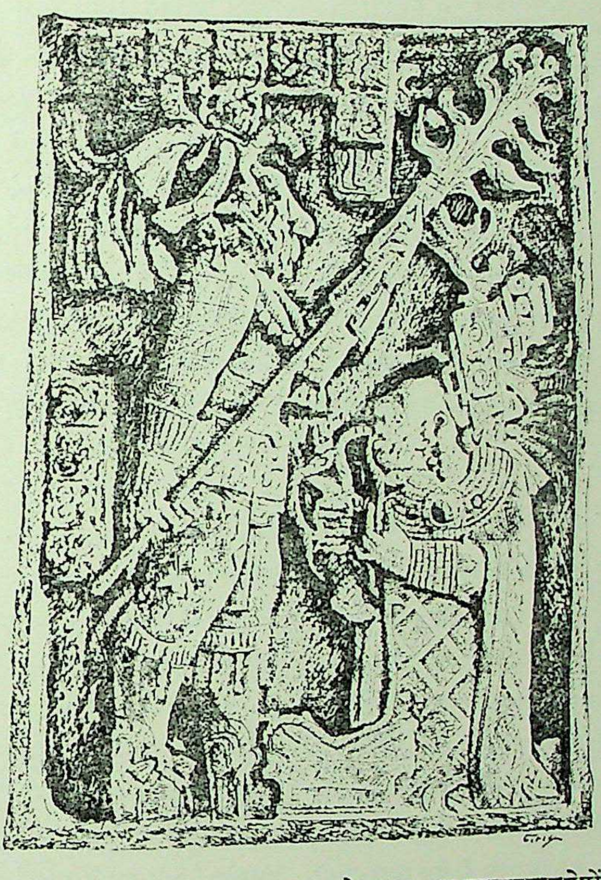

अमेरिका के यूकातान नामक प्रान्त से प्राप्त मय-पुरातत्त्वावशेषों का एक अद्भुत नमूना। मय लोग मूर्तिकार ही नहीं, महान् भवन-निर्माता भी थे।

तोल्तेक तथा अज्तेक

बारहवीं शताब्दी ई० में लड़ाकू एवं युद्धप्रिय तोल्तेक लोगों ने मय-जाति को पराजित कर दिया और अधिकांश मय नगरों को अपने अधीन करके उन्होंने वहाँ के निवासियों से जबरदस्ती कर वसूल किया । कुछ तोल्तेक शासक योग्य भी थे और उन्होंने शांति एवं व्यवस्था स्थापित करके इन नगरों की आर्थिक उन्नति भी की थी । प्राचीन अमेरिकन इतिहास में क्वेजलकोट्ल के नाम का (जिसका देहावसान १२०७ ई० में हुआ था) विशेष रूप से उल्लेख मिलता है । वह केवल योग्य शासक ही नहीं था, वरन् कलाविद्, विज्ञान-प्रेमी तथा दार्शनिक भी था । गृह-युद्ध के कारण १२२० ई० में तोल्तेक-शक्ति का अंत हो गया और उसीकी समाधिपर अज्तेक-साम्राज्य का निर्माण हुआ, जिसकी राजधानी तेनोक-तितलन नामक नगर में स्थापित हुई । मेक्सिको-निवासी अज्तेक मूलतः सैनिक वर्ग के थे । उनका स्थापत्य सैनिक प्रधान था । उन लोगों ने सैनिक दृष्टिकोण से किले बंदी करके सड़कों का जाल-सा बिछा रक्खा था । अज्तेक लोगों के इस सैनिक-तंत्र में अधिकांश आर्थिक एवं सामाजिक विशेषाधिकार शासनारूढ़ सैनिक वर्ग के लोगों को प्राप्त थे । राज्याधिकारियों का निर्वाचन शक्तिशाली एवं प्रभावशाली कुटुंबी जनों में से ही किया जाता था । राजा का उत्तराधिकारी उसका पुत्र अथवा भाई होता था । पुत्र अथवा भाई के न होने पर सब से बड़े भतीजे का चुनाव किया जाता था और इन सभी संबंधियों के अयोग्य होने पर या अभाव में पुरोहित लोग सैनिक नेता या प्रधान (राजा) का चुनाव करते थे । प्रधान पुरोहित राजा की मंत्रणा-दात्री समिति का सदस्य होता था और राजकाज में उसका बड़ा प्रभाव होता था । सोलहवीं सदी ई०में (१५१९ ई०), जब हरनन कारटेज के नेतृत्व में स्पेनवासियों ने मेक्सिको पर आक्रमण किया, तो अज्तेक नरेश माण्टेज्यूमा था । उसके सद्प्रयत्नों से मेक्सिको तथा यूकातान की विभिन्न जातियों ने परस्पर मिलकर एक महासंघ की स्थापना की थी । पर स्पेन-निवासियों के आक्रमण के समय अज्तेक-संस्कृति पतनोन्मुख हो चुकी थी ।

अज्तेक-शक्ति के पतन के कारण

अज्तेक लोगों ने मेक्सिको तथा मध्य अमेरिका के भूखंड पर खड्ग-बल से लगभग दो सौ वर्षों तक शासन किया था ।

अपने विजित एवं अधीन प्रदेशों पर उन्होंने "फूट पैदा करके शासन करो" की नीति का सफल प्रयोग किया था। बाहर से देखने पर तो अज्तेक-साम्राज्य में शांति एवं व्यवस्था विराजमान थी, किन्तु भीतर-ही-भीतर वह खोखला हो रहा था, क्योंकि निर्दयतापूर्वक शोषित प्रजा कंगाल होती जा रही थी। इन साम्राज्यवादी सिद्धान्तों पर निर्मित एवं शासित राज्य भला अधिक दिनों तक कैसे टिक सकता था! और हुआ भी वैसा ही! सोलहवीं शताब्दी में मुट्ठी भर विदेशियों (स्पेन-निवासियों) के प्रहार से अज्तेक-साम्राज्य धराशयी हो गया! हरनन कारटेज एक उच्चाभिलाषी व्यक्ति था और उसके पास विजय के दो अमोघ साधन थे! ये थे बन्दूक और घोड़े! अज्तेक लोग इन अव्यर्थ साधनों से वंचित थे; फिर भी उनके सम्मुख कारटेज की शूरता तथा स्पेन के अस्त्र-शस्त्र निष्फल सिद्ध हुए होते, यदि अज्तेक-साम्राज्य की अन्तरात्मा में घुन न लगा होता और वह प्रजा में क्षोभ एवं असंतोष उत्पन्न करनेवाले शोषण के गलित कुष्ट से पीड़ित न होता! अतः अज्तेक-साम्राज्य की क्षुब्ध प्रजा ने विदेशी आक्रान्ता का स्वागत किया और साम्राज्यवादी अज्तेक जाति के पतन से उन्होंने मानो राहत की साँस ली।

मय तथा अज्तेक-कला—१. स्थापत्य

मय तथा अज्तेक स्थापत्य उच्च कोटि का था। उन लोगों ने विशाल मंदिरों तथा भव्य भवनों का निर्माण किया था। इसके अतिरिक्त पुरोहितों के आवास के लिए धर्मपीठों, नक्षत्र-वेधशालाओं, क्रीड़ा-स्थलों तथा वाष्प-स्नानागारों का भी निर्माण उन्होंने किया था। भवनों का निर्माण ऊँचे-ऊँचे पिरामिडाकार चबूतरों पर किया जाता था और उनके चारों ओर ५ फीट से लेकर २५ फीट तक की ऊँचाई के सुन्दर नक्काशी किए हुए स्तंभ लगे रहते थे। मय-स्थापत्य में शुद्ध मेहराब की कारीगरी कहीं नहीं मिलती। छत पाटने में या तो कैण्टीलिवर (ब्रकेट या कोहनीनुमाँ) मेहराब का प्रयोग किया जाता था या स्तंभों पर थमी हुई शहतीरों के सहारे छतें पाटी जाती थीं। प्रथम अवस्था में भवनों की चौड़ाई १८ फीट से अधिक नहीं रक्खी जाती थी। कुछ मंदिरों तथा भवनों की कुर्सी २०० फीट से भी अधिक ऊँची थी और उन पर चढ़ने के लिए पत्थर की ऊँची सोपान-शृंखला बनी हुई थी। मेक्सिको के पिरामिडाकार 'सूर्य-मंदिर' की चौकी ७५० फीट लम्बी-चौड़ी तथा २१६ फीट ऊँची थी! जन-साधारण के मकान बाँस के बनते थे तथा उनकी छाजन ताड़-पत्र से की जाती थी। यद्यपि शासकों तथा पुरोहितों के मकान प्रस्तर-निर्मित थे, तथापि वे मन्दिरों की भाँति भव्य एवं विशाल नहीं थे। मय-स्थापत्य के सर्वोत्तम नमूने चिचेन-ईत्जा नगर में निर्मित "बीर-मंदिर" तथा "पंख-युक्त—नाग-मंदिर" हैं। मय स्थापत्य की अपेक्षा अज्तेकों की भवननिर्माण-कला अधिक भव्य थी, किन्तु उतनी लालित्यपूर्ण कोमलता उसमें न थी। इन दोनों सभ्यताओं के भव्य पुरातत्त्वावशेष आज भी विद्यमान हैं।

२. मूर्तिकला

मय लोगों ने मूर्तिकला का सहारा अपने देवताओं की उपासना के लिए ही लिया था। देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा एवं सम्मान प्रदर्शित करने के हेतु तथा मंदिरों के अलंकरण के निर्मित ही वे मूर्तिकार बने थे। मय-प्रस्तरकला इस दृष्टि से और भी अधिक रोचक है कि वे लोग पत्थर का काम पत्थर के ही बने हुए औजारों से किया करते थे! अधिकांश मय-मूर्तिकला शिला-खण्डों पर उभरी हुई नक्काशी के रूप में ही है। उसमें मानवाकृति पर अधिक बल नहीं दिया गया है, क्योंकि उनके देवताओं की कल्पना मानव-रूप में नहीं की गई थी। उनके देवता आधे तो मानव थे और आधे पशु-रूप। मय-मूर्तिकला में नाग-उपासना की भावना का प्राधान्य था और उसमें अन्य जीवधारियों के अंगों का भी समावेश कर दिया जाता था—जैसे कलगीवाले पक्षी के चमकीले परों, मांस-भक्षी पशुओं, चीते के दाँतों तथा मानव आभूषणों को। नागदेव की बुद्धिमत्ता प्रकट करने के अभिप्राय से उसके विस्तृत एवं फूले हुए जबड़ों के ऊपर मानव मस्तक की भी आकृति बना दी जाती थी। अज्तेक-मूर्तिकला की महान्तम कृति है मेक्सिको का प्रख्यात "सूर्य-स्तंभ", जो एक ही बहुमूल्य पत्थर के टुकड़े का बना हुआ है और जिसका भार कभी ४० टन था! इसके सामने के भाग पर वर्ष के विभाजन तथा अज्तेक-मतानुसार सृष्टि की उत्पत्ति एवं संहार के सिद्धान्त अंकित हैं। स्तम्भ के मध्य में सूर्य-देव की मुखाकृति बनी हुई है, जिसके ठीक नीचे परों से आभूषित दो नाग आमने-सामने बने हुए हैं। इन दोनों नागों के मुख मानव-मुखाकृति के हैं।

३. चित्रकला

मय तथा अज्तेक-चित्रकला निम्न कोटि की थी। उसके नमूने भित्ति-चित्रों तथा मिट्टी के बर्तनों पर बनी हुई चित्रकारी के रूप में पाये जाते हैं। पर मय-चित्रकार विभिन्न रंगों का ऐसा मिश्रण तैयार करते थे, जो उनकी चित्रकला को सौन्दर्य एवं कलात्मक छटा प्रदान करता था। अज्तेक-चित्रकारों ने मानव आत्मा को परलोग में बंदी अवस्था के यात्री के रूप में

चित्रित किया है और उसके गले में लकड़ी का पट्टा या जुआ पड़ा दिखाया है। आत्मरक्षा के हेतु उसे शस्त्रास्त्र भी दिये गये हैं। इन चित्रों में उसे अनेकानेक आपदाओं एवं संकटों का सामना करके विपदाओं के अंत में यमराज के घर पहुंचकर अपने मित्रों का अभिनन्दन करते दरसाया गया है।

मय शिल्पी विविध श्रेणियों में सुसंगठित थे। हस्त-कला कौशल सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था और सरकार तथा समाज की ओर से शिल्पियों को काफी पुरस्कार एवं प्रोत्साहन प्राप्त होता था। ये लोग सूत कातने, कपड़ा बुनने, लकड़ी पर नक्काशी करने और धातु तथा कीमती पत्थर के आभूषण बनाने में पटु थे। मय संस्कृति के अन्य अंगों की भाँति मय-कला पर भी भारतीय प्रभाव की स्पष्ट छाप अंकित दिखाई देती है।

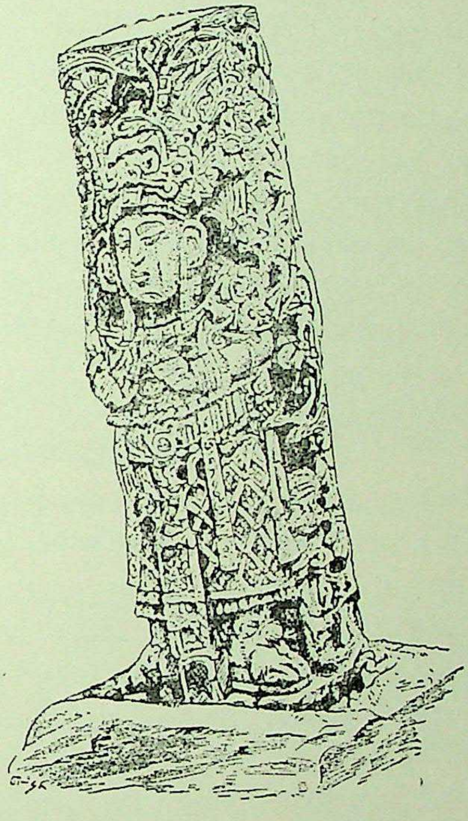

द्वितीय शताब्दी ई० का एक मय-मूर्तिशिल्प :: भारतीय प्रभाव स्पष्ट है।

मय तथा अज्तेक लोगों का धर्म

मय आर्थिक व्यवस्था का मेरुदंड कृषि थी। अतः इन लोगों के अनेकों धार्मिक कृत्य खेती-बारी की उन्नति के निमित्त ही किये जाते थे। ये विभिन्न दिशाओं के दिक्पालों तथा वन, वर्षा, उर्वरा-शक्ति और पशुरूपी विविध देवताओं में विश्वास करते थे। बीज बोने, पेड़ काटने तथा आखेट करने के पूर्व संबंधित देवताओं की प्रार्थनाएँ की जाती थीं। वर्षा के समय देवता को "चक-मूल" कहते थे। उन लोगों का यह दृढ़ विश्वास था कि इस देवताके बगलमें हवा, पानी तथा ढोल की थैलियाँ लटका करती हैं——जब वह हवा की थैली खोल देता है, तो वायु का संचार होता है; पानी की थैली खोल देने पर वर्षा होती है तथा ढोल बजने पर बादल गरजते और बिजली कड़कती है! इनके अतिरिक्त इनके और भी अनेक उपास्य देव थे। पंखयुक्त नाग मय लोगों का सर्वप्रिय देवता होते हुए भी सर्वोपरि नहीं था। यह स्थान तो हुनाब्कू (परमेश्वर) नामक देव को ही प्राप्त था, जो सर्वान्तर्यामी था। मय-समाज का नैतिक एवं चारित्रिक आचरण बड़ा ही उच्च स्तर का था। कन्याओं का कौमार्य तथा स्त्रियों का सतीत्व भ्रष्ट करनेवालों को मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। इन लोगों के लिये हिरन पूज्य था।

अज्तेक लोग भी विभिन्न देवताओं में विश्वास करते थे। अंतर केवल इतना था कि अज्तेक-देवताओं का एक गुण उनका मानवीय रूप था। अज्तेक किसी भी सुन्दर एवं शक्तिशाली प्राकृतिक शक्ति की गणना देवी-देवता की कोटि में करते थे। वे लोग धरती को माता तथा आकाश को पिता के समान पूज्य समझते थे और हिंसक वन्य पशुओं तथा नागों की उपासना करते थे। संसार की प्रत्येक प्राचीन जाति की तरह मय लोग भी अनेकों धार्मिक संस्कारों और अनुष्ठानों में विश्वास करते थे। वे लोग प्रतिमास कोई-न-कोई धार्मिक संस्कार या त्योहार मनाया करते थे। उनका कोई-कोई संस्कार तो मास में कई बार भी मनाया जाता था। उनका सुरक्षा एवं युद्ध का प्रधान देवता ह्विट-जिलोपाक्टिल था, जिसे नर-रक्त सर्वाधिक प्रिय था! विशाल मुखाकृति तथा भयानक नेत्रोंवाले ह्विट-जिलोपाक्टिल की मूर्ति स्वर्ण तथा आभूषणों से ढकी रहती थी और उसके चारों ओर स्वर्ण-निर्मितनाग लिपटे रहते थे। उसके दाहिने हाथ में धनुष, बाएँ हाथ में तूणीर, गले में सोने-चाँदी की बनी हुई नरमुण्ड-माला तथा नीलमजटित अलंकरण लटका करते थे। मूर्ति के समक्ष बध किए हुए मनुष्य के हृदय को सुगंधित द्रव्य मिलाकर अग्नि में जलाया जाता था!

अज्तेकों की नर-मेध की इस हृदय-विदारक प्रथा के संबंध में यह कहा जाता है कि एक बार तो किसी मंदिर की स्थापना में उन लोगों ने ७०,००० मनुष्यों का मेध किया था! बध किए हुए व्यक्ति के हृदय को सर्वोपरि महत्ता प्रदान की जाती थी और वही देव-प्रतिमा पर चढ़ाया जाता था। शेष शरीर दर्शकों की भीड़ में प्रसाद-स्वरूप फेंक दिया जाता था, जिसे वे ग्रहण करते थे। देवताओं की तुष्टि के लिए लोग कभी-कभी अपना अंग काटकर निजी रक्त भी चढ़ाया करते थे। इन संस्कारों की निर्विघ्न समाप्ति

के हेतु पुरोहितों के दल सहायता करते थे ! प्रधान पुरोहित को "आह-किन-माइ" कहा जाता था, जिसके प्रभाव एवं प्रभुता की ओर संकेत किया जा चुका है । जब अज्तेक-जाति पर स्पेन का आक्रमण हुआ, तो वहाँ लोगों ने रुष्ट देवताओं की तुष्टि के हेतु नर-मेध को परमावश्यक समझा । पर इससे उन्हें कोई राहत न मिली ।

मय तथा अज्तेक-साहित्य और शिक्षा

मय तथा अज्तेक-साहित्य के विषय में लोगों को बहुत कम ज्ञान है, क्योंकि एक तो आक्रमण के पूर्व उनके लिखे हुए ग्रंथों को आक्रान्ताओं ने नष्ट कर डाला; दूसरे, अज्तेक भाषा की कोई वर्णमाला न थी, वरन् उनके लेखे चित्रमय हुआ करते थे और उसका जो कुछ अंश अवशिष्ट है, उसे कोई पढ़ नहीं सकता है । यद्यपि मय तथा अज्तेक लोगों ने अपने इतिहास, धार्मिक गाथाओं तथा साहित्य आदिको अपनी मूर्ति-कला एवं स्थापत्य द्वारा चिरस्थायी करना चाहा, किन्तु अभाग्यवश उनके अधिकांश भवनों के विनष्ट हो जानेके कारण ये स्रोत भी शुष्क पड़ गए । अंतिम अज्तेक-काल की जो-कुछ कविताएँ सुरक्षित पाई गई हैं, उनके आधार पर यह कहा जाता है कि उनमें फ्लेमिंग कोयोट (मृत्यु १४७२ ई०) नामक कोई बड़ा लोकप्रिय कवि हुआ था ।

विज्ञान एवं शिक्षा के क्षेत्र में मय जाति का पंचांग या जंत्री सब से बड़ी कृति एवं सफलता थी । इसका निर्माण गणित एवं नक्षत्र-विद्या के सिद्धान्तों के आधार पर किया गया था । इसकी गणना इतनी सच्ची एवं वैज्ञानिक थी कि तीन लाख सत्तर हजार वर्षों का कोई भी दिन सही-सही बताया जा सकता था । इसके अनुसार वर्ष में कुल ३६५ दिन या १८ मास (प्रत्येक मास २० दिवस का और शेष ५ दिन अशुभ) हुआ करते थे । यह पंचांग खेतिहरों के बड़े काम का था, क्योंकि इसमें बीज बोने तथा वृक्षारोपण की शुभ तिथियाँ और पकी हुई फसल को काटने के शुभ मुहूर्त आदि दिए रहते थे । मय-जाति के गणितज्ञों को संभवतः शून्य का भी ज्ञान था । शिक्षा पर मय-समाज में पुरोहितों का एकाधिकार था ।

इस प्रकार मय तथा अज्तेक-सभ्यताएँ मानव-यात्रा के विविध युगों का विचित्र सम्मिश्रण-सी थीं । कोरा वाकर के शब्दों में, "जब योरप के लोग जंगलों में घूमते थे, तब अज्तेक लोग सुंदर संगमरमर के महलों में रहते थे और उनके यहाँ भव्य मन्दिर तथा विशाल स्नानागार थे । जब हिब्रू लोग खानाबदोश बनकर दूर-दूर विचरते थे और जंगली फलों को खाकर अपना जीवन-निर्वाह करते थे, तब मेक्सिको-निवासी कृषि करते थे और स्वयं पैदा किए हुए अन्न की रोटी बनाकर खाते थे ।" विअर्ट के अनुसार अज्तेक लोग न्यायप्रिय, सदाचारी, धर्मभीरु एवं शांति तथा सुव्यवस्था के प्रेमी थे । किन्तु योरपीय सभ्यता का संपर्क उन के लिए ऐसा घातक संक्रामक रोग सिद्ध हुआ कि एक ही झटके में उनकी सभ्यता रसातल को पहुँच गई !

पीरू की इंका-सभ्यता

इंका-सभ्यता का केन्द्र-स्थल दक्षिणी अमेरिका का पीरू प्रदेश था, जिसका विस्तार इक्वेडोर से लेकर मध्य चिली तक था । इसके अन्तर्गत समुद्र-तट तथा बोलीविया का पठार भी सम्मिलित था । तीतीकाका झील के चतुर्दिक १२० मील लंबा तथा ४० मील चौड़ा भूखंड इंका-राज्य का सर्वोत्तम भू-क्षेत्र था, जहाँ की उपजाऊ धरती, स्वास्थ्यवर्द्धक जलवायु तथा सुन्दर चरागाहों ने इंका-सभ्यता के फूलने-फलने में सर्वाधिक सहायता पहुँचाई । इस क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के पत्थरों की अगणित खदानें भी थीं, जिसके कारण स्थापत्य एवं मूर्ति-कला को प्रचूर प्रोत्साहन प्राप्त हुआ ।

राजनीतिक जीवन

इंका-साम्राज्य का संस्थापक मांको-कापक नामक व्यक्ति था, जो अपने को सूर्य की संतान समझता था । इस साम्राज्य की राजधानी कुश-को नामक नगरी थी और इसका शासक या सम्राट् इंका कहा जाता था, जिसे दैवी शासनाधिकार प्राप्त थे । जब स्पेन-निवासियों ने फ्रैन्सिस्को पिज़ैरो के नेतृत्व में सन् १५३० ई० में पीरू पर आक्रमण किया, तो उस समय अताहुल्प नामक इंका शासन कर रहा था । थोड़े ही दिन पूर्व वह गृह-युद्ध में अपने भाई हुएस्कर को बंदी बनाकर विजयी हुआ था । संभवतः वह तेरहवाँ इंका शासक था । सींची-रोका (११०५-११४० ई०) इनमें सर्वाधिक प्रतिभा-सम्पन्न शासक हुआ । वह बहुत बड़ा विजेता भी था तथा वैभवशाली शासन की स्थापना करने के हेतु उसने अनन्त धन-राशि भी एकत्रित कर रखी थी । इंका निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासक थे तथा उनकी प्रजा उन्हें माई-बाप समझती थी । प्रत्येक व्यक्ति के जीवनोपयोगी साधनों का आयोजन--यहाँ तक कि उसके विवाह आदि का भी प्रबंध—राज्य की ओर से ही किया जाता था । कानून बड़े कठोर थे तथा दण्ड-विधान भी कड़ा था । नैतिक जीवन का स्तर ऊँचा था । पशुओं तथा पेड़-पौधों की सुरक्षा का समुचित प्रबंध था । प्रतिज्ञा-भंग करनेवालों को जिन्दा दफन कर दिया जाता था । चोरों को दाग दिया जाता

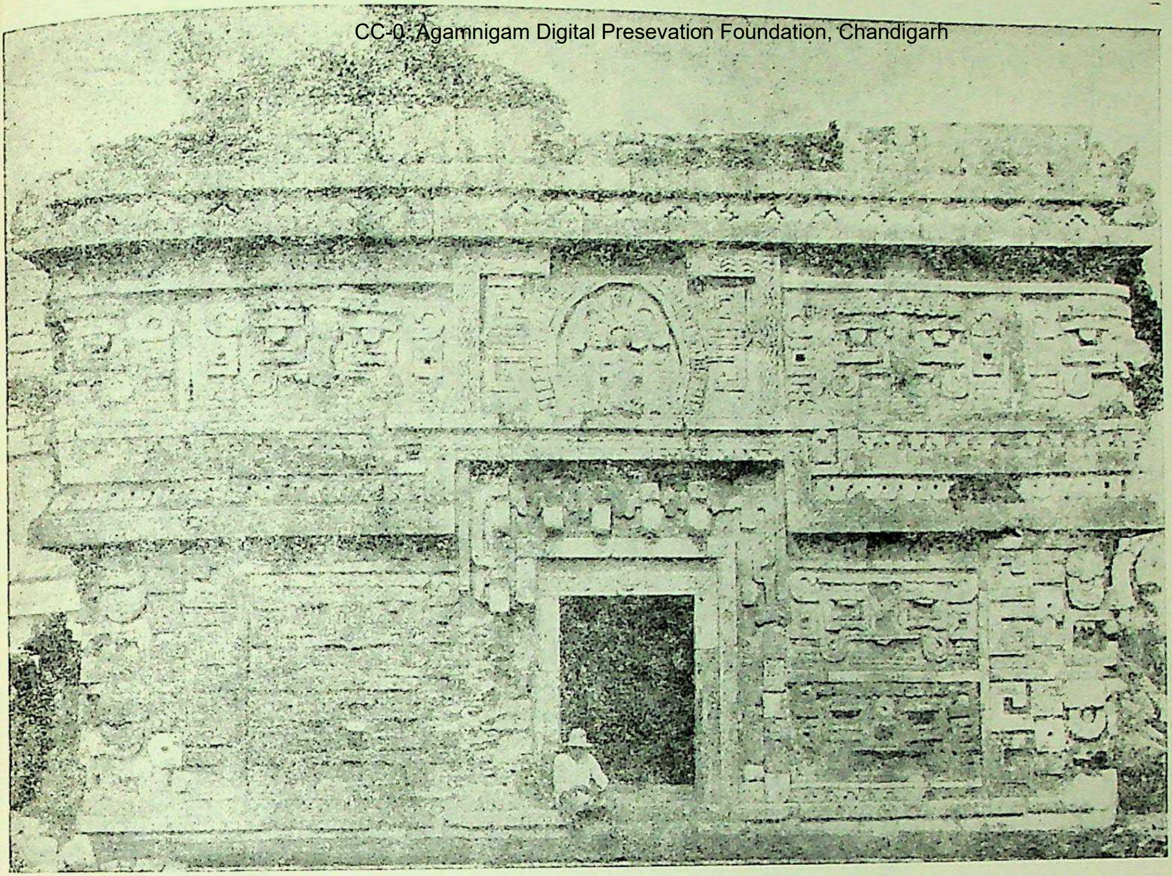

चिचेन-ईत्जा में स्थित मय-स्थापत्य के अवशेषों का एक नमूना, जिससे प्राचीन अमेरिका के इन रहस्यमय बाशिन्दों की कला के उच्च स्तर का अनुमान किया जा सकता है।

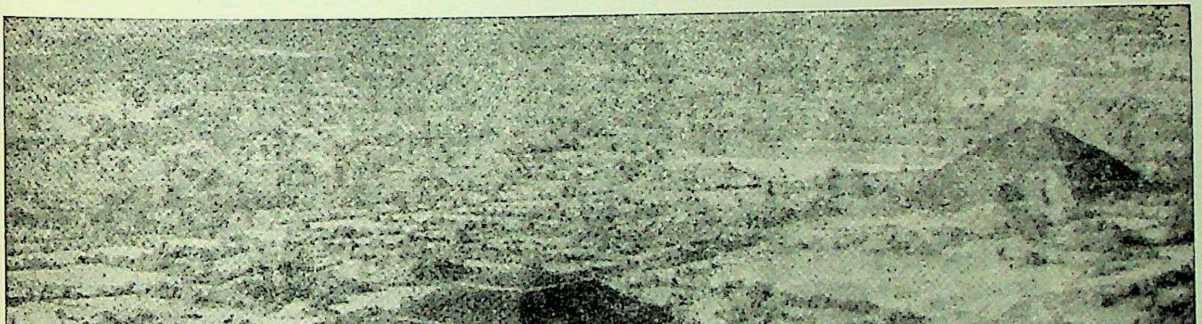

मेक्सिको नगर के समीप प्राचीन तोल्तेक राजधानी के ध्वंसावशेषों के बीच स्थित २१६ फीट ऊँचे पिरामिडाकार सूर्य-मंदिर का चबूतरा। पृष्ठभूमि में ऐसा ही एक और चबूतरा है, जो चंद्रदेव को उत्सर्गित है।

था तथा तीन बार लगातार असत्य भाषण करने पर झूठ बोलनेवाले की जिह्वा में कील ठोंक दी जाती थी !

क्रय-विक्रय तथा लेन-देन में सिक्कों का व्यवहार नहीं किया जाता था । वस्तुओं की अदला-बदली की जाती थी । आभूषणों के लिए सोना-चांदी का प्रयोग होता था । भूमि पर किसी का वैयक्तिक स्वामित्व न था, वरन् वह राज्य की संपत्ति थी । प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार राज्य की सेवा करनी पड़ती थी । कर आदि का भुगतान करने के लिए लोगों को श्रमदान करना पड़ता था । इंका-सम्राट् की सेना विशाल एवं सुसंगठित थी । साम्राज्य के एकछोर से दूसरे छोर तक चिट्ठी - पत्री पहुँचाने तथा सैन्य-संचालन करने के हेतु सड़कों का विशाल जाल बिछा हुआ था ।

उरुबांबा नदी की घाटी में मचूपिच्चू नामक स्थान पर एक हजार फीट ऊँचे कगार पर स्थित एक इंका-दुर्ग के ध्वंसावशेष

धर्म

इंका-सभ्यता धर्म से ओत-प्रोत थी । लोगों का अधिकांश जीवन धार्मिक संस्कारों एवं क्रियाकलापों में बीतता था । धार्मिक पर्वों के अवसर पर लोग रंग-बिरंगे वस्त्र धारण करते तथा बाजा बजाकर खुशियाँ मनाते थे । विशेष त्योहारों के दिन सम्राट् प्रातःकाल अपने दल - बल सहित लोगों को दर्शन देने के लिए निकलता था । प्रजा उसे साष्टांग प्रणाम किया करती थी ! चूंकि इंका-सम्राट् सूर्य-संतान माना जाता था, अतः लोग सूर्याभिमुख होकर उसके सम्मान में सूर्यरश्मियों को भी शीश नवाते थे । तदुपरान्त प्रीतिभोज किया जाता था, जिसमें लामा नामक स्थानीय लद्दू जानवर, अन्य पशुओं तथा पक्षियों का मांस पकाकर लोगों को प्रसाद के रूप में बाँटा जाता था । रोग-निवारणार्थ, वर्षा-हेतु तथा युद्ध में विजयश्री प्राप्त करने के लिए भी विशेष प्रकार के धार्मिक कृत्य किए थे । प्रधान देवता सूर्य के मंदिर की सुरक्षा एवं सफाई आदि के लिए विशेष परिचारिकाएं नियुक्त रहती थीं, जो सूर्य-कुमारी कही जाती थीं । ये लोग भी नर-मेध करते थे, किंतु इनमें यह प्रथा इतनी व्यापक न थी, जितनी कि अज्तेकों में ।

कला तथा साहित्य

मय तथा अज्तेक लोगों की तुलना में ये लोग गणित तथा ज्योतिष में पिछड़े हुए थे । किन्तु स्थापत्य, कपड़ा बुनने की कला तथा मिट्टी का सामान तैयार करने में ये पड़ोसी मय तथा अज्तेक लोगों से बहुत बढ़े-चढ़े थे । राजधानी कुज़-को में प्रस्तर-निर्मित सूर्य मन्दिर इंका-स्थापत्य का सर्वोपरि नमूना था । इस भव्य मन्दिर की गोलाई १,२०० फीट थी और उसके बाहर केवल एक विशाल फाटक लगा हुआ था, जिसमें से होकर लोग मन्दिर के पवित्रतम मुख्य कक्ष में दर्शनार्थ पहुँचते थे। मंदिर का गर्भ-गृह २९६ फीट लम्बा तथा ५२ फीट चौड़ा था । इसकी भीतरी छत की शोभा बढ़ाने के लिए उस पर सोने का पत्तर मढ़ा हुआ था। मन्दिरों के अतिरिक्त इंका-कला की प्रतिमा सड़कों, किलों, पुलों तथा महलों के निर्माण में भी प्रस्फुटित हुई थी । स्वर्णाभूषण बनाने में ये लोग बड़े ही कुशल थे । इन लोगों की कोई वर्णमाला या लिपि न थी । उनमें साहित्यिक महत्व की कविताएँ तथा कहानियाँ मौखिक रूप में पुश्त-दर-पुश्त सुरक्षित रक्खी जाती थीं । इन लोगों को साधारण औषधियों, जड़ी बूटियों तथा सामान्य चीर-फाड़ का भी ज्ञान था ।

सोलहवीं शताब्दी ई० में स्पेनवासियों ने जिस प्रकार अज्तेक-सभ्यता का नाश किया, उसी प्रकार उन्होंने इंका-सभ्यता को भी मटियामेट कर दिया । उनके एक महत्वाकांक्षी लुटेरे पिज़ेरो ने विश्वासघात करके इंका-सम्राट् को बंदी बना लिया और प्रजा को जी भरकर लूटा ! इस प्रकार पीरू स्पेन-साम्राज्य का अंग बन गया ।

द्रव्य जगत्

H
H–C–C=O
O–H
H
H
C
H–C C–H
H–C C–H
C
H
गिरीश

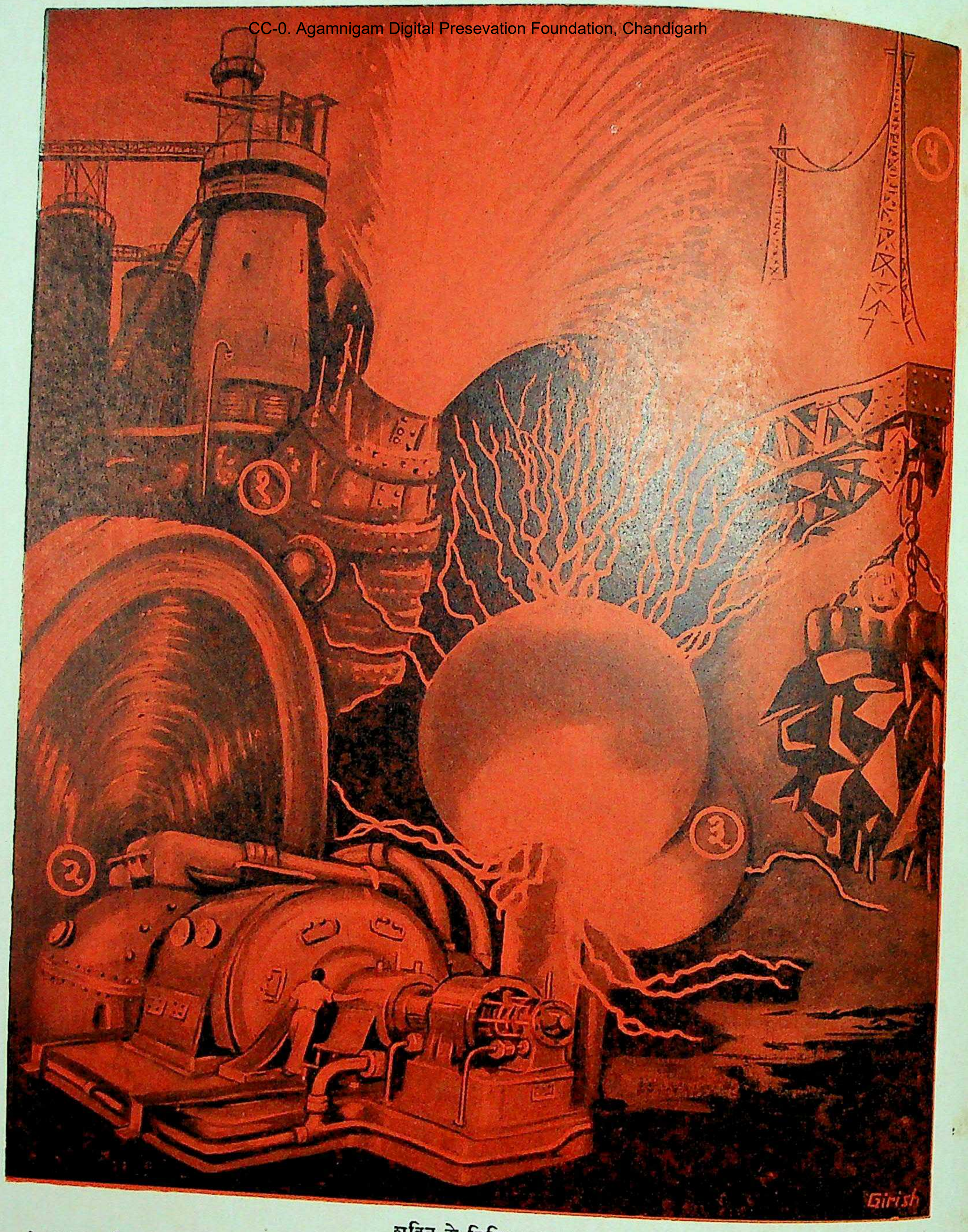

शक्ति के विविध रूप

१. ऊष्मा की शक्ति, जिसका प्रखर रूप फौलाद का निर्माण करनेवाली बेसेमर कन्वर्टर नामक भट्ठी में देखने को मिलता है; इसकी तेज रोशनी **आलोक-शक्ति** की परिचायक है, **२. गतिज शक्ति,** जिसका परिचय हम इस भीमकाय इंजिन में पा सकते हैं; **३. विद्युत्-शक्ति,** जिसका अंदाजा ३० लाख वोल्ट विद्युत्-प्रवाह उत्पन्न करनेवाले इन परमाणु-भाजक यंत्रों से हम कर सकते हैं; **४. चुंबक-शक्ति** का प्रतीक यह भीमकाय 'मैगनेट' है, जो मनों लोहे को अपने आकर्षण द्वारा उठा लेता है; **५. रेडियो-एक्टिव शक्ति,** जिसके बल पर वायरलेस का जादू संभव हुआ है।

हाइड्रोजन और कार्बन के अद्भुत यौगिक :: हाइड्रोकार्बन

मिट्टी का तेल, पेट्रोल, मोम, वैसलीन, नैफ्थलीन, तारपीन का तेल आदि पदार्थ हमारे दैनिक व्यवहार की साधारण वस्तुएँ हैं । क्या आपको मालूम है कि ये सारे पदार्थ दो तत्त्वों अर्थात् हाइड्रोजन और कार्बन के रासायनिक संयोग से ही बने होते हैं ? इन्हें 'हाइड्रोकार्बन' कहते हैं। जब ये पदार्थ हवा अथवा ऑक्सिजन में पूर्णतः जलते हैं, तो इनका कार्बन तो कार्बन डाइऑक्साइड में और हाइड्रोजन तत्त्व पानी में परिणत हो जाता है । इस परिवर्तन के फलस्वरूप रासायनिक शक्ति ताप के रूप में प्रकट होती है ।

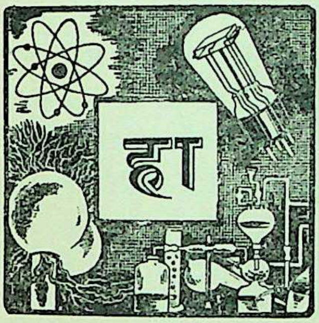

हाइड्रोकार्बनों का वर्गीकरण हम पृ० ३०३६ पर दी गई सारिणी सं० १ के अनुसार कर सकते हैं। 'पैराफिन' अथवा संतृप्त हाइड्रोकार्बन हमारे व्यवहार में सब से अधिक आते हैं । मिट्टी का तेल (केरोसीन), पेट्रोल, चिकनानेवाले तेल (ल्यूब्रिकेटिंग ऑयल), वैसलीन और पैराफिन-मोम इन्हीं हाइड्रोकार्बनों के मिश्रण होते हैं ।

कोयले की खानों में हवा के साथ विस्फोटक मिश्रण बना देनेवाली और दलदलों आदि में कार्बनिक द्रव्यों के सड़ने से उत्पन्न होनेवाली गैस 'मिथेन' पैराफिन श्रेणी की प्रथम सदस्या है । इसे वसीय यौगिकों का पितृ-हाइड्रोकार्बन कहते हैं, कारण ये यौगिक इसीसे निकले हुए समझे जा सकते हैं। 'पैराफिन' शब्द लैटिन के दो शब्दों की संधि से बना हुआ है::पैरम=बहुत थोड़ा, और ऐफिनिस = संबंध रखनेवाला; अतः पैराफिन शब्द का अर्थ हुआ ऐसे पदार्थ, जो दूसरे पदार्थों के साथ रासायनिक प्रतिक्रिया न प्रदर्शित करते हों । बात भी यही है । ऑक्सिजन और हैलोजन तत्त्वों के अलावा इन हाइड्रोकार्बनों पर अन्य पदार्थों, यहाँ तक कि नाइट्रिक ऐसिड, पोटेशियम परमैङ्गनेट, कास्टिक पोटाश, आदि अत्यंत क्रियाशील रासायनिक द्रव्यों तक की भी क्रिया नहीं होती । इन हाइड्रोकार्बनों को 'संतृप्त' इसलिए कहा जाता है कि इनमें प्रत्येक कार्बन-परमाणु की चारों संयोजन-शक्तियाँ हाइड्रोजन अथवा अन्य कार्बन-परमाणुओं के योग से पूर्णतः परितुष्ट रहती हैं ।

समश्रेणी कार्बनिक यौगिक

सारिणी सं० २ के अध्ययन से आपको कई मनोरंजक बातों का ज्ञान होगा । पाँचवें हाइड्रोकार्बन से इन यौगिकों का नामकरण उनके अणु में कार्बन-परमाणुओं की संख्या के अनुसार होता है । पेण्टा का अर्थ पाँच है, इसलिए पाँचवें हाइड्रोकार्बन का नाम 'पेण्टेन' पड़ा; हेक्सा का अर्थ छः है, इसलिए छठे का नाम 'हेक्सेन' रक्खा गया । इन हाइड्रोकार्बनों के अणुओं में कार्बन-परमाणुओं की संख्या एक-एक करके और हाइड्रोजन के परमाणुओं की संख्या दो-दो करके बढ़ती चली जाती है । चित्रसूत्रों से आपको यह विदित हो जाएगा कि कार्बन की लड़ियों में एक और कार्बन परमाणु के जुड़ जाने से इस कार्बन-परमाणु की दो मुक्त संयोजन-शक्तियों के तृप्ति के लिए दो हाइड्रोजन-परमाणुओं का बढ़ना भी आवश्यक हो जाता है । ऐसे कार्बनिक यौगिकों के श्रेणी को, जिनके क्रमागत सदस्यों में इस प्रकार एक कार्बन और दो हाइड्रोजन परमाणुओं का अन्तर रहता है, 'समश्रेणी' कहते हैं । ऐसी श्रेणियों के यौगिकों के गुणों में या तो समता रहती है, अथवा क्रमानुसार परिवर्तन पाया जाता है । सारे कार्बनिक यौगिक इसी प्रकार की समश्रेणियों अथवा उन के सदस्यों से उत्पन्न अन्य पदार्थों में विभक्त कर दिए गए हैं और इसलिए कार्बनिक यौगिकों को इतनी बड़ी संख्या का अध्ययन बहुत ही अधिक

सारिणी सं० १

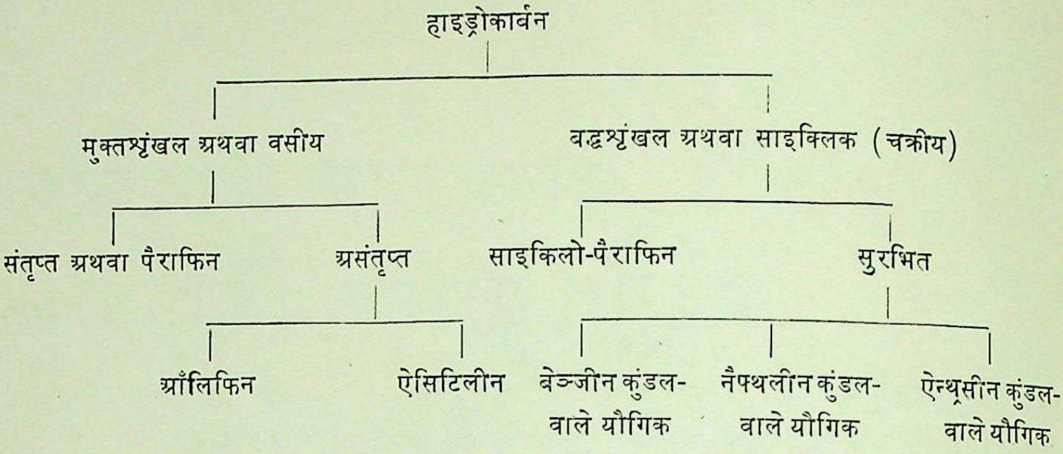

क्रमबद्ध एवं सरल हो गया है। इन हाइड्रोकार्बनों के सूत्रों से आपको यह भी ज्ञात होगा कि इनमें से प्रत्येक के अणु में हाइड्रोजन के परमाणुओं की संख्या कार्बन के परमाणुओं की संख्या के दुगुने से दो अधिक होती है। इसलिए इस समश्रेणी का बीज-सूत्र $CnH_2n + 2$ लिखा जाता है। प्रथम चार हाइड्रोकार्बन गैसीय होते हैं, इसके बादवाले बारह हाइड्रोकार्बन द्रव और शेष सब ठोस होते हैं। मोम में, जो ठोस होता है, तेइसवें ($C_{23}H_{48}$) से लेकर अट्ठाइसवें ($C_{28}H_{58}$) हाइड्रोकार्बन तक रहते हैं। सब से बड़ा पैराफिन हाइड्रोकार्बन, जो अब तक तैयार किया जा सका है $C_{94}H_{190}$ है। गैसीय और द्रव पैराफिन रंगहीन होते हैं और ठोस पैराफिन या तो रंगहीन या सफेद होते हैं। जैसे-जैसे हम पैराफिनों की सारिणी के नीचे उतरते हैं, उनके द्रवण और उबाल-बिन्दु बढ़ते जाते हैं। इनका भारीपन भी बढ़ता जाता है, लेकिन घनत्व बहुत कम बढ़ता है——ग्यारहवें का आपेक्षिक घनत्व ०.७७४ और बीसवें का ०.७७८ होता है। पानी से ये सभी हाइड्रोकार्बन हलके होते हैं और उसमें घुलते नहीं। आप जानते हैं कि मोम, मिट्टी का तेल, आदि इन पैराफिनों के पदार्थ पानी पर उतराते हैं। पैराफिन जितना हलका होता है, उतनी ही प्रबलता से आग पकड़ने और जलनेवाला होता है। गैसीय पैराफिनों और पेट्रोल के कम उबाल-बिंदुवाले अर्थात् वाष्पशील पैराफिनों और हवा का मिश्रण चिनगारी द्वारा विस्फुटित हो जाता है। पेट्रोल के इसी विस्फोट से उत्पन्न शक्ति ही मोटर-गाड़ियों, वायुयानों आदि को चलाती है।

पैराफिन हाइड्रोकार्बनों पर क्लोरीन अथवा ब्रोमीन की क्रिया सीधे संयोग द्वारा नहीं होती, कारण उनके प्रत्येक कार्बन-परमाणु की चारों संयोजन-शक्तियाँ हाइड्रोजन के परमाणुओं के संयोग से तृप्त रहती है। ये हैलोजन तत्त्व हाइड्रोजन से अधिक क्रियाशील होते हैं, अतएव वे एक या अधिक हाइड्रोजन-परमाणुओं को हटाकर उनके स्थान में बैठ जाते हैं। ये हटे हुए हाइड्रोजन-परमाणु इन हैलोजन तत्त्वों के परमाणुओं से संयुक्त होकर हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस अथवा हाइड्रोब्रोमिक ऐसिड गैस में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार क्लोरिन की प्रतिक्रिया द्वारा मिथेन से चार यौगिक बनते हैं—मेथिल क्लोराइड, मेथिलीन क्लोराइड, क्लोरोफार्म और कार्बन टेट्राक्लोराइड——

$$CH_4 + Cl_2 = CH_3Cl + HCl$$
$$CH_3Cl + Cl_2 = CH_2Cl_2 + HCl$$
$$CH_2Cl_2 + Cl_2 = CHCl_3 + HCl$$
$$CHCl_3 + Cl_2 = CCl_4 + HCl$$

हाँ, ये क्रियाएँ अँधेरे में नहीं होतीं, इनके लिए सूर्य के प्रकाश की उपस्थिति आवश्यक है। लेकिन इस प्रकार पैराफिनों पर क्लोरिन की क्रिया द्वारा क्लोरोफार्म ($CHCl_3$) आदि पदार्थों का निर्माण नहीं किया जाता, कारण किन्हीं भी निश्चित दशाओं में एक ही पदार्थ नहीं, प्रत्युत क्लोरीन के विभिन्न यौगिकों का मिश्रण बनता है।

जिन हाइड्रोकार्बनोंमें कार्बन की चारों संयोजन-शक्तियाँ तृप्त नहीं रहतीं, उन्हें 'असंतप्त हाइड्रोकार्बन' कहते हैं। इथिलीन गैस (C_2H_4) और ऐसिटिलीन गैस (C_2H_2) इनके उदाहरण हैं। इनके चित्रसूत्र क्रमशः

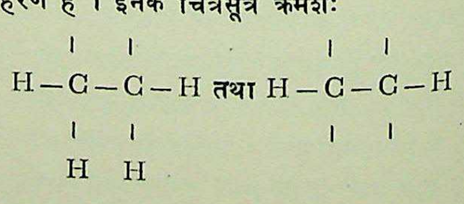

$$H - C - C - H \text{ तथा } H - C - C - H$$

सारिणी सं० २

नाम	सूत्र	चित्रसूत्र*	अवस्था	नाम	सूत्र	चित्रसूत्र	अवस्था
मिथेन	CH_4	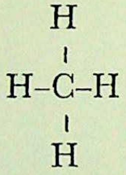 $H-\underset{H}{\overset{H}{C}}-H$	गैस	हेक्सेन	C_6H_{14}	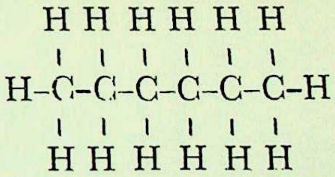 $H-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-H$	द्रव
इथेन	C_2H_6	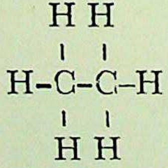 $H-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-H$	,,	हेप्टेन	C_7H_{16}	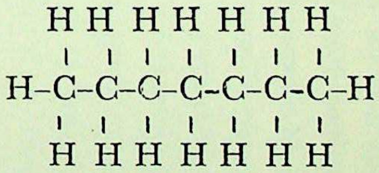 $H-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-H$	,,
प्रोपेन	C_3H_3	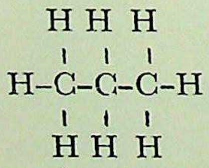 $H-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-H$	,,	ऑक्टेन	C_8H_{18}	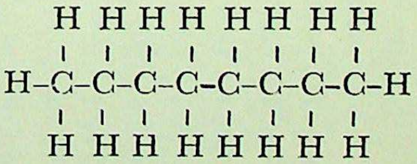 $H-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-H$	,,
ब्यूटेन	C_4H_{10}	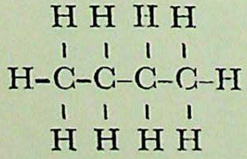 $H-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-H$	,,	नोनेन	C_9H_{20}	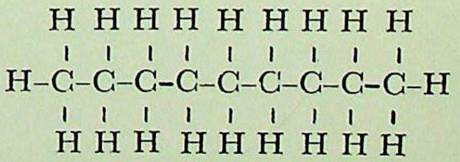 $H-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-H$	,,
पेण्टेन	C_5H_{12}	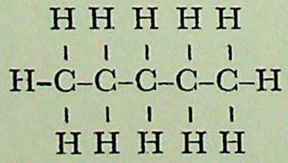 $H-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-H$	द्रव	डेकेन	$C_{10}H_{22}$	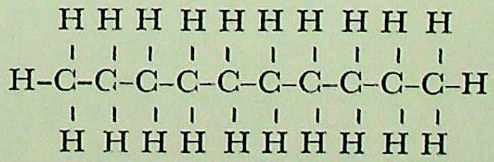 $H-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-\underset{H}{\overset{H}{C}}-H$	,,

---

* यहाँ केवल सामान्य हाइड्रोकार्बनों के ही चित्रसूत्र दिए गए हैं। ब्यूटेन और इससे आगे के हाइड्रोकार्बनों के चित्रसूत्र अन्य बनावटों के भी हो सकते हैं। ऐसे यौगिकों को, जिनके अणुसूत्र वही हों किन्तु चित्रसूत्र और गुण भिन्न हों, 'समावयवी' (आइसोमर) कहते हैं।

न लिखकर

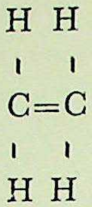

$$\begin{array}{cc} H & H \\ | & | \\ C & = C \\ | & | \\ H & H \end{array}$$

तथा $H-C\equiv C-H$

लिखे जाते हैं। दोनों कार्बन-परमाणुओं की एक-एक मुक्त संयोजन-शक्तियों को खुला न दिखाकर इनके बीच में एक ही रेखा द्वारा प्रदर्शित कर दिया जाता है। इस प्रकार इथिलीन के कार्बन-परमाणुओं के बीच में दोहरी रेखाएँ अथवा दोहरे बंधन होते हैं और एसिटिलीन में तिहरे। कार्बन-परमाणुओं के बीच में दोहरे अथवा तिहरे बंधनों का लिखा जाना यौगिक के असंतृप्त होने का सूचक होता है। ये हाइड्रोकार्बन विभिन्न दशाओं में हाइड्रोजन, क्लोरीन, ब्रोमीन, आदि तत्त्वों से सीधे संयुक्त होकर नए कार्बनिक यौगिकों में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार सीधे संयोग से बने हुए यौगिकों को 'संयोजन-यौगिक' कहते हैं। निकल धातु के उत्प्रेरक प्रभाव में जब हाइड्रोजन के संयोग से इनकी सब अतृप्त संयोजन-शक्तियाँ शांत हो जाती हैं, तो ये पैराफिन-हाइड्रोकार्बनों में परिणत हो जाते हैं---

$$\underset{\text{ऐसिटिलीन}}{C_2H_2} + 2H_2 = \underset{\text{इथेन}}{C_2H_6}$$

इथिलीन जब क्लोरिन से संयुक्त होती है, तो एक तैलीय पदार्थ इथिलीन क्लोराइड बनता है---

$$C_2H_4+Cl_2=C_2H_4Cl_2$$

इसलिए उस समश्रेणी को, जिसका इथिलीन प्रथम सदस्य है, 'ऑलिफिन (तैलजनक) श्रेणी' कहते हैं। इसका दूसरा सदस्य प्रोपिलीन ($CH_3.CH:CH_2$ अथवा C_3H_9) है, तीसरा ब्यूटिलीन ($CH_3.CH_2.CH:CH_2$ अथवा C_4H_8) है, इत्यादि; और बीज-सूत्र CnH_2n है। पहले महायुद्ध में इथिलीन से ही गंधक और क्लोरीन के संयोजन द्वारा विषाक्त 'मस्टर्ड गैस' बनाई गई थी। इथिलीन अन्य कई उपयोगी कार्बनिक यौगिकों को तैयार करने में काम आती है। हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के मिश्रण की भाँति इथिलीन अथवा ऐसिटिलीन और ऑक्सिजन के मिश्रण भी अत्यन्त गरम लौ को उत्पन्न करने में व्यवहृत होते हैं। ऑक्सी-ऐसिटिलिन लौ इनमें सब से अधिक गरम होती है। इसका ताप ३,०००°C होता है और इसमें बहुत-सी धातुएँ सरलता से पिघल जाती हैं। थोड़ी-सी इथिलीन मिली हुई हवा में रखने पर गद्दर फल शीघ्र ही अपने प्राकृतिक रंग के होकर पक जाते हैं। इसीलिए इधर फलों के उद्योग में इस गैस का काफी व्यवहार होने लगा है।

जिन हाइड्रोकार्बनो में इथिलीन के दोहरे बंधन दो बार आते हैं, उन्हें 'डाइऑलिफिन' कहते हैं। इन यौगिकों में सब से महत्वपूर्ण आइसोप्रीन है। निश्चित दशाओं में इसके समाणु-संयोजन द्वारा कृत्रिम रबड़ बनाया जाता है। रबड़ वास्तव में एक पालीऑलिफिन अथवा पॉलीन है, जिसके अणु में इथिलीन के अनेक दोहरे बंधन होते हैं (पॉली = अनेक)।

इथिलीन गैस अल्कोहॉल से प्रबल गंधकाम्ल तथा अन्य साधनों द्वारा पानी के अवयव हटाकर बनाई जाती है—

$$C_2H_5OH--H_2O=C_2H_4$$

और एसिटिलीन कैल्शियम कार्बाइड पर पानी की क्रिया द्वारा तैयार की जाती है—

$$CaC_2+H_2O=CaO+C_2H_2$$

कार्बाइड लैम्पों में इसी प्रकार उत्पन्न ऐसिटिलीन तीव्र उजाले के साथ जलती है। चौड़े मुँह पर उसका हवा द्वारा

सारिणी सं० ३

क्रम-संख्या	नाम	अणुसूत्र	रचनासूत्र
१.	ट्राइमेथिलीन (साइक्लो-प्रोपेन)	C_3H_6	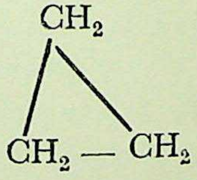
२.	टेट्रामेथिलीन (साइक्लो-ब्यूटेन)	C_4H_8	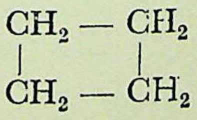
३.	पेण्टामेथिलीन (साइक्लो-पेण्टेन)	C_5H_{10}	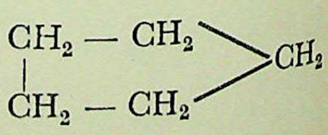

पूर्णतः ऑक्सीकरण नहीं हो पाता, अतः बहुत-सा कार्बन कालिख के धुएँ के रूप में बिना जले हुए ही निकलने लगता है। ऐसिटिलीन इसी नाम की समश्रेणी का पहला सदस्य है; दूसरा सदस्य मेथिल ऐसिटिलीन ($CH_3{\cdot}C{:}CH$ अथवा C_3H_4) है; तीसरा एथिल ऐसिटिलीन ($C_2H_5C{:}\,CH$ या C_4H_6) है। इस समश्रेणी का बीजसूत्र CnH_2n-1 है। कार्बनिक संश्लेषण की दृष्टि से ऐसिटिलीन बड़े महत्व का पदार्थ है। कोयले और चूने के मिश्रण को बिजली की भट्ठी में गरम करने से सस्ते में कैल्शियम कार्बाइड तैयार किया जाता है--

$$3C+CaO=CaC_2+CO$$

कैल्शियम कार्बाइड पर जल की क्रिया द्वारा ऐसिटिलीन बनती है। यह द्रव्य मर्क्यूरिक सल्फेटयुक्त २० प्रतिशत गंधक के तेजाब में प्रवाहित करने पर उत्प्रेरणा द्वारा पानी के अवयवों से संयुक्त होकर ऐसेटल्डिहाइड नामक पदार्थ में बदल जाता है ($C_2H_2 + H_2O=CH_3CHO$) और ऐसेटल्डिहाइड पर हाइड्रोजन की क्रिया द्वारा एथिल अल्कोहॉल एवं ऑक्सीकरण द्वारा ऐसिटिक ऐसिड (सिरके का तेजाब) उत्पन्न होते हैं :--

$$CH_3CHO+H_2 = C_2H_5OH$$

$$CH_3CHO+O = CH_3COOH$$

इन दोनों पदार्थों से अन्य अनेकों कार्बनिक पदार्थों का निर्माण हो सकता है। ऐसिटिलीन को रक्त-तप्त नली में प्रवाहित करने पर वह बेन्जीन में परिणत हो जाती है। सारांश यह है कि कोयले से शुरू करके इस विधि से हम अनेकानेक कार्बनिक यौगिकों का संश्लेषण कर सकते हैं। इन्हीं संश्लेषण-विधियों द्वारा वैज्ञानिकों ने कार्बनिक रसायन के महत्व को बहुत ऊपर उठा दिया है। इथिलीन, ऐसिटिलीन आदि असंतृप्त हाइड्रोकार्बन संतृप्त हाइड्रोकार्बनों के गुणों के विपरीत कुछ तेजाबों, ऑक्सीकारकों, आदि पर क्रिया करके उनमें शोषित हो जाते हैं।

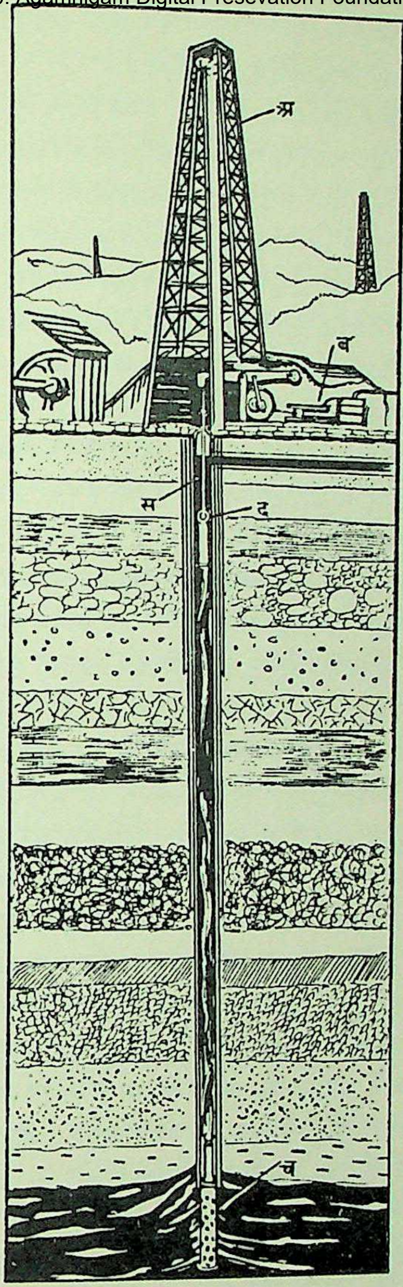

पेट्रोलियम निकालने के लिए धरती में गलाए जानेवाले एक कुएँ का आदर्श मानचित्र :: चित्र में धरती को व्यस्तस्त काटकर भूगर्भ में स्थित तेल के सोते ('च') तक की विभिन्न चट्टानों के स्तरों का क्रम और उनमें से होकर गलाए जानेवाले कुएँ तथा उस पर निर्मित डैरिक ('अ'), तैल-पंप को चलानेवाले आयल इंजिन ('ब') तथा उक्त पंप के वाल्व ('स' और 'द') आदि दिग्दर्शित हैं। पृष्ठभूमि में तैल-क्षेत्र के अन्य कूपों पर निर्मित डैरिक दिखाई दे रहे हैं।

'साइक्लो-पैराफिन' नामक समश्रेणी के हाइड्रोकार्बनों में कार्बन-परमाणुओं की लड़ियाँ बंद रहती हैं, इसीलिए इन्हें 'साइक्लो' अथवा चक्रीय कहते हैं। यद्यपि ये यौगिक ऑलिफिनों के आइसोमर समावयवी होते हैं, तथापि इनमें कार्बन के सब संयोजन-बंधक तृप्त रहते हैं--इनमें दोहरे अथवा तिहरे बंधन नहीं रहते। इनके गुण इसीलिए पैराफिनों से बहुत मिलते-जुलते हैं। इसीलिए इन्हें 'साइक्लो-पैराफिन' कहते हैं। कुछ उदाहरण सारिणी नं० ३ में प्रदर्शित हैं। इस श्रेणी का सब से बड़ा सदस्य साइक्लोनोनेन (C_6H_{18}) होता है। ये यौगिक हमारे लिए किसी महत्व के नहीं होते।

बेन्जीन, नैफ्थलीन और अन्थ्रसीन नामक सुरभित यौगिक हमें कोलतार से आंशिक स्रवण द्वारा प्राप्त होते हैं। इनसे उपयोगी कार्बनिक यौगिकों की एक बहुत बड़ी संख्या तैयार की जाती है।

खनिज हाइड्रोकार्बन— प्राकृतिक गैस और पेट्रोलियम

धरती के गर्भ में बहुत बड़े परिमाणों में गैसीय, तरल और ठोस हाइड्रोकार्बन मिलते हैं। उत्तरी अमेरिका के विभिन्न प्रान्तों, दक्षिणी-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पूर्वीय रूस, ईरान और संसार के अन्य अनेक भागों में धरती की दरारों से अथवा कुएँ खोदने पर गैसीय हाइड्रोकार्बन निकला करते हैं। इस तरह निकली गैस को 'प्राकृतिक गैस' कहते हैं। कतिपय स्थानों पर यह प्राकृतिक गैस धरती से स्वतः निकलती हुई हजारों वर्ष से जल रही है। प्राकृतिक गैस में अधिकतर मिथेन और हाइड्रोजन तथा अल्पांशों में इथेन और अन्य हाइड्रोकार्बन रहते हैं। संयुक्त राज्य (अमेरिका) के कुछ स्थानों की प्राकृतिक गैस में १ से २ प्रतिशत तक हीलियम गैस भी मिली हुई पाई जाती है। अमेरिका में प्राकृतिक गैस प्रकाश, ताप अथवा कारखानों में शक्ति उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त होती है। इसके अलावा वहाँ उससे हीलियम गैस भी निकाली जाती है। प्राकृतिक गैस से कहीं-कहीं हाइड्रोजन गैस भी बनाई जाती है।

धरती के स्तरों के नीचे जहाँ प्राकृतिक गैस भरी होती है, वहाँ नीचे एक चिकटे तैलीय द्रव के रूप में बृहद् परिमाणों में उच्चतर हाइड्रोकार्बनों का मिश्रण इकट्ठा रहता है। इसी द्रव को 'खनिज तेल' अथवा 'पेट्रोलियम' कहते हैं। लैटिन में 'पेट्रा' का अर्थ चट्टान और 'ओलियम' का अर्थ तेल होता है; अतः पेट्रोलियम का अर्थ 'चट्टानों का तेल' हुआ। पेट्रोलियम से प्राचीन काल के लोग भी परिचित थे। अमेरिका, दक्षिणी-पूर्वीय रूस आदि के तेल के क्षेत्रों में पेट्रोलियम धरती से पसीजकर ऊपर आ जाता था। चीन और बर्मा में भी हजारों वर्ष पहले कुएँ खोदकर तेल निकाला जाता था, जिसे लोग शरीर पर मलते या दीपकों में जलाते थे। पर उन्हें यह ज्ञात न था कि इस खनिज तेल के रूप में प्रकृति रासायनिक शक्ति का कितना बड़ा तरल भांडार मनुष्य को सौंप देने को प्रस्तुत है !

१८४८ ई० में सैमुएल एम० कियेर ने प्रयोगशाला में पेट्रोलियम को परिस्रवित करके एक पतला तेल पृथक् किया, जो लैम्पों में जलाने के लिए बड़ा ही उपयोगी प्रमाणित हुआ। कालान्तर में पेट्रोलियम का महत्व और उसकी माँग बढ़ चली और ११ वर्ष बाद १८५९ ई० में कर्नल ड्रेक ने पेन्सिल्वेनिया (संयुक्त राज्य) में इस्पात के नल को गलाकर संसार का पहला आधुनिक तेल का कुँआ खोदा ! आज तेल का व्यवसाय संसार के सब से बढ़े चढ़े हुए उद्योगों में गिना जाता है। तेल के क्षेत्रों में आजकल कुँओं के ऊपर बने हुए सैकड़ों 'डेरिक' दिखाई देते हैं। इन्हीं से कुओं के अन्दर से पंप द्वारा तेल निकालते हैं।

पेट्रोलियम लगभग प्रथम पच्चीस पैराफिन-हाइड्रोकार्बनों का मिश्रण होता है। अल्पांशों में उसमें इन हाइड्रोकार्बनों के आइसोमर (समयौगिक), कुछ बेन्ज़ीन श्रेणी के सुरभित हाइड्रोकार्बन और कुछ साइक्लोपैराफिन अर्थात् साइक्लोपेण्टेन और साइक्लोहेक्सन (जिन्हें नैफ्थीन भी कहते हैं) रहते हैं।

पृथ्वी के गर्भ में तेल के इन बृहद् निक्षेपों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस प्रश्न पर वैज्ञानिकों में काफी मतभेद रहा है। मेण्डेलिएफ की यह धारणा थी कि धरती के उत्तप्त गर्भ में स्थित लोहा आदि धातुओं के कार्बाइडों पर भाप की क्रिया से इन प्राकृतिक हाइड्रोकार्बनों की उत्पत्ति हुई है। उदाहरणार्थ, अल्युमीनियम कार्बाइड और कैल्शियम कार्बाइड पर पानी की क्रिया से क्रमशः मिथेन और ऐसिटिलीन गैसें निकलती हैं—

$$Al_4C_3 + 6H_2O = 2Al_2O_3 + 3CH_4$$

मोयसाँ, सबातियर और सेण्डरन्स ने भी मेण्डेलिएफ की राय का समर्थन किया। तब १९०० ई० में कार्ल एंग्लर ने दबाव में मछली के तेल की-सी चर्बियों का विच्छेदनात्मक परिस्रवण किया और देखा कि उससे बिलकुल पेट्रोलियम जैसा द्रव स्रवित होकर इकट्ठा हो रहा है। इससे उसने यह निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वी के गर्भ में पेट्रोलियम की उत्पत्ति गरमी और दबाव में सामुद्रिक जीवों के शवों के विच्छेदन से हुई होगी। उक्त जीवों के नाइट्रोजनयुक्त अवयव अर्थात् प्रोटीन अधिक स्थायी होने के कारण पहले ही विच्छिन्न हो गए होंगे और शेष बची हुई चर्बी धीरे-धीरे हाइड्रोकार्बनों में परिवर्तित होकर इकट्ठा हो गई होगी।

कच्चा पेट्रोलियम बदबूदार और हरे, पीले अथवा कत्थई रंग का होता है। उसे निकालने के लिए धरती में हजारों फीट तक इस्पात के नल गलाने पड़ते हैं। जब तेल के कुएँ गलाए जाते हैं, तब यदि तेल धरती के नीचे दबाव में भरा होता है, तो नल के निक्षेप तक पहुँचते ही वह अपने आप जोर से निकलने लगता है। बहुधा यह फव्वारा सैकड़ों फीट तक ऊँचा उठ जाता है और महीनों चला करता है। इस प्रकार के तेल के फव्वारे को 'गशर' कहते हैं। कभी-कभी इस पेट्रोलियम में आग भी लग जाती है, जो हफ्तों नहीं बुझती। निकालने के बाद यह कच्चा तेल पाइपों, जहाजों अथवा रेलगाड़ियों द्वारा शोधन-भवन (रिफाइनरी) में भेज दिया जाता है।

पेट्रोलियम का परिस्रवण और शोधन

रिफाइनरी में पेट्रोलियम बृहदाकार देगचों में उबालकर परिस्रवित किया जाता है। पेट्रोलियम के क्रमागत हाइड्रोकार्बनों के उबालबिंदु इतने सन्निकट होते हैं कि उनमें से प्रत्येक को आंशिक स्रवण द्वारा पृथक् कर लेना प्रायः संभव नहीं और न इसकी आवश्यकता ही पड़ती है। उन्हें ऐसे अंशों

में अलग-अलग द्रवीभूत कर लिया जाता है, जो विभिन्न कार्यों के लिए व्यवहृत होते हैं। सब से पहले हवा के शीतक में और फिर सर्पिल नली के पानी द्वारा ठंडा होकर सब से अधिक उबालबिंदु वाला अथवा सबसे कम वाष्पशील गाढ़ा तेल ('हेवी आयल') द्रवीभूत होकर इकट्ठा होता है (दे० इसी पृष्ठ का मानचित्र)। यह सोलहवें से लेकर अट्ठाईसवें हाइड्रोकार्बन तक का मिश्रण होता है। इसे खूब (–३° C तक) ठण्डा कर देने पर इसमें घुले हुए ठोस अवयव अर्थात् पैराफिन मोम पृथक् हो जाते हैं। इसमें तेईसवें से लेकर अट्ठाईसवें तक हाइड्रोकार्बन होते हैं। यह मोम प्राणि-चारकोल द्वारा रंगहीन कर दिया जाता है। यह मोमबत्ती, दियासलाई, मोमिया कागज और बरसाती कपड़ों को बनाने में तथा चमड़ा चिकनाने के काम में आता है। मोम को अलग करने के पश्चात् शेष गाढ़े तेल को फिर से भाप द्वारा आंशिक परिस्रवण करके निम्न भिन्न भागों में पृथक् कर लिया जाता है—

(१) ईंधन अथवा गैस का तेल—यह गाढ़े तेल का सब से अधिक वाष्पशील अथवा सब से कम उबाल-बिंदुओं वाला अंश होता है। डीजेल-इंजिनों में इसी तेल का उपयोग होता है। ऊँचे ताप पर विच्छिन्न करके इससे पेट्रोल और तेल की गैस भी बनाई जाती है।

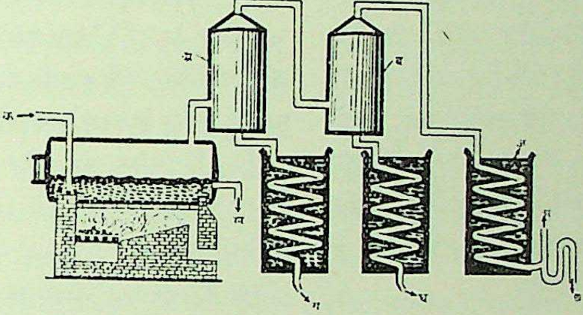

पेट्रोलियम का आंशिक स्रवण :: अ, ब— हवा के शीतक; क—देगचे में जाता हुआ पेट्रोलियम ; ख—बचे हुए अलकतरे का निकास; ग—गाढ़े तेल का निकास; घ—केरोसिन (मिट्टी के तेल) का निकास; च—गैस का निकास: छ—नैफ्था का निकास; ज—पानी में डूबी हुई सर्पिल नलियाँ।

(२) चिकनानेवाला तेल (अर्थात् ल्यूब्रिकेटिंग ऑयल)—यह कम वाष्पशील, अधिक उबाल-बिंदुओंवाला और अधिक गाढ़ा होता है तथा मशीनों अथवा कल-पुर्जों में चिकनाई के लिए दिया जाता है। इसी को शुद्ध करके 'लिक्विड पैराफिन' नामक दवा, मलहम और सिर में लगानेवाल नाना प्रकार के तेल बनाए जाते हैं।

(३) वैसलीन — यह अंश इतना गाढ़ा होता है कि इसे अर्द्ध-ठोस कहा जा सकता है। इसका उपयोग शृंगार-साधनों तथा मलहमों के बनाने और चिकनाने में होता है।

इन तीनों अंशों के निकल जाने के बाद स्रवण-पात्र में एक काला अलकतरा बचा रहता है, जिससे पुनः स्रवण द्वारा कुछ और गाढ़ा तेल निकाल लिया जाता है। इसके बाद बचे हुए कोयले को 'पेट्रोलियम कोक' कहते हैं, जिसका ईंधन की भाँति अथवा ग्रैफाइट बनाने के लिए व्यवहार होता है।

केरोसिन या 'मिट्टी का तेल'

पेट्रोलियम के देगचे से आती हुई वाष्पों के और अधिक ठंडा होने पर केरोसिन $(C_{10}H_{2},-C_{15}H_{32})$ द्रवीभूत होकर इकट्ठा होता है। यह हानिकारक अपद्रव्यों से युक्त एक मैला द्रव होता है, इसलिए बाजार में भेजने के पहले इसे शुद्ध करके निर्मल और रंगहीन बना लना आवश्यक होता है। इसके लिए उसमें पहले डेढ़ से दो प्रतिशत तक गाढ़ा गंधक का तेजाब मिला दिया जाता है और तब उस मिश्रण को संकुचित हवा में बुलबुलाकर मथा जाता है। यह मंथन तब तक जारी रक्खा जाता है, जब तक गंधक के तेजाब की क्रिया से इसका ताप बढ़ता रहता है। इस प्रकार केरोसिन के अनेक असंतृप्त वसीय तथा सुरभित हाइड्रोकार्बन (जो कालिख देते हुए जलते हैं और इंजिन में कार्बन जमा कर देते हैं) एवं गंधकयुक्त पदार्थ, आदि यौगिक गंधकाम्ल में शोषित हो जाते हैं और मंथन बंद करने पर एक काला गाढ़ा द्रव (जिसमें तेजाब के अलावा उसकी प्रतिक्रिया से बने हुए नए पदार्थ और अलकतरा भी रहते हैं) नीचे बैठ जाता है। यह नीचे से निकाल लिया जाता है। अब तेल को १ प्रतिशत कास्टिक सोडा और फिर पानी के साथ मथकर धो डाला जाता है। तब भी कभी-कभी उसमें गंधक के कुछ यौगिक बने ही रहते हैं। गंधक को तेल से निकाल डालना बड़ा ही आवश्यक होता है; क्योंकि इसके जलने से अज्वलीय ऑक्साइड उत्पन्न होती है, जिससे इंजिन आदि की धातु का क्षादन होने लगता है। इसलिए तेल को कुछ धातुओं की ऑक्साइडों (यथा अल्युमीनियम, ताँबा अथवा लोहे की ऑक्साइड) के साथ गरम करके इस गंधक को भी पृथक् कर देते हैं। ये ऑक्साइडें सल्फाइडों में बदलकर नीचे बैठ जाती हैं। तेल को रंगहीन कर देने के लिए बॉक्साइट नामक खनिज अल्युमीनियम ऑक्साइड (रंगशोषक) अथवा सल्फर-डाइऑक्साइड (रंगनाशक) का व्यवहार होता है। अंत में तेल को फिर से स्रवित कर लिया जाता है। इस प्रकार शुद्ध किया हुआ तेल पानी जैसा निर्मल और स्वच्छ हो जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

यही तेल हमारी लालटेनों और स्टोवों में जलाया जाता है, और कतिपय इंजिनों में भी प्रयुक्त होता है। कुप्पियों में वह पीली और धुएँदार लौ के साथ जलता है। कारण, उसे इतनी हवा नहीं मिलती कि उसका सारा कार्बन जल जाय। इसीलिए बचा हुआ कार्बन कालिख के रूप में जमा हो जाता है। चिमनी लगाने पर लालटेन अधिक हवादार हो जाती है और लगभग सभी कार्बन जल जाता है। यदि मिट्टी के तेल की वाष्प साधारण ताप पर हवा से मिलकर विस्फोटक मिश्रण में परिणत हो जाय, तो वह लालटेनों और स्टोवों में जलाने के लिए वास्तव में एक खतरनाक वस्तु हो जायगी। अतः प्रत्येक देश में सरकार द्वारा यह प्रबंध कर लिया गया है कि देश की जलवायु की विभिन्न दशाओं में मिट्टी का तेल हवा के साथ कभी विस्फुटित न हो सके। वह निम्नतम ताप, जिस पर तेल की वाष्प हवा में मिलकर विस्फोटक मिश्रण उत्पन्न कर देती है, उस तेल का 'दीप्तिबिंदु' (फ्लैश-पाइण्ट) कहलाता है। भारतवर्ष में प्रयुक्त केरोसिन का दीप्ति-बिंदु ४४°C होता है। फ्रांस में (जो अधिक ठंडा देश है) दीप्ति-बिंदु ३५°C है, और ब्रिटेन में वह केवल २२·८°C है। ऊंचे ताप पर इसके विच्छेदन द्वारा प्रयोगशालाओं में काम में आनेवाली 'तेल की गैस' बनाई जाती है। कीड़ों को मारने के लिए और विशेषतः बंद पानी पर छोड़कर मलेरिया के मच्छड़ों की बाढ़ रोकने के लिए भी इस तेल का उपयोग होता है।

पेट्रोलियम के परिस्रवण से प्राप्त अन्य द्रव्य

पेट्रोलियम के परिस्रवण में केरोसिन के बाद और अधिक ठंडा होने पर जो तीसरा अधिक वाष्पशील द्रव एकत्रित होता है, उसे 'नैफ्था' कहते हैं। यह और भी हलके तरल हाइड्रोकार्बनों (C_5H_{12} से C_9H_{20} तक) का मिश्रण होता है। आंशिक स्रवण द्वारा यह बहुधा निम्न अंशों में पृथक् कर लिया जाता है:—

(१) पेट्रोलियम ईथर—यह मुख्यतः पेण्टेन (C_5H_{12}) और हेक्सेन (C_6H_{14}) का मिश्रण होता है। इसका उबाल-बिंदु ४०°C से लेकर ७०°C तक जाता है। इसमें चर्बी, तेल, रबड़, मोम, सेलुलायड आदि नाना कार्बनिक पदार्थ सरलता से घुल जाते हैं; अतः यह पदार्थों से तेल और चर्बी अलग करने, रबड़ को जोड़ने के घोल तैयार करने तथा वार्निशों के निर्माण, आदि में व्यवहृत होता है।

(२) गैसोलिन (C_6H_{14}—C_7H_{16})—यह ७०°C से ९०°C तक उबलता है। पेट्रोलियम ईथर की भांति यह पेट्रोल-इंजिनों में ईंधन की तरह काम में लाया जाता है।

(३) लिग्रोइन (C_6H_{14}–C_8H_{18})—इसका उबाल-बिंदु ९०°C–१२०°C है। इसका भी उपयोग गैसोलिन की भाँति होता है।

(४) बेन्जिन (C_8H_{18}–C_9H_{20})—इसका उबाल-बिंदु १२०°C—१५०°C है। इसके और इसी नाम के सुरभित हाइड्रोकार्बन (C_6H_6) के बीच में भ्रम न होना चाहिए। यह भी तेल, चर्बी आदि पदार्थों का बड़ा अच्छा घोलक होता है और साथ-ही-साथ कम वाष्पशील होने के कारण उड़ता भी नहीं। अतएव ऊनी कपड़ों की सूखी धुलाई करने के काम में यह बहुत आता है। तारपीन के तेल की जगह पर इसका उपयोग वार्निशों को बनाने में भी होता है।

पेट्रोलियम के परिस्रवण में जो गैस अंतिम शीतक से निकलती है, उसे बहुधा दबाव और शीत की विभिन्न दशाओं में दो अंशों में द्रवित कर लिया जाता है—

(१) साइमोजीन, जिसमें मुख्यतः ब्यूटेन (C_4H_{10}) रहता है। यह 0°C पर उबलनेवाला द्रव होता है। इसके सवेग वाष्पीकरण से अत्यधिक ठंडक पैदा हो जाती है, अतः यह बर्फ बनाने के काम में प्रयुक्त होता है।

(२) रिगोलीन, जो ब्यूटेन और पेण्टेन का मिश्रण होता है। यह डॉक्टरी चीर-फाड़ में स्थानीय अचेतना उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त होता है।

शेष अद्रवित गैस (जो मिथेन, इथेन और प्रोपेन का मिश्रण होती है) या तो ईंधन के काम में अथवा हवा की उपस्थिति में जलाकर कालिख बनाने के काम में आती है।

पेट्रोल

पेट्रोल में, जो आधुनिक यानों का महत्वपूर्ण ईंधन है, उपर्युक्त चारों अंशों के सभी अवयव (C_5H_{12}—C_9H_{20}) रहते हैं। नैफ्था के स्रवण में ५०°C और १५०°C के बीच में एकत्र होनेवाला स्रव 'पेट्रोल' होता है। मोटरकार, वायुयान आदि का प्रमुख ईंधन होने के अलावा कार्बनिक पदार्थों को घोलने, सूखी धुलाई में और प्रयोगशालाओं में जलाई जानेवाली 'पेट्रोल-एअर गैस' को बनाने में भी इसका उपयोग होता है।

जब पेट्रोल की माँग इतनी बढ़ गई कि पेट्रोलियम से स्रवित किए हुए तेल से संपूर्ण पूर्ति न हो सकी, तो कृत्रिम विधियों से भी उसका उत्पादन किया जाने लगा। इनमें से एक विधि में पेट्रोलियम के उच्चतर उबाल-बिंदुओं के अंश पेट्रोल में परिवर्तित कर लिए जाते हैं। ये उच्चतर हाइड्रोकार्बन लगभग १५००°C तक गरम की गई रक्त-तप्त नलियों अथवा कक्षों में छोड़े जाते हैं, जिससे वे विच्छिन्न होकर निम्नतर

हाइड्रोकार्बनों में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार निकलनेवाले गैसीय हाइड्रोकार्बन गरमी और प्रकाश के उत्पादन के लिए प्रयुक्त होते हैं। नीचे उबाल-बिंदुओं के द्रव हाइड्रोकार्बनों का मिश्रण द्रवित करके अलग इकट्ठा कर लिया जाता है। यही मोटर-स्पिरिट अथवा पेट्रोल होता है। साथ-ही-साथ कुछ कार्बन अथवा बहुत ऊँचे अणुभार के हाइड्रोकार्बन भी पृथक् होते हैं। उदाहरण के लिए, हम सोलहवें हाइड्रोकार्बन का विच्छेदन इस रासायनिक समीकरण द्वारा व्यक्त कर सकते हैं—

$$C_{16}H_{34}=2C_4H_{10}+C_6H_{14}+2C$$

हेक्साडेकेन ब्यूटेन हेक्सेन कार्बन

तेलों के इस प्रकार के विच्छेदन को 'भंजन' (अथवा क्रैकिंग) कहते हैं। भंजन की इस विधि में उत्प्रेरक (यथा अल्युमीनियम ऑक्साइड और टिटैनियम ऑक्साइड जैसी लोहा, ताँबा आदि धातुओं की ऑक्साइडें एवं अल्युमीनियम क्लोराइड जैसे लवण) भी काम में लाए जाते हैं। इनकी उपस्थिति में बहुत नीचे तापों पर तेलों का भंजन हो जाता है और पेट्रोल का उत्पादन बढ़ जाता है। इस प्रकार बने हुए पेट्रोल में कुछ असंतृप्त हाइड्रोकार्बन भी मिले होते हैं। ये हवा से ऑक्सिजन को शोषित करके सरलता से ऑक्सीभूत हो जानेवाले और बदबूदार होते हैं। अतएव स्पंजी अथवा चूर्णित निकल की उपस्थिति में उनमें हाइड्रोजन गैस प्रवाहित की जाती है। इसके संयोग द्वारा असंतृप्त हाइड्रोकार्बन संतृप्त हो जाते हैं और पेट्रोल से मिलता-जुलता एक द्रव तैयार हो जाता है। आजकल पेट्रोलियम के प्रायः सभी शोधन-भवनों में भंजन की विधि से पेट्रोल तैयार किया जाता है। संसार में जितने पेट्रोल का उत्पादन होता है, उसका लगभग आधा भाग इसी विधि से तैयार होता है। भंजित गैसों से कृत्रिम रबड़ तथा अन्य अनेक कार्बनिक यौगिक भी तैयार होते हैं।

प्रयोगशालाओं में जलनेवाली तेल की गैस भी केरोसिन के 'भंजन' से बनाई जाती है। मिट्टी के तेल की एक पतली धार लोहे से एक रक्त-तप्त रिटार्ट में छोड़ी जाती है, जिससे वह मिथेन, इथेन, इथिलीन आदि हाइड्रोकार्बनों के गैसीय मिश्रण में भंजित हो जाती है। इसे गैस-होल्डर में पानी को नीचे हटाकर इकट्ठा कर लेते हैं। इसी गैसीय मिश्रण को 'तेल की गैस' कहते हैं। कुछ गाढ़ा तेल और अलकतरा भी पृथक् होता है, जो द्रवित करके अलग इकट्ठा कर लिया जाता है।

इंगलैंड, जर्मनी आदि ऐसे देशों में जहाँ पेट्रोलियम के निक्षेप नहीं पाए जाते, पेट्रोल बहुत बड़े परिमाणों में संश्लेषण की विधियों से तैयार किया जाता है। इस प्रकार के निर्माण की आगे वर्णित तीन विधियाँ प्रचलित हैं।

(१) बर्जियस की विधि—इसमें बिटुमिनस खनिज एवं कोयला महीन पीसकर पेट्रोलियम के अलकतरे अथवा गाढ़े तेल के साथ बराबर-बराबर मिला लिया जाता है। इस मिश्रण को ४५०°C पर गरम रखते हुए चलाया जाता है और उसके ऊपर २५० वायुमण्डलों के दबाव में संकुचित हाइड्रोजन गैस प्रवाहित की जाती है। आजकल इस विधि में कतिपय उत्प्रेरकों और हाइड्रोजन के स्थान पर जल-गैसों का उपयोग होता है। इस प्रकार हाइड्रोकार्बनों का जो मिश्रण बनता है, उसे परिस्रवण द्वारा पेट्रोल, केरोसिन और गाढ़े तेल में पृथक् कर लेते हैं।

(२) फिशर और ग्लूड की विधि—कत्थई रंग के कोयले का नीचे तापों पर (३५०°C से ५००°C तक) शुष्क स्रवण किया जाता है। इसमें कोलतार के साथ-साथ वाष्पशील पैराफिन-हाइड्रोकार्बन भी द्रवित होकर एकत्र हो जाते हैं। इससे आंशिक स्रवण द्वारा पेट्रोल पृथक् कर लिया जाता है।

(३) फिशर और ट्राप्श की विधि—इसमें जल-गैस के दो और हाइड्रोजन के एक आयतनिक भागों को मिलाकर, अर्थात् यों कहिए कि हाइड्रोजन के दो और कार्बन मोनॉक्साइड के एक आयतनिक भागों का मिश्रण ५ से १५ वायुमण्डलों के दबाव में और २००°C के ताप पर उत्प्रेरकों (प्रायः कोबाल्ट और थोरिया के मिश्रण) के ऊपर प्रवाहित किया जाता है। इस प्रकार वाष्पशील हाइड्रोकार्बन उत्पन्न हो जाते हैं, जिन्हें द्रवित करके इकट्ठा कर लिया जाता है। इस द्रव में निकल की उपस्थिति में हाइड्रोजन गैस प्रवाहित करके उसके असंतृप्त कार्बनों को संतृप्त कर लिया जाता है।

स्कॉटलैण्ड में पैराफिन-हाइड्रोकार्बनों का 'बिटुमिनस शेल' नामक एक ठोस खनिज मिलता है, जिसके शुष्क स्रवण से १ टन पीछे ३० गैलन पैराफिन तेल निकलता है। इस तेल को आंशिक स्रवण द्वारा पेट्रोल, जलाने के तेल और गाढ़े तेल में पृथक् कर लेते हैं और गाढ़े तेल को ठंडा करके उससे मोम निकाल लिया जाता है। रूमानिया और पूर्वी गैलिशिया में 'ओजोकराइट' नामक ठोस पैराफिनों के निक्षेप धरातल से २० से लेकर १०० मीटर नीचे तक मिलते हैं। इससे पिघलाकर मोम निकाला जाता है, जिसे गंधक के तेजाब और कास्टिक सोडा के घोल से साफ करके चारकोल द्वारा रंगहीन बना दिया जाता है। इस मोम को 'सिरेसिन' कहते हैं। यह वार्निशों, पालिशों, आदि के बनाने में बहुत काम आता है। ट्रिनिडाड, क्यूबा और वेस्ट इंडीज में हाइड्रोकार्बनों का एक काला ठोस खनिज 'ऐस्फाल्ट' पाया जाता है। यह सड़कों की फर्श बनाने में बहुत बड़े परिमाणों में प्रयुक्त होता है। इससे वार्निशें और संरक्षक पेण्ट आदि भी बनाए जाते हैं।

कार्बन और पानी के तत्त्वों के महत्वपूर्ण यौगिक :: 'कार्बोहाइड्रेट'

जिस प्रकार 'हाइड्रोकार्बन' शब्द का अर्थ 'कार्बन और हाइड्रोजन का यौगिक' होता है, उसी प्रकार 'कार्बोहाइड्रेट' शब्द का अर्थ 'कार्बन और जल का यौगिक' होना चाहिए। वास्तव में, यह शब्द रसायन में जिन पदार्थों के लिए प्रयुक्त होता है, वे सभी कार्बन और जल के तत्त्वों के संयोग से बने होते हैं। गन्ना, कन्द-मूल, फल-फूल, दूध, आदि में रहनेवाली नानाप्रकार की शक्करें; आलू, आटा और चावल का मुख्य अवयव स्टार्च; तथा रुई, घास, भूसा, सन, जूट, लकड़ी आदि वस्तुओं का प्रधान अंश 'सेलुलोज' ऐसे कार्बनिक यौगिकों अर्थात् कार्बोहाइड्रेटों के प्रमुख उदाहरण हैं।

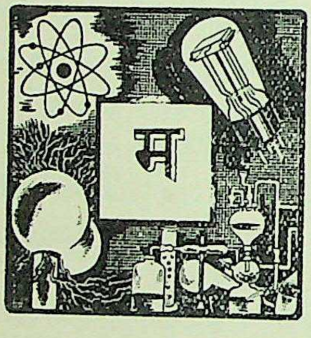

मनुष्य और जानवरों के शरीर-रूपी इंजिनों के लिए उनके भोजन में पाए जानेवाले 'कार्बोहाइड्रेट' वही महत्व रखते हैं, जो भाप के इंजिनों के लिए कोयले तथा तेल के इंजिनों के लिए तैलीय हाइड्रोकार्बनों का होता है। मनुष्य को अपने शरीर की गरमी और शक्ति प्रायः रोटी और चावल में रहनेवाले स्टार्च से ही प्राप्त होती है और शाकाहारी पशुओं को वही शक्ति घास-चारे में रहनेवाले 'सेलुलोज' से मिलती है।

कार्बोहाइड्रेटों को हवा में जलाने से जिस प्रकार के रासायनिक परिवर्तन होते हैं, उसी प्रकार के परिवर्तन प्राणियों के उदर में उनके पहुँचने पर भी हुआ करते हैं; अर्थात् जल के अवयव जल के ही रूप में पृथक् हो जाते हैं और कार्बन फेफड़ों द्वारा ग्रहण की जानेवाली हवा की ऑक्सिजन से संयुक्त होकर कार्बन डाइऑक्साइड के रूप में साँस द्वारा निकल जाता है। इस ऑक्सीकरण में ताप का उत्पादन होता है। वही ताप मनुष्य के शरीर को गरम रखता है और वही अन्य प्राणियों की भी कार्य-शक्ति में परिणत होता रहता है। वस्तुतः मानवीय शरीर की हलचल अधिकतर कार्बोहाइड्रेटप्रदत्त शक्ति पर ही अवलंबित है। इससे इन तत्त्वों का महत्व स्पष्ट है।

नाना प्रकार के कार्बोहाइड्रेट

कार्बोहाइड्रेटों का वर्गीकरण तीन विभागों में किया जाता है--(१) मॉनोशर्कराइडें; (२) डाइशर्कराइडें; और (३) पॉलीशर्कराइडें।

१. मॉनोशर्कराइडें

इस वर्ग की शक्करों के प्रमुखतम उदाहरण 'द्राक्ष-शर्करा' और 'फल-शर्करा' हैं। कार्बोहाइड्रेटों में इनके अणुओं की बनावट सरलतम होती है। इनके अणुओं में कार्बन के छः परमाणुओं की शृंखला के साथ पानी के छः अणुओं के परमाणु संबद्ध रहते हैं, या यों कहिए कि इनका अणुसूत्र $C_6H_{12}O_6$ होता है। तथापि अंगूर की शक्कर और फल की शक्कर विभिन्न पदार्थ होते हैं, कारण उनके अणुओं की भीतरी परमाणु-व्यवस्था विभिन्न होती है। दूसरे शब्दों में, ये दोनों शक्करें एक दूसरे की आइसोमर होती हैं।

अंग्रेजी में अंगूरी शक्कर को 'ग्रेप-शुगर', 'ग्लूकोज' अथवा 'डेक्स्ट्रोज' और फल की शक्कर को 'फ्रूट-शुगर', 'फ्रुक्टोज' अथवा 'लीवुलोज' भी कहते हैं। अंगूर के रस का मीठापन विशेषतः ग्लूकोज के कारण ही होता है; वैसे तो सभी मीठे फलों--जैसे आम, सेब, आदि--में दोनों ही शर्कराएँ मिश्रित रहती हैं। शहद में द्राक्ष और फल-शर्कराओं की बराबर मात्राओं के साथ लगभग २० प्रतिशत पानी मिला रहता है।

दोनों शर्कराएँ सब से अधिक [illegible] होती हैं। इन दोनों शक्करों में अधिक सामान्य, सस्ती एवं प्रचलित द्राक्ष-शर्करा अथवा ग्लूकोज है। दैनिक उपयोग में आनेवाली यह अंगूरी शक्कर या 'ग्लूकोज' अंगूरों अथवा अन्य फलों से नहीं, बल्कि स्टार्च से रासायनिक रीतियों द्वारा बनाई जाती है।

२. डाइशर्कराइडें

इस वर्ग की शक्करों में गन्ने की शक्कर सब से अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें और योरप की चुकंदर की शक्कर में कोई भेद नहीं--रासायनिक दृष्टि से ये दोनों एक ही पदार्थ हैं। दूध और माल्ट की शक्करें इस वर्ग के दो अन्य सुविख्यात उदाहरण हैं। इन शक्करों के अणु में कार्बन के १२ परमाणुओं से पानी के ११ अणुओं के परमाणु संबद्ध रहते हैं; अर्थात् इनका अणु-सूत्र $C_{12}H_{22}O_{11}$ होता है। इस प्रकार ये शक्करें भी एक दूसरे की आइसोमर होती हैं।

इस वर्ग की प्रत्येक शक्कर ग्लूकोज तथा एक अन्य मॉनोशर्कराइड की रासायनिक संधि से बनी समझी जा सकती है; कारण, उसका अणु कतिपय निश्चित अवस्थाओं में पानी से संयुक्त होकर सदैव ग्लूकोज और कोई एक अन्य मॉनोशर्कराइड में खंडित होता है। उदाहरणार्थ, गन्ने की शक्कर के घोल में किसी हलकी ऐसिड--यथा हलकी हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड--को छोड़कर यदि उबाला जाय, तो वह द्राक्ष और फल-शर्कराओं के मिश्रण में विच्छिन्न हो जायगी--

$$\underset{\text{ईक्षु-शर्करा}}{C_{12}H_{22}O_{11}} + \underset{\text{पानी}}{H_2O} \rightarrow \underset{\text{द्राक्ष-शर्करा}}{C_6H_{12}O_6} + \underset{\text{फल-शर्करा}}{C_6H_{12}O_6}$$

इसीलिए इस वर्ग की शक्करों का नाम 'डाइशर्कराइड' (अर्थात् दो मॉनोशर्कराइडों की संधि से बनी हुई शक्कर) पड़ा। आधुनिक युग में गन्ने की शक्कर देश-विदेश के मनुष्यों के लिए एक अपरिहार्य खाद्य वस्तु हो गई है। ग्लूकोज से यह न केवल अधिक मीठी ही, बल्कि कहीं अधिक सस्ती भी होती है। पुरातन काल में केवल भारतीयों ने ही पहले पहल गन्ने उगाए थे और उनके रस से शक्कर बनाई थी। १७४७ ई० में मार्ग्राफ नामक एक रसायन-वैज्ञानिक ने चुकंदर से शक्कर निकालने का आविष्कार किया था! यह शक्कर गन्ना और चुकन्दर के अलावा अनेक फलों में भी रहती है।

दूध की शक्कर (लैक्टोज) सभी स्तनवाले प्राणियों के दूध में रहती है; वनस्पति-जगत् में यह नहीं पाई जाती। मनुष्य के दूध में यह छः से आठ प्रतिशत और गाय के दूध में चार प्रतिशत रहती है। यह शक्कर बहुत कम मीठी होती है।

माल्ट की शक्कर (माल्टोज) अनाजों—विशेषतः जौ—के अंकुरित होते हुए बीजों में रहती है। वह अंकुरित जौ तथा अन्य स्टार्ची पदार्थों से बनाई जाती है। दानों के रूप में यह बहुत कम निकाली जाती है, बल्कि 'माल्ट सिरप', 'माल्ट एक्स्ट्रैक्ट' आदि नामों से शर्बतों के रूप में ही बिकती है। गन्ने की शक्कर से यह लगभग एक-तिहाई मीठी होती है।

यदि हम गन्ने की शक्कर की मिठास को १०० मान लें, तो विभिन्न शक्करों की मिठास की माप इस प्रकार होगी--

गन्ने की शक्कर	...	१००
फलों की शक्कर	...	१७३
अंगूरों की शक्कर	...	७४
माल्ट की शक्कर	...	३२
दूध की शक्कर	...	१६

यहाँ पर यह बता देना असंगत न होगा कि 'सैकेरिन' नाम का मीठा करनेवाला सफेद रासायनिक पदार्थ, वास्तव में, किसी भी प्रकार की शक्कर या कार्बोहाइड्रेट नहीं है और न उसमें कोई शक्तिजनक अथवा वृद्धिकारक गुण ही होता है। उसकी विचित्रता और उपयोगिता केवल इसी बात में है कि वह गन्ने की शक्कर से ५५० गुना अधिक मीठा पदार्थ होता है। उपर्युक्त पैमाने पर उसकी मिठास की माप ५५,००० होगी! जितनी वस्तु को ६॥ सेर शक्कर मीठा करती है, उतनी के लिए केवल १ तोला सैकेरिन पर्याप्त होगी! सैकेरिन का अणु-सूत्र निम्न प्रकार से है:—

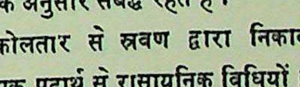

$$C_6H_4 \begin{matrix} CO \\ SO_2 \end{matrix} NH$$

इससे यह प्रकट है कि यह एक 'सुरभित' (यद्यपि गंधहीन) यौगिक है, जिसमें बेन्जीन कुण्डल के साथ कार्बन, गंधक, ऑक्सिजन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजन के परमाणु उपर्युक्त सूत्र के अनुसार संबद्ध रहते हैं।

सैकेरिन कोलतार से स्रवण द्वारा निकाले जानेवाले 'टाल्वीन' नामक पदार्थ से रासायनिक विधियों द्वारा बनाया जाता है। इसका आविष्कार अमेरिकन रसायनशास्त्री इरा रेम्सेन ने १८७९ ई० में अकस्मात् किया था।

३. पॉलीशर्कराइडें

इस वर्ग के कार्बोहाइड्रेटों के प्रमुख उदाहरण स्टार्च और सेलुलोज हैं। स्टार्च हरे पौधों, विशेषतः कंद-मूल और बीजों

में रहता है। चावल में स्टार्च ७५ से ८० प्रतिशत तक, मक्का में ६५ से ७० प्रतिशत तक, गेहूँ में ६० से ६५ प्रतिशत तक और आलू में १५ से २० प्रतिशत तक रहता है। सागो वृक्ष के गूदे में, जिससे सागूदाना बनता है, और अरारूट में भी मुख्यतः स्टार्च ही रहता है। सेलुलोज वनस्पति-जगत् का सब से प्रचुर और व्यापक पदार्थ है। पौधों के कोष्ठों की दीवारें इसी की बनी होती हैं। रुई सब से शुद्ध-प्राकृतिक सेलुलोज होती है। शुद्ध की हुई रुई में ९९·६ प्रतिशत सेलुलोज रहता है। लकड़ी, जूट, सन, भूसा, अनेक घासें, आदि वस्तुएँ सेलुलोज के अन्य महत्वपूर्ण प्रभव हैं।

स्टार्च और सेलुलोज जैसी पॉलीशर्कराइडें, कुछ निश्चित अवस्थाओं में पानी से सम्बद्ध होकर, कभी तो सीधे मॉनोशर्कराइडों (ग्लूकोज, आदि) में, और कभी पहले डाइशर्कराइडों और फिर मॉनोशर्कराइडों में खण्डित हो जाती हैं। वास्तव में, उनके अणु मॉनोशर्कराइडों के अनेक अणुओं की संधि से बने होते हैं। इसीलिए तो वे 'पॉलीशर्कराइड' कहलाईं (पॉली = अनेक)। स्टार्च और सेलुलोज दोनों ही कई प्रकार के होते हैं, किन्तु इनमें से किसी की भी अणु-रचना अथवा उनका अणुभार निश्चित रूप से ज्ञात नहीं किया जा सका है; यद्यपि इनमें विभिन्न तत्त्वों के भारात्मक अनुपातों को निर्धारित करके यह सिद्ध किया जा सका है कि इनका सामान्य अणु-सूत्र $(C_6H_{10}O_5)n.\ H_2O$ होता है, जिसमें n का मान १२ से लेकर लगभग २०० तक हो सकता है। अतएव, यह स्पष्ट है कि पॉलीशर्कराइडों के एक अणु में कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के परमाणुओं की संख्या सैकड़ों से लेकर हजारों तक पहुँच सकती है। किसी पॉलीशर्कराइड के विषम अणु का चित्रसूत्र यदि वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा निर्धारित कर लिया जाय, तो उसे पूर्णतः किसी पुस्तक के पृष्ठ पर छोटे अक्षरों में भी छापना असंभव होगा !

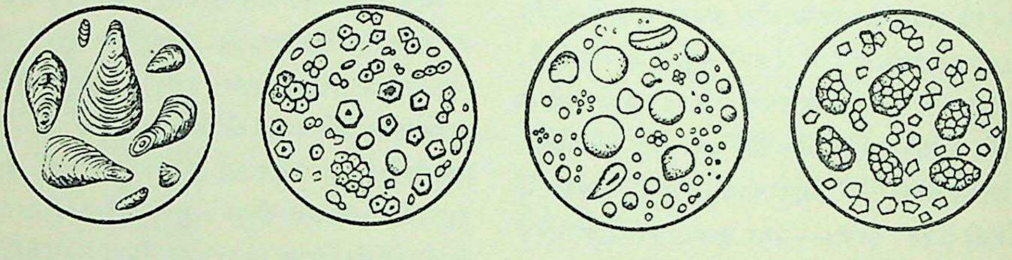

[आलू] [चावल] [गेहूँ] [मक्का]

विभिन्न प्रभवों में स्टार्च की कणिकाओं का स्वरूप :: प्रस्तुत चित्र में आलू, चावल, गेहूँ और मक्का के स्टार्चों की कणिकाओं की आकृतियाँ दिग्दर्शित की गई हैं, जैसी कि वे सूक्ष्मदर्शक यंत्र में दिखाई देती हैं।

स्टार्च अपने विभिन्न प्रभवों में भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार की कणिकाओं में एकत्र पाया जाता है। आलू, चावल, गेहूँ और मक्का के स्टार्चों को सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा देखने से उनकी कणिकाएँ जिन आकृतियों की दिखाई देती हैं, वे इसी पृष्ठ के चित्र में प्रदर्शित हैं। जब स्टार्च पानी के साथ गरम किया जाता है, तो उसकी कणिकाओं की दीवारें फूलकर फूट जाती हैं और उनके भीतर रहनेवाला स्टार्च घुल जाता है, किन्तु जिस स्टार्च से कणिकाओं की दीवारें बनी होती है, वह घुलता नहीं। वह पानी के साथ 'कलायडल' मिश्रण में परिणत हो जाता है।

विभिन्न वस्तुओं से प्राप्त होनेवाले सेलुलोजों की रचना भी सूक्ष्मदर्शक यंत्र में भिन्न-भिन्न दिखाई देती है, तथापि सभी प्रकार के सेलुलोज सफेद खोखले रेशों के रूप में रहते हैं, जो वास्तव में मूल वनस्पति-कोषों के अवशेष होते हैं। यदि आप इस कागज को सूक्ष्मदर्शक के नीचे रखकर देखें, तो आपको सफेद महीन रेशों का एक उलझा हुआ जाल-सा दृष्टिगोचर होगा। सेलुलोज पानी में नहीं घुलता।

लकड़ी, जूट, घास, आदि में सेलुलोज 'लिग्निन' नामक एक विषम चिपचिपे पदार्थ से रासायनिक ढंग से संयुक्त रहता है। इस यौगिक को 'लिग्नोसेलुलोज' कहते हैं। लिग्निन का कार्य सेलुलोज के रेशों को परस्पर मजबूती से जोड़े रहना होता है। समाचारपत्रों के कागज इसी लिग्नोसेलुलोज के बने होते हैं।

हम सेलुलोज के ही फर्नीचर पर बैठते-उठते, सेलुलोज के ही बिछौनों में सोते और सेलुलोज के ही कपड़े पहनते हैं! मनुष्य का सारा ज्ञान-भाण्डार सेलुलोज पर ही मुद्रित है! हम सेलुलोज से बनी फिल्मों पर फोटो खींचते और उसी से बने विभिन्न सामान--कंघे, खिलौने, डब्बे, आदि--नितप्रति काम में लाते रहते हैं। वस्तुतः मानव जीवन के लिए सेलुलोज की महिमा अपार है!

हमारा भोजन :: रसायन-विज्ञान की दृष्टि में

हमारे स्वास्थ्य का मूल आधार भोजन है। हमारी अधिकांश बीमारियाँ खान-पान-संवंधी गड़बड़ी से संबद्ध होती हैं। इस गड़बड़ का मुख्य कारण है आहार की वैज्ञानिक भित्ति के संबंध में हमारा व्यापक अज्ञान एवं तत्सम्बन्धी आवश्यक नियमों की निरंतर अवहेलना। प्रस्तुत लेख में मानवीय भोजन की रासायनिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए इस दिशा में महत्वपूर्ण पथनिर्दर्शन किया गया है।

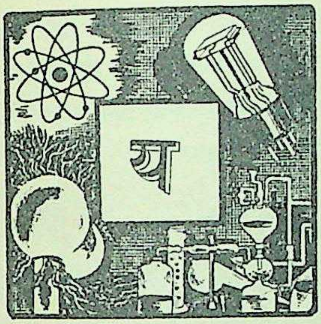

यद्यपि हमारे शरीर का पालन, पोषण एवं संचालन भोजन द्वारा होता रहता है, तथापि हममें से कितने हैं जो इस बात का यथेष्ट ध्यान रखते हैं कि हमें क्या, क्यों और कितना खाना चाहिए? अपने स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए इस भोजन-सम्बन्धी ज्ञान का होना हमारे लिए परमावश्यक है।

रसायन-विज्ञान की दृष्टि से मानवीय भोजन के अवयवों का वर्गीकरण निम्न प्रकार के पदार्थों में किया जा सकता है :——

(१) कार्बोहाइड्रेट, (२) वसा और तैल,
(३) प्रोटीन, (४) खनिज पदार्थ,
(५) विटामिन, (६) जल।

स्वस्थ रहने के लिए हमारे नित्य के भोजन में उपर्युक्त सभी पदार्थों का यथेष्ट मात्रा में होना परमावश्यक है।

कार्बोहाइड्रेट

इन पदार्थों का विस्तृत वर्णन हम पिछले एक प्रकरण में कर चुके हैं। कार्बोहाइड्रेट भोजन के प्रचुरतम अवयव हैं। ये सब से सस्ते, उपयोगी तथा बहुल पदार्थ हैं। स्टार्चयुक्त खाद्यों में आटा और चावल प्रसिद्ध हैं। हमारे भोजन-पदार्थों में 'रोटी' का महत्व इन्हीं कार्बोहाइड्रेटों के कारण है, जो उसमें प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

जब हम भोजन का नेवाला मुँह में रखते हैं, तो दो क्रियाएँ घटित होती हैं—— पहली यह कि जबड़ों में लगी हुई दाँतों की चक्की द्वारा भोजन पिसकर महीन होता है और इस प्रकार पेट और आँतों में सुगमता से पचने योग्य बन जाता है; दूसरा यह कि लारीय ग्रंथियों से निकलकर 'लार' नामक रस उसमें मिल जाता है। इस रस में एक 'एन्जाइम' होता है, जिसे 'टायलिन' कहते हैं। 'एन्जाइम' प्राणियों और पौधों के कोष्ठों में बननेवाले उन पदार्थों को कहते हैं, जिनके उत्प्रेरक प्रभाव द्वारा प्राणि और वनस्पति-कलेवरों में रासायनिक परिवर्तन हुआ करते हैं। बहुधा खमीर आदि में रहनेवाले 'एन्जाइमों' का उपयोग रासायनिक निर्माणों में भी होता है। अनाज अथवा शक्करों से शराब का निर्माण 'एन्जाइमों' के द्वारा ही किया जाता है। टायलिन मुंह में स्टार्च को शकर (माल्टशर्करा) में बदलने लगता है और उसके द्वारा यह क्रिया पेट में भी होती रहती है। यदि हम रोटी के टुकड़े को देर तक चबाएँ, तो उसमें मिठास आती हुई जान पड़ने लगेगी। पके हुए स्टार्चीय भोजन पर ही टायलिन की क्रिया सरलतापूर्वक होती है, कच्चे पर नहीं।

आमाशय से छोटी आँत में जाते हुए भोजन में 'पेंक्रियास' या क्लोम ग्रंथि से निकला हुआ रस मिलता रहता है, जिसमें 'एमिलॉप्सिन' नामक 'एन्जाइम' रहता है। इसके उत्प्रेरक प्रभाव से स्टार्च पूर्णतः माल्टोज (माल्टशर्करा) में परिणत हो जाता है। आँतों से जो रस निकलकर भोजन में मिलता है, उसमें भी कई 'एन्जाइम' रहते हैं। इनमें से 'माल्टेज' एन्जाइम माल्टोज को ग्लूकोज (द्राक्ष-शर्करा) में बदल देता है।

यह ग्लूकोज घोल के रूप में आँतों की दीवारों से शोषित होकर रक्त में मिल जाता है। चीनी के पाचन के लिए 'टायलिन' और 'एमिलाप्सिन' की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह आँतों के रस में रहनेवाले एक अन्य एन्जाइम 'इन्वरटेज' (सुक्रेज) की उत्प्रेरक क्रिया से ग्लूकोज और फ्रुक्टोज (फल-शर्करा) नामक मॉनोशर्कराओं में परिणत हो जाती है और ये मॉनोशर्कराएँ रक्त में मिल जाती हैं। इसी प्रकार 'लैक्टोज' (दुग्ध-शर्करा) आँतों के 'लैक्टेज' नामक एन्जाइम द्वारा ग्लूकोज और 'गैलक्टोज' नामक मॉनोशर्कराओं में बदलकर रक्त में शोषित होती है।

इधर पचे हुए भोजन से ग्लूकोज आँतों द्वारा रक्त में शोषित होता रहता है, उधर फेफड़ों में साँस द्वारा आई हुई हवा की ऑक्सिजन भी उसमें मिलती है। यह ऑक्सिजन ग्लूकोज के कार्बन को जलाकर कार्बन डाइऑक्साइड में बदल देती है और उसके पानी के तत्वों को जल के रूप में छोड़ देती है। इस प्रकार कार्बन के जलने में जो गरमी उत्पन्न होती है, वह हमारे शरीर को गरम रखती है और हमें कार्य करने की शक्ति देती है।

भोजन में 'कार्बोहाइड्रेट' का मुख्य धर्म शरीर को शक्ति प्रदान करना ही है। भोजन द्वारा उत्पन्न शक्ति की माप 'कैलॅरी' नामक इकाई से होती है। कैलॅरी ताप के उस परिमाण को कहते हैं, जो एक किलोग्राम पानी के ताप को एक डिग्री सेंटीग्रेड बढ़ा दे। कुछ काम न करनेवाले और लेटे रहनेवाले मनुष्य को प्रतिदिन लगभग १,६०० कैलॅरी, बैठकर काम करनेवाले मनुष्य को लगभग २,२०० कैलॅरी, बढ़ई-राजगीर आदि साधारण श्रमिकों को लगभग ३,५०० कैलॅरी, तथा कठिन परिश्रम करनेवाले को लगभग ४,५०० कैलॅरी की आवश्यकता पड़ती है। एक छटाँक गेहूँ का आटा लगभग २०० कैलॅरी की शक्ति का उत्पादन करता है।

भोजन हमें उतना ही करना चाहिए, जो हमें हमारी आवश्यक कैलॅरियाँ प्रदान कर दे। अत्यधिक भोजन करने से अजीर्ण, अम्लीयता, अतिसार, मधुमेह, मोटापा, आदि अनेक रोग हो सकते हैं। हमें कार्बोहाइड्रेट उतना ही खाना चाहिए, जिससे कि रक्त में ग्लूकोज का प्रतिशतांक लगभग ०·१ ही रहे। अधिक कार्बोहाइड्रेट खाते रहने से अत्यधिक ग्लूकोज बनता है और यकृत जवाब दे जाता है--वह रक्त में अधिक शकर के प्रवेश को रोक नहीं सकता। फल यह होता है कि गुर्दा इस अतिरिक्त ग्लूकोज को रक्त से मूत्र द्वारा बाहर निकालने लगता है। इस प्रकार शरीर की व्यवस्था बिगड़ जाती है। इसी विकृति को 'मधुमेह' रोग (डायबिटीज) कहते हैं।

शरीर के अंदर होनेवाली रासायनिक क्रियाओं द्वारा कार्बोहाइड्रेटों से आवश्यक परिमाणों में चर्बी भी बनती रहती है; अत्यधिक कार्बोहाइड्रेटों के खाते रहने पर अधिक वसा बनकर शरीर में एकत्र होने लगती है--इससे तोंद निकल आती है और शरीर बेढंगा तथा असमर्थ हो जाता है।

वसा और तेल

ये पदार्थ मुख्यतः चर्बी, मक्खन, मलाई, घी, सरसों, नारियल, तिल आदि के वनस्पति तेल तथा बादाम, पिस्ता, अखरोट, चिलगोजा, मूँगफली आदि मेवों में पाए जाते हैं। अनाजों, फलों और शाकों तक में ये कुछ-न-कुछ रहते हैं।

वसा और तेलों में कौन-कौन से रासायनिक पदार्थ रहते हैं, यह भी जान लेना आवश्यक है। आप 'ग्लिसरीन' नामक पदार्थ से परिचित होंगे। यह अल्कोहॉल की जाति का एक रंगहीन, गाढ़ा और मीठे स्वाद का द्रव होता है। रसायन में बहुधा इसे 'ग्लिसरॉल' कहते हैं। वसाओं और तेलों में यह कुछ अम्लों के साथ संयुक्तावस्था में रहता है और उन्हीं से साबुन बनाने की विधि में निकलता है। ये अम्ल हैं—

१—पामिटिक ऐसिड ($C_{15}H_{31}COOH$)--यह सिरके के तेजाब की श्रेणी की सफेद रंग की गंधहीन ऐसिड होती है, जो पाम (ताड़ की जाति का एक वृक्ष) के

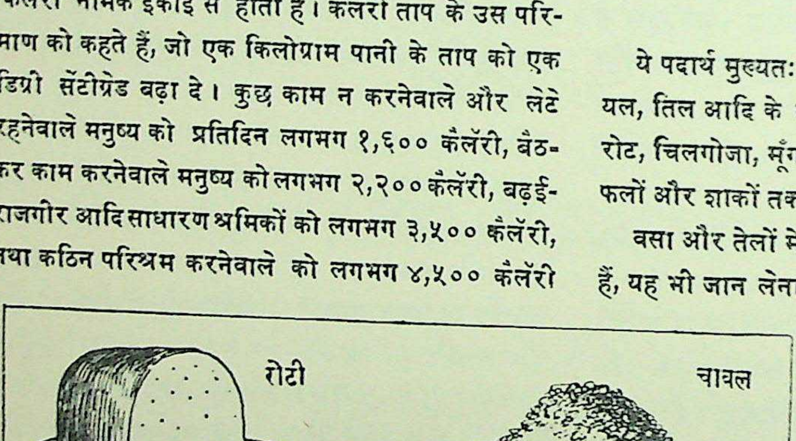

कार्बोहाइड्रेटों की पूर्ति करनेवाले प्रमुख स्टार्चयुक्त खाद्य पदार्थ।

तेल में अधिकतर पाई जाती है। साधारण ताप पर यह अम्ल ठोस होता है। पानी में यह नहीं घुलता।

२—स्टियरिक ऐसिड ($C_{17}H_{35}COOH$)——यह भी उसी श्रेणी का एक अम्ल है। साधारण ताप पर यह भी एक सफेद, चिकना, गंधहीन और अघुलनशील ठोस होता है। चर्बी और तेल से निकाला हुआ पामिटिक और स्टियरिक अम्लों का मिश्रण 'स्टियरीन' मोमबत्तियों, चेहरे पर लगानेवाली क्रीमों, आदि के बनाने में प्रयुक्त होता है।

३—ओलेइक ऐसिड ($C_{17}H_{33}COOH$)——इस अम्ल के अणु में स्टियरिक ऐसिड के अणु से दो हाइड्रोजन-परमाणु कम रहते हैं, इसलिए इसकी गणना असंतृप्त श्रेणी के अम्लों में होती है। जैतून के तेल (ओलिव ऑयल) में यह अधिकता से पाया जाता है, इसीलिए इसका नाम ओलेइक ऐसिड पड़ा। यह अम्ल एक रंगहीन, गंधहीन, स्वादहीन द्रव होता है। हवा अथवा ऑक्सिजन के सम्पर्क से ओलेइक ऐसिड पीली या लाल हो जाती है, इसीलिए वाणिज्य के क्षेत्र में इसे 'लाल तेल' कहते हैं।

इन तीनों अम्लों और ग्लिसरीन के संबद्ध होने से वसाओं और तेलों के अवयव बनते हैं। ग्लिसरीन का अणुसूत्र इस प्रकार है——

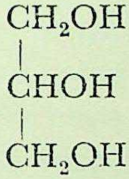

$$\begin{array}{l} CH_2OH \\ | \\ CHOH \\ | \\ CH_2OH \end{array}$$

इसका और उपर्युक्त अम्लों का रासायनिक संयोजन हम पामिटिक ऐसिड का उदाहरण लेकर इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं——

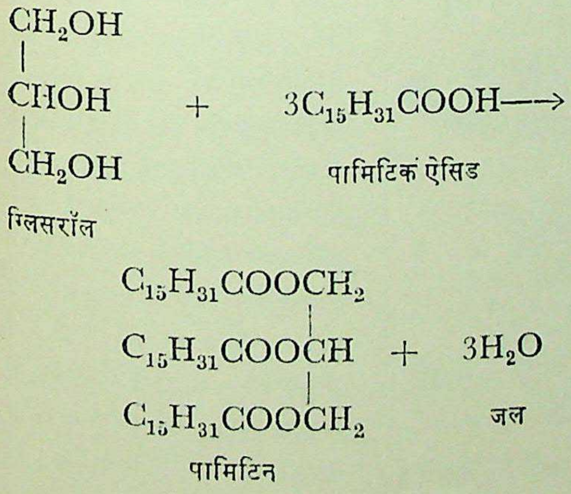

$$\begin{array}{l} CH_2OH \\ | \\ CHOH \\ | \\ CH_2OH \end{array} + 3C_{15}H_{31}COOH \longrightarrow \begin{array}{l} C_{15}H_{31}COOCH_2 \\ \qquad\quad | \\ C_{15}H_{31}COOCH \\ \qquad\quad | \\ C_{15}H_{31}COOCH_2 \end{array} + 3H_2O$$

इस प्रकार बने हुए यौगिक को 'पामिटिन' अथवा पामिटिक ऐसिड का ग्लिसराइड अथवा ग्लिसरिल-ट्राई-पामिटेट कहते हैं। ठीक इसी प्रकार स्टियरिक ऐसिड से बने हुए पदार्थ को 'स्टियरिन' आदि और ओलेइक ऐसिड से बने हुए ग्लिसराइड को 'ओलेइन' आदि कहते हैं। वसा और तेल पामिटिन, स्टियरिन और ओलेइन के मिश्रण होते हैं। पामिटिक ऐसिड और स्टियरिक ऐसिड की भाँति पामिटिन और स्टियरिन ठोस होते हैं और ओलेइक ऐसिड की भाँति ओलेइन द्रव होता है। किसी वसा अथवा तेल का ठोस, अर्ध-ठोस अथवा द्रव होना इस बात पर निर्भर करता है कि उसमें ठोस और द्रव ग्लिसराइड किस अनुपात में है। जिनमें ओलेइन अधिक हुआ, वे जाड़े और गरमी दोनों में ही द्रवावस्था में रहते हैं। प्राणियों की चर्बी में लगभग ७५ प्रतिशत पामिटिन और स्टियरिन और २५ प्रतिशत ओलेइन होते हैं। घी और नारियल के तेल में एक पदार्थ और होता है, जिसे 'ब्यूटिरिन' कहते हैं और जो ब्यूटिरिक ऐसिड (C_3H_7COOH) का ग्लिसराइड होता है। यदि घी मिलावटी अथवा नकली है, तो उसमें ब्यूटिरिन कम अथवा बिल्कुल नहीं होती। असली घी की परीक्षा इसकी जाँच से की जा सकती है।

जब चर्बी अथवा तेलों को पिघलाकर गरम किया जाता है और उसमें कास्टिक सोडा के घोल की उचित मात्रा छोड़ी जाती है, तो साबुन बनता है। साधारण साबुन वास्तव में पामिटिक ऐसिड, स्टियरिक ऐसिड और ओलेइक ऐसिड के सोडियम लवणों, अर्थात् सोडियम पामिटेट, सोडियम स्टियरेट और सोडियम ओलिएट का मिश्रण होता है—

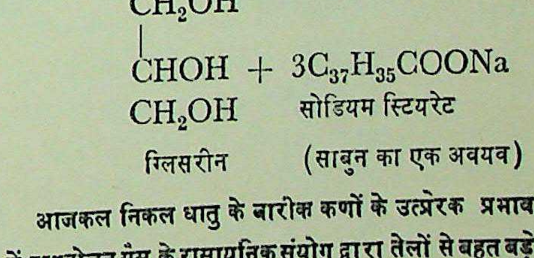

$$\begin{array}{l} C_{17}H_{35}COO{\cdot}CH_2 \\ \qquad\qquad | \\ C_{17}H_{35}COO{\cdot}CH \\ \qquad\qquad | \\ C_{17}H_{35}COO{\cdot}CH_2 \end{array} + 3\,NaOH \longrightarrow \begin{array}{l} CH_2OH \\ | \\ CHOH \\ CH_2OH \end{array} + 3C_{37}H_{35}COONa$$

आजकल निकल धातु के बारीक कणों के उत्प्रेरक प्रभाव में हाइड्रोजन गैस के रासायनिक संयोग द्वारा तेलों से बहुत बड़े परिमाणों में 'वनस्पति घी' बनाया जाता है। हाइड्रोजन गैस असंतृप्त ओलेइन (द्रव) से संयुक्त होकर उसे स्टियरिन

(ठोस) में बदल देती है और यह संयोग तब तक होने दिया जाता है, जब तक तेल घी की अवस्था में बदल न जाय। कृत्रिमता के कारण, अथवा यों कहिए कि विटामिनों के अभाव के कारण, यह उतना लाभकारी नहीं होता, जितना असली घी।

जब वसा अथवा तेल को पानी के साथ मथा जाता है, तो दोनों परस्पर मिश्रित होकर एक सफेद तरल पदार्थ में परिणत हो जाते हैं, जिसे 'एमलशन' (पायस अथवा तैलोद) कहते हैं। भोजन में मिले हुए वसा और तेल पेट में एमलशन के रूप में ही पहुँचते हैं। वहाँ उसमें आमाशयिक और क्लोम रस मिलते हैं। इन रसों में रहनेवाले 'लाइपेज' नामक एन्ज़ाइमों के प्रभाव से वे वसीय अम्लों और ग्लिसरॉल में बदल जाते हैं। यथा--

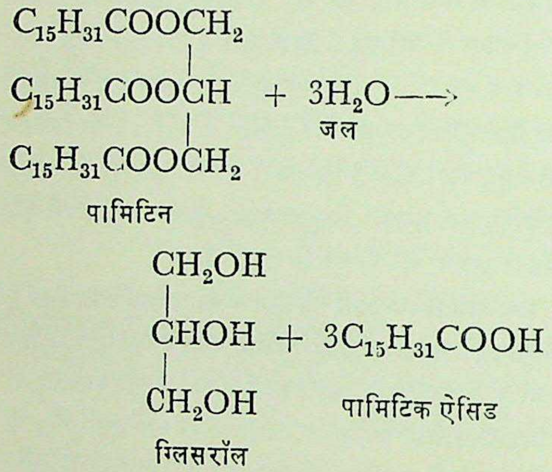

$$\begin{array}{l} C_{15}H_{31}COOCH_2 \\ \qquad\qquad\quad | \\ C_{15}H_{31}COOCH \; + \; 3H_2O \longrightarrow \\ \qquad\qquad\quad | \\ C_{15}H_{31}COOCH_2 \end{array}$$

$$\begin{array}{l} CH_2OH \\ | \\ CHOH \; + \; 3C_{15}H_{31}COOH \\ | \\ CH_2OH \end{array}$$

ये अम्ल और ग्लिसरॉल आँतों के पृष्ठ से रक्त में शोषित होते हैं और वहाँ फिर संयुक्त होकर वसा में परिणत हो जाते हैं। रक्त में या तो हवा की ऑक्सिजन द्वारा वसा का वहन होता है या वह चरबी के रूप में एकत्रित हो जाती है।

वसा के अवयवों के सूत्रों से स्पष्ट है कि वे कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के यौगिक होते हैं। ऑक्सीकरण द्वारा कार्बन कार्बन डाइऑक्साइड में और हाइड्रोजन पानी में परिणत होता है और उसमें जिस ताप का उत्पादन होता है, उससे शरीर को गरमी और शक्ति प्राप्त होती है। अतएव कार्बोहाइड्रेटों की भाँति भोजन का वसीय अथवा तैलीय अंश भी दो कार्य करता है---पहला, शरीर को ताप और शक्ति देना; दूसरा, अतिरिक्त वसा को चरबी के रूप में शरीर में संचित कर देना। वसा अथवा तेल कार्बोहाइड्रेट से कहीं अधिक शक्तिदायक भोजन हैं। एक छटाँक वसा लगभग ५०० कैलॅरियों का उत्पादन करती है, अर्थात् कार्बोहाइड्रेटों की अपेक्षा लगभग ढाई गुनी अधिक। इसीलिए हम वसा अथवा तैल कम ही खा सकते हैं। अत्यधिक खाने से या तो अपच होगा या मोटापा बढ़ेगा।

प्रोटीन

भोजन के प्रोटीन नामक अवयव दो महान् कार्य करते हैं-पहला, शरीर के तन्तुओं का पुनर्निर्माण और दूसरा ताप और शक्ति का उत्पादन। जिस प्रकार मशीन के पुर्जे घिसा करते हैं, उसी प्रकार शरीर में निरन्तर होनेवाली ऑक्सीकरण की क्रियाओं में असंख्य तन्तु टूटते और नष्ट होते रहते हैं। प्रोटीन इन तंतुओं का पुनर्निर्माण करते हैं। भोजन का और कोई अवयव इस कार्य को नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त कार्बोहाइड्रेट और वसा की भाँति प्रोटीन शरीर को ताप और शक्ति भी प्रदान करते हैं। इस दृष्टि से प्रोटीन, वास्तव में, भोजन के सब से महत्वपूर्ण एवं आवश्यक अवयव होते हैं। केवल प्रोटीन पर ही प्राणी बहुत दिनों तक जीवित रह सकता है, लेकिन प्रोटीनरहित भोजन पर वह अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता। प्रोटीन वनस्पति और प्राणि-कलेवरों के कोष्ठों के अनिवार्य अवयव होते हैं। इनमें कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन तत्त्वों के अलावा नाइट्रोजन भी रहता है और बहुधा गंधक और फास्फ़रस भी पाए जाते हैं। प्रोटीन के १०० भागों में कार्बन के लगभग ५३, ऑक्सिजन के २२, नाइट्रोजन के १६, हाइड्रोजन के

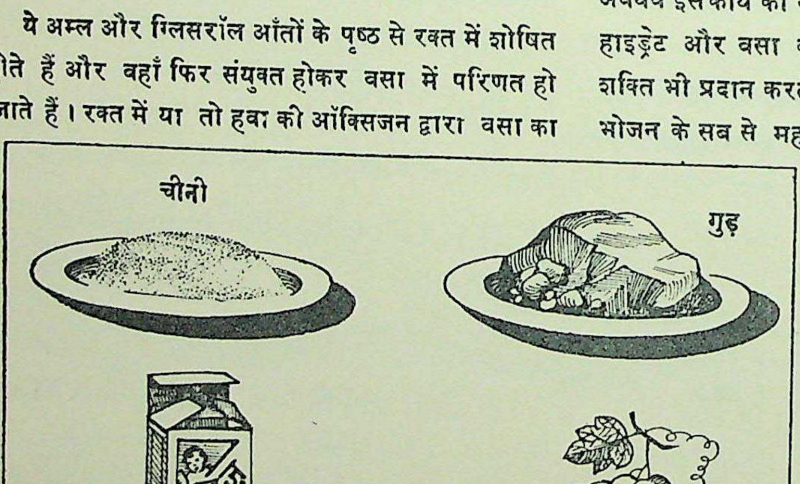

कतिपय प्रमुख भोज्य पदार्थ, जिनसे हमें विभिन्न प्रकार की तैयार शर्कराएँ मिलती हैं।

७, गंधक के १½ और फास्फॅरस का [illegible] होते हैं। नाइट्रोजन, जो प्रोटीनों का आवश्यक तत्त्व है, उनमें 'एमिनो' (NH_2) समूहों के रूप में रहता है और ये एमिनो-समूह वसीय अम्लों, अर्थात् सिरके की ऐसिड (एसिटिक ऐसिड CH_3COOH) की श्रेणी के अम्लों में हाइड्रोजन के स्थानों में लगे रहते हैं। इस प्रकार का सब से साधारण एमिनो-अम्ल 'ग्लाइसीन' (एमिनो-एसिटिक ऐसिड CH_2NH_2COOH) कहलाता है । इसी प्रकार के नाना एमिनो-ऐसिडों के परस्पर संवद्ध होने से प्रोटीन बनते हैं ।

भोजन के जिन पदार्थों में प्रोटीन अधिकता से पाया जाता है, उनमें से कुछ ये हैं--मटर, चना, उड़द, मूँग, अरहर आदि दालें; नाना प्रकार के मांस; मछलियाँ; बादाम, पिस्ता, मूँगफली, काजू, अखरोट आदि मेवे; और दूध, दही तथा पनीर, खोया आदि दूध के बने पदार्थ । गेहूँ, जौ, आदि अनाजों में भी प्रोटीन विचारणीय मात्रा में रहता है । नीचे दी हुई तालिका से हमें इस बात का अनुमान होगा कि हमारे आहार की कुछ चुनी हुई वस्तुओं में प्रोटीन, वसा और कार्बोहाइड्रेट कितने परिमाणों में पाए जाते हैं :--

खाद्य पदार्थ	प्रोटीन (प्रतिशत)	वसा (प्रतिशत)	कार्बोहाइड्रेट (प्रतिशत)
मटर (सूखे)	२४	१	६२
भेड़ का मांस	१९	२४	--
मछली (सैमन)	२२	१३	--
बादाम	२१	५५	१७
पिस्ता	२२	५४	१६
पनीर	२४	३४	१०·६
दूध	३·३	४	५
मक्खन	१	८१	--
जौ	१०·५	२	७३
अंडा	१३·५	१०·५	--
आलू	२	०·१	१९
गेहूँ	११	२	७५
चावल	८	०·३	७९
चीनी	--	--	१००
शहद	०·४	--	८१·२
किशमिश	२·६	३·३	७६
सेब	०·४	०·५	१४·२
अंगूर	१·३	१·६	१९·२
गोभी (फूल)	२·४	०·२	४·९
टमाटर	०·९	०·४	३·९

पाचन-मार्ग में प्रोटीन जब आमाशयिक रस, क्लोम रस और आँतों के रस से मिलते हैं, तो उनमें रहनेवाले 'पेप्सिन', 'ट्रिप्सिन' और 'एरेप्सिन' नामक एन्जाइमों की उत्प्रेरक क्रियाओं द्वारा वे सरलतर एमिनो-ऐसिडों में विच्छिन्न हो जाते हैं । ये एमिनो-ऐसिड अधिक घुलनशील और प्रसारणीय होने के कारण पाचन-मार्ग की दीवारों से रक्त में शोषित होकर शरीर भर में फैल जाते हैं । रक्त से इन्हें शरीर के नाना तन्तु शोषित करते हैं और उनसे वे अपने योग्य प्रोटीनों को संश्लेषित करके नए तन्तुओं का निर्माण अथवा नष्ट तन्तुओं का पुनर्निर्माण करते हैं ।

यूरिक ऐसिड

जो एमिनो-ऐसिड इस निर्माणात्मक कार्य से बच रहते हैं, उनका आगे और विच्छेदन होता है । उनसे 'एमिनो-समूह' निकलकर प्रधानतः (लगभग ८५ प्रतिशत) यूरिया (NH_2CONH_2) में तथा थोड़ी मात्राओं में अमोनियम लवण और यूरिक ऐसिड में परिवर्तित हो जाते हैं । यूरिया की भाँति यूरिक ऐसिड भी कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सिजन और नाइट्रोजन का एक यौगिक होता है। इसका अणुसूत्र यह है--

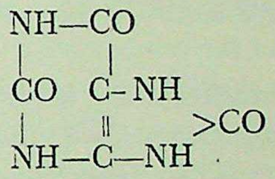

यूरिया, अमोनियम लवण और यूरिक ऐसिड शरीर से मूत्र के साथ निकल जाते हैं। जवान स्वस्थ मनुष्य के दिन-भर के मूत्र में लगभग ३० ग्राम (लगभग तीन तोला) यूरिया रहता है । एमिनो-ऐसिडों से एमिनो-समूहों के निकल जाने के उपरान्त जो नाइट्रोजनरहित अवशिष्ट यौगिक रह जाते हैं, वे ग्लूकोज में परिवर्तित हो जाते हैं । यह ग्लूकोज ऑक्सीकृत होकर ताप और शक्ति का उत्पादन करता है। प्रोटीनों में शक्ति-उत्पादन की क्षमता कार्बोहाइड्रेट के ही बराबर रहती है। कार्बोहाइड्रेटों की भाँति १ छटाँक प्रोटीन से भी २०० कैलॅरियों का उत्पादन होता है ।

भोजन में प्रोटीन का उचित अनुपात में होना अत्यावश्यक है । प्रोटीन के अभाव में शरीर क्षीण, निर्बल एवं विकृत हो जाता है । तथापि प्रोटीन की अति भी नहीं होनी चाहिए । मांस आदि प्रोटीनयुक्त पदार्थों को बहुत अधिक खाने से शरीर में यूरिक ऐसिड के जमा होने से गठिया आदि रोगों के हो जाने का भय रहता है ।

खनिज तत्त्व

शरीर के मौलिक अवयवों में ऑक्सिजन की प्रधानता है। इसका कारण यह है कि शरीर के भार का दो-तिहाई भाग जल होता है और जल के ९ भागों में ८ भाग ऑक्सिजन और एक भाग हाइड्रोजन का होता है। इसके अलावा शरीर में रहनेवाले प्रायः अन्य सभी यौगिकों में भी ऑक्सिजन रहती है। कार्बन, हाइड्रोजन और नाइट्रोजन भी शरीर के तन्तुओं में रहनेवाले प्रमुख अवयव हैं। इन चार तत्त्वों को छोड़कर कैल्शियम, फास्फॅरस, पोटैशियम, गंधक, सोडियम, क्लोरीन, मैग्नेशियम, लोहा, मेंगनीज, आयडिन, ताम्र, जस्ता, सिलिकन, अल्युमीनियम और फ्लुओरीन नामक तत्त्व भी न्यून मात्रा में मानव शरीर में रहते हैं, जिन्हें भोजन के 'खनिज तत्त्व' अथवा 'अकार्बनिक पदार्थ' अथवा 'भस्म भाग' कहते हैं। अन्तिम नाम इन्हें इसलिए दिया गया है कि यदि खाद्य पदार्थ जलाया जाय, तो प्रायः ये सभी तत्त्व उसकी भस्म में मिलते हैं। भोजन में इन खनिज पदार्थों का पर्याप्त मात्राओं में रहना अत्यन्त आवश्यक है, कारण हड्डियों, दाँतों, मांस-पेशियों, रुधिर-कोष्ठों, कतिपय ग्रंथियों (गिल्टियों) तथा शरीर में रहनेवाले तरल पदार्थों के अवयवों की रचना उनके बिना संभव नहीं।

हमें इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि हमारे भोजन में निम्न सात तत्त्व पर्याप्त परिमाण में रहें---(१) कैल्शियम, (२) फास्फॅरस, (३) गंधक, (४) सोडियम, (५) क्लोरीन (६) लोहा तथा (७) आॅयडिन। अन्य सारे आवश्यक खनिज तत्त्वों की पर्याप्त मात्राएँ हमें अपने भोजन से अपने आप ही मिल जाया करती हैं; उनके लिए हमें कोई चिन्ता अथवा विशेष प्रबन्ध करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

ऊपर के सात तत्त्वों में 'सोडियम' और 'क्लोरीन' को हम नमक (सोडियम क्लोराइड---$NaCl$) के रूप में भोजन के साथ ग्रहण किया करते हैं। विभिन्न खाद्य पदार्थों में---विशेषतः मांस में---नमक प्राकृतिक रूप में रहता है। शाकाहारियों को मांसाहारियों की अपेक्षा ऊपर से छोड़े जानेवाले नमक की अधिक आवश्यकता होती है।

नमक शरीर के द्रवों के ऑस्मोटिक दबाव को ठीक रखता है, जिससे तन्तुओं में जल की मात्रा जितनी चाहिए उतनी ही रहती है। नमक की क्लोरीन से आमाशयिक रस में ०·४ से ०·५ प्रतिशत तक रहनेवाली हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड का भी उत्पादन होता है। यह हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड उदर में कीटाणुनाशक के रूप में महत्वपूर्ण कार्य करती है। नमक के अलावा क्लोरीन पालक तथा हरे पत्तेवाले अन्य शाकों, टमाटर, मूँगफली तथा खजूर, केला आदि फलों से प्राप्त होती है। अनावश्यक लवण पसीना तथा पेशाब के साथ शरीर के बाहर निकल जाता है; तथापि नमक अत्यधिक परिमाण में नहीं खाना चाहिए, कारण यह गुर्दों के लिए हानिकारक सिद्ध होता है और उससे रुधिर के दबाव के बहुत बढ़ जाने की आशंका रहती है है।

'कैल्शियम' हड्डियों और दाँतों के निर्माण के लिए, हृदय की मांस-पेशी के कार्य को सुव्यवस्थित रखने के लिए तथा रुधिर को जमने की शक्ति प्रदान करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस तत्त्व का ९९ प्रतिशत हड्डियों और दाँतों में तथा शेष तंतुओं और शारीरिक द्रवों में रहता है। 'मैग्नेशियम' भी अधिकतर (लगभग ७१ प्रतिशत) अस्थियों में ही रहता है। कैल्शियम भोजन की निम्न वस्तुओं में खूब पाया जाता है---दूध, अंडे की जरदी, बादाम, अखरोट, सेम, गोभी, शलगम, पत्तेदार शाक, दाल, अंजीर, सोयाबीन, सरसों आदि में। अनाजों में सब से अधिक कैल्शियम गेहूँ और जौ में होता है। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम ऐसा भोजन लें, जिसमें कैल्शियम खूब रहे। बच्चों को अपना आवश्यक कैल्शियम दूध से ही मिल जाया करता है। दूध पिलाती हुई अथवा गर्भवती स्त्री

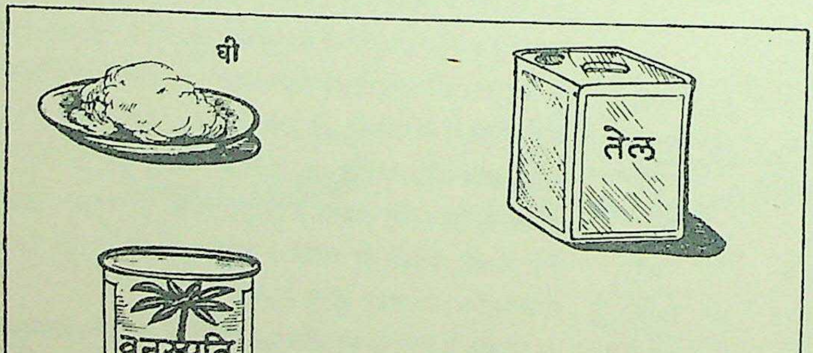

हमारे भोजन में वसा और तेल की पूर्ति करनेवाले कतिपय खाद्य द्रव्य।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

की कैल्शियम की आवश्यकता बहुत बढ़ जाती है। अतः उनके आहार में इसकी पूर्ति होना अत्यावश्यक है।

शरीर में जितना 'फॉस्फरस' रहता है, उसका लगभग ७० प्रतिशत हड्डियों और दाँतों में होता है। हड्डियों और दाँतों के लिए कैल्शियम के साथ-साथ फॉस्फरस भी अति आवश्यक है। अतः कैल्शियम की भाँति भोजन में फॉस्फरस का भी प्रतिनिधित्व पर्याप्त मात्रा में होना चाहिए। यह इन वस्तुओं में खूब रहता है—दूध; अंडा; मांस; मछली; बादाम; मूँगफली; अखरोट आदि गिरियाँ; नारियल; किशमिश; मुनक्का; अंजीर; गेहूँ (संपूर्ण); जौ; मक्का; जई; राई; सरसों; मटर आदि दालें; सोयाबीन, सेम आदि फलियाँ।

'लोहा' रक्त के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। रक्त के रंगीन पदार्थों का वह एक आवश्यक अवयव है और उसके बिना रक्त में ऑक्सिजन को शोषित करने का गुण नहीं रहता। शरीर में रक्त का परिमाण केवल ७ प्रतिशत होता है; तथापि देह में रहनेवाले लोहे का कम से कम ७० प्रतिशत रुधिर में, और विशेषतः उसके कणरंजकों में रहता है। लोहे के अभाव से शरीर में रक्तहीनता हो जाने का भय रहता है। रक्तवर्धक टॉनिकों में इसीलिए लौह यौगिक अवश्य ही मिले रहते हैं। निम्न वस्तुओं में लोहा खूब रहता है—गेहूँ, जौ, मक्का, जई, आदि अनाज; सोयाबीन, मटर, मसूर, आदि दालें; यकृत, लाल गोश्त, अंडा, मछली; बादाम, अखरोट, मूँगफली आदि गिरियाँ; बेर, किशमिश, मुनक्का, अंजीर, खजूर आदि मेवे; पालक, गोभी, शलगम आदि तरकारियाँ। दूध में भी थोड़ा लोहा रहता है।

'गंधक' शरीर की ऑक्सीकारी विधियों में महत्वपूर्ण भाग लेनेवाले इन्सुलिन, ग्लुटाथिओन आदि यौगिकों का एक मूल अवयव है। गंधक की कमी से रक्त में खराबी आ जाती है। निम्न आहार-पदार्थों में गंधक खूब रहता है—गेहूँ, जौ, मक्का, जई आदि अनाज; गोश्त, मछली, अंडा; मटर, मसूर आदि दालें; सरसों; बादाम, मूँगफली, अखरोट आदि गिरियाँ; सेम, गोभी आदि तरकारियाँ।

शरीर के ३० लाख भारात्मक अंशों में 'आयडिन' का केवल एक अंश ही होता है, तथापि वह शरीर का एक आवश्यक तत्त्व है। थायराइड ग्रंथि में रहनेवाले 'थाइरॉक्सिन' नामक आवश्यक पदार्थ का निर्माण आयडिन के बिना संभव नहीं होता। जब शरीर को आयडिन पर्याप्त परिमाण में नहीं प्राप्त होती, तो थाइराइड ग्रंथि फूलकर घेघा का रूप धारण कर लेती है। कुछ स्थानों की मिट्टी में आयडिन काफी होती है, अतएव वहाँ के पानी और वहाँ की उपजी हुई वस्तुओं में भी आयडिन पर्याप्त परिमाणों में रहा करती है। ऐसे स्थानों में घेघा की बीमारी नहीं होती। समुद्र-जल में आयडिन काफी रहती है, अतएव समुद्री मछलियों में तथा उनके यकृत से निकाले गए तेलों (यथा कॉडलिवर ऑयल) में भी वह खूब रहती है। इसके अलावा वह दूध, आलू, जई, गेहूँ और गाजर में भी रहती है।

विटामिन

'विटामिन' भोजन से प्राप्त होनेवाले अथवा शरीर में ही बन जानेवाले उन पदार्थों को कहते हैं, जिनकी उपस्थिति में शरीर की उन सब क्रियाओं को उत्प्रेरणा मिलती है, जिनसे शरीर की वृद्धि अथवा विकास होकर उसे रोगनाशक शक्ति प्राप्त होती है। अनेक प्रकार के विटामिनों की खोज हो चुकी है और इन्हें विटामिन ए, बी, सी, डी, ई आदि का नाम दिया गया है। सभी विटामिन कार्बनिक यौगिक होते हैं, जो भोजन के विभिन्न प्राकृतिक रूपों में पाए जाते हैं। भोजन के प्राकृतिक रूप का जितना ही कृत्रिम शोधन कर दिया जाता है, वह विटामिनों से उतना ही वंचित हो जाता है। मुख्य विटामिनों का परिचय नीचे दिया जा रहा है—

'विटामिन ए' ($C_{20}H_{30}O$)—यह कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन तत्त्वों का एक यौगिक है। यह शरीर की वृद्धि

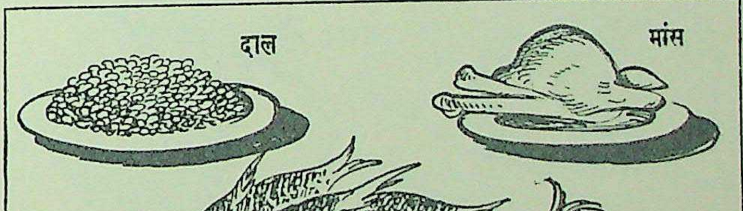

महत्वपूर्ण प्रोटीन तत्त्वों की पूर्ति करनेवाले प्रमुख भोज्य पदार्थ।

और विकास के लिए अत्यावश्यक है। यह संक्रामक रोगों को न लगने देने तथा रोगाणुओं के आक्रमण से बचने की शक्ति देता है और आँखों तथा कानों को मजबूत बनाता है। इसके अभाव में शरीर का विकास रुक जाता है।

'विटामिन ए' निम्न खाद्य पदार्थों में खूब पाया जाता है-- दूध (संपूर्ण), उससे बना हुआ पनीर अथवा उससे निकाला गया मक्खन या क्रीम; कॉडलिवर ऑयल, यकृत, अंडा और गुर्दा; आम, खरबूजा और बेर; पालक तथा अन्य हरे पत्तों के शाक; गाजर, गोभी, टमाटर, शलगम, हरे मटर, कद्दू, लौकी आदि तरकारियाँ; शकरकंद; पीली मकाई।

भोजन को देर तक पकाने तथा कढ़ाई में दूध को औटाते रहने अथवा उससे रबड़ी आदि बनाने में या तरकारियों को भूनने में 'विटामिन ए' नष्ट हो जाता है। थोड़ी देर तक पकाने से इसका विनाश नहीं होता।

'विटामिन बी' ($C_{12}H_{17}N_4OClS$)--यह कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सिजन, क्लोरीन और गंधक तत्त्वों का एक यौगिक है। यह भी शरीर की वृद्धि और विकास में परम सहायक है। इससे पाचन-मार्ग की गतियाँ ठीक रहती हैं और पेट साफ रहता है। यदि भोजन में इस विटामिन का अभाव हो जाय, तो भूख नहीं लगती और रोगी खाना बहुत कम खाता अथवा बंद कर देता है। इस विटामिन के न रहने से 'बेरी-बेरी' का भयानक रोग हो जाता है। खाद्य पदार्थ के कृत्रिम शोधन अथवा उसे बहुत अधिक पकाने-भूनने से इस विटामिन का भी नाश हो जाता है। सम्पूर्ण चावल में यह विटामिन रहता है, लेकिन उसे मिलों में चमकाने से उसमें वह बिलकुल नहीं रह जाता। चावल को अत्यधिक धोने अथवा उसमें से माँड़ निकाल डालने से भी उसमें इस विटामिन का अभाव हो जाता है। 'विटामिन बी' इन खाद्य वस्तुओं में खूब रहता है—सपूर्ण गेहूँ, संपूर्ण चावल, मक्का, जौ, बाजरा, जई; गोभी, सेम, हरी मटर, गाजर, मूली, शलगम; आम, नारंगी, नाशपाती, नीबू, अंगूर, खजूर, नारियल, केला, सेब; बादाम, मूँगफली, अखरोट, आदि गिरियाँ; संपूर्ण दूध, क्रीम; अंडे की जर्दी, बकरे या भेड़ का मांस, यकृत, गुर्दा, भेजा; आलू, शकरकंद, खमीर आदि। मैदा, चमकाए हुए चावल, तेल, वनस्पति घी, शकर आदि में विटामिन बी और अन्य विटामिन या तो बिलकुल नहीं अथवा नाम-मात्र को ही होते हैं।

'विटामिन सी' ($C_6H_8O_6$)—यह कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन का एक यौगिक है। इस विटामिन की अत्यधिक कमी से 'स्कर्वी' नामक रोग हो जाता है, जिसमें मसूड़े पिलपिले पड़कर सूख जाते हैं और उनसे खून बहने लगता है, दाँत ढीले पड़ जाते हैं, हड्डियाँ कमजोर हो जाती हैं और त्वचा में खून के चकत्ते पड़ जाते हैं। बच्चों में चिड़चिड़ापन, स्फूर्तिहीनता, वृद्धि का रुकाव आदि लक्षण बहुधा 'विटामिन सी' की ही कमी से प्रकट होते हैं। शरीर में जब 'विटामिन सी' पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँचता, तो हमारी रोग-निरोधक शक्ति भी कम हो जाती है और संक्रामक रोगों के लग जाने का अधिक भय रहता है।

'विटामिन सी' निम्न वस्तुओं में खूब होता है--आँवला, नीबू, संतरा, रसभरी, अंगूर, आम, अनन्नास, आड़ू, सेब, खूबानी आदि फल; गोभी, टमाटर, शलजम, पालक व अन्य पत्तेदार शाक; मूली, हरी मटर, गाजर आदि तरकारियाँ; आलू; कल्ला फूटे हुए मटर, चना, मसूर आदि अनाज। यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'विटामिन सी' अधिकतर फलों व तरकारियों में ही होता है। बहुत अधिक गरम करने, पकाने और भूनने से ताप और हवा की ऑक्सीकारक क्रिया द्वारा इस विटामिन का सर्वथा नाश हो जाता है।

'विटामिन डी' ($C_2\ H_{44}O$)—यह कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन का एक यौगिक है। इससे मिलते-जुलते कुछ अन्य पदार्थों की भी 'विटामिन डी' में गणना होती है। इसके अभाव से बच्चों को सूखा (रिकेट्स) रोग हो जाता है। इस रोग में कैल्शियम और फॉस्फेट हड्डियों में ठीक प्रकार से नहीं जमते,

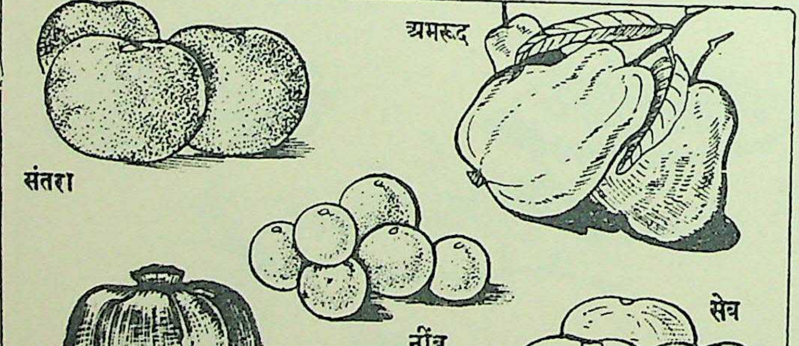

भोजन में विटामिनों एवं खनिज तत्त्वों के मुख्य पूरक—भाँति-भाँति के फल।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जिसके कारण विकास रुक जाता है और बच्चे नाजुक और निर्बल हो जाते हैं।

'विटामिन डी' मछलियों के यकृत के तेलों, दूध, मक्खन, घी, क्रीम, अण्डे की जर्दी, पनीर और हरे शाक में ख़ूब पाया जाता है। इसके अलावा जब सूर्य की अथवा कृत्रिम पराकासनी (अल्ट्रावॉयलेट) किरणें सीधे त्वचा पर पड़ती हैं, तो 'विटामिन डी' बनकर शरीर में शोषित हो जाता है। धूप खाना इसीलिए स्वास्थ्य के लिये परम लाभकारी होता है।

'विटामिन डी' वास्तव में तब बनता है, जब पराकासनी किरणें किसी वसीय पदार्थ पर पड़ती हैं। ये पराकासनी रश्मियाँ उज्ज्वल धूप में रहा करती हैं। यदि हम दूध, घी आदि पदार्थों को धूप में रख दें, तो उनमें 'विटामिन डी' की मात्रा बढ़ जायगी अथवा यदि हम सरसों के तेल को धूप में रख दें, तो उसमें भी 'विटामिन डी' उत्पन्न हो जायगा। मनुष्य की त्वचा में भी एक स्नेहीय पदार्थ निरंतर बनता रहता है। यदि हम यह पदार्थ ईथर आदि किसी ऐसे द्रव से (जिसमें तेल घुलता हो) धो डालें, तो फिर धूप में बैठने से 'विटामिन डी' का उत्पादन नहीं होगा। वास्तव में, धूप खाने की सब से अच्छी रीति यह है कि शरीर पर तेल की मालिश करें और फिर धूप का सेवन करें। त्वचा पर रहनेवाले तेल में जो 'विटामिन डी' बनता है, वह शरीर में शोषित हो जाता है।

'विटामिन ई' ($C_{29}H_{50}O_2$)—इसके अभाव से स्त्री और पुरुष दोनों में ही वंध्यता, निष्फलत्व आदि उत्पन्न होता है। यह विटामिन सम्पूर्ण अनाजों, तरकारियों, गोश्त, दूध और मक्खन में ख़ूब पाया जाता है। वनस्पति घी आदि वस्तुएँ उससे वंचित होती हैं।

जल

जल के विषय में हम विस्तारपूर्वक इस ग्रंथ में पहले लिख चुके हैं (पृ०९९२-१००१)। हम यह भी बता चुके हैं कि शरीर का दो-तिहाई से भी अधिक भाग पानी होता है। घोलक के रूप में यही पानी अपने माध्यम द्वारा शरीर की सारी रासायनिक क्रियाओं को संचालित करता रहता है। जल के द्वारा शरीर के मल-पदार्थ पसीना अथवा मल-मूत्र के रूप में बाहर निकलते रहते हैं, सारे पोषक तत्व द्रव-रूप में शरीर के प्रत्येक स्थान में पहुँचते हैं और शरीर की गरमी सब जगह बँटकर उसके ताप को स्थिर रखती है। अतएव शरीर में जल के उचित परिमाण का रहना परमावश्यक है।

भोजन करते समय अधिक जल नहीं पीना चाहिए, कारण इससे पाचक रस पतले हो जाते हैं और उसकी क्रियाएँ ठीक प्रकार से नहीं हो पातीं। भोजन करने के लगभग एक या डेढ़ घंटे बाद जब शरीर को जल की आवश्यकता होती है, तो स्वभावतः प्यास लगती है। उस समय जितना चाहे पानी पीकर प्यास बुझा लेनी चाहिए। पीने का पानी निर्मल एवं बिलकुल शुद्ध होना चाहिए, कारण गंदे पानी के द्वारा टायफॉयड, हैजा, पेचिश आदि अनेक रोग लग सकते हैं।

नशीली और उत्तेजक वस्तुएँ

'भोजन' की परिभाषा में हम उन वस्तुओं को रखते हैं, जिनके खाने से शरीर का पालन और पोषण हो और उसे ताप, शक्ति और स्वास्थ्य प्राप्त हो। इसके विपरीत जिन वस्तुओं के खाने से शरीर को हानि पहुँचे और वह निर्बल एवं अस्वस्थ हो जाय अथवा उसकी मृत्यु हो जाय, उन्हें हम 'विष' कहते हैं। खेद की बात यह है कि मनुष्य कतिपय अभोज्य घातक विषों को भी खाया करता है और इस प्रकार अपने जीवन को बिगाड़ा करता है! मनुष्य द्वारा ग्रहण किए जानेवाले इस प्रकार के नशीले विषों में मदिरा, तम्बाकू, अफीम, गाँजा, भाँग आदि प्रमुख हैं।

मदिरा में जो नशीली वस्तु रहती हैं, उसे 'एथिल अल्कोहॉल' या केवल 'अल्कोहॉल' कहते हैं। यदि मनुष्य थोड़ी-सी भी शुद्ध अल्कोहॉल पी ले, तो वह उसे मारने के लिए पर्याप्त

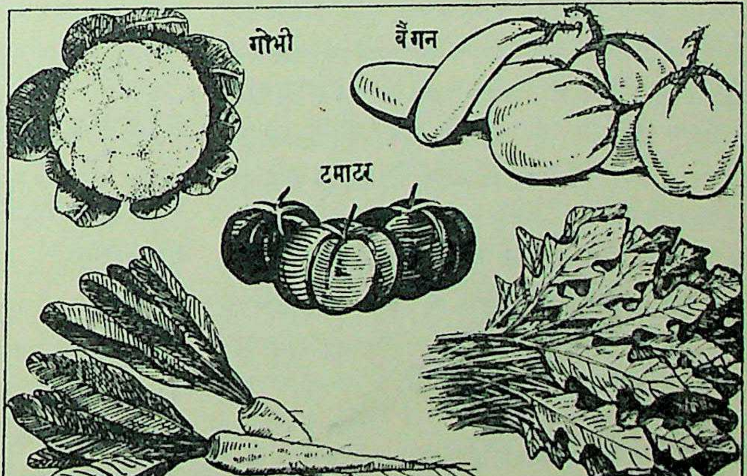

तरकारियाँ, जिनका खनिज लवणों एवं विटामिन-पूरकों के रूप में बड़ा महत्व है!

होगी। यदि पानी में सौवाँ भाग भी अल्कोहॉल मिला हो, तो वह मछली को मारने के लिए पर्याप्त होता है। अतएव मदिरा का विष होना तो हर तरह से सिद्ध है।

यदि अंडे की सफेदी को अल्कोहॉल अर्थात् मदिरा के सार में छोड़ा जाय, तो वह सिमटकर कड़ी हो जाती है। मदिरा पीने पर उसका अल्कोहॉल रक्त द्वारा शोषित होकर हृदय, यकृत, गुर्दे, आदि मर्मस्थलों में पहुँचता और उन्हें सिकोड़ने, कड़ा बनाने आदि की यही क्रिया करता है। इससे इन अंगों की जो क्षति होती है, उसकी कल्पना की जा सकती है।

मदिरा के प्रयोग से शरीर की रोग-निरोधक शक्ति का ह्रास होने लगता है, उसके विकास में बाधा पड़ती है, मस्तिष्क भी कमजोर पड़ जाता है, चारित्र्य-बल घटने लगता है और दुष्कर्मों की प्रवृत्ति बढ़ने लगती है। इसीलिए सभी धर्मों ने मदिरापान की निन्दा की है।

अब मनुष्य के दूसरे शौक—तम्बाकू—के दुर्गुणों पर भी दृष्टिपात कीजिए! तम्बाकू एक पौधा होता है, जिसकी सूखी पत्तियों में दो प्रतिशत 'निकोटीन' नामक प्राणघातक विष रहता है। इस विष की कुछ ही बूँदें प्राणों को हर लेने के लिए पर्याप्त होती हैं। कोई भी पशु अथवा पक्षी न तो तम्बाकू के पत्ते को चबाता है, न उसका धुआँ ही पीता है, और न उसे सुंघनी के रूप में सूँघता ही है! लेकिन मनुष्य इन व्यसनों में कैसा प्रवृत्त है!

तम्बाकू का सब से हानिकारक प्रभाव हृदय पर पड़ता है। उसके द्वारा बिगड़े हुए हृदय को 'तम्बाकू का मारा हृदय' कहते हैं। इस विकार में हृदय की धड़कन अव्यवस्थित हो जाती है। तम्बाकू का प्रयोग करनेवाले का दम शीघ्र फूलता है और वह हाँफने लगता है। जो लोग तम्बाकू का उपयोग नहीं करते, उनकी शारीरिक योग्यता उसका उपयोग करनेवालों से कहीं अच्छी पाई गई है। तम्बाकू पाचन-क्रियाओं में भी बाधा डालती है और शरीर की वृद्धि और विकास को रोकती है। तम्बाकू से शरीर की रोगनाशक शक्ति भी कम हो जाती है। रोगग्रस्त हो जाने पर तम्बाकू का प्रयोग न करनेवाले अधिक शीघ्र स्वास्थ्यलाभ कर लेते हैं। आँखों के लिए भी तम्बाकू बहुत हानिकारक है। अत्यधिक धूम्रपान करनेवालों को जीभ, होंठ और गले में कैन्सर हो जाने का डर रहता है। तम्बाकू मस्तिष्क को भी निर्बल कर देती है।

विविध नशीली वस्तुएँ विषाक्त अल्कॉलायड हैं

तम्बाकू में रहनेवाली 'निकोटीन' रासायनिक दृष्टि से 'अल्कॉलायड' वर्ग का एक यौगिक है। अल्कॉलायड कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और ऑक्सिजन तत्त्वों के यौगिक होते हैं। इनमें से कई भयंकर विष हैं।

इन प्राणघातक अल्कॉलायडों में अफीम (ओपियम) में रहनेवाली मार्फीन ($C_{17}H_{19}NO_3$), कुचला में पाई जानेवाली स्ट्रिक्नीन ($C_{21}H_{22}N_2O_2$) और ब्रूसीन ($C_{23}H_{26}N_2O_4$), सिनकोना में रहनेवाली कुनीन ($C_{20}H_{24}N_2O_2$) और सिनकोनीन ($C_{19}H_{22}N_2O_2$), कोका में रहनेवाली कोकेन ($C_{17}H_{23}NO_3$), तम्बाकू में रहनेवाली निकोटीन ($C_{10}H_{14}N_2$), गोल मिर्च में रहनेवाली पिपरिन ($C_{17}H_{19}NO_3$) और हेमलॉक (जिसका विष सुकरात को दिया गया था) में रहनेवाली कोनाइन ($C_8H_{17}N$) अधिक महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त कोको, कॉफी और चाय में रहनेवाली केफीन ($C_8H_{10}N_4O_2$) की भी गणना बहुधा अल्कॉलायडों में ही होती है। मनुष्य तम्बाकू के अलावा कोकेन, भंग आदि के रूप में अन्य हानिकारक अल्कॉलायड भी ग्रहण करके अपने स्वास्थ्य को नष्ट किया करता है।

चाय, कॉफी और कोको जैसी उत्तेजक वस्तुएँ भी हानिप्रद हैं। इनमें रहनेवाली केफिन और टैनिन हानिकारक होती हैं, जिसके कारण आहार-पथ को क्षति पहुँचती है।

संतुलित भोजन

हमारे देश में साधारणतया जो भोजन प्रचलित है, उसमें विविध खाद्य पदार्थों की मात्राएँ यदि निम्नलिखित परिमाण के अनुसार संतुलित कर ली जाएँ, तो आहार-विशेषज्ञों का कथन है कि हमें अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त यथेष्ट पौष्टिक तत्त्व मिलते रह सकते हैं :—

अन्न (गेहूँ, जौ, चावल आदि)	६ से ८ छटाँक तक
दालें (उरद, मूंग, मटर, अरहर आदि)	१ छटाँक
दूध	कम से कम ४ छटाँक
वसाएँ (घी, तेल आदि)	१ छटाँक
हरी तरकारियाँ	४ छटाँक
फल	२ छटाँक

यह भोजन-व्यवस्था निरामिषभोजियों के लिए है। जो लोग आमिषभोजी हैं, वे दाल, अन्न और वसाओं द्वारा होनेवाली खाद्यपूर्ति मांस, मछली, अंडा आदि द्वारा कर सकते हैं। किन्तु आवश्यक खनिज तत्त्वों एवं विटामिनों की पूर्ति के निमित्त उचित मात्रा में हरी तरकारियों एवं फलों का व्यवहार उनके लिए भी अति आवश्यक है।

सूक्ष्म जगत् की ओर :: अणु-परमाणुओं का अन्वेषण

आदिकाल ही से मनुष्य की जिज्ञासावृति उसे जहाँ एक ओर अनन्त और असीम ब्रह्माण्ड का रहस्य खोजने के लिए प्रेरित करती रही है, वहाँ दूसरी ओर इस सृष्टि का निर्माण करनेवाले मूल द्रव्य की सत्र से भीतरी तह को भेदकर उसकी इयत्ता का पता पाने के लिए भी वह उसे उत्कंठित करती रही है। इसी प्रयास में अणु-परमाणुओं की खोज हुई। किस प्रकार यह रहस्य विज्ञान के हाय लगा, आइए, देखें !

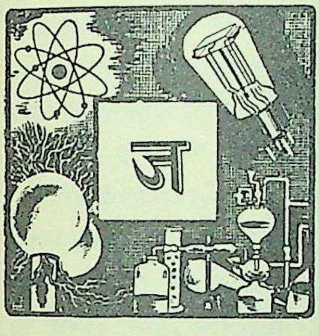

जब हम किसी वस्तु को तोड़ते अथवा विभाजित करते हैं, तो वह लघुतर भागों में खंडित हो जाती है। इस विभाजन की कोई हद भी है ? द्रव्य के कणों की लघुता सीमित है अथवा असीम ? इन विचारों ने ढाई हजार वर्ष पहले के भारतीय विद्वानों में मानसिक उथल-पुथल मचाई थी। कपिल ने 'सांख्य' और कणाद ने 'वैशेषिक' दर्शन में द्रव्य को परमाणुओं का अर्थात् ऐसे लघुतम कणों का बना हुआ माना, जो आगे खंडित नहीं हो सकते। कणाद ने परमाणु को अक्षय माना और इनके विभिन्न प्रकार के संयोग से पंचतत्त्वों के निर्मित होने की कल्पना की। विस्तार में इन मुनियों के अनुमान ठीक नहीं थे, किन्तु परमाणुओं की सत्ता की उनकी यह कल्पना बड़े भारी महत्व की थी।

आज से कई हजार वर्ष पूर्व भारतवर्ष में उद्‌भूत 'परमाणुवाद' का यह सिद्धान्त ईरान होकर पाँचवी शताब्दी ईस्वी पूर्व यूनान पहुँचा और वहां डेमाक्रिटस, ल्यूकिप्पस आदि दार्शनिकों द्वारा उसका काफी प्रचार हुआ। यूनान में इस परमाणुवाद का विरोध भी हुआ। इस विरोधी दल का अग्रनेता अरस्तू (३८४—३२२ ई० पू०) था। अरस्तू यूनान का बड़ा प्रभावशाली दार्शनिक था, अतएव परमाणुवाद में यूनानियों की श्रद्धा बहुत-कुछ घट गई। तब से दो हजार वर्ष तक यद्यपि लोग उसे सर्वथा भूले नहीं, पर उसे किसी ने उठाया भी नहीं। फ्रांसिस बेकन, रेने डेकार्ट, पियर गैसेण्डी, राबर्ट ब्वॉयल, राबर्ट हुक, जॉन मेयो, आइजक न्यूटन (१६७५ ई०), एम० डबल्यू० लोमनोसॉफ (१७४८ ई०), ब्रायन हिगिंस (१७७६ ई०) और विलियम हिगिंस (१७८९ ई०) जैसे अनेक योरपियन विद्वान् इस अवधि में जब-तब परमाणुवाद के पक्ष में विचार प्रकट करते रहे, लेकिन उनमें से कोई भी उसमें जीवन नहीं डाल सका।

डाल्टन का परमाणुवाद

तब उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इंग्लैंड के एक साधारण स्कूल-मास्टर जॉन डाल्टन ने इस विषय को फिर उठाया। न्यूटन के परमाणु-सम्बन्धी कथनों से प्रभावित होकर उसने अपने अनुमान-बल द्वारा परमाणुवाद को एक ऐसा रूप दे दिया, जिसके सहारे रासायनिक संयोग के नवाविष्कृत भारात्मक सिद्धांत पूर्णतः सिद्ध किए जा सके। अपने सिद्धान्तों के लिए कोई सीधा प्रमाण उसके पास नहीं था, किंतु विभिन्न रासायनिक घटनाएँ उनके द्वारा इतनी सरलता से सिद्ध होती चली गई थीं कि विज्ञान-जगत् को उन्हें मान ही लेना पड़ा। यदि लवॉयसियर ने अर्वाचीन रसायन की नींव डाली, तो डाल्टन ने अपने परमाणुवाद द्वारा ऐसे दृढ़ स्तंभ निर्मित किए, जिन पर आज का विज्ञान निरापद खड़ा हुआ है। डाल्टन के इस परमाणु-संबंधी सिद्धांत के मुख्य सूत्र ये थे—

(१) द्रव्य बहुत ही छोटे-छोटे कणों अर्थात् परमाणुओं से मिलकर बना होता है। ये किसी भी क्रिया द्वारा आगे खंडित नहीं हो सकते।

(२) परमाणुओं का नाश नहीं हो सकता और न वे रचे ही जा सकते हैं।

(३) एक ही मूल तत्त्व के परमाणु बिलकुल एक-से होते हैं और उनका भार भी बराबर होता है।

(४) विभिन्न तत्त्वों के परमाणु गुणों में एक-दूसरे से भिन्न होते हैं और इनके भार भी बराबर नहीं होते।

(५) यौगिक 'यौगिक परमाणुओं' के बने होते हैं और एक ही यौगिक के 'यौगिक परमाणु' समान और भिन्न-भिन्न यौगिकों के असमान होते हैं।

(६) विभिन्न मूल तत्त्वों के परमाणु सरल संख्यात्मक निष्पत्तियों, यथा १:१; १:२; २:१; २:३; ३:१; आदि में ही संयुक्त होकर यौगिक बनाते हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि दो तत्त्व 'क' और 'ख' संयुक्त होते हैं, तो इस प्रकार बने हुए यौगिक में इनके परमाणुओं की संख्या इस प्रकार होगी—१ परमाणु क और १ परमाणु ख, अथवा १ परमाणु क और २ परमाणु ख, अथवा २ परमाणु क और ३ परमाणु ख, आदि।

(७) जिस भार-सम्बन्धी अनुपात में तत्त्व संयुक्त होकर यौगिक बनाते हैं, वही अनुपात उस यौगिक के परमाणु-भारों में भी होता है, अतएव प्रयोगों द्वारा यौगिकों के तत्त्वों के भारीय अनुपातों को निकालकर परमाणुओं के भी आपेक्षिक भार निकाले जा सकते हैं।

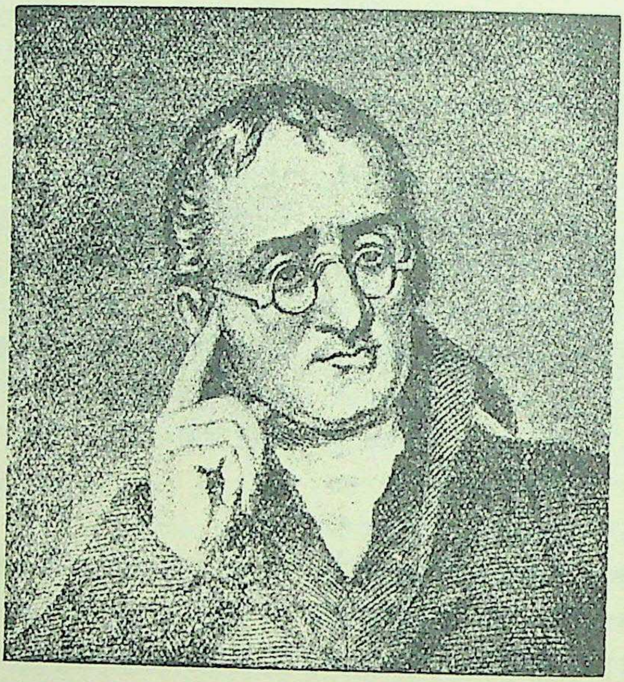

'परमाणुवाद' का प्रतिपादक जॉन डाल्टन।

डाल्टन ने 'यौगिक परमाणुओं' में विभिन्न परमाणुओं की संख्या निकालने के लिए जो सिद्धान्त बनाए वे ठीक नहीं थे, अतएव वह न तो यौगिकों के संगठन और न परमाणुओं के ठीक-ठीक आपेक्षिक भारों को ही निश्चित कर सका।

रासायनिक संयोग के भार-सम्बन्धी सिद्धांत और परमाणुवाद

हम आगे देखेंगे कि डाल्टन के परमाणुवाद में क्या-क्या दोष थे और उसमें क्या-क्या संशोधन किए गए। फिर भी अनेकानेक रासायनिक प्रयोग और घटनाएँ तथा रासायनिक संयोग के भारात्मक सिद्धान्त उसके सहारे स्पष्टतः समझे जा सके। इससे लोगों की आँखें खुलीं और डाल्टन के अनुमान सर्वत्र स्वीकृत कर लिए गए। तभी से वे रासायनिक चर्चा के आधार बन गए। आज हम देखते हैं कि एक भी रासायनिक घटना परमाणुओं की भाषा के बिना स्पष्टतः नहीं समझाई जा सकती।

रासायनिक संयोग के भार-सम्बन्धी सिद्धांत चार हैं—

(१) द्रव्य की अविनाशिता का सिद्धान्त—जब हम बढ़ते हुए पेड़-पौधों अथवा प्राणि-कलेवरों, चटकती हुई कलियों, मुरझाते हुए फूलों, जलती हुई वस्तुओं आदि को ऊपरी दृष्टि से देखते हैं, तो हमें प्रत्यक्षतः यही भासित होता है कि द्रव्य का जन्म और विनाश दोनों होता है। तथापि प्राचीनकाल से ही कणाद, डेमाक्रिट्स आदि ज्ञानियों ने द्रव्य की अविनाशिता को ही सत्य माना था। वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा इस नियम की परीक्षा सब से पहले लवॉयसियर ने १७७४ ई० में की। उसने बंद पात्र में राँगा (टीन) जलाकर देखा कि भार में कोई भी परिवर्तन नहीं होता, अर्थात् रासायनिक परिवर्तन के बाद भी द्रव्य जितना पहले था उतना ही बना रहता है। १८९३ ई० में लैण्डोल्ट और १९०१ ई० में हीडवीलर ने इस नियम की परीक्षा अधिक सावधानी से अन्य अनेक प्रयोगों द्वारा की। उन्होंने पहले दो ऐसे घोलों को साथ-साथ तौला, जिनमें रासायनिक क्रिया सरलता से हो सकती है। फिर सावधानी से मिलाकर जब उन्होंने उन्हें फिर तौला, तो भार में कोई परिवर्तन नहीं पाया। सिल्वर नाइट्रेट, पोटैशियम क्रोनेट, लेड एसेटेट, पोटैशियम आयडाइड, बेरियम क्लोराइड और सल्फ्यूरिक ऐसिड, आदि मिलाकर ये प्रयोग सरलता से किए जा सकते हैं। डाल्टन के परमाणुवाद से यह नियम स्पष्ट हो जाता है। कारण, डाल्टन के अनुसार जो परमाणु एक दूसरे पर क्रिया करते हैं, वही और उतने ही परमाणु उत्पन्न पदार्थों में भी रहते हैं, और इन परमाणुओं का न तो भार ही घट सकता है और न उनका विनाश अथवा सर्जन ही हो सकता है। अतएव

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उत्पन्न पदार्थों का भार वही रहता है, जो क्रियाशील पदार्थों का होता है। पदार्थों के नाश और सर्जन का भ्रम हमें इसीलिए होता है कि हम पदार्थों से वस्तुओं को और विशेषतः अदृश्य गैसों को निकलते हुए अथवा उनमें मिलते हुए नहीं देख सकते।

(२) निश्चित अनुपात का नियम—इस नियम के अनुसार कोई भी रासायनिक यौगिक, वह चाहे कहीं भी मिले अथवा किसी भी प्रकार से तैयार किया जाय, सदैव उन्हीं तत्त्वों के उन्हीं भार-संबंधी अनुपातों में संयुक्त होने से बना होता है। यथा, पानी चाहे जहाँ से लिया जाय या किसी प्रकार से बनाया जाय, उसमें सदैव हाइड्रोजन और ऑक्सिजन तत्त्व १:२ के भारीय अनुपात में संयुक्त रहते हैं। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक विभिन्न वैज्ञानिकों के प्रयोगात्मक प्रयासों द्वारा इस नियम का विकास होता रहा। इन वैज्ञानिकों में जीन रे, आइजक न्यूटन, जी० ई० स्टाल, एफ० जी० रुएल, सी० एफ० वेन्जेल और टी० बर्गमन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अंततः उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जे० ए० प्राउस्ट ने इस नियम का इस प्रकार समर्थन किया--

"लोहे की ऑक्साइडों में, चाहे वे उत्तर से लाई गई हों अथवा दक्षिण से, अभी तक कोई अन्तर नहीं देखा गया है; जापान के सिनाबार (रक्त हिंगुल) का संगठन वही होता है, जो स्पेन के सिनाबार का; सिल्वर क्लोराइड, चाहे वह पेरू से लाई गई हो या साइबेरिया से, हूबहू एक ही होती है; संसार भर में केवल एक ही सोडियम क्लोराइड, एक ही शोरा, एक ही कैल्शियम सल्फेट और एक ही बेरियम सल्फेट होता है। विश्लेषण इन तथ्यों का पग-पग पर समर्थन करता है।"

फ्रेंच रसायनवेत्ता गे-लूजक।

प्राउस्ट का विरोधी बर्थोले चुप हो गया और यह नियम अटल सत्य की भाँति सदा के लिए स्थापित हो गया। इसीलिए इस नियम को बहुधा 'प्राउस्ट का नियम' कहते हैं।

डाल्टन का परमाणुवाद इस नियम की कसौटी पर भी खरा उतरा। कारण, यह नियम डाल्टन के अनुमानों द्वारा पूर्णतः प्रमाणित किया जा सकता है। डाल्टन के अनुमान कि (क) किसी विशेष यौगिक का चरम कण सदैव उन्हीं परमाणुओं की उन्हीं संख्याओं से बना होता है, और (ख) एक ही तत्त्व के परमाणुओं का भार वही रहता है, इस नियम की पूर्णतः व्याख्या कर देते हैं। उदाहरणार्थ, कार्बन डाइऑक्साइड के चरम कण में सदैव एक कार्बन का परमाणु और दो ऑक्सिजन के परमाणु रहते हैं; और इन दोनों परमाणुओं के भार भी स्थिर रहते हैं। अतएव कार्बन डाइऑक्साइड में इन दोनों तत्त्वों का भारात्मक अनुपात सदैव वही रहेगा।

(३) अपवर्त्य अनुपातों का नियम—जब कार्बन कार्बन मोनॉक्साइड में परिणत होता है, तो हम प्रयोगों द्वारा देखते हैं कि कार्बन के १२ भारांश ऑक्सिजन के १६ भारांशों से संयुक्त होते हैं। फिर कार्बन के कार्बन डाइऑक्साइड में परिणत होने में हम देखते हैं कि कार्बन के १२ भाग ऑक्सिजन के ३२ भागों से संयुक्त होते हैं। अतएव कार्बन के उसी भार से ऑक्सिजन के जो परिमाण संयुक्त होते हैं, उसमें एक सरल निष्पत्ति (अर्थात् १:२) है, और दोनों किसी संख्या के अपवर्त्य हैं। इसी प्रकार यदि हम ऑक्सिजन का भार दोनों क्रियाओं में एक ही--यथा १६--लें, तो पहली क्रिया में कार्बन का भार १२ और दूसरी क्रिया में ६ हो जाएगा और ऑक्सिजन के उसी भार से संयुक्त होनेवाले कार्बन के परिमाणों में एक सरल निष्पत्ति (अर्थात् २:१) होगी। जब कभी दो तत्त्व संयुक्त होकर एक से अधिक यौगिक बनाते हैं, तो इनमें से किसी एक तत्त्व के निश्चित भार से दूसरे तत्त्व के जो विभिन्न भार संयुक्त होते हैं, उनमें एक सरल निष्पत्ति पाई जाती है, और ये भारात्मक संख्याएँ किसी संख्या की अपवर्त्य होती हैं। यही महत्वपूर्ण नियम 'अपवर्त्य अनुपातों का नियम' कहलाता है।

नाइट्रोजन और ऑक्सिजन गैसें संयुक्त होकर पाँच प्रकार की ऑक्साइडें बनाती हैं। इसी बिना पर प्रयोगों द्वारा इन ऑक्साइडों में दोनों तत्त्वों के भारात्मक अनुपातों को निकालकर इस नियम का एक बड़ा ही अच्छा उदाहरण दिया जा सकता है। नाइट्रोजन का निश्चित भार १४ लेने पर प्रयोगों के परिणामानुसार विभिन्न ऑक्साइडों में ऑक्सिजन के जो

भार पाए गए, उनके आँकड़े निम्न प्रकार से हैं:—

नाइट्रस ऑक्साइड	८
नाइट्रिक ऑक्साइड	१६
नाइट्रोजन ट्राइऑक्साइड	२४
नाइट्रोजन परॉक्साइड	३२
नाइट्रोजन पेंटाक्साइड	४०

अतएव ऑक्सिजन के विभिन्न भारों में १:२:३:४:५ की सरल निष्पत्ति हुई और सभी संख्याएँ ८ की अपवर्त्य हुईं। सब से पहले १८०२ ई० में, डाल्टन ही अपने प्रयोगात्मक निरीक्षणों की सहायता से इस नियम पर पहुँचा था। इस नियम से उसके परमाणुवाद के बनने में अवश्य सहायता मिली होगी। इस नियम की व्याख्या के लिए क तत्त्व और ख तत्त्व के एक यौगिक में १ परमाणु क और २ परमाणु ख तत्त्व के मान लीजिए। यदि दूसरे यौगिक में २ परमाणु क और ३ परमाणु ख के हैं, तो पहली दशा में क के २ परमाणुओं से ख के ४ परमाणु और दूसरी में क के परमाणुओं की उसी संख्या से ख के ३ परमाणु संयुक्त होते हैं। अतः क ख के परमाणुओं में ४:३ की सरल निष्पत्ति हुई। सरल निष्पत्ति से मतलब यह है कि उसकी सरलतम पूर्ण संख्याएँ छोटी अर्थात् प्रायः ५ से अधिक न हों। १८०८ ई० में टामसन ने और १८१२ ई० बर्जीलियस ने प्रयोगों द्वारा इस नियम को पूर्णतः स्थापित कर दिया। फलतः डाल्टन के 'परमाणुवाद' में लोगों का विश्वास और भी बढ़ गया।

(४) पारस्परिक अनुपातों अथवा तुल्य भारों का नियम—उदाहरणार्थ, हाइड्रोजन, ऑक्सिजन और कार्बन इन तीन मूल तत्त्वों को ले लीजिए। हाइड्रोजन और ऑक्सिजन दोनों गैसें कार्बन से पृथक्-पृथक् संयुक्त होती हैं। प्रयोगों द्वारा यह निकाला जा चुका है कि हाइड्रोजन के १ भारांश और कार्बन के ३ भारांशों के संयोग से मीथेन नामक गैस का उत्पादन होता है और ऑक्सिजन के आठ भारांश और कार्बन के उतने ही भारांशों के संयोग से कार्बन डाइअक्साइड गैस उत्पन्न होती है। अतएव उतने ही कार्बन से संयुक्त होनेवाले हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के भारांशों में $\frac{१}{८}$ का अनुपात हुआ। जब हाइड्रोजन और ऑक्सिजन स्वयं आपस में संयुक्त होकर पानी को बनाती हैं, तो उनके भारांशों में $\frac{१}{२}$ का अनुपात रहता है। अतएव प्रथम अनुपात और इस अनुपात में $\frac{१}{२}$: $\frac{१}{८}$ अथवा १:१ की सरल निष्पत्ति हुई। फिर हाइड्रोजन और ऑक्सिजन गैसें जब $\frac{१}{१६}$ के भारात्मक अनुपात में संयुक्त होती हैं, तो हाइड्रोजन पराक्साइड बनता है। अतएव प्रथम अनुपात और इस अनुपात में भी $\frac{१}{८}$: $\frac{१}{१६}$ अर्थात् २ : १ की सरल-निष्पत्ति हुई।

यही नहीं, अब एक ऐसी क्रिया सोचिए, जिसमें हाइड्रोजन और ऑक्सिजन पृथक्तः किसी अन्य तत्त्व से संयुक्त हों। गंधक का ही उदाहरण ले लीजिए। हम प्रयोगों द्वारा यह देखते हैं कि हाइड्रोजन का एक भारांश गंधक के १६ भारांशों से संयुक्त होकर हाइड्रोजन सल्फाइड (रसायनशाला की बदबूदार गैस) बनाता है; और ऑक्सिजन के १६ भारांश गंधक के १६ भारांशों से जब संयुक्त होते हैं, तो सल्फर डाइऑक्साइड गैस उत्पन्न होती है। अतएव यहाँ गंधक के उसी भार से संयुक्त होते हुए भारों में $\frac{१}{१६}$ का अनुपात हुआ। प्रथम अनुपात और इस अनुपात में भी $\frac{१}{८}$: $\frac{१}{१६}$ अर्थात् २:१ की सरल निष्पत्ति हुई। इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

हम देखते हैं कि उस अनुपात का, जिसमें दो तत्त्व किसी तीसरे तत्त्व के निश्चित भार से संयुक्त होते हैं, उस अनुपात से, जिसके परस्पर अथवा पृथक्तः किसी अन्य तत्त्व के निश्चित भार से संयुक्त होते हैं, एक सरल निष्पत्ति होती है। यही पारस्परिक अनुपातों का नियम है। ऊपर दी हुई क्रियाओं में हम देखते हैं कि हाइड्रोजन का १, ऑक्सिजन के ८ अथवा १६, कार्बन के ३, और गंधक के ८ अथवा १६ भारांश एक दूसरे से संयुक्त हो सकते हैं। अतएव इन संख्याओं को तुल्य भार§ कहते हैं। इसी से यह नियम 'तुल्य भारों का नियम' भी कहा जाता है। रिक्टर महोदय ने १७९० ई० में अपने कुछ प्रयोगों के आधार पर इस नियम की ओर पहले-पहल संकेत किया था। अतएव यह नियम बहुधा 'रिक्टर का नियम' भी कहलाता है। १८१०–१८१२ ई० में बर्जीलियस ने बड़ी ही सावधानी से अनेकानेक प्रयोगों द्वारा इस नियम को पूर्णतः स्थापित कर दिया। इस नियम की व्याख्या भी परमाणुवाद के आधार पर स्पष्ट की जा सकी है। मान लीजिए क तत्त्व ग तत्त्व से संयुक्त होता है, तो डाल्टन के परमाणुवाद के छठे अनुमान के अनुसार क और ग के यौगिक के चरमकण में उसके परमाणुओं की संख्याएँ किसी सरल निष्पत्ति में ही होंगी। मान लीजिए कि यह निष्पत्ति १:३ है। अब मान लीजिए कि ख तत्त्व और ग तत्त्व में इसी प्रकार की निष्पत्ति १:१ है। अतएव क और ख के उन परमाणुओं में जो ग के उतने ही परमाणुओं से संयुक्त होते हैं, $\frac{१}{३}$ का अनुपात हुआ। अब चूंकि डाल्टन के अनुमान (३) के अनुसार किसी तत्त्व के परमाणु

---

§ तुल्य भार की आधुनिक परिभाषा यह है—किसी तत्त्व का तुल्य भार उसके उतने भारांशों की संख्या है, जो हाइड्रोजन के एक भारांश के साथ ऑक्सिजन के ८ भारांशों से अथवा क्लोरीन के ३५·५ भारांशों से संयुक्त हो सके, अथवा उन्हें यौगिकों से हटा दे सके।

का भार सदैव वही होता है, अतएव क और ख के परमाणु-भारों में, जो ग के एक निश्चित भार से संयुक्त होते हैं, $\frac{१ \times \text{क का परमाणुभार}}{३ \times \text{ख का परमाणुभार}}$ का अनुपात हुआ। अब मान लीजिए कि जब क और ख स्वयं परस्पर अथवा किसी अन्य तत्त्व से मिलते हैं, तो उनके संयुक्त होते हुए परमाणुओं में १ : २ की निष्पत्ति हुई, अर्थात् इन दोनों में परमाणु-भार-सम्बन्धी अनुपात $\frac{२ \times \text{क का परमाणुभार}}{१ \times \text{ख का परमाणुभार}}$ होता है। अतएव पहले और दूसरे अनुपात में

$$\frac{१ \times \text{क का परमाणभार}}{३ \times \text{ख का परमाणुभार}} : \frac{१ \times \text{क का परमाणुभार}}{२ \times \text{ख का परमाणुभार}}$$

= २ : ३ की निष्पत्ति हुई, और यह निष्पत्ति सरल है।

इस प्रकार प्रत्येक बार डाल्टन का परमाणुवाद विभिन्न कसौटियों पर कसा जाने पर खरा ही उतरा। ७८ वर्ष की आयु में २७ जुलाई, १८४४ ई०, को डाल्टन इस संसार से चल बसा। कौन जानता था कि कंबरलैंड का वह छोटा-सा स्कूल-मास्टर कणाद के परमाणुवाद को आगे बढ़ाकर उसे एक युग-प्रवर्तक वैज्ञानिक रूप प्रदान कर सकेगा ?

ऐवोगैड्रो।

गे-लूजक का गैसीय आयतनों के संयोग का सिद्धांत

जिस समय डाल्टन अपने परमाणुवाद के निरूपण में व्यस्त था, उसी समय (लगभग १८०५ ई० में) फ्रांस में गे-लूजक हवा के संगठन पर प्रयोग कर रहा था। उसका साथी ए० वान हम्बोल्ट संसार के विभिन्न भागों से हवा के नमूने यह देखने के लिए ले आया था कि हवा का संगठन सर्वत्र वही होता है अथवा नहीं। इन दोनों वैज्ञानिकों ने हवा से ऑक्सिजन पृथक् करने के लिए उसे हाइड्रोजन के साथ बार-बार विस्फुटित किया और देखा कि प्रत्येक बार ऑक्सिजन का एक आयतन हाइड्रोजन के पूरे दो आयतनों से संयुक्त होता है। इस आयतनिक अनुपात की सरलता की ओर उसका ध्यान आकृष्ट हुआ। उसने सोचा, संभव है कि गैसों की अन्य क्रियाओं में भी यही सरलता मिले। अब तक अनेक गैसों का आविष्कार हो चुका था। उसने इस संबंध में बहुत-से प्रयोग कर डाले और सर्वत्र अनुपातों की उसी सरलता से उसकी भेंट हुई। उदाहरणार्थ, ताप और दबाव वही रखने पर हाइड्रोजन का एक आयतन क्लोरीन के एक आयतन से संयुक्त होकर हाइड्रोजन क्लोराइड गैस के दो आयतन बनाता है; हाइड्रोजन के दो आयतन ऑक्सिजन के एक आयतन से संयुक्त होकर भाप के दो आयतनों में परिणत हो जाते हैं; हाइड्रोजन के तीन आयतन और नाइट्रोजन के एक आयतन के संयोग से अमोनिया के दो आयतन उत्पन्न होते हैं। उसने देखा कि ताप और दबाव की दशाएँ वही रहते हुए जब गैसों में परस्पर कोई प्रतिक्रिया होती हैं, तो उनके क्रियाशील आयतनों में एक सरल निष्पत्ति रहती है और उत्पन्न पदार्थ भी गैसीय हुआ, तो क्रियाशील गैसों और उत्पन्न गैस के आयतनों में भी एक सरल निष्पत्ति रहती है। गे-लूजक ने १८०८ ई० में अपने इस महत्वपूर्ण नियम को विज्ञान-जगत् को भेंट कर दिया। स्वीडन के विख्यात रसायनशास्त्री बर्ज़ीलियस ने इस अनुमान द्वारा इस नियम की व्याख्या करनी चाही कि एक ही दबाव और ताप पर गैसों के बराबर आयतनों में परमाणुओं की संख्या बराबर होती है, अर्थात् सभी गैसों के परमाणु बराबर-बराबर जगह घेरते हैं। अतएव चूँकि डाल्टन के अनुसार भी परमाणु सरल अनुपात में ही संयुक्त होते हैं, इसलिए उनके आयतनों में भी निश्चय ही सरल अनुपात होना चाहिए।

बर्ज़ीलियस ने इस प्रकार गे-लूजक और डाल्टन के नियमों में सामंजस्य स्थापित करना चाहा; लेकिन डाल्टन स्वयं बर्ज़ीलियस से सहमत नहीं हो सका। डाल्टन की कठिनाई एक उदाहरण द्वारा आप भली प्रकार समझ सकते हैं। हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस के दो आयतन हाइड्रोजन के एक आयतन और क्लोरीन के एक आयतन के संयोग से बनते हैं; अर्थात् बर्ज़ीलियस के अनुसार हाइड्रोजन क्लोराइड के दो परमाणु हाइड्रोजन और क्लोरीन के एक-एक परमाणु के संयुक्त होने से बनने चाहिएँ, अतएव हाइड्रोजन क्लोराइड का एक परमाणु हाइड्रोजन के आधे परमाणु और क्लोरीन के आधे परमाणु के संयोग से बनना चाहिए ! ये आधे परमाणु कैसे ? डाल्टन के

मत के अनुसार तो परमाणु खंडित हो ही नहीं सकते ! फिर इन आधे-आधे परमाणुओं का अस्तित्व कैसा ? यही कठिनाई अन्य क्रियाओं में भी पड़ी। अनेकों परीक्षाओं द्वारा समर्थित डाल्टन के परमाणुवाद के सामने बर्जीलियस की व्याख्या को किसी ने स्वीकार नहीं किया।

एवोगैड्रो का अणु-संबंधी सिद्धान्त

तब १८११ ई० में इटली के प्रतिभाशाली वैज्ञानिक एवोगैड्रो को यह सूझा कि यह आवश्यक नहीं कि हाइड्रोजन, क्लोरीन आदि गैसों के चरम कणों में एक-ही-एक परमाणु रहता हो। उसने अनुमान किया कि हाइड्रोजन, क्लोरीन आदि गैसों के कणों में कम से कम दो परमाणु अवश्य होने चाहिए। तत्त्वों अथवा यौगिकों के एक से अधिक परमाणुवाले कणों का नाम उसने 'मॉलीक्यूल' (अणु) रखा। उसने कहा कि परमाणु तो द्रव्य का वह सूक्ष्मतम कण है, जो रासायनिक क्रियाओं में भाग लिया करता है; किंतु 'अणु' द्रव्य का वह सूक्ष्मतम कण है, जो मुक्त अवस्था में रह सकता है और जिसमें द्रव्य के सभी गुण पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, ऑक्सिजन गैस मुक्तावस्था में अपने अणुओं के रूप में ही रहा करती है। इन अणुओं में उसके दो-दो परमाणु रहते हैं और इनके ही गुण ऑक्सिजन गैस के गुण होते हैं। लेकिन रासायनिक क्रियाओं में भाग लेनेवाले ऑक्सिजन के चरम कण उसके परमाणु होते हैं। मैग्नेशियम के एक परमाणु से ऑक्सिजन का एक परमाणु ही संयुक्त होकर मैग्नेशियम ऑक्साइड बनाता है। इस प्रकार एवोगैड्रो की दिव्य दृष्टि द्वारा अणुओं का भेद भी खुल गया।

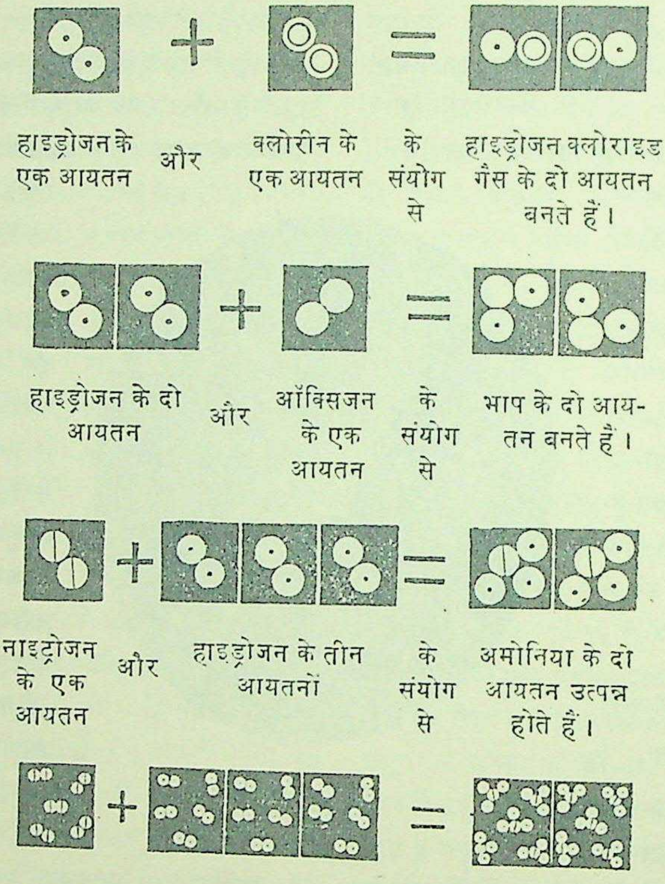
हाइड्रोजन के एक आयतन
और
क्लोरीन के एक आयतन
के संयोग से
हाइड्रोजन क्लोराइड गैस के दो आयतन बनते हैं।
हाइड्रोजन के दो आयतन
और
ऑक्सिजन के एक आयतन
के संयोग से
भाप के दो आयतन बनते हैं।
नाइट्रोजन के एक आयतन
और
हाइड्रोजन के तीन आयतनों
के संयोग से
अमोनिया के दो आयतन उत्पन्न होते हैं।

[जो बात एक अणु के लिए सत्य है, वही अणुओं की संख्या के लिए भी सत्य है, यह इस चित्र से स्पष्ट है।]
गे-लूजक के आयतनिक अनुपातों के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण।

इन विचारों के आधार पर एवोगैड्रो ने बर्जीलियस के अनुमान को सुधारा और स्वयं अपने महान् सिद्धान्त की घोषणा की कि 'ताप और दबाव की उन्हीं अवस्थाओं में गैसों के बराबर आयतनों में अणुओं की संख्या एक ही होती है।' अर्थात् उन्हीं दशाओं में प्रत्येक गैसीय अणु एक ही जगह घेरता है। अणुओं के देश में प्रत्येक अणु को रहने के लिए उतनी ही जगह दी जाती है, चाहे 'अणु' नामक उस समूह में कितने ही परमाणु क्यों न हों। एवोगैड्रो के सिद्धान्त के अनुसार ऊपर दी हुई हाइड्रोजन और क्लोरीन की क्रिया में हाइड्रोजन क्लोराइड के दो अणु हाइड्रोजन के एक अणु और क्लोरीन के एक अणु के संयोग से बनते हैं, अतएव हाइड्रोजन क्लोराइड का एक अणु हाइड्रोजन के आधे अणु और क्लोरीन के आधे अणु के संयोग से बनता है। एवोगैड्रो ने अनुमान किया कि हाइड्रोजन और क्लोरीन के अणुओं में दो-दो परमाणु होने चाहिए, जिससे यह निष्कर्ष निकला कि हाइड्रोजन क्लोराइड के एक अणु में हाइड्रोजन का एक परमाणु (आधा अणु) और क्लोरीन का एक परमाणु (आधा अणु) होना चाहिए। प्रयोगात्मक निरीक्षणों द्वारा उसके ये अनुमान अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुए। यही नहीं, गैसों की सभी रासायनिक क्रियाओं में उसके सरल आयतनिक अनुपातों की व्याख्या एवोगैड्रो के सिद्धान्त के अनुसार सरलता से हो सकी। गे-लूजक के नियम के सम्बन्ध में दिए हुए तीनों उदाहरण एवोगैड्रो के सिद्धान्त के आधार पर इसी पृष्ठ के मानचित्रों में समझाए गए हैं। सब से नीचे के चित्र में यह दिखाया गया है कि जो बात एक अणु के लिए सत्य है, वही अणुओं की किसी भी संख्या के लिए भी सत्य है।

मूल तत्त्वों में समाज-व्यवस्था ::
परमाणुओं की संयोजन-शक्तियाँ

मानव समाज में स्त्री-पुरुष के मिलन अथवा विवाह की अनेक प्रथाएँ प्रचलित हैं। अधिकांशतः एक पुरुष और एक स्त्री ही विवाह द्वारा संयुक्त होते हैं। कहीं-कहीं एक पुरुष एक साथ एक से अधिक स्त्रियों से भी विवाह करता है; और कहीं-कहीं एक स्त्री भी कई पतियों से एक साथ विवाह करती है। परमाणुओं के संसार की सम्मिलन-प्रथाएँ भी मानव-प्रथाओं से कुछ कम रोचक नहीं हैं। अंतर केवल यही है कि परमाणु निर्जीव होते हैं, अतः उनका पारस्परिक संयोग स्वेच्छा से नहीं, प्रकृति के नियमों के अनुसार ही संभव है।

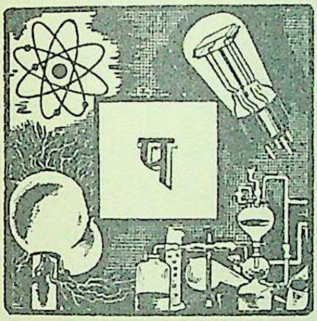

परमाणुओं का संयोग सरल संख्याओं में ही होता है, जो आठ से अधिक कभी नहीं बढ़तीं। डाल्टन ने अपने परमाणुवाद में यही तो कहा है। मूल तत्वों के विभिन्न परमाणुओं की संयोजन-शक्ति निश्चित रहती है। इसी संयोजन-शक्ति के अनुसार वे परस्पर अपना संबंध स्थापित करते हैं।

विविध तत्त्वों की संयोजन-शक्तियों का निर्धारण

विविध तत्त्वों के परमाणुओं की संयोजन-शक्ति की माप वैज्ञानिकों ने इस प्रकार निकाली है। हाइड्रोजन सब से हलका तत्त्व है। इसके अतिरिक्त वह उन तत्त्वों में है, जिसकी संयोजन-शक्ति सब से कम होती है। अतएव वैज्ञानिकों ने हाइड्रोजन की संयोजन-शक्ति को १ माना है और इसी इकाई के आधार पर अन्य मूल तत्त्वों की संयोजन-शक्तियों को निर्धारित कर दिया है। उदाहरणार्थ, हाइड्रोजन का एक परमाणु क्लोरीन के एक परमाणु से संयुक्त होकर नमक का अम्ल बनाता है, अतएव क्लोरीन की भी संयोजन-शक्ति १ हुई। हाइड्रोजन के दो परमाणुओं और ऑक्सिजन के एक परमाणु के संयोग से पानी बनता है, अतएव ऑक्सिजन की संयोजन-शक्ति २ हुई। यही नहीं, अब क्लोरीन और ऑक्सिजन के आधार पर इनसे संयुक्त होनेवाले अन्य तत्त्वों की शक्तियाँ भी निश्चित हो सकती हैं; यथा क्लोरीन के एक परमाणु और सोडियम के एक परमाणु के संयोग से नमक का उत्पादन होता है, अतः सोडियम की संयोजन-शक्ति १ हुई। क्लोरीन के दो परमाणु कैल्शियम के १ परमाणु से संयुक्त होकर कैल्शियम क्लोराइड उत्पन्न करते हैं; अतएव कैल्शियम की शक्ति २ हुई। ऑक्सिजन के एक परमाणु और मैग्नेशियम के एक परमाणु के संयोग से मैग्नेशियम ऑक्साइड बनता है, अतः मैग्नेशियम की संयोजन-शक्ति २ हुई।

मनुष्य-समाज की भाँति मूल तत्त्वों में भी संयोग के साथ विच्छेद, अपहरण आदि की भी बाहुल्यता है। अतः केवल संयोग से ही नहीं, वरन् इस बात से भी किसी तत्त्व की संयोजन-शक्ति निश्चित की जाती है कि अपहरण के पश्चात् उसका एक परमाणु किस संयोजन-शक्ति के कितने परमाणुओं को स्थानांतरित कर देता है! जैसे, जस्ते का एक परमाणु हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड से क्लोरिन का अपहरण करके हाइड्रोजन के दो परमाणुओं को निकाल बाहर कर देता है; अतः जस्ते की संयोजन-शक्ति २ हुई। इसी प्रकार नाना विधियों से समस्त मूल तत्त्वों की संयोजन-शक्ति निश्चित की जा चुकी है। इसी संयोजन-शक्ति को अंग्रेजी में 'वैलेन्सी' कहते हैं। संक्षेप में किसी तत्त्व की संयोजन-शक्ति उस संख्या को कहते हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि उस तत्त्व का एक परमाणु हाइड्रोजन के कितने परमाणुओं से संयुक्त होता अथवा उसके कितने परमाणुओं को स्थानांतरित करता है।

ऑक्सिजन की संयोजन-शक्ति २, नाइट्रोजन की ३ और कार्बन की ४ होती है। हम चित्र-सूत्रों में इन संयोजन-शक्तियों को इस प्रकार प्रदर्शित किया करते हैं—

$-O-$ $-\overset{|}{N}-$ $-\underset{|}{\overset{|}{C}}-$

इन संकेतों से लगी हुई रेखाएँ परमाणुओं की संयोजन-शक्ति को प्रदर्शित करती हैं। यहाँ पर दिए गए चित्रों में परमाणुओं को पुतली का रूप देकर और उनकी संयोजन-शक्ति को बाहु का रूप देकर तथ्यों की मनोरंजकता को और भी बढ़ा दिया गया है। प्रकृति में इन परमाणुओं का अस्तित्व एकाकी रूप में नहीं रहता, कारण अकेले में उनकी संयोजन-शक्ति परितृप्त नहीं हो सकती। हाँ, रासायनिक क्रिया में वे अवश्य भाग लेते हैं, परन्तु उसके पश्चात् ही संयोग द्वारा वे अपनी संयोजन-शक्ति को संतृप्त करके स्थिर रूप में आ जाते हैं। किसी मूल तत्त्व के परमाणुओं को जब तक किसी अधिक आकर्षक तत्त्व के परमाणुओं के साथ अनुकूल दशाओं में मिलने का अवसर नहीं दिया जाता, तब तक वे आपस में ही अनेक प्रकार से सहजीवन व्यतीत करते हैं। जिन समूहों में किसी तत्त्व के परमाणु इस प्रकार साथ-साथ रहते हैं, उन्हीं को उस तत्त्व के 'अणु' कहते हैं। यह समसंयोग भी संयोजन-शक्ति के अनुसार ही होता है। अधिकतर गैसों के अणुओं में दो-दो परमाणु रहते हैं। यहाँ पर दिए हुए हाइड्रोजन, ऑक्सिजन तथा नाइट्रोजन के अणुओं के पुतली-रूप चित्र बड़े ही सार्थक हैं। इनसे स्पष्टतः प्रदर्शित हो जाता है कि संयोजन-भुजाओं द्वारा दो-दो परमाणु किस प्रकार परस्पर संबद्ध रहते हैं। वैज्ञानिक लोग संकेतों और संयोजन-बंधनों द्वारा इन्हीं अणुओं के चित्र-सूत्रों को प्रायः इस प्रकार से अंकित किया करते हैं, जैसा कि नीचे के संकेतों में दिखाया गया है——

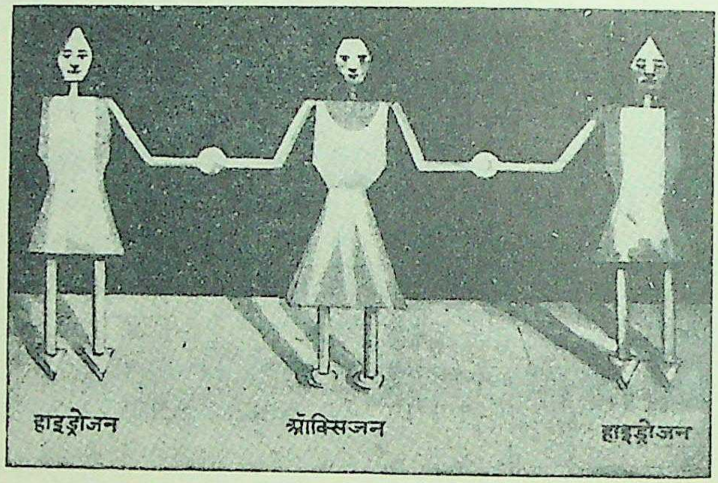

हाइड्रोजन के दो परमाणुओं और ऑक्सिजन के एक परमाणु के संयोग से पानी का एक अणु बनता है। अतः ऑक्सिजन की संयोजन-शक्ति २ हुई। चित्र में इनकी एक-एक बाहु एक-एक संयोजन-शक्ति की द्योतक है।

$H-H$ $O=O$ $N\equiv N$

ओजोन गैस के एक अणु में ऑक्सिजन के तीन परमाणु परस्पर संबद्ध रहते हैं। इसीलिए ओजोन का चित्र-सूत्र इस प्रकार से लिखा जाता है ——

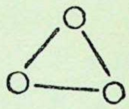

द्रव तथा ठोस तत्त्वों के एक-एक अणु में संयोजन-शक्ति द्वारा अनेकानेक परमाणु परस्पर संबद्ध रहते हैं। इनकी संख्या इतनी अधिक रहती है कि अनेक तत्त्वों के विषय में अभी तक वह निश्चित नहीं की जा सकी है। कार्बन और पारद के अणु इसी प्रकार की श्रेणी में आते हैं।

मूल तत्त्वों में धातु तत्त्व पुरुषों और अधातु स्त्रियों के समान होते हैं। मानव समाज में, विशेषतः जब पुरुषों और स्त्रियों का समागम स्वच्छन्दतापूर्वक नहीं होता, पुरुष और स्त्रियाँ परस्पर मित्रता की भावनाओं द्वारा भी संबद्ध रहते हैं, और यह आवश्यक नहीं कि ऐसे पुरुष अथवा स्त्रियाँ एक ही कुटुंब के हों। मूल तत्त्वों के समाज में भी, विशेषतः अधातु तत्त्वों में, यही बात पाई जाती है। कार्बन और ऑक्सिजन दोनों अधातु तत्त्व हैं, किंतु दोनों तत्परतापूर्वक अपनी संयोजन-शक्ति के बल से संबद्ध होकर एक सम्मिलित जीवन व्यतीत करते हैं। कार्बन चतुर्शक्तिक है और ऑक्सिजन द्विशक्तिक है, अतः कार्बन का एक परमाणु ऑक्सिजन के दो परमाणुओं से संयुक्त होकर कार्बन डाइऑक्साइड का एक अणु बना देता है। कभी-कभी ऑक्सिजन के परमाणु पर्याप्त संख्या में प्राप्त नहीं होने पर, कार्बन का एक परमाणु ऑक्सिजन के एक ही परमाणु से संबद्ध हो पाता है। इस दशा में कार्बन डाइऑक्साइड ($O=C=O$) न बनकर कार्बन मोनॉक्साइड

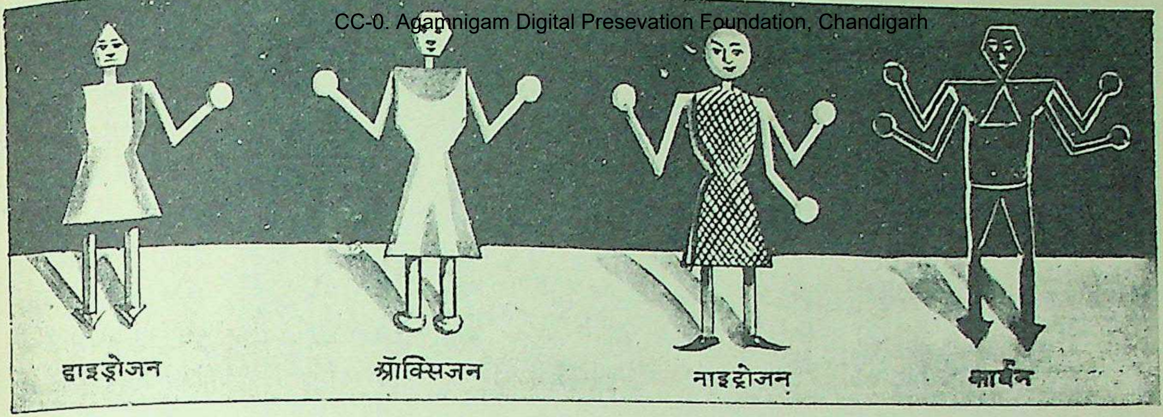

हाइड्रोजन एकशक्तिक, ऑक्सिजन द्विशक्तिक, नाइट्रोजन त्रिशक्तिक और कार्बन चतुर्शक्तिक है। ऊपर की पुतलियाँ इन्हीं तत्त्वों के परमाणुओं के प्रतीक हैं। जब तक इनकी संयोजन-शक्ति पूर्ण रूप से तृप्त नहीं हो जाती, इन्हें एकाकी रखना कठिन होता है।

(C=O) गैस ही उत्पन्न होती है। फलतः कार्बन मोनॉक्साइड के अणु में कार्बन की केवल दो संयोजन शक्तियों का ही उपयोग होता है। वास्तव में उसकी दो शेष शक्तियाँ अतृप्त रहती हैं। इसीलिए कार्बन मोनॉक्साइड ऑक्सिजन में तत्परतापूर्वक जलकर कार्बन डाइऑक्साइड में परिवर्तित हो जाती है। इसी प्रकार अन्य अनेक तत्त्व भी एक से अधिक संयोजन-शक्तियाँ प्रदर्शित करते हैं। उदाहरणस्वरूप, गंधक तत्त्व हाइड्रोजन सल्फाइड में २, सल्फर डाइऑक्साइड में ४, और सल्फर ट्राइऑक्साइड में ६ संयोजन-शक्तियों को प्रदर्शित करता है।

अधातु तत्त्वों के संयोग से इस प्रकार की जो समजातीय अणुरूप टोलियाँ बनती हैं, उनमें दृढ़ता नहीं होती है। इस प्रकार के समजातीय अणुओं की पारस्परिक संयोग-शक्ति को 'सम-संयोजन-शक्ति' कहते हैं।

परमाणुओं में विवाह

अधातुओं और धातुओं के संयोग से लवणों का बनना मानो स्त्री और पुरुष को विवाह द्वारा दंपति के रूप में संयुक्त कर देने जैसा है। सोडियम और क्लोरीन के संयोग से नमक क्या बनता है, मानो उनका विवाह हो जाता है। इस विवाह में पाणिग्रहण होते ही धातु धन-विद्युत्‌रूपी और अधातु ऋण-विद्युत्‌रूपी आकर्षण से आविष्ट हो जाते हैं और इसी प्रेम द्वारा वे परस्पर आकर्षित और सन्निकट रहते हैं। इसी प्रकार के विद्युदाविष्ट परमाणुओं को 'आयन' कहते हैं। इसीलिए इस प्रकार विवाह करनेवाली संयोजन-शक्ति को 'विद्युत्-संयोजन-शक्ति' के नाम से पुकारते हैं। इस संयोजन-शक्ति द्वारा संयुक्त परमाणु विद्युदाकर्षण द्वारा निकट तो रहते हैं, तथापि उनका अस्तित्व आयनों के रूप में स्वतंत्र रहता है। सम-संयोजन-

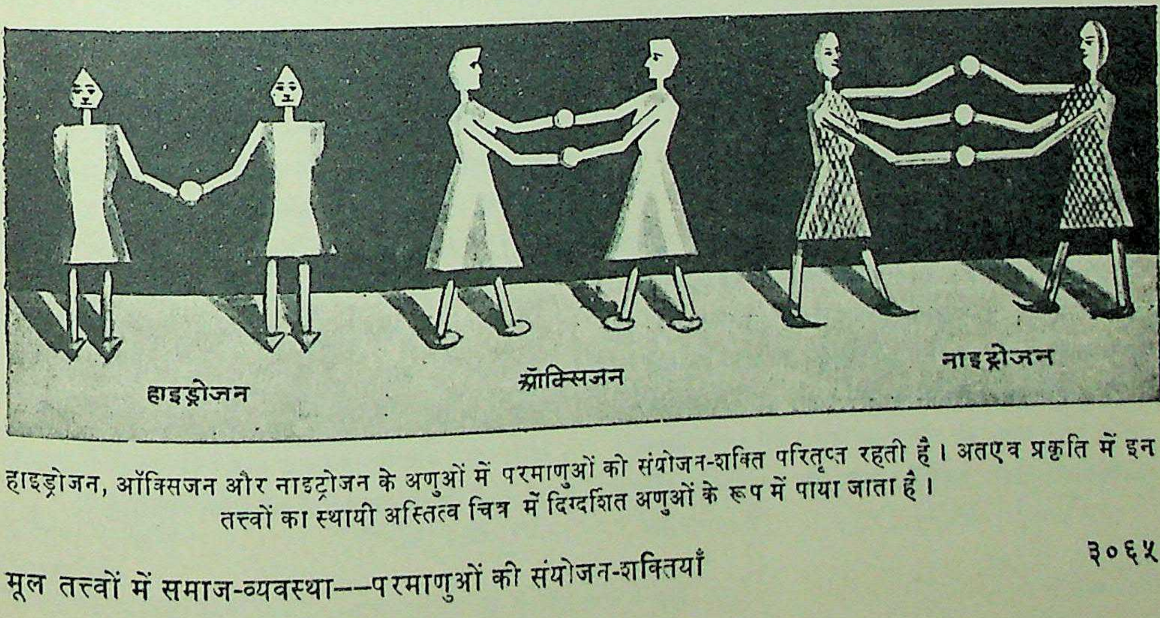

हाइड्रोजन, ऑक्सिजन और नाइट्रोजन के अणुओं में परमाणुओं की संयोजन-शक्ति परितृप्त रहती है। अतएव प्रकृति में इन तत्त्वों का स्थायी अस्तित्व चित्र में दिग्दर्शित अणुओं के रूप में पाया जाता है।

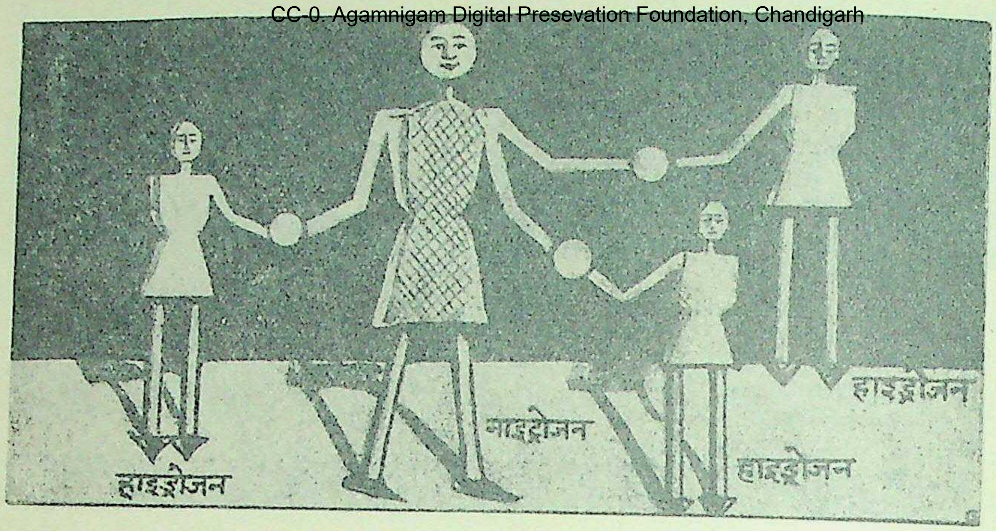

नाइट्रोजन का एक परमाणु हाइड्रोजन के तीन परमाणुओं से संयुक्त होकर अमोनिया बनाता है । अतः नाइट्रोजन की संयोजन-शक्ति ३ हुई ।

शक्ति' द्वारा वे संयुक्त परमाणुओं की भाँति परस्पर संबद्ध नहीं रहते । बिजली के प्रभाव से ये आयनिक अवयव विद्युत्-ध्रुवों की ओर अर्थात् धन आयन ऋण-ध्रुव की ओर और ऋण आयन धन-ध्रुव की ओर खिंच जाते हैं । अतएव विद्युत्-संयोजन-शक्ति द्वारा बने हुए यौगिकों को 'ध्रुवीय यौगिक' कहते हैं। नमक ध्रुवीय यौगिक है, किंतु कार्बन डाइऑक्साइड अध्रुवीय यौगिक होता है । कार्बन डाइऑक्साइड में परमाणुओं का न तो अस्तित्व ही पृथक् होता है और न वे विद्युदाविष्ट ही होते हैं । भला, स्त्रियों-स्त्रियों के बीच में स्त्री-पुरुषों का-सा आकर्षण कहाँ ? मूल तत्वों में विवाह परमाणुओं की संयोजन-शक्तियों के अनुसार ही होता है । जस्ता की संयोजन-शक्ति २ होती है और क्लोरीन की १, अतएव जस्ता का एक परमाणु क्लोरीन के २ परमाणुओं से संयुक्त होकर जिंक-क्लोराइड ($ZnCl_2$ अथवा $Cl{-}Zn{-}Cl$) बना देता है । अल्युमीनियम की संयोग-शक्ति ३ होती है, इसलिए वह क्लोरीन के ३ परमाणुओं से संयुक्त अलुमीनियम क्लोराइड ($AlCl_3$ अथवा $Cl{-}Al\begin{smallmatrix}\diagup Cl\\ \diagdown Cl\end{smallmatrix}$) में परिणत होता है । टिन क्लोराइड में टिन का एक परमाणु क्लोरीन के ४ परमाणुओं से संयुक्त है, क्योंकि टिन की संयोजन-शक्ति ४ है । बहुधा अनुकूल अवसर न प्राप्त होने के कारण वह क्लोरीन के दो ही परमाणुओं से संयुक्त होता है, अतएव वह अवसरानुसार दो विभिन्न संयोजन-शक्तियाँ २ और ३ को प्रदर्शित करता है । उसके निम्न लवण को स्टैनस क्लोराइड और उच्च लवण को स्टैनिक क्लोराइड कहते हैं । 'अस' और 'इक' क्रमशः निम्न और उच्च यौगिकों के लिए प्रयुक्त होते हैं । इसी प्रकार कुछ अन्य धातुएँ भी एक से अधिक संयोजन-शक्तियों को प्रदर्शित करती हैं । लोहे की संयोजन-शक्ति फेरस यौगिकों में २ और फेरिक में ३ होती है । इस प्रकार के ध्रुवीय यौगिकों के आयनिक अवयवों को बहुधा 'मूलक' कहते हैं । धातव अवयव को उसके धन-विद्युदाविष्ट होने के कारण 'धन मूलक' कहते हैं, और अधातव अवयव को उसके ऋण-विद्युदाविष्ट होने के कारण 'ऋण मूलक' कहते हैं, और इन दोनों मूलकों की संयोजन-शक्ति को क्रमशः 'धन संयोजन-शक्ति' और 'ऋण संयोजन-शक्ति' के नाम से पुकारते हैं ।

कुछ विशेष परमाणु-समूह भी धातुओं अथवा अधातुओं की भाँति धन अथवा ऋण संयोजन-शक्ति को प्रदर्शित करते हैं। नाइट्रोजन के एक परमाणु और हाइड्रोजन के चार परमाणुओं से निर्मित अमोनियम (NH_4) १ धन संयोजन-शक्ति प्रदर्शित करता है, मानो वह सोडियम-सरीखी धातु का एक परमाणु हो । ऐसे समूहों को 'यौगिक मूलक' कहते हैं । अमोनियम का किसी पृथक् पदार्थ के रूप में अस्तित्व नहीं होता, किंतु अन्य ऋण मूलकों से संयुक्त होकर लवणों आदि का यह उत्पादन करता है । अमोनियम क्लोराइड (नौसादर) में मानो क्लोरीन अमोनियम मूलक से ही विवाह कर लेता है । उसमें नाइट्रोजन पाँच संयोजन-शक्तियों को काम में लाता है--हाइड्रोजन के साथ चार ऋण और क्लोरीन के साथ १ धन, जैसा कि नीचे के चित्र-सूत्र में दिग्दर्शित है :--

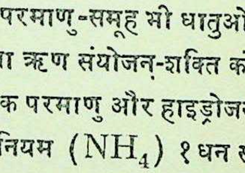

इसी प्रकार अमोनियम-मूलक अन्य स्त्री-मूलकों से संयुक्त होकर नाना अमोनियम लवणों को उत्पन्न करता हैं ।

ऋण जाति के मूलकों में नाइट्रेट (NO_3) में नाइट्रोजन के एक और ऑक्सिजन के तीन होते परमाणु हैं :—

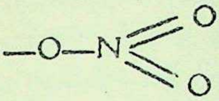

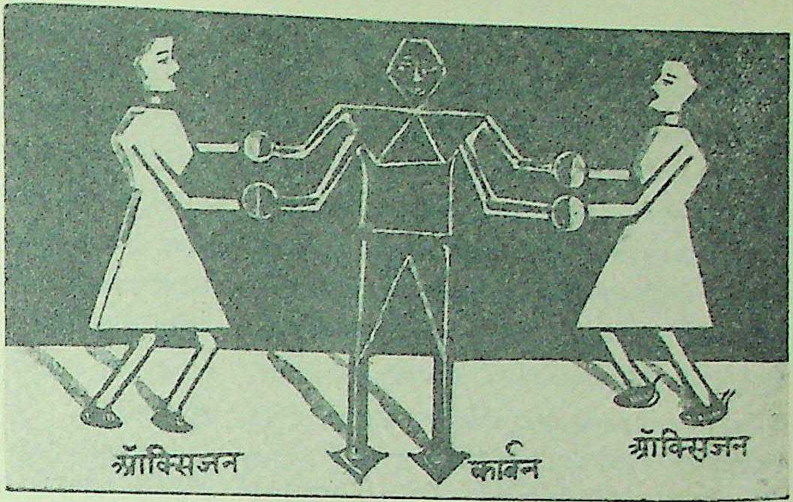

कार्बन डाइऑक्साइड के एक अणु में कार्बन नामक एक चतुर्भुजी अधातु स्त्री-तत्त्व ऑक्सिजन नामक दो स्त्री-तत्त्वीय द्विभुजियों से संबद्ध है।

इसमें ऑक्सिजन के एक परमाणु की एक संयोजन-शक्ति को छोड़कर अन्य सब परमाणुओं की संयोजन-शक्तियाँ पूर्णतः परितृप्त रहती हैं। इसी खाली संयोजन-शक्ति का उपयोग नाइट्रेट मूलक स्वयं अपने लिए करता है। पोटैशियम की संयोजन शक्ति १ है, अतएव पोटैशियम नाइट्रेट (KNO_3) (शोरा) का यौगिक बनता है। ताँबे की संयोजन-शक्ति २ है, अतः ताम्र नाइट्रेट [$Cu(NO_3)_2$] में ताँबे का एक परमाणु नाइट्रेट के दो मूलकों से संयुक्त रहता है। पोटैशियम नाइट्रेट और ताम्र नाइट्रेट के चित्र-सूत्र हम इस प्रकार लिखते हैं—

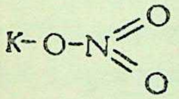

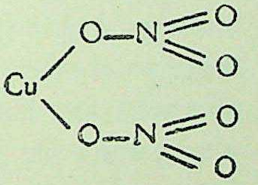

इसी प्रकार प्रायः सभी धातुओं के नाइट्रेट लवण होते हैं। सल्फेट ($=SO_4$) एक अन्य यौगिक स्त्री-मूलक होता है, जिसकी संयोजन-शक्ति २ होती है। अतएव वह दो एक-शक्तिक अथवा एक द्वि-शक्तिक-पुरुष परमाणु से संयुक्त होता है; और यदि पुरुष-परमाणु त्रि-शक्तिक हुआ, तो दो परमाणुओं की संयोजन-शक्ति वही हुई, जो तीन सल्फेटों की होगी। अतः दो त्रिशक्तिक परमाणुओं का विवाह तीन सल्फेटों से हो जाता है। जरा एक-शक्तिक सोडियम, द्वि-शक्तिक मैग्नेशियम और त्रि-शक्तिक अल्युमीनियम के सल्फेटों के चित्र-सूत्रों में परमाणुओं की अंतर्व्यवस्था पर विचार कीजिए—

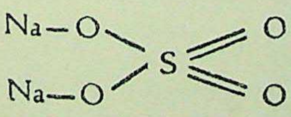

Na_2SO_4
(सोड़िमय सल्फेट)

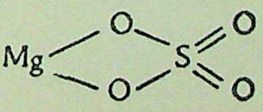

$MgSO_4$
(मैग्नेशियम सल्फेट)

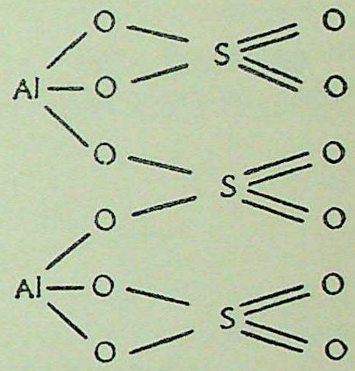

$Al_2(SO_4)_3$
(अल्युमीनियम-सल्फेट)

इस प्रकार के कुछ अन्य स्त्री (ऋण) यौगिक मूलक ये हैं—

कार्बोनेट (CO_3) द्वि-शक्तिक; नाइट्राइट (NO_2) एक-शक्तिक; सल्फाइट (SO_3) द्वि-शक्तिक; फास्फेट (PO_4) त्रि-शक्तिक; ऐसेटेट (CH_3CHO) एक-शक्तिक।

हाइड्रॉक्सिल (OH अथवा–O–H) एक विशेष प्रकार का एक-शक्तिक ऋण मूलक है, जो धातुओं से संयुक्त होकर हाइड्रॉक्साइड नामक क्षारीय यौगिकों की रचना करता है। क्षारों के विशेष गुण इसी मूलक के कारण होते हैं। उदाहरणार्थ, कास्टिक सोडा सोडियम हाइड्रॉक्साइड और चूने का क्षार कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड होता है :—

Na—O—H
NaOH
(कास्टिक सोडा)

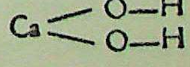

$Ca(OH)_2$ (बुझा चूना)

यौगिकों में हाइड्रोजन तत्त्व बहुरूपिए का काम करता है। कहीं तो (उदाहरणार्थ मीथेन (CH_4) गैस में) वह समसंयोजक-शक्ति प्रदर्शित करके उदासीन रूप धारण करता है; तो कहीं (जैसे सोडियम हाइड्राइड (NaH) में) वह स्त्री (ऋण मूलक) रूप ग्रहण कर लेता है। परन्तु जब हाइड्रोजन पुरुष-रूप धारण करके ऋण मूलकों से संयुक्त होता है, तो प्रायः अम्ल बनते हैं। धन-विद्युदाविष्ट हाइड्रोजन आयन सभी अम्लों का आवश्यक अंग होता है। नींबू और नारंगी, आम और सेब आदि प्रायः सभी फलों में खट्टापन इसी हाइड्रोजन आयन के कारण होता है। सब से महत्वपूर्ण तीन खनिज अम्ल हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड (हाइड्रोजन क्लोराइड HCl), नाइट्रिक ऐसिड (हाइड्रोजन नाइट्रेट HNO_3) और सल्फ्यूरिक ऐसिड (हाइड्रोजन सल्फेट H_2SO_4) होते हैं। इनमें प्रथम का सूत्र $H-Cl$ है तथा अन्य की रचना इस प्रकार है :—

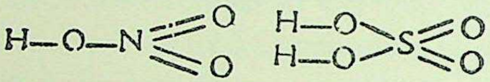

सिरके में ऐसेटिक ऐसिड (हाइड्रोजन ऐसेटेट $CH_3 COO. H$) होता है, जिसकी रचना यह है—

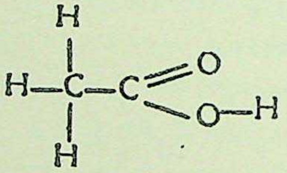

रासायनिक प्रतिक्रियाएँ

मानव समाज में प्रेम की प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप न केवल संयोग ही, वरन् तलाक या विच्छेद, अपहरण अथवा स्थानापत्ति (निकालकर जगह ले लेना) आदि घटनाएँ भी हुआ करती हैं। परमाणुओं का समाज भी इन घटनाओं से रिक्त नहीं है। परमाणुओं अथवा परमाणु-समूहों में होनेवाली इन प्रतिक्रियाओं को 'रासायनिक प्रतिक्रियाएँ' कहते हैं। ये सारी प्रतिक्रियाएँ संयोजन-शक्तियों के ही अनुसार होती हैं। यहाँ पर यह देख लेना भी असंगत न होगा कि ये रासायनिक प्रतिक्रियाएँ कितने प्रकार की होती हैं—

(१) संश्लेषण अथवा सरल संयोग—जब दो सरलतर अवयवों के परस्पर जुड़ जाने से कोई यौगिक बनता है, तो इसे 'संश्लेषण' अथवा 'सरल संयोग' कहते हैं। कार्बन के ऑक्सिजन में जलने पर कार्बन डाइऑक्साइड का बनना, हाइड्रोजन के ऑक्सिजन के साथ जलने पर पानी का बनना, सोडियम के क्लोरीन के साथ संयुक्त होने पर नमक का बनना तथा उसी का नाइट्रोजन के साथ संयोग होने पर अमोनिया का बनना आदि इसी प्रकार की प्रतिक्रिया के उदाहरण हैं।

(२) विश्लेषण अथवा सरल विच्छेदन—इस प्रकार की क्रियाओं में यौगिक सरलतर अवयवों में विच्छिन्न हो जाता है। बिजली की धारा के प्रभाव से पानी, हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड, नमक आदि क्रमशः हाइड्रोजन और ऑक्सिजन, हाइड्रोजन और क्लोरीन, सोडियम और क्लोरीन, आदि सरलतर अवयवों में विश्लिष्ट हो जाते हैं। पारदिक ऑक्साइड को ऊँचे ताप पर गरम करने से वह पारद और ऑक्सिजन में विच्छिन्न हो जाता है।

(३) स्थानापत्ति—इस रासायनिक क्रिया में किसी यौगिक से एक तत्त्व दूसरे को निकाल बाहर कर देता है और उसका स्थान स्वयं ले लेता है। जस्ता हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड से हाइड्रोजन की पत्नीरूप क्लोरीन को छीन लेता है और हाइड्रोजन बेचारे को निकलकर भागना पड़ता है! इस प्रकार जस्ते का एक परमाणु हाइड्रोजन के दो परमाणुओं को हटा देता है। जस्ते के एक परमाणु में उतनी ही संयोजन-शक्तियाँ होती हैं, जितनी हाइड्रोजन के दो परमाणुओं में; तथापि पुरुषत्व में जस्ता प्रबल पड़ता है! इसका कारण यह है कि जस्ते के परपरमाणु में धन-विद्युदाविष्ट होने की क्षमता हाइड्रोजन के दो परमाणुओं से अधिक होती है, अथवा यों कहिए कि जस्ते में हाइड्रोजन की अपेक्षा रासायनिक प्रीति अधिक होती है। कॉपर सल्फेट (नीला थोथा) के घोल में लोहा छोड़ने से लोहे का सल्फेट बनता है और ताँबा निकल पड़ता है। इसी तरह सिल्वर नाइट्रेट के घोल में ताँबा छोड़ने से ताम्र नाइट्रेट बनता और चाँदी निकल पड़ती है। अतएव इन धातुओं में लोहा सब से प्रबल, ताँबा उससे कम प्रबल, और चाँदी सब से कम प्रबल है। अधातुओं में क्लोरीन की ऋण-विद्युदाविष्ट होने की क्षमता ब्रोमीन से अधिक होती है, अतएव वह ब्रोमाइडों से ब्रोमीन को निकाल देती है।

(४) युग्म विच्छेदन—इस क्रिया में दो यौगिकों के अवयवों का विनिमय हो जाता है। उदाहरणार्थ, सिल्वर नाइट्रेट के घोल में पोटैशियम क्लोराइड छोड़ने से सिल्वर क्लोराइड अवक्षिप्त हो जाता है और पोटैशियम नाइट्रेट घोल में रह जाता है—

$$AgNO_3 + KCl = AgCl + KNO_3$$

(५) आइसोमरिक अथवा अंतराणु-परिवर्तन—किसी पदार्थ के अणु के भीतर संयोजन-शक्तियों के एक विभिन्न उपयोग और उसके फलस्वरूप उन्हीं परमाणुओं की व्यवस्था

में अंतर हो जाने के कारण वह पदार्थ किसी दूसरे ही पदार्थ में बदल जाता है। इस विधि को 'आइसोमरिक अथवा अंतराणु-परिवर्तन' कहते हैं। अमोनियम सायनेट नामक पदार्थ के घोल को सुखाने पर वह यूरिया नामक एक नवीन पदार्थ में इस प्रकार बदल जाता है——

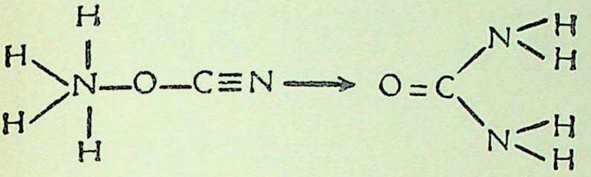

NH_4OCN (अमोनियम सायनेट) $CO(NH_2)_2$ (यूरिया)

(६) बहुसमाणुसंयोजन — इस प्रकार की क्रिया में एक ही पदार्थ के अनेक अणु सीधे संयुक्त होकर एक अन्य ही पदार्थ को उत्पन्न कर देते हैं। ऐसिटिलीन गैस (C_2H_2) को रक्ततप्त नली में प्रवाहित करने पर वह बेन्जीन (C_6H_6) में परिणत हो जाती है——

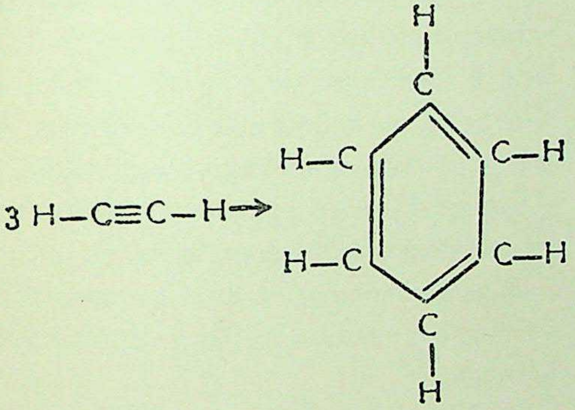

(ऐसिटिलीन) (बेन्जीन)

यौगिकों के सूत्र बनाने की विधि

यदि आपको तत्त्वों के संकेत और उनकी संयोजन-शक्तियाँ ज्ञात हैं, तो आपको उनके अनेक यौगिकों के सूत्रों को लिखने में कोई कठिनाई नहीं पड़ेगी और सूत्रों को लिख सकने पर रासायनिक समीकरणों को बनाने का कार्य भी सरल हो जाएगा। रसायन के अध्ययन को प्रारंभ करनेवालों के लिए तो संयोजन-शक्ति वास्तव में कुंजी ही है। इन्हीं की जानकारी से आप यौगिकों में विविध तत्त्वों के अंश की जानकारी पा सकते हैं। यदि आपको सूत्रों को बनाने में कठिनता पड़े, तो इस विधि का उपयोग कीजिए——

मान लीजिए कि आपको यह ज्ञात है कि अल्युमीनियम की संयोजन-शक्ति ३ और ऑक्सिजन की २ है। Al और O को कहीं पर पास-पास लिखिए। अब Al के नीचे उसकी संयोजन शक्ति यानी ३ और O के नीचे इसी प्रकार २ लिख दीजिए। फिर ऊपर इन संयोजन-शक्तियों का लघुत्तमसमापवर्तक अर्थात् ६ नोट कर दीजिए। अब ६ में ३ का भाग देकर भजनफल २ को Al के साथ और ६ में २ का भाग देकर भजनफल ३ को O के साथ लगा दीजिए, जैसा कि नीचे दिए गए सूत्र में दिग्दर्शित है :——

$$\overset{६}{\underset{३}{Al_2}\;\underset{२}{O_3}}$$

अंत में ऊपर और नीचे नोट किए हुए ६, ३ और २ को मिटा दीजिए। इस प्रकार अल्युमीनियम ऑक्साइड का सूत्र Al_2O_3 बन जाएगा।

इसी प्रकार से अन्य यौगिकों के सूत्र भी उनके मूल तत्त्वों की संयोजन-शक्तियों के आधार पर बनाए जा सकते हैं।

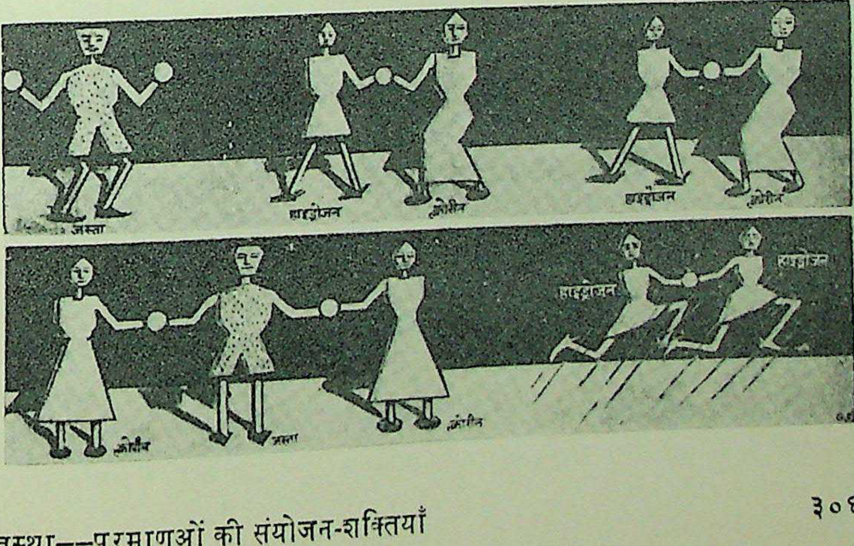

(दाहिनी ओर) जस्ता हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड से मिलते ही अपनी तीव्रतर रासायनिक प्रीति द्वारा हाइड्रोजन की पत्नियों (क्लोरीनों) का अपहरण कर लेता है और स्वयं उनका पति बन बैठता है! बेचारे हाइड्रोजन को निराश हो गैस-रूप में निकल भागना पड़ता है!

रासायनिक भाषा :: संकेतों, सूत्रों और समीकरणों का रहस्य

आधुनिक रसायन-विज्ञान का प्राण 'परमाणुवाद' है और परमाणुओं की रासायनिक लीलाओं को व्यक्त करने का सब से सुगम साधन संकेतों, सूत्रों और समीकरणों की रासायनिक भाषा है ! एक सौ एक मूल तत्त्व हैं और एक-एक मूल तत्त्व की सैकड़ों-सहस्रों रासायनिक क्रियाएँ हैं। यदि मानव मस्तिष्क ने अपनी आवश्यकताओं से प्रेरित होकर अपने बुद्धिबल द्वारा इन संकेतों और सूत्रों का सर्जन न किया होता, तो रसायनशास्त्र एक उपवन नहीं, बल्कि ऐसा दुर्भेद्य जंगल होता कि मनुष्य उसे दूर ही से देखकर उल्टे पाँव लौट पड़ता !

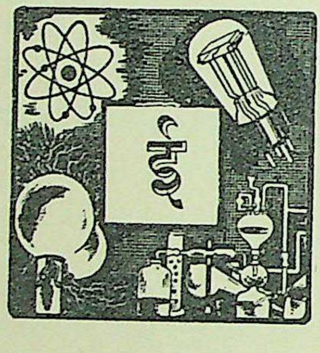

ईसा से लगभग ३०० वर्ष बाद की लिखी हुई ग्रीक पाण्डुलिपियों में पहले-पहल पदार्थों का सांकेतिक चिह्नों द्वारा उल्लेख हमें मिलता है। उस आश्चर्य और जादू के युग में तथा बाद के औषध और कीमियागरी के युगों में भी रसायनशास्त्री अपनी चर्चाओं को सर्वसाधारण के सामने खुले शब्दों में नहीं रखना चाहता था—वह अपनी बातों को बड़ी ही सावधानी और प्रवीणता से गुप्त रखता था। यही गोपनीयता इन सांकेतिक चिह्नों की प्रेरक थी।

प्राचीन और मध्यकालीन संकेत

उक्त प्राचीन ग्रीक पाण्डुलिपियों में अंकित कुछ संकेतों को उनके अर्थसहित पृठ ३०७१ के चित्र में दिया गया है। आप देखेंगे कि ये चिह्न निराधार नहीं हैं—किसी-न-किसी पद्धति के अनुसार ही इनका चुनाव हुआ था। धातुओं का सांकेतिक उल्लेख ग्रहों के संकेतों द्वारा हुआ—यथा सुवर्ण का सूर्य, चाँदी का चाँद, ताँबे का शुक्र, लोहे का मंगल, पारे का बुध और शीशे का शनिश्चर के संकेत द्वारा उल्लेख किया गया। इस पद्धति का अनुसरण कीमियागरों ने १७वीं शताब्दी के अंत तक किया, यहाँ तक कि आज भी पारे को 'मर्करी' और चाँदी के लवण सिल्वर नाइट्रेट को 'ल्यूनर कास्टिक' कहते हैं। कुछ संकेत पदार्थों (यथा सिरका, रस, नमक और आर्सनिक) के ग्रीक नामों के संक्षिप्त रूप मात्र हैं। अन्य वस्तुओं के संकेत भी इसी प्रकार की विभिन्न कल्पनाओं के आधार पर बने, यथा पानी का संकेत तरंगों की कल्पना के आधार पर, पत्थर का तीरों की कल्पना के आधार पर, आदि।

उक्त प्राचीन काल से एक हजार वर्ष से भी अधिक समय बाद तक इसी प्रकार के संकेतों का उपयोग होता रहा। १६०९ ई० में प्रकाशित कीमियागरी के युग की एक पाठ्य-पुस्तक में दिए गए कुछ संकेत उनके अर्थसहित पृ० ३०७२ के चित्र में दिखाए गए हैं।

आप देखेंगे कि इतने दीर्घ काल के बाद भी थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके बहुतेरे वही प्राचीन संकेत प्रयुक्त किए जाते रहे और अनेकों नए संकेतों का भी उपयोग हुआ।

डाल्टन के वृत्ताकार संकेत

१८०८ ई० में डाल्टन ने अपने परमाणुवाद को स्पष्ट करने के लिए मूल तत्त्वों के सांकेतिक रूपों में बहुत-कुछ परिवर्तन किया। डाल्टन के वृत्ताकार संकेतों से एक विशेष सुविधा यह प्राप्त हुई कि उन्हें जोड़कर यौगिकों के अणु-सूत्र भी अंकित किए जा सके। अपने परमाणुवाद के अनुसार डाल्टन ने इन संकेतों में जो अर्थ-परिवर्द्धन किया, वह बड़ा ही महत्वपूर्ण था। इसके अनुसार किसी तत्त्व का एक संकेत केवल एक ही परमाणु का द्योतक हुआ। अतएव किसी यौगिक के एक अणु में जिन तत्त्वों के जितने परमाणु हुए, उन्हीं तत्त्वों के उतने

ही संकेतों को एक साथ रख देने से उस यौगिक के एक अणु का सांकेतिक चित्र स्पष्टतः अंकित किया जा सका। डाल्टन के परमाणु-संकेतों में से कुछ पृ० ३०७४ के चित्र में दिए जा रहे हैं। डाल्टन ने पहलेपहल अपने कुछ संकेतों में तत्त्वों के नामों के प्रथम अक्षरों का उपयोग किया, यह ध्यान देने योग्य बात है। इन संकेतों द्वारा डाल्टन के यौगिकों के अणु-चित्र भी पृ० ३०७४ के मानचित्र में दाहिनी ओर प्रदर्शित हैं।

डाल्टन के पानी और अमोनिया के सूत्र गलत थे। पानी में प्रति अणु ऑक्सिजन का एक परमाणु और हाइड्रोजन के दो परमाणु रहते हैं, परन्तु डाल्टन के सूत्र में हाइड्रोजन का एक ही परमाणु अंकित हुआ है। अमोनिया के अणु में हाइड्रोजन के तीन परमाणु रहते हैं, किंतु डाल्टन के सूत्र में एक ही प्रदर्शित है। डाल्टन इन अणुओं का संगठन ठीक निश्चित नहीं कर सका था।

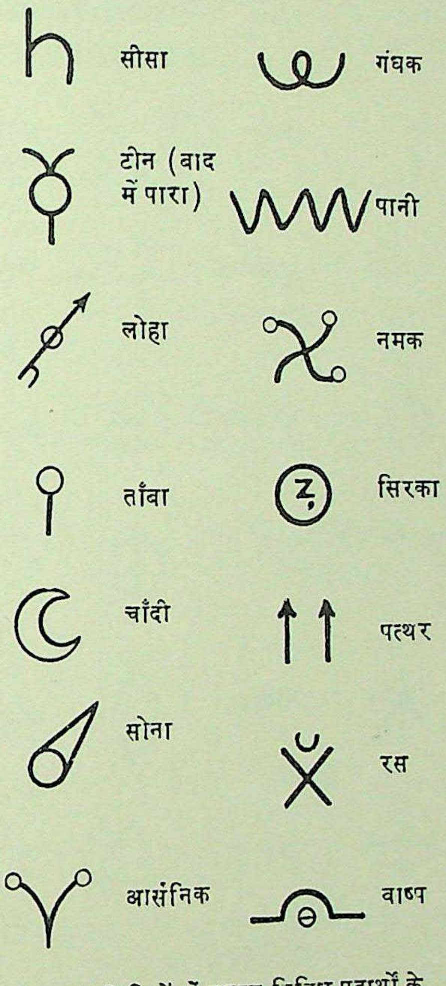

ग्रीक पांडुलिपियों में प्रयुक्त विविध पदार्थों के कतिपय सांकेतिक चिह्न।

वर्जीलियस और केकुले

लगभग ११ वर्ष बाद, सन् १८१९ में, बर्जीलियस ने अब तक के सांकेतिक चिन्हों के दोषों को वैज्ञानिकों के समक्ष रक्खा। छापेखाने के युग में भला यह कहाँ की विवेक की बात कही जा सकती है कि सरलता से न छापे जा सकनेवाले इस प्रकार के ऊट-पटाँग संकेतों का ही उपयोग हो? वर्णमाला के अक्षर ही इस काम में क्यों न लाए जाएँ, जो आसानी से छप भी सकें और याद भी हो सकें। बर्जीलियस ने तत्त्वों के लैटिन नामों के प्रथम अथवा प्रथम दो या दो प्रधान अक्षरों को उनके सांकेतिक रूप में प्रयुक्त करना शुरू कर दिया। वैज्ञानिक जगत् बर्जीलियस की सारगर्भित सम्मति का कायल हुआ और डाल्टन के संकेतों का लोप हो गया। शीघ्र ही सर्वसम्मति से सारे मूल तत्त्वों के संकेत इसी पद्धति के आधार पर निश्चित कर लिए गए। कुछ संकेत लैटिन, कुछ अंग्रेजी, तथा शेष अन्य योरपीय भाषाओं के नामों से ले लिए गए। आज बर्जीलियस की पद्धति पर बने हुए इन्हीं संकेतों का उपयोग हो रहा है। पृष्ठ ३०७५ पर दी गई सारिणी से इन रासायनिक संकेतों के क्रमिक विकास की एक स्पष्ट झलक मिल जाती है।

पृ० ३०७३ की तालिका में ४० अधिक महत्वपूर्ण मूल तत्त्वों के नाम, संकेत, परमाणु-भार * और प्रमुख संयोजन-शक्तियाँ आदि दिग्दर्शित हैं।

१८५८ ई० में जर्मनी के विख्यात वैज्ञानिक केकुले ने चित्र-सूत्रों की कल्पना की। उसका लक्ष्य यह था कि अणु-सूत्रों में परमाणुओं की संयोजन-शक्ति का भी प्रदर्शन हो और यह भी प्रकट हो कि संयोजन-शक्तियों द्वारा परमाणु किस प्रकार संबद्ध रहते हैं। उसने डाल्टन के वृत्तों तथा बर्जीलियस के अक्षर-संकेतों, दोनों को एक साथ अपने सूत्रों में प्रयुक्त किया। हाइड्रोजन सरीखे एक-शक्तिक मूल तत्त्वों के परमाणुओं को उसने एक वृत्त द्वारा और ऑक्सिजन सरीखे द्वि-शक्तिक तत्त्वों के परमाणुओं को दो वृत्तों को मिलाकर डम्बल-रूप में अंकित किया। इसी प्रकार नाइट्रोजन के त्रि-शक्तिक परमाणु और कार्बन के चतुर्शक्तिक परमाणु को उसने क्रमशः तीन और चार मिले हुए वृत्तों द्वारा प्रदर्शित किया। इन्हीं आकारों के बीच में बर्जीलियस के संकेतों को लिखकर केकुले ने उन्हें विभिन्न परमाणुओं के विशिष्ट संकेतों का रूप दे दिया। उसने अणु-सूत्रों की रचना इन संकेतों को दो कतारों में इस प्रकार रखकर की कि दोनों कतारों के प्रत्येक स्पर्श-बिन्दु से एक-एक संयोजन-शक्ति का बोध हो। उसने यह सब-कुछ किया, फिर भी उसके इन सूत्रों के प्रयोग में वही कठिनाइयाँ पड़ीं, जो डाल्टन के संकेतों अथवा

---

*अर्थात् तत्त्व का वह आपेक्षिक भार, जो हाइड्रोजन के परमाणु-भार को १·००८ अथवा ऑक्सिजन के परमाणु-भार को १६ मानकर निर्धारित किया जाता है।

सूत्रों के प्रयोग में पड़ी थी; अतएव समय की आवश्यकताओं के सामने केकुले के चित्र-सूत्र भी न ठहर पाए। पुनः [illegible] सूत्र और चित्र-सूत्र बने, जिनमें संयोजन-शक्ति क्रमशः बिन्दुओं और रेखाओं द्वारा प्रदर्शित की गई। ये सूत्र सफलतापूर्वक लिखे, छापे और समझे जा सकते थे, अतएव आज वही प्रयुक्त होते हैं। पृष्ठ ३०७६ पर दी गई तुलनात्मक सारिणी में केकुले के तथा आधुनिक सूत्र साथ-साथ प्रदर्शित हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आधुनिक संकेत, सूत्र और समीकरण

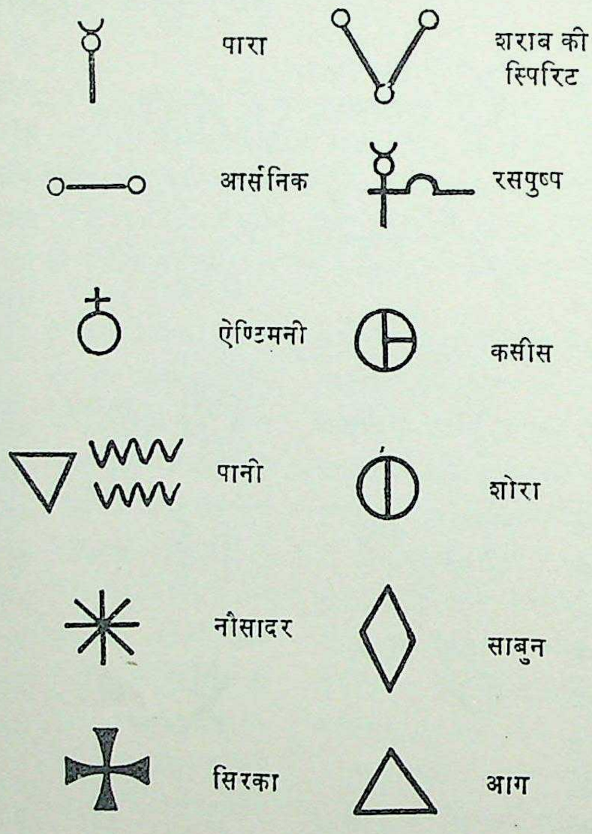

मध्ययुग की कीमियागिरी की एक पोथी में प्रयुक्त कतिपय सांकेतिक चिह्नों का रूप।

बर्जीलियस की ही पद्धति पर निश्चित अक्षर-संकेत अथवा उससे बने हुए सूत्र और समीकरण आज रसायन की पुस्तकों और लेखों में देखने को मिलते हैं। यदि आपको नार्दर्न रेलवे से N. R. और डाइरेक्टर ऑफ एजूकेशन से D. E. अधिक सुविधामय प्रतीत होता है, तो कोई कारण नहीं कि ये विविध सूत्र-रूप रासायनिक संकेत आपको क्यों असुविधामय जान पड़ें! फिर इनमें केवल शुष्क संक्षेपना ही नहीं है, बल्कि अर्थ-परिपूर्णता का वह गौरव भी निहित है, जिससे उनका महत्व और उनकी मनोरंजकता कई गुनी बढ़ जाती है!

देखिए, ऑक्सिजन का संकेत O न केवल इस तत्व के पूरे नाम का ही द्योतक है, वरन् उसका अर्थ ऑक्सिजन का एक परमाणु भी है, जिस परमाणु का भार १६ होता है! इन्हीं संकेतों को जोड़कर पदार्थों के सूत्र बना लिए जाते हैं। संयोजन-शक्तियों के सहारे ये सूत्र किस प्रकार बना लिए जा सकते हैं, यह हम पहले देख चुके हैं। H_2O पानी का सूत्र है। इसका अर्थ केवल पानी ही नहीं, बल्कि पानी के अणु और प्रत्येक अणु में रहनेवाले दो हाइड्रोजन और एक ऑक्सिजन के परमाणुओं का भी बोध उससे होता है। संकेत के दाहिने पार्श्व में नीचे की ओर रक्खी हुई संख्या से उस तत्व के उन परमाणुओं की संख्या का बोध होता है, जो इसके अणु में रहते हैं। जिस संकेत के पीछे कोई अंक नहीं होता, उससे एक परमाणु का बोध होता है। अतएव H_2O यह भी स्पष्ट बतला देता है कि पानी का अणु-भार १×२+१६=१८ होगा। आप जानते हैं कि हाइड्रोजन का परमाणु-भार प्रायः १ और ऑक्सिजन का १६ होता है। फिर यदि पदार्थ गैस-रूप में हो, तो आपको उसके भार और आयतन का संबंध भी विदित हो जायगा--गैस का जितना अणु-भार हो उसके उतने ही ग्रामों का आयतन 0°C ताप और ७६० मिलीमीटर दबाव पर २२·४ लीटर होता है।

इन संकेतों और सूत्रों को मिलाकर रासायनिक समीकरण बनते हैं, जिनका उद्देश्य रासायनिक क्रियाओं और तत्सम्बन्धी अनेक तथ्यों को संक्षेप (प्रायः एक ही पंक्ति) में प्रदर्शित कर देना होता है। यदि पाठकगण रासायनिक समीकरणों को समझने का थोड़ा-सा कष्ट करें, तो हम तो यही समझेंगे कि वे रसायन के विषय में पैठने के पूर्ण अधिकारी बन गए! यह कोई कठिन बात नहीं है। यदि आप रासायनिक संकेतों और तत्वों की संयोजन-शक्तियों को समझते हैं, तो आपको सूत्रों के समझने में कोई कठिनाई नहीं पड़ेगी और यदि संकेत और सूत्र दोनों पर आपका अधिकार हो गया, तो समीकरण स्वयं अपने भेदों को खोलने के लिए आपकी आँखों के सामने नाच उठेंगे!

भला, 'हाथ कँगन को आरसी' की क्या जरूरत है! किसी भी एक रासायनिक प्रतिक्रिया का उदाहरण ले लीजिए। जब हाइड्रोजन गैस जलती है, अथवा यों कहिए कि जब वह ऑक्सिजन से संयुक्त होती है, तो पानी बन जाता है। आप जानते हैं कि हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के एक-एक अणु में उनके दो-दो परमाणु रहते हैं। आप यह भी जानते हैं कि पानी का अणु-सूत्र H_2O होता है। तो फिर कठिनाई ही क्या है? प्रतिकारी अणुओं के सूत्रों को बाईं ओर बीच में धन का चिह्न

लगाकर रख दीजिए और फिर समता का चिह्न * अंकित करने के बाद दाहिनी ओर उत्पन्न पदार्थ (या पदार्थों) के सूत्र (अथवा सूत्रों) को लिख दीजिए--

$$H_2 + O_2 = H_2O$$

आपके समीकरण का 'कंकाल' तैयार हो गया। पर अभी उसमें कुछ त्रुटि है--क्या उसे आप देखते हैं? बाईं ओर ऑक्सिजन के दो परमाणु, किंतु दाहिनी ओर एक ही परमाणु प्रदर्शित है, तो क्या ऑक्सिजन के एक परमाणु का लोप हो गया? असंभव! द्रव्य की अक्षयता का सिद्धान्त क्या टल सकता है! यह आवश्यक है कि हम दोनों ओर विभिन्न तत्त्वों की संख्याओं को बराबर करके समीकरण को 'समतुलित' कर दें। हाइड्रोजन और पानी के एक-एक अणु के स्थान में दो-दो लेकर अथवा यों कहिए कि H_2 और H_2O के सामने दो के अंकों † को रखकर इस अभाव को हम मिटा सकते हैं--

$$2 H_2 + O_2 = 2 H_2O$$

और यह देखिए, इस प्रतिक्रिया का समीकरण आपके समक्ष तैयार होकर इस प्रकार से अपनी मनोरंजक कहानी सुनाने लगा।

नाम	संकेत	परमाणु-भार	प्रमुख संयोजन-शक्तियाँ
अल्युमीनियम	Al	२७	३
एंटीमनी	Sb	१२२	३,५
आर्गन	A	३९·९	०
आर्सनिक	As	७५	३,५
बेरियम	Ba	१३७	२
वोरन	B	१०·८	३
ब्रोमीन	Br	८०	१
कैल्शियम	Ca	४०	२
कार्बन	C	१२	४
क्लोरीन	Cl	३५·५	१
क्रोमियम	Cr	५२	३
कोवाल्ट	Co	५९	२
ताँबा	Cu	६३·६	१,२
फ्लुओरिन	F	१९	१
सोना	Au	१९७	३
हीलियम	He	४	०
हाइड्रोजन	H	१·००८	१
आयोडिन	I	१२७	१
इरीडियम	Ir	१९३	४
लोहा	Fe	५६	२,३
सीसा	Pd	२०७	२
मैग्नेशियम	Mg	२४	२
मैंगनीज	Mn	५५	२
पारा	Hg	२००·६	१,२
नियन	Ne	२०·२	०
निकल	Ni	५८·७	२
नाइट्रोजन	N	१४	३,५
ऑक्सिजन	O	१६	२
फास्फरस	P	३१	३,५
प्लैटिनम	Pt	१९५	४
पोटैशियम	K	३९	१
रेडियम	R	२२६	२
सिलिकन	Si	२८	४
चाँदी	Ag	१०८	१
सोडियम	Na	२३	१
स्ट्रॉन्शियम	Sr	८७.६	२
गंधक	S	३२	२,४
राँगा	Sn	११८.७	२,४
टंगस्टन	W	१८४	४,६
जस्ता	Zn	६५·४	२

हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के संयोग से पानी बनता है। जब हाइड्रोजन के दो अणु ऑक्सिजन के एक अणु से प्रतिक्रिया करता है, तो पानी के दो अणु बन जाते हैं।

हाइड्रोजन के ४ भारात्मक भाग और ऑक्सिजन के ३२ भारात्मक भाग परस्पर संयुक्त होकर पानी के ३६ भारात्मक भागों का उत्पादन करते हैं। यदि आप सरलता के प्रेमी हैं, तो यह कह लीजिए कि हाइड्रोजन का एक भारात्मक भाग ऑक्सिजन के ८ भारात्मक भागों से संयुक्त होकर पानी के ९ भारात्मक भागों को उत्पन्न करता है। यदि आप जानते हैं कि हाइड्रोजन का परमाणु-भार १ और ऑक्सिजन का १६ है, तो आप स्वयं इन अनुपातों की गणना समीकरण द्वारा कर सकते हैं।

ऐवोगैड्रो के सिद्धान्त के अनुसार हाइड्रोजन के २ आयतन ऑक्सिजन के १ आयतन से मिलकर जलवाष्प के २ आयतनों को उत्पन्न करते हैं। वाष्प हमने इसलिए कहा कि ऐवोगैड्रो का सिद्धान्त गैसों में ही लागू होता है, तरल अथवा ठोस पदार्थों में नहीं। किसी गैस के एक ग्राम अणु-भार का आयतन सामान्य ताप और दबाव पर २२·४ लीटर होता है। अतः समीकरण के विभिन्न पदार्थों के भारात्मक और आयतनिक भागों की भी तुलना हम कर सकते हैं। यथा, ४४·८ लीटर हाइड्रोजन २२·४ लीटर ऑक्सिजन से संयुक्त होकर ३६ ग्राम पानी बना देते हैं, आदि।

---

* बहुधा इसके स्थान पर बाण के चिह्न (→) का उपयोग होता है। † सामने लिखी जानेवाली संख्या से अणु की संख्या का बोध होता है, और पीछे अंकित संख्या से एक अणु में किसी तत्त्व के परमाणु की संख्या सूचित होती है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अंत में, समीकरण आपको बता रहा है कि उसकी प्रतिक्रिया में द्रव्य की अक्षयता के प्राकृतिक सिद्धांत का खंडन नहीं हुआ है।

केवल दो अक्षरों और एक अंक से बना हुआ यह छोटा-सा समीकरण आपको कैसी आत्मकहानी बता गया! फिर भी साधनों के अभाव के कारण बहुत-सी बातें वह आपसे न बता सका। प्रतिक्रिया में भाग लेनेवाले पदार्थ किन भौतिक अवस्थाओं में हैं; किन दशाओं में यह प्रतिक्रिया घटित होती हैं; उसमें ताप * का उत्पादन अथवा शोषण होता है कि नहीं; वह कितना समय लेती है; किसी प्रकार का शब्द अथवा विस्फोटन तो नहीं होता और वह विपर्ययशील † है अथवा नहीं — ये सब बातें इस समीकरण द्वारा प्रकट नहीं होतीं।

अब आप कल्पना कर सकेंगे कि यदि ये समीकरण न होते, तो विविध मूल तत्त्वों की सहस्रों रासायनिक क्रियाओं का पूर्णतः वर्णन करने में रसायनवेत्ताओं को कैसी-कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता!

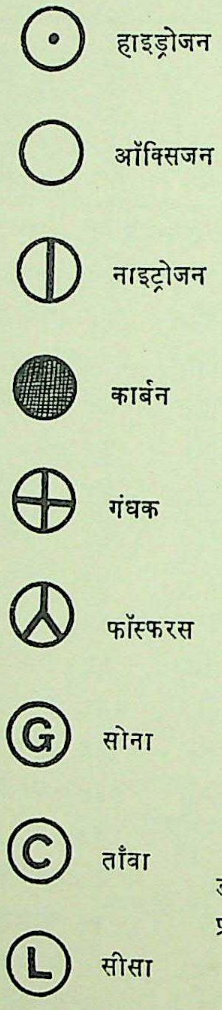

डाल्टन द्वारा प्रयुक्त तत्त्वों के संकेत

यौगिकों का नामकरण

आप जानते ही हैं कि तत्त्व परस्पर संयुक्त होकर यौगिकों का रूप धारण करते हैं। आपने इन यौगिक पदार्थों के तरह-तरह के नाम पिछले पृष्ठों में पढ़े होंगे। कदाचित् बला समझकर आपने उन्हें टाला भी होगा! ये नाम निश्चित नियमों के अनुसार रक्खे जाते हैं, जिन्हें समझ लेने पर हमारी दिक्कत स्वयं हल हो जाती है। प्रायः सभी नाम यौगिकों के अणु में रहनेवाले परमाणुओं या परमाणु-समूहों अथवा यौगिक मूलकों के सूचक होते हैं। जैसे, सोडियम और क्लोरीन का यौगिक सोडियम क्लोराइड, कैलिशयम और ऑक्सिजन का यौगिक कैल्शियम ऑक्साइड, अमोनियम और सल्फेट मूलकों का यौगिक अमोनियम सल्फेट तथा एथिल और ऐसेटेट नामक परमाणु-समूहों का यौगिक ऐथिल ऐसेटेट कहलाता है।

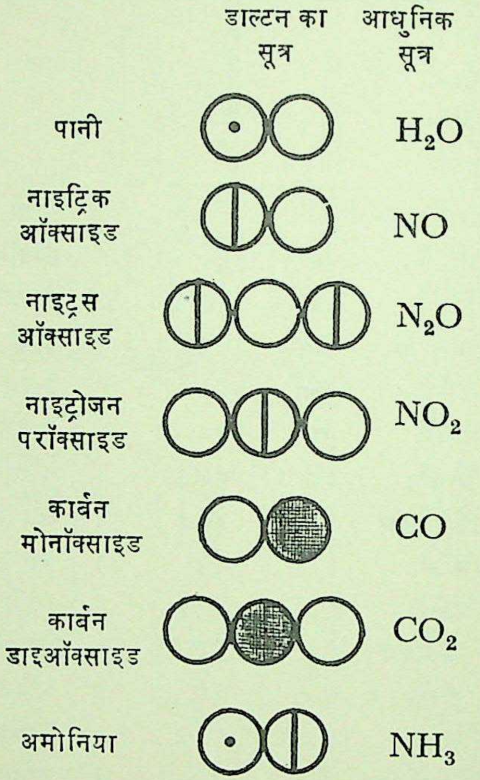

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि दो तत्त्वों के यौगिकों के नाम के पीछे सदैव '–आइड' (–ide) प्रत्यय लगा रहता है। यथा कार्बन और ऑक्सिजन का यौगिक कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2), सोडियम और क्लोरीन का सोडियम

---

*ताप का उत्पादन बहुधा समीकरण के अंत में '+ताप', और उसी प्रकार शोषण '– ताप' लिखकर प्रदर्शित कर दिया जाता है। कभी-कभी ताप के स्थान पर उसकी ठीक-ठीक मात्रा लिख दी जाती है, यथा—

$$2H_2 + O_2 = 2H_2O + \text{६८,३०० कैलॅरी}$$
(पानी)

इसका अर्थ यह है कि जब ४ ग्राम हाइड्रोजन ३२ ग्राम ऑक्सिजन से संयुक्त होती है, तो ३६ ग्राम पानी बनता है और ६८,३०० कैलॅरी ताप का उत्पादन होता है।

† जो प्रतिक्रिया दोनों ओर हो सकती है, उसे 'विपर्ययशील' कहते हैं। हाइड्रोजन और ऑक्सिजन संयुक्त होकर भाप उत्पन्न करते हैं, किन्तु यदि भाप ऊँचे ताप अर्थात् २,०००°C तक गरम कर दी जाए, तो वह हाइड्रोजन और ऑक्सिजन में विच्छिन्न होने लगती है। अतएव यह क्रिया विपर्ययशील हुई। बहुधा समीकरण में यह विपर्यय समता अथवा बाण के चिह्न के स्थान पर दो 'विपर्यस्त बाणों' ($\leftrightharpoons$) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, यथा—

$$2H_2+O_2 \leftrightharpoons 2H_2O$$

क्लोराइड ($NaCl$), कैल्शियम और कार्बन का कैल्शियम कार्बाइड (CaC_2), मैग्नेशियम और नाइट्रोजन का मैग्नेशियम नाइट्राइड (Mg_3N_2) कहलाता है।

बहुधा यौगिकों के नाम उनके किसी तत्त्व के परमाणुओं की संख्या के द्योतक भी होते हैं, यथा कार्बन मोनॉक्साइड (CO) (जिसके अणु में ऑक्सिजन का एक परमाणु रहता है), सल्फर डाइऑक्साइड (SO_2) (जिसके अणु में ऑक्सिजन के दो परमाणु रहते हैं), फॉस्फरस ट्राइक्लोराइड (PCl_3) (जिसके अणु में क्लोरीन के तीन परमाणु रहते हैं), आदि। मोनो, डाइ, ट्राइ, टेट्रा, पेन्टा, हेक्सा, हेप्टा, आदि उपसर्ग ग्रीक भाषा से लिए गए हैं और उनके अर्थ क्रमशः एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आदि होते हैं।

यदि वही परमाणु अथवा परमाणु-समूह एक से अधिक यौगिक बनाएँ, तो उनमें से एक के परिमाणों का भेद बहुधा नाम में 'अस' अथवा 'इक' प्रत्यय लगाकर व्यक्त किया जाता है। फेरस क्लोराइड ($FeCl_2$) में क्लोरीन के दो परमाणु और फेरिक क्लोराइड ($FeCl_3$) में उसके तीन परमाणु रहते हैं। 'अस' से क्लोरीन के कम परिमाण का और 'इक' से उसके अधिक परिमाण का बोध होता है। इसी प्रकार नाइट्रस ऐसिड (HNO_2) और सल्फ्यूरस ऐसिड (H_2SO_3) के अणुओं में क्रमशः नाइट्रिक ऐसिड (HNO_3) और सल्फ्यूरिक ऐसिड (H_2SO_4) के अणुओं से ऑक्सिजन का एक परमाणु कम रहता है।

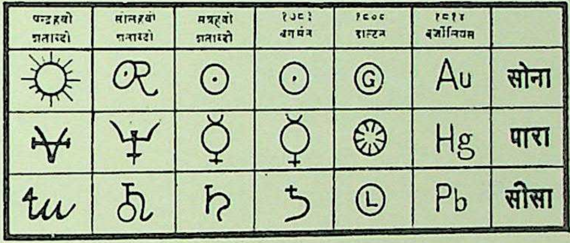
पन्द्रहवीं शताब्दी
सोलहवीं शताब्दी
सत्रहवीं शताब्दी
१७८३ बर्गमैन
१८०८ डाल्टन
१८१४ बर्ज़ीलियस
Au
सोना
Hg
पारा
Pb
सीसा

सोना, पारा और सीसा इन तीन द्रव्यों के रासायनिक संकेतों के क्रमिक विकास के निर्देश के लिए पंद्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में क्रमशः किस प्रकार के संकेत काम में लाए जाते रहे और तदनन्तर बर्गमैन, डाल्टन और बर्ज़ीलियस द्वारा उनमें किस प्रकार के रूपान्तर प्रस्तुत किए गए, यही इस मानचित्र में दिग्दर्शित है।

कुछ यौगिकों में आपने 'पर-' उपसर्ग को व्यवहृत होते हुए देखा होगा, जैसे हाइड्रोजन परॉक्साइड में। इसका अर्थ यह है कि इसमें ऑक्सिजन का परिमाण साधारण से अधिक रहा करता है।

इसी प्रकार जिन यौगिकों में 'हाइपो-' उपसर्ग का उपयोग होता है, उनमें किसी तत्त्व अथवा मूलक का साधारण से कम परिमाण में होने का बोध होता है। उदाहरण के लिए, हम हाइपोक्लोरस ऐसिड ($HClO$) को ले सकते हैं, जिसमें हाइड्रोजन, क्लोरीन और ऑक्सिजन से बने हुए अन्य सभी अम्लों की अपेक्षा सब से कम ऑक्सिजन रहती है।

आपको ज्ञात होगा कि धातुओं, क्षारों अथवा अन्य लवणों की रासायनिक क्रियाओं द्वारा अम्लों के हाइड्रोजन के स्थान पर जब धातुओं के परमाणु बिठा दिए जाते हैं, तो लवण बन जाते हैं; जैसे सल्फ्यूरिक ऐसिड (H_2SO_4) में हाइड्रोजन के परमाणुओं के स्थान पर सोडियम के परमाणुओं को बिठा देने से वह सोडियम सल्फेट (Na_2SO_4) लवण में परिणत हो जाती है। अम्लों के ही नामों के अनुसार उनके लवणों के नाम भी रक्खे जाते हैं। यथा, हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड के सब लवण क्लोराइड, नाइट्रिक ऐसिड के नाइट्रेट और सल्फ्यूरिक ऐसिड के सल्फेट कहे जाते हैं। 'अस' प्रत्यय वाले अम्लों के लवण के नाम के पीछे 'आइट' और 'इक' प्रत्यय वाले अम्लों के लवण के नाम के पीछे 'एट' प्रत्यय लगाए जाते हैं। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा। हाइड्रोजन, क्लोरीन और ऑक्सिजन तत्त्वों के चार अम्ल होते हैं—हाइपोक्लोरस ऐसिड ($HClO$), क्लोरस ऐसिड ($HClO_2$), क्लोरिक ऐसिड ($HClO_3$) और परक्लोरिक ऐसिड ($HClO_4$)। अतएव इन अम्लों के सोडियम लवण क्रमशः सोडियम हाइपोक्लोराइट ($NaClO$), सोडियम क्लोराइट ($NaClO_2$), सोडियम क्लोरेट ($NaClO_3$) और सोडियम परक्लोरेट ($NaClO_4$) कहे जाते हैं।

जिस अम्ल के अणु में जितने हाइड्रोजन के परमाणु होते हैं, उससे उतने ही प्रकार के लवण बनते हैं। सल्फ्यूरिक ऐसिड के अणु में हाइड्रोजन के दो परमाणु होते हैं। जो लवण इन दोनों परमाणुओं के धातुओं द्वारा हटाए जाने से बनते हैं, उन्हें 'सामान्य लवण' कहते हैं, जैसे सोडियम सल्फेट (Na_2SO_4) एक सामान्य लवण है। जब ऐसिड के अणु से हाइड्रोजन के सभी परमाणुओं की स्थानापत्ति नहीं होती, तो 'ऐसिड लवण' बनते हैं। सल्फ्यूरिक ऐसिड के अणु से हाइड्रोजन के एक ही परमाणु को हटाकर जब सोडियम उसकी जगह लेता है, तो सोडियम बाइसल्फेट ($NaHSO_4$) लवण बनता है। इस प्रकार के लवणों को 'ऐसिड लवण' इसलिए कहते हैं कि उनमें अम्लगुणधारी हाइड्रोजन के परमाणु का भी अस्तित्व होता है। हम पहले बता चुके हैं कि अम्लों के अम्लता के गुण उनके

यौगिकों के नाम	आधुनिक अणु-सूत्र	केकुले के चित्र-सूत्र	आधुनिक रचना-सूत्र	आधुनिक चित्र-सूत्र
हाइड्रोजन क्लोराइड	HCl	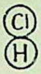	$H\cdot Cl$	H—Cl
पानी	H_2O	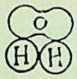	$H\cdot O\cdot H$	H—O—H
अमोनिया	NH_3	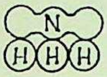	$H\cdot N\cdot H$ $\dot{H}$	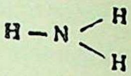
ऑक्सिजन	O_2	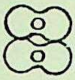	$O{:}O$	O=O
सल्फ्यूरिक ऐसिड	H_2SO_4	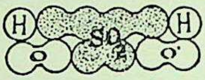	$HO\cdot SO_2\cdot OH$	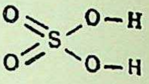
नाइट्रिक ऐसिड	HNO_3	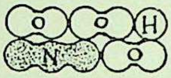	$NO_2\cdot OH$	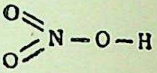
मीथेन	CH_4	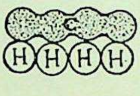	H $H\cdot\dot{C}.H$ $\dot{H}$	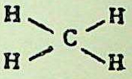
मेथिल क्लोराइड	CH_3Cl	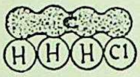	$CH_3\cdot Cl$	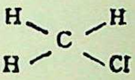
कार्बन डाइऑक्साइड	CO_2	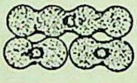	$O{:}C{:}O$	O=C=O
एथिल अल्कोहॉल	C_2H_5OH	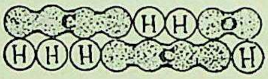	$CH_3\cdot CH_2\cdot OH$	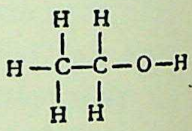
ऐसेटिक ऐसिड	CH_3COOH	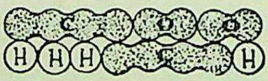	$CH_3\cdot CO\cdot OH$	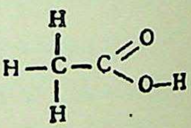

केकुले के चित्र-सूत्रों की आधुनिक सूत्रों से तुलना।

हाइड्रोजन के परमाणुओं में ही होते हैं। आप देखते हैं कि लवणों के नाम में 'बाइ' उत्सर्ग लग जाने से उसकी अम्लता का बोध होता है।

प्रमुख यौगिक मूलकों * और कुछ कार्बनिक परमाणु-समूहों तथा उनकी संयोजन-शक्तियों की सारिणी पृष्ठ २०७७ पर दी गई है। यदि आप इनसे परिचित हो गए और अणु-सूत्रों के बनाने का तरीका भी आपको मालूम है, तो आप अनेकों यौगिकों के अणु-सूत्रों को बना लेंगे। यह तरीका सर्वत्र लागू नहीं है। उदाहरणार्थ, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन की संयोजन-शक्तियों के सहारे आप पानी का सूत्र H_2O तो बना सकेंगे, परन्तु हाइड्रोजन परॉक्साइड सरीखे यौगिकों की अणु-रचना के लिए उनके चित्र-सूत्रों का सहारा लेना पड़ता है। हाइड्रोजन परॉक्साइड के चित्र-सूत्र H–O–O–H से स्पष्ट है कि उसमें ऑक्सिजन परमाणु की संयोजन-शक्ति २ और हाइड्रोजन की १ है।

---

*क्लोराइड, ऑक्साइड आदि तात्त्विक मूलकों का संकेत वही होता है जो स्वयं तत्त्वों का। सल्फेट (SO_4) नाइट्रेट (NO_3) आदि यौगिक मूलक दो या अधिक तत्त्वों से बने होते हैं। कार्बनिक परमाणु-समूह गुणों में भिन्न होने के कारण मूलक नहीं कहे जाते।

यौगिक मूलक

नाम	सूत्र	संयोजन-शक्ति
अमोनियम	NH_4	१
हाइड्रॉक्साइड	OH	१
कार्बोनेट	CO_3	२
बाइकार्बोनेट	HCO_3	१
नाइट्राइट	NO_2	१
नाइट्रेट	NO_3	१
सल्फाइट	SO_3	२
बाइसल्फाइट	HSO_3	१
सल्फेट	SO_4	२
बाइसल्फेट	HSO_4	१
थायोसल्फेट	S_2O_3	२
हाइपोक्लोराइट	ClO	१
क्लोराइट	ClO_2	१
क्लोरेट	ClO_3	१
परक्लोरेट	ClO_4	१
फॉस्फेट	PO_4	३
सिलिकेट	SiO_3	२
परमैङ्गनेट	MnO_4	१
क्रोमेट	CrO_4	२
डाइक्रोमेट	Cr_2O_7	२
फार्मेट	$HCOO$	१
ऐसेटेट	CH_3COO	१
ऑक्जेलेट	C_2O_4	२
सायनाइड	CN	१

कुछ कार्बनिक परमाणु-समूह

नाम	सूत्र	संयोजन-शक्ति
मेथिल	CH_3	१
ईथिल	C_2H_5	१
ऐल्डिहाइड	CHO	१
कार्बोक्सिल	$COOH$	१
कार्बोनिल	CO	२
फीनिल	C_6H_5	१

रासायनिक सूत्रों में तत्त्वों के निर्देशन के लिए अक्षर-संकेतों के प्रयोग का प्रचलन करनेवाला वैज्ञानिक बर्ज़ीलियस।

आयनिक संकेत

जब अम्ल, क्षार अथवा लवण पानी में घुलते हैं, तो उनमें से प्रत्येक अंशतः अथवा पूर्णतः दो विद्युदाविष्ट अणु-भागों में विभक्त हो जाता है। वास्तव में घोल में विद्युदाविष्ट होकर पृथक् हो सकनेवाले इन्हीं अणुभागों को 'मूलक' कहते हैं। अनेकों कार्बनिक परमाणु-समूहों में यह गुण नहीं होता, इसलिए वे मूलक नहीं कहे जाते।

विद्युदाविष्ट रूप में इन मूलकों को 'आयन' के नाम से पुकारा जाता है। हाइड्रोजन, अमोनियम (NH_4) तथा धातुओं के मूलक धन-विद्युत् से तथा हाइड्रॉक्साइड एवं ऐसिडों में रहनेवाले अन्य मूलक ऋण-विद्युत् से आविष्ट होते हैं। इसीलिए प्रथम प्रकार के मूलकों को धन अथवा धातव मूलक और दूसरे प्रकार के मूलकों को ऋण अथवा ऐसिड मूलक कहते हैं।

इन मूलकों की जितनी संयोजन-शक्ति होती है, उतना ही आवेश आयनिक रूप में उन्हें प्राप्त हुआ करता है। आयन में इस विद्युदावेश को प्रदर्शित करने के लिए धन ($+$), तथा ऋण ($-$), अथवा बिन्दु ($\cdot$) तथा($'$)चिह्नों का व्यवहार होता है। उदाहरणार्थ, हाइड्रोजन आयन को H^+ अथवा $H^{\cdot}$, फेरिक आयन को Fe^{+++} अथवा $Fe^{\cdots}$ और सल्फेट आयन को SO_4^{--} अथवा SO_4'' सांकेतिक रूपों से प्रकट किया जाता है।

मूल तत्त्वों में कुटुंब-व्यवस्था :: तत्त्वों का वर्गीकरण (आवर्त-सारिणी)

वर्गीकरण मनुष्य की एक अंत प्रवृत्ति है। वह स्वभावतः जाति, रूप और गुणों के अनुसार विविध वस्तुओं का विभेद और विन्यास करता है। जब बहुतेरे रासायनिक तत्त्वों का आविष्कार हो चुका, तो उनके पारखियों अर्थात रसायनशास्त्रियों द्वारा उनका दो महत्वपूर्ण दृष्टियों से वर्गीकरण हुआ। एक वर्गीकरण तो धातु-अधातु वर्गों के अनुसार किया गया, जिसके विषय में हम पहले लिख ही चुके हैं। दूसरा वर्गीकरण, जिसे 'आवर्त-वर्गीकरण' कहते हैं, सब से अधिक महत्व का है। आधुनिक रसायनशास्त्र, वास्तव में, इसी के आधार पर सँवारा गया है और इसी के साँचे में ढला हुआ है। इसी के सहारे आधुनिक परमाणु-रचनावाद का विकास हुआ है। प्रस्तुत प्रकरण में इसी का परिचय दिया जा रहा है।

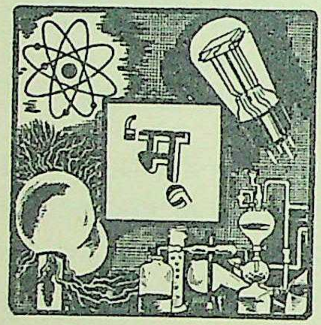

'मूल तत्त्वों में समाज-व्यवस्था' शीर्षक प्रकरण में हम देख चुके हैं कि तत्त्व किस प्रकार परस्पर संयुक्त अथवा वियुक्त होते हैं। अब हमें यह देखना है कि उक्त वर्गीकरण के फलस्वरूप हमें तत्त्वों में किस प्रकार की कौटुंबिक व्यवस्था तथा सामाजिक एकता का परिचय मिला है। रसायनज्ञों ने अपनी सुविधा के लिए मूल तत्त्वों के समाज को सुव्यवस्थित रूप में एक काल्पनिक नगरी में बसा दिया है। इस नगरी को रासायनिक भाषा में "आवर्त-सारिणी" (पीरिऑडिक टेबुल) कहते हैं। इसके विकास का इतिहास मनोरंजक है। किस प्रकार वैज्ञानिकों ने इस नगरी का पता पाया, आइए, देखें !

आवर्त-वर्गीकरण का विकास

१८१७ ई० में, जबकि बहुतेरे तत्त्वों की खोज और उनके परमाणु-भारों का निर्धारण हो चुका था, जर्मन रसायनज्ञ डोबरेनर की दृष्टि कुछ समान गुणोंवाले तत्त्वों और उनके परमाणु-भारों पर पड़ी। उसने कुछ समान तत्त्वों को तीन-तीन के वर्गों में परमाणु-भारों के क्रमानुसार रखा और देखा कि बीचवाले तत्त्व का परमाणु-भार इधर-उधर के तत्त्वों के परमाणु-भारों का लगभग मध्यमांक है--

क्लोरिन	ब्रोमीन	आयोडिन
३५·५	८०	१२७

$$\frac{३५·५ + १२७}{२} = ८१$$

कैल्शियम	स्ट्रांशियम	बेरियम
४०	८८	१३७

$$\frac{४० + १३७}{२} = ८८$$

गंधक	सेलोनियम	टेलूरियम
३२	७९	१२८

$$\frac{३२ + १२८}{२} = ८०$$

डोबरेनर का यह नियम केवल एक आकस्मिक निरीक्षण का फल था और सभी तत्त्वों में लागू नहीं होता था, अतएव उसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। तथापि बहुतों के मन में यह विचार अवश्य आया कि कदाचित् यह नियम किसी महत्वपूर्ण सामान्य नियम का अंश होगा !

छियालीस वर्ष बाद, १८६३ ई० में न्यलैंड्स नामक एक अंग्रेज रसायनज्ञ ने तत्त्वों और उनके परमाणु-भारों के संबंध में एक विचित्र बात देखी। उसने देखा कि यदि तत्त्व बढ़ते हुए परमाणु-भारों के क्रम में लगा दिए जाएँ, तो प्रत्येक आठवाँ

CC-0 Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

तत्त्व पहले का पुनरूप होता है—उसी प्रकार जैसे संगीत के सात स्वर स, रे, ग, म, प, ध, नी के बाद आठवाँ स्वर फिर 'स' होता है। न्यूलैंड्स ने इस नियम का नाम "अष्टक का नियम" रक्खा। उसके पहले तीन "अष्टक" इस प्रकार थे—

H	Li	Be	B	C	N	O
F	Na	Mg	Al	Si	P	S
Cl	K	Ca	Cr	Ti	Mn	Fe*

न्यूलैंड्स के समय में अनेक तत्त्वों के परमाणु-भार ठीक-ठीक निर्धारित नहीं हो सके थे और बहुतेरे तत्त्व खोजे भी नहीं जा सके थे, अतएव उसे अपने तीसरे अष्टक में तीन तत्त्वों (Cr, Mn, और Fe) को ऐसे स्थानों में रखना पड़ा जो वास्तव में उनके न थे। गुणों में भी ये तत्त्व अपने ऊपरवाले तत्त्वों के सदृश नहीं थे। शेष तत्त्वों से आगे के 'अष्टकों' को सफलतापूर्वक बनाना तो न्यूलैंड्स के लिए टेढ़ी खीर हो गई! खड़ी पंक्तियों में तीन तत्त्वों के बाद चौथा समान तत्त्व बैठता ही नहीं था। वह कितना परेशान हुआ होगा! तथापि उसने अपने इस नए नियम के विषय में 'केमिकल न्यूज' नामक पत्र में एक लेखमाला प्रकाशित की। १८६६ ई० में न्यूलैंड्स ने लंदन रासायनिक परिषद् की एक बैठक के समक्ष "अष्टक का नियम" नामक अपना लेख पढ़ा। श्रोताओं में से एक थे जी० सी० फॉस्टर नाम के सज्जन। वह अपनी कुरसी पर से उठ खड़े हुए और पूछने लग कि क्या वक्ता महोदय ने कभी तत्त्वों को उनके प्रथम अक्षरों के क्रम से भी लगाने का प्रयत्न किया है? बर्लिंग्टन हाउस दर्शकों के अट्टहास से गूंज उठा! न्यूलैंड्स के गंभीर प्रयत्नों का ऐसा निर्दय उपहास!—वह झेंप गया और ऐसा कटा कि उसने अपने प्रयत्नों को आगे बढ़ाने का विचार ही त्याग दिया! लंदन केमिकल सोसाइटी ने न्यूलैंड्स के लेख को अपने मुखपत्र में प्रकाशित करने तक से इनकार कर दिया। न्यूलैंड्स के लेख का उचित मूल्य तभी आँका जा सका, जब इक्कीस वर्ष बाद उसे रॉयल सोसाइटी ने उसी "अष्टक के नियम" पर डेवी-पदक प्रदान किया! इस पदक को प्राप्त करना बड़े भारी सम्मान की बात थी।

आवर्त-सारिणी

लंदन केमिकल सोसाइटी की उपर्युक्त ऐतिहासिक बैठक के तीन ही वर्ष बाद, १८६९ ई० में रूस के महान् रसायनज्ञ तथा पीटर्सबर्ग-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर मेण्डलिएफ ने न्यूलैंड्स के वर्गीकरण को व्यापक रूप देकर प्रकाशित किया। न्यूलैंड्स संगीत के सप्त स्वरों के मोहजाल में व्यर्थ ही फँसकर अंधकार में भटकने लगा था। मेण्डलिएफ उससे मुक्त रहा। उसने सारे मूल तत्त्वों को उनके गुणों को ध्यान में रखते हुए परमाणु-भारों के क्रम से रक्खा और देखा कि कतिपय निश्चित अंतरालों के पश्चात् उनमें वही भौतिक और रासायनिक गुण पुनः प्रकट हो जाते हैं। उसने यह भी देखा कि गुणों का यह आवर्तन न्यूलैंड्स के 'अष्टकों' अर्थात् सात-सात तत्त्वों के बाद और फिर सत्रह-सत्रह तत्त्वों के बाद होता है। प्रत्येक सत्रह तत्त्वों की श्रेणी को उसने तीन-तीन टुकड़ियों में बाँट दिया—

(१) सात तत्त्वों की पहली टुकड़ी, जो 'अष्टकों' के समान थी;

(२) तीन तत्त्वों की दूसरी टुकड़ी, जो परस्पर परमाणु-भारों में लगभग बराबर और गुणों में एक-सी थी;

(३) सात तत्त्वों की तीसरी टुकड़ी, जिसके तत्त्व भी 'अष्टकों' के समान थे।

मेण्डलिएफ ने पहली टुकड़ी के सात तत्त्वों को अपने-अपने स्तम्भों में बाईं ओर और तीसरी टुकड़ी के तत्त्वों को क्रमशः उन्हीं स्तंभों में दाहिनी ओर रक्खा। आवर्त-सारिणी को देखने से यह क्रम स्पष्ट हो जाता है। आश्चर्य तो यह था कि एक ही स्तंभ में अलग-अलग पंक्तियों में रक्खे हुए तत्त्व गुणों में परस्पर बहुत मिलते-जुलते थे।

इस प्रकार मेण्डलिएफ ने स्पष्ट कर दिया कि समस्त तत्त्वों के गुणों और परमाणु-भारों में एक प्रगाढ़ आवर्त-संबंध विद्यमान है। उसने इसका नाम 'आवर्त-नियम' रक्खा, जो संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जाता है—'तत्त्वों के गुण उनके परमाणु-भारों के आवर्त-संस्कार होते हैं।' इस नियम के क्रम से मेण्डलिएफ ने तत्त्वों की जो सारिणी तैयार की, वह "आवर्त-सारिणी" कहलाई। इसी सारिणी का परिवर्द्धित और संशोधित रूप, जो पृ० ३०८२ पर दिया गया है, आज भी प्रयुक्त हो रहा है। रसायनज्ञों का ध्यान तुरंत ही मेण्डलिएफ के इस महान् आविष्कार की ओर आकर्षित हुआ। उनकी आँखें खुलीं! उन्होंने देखा कि न्यूलैंड्स का 'अष्टक का नियम' मजाक नहीं था, वह एक व्यापक तथ्य को ढूँढ़ निकालने का सच्चा प्रयत्न था। मेण्डलिएफ के वर्गीकरण ने सारे रसायन-शास्त्र में उलटफेर कर दिया। अब रसायन का अध्ययन तथा उसकी पाठ्य-पुस्तकों की रचना उसी के आधार पर होने लगी और यह विज्ञान एक सुव्यवस्थित विषय हो गया।

मेण्डलिएफ के समय तक कई एक मूल तत्त्वों का आविष्कार नहीं हुआ था। ऐसे तत्त्व उसकी सारिणी में बाद में जोड़े गए।

---

* इन संकेतों के पूरे नाम पृ० ६३६ की मूल तत्त्वों की तालिका में दिए जा चुके हैं।

निष्क्रिय तत्त्वों का पूरा कुटुम्ब (दे० पृ० २४५८-२४६१) इन्हीं में था। इसी प्रकार तीसरे वर्ग में चौदह दुर्लभ मिट्टियों के तत्त्व और जोड़े गए। इन तत्त्वों के जुड़ जाने से ९२ मूल तत्त्व क्रमशः २, ८, ८,१८, १८,३२ और ६ तत्त्वों के सात आवर्तों में विभक्त हो जाते हैं। प्रथम तीन और अंतिम आवर्त 'लघु' और शेष तीन 'दीर्घ' कहलाते हैं। प्रत्येक दीर्घ आवर्त दो-दो श्रेणियों में विभाजित है। सम श्रेणियों में दस-दस तत्त्व हैं, जिनमें अंतिम तीन परमाणु-भारों तथा गुणों की समानता के कारण एक ही स्थान में स्थापित हैं। इन तीन तत्त्वों के समुदाय को 'संक्रमण-तत्त्व' कहते हैं, कारण इन्हीं के बाद तत्त्वों में पहलेवाले तत्त्वों के-से गुण फिर प्रकट होने लगते हैं। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण सारिणी नौ स्तंभों में विभाजित है। इन्हें 'वर्ग' कहते हैं। चौथे आवर्त से, जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, प्रत्येक वर्ग दो उपवर्गों a और b में विभाजित हो जाता है। एक ही उपवर्ग (कुटुम्ब) के तत्त्वों में सब से अधिक सादृश्य होता है।

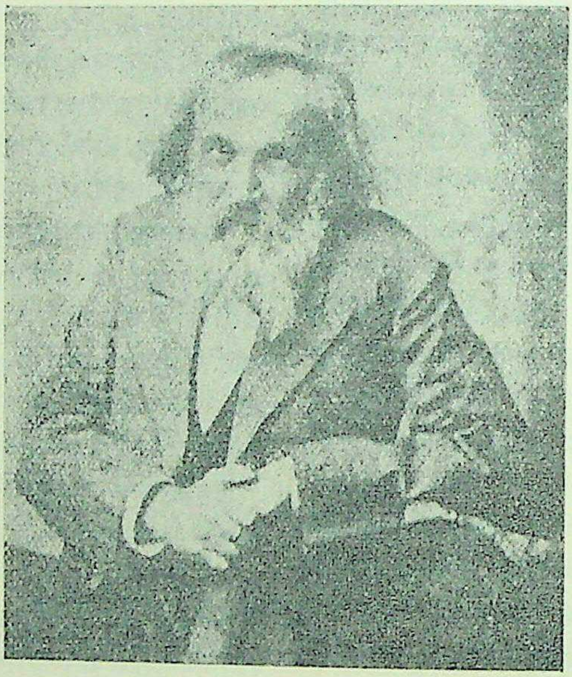

'आवर्त-सारिणी' का आविष्कारक मेण्डलिएफ।

हाइड्रोजन से लेकर यूरेनियम तक बानवे तत्त्वों के साथ उनकी क्रम-संख्या अंकित कर दी गई है। इसे 'परमाणु-संख्या' कहते हैं। रसायनज्ञों ने प्रकृति के गर्भ से ९० तत्त्वों को ढूंढ़ निकाला है और ये मेण्डलिएफ की बस्ती में यथास्थान बसा भी दिए गए हैं। यदि आप सारे तत्त्वों की हाजिरी लें, तो आपको स्थान नं० ८५ और ८७ रिक्त मिलेंगे। इनकी पूर्ति करनेवाले तत्त्वों का अभी तक आविष्कार नहीं हो सका है।

मेण्डलिएफ-नगरी की सैर

आइए, अब जरा इस विचित्र नगरी की सैर और उसके निवासियों का निरीक्षण भी कर लिया जाय। इसके पहले कि हम इस नगरी में घर-घर घूमें, यह अच्छा होगा कि हम उसके चित्र पर विहंगम दृष्टि डालकर उसकी व्यवस्था के संबंध में कुछ और बातें भी जान लें। दिशा-निर्देश की सुविधा के लिए हम भौगोलिक नक्शों की भाँति इसमें भी ऊपर-नीचे और दाएँ-बाएँ चारों दिशाओं, अर्थात् क्रमशः उत्तर, दक्षिण, पूर्व, और पश्चिम की कल्पना किए लेते हैं। आप देखेंगे कि सब से प्रबल (विद्युत्-धनीय) धातु इस बस्ती के पश्चिम में--विशेषतः उत्तर-पश्चिम की ओर—और सब से प्रबल (विद्युत्-ऋणीय) अधातु उत्तर-पूर्व में स्थित हैं। अधिकतर महत्वपूर्ण अधातु आपको चौथे से सातवें वर्गों में स्थित दूसरी और तीसरी श्रेणी के प्लाटों में बसे हुए मिल जायँगे।

हम विभिन्न श्रेणियों के तत्त्वों का क्रमशः निरीक्षण करते हुए जैसे पश्चिम से पूर्व की ओर प्रथम से सातवें वर्ग तक चलेंगे, उनमें धातुओं के गुणों की कमी और अधातु विशेषताओं की अधिकता होते देखेंगे। मध्य में स्थित बहुत से तत्त्वों, यथा टिन (Sn), आर्सेनिक (As), ऐण्टिमनी (Sb) आदि में, इसीलिए धातुओं और अधातुओं दोनों के गुण मिलते हैं। ऐसे तत्त्वों को 'उपधातु' कहते हैं। यही नहीं, पश्चिम से पूर्व चलते हुए यदि हम तत्त्वों के अन्य गुणों का भी निरीक्षण करेंगे, तो हमें उनमें होते हुए क्रमिक परिवर्तन को देखकर दाँतों तले उँगली दबा लेना पड़ेगी! उदाहरणार्थ, ऑक्सिजन के प्रति इन तत्त्वों की संयोजन-शक्तियों को ही लीजिए। पहले कुटुंब के प्रत्येक सदस्य की यह संयोजन-शक्ति १, दूसरे की २, तीसरे की ३ है--अर्थात् कुटुम्ब का जो नंबर है, वही उसके सदस्यों की ऑक्सिजन के प्रति संयोजन-शक्ति है! कितनी सुन्दर व्यवस्था है! प्रमाण में हम किसी एक श्रेणी की ऑक्साइडों को पेश करके इन क्रमशः बढ़ती हुई संयोजन-शक्तियों को प्रदर्शित किए देते हैं—

$$\overset{\text{१}}{Na_2O},\quad \overset{\text{२}}{MgO},\quad \overset{\text{३}}{Al_2O_3},\quad \overset{\text{४}}{SiO_2},\quad \overset{\text{५}}{P_2O_5},$$

$$\overset{\text{६}}{SO_3},\quad \overset{\text{७}}{Cl_2O_7}$$

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इसी प्रकार हाइड्रोजन के प्रति भी संयोजन-शक्ति का क्रमिक परिवर्तन होता है। पहले वह क्रमशः १ से ४ तक बढ़ती और फिर क्रमशः घटकर १ हो जाती है—

$$\begin{array}{ccccc} १ & & & ४ & ३ \\ NaH, & ——*, & ——*, & SiH_4 & PH_3, \\ & २ & १ & & \\ & H_2S, & HCl & & \end{array}$$

केवल संयोजन-शक्तियों में ही नहीं, घनत्व, द्रवांक, क्वथनांक आदि सभी भौतिक और रासायनिक गुणों में इसी प्रकार का क्रमिक परिवर्तन मिलता है।

दक्षिण की अंतिम श्रेणी में सब से भारी (सब से अधिक परमाणु-भार वाले) तत्त्व बसते हैं। ये तत्त्व स्वयं अपने बोझ को सँभाल नहीं सकते, अतएव इनके परमाणु अनेक पीढ़ियों तक निरंतर खंडित होते रहने के बाद अन्त में स्थायी रूप से सीसा जैसे तत्त्वों में परिवर्तित हो जाते हैं। इस खंडन-क्रिया से उत्पन्न होती हुई शक्ति का प्रदर्शन एल्फा, बीटा और गामा नामक तीन प्रकार की किरणों के रूप में होता है। इन्हीं तत्त्वों को 'रेडियम-धर्मीय' तत्त्व कहते हैं।

सब से पूर्व की ओर शून्य नम्बर के वर्ग में हीलियम का नवाविष्कृत निष्क्रिय कुटुम्ब स्थित है। इन तत्त्वों की संयोजन-शक्ति शून्य होती है, अतएव इसे शून्य नंबर का कुटुम्ब कहना सार्थक है। इस कुटुंब के तत्त्वों में रासायनिक प्रीति होती ही नहीं, अतएव इस असामाजिक कुटुम्ब को बस्ती के बाहर एक ओर बसा देना सर्वथा न्यायसंगत है।

आप देखते हैं कि इस नगर में ९ वर्ग तथा १६ उपवर्ग अथवा कुटुम्ब बसे हुए हैं——आठ वर्ग एक से आठ नंबर तक के और एक शून्य नम्बर का। प्रत्येक वर्ग के सदस्यों के स्वभावों में साम्य मिलता है। संयोजन-शक्ति सम्बन्धी अद्भुत सादृश्य का उल्लेख हम कर चुके हैं। जब आप किसी भी कुटुंब का निरीक्षण करते हुए उत्तर से दक्षिण की ओर बढ़ेंगे, तो देखेंगे कि उसके सदस्यों के गुणों में कौटुंबिक समानता रहते हुए भी एक क्रमिक अंतर होता जाता है।

वास्तव में यदि आपको किसी भी कुटुंब के सामान्य स्वभाव ज्ञात हैं, तो उसके प्रत्येक सदस्य के गुणों से भी आप परिचित हो गए हैं; या यों कहिए कि यदि आपको किसी कुटुम्ब के एक भी सदस्य के गुण मालूम हैं, तो आप उस कुटुम्ब भर के प्रायः सभी सामान्य गुणों को भी बता सकते हैं। सच बात तो यह है कि यदि आप यह जान लें कि कोई तत्त्व मेण्डलिएफ-नगरी के किस प्लॉट पर बसा हुआ है, तो आप उसके गुणों का वर्णन बख़ूबी कर सकेंगे।

अब हम लोग इस नगरी में घूमकर उसके निवासियों से व्यक्तिगत परिचय प्राप्त करेंगे।

पहले आवर्त, पहली श्रेणी तथा पहले वर्ग के पहले कुटुंब के पहले स्थान पर परमाणु-संख्या १, परमाणु-भार प्रायः १, संयोजन-शक्ति १ और घनत्व १ वाला अद्भुत तत्त्व हाइड्रोजन विराजमान है। इसका विस्तृत परिचय हम आपको पहले ही दे चुके हैं। मेण्डलिएफ-नगरी में इसके स्थान के विषय में रसायनज्ञों में बहुत मतभेद रहा है। मेण्डलिएफ तथा कुछ औरों का मत यह था कि इसे क्षारीय धातुओं (लीथियम, सोडियम आदि) के कुटुम्ब के साथ प्रथम वर्ग में स्थान मिलना चाहिए; कारण, क्षारीय धातुओं की भाँति इसकी संयोजन-शक्ति १ है और यह एक विद्युत्-धनीय तत्त्व है। दूसरों की यह राय थी कि इसे हैलोजन-कुटुम्ब के साथ रखना चाहिए। इनके पक्ष में कई तर्क थे——

(१) उक्त कुटुम्ब के तत्त्वों की भी संयोजन-शक्ति १ है।

(२) उसी कुटुम्ब के सदस्यों के गुणों में रहनेवाले क्रमिक अन्तर को ध्यान में रखते हुए हाइड्रोजन का परमाणु-भार, उसकी गैसीय अवस्था, उसका रंगहीन होना तथा उसके द्रवांक, क्वथनांक आदि अन्य भौतिक गुण हैलोजन-कुटुम्ब के गुणों के अनुकूल हैं, क्षारीय तत्त्वों के नहीं।

(३) हैलोजन-तत्त्वों के समान हाइड्रोजन भी अधातु है।

(४) जिस प्रकार हैलोजन क्षारीय तत्त्वों से संयुक्त होकर क्लोराइड (यथा, सोडियम क्लोराइड, $NaCl$) आदि लवण बनाते हैं, उसी प्रकार हाइड्रोजन भी उनसे संयुक्त होकर हाइड्राइडों (यथा सोडियम हाइड्राइड NaH) का उत्पादन करता है।

(५) हैलोजनों के सदृश हाइड्रोजन विद्युत्-ऋणीय गुण भी प्रदर्शित करता है। उदाहरणार्थ, द्रवित लीथियम हाइड्राइड विद्युत्-विच्छेदन द्वारा ऋणविद्युदाविष्ट हाइड्रोजन 'आयन' और धन लीथियम 'आयनों' में विभाजित हो जाता है, जिसके कारण ये 'आयन' क्रमशः ऐनोड (धन-द्वार) और कैथोड (ऋण-द्वार) पर पहुँचकर विसर्जित होते हैं।

अतएव यह निश्चित करना कठिन हो गया कि हाइड्रोजन को मेण्डलिएफ की व्यवस्था में कहाँ पर स्थान दिया जाय! यहाँ तक कि कुछ रसायनज्ञ खीज तक उठे। प्रसिद्ध ग्रंथकार डॉ० मेलर ने तो उसे धूर्त मानकर यहाँ तक कह डाला कि

---

*ये दो स्थान मैग्नेशियम (Mg) और अल्युमीनियम (Al) के हैं। हाइड्रोजन तत्त्व इनसे संयुक्त नहीं होता, किन्तु इनके कुटुंबों के कतिपय अन्य सदस्य हाइड्रोजन के प्रति क्रमशः २ और ३ संयोजन-शक्तियों को प्रदर्शित करते हैं।

'आवर्त-सारिणी' अथवा मूल तत्त्वों की मेण्डलिएफ-नगरी

[तत्त्वों के पूरे नाम पृ० ९३९ पर देखिए]

आवर्त	श्रेणी	१		२		३		४		५		६		७		८	० वर्ग
				a	b	a	b	a	b	a	b	a	b	a	b		
१	१	१ H १·००७८															२ He ४·००२
२	२	३ Li ६·९४		४ Be ९·०२			५ Bo १०·८		६ C १२		७ N १४		८ O १६		९ F १९		१० Ne २०·१८
३	३	११ Na २३		१२ Mg २४·३			१३ Al २७		१४ Si २८·०६		१५ P ३१.०२		१६ S ३२·०६		१७ Cl ३५·४६		१८ A ३९·९४
४	४	१९ K ३९·१		२० Ca ४०·०८		२१ Sc ४५·१		२२ Ti ४७.९		२३ V ५०·९		२४ Cr ५२·०१		२५ Mn ५४·९		२६ २७ २८ Fe Co Ni ५५·८ ५८·९ ५८·७	
	५		२९ Cu ६३·५७		३० Zn ६५·४		३१ Ga ६९·७		३२ Ge ७२·६		३३ As ७४·९		३४ Se ७९·२		३५ Br ७९·९		३६ Kr ८३
५	६	३७ Rb ८५·४४		३८ Sr ८७·६		३९ Y ८८·९		४० Zr ९१·१		४१ Nb ९३·१		४२ Mo ९६		४३ Tc ९९		४४ ४५ ४६ Ru Rh Pd १०१·७ १०२·९ १०६·७	
	७		४७ Ag १०७·९		४८ Cd ११२·४		४९ In ११४·८		५० Sn ११८·७		५१ Sb १२१·८		५२ Te १२७·५		५३ I १२६·९		५४ Xe १३१
६	८	५५ Cs १३२.९		५६ Ba १३७.४		५७–७१ * १३८·९-१७५		७२ Hf १७८·६		७३ Ta १८१·५		७४ W १८४		७५ Re १८७.४		७६ ७७ ७८ Os Ir Pt १९१ १९३ १९५·२	
	९		७९ Au १९७.२		८० Hg २००·६		८१ Tl २०४·४		८२ Pb २०७·२		८३ Bi २०९		८४ Po २१०		८५ ?		८६ Rn २२२
७	१०	८७ ?		८८ Ra २२६		८९ Ac २२७		९० Th २३२.१		९१ Pa २३१		९२ U २३८·१					

इसके बाद यूरेनियम के बाद खोजे गए 'नेप्चुनियम' (Np), 'प्लूटोनियम' (Pu), 'अमेरिकियम' (Am), 'क्यूरियम' (Cm), 'बर्केलियम (Bk), 'केलिफोर्नियम' (Cf), 'आइन्स्टाइनियम' (E), 'फर्मियम' (Fm), और 'मेडेंलिवियम' (Mv) नामक रेडियम-धर्मी तत्त्वों का स्थान है। [*दुर्लभ मिट्टियों के तत्त्व]

मेण्डलिएफ की योजना में यह प[illegible]योग्य ही नहीं, इसी कारण उसे एक ओर कोने में डाल दिया गया है !

लेकिन बात कुछ दूसरी ही थी। हाइड्रोजन, वास्तव में, धातुओं, अधातुओं और उपधातुओं आदि तीनों तत्त्वों के समान रासायनिक स्वभाव प्रदर्शित करता है। वह वास्तव में, सभी प्रकार के तत्त्वों की मूल प्रतिमा है। सवा सौ से भी अधिक वर्ष हुए, १८१५ ई० में इंगलैण्ड के एक डॉक्टर, विलियम प्राउट, ने कहा था कि सभी तत्त्वों के परमाणु हाइड्रोजन के मूल परमाणु की समष्टि से बने हैं। कुछ ही वर्ष पहले डाल्टन के परमाणुवाद के द्वारा लोगों को यह विश्वास हो गया था कि परमाणु अविभाज्य और निरवयव होता है; इसके अलावा विभिन्न तत्त्वों के परमाणु-भार हाइड्रोजन के परमाणु-भार के ठीक-ठीक अपवर्त्य भी नहीं प्रमाणित हो सके। अतएव प्राउट का अनुमान उस समय के वैज्ञानिकों को जँचा नहीं। परंतु वर्तमान शताब्दी में आधुनिक परमाणु-रचना-संबंधी अन्वेषणों द्वारा उसका यह अनुमान सच्चा प्रमाणित हो चुका है। हम आगे देखेंगे कि हाइड्रोजन का परमाणु दो विद्युत् कणों—एक धन-विद्युत् का कण (प्रोटॉन) और एक ऋण-विद्युत् का कण (इलेक्ट्रॉन)—से बना हुआ है और अन्य तत्त्वों के परमाणु इन्हीं दो विभिन्न कणों के जोड़ों की विभिन्न समष्टियाँ होते हैं।

तो फिर, जो तत्त्व दो प्रकार के मौलिक कणों में से एक-एक के संयुक्त होने से बना है और जिसके कितने ही गुणों में १ का महत्व विद्यमान है, उसका वर्ग नं० १ और श्रेणी नं० १ में स्थान पाना क्यों न सामंजस्यपूर्ण हो ? इसके अतिरिक्त, आधुनिक परमाणु-रचनावाद की दृष्टि से हाइड्रोजन क्षारीय तत्त्वों के समान भी है, अतएव उसे उनके वर्ग में स्थान मिलना ही चाहिए।

तत्त्व नं० २ 'हीलियम' है। इस तत्त्व के और उसके कुटुम्ब के सम्बन्ध में चर्चा की जा चुकी है। इस कुटुम्ब के दो सदस्यों आर्गन और हीलियम की खोज के बाद रैमजे ने देखा था कि मेण्डलिएफ की नगरी में अभी इस कुटुम्ब के चार घर खाली पड़े हैं। आखिर इन रिक्त स्थानों की पूर्त्ति कर दी गई ! वास्तव में, मेण्डलिएफ की व्यवस्था ने अनेक तत्त्वों की खोज में बहुमूल्य सहायता दी है। स्वयं मेण्डलिएफ ने अपनी सारिणी में छूटे हुए रिक्त स्थानों की सहायता से पहले से ही तीन अनाविष्कृत तत्त्वों (नं० २१, ३१ और ३२) का नामकरण तथा उनके गुणों का वर्णन कर दिया था। इनके नाम उसने उसी वर्ग के ऊपर वाले तत्त्व के नाम के साथ 'एक' शब्द जोड़कर एक-बोरन, एक-अल्युमीनियम और एक-सिलिकन रक्खे थे। इन तत्त्वों का आविष्कार क्रमशः १८७९, १८७५, और १८८६ ई० में विल्सन, बोइबाद्राँ तथा विंक्लर द्वारा हुआ, और उनके नाम क्रमशः स्कैण्डियम, गैलियम और जर्मेनियम रक्खे गए। आश्चर्य यह था कि उनके गुण प्रायः वही पाए गए, जिनका पूर्वनिर्धारण मेण्डलिएफ द्वारा हो चुका था ! उदाहरणार्थ, पृष्ठ ३०८४ की सारिणी देखिए।

मेण्डलिएफ की भविष्यवाणी इस प्रकार प्रायः अक्षरशः सत्य निकली ! आप देखते हैं कि मेण्डलिएफ-नगरी में हैलोजन-कुटुम्ब का स्थान नं० ८५ और क्षारीय तत्त्वों का स्थान नं० ८७ अब भी रिक्त हैं। यद्यपि इनके गुण भी प्रायः ज्ञात हैं, तथापि साक्षात् रूप में वे अभी तक नहीं ढूँढ़ निकाले जा सके हैं। उदाहरणार्थ, स्थान नं० ८५ मानो विज्ञान-जगत् को निम्न सूचना दे रहा है:—

मेण्डलिएफ-नगरी में हैलोजन-कुटुम्ब के सबसे बड़े सदस्य (जिसे फिलहाल आप मेण्डलिएफ की भाँति 'एक-आयोडिन' कह सकते हैं) का स्थान रिक्त है। सृष्टि में कहीं न कहीं वह अवश्य भटक रहा होगा, अतएव वैज्ञानिकों को यह सुअवसर प्राप्त है कि वे उसे ढूँढ़ निकालें और अपने स्थान में बसा दें ! हुलिया इस प्रकार है—कोयले-सा काला, किन्तु धातुओं की भाँति चमकदार; मणिमीय; पानी में प्रायः अघुलनशील; आपेक्षिक घनत्व लगभग ८; द्रवांक लगभग २३०°C; परमाणु-भार लगभग २१७; रेडियमधर्मीय; आयोडिन से कम क्रियाशील; हाइड्रोजन से संयुक्त होकर एक अम्लीय यौगिक बनाता है, जो अपने तत्त्वों में विच्छिन्न हो जाता है; और सोडियम से संयुक्त होकर नमक से मिलता-जुलता यौगिक बनाता है, किन्तु इस यौगिक का द्रवांक नमक के द्रवांक से कम, अर्थात् लगभग ६००°C है।

कहना न होगा कि यह हुलिया इस लापता तत्त्व की परीक्षा से नहीं, किन्तु मेण्डलिएफ-सारिणी में इसके स्थान के पास-पड़ोसी तत्त्वों के गुणों द्वारा ही अनुमानित हो सकी है। कुछ वैज्ञानिकों ने इस तत्त्व के आविष्कार की रिपोर्ट भी दी है, किन्तु उसका समर्थन अब तक नहीं हो सका है। जो वैज्ञानिक उसे खोज लेने में सफल होगा, वह उसका नाम अपनी इच्छानुसार रक्खेगा और उसे प्रचुर यश और धन प्राप्त होगा। तत्त्व नं० ८७ के गुण भी इसी प्रकार ज्ञात हैं, किन्तु उसकी भी खोज अभी तक नहीं हो सकी है।

तत्त्व नं० ३ 'लीथियम' क्षारीय तत्त्वों का प्रथम सदस्य है। इस कुटुम्ब में परमाणु-संख्या और परमाणु-भार की वृद्धि के साथ-साथ उसके तत्त्वों की धातव प्रबलता (विद्युत्-धनीयता) बढ़ती जाती है। पानी के साथ इनकी प्रतिक्रिया

	मेण्डलिएफ के पूर्वकथनानुसार एक-सिलिकन (Es) के गुण	विंक्लर (१८८६) द्वारा आविष्कृत जर्मेनियम (Ge) के गुण
१. परमाणु-भार	७२	७२·६
२. घनत्व	५·५	५·४७
३. रंग	मैला भूरा	सफेद भूरा
४. पानी की क्रिया	भाप को कठिनता से विच्छिन्न करेगा	पानी को विच्छिन्न नहीं करता
५. अम्लों और क्षारों की क्रिया	अल्प मात्र	कठिनता से होती है
६. ऑक्साइड	EsO_2, सफेद चूर्ण, घनत्व ४·७, धातु के फूँकने से बनेगी	GeO_2, सफेद चूर्ण, घनत्व ४·७, धातु के जलाने से बनती है
७. क्लोराइड	$EsCl_4$, क्वथनांक १००° से नीचे, घनत्व १·९	$GeCl_4$, क्वथनांक ८६·५°, घनत्व १·९
८. फ्लुओराइड	EsF_4, गैसीय न होगा	GeF_4, सफेद, मणिभीय, ठोस
९. कार्बनिक यौगिक यथा, इथाइड	$Es(C_2H_5)_4$, क्वथनांक १६०°, घनत्व ०·९६ (पानी से कुछ कम)	$Ge(C_2H_5)_4$, क्वथनांक १६०°, घनत्व पानी से कम
१०. तत्त्व को निकालने की विधि	ऑक्साइड अथवा पोटैशियम एक-सिलिकन फ्लुओराइड, K_2EsF_6, पर सोडियम की क्रिया द्वारा	ऑक्साइड पर कार्बन और K_2GeF_6 पर सोडियम की क्रिया द्वारा

द्वारा इस क्रमिक वृद्धि का प्रदर्शन किया जा सकता है। लीथियम पानी को धीरे-धीरे विच्छिन्न करके उससे हाइड्रोजन गैस निकालता है। सोडियम की यह प्रक्रिया अधिक तीव्र है। पोटैशियम की क्रिया इतनी तीव्रता से होती है कि निकली हुई हाइड्रोजन गैस स्वतः जल उठती है। रुबीडियम और सीजियम की प्रक्रियाएँ क्रमशः और भी तेज हो उठती हैं। सीजियम वास्तव में प्रबलतम (सब से अधिक विद्युत्-धनीय) धातु है।

तत्त्व नं० ४ 'बेरीलियम' कैल्शियम के कुटुम्ब का प्रथम सदस्य है। इसकी संयोजन-शक्ति १८६९ ई० में ३ मानी जाती थी। संयोजन-शक्ति और तुल्यभार का गुणनफल परमाणु-भार के बराबर होता है, अतएव इस तत्त्व का परमाणु-भार ३ × ४·५ (बेरीलियम का तुल्यभार) = १३·५ स्वीकार किया जाता था। इस परमाणु-भार के लिए मेण्डलिएफ की व्यवस्था में कोई स्थान न था। मेण्डलिएफ ने देखा कि इस तत्त्व के गुण मैग्नीशियम और कैल्शियम के समान हैं, अतएव उसने अपने नियम के बल पर उसकी संयोजन-शक्ति को ३ से २ में अथवा यों कहिए कि परमाणु-भार को १३·५ से ९ में बदलकर उसे कैल्शियम के कुटुम्ब में प्रथम स्थान दे दिया। यह स्थान रिक्त भी था। उसके नियम की यह एक बड़ी भारी परीक्षा थी। परीक्षक आगे बढ़े—प्रयोग

दोहराए गए और देखा गया कि वास्तव में बेरीलियम की संयोजन-शक्ति २ ही थी, ३ नहीं ! मेण्डलिएफ की व्यवस्था की सहायता से परमाणु-भार भी सुधारे जा सकते हैं, वैज्ञानिक यह देखकर हर्षपूर्ण आश्चर्य से चकित हो गए ! ठीक इसी प्रकार इंडियम (तत्त्व नं० ४९) का परमाणु-भार ७६ से ११४ में बदलकर सुधारा गया। सुवर्ण (नं० ७९) और युरेनियम (नं० ९२) के परमाणु-भार भी कुछ-कुछ गलत थे, अतएव ये भी ठीक किए गए और इन तत्त्वों को अपने शुद्ध परमाणु-भारों के अनुसार सारिणी में उचित स्थान दे दिए गए।

तत्त्व नं० ५ 'बोरन' अल्युमीनियम के कुटुम्ब का प्रथम सदस्य है। हमारे जाने हुए यौगिकों, बोरिक ऐसिड (H_3BO_3) और सोहागा (बोरेक्स, $Na_2B_4O_7 \cdot 10\,H_2O$) में यह तत्त्व संयुक्तावस्था में रहता है। तत्त्व नं० ६ 'कार्बन' चौथे वर्ग के कुटुम्ब b का प्रथम सदस्य है। इसके सम्बन्ध में जितना कहा जाय थोड़ा है। इसकी चतुर्भुजी शक्ति की लीलाएँ अगणित और अद्भुत हैं। इन्हीं लीलाओं के द्वारा वनस्पति और प्राणि-कलेवरों को रचनेवाले सहस्रों अद्भुत पदार्थों की सृष्टि संभव हो सकी है। कार्बन तत्त्व के २ लाख ५० हजार से भी अधिक यौगिक ज्ञात हो चुके हैं ! वस्तुतः शेष सब तत्त्वों के यौगिकों की संख्या कुल मिलाकर भी इतनी नहीं है ! इन्हीं सब कारणों से वह मेण्डलिएफ की व्यवस्था के मध्य में एक प्रमुख स्थान पर गौरव के साथ विराजमान है।

तत्त्व नं० ७ 'नाइट्रोजन' से लेकर नं० १० 'निअन' तक के विषय में हम आपको बहुत-कुछ बता चुके हैं। नं० ११ 'सोडियम' से लेकर नं० १८ 'आर्गन' तक के तत्त्व अपने पूर्ववर्त्ती तत्त्वों के प्रतिरूप हैं। नं० १९ 'पोटैशियम' पर पहुँचकर हम देखते हैं कि यहाँ परमाणु-भार का क्रम एकाएक भंग हो गया––पोटैशियम का परमाणु-भार उसके पूर्ववर्त्ती तत्त्व आर्गन के परमाणु-भार से कम है ! मेण्डलिएफ के नियम पर यह एक भारी दोषारोपण है। फिर केवल यही नहीं, तीन अन्य स्थानों––कोबाल्ट-निकल (२७-२८), टेलूरियम-आयोडिन (५२-५३) और थोरियम-प्रोटैक्टिनियम (९०-९१)––पर भी हमें यही दोष दृष्टिगोचर होता है। मेण्डलिएफ इस दोष के प्रति निरुत्तर था। वह अंत तक यही कहता रहा कि इन तत्त्वों के परमाणु-भारों के निर्धारण में गलती हुई है, किन्तु प्रयोगों को बार-बार दोहराने पर भी उनमें गलती नहीं मिली। उसकी परिभाषा में कहीं अवश्य अभाव रह गया होगा। वास्तव में, परमाणु-भारों से तो परमाणु-संख्याएँ ही अच्छी, जिनके विषय में इस प्रकार के क्रम-भंग का प्रश्न ही नहीं उठता। हम आगे देखेंगे कि आवर्त-नियम की आधुनिक परिभाषा में परमाणु-संख्या ने किस प्रकार एक महत्वपूण रूप धारण करके परमाणु-भार का स्थान ले लिया है।

तत्त्व नं० २० 'कैल्शियम' चूने का धातव तत्त्व है। इसके आगे के पाँच तत्त्व––स्कैण्डियम, टिटैनियम, वैनाडियम, क्रोमियम और मैङ्गनीज––अपने-अपने उपवर्गों (कुटुम्बों) के प्रथम तत्त्व हो गए हैं। आप देखते हैं कि इन कुटुम्बों के तत्त्व अलग करके अपने-अपने वर्गों में बाईं ओर रख दिए गए हैं। हम ऊपर बता चुके हैं कि तत्त्व नं० २६, २७ और २८ एक ही प्लाट पर क्यों बसा दिए गए हैं। इस पर बने हुए मकान को तिमंजिला ही समझिए, जिसकी मंजिलों में क्रमशः लोहा, कोबाल्ट और निकल रहते हैं। इसी आठवें वर्ग में दो तिमंजली इमारतें और भी हैं, जिनमें तीन-तीन तत्त्व, क्रमशः रूथेनियम-ह्लोडियम-पैलेडियम और ओस्मियम-इरीडियम-प्लैटिनम बसते हैं।

लोहा, कोबाल्ट और निकल नामक संक्रमण-तत्त्वों के बाद गुणों का आवर्तन फिर शुरू होता है। लेकिन आप देखते हैं कि अब की बार प्रथम वर्ग में आनेवाले तत्त्व अर्थात् ताँबा, के गुण क्षारीय तत्त्वों के गुणों से बहुत भिन्न हैं। इसीलिए ताँबा इस वर्ग के दूसरे कुटुम्ब का पहला तत्त्व हो गया है––यह दूसरा कुटुम्ब इस वर्ग के दाहिनी ओर रख दिया गया है। इसके तत्त्वों––ताँबा, चाँदी और सुवर्ण––में एक मनोरंजक समानता तो यही है कि ये तीनों तत्त्व सिक्कों तथा आभूषणों के बनाने में काम आते हैं। इसी प्रकार तत्त्व नं० ३० जस्ता भी अपने उपवर्ग का प्रथम तत्त्व हो गया है।

इसके बाद जब हम विभिन्न तत्त्वों का निरीक्षण करते हुए आठवीं श्रेणी के तत्त्व नं० ५७ लैन्थेनम के द्वार पर पहुँचते हैं, तो हमें आश्चर्य से रुक जाना पड़ता है; क्योंकि ऊपर आँख उठाकर देखिए तो एक मीनार-सदृश पंद्रह-मंजिला भवन खड़ा है ! नीचे से ऊपर तक इसमें क्रमशः निम्न पंद्रह विचित्र नामधारी तत्त्व बसे हुए हैं:—

परमाणु-संख्या	तत्त्व	संकेत	परमाणु-भार
५७	लैन्थेनम	La	१३८·९
५८	सीरियम	Ce	१४०·१
५९	प्रेसोडीनियम	Pr	१४०·९
६०	नियोडाइमियम	Nd	१४४·३
६१	इलोनियम (प्रोमीथियम)	Il	१४७·०
६२	सेमेरियम	Sm	१५०·४
६३	युरूपियम	Eu	१५२·०
६४	गैडोलीनियम	Gd	१५६·९

६५	टर्बियम	Tb	[illegible]
६६	डिस्प्रोजियम	Dy	१६२·५
६७	होल्मियम	Ho	१६३·५
६८	एर्बियम	E	१६७·६
६९	थूलियम	Tm	१६९·४
७०	यतेर्बियम	Yb	१७३·०
७१	लुटेशियम	Lu	१७५·०

ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि आवर्त-सारिणी में उसी श्रेणी के तत्त्वों की संयोजन-शक्ति क्रमशः १ से ८ तक बढ़ते हुए अन्त में शून्य हो जाती है, परन्तु आठवें वर्ग में ऐसे तीन-तीन तत्त्व एक साथ मिलते हैं, जिनकी संयोजन-शक्ति समान थी और जिनके परमाणु-भार और गुण परस्पर इतने सदृश थे कि उन्हें एक ही स्थान पर रखना पड़ा। बेरियम के बाद एकाएक पंद्रह ऐसे तत्त्व मिले, जिनमें से प्रत्येक की संयोजन-शक्ति ३ थी और जिनके गुणों में आश्चर्यजनक सादृश्य था, अतएव इन सब को भी एक ही स्थान पर रखना अनिवार्य हो गया।

आप देख सकते हैं कि इनमें से किन्हीं भी दो आनुक्रमिक तत्त्वों के परमाणु-भारों में चार इकाइयों से अधिक का अंतर नहीं है। ये सारे तत्त्व ऑक्साइड-रूप में एक साथ मिले हुए संसार के बहुत कम स्थानों (विशेषतः केरल, ब्रेजिल और कैरोलिना) में पाई जानेवाली 'मोनाजाइट' बालू में मिलते हैं। इसीलिए इन्हें 'दुर्लभ मिट्टियों के तत्त्व' कहते हैं। इन तत्त्वों के यौगिक आंशिक मणिभीकरण* द्वारा बड़ी ही कठिनाई से एक दूसरे से पृथक् किये जा सके हैं, सो भी शुद्ध रूप में नहीं—प्रत्येक में इस समुदाय के दूसरे तत्त्वों के यौगिक अशुद्धि के रूप में मिले ही रहते हैं। क्लोराइड और फ्लुओराइड लवणों के विद्युत्-विच्छेदन द्वारा ये तत्त्व स्वतंत्र रूप में निकाल लिए जाते हैं। इस प्रकार निकली हुई सीरियम नामक दुर्लभ धातु (जिसमें अल्पांशों में लैन्थेनम तथा अन्य दुर्लभ धातुएँ भी मिली रहती हैं) और लोहे के धातु-मिश्रण को किसी खुरदरे पृष्ठ पर रगड़ने से चिनगारियाँ निकलने लगती हैं!

तत्त्व नं० ७३ 'टैण्टलम' और नं० ७४ 'टंग्स्टन' ऊँचे तापों (क्रमशः २,३००°C और ३,४००°C) पर गलनेवाली धातुएँ हैं। इन तत्त्वों में आश्चर्यजनक तांतवता तथा आघात-वर्धनीयता के गुण होते हैं—वे बाल से भी महीन तंतुओं में खींचे [illegible] कागज से भी महीन वर्कों में पीटे जा सकते हैं। कुछ समय पहले टैण्टलम से बिजली के लैंपों के तन्तु बनाए जाते थे, परन्तु अब इस काम के लिए उससे भी ऊँचे ताप पर गलनेवाले टंग्स्टन का व्यवहार होता है। टैण्टलम के तंतु से घायल व्यक्तियों की कटी हुई ज्ञान-नाड़ियाँ तक जोड़ी जा सकी हैं! इस धातु में मानव-तंतुओं से संबद्ध हो जाने की अद्‌भुत क्षमता होती है।

अंतिम संक्रमण-तत्त्वों में से दो, अर्थात् 'इरीडियम' (७७) और 'प्लैटिनम' (७८), का नाम आपने सुना ही होगा। इन्हीं दो धातुओं के मिश्रण से फाउण्टेन-पेन के निबों का सिरा बना होता है। इन संक्रमण-तत्त्वों के बाद गुणों का आवर्तन फिर होता है और हमें नवीं श्रेणी के तत्त्व मिलने लगते हैं। सुवर्ण (७९), पारद (८०) और सीसा (८२) हमारी सुपरिचित धातुएँ हैं। तत्त्व नं० ८४ 'पोलोनियम' से लेकर आगे के तत्त्वों में रेडियम-धर्मी होने का गुण प्रकट होने लगता है।

'थोरियम' (९०) मिट्टी के तेल के गैस-लैंपों की बत्तियों के बनाने में व्यवहृत होता है। ये बत्तियाँ कृत्रिम रेशम की जाली की बनी होती हैं, जो थोरियम नाइट्रेट (९९ प्रतिशत) और सीरियम नाइट्रेट (१ प्रतिशत) के घोल में भिगोकर सुखा ली जाती हैं। आग लगने पर कृत्रिम रेशम जल जाता है और नाइट्रेट विच्छिन्न होकर ऑक्साइडों में परिवर्तित हो जाते हैं। थोरियम ऑक्साइड (थोरिया) और सीरियम ऑक्साइड (सीरिया) का यह बचा हुआ श्वेत मिश्रण जाली के आकार में बच रहता है और जलती हुई गैस के ऊँचे ताप पर तीव्र प्रकाश देते हुए दमकने लगता है।

पहले केवल बानवे मूल तत्त्व ही माने जाते रहे। परन्तु जब से परमाणु का विस्फोट करने में मनुष्य को सफलता मिली है, युरेनियम (९२) से भी भारी तत्त्वों के अस्तित्व की झाँकी सामने आई है। ये सभी तत्त्व रेडियम-धर्मी हैं। पृ० ९३९ तथा ३०८२ की सारिणियों में इनके नाम दिए गए हैं।

परमाणु-रचनावाद में परमाणु-संख्या का महत्व परमाणु-भार से कहीं अधिक है!

हम ऊपर बता चुके हैं कि आवर्त-सारिणी के कतिपय स्थानों में परमाणु-भारों का क्रम भंग हो जाता है। मेण्डलिएफ भी इस दोष का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे सका था। हमने यह भी देखा कि इस दृष्टि से तो तत्त्वों की क्रम-संख्याएँ (परमाणु-संख्याएँ) ही अच्छी हैं, जिनमें इस प्रकार के क्रम-भंग का प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में, आधुनिक परमाणु-रचनावाद में आवर्त-सारिणी की इन क्रम-संख्याओं ने

---

* यदि एक से अधिक मणिभीय यौगिक किसी द्रव में घुले हों, तो उसे सुखाने पर सब से कम घुलनशील यौगिक के मणिभ सब से पहले पृथक् होने लगते हैं। इसे 'आंशिक मणिभीकरण' कहते हैं।

परम महत्वपूर्ण अर्थ धारण कर लिया है। जैसा कि आगे चलकर आप देखेंगे, सारे तत्त्वों के परमाणुओं की रचना इलेक्ट्रॉनों और प्रोटॉनों की बराबर संख्या के विभिन्न समवायों से हुई है। इनमें से सारे प्रोटॉन और कुछ इलेक्ट्रॉन परमाणु के केन्द्रीय पिण्ड में रहते हैं और शेष इलेक्ट्रॉन उस केन्द्र-पिण्ड के चारों ओर विभिन्न कक्षाओं में चक्कर लगाते रहते हैं। परमाणु की आंतरिक व्यवस्था सूर्यमंडल से बहुत मिलती-जुलती है—केन्द्र-पिण्ड सूर्य और आसपास चक्कर लगानेवाले इलेक्ट्रॉन उसके ग्रह जैसे होते हैं। एक इलेट्रॉन और एक प्रोटॉन के संयोग से एक उदासीन कण 'न्यूट्रॉन' बनता है, अतएव केन्द्र-पिंड में सारे इलेक्ट्रॉन उतने ही प्रोटॉनों से मिलकर न्यूट्रॉनों के रूप में हो जाते हैं और शेष प्रोटॉन मुक्त रूप में रहते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि केन्द्र-पिंड के मुक्त प्रोटॉनों की संख्या कक्षाओं में घूमते हुए बाहरी इलेक्ट्रॉनों की संख्या के बराबर होगी। यही संख्या तत्त्व की 'परमाणु-संख्या' होती है, अर्थात् किसी तत्त्व की परमाणु-संख्या उसके परमाणु के केन्द्र-पिण्ड के मुक्त प्रोटॉनों अथवा ग्रह-इलेक्ट्रॉनों की संख्या होती है। किसी भी तत्त्व के गुण उसके परमाणु के ग्रह-इलेक्ट्रॉनों पर ही निर्भर रहते हैं और इन ग्रह-इलेक्ट्रॉनों की व्यवस्था उनकी संख्या अर्थात् परमाणु-संख्या के अनुसार होती है। अतएव तत्त्वों के गुण परमाणु-संख्या के ही आवर्त-संस्कार होते हैं, परमाणु-भार के नहीं। आधुनिक आवर्त-नियम यही है। परमाणु-भार केन्द्र-पिंड में रहनेवाले प्रोटॉनों का भार होता है——इलेक्ट्रॉनों का भार प्रोटॉन के भार की अपेक्षा उपेक्षणीय होता है; और चूंकि प्रोटॉन का भार इकाई होता है, इसलिए परमाणु-भार परमाणु के प्रोटॉनों की संख्या के बराबर होता है।

परमाणु-संख्या के नियम का निर्धारक मोजले।

परमाणु-संख्या का प्रायोगिक निर्धारण सब से पहले १९१३-१४ ई० में ब्रिटिश वैज्ञानिक मोजले ने किया था। मोजले ने देखा कि यद्यपि कोबाल्ट का परमाणु-भार निकल के परमाणु-भार से अधिक है, तथापि उसकी परमाणु-संख्या निकल की परमाणु-संख्या से एक कम है। अतएव यह स्पष्ट हो गया कि परमाणु-भार का क्रम-भंग होते हुए भी परमाणु-संख्या के अनुसार उन्हें सारिणी में ठीक ही स्थान मिला था। यही बात परमाणु-भारों के सिलसिले को तोड़नेवाले अन्य तत्त्वों में भी मिली। अब तो यहाँ तक सिद्ध हो चुका है कि एक ही तत्त्व के परमाणु विभिन्न भारों के हो सकते हैं, किन्तु उनकी परमाणु-संख्या सदैव वही रहेगी। एक ही तत्त्व के विभिन्न परमाणु-भारों के रूपों को 'समस्थानीय तत्त्व' कहते हैं। यह भी संभव है कि तत्त्व विभिन्न हों, अर्थात् उनकी परमाणु-संख्याएँ भिन्न-भिन्न हों, तथापि परमाणु-भार एक ही हों। ऐसे तत्त्वों को 'समभारीय तत्त्व' कहते हैं। परमाणुओं और परमाणु-रचना के विषय में आप आगे विशेष जानकारी प्राप्त करेंगे।

ऋण और धन विद्युत्-कणों से विश्व के सारे पदार्थ का निर्माण हुआ है और इन कणों के समूह परमाणु-रूप में, भिन्न-भिन्न परमाणु-संख्याओं के कारण ही, अगणित प्रकार के गुणों को प्रकट करते हैं। अतएव किसी ने ठीक ही कहा है कि विश्व में सब से अधिक सारगर्भित स्थिर अंक परमाणु-संख्याएँ ही हैं।

मेण्डलिएफ की आवर्त-सारिणी परमाणुओं की बनावट का केवल एक चित्र मात्र है। सारिणी की क्रम-संख्याओं का अर्थ आपको विदित हो ही चुका है। आगे चलकर जब परमाणु के गठन और उसके अवयवों के बारे में आप विशेष जानकारी प्राप्त करेंगे, तब आपको यह भी ज्ञात होगा कि किसी वर्ग का नम्बर केवल इस बात को सूचित करता है कि उसके सदस्यों के परमाणुओं की सब से बाहरी कक्षा में कितने इलेक्ट्रॉन चक्कर लगाते हैं। चूंकि रासायनिक गुण प्रायः सब से बाहरी कक्षा में रहनेवाले इलेक्ट्रॉनों की संख्या पर निर्भर रहते हैं, इसीलिए एक ही वर्ग के तत्त्वों के गुणों में समानता होती है। आप यह भी देखेंगे कि विभिन्न कक्षाओं में रह सकनेवाले इलेक्ट्रॉनों की अधिकतम संख्याएँ और सारिणी के विभिन्न आवर्तों के तत्त्वों की संख्याएँ एक ही हैं। सारांश यह है कि तत्त्वों के गुणों का आवर्तन अब रहस्य नहीं रहा है, वह एक स्पष्ट तथ्य है।

ध्वनिमय जगत् :: ध्वनि की उत्पत्ति, गति, परावर्तन, आदि

हम ध्वनि के संसार में रहते हैं। आदिकाल से ही मनुष्य ने आह्लाद, शोक, विस्मय आदि भावावेगों के प्रदर्शन के लिए शब्दों का ही आश्रय लिया है। हमें कुछ ध्वनियाँ सुरीली और कर्णप्रिय लगती हैं, तो कुछ अत्यन्त कटु; उधर कुछ ध्वनियों के हम इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि वे हमारे ज्ञान-तन्तुओं पर विशेष प्रभाव नहीं डालतीं। अवश्य ही हमारे मन में ध्वनि के संवंध में अनेकों प्रश्न उठते हैं। ध्वनि वास्तव में है क्या ? यह कैसे उत्पन्न होती है ? यह हमारे कानों तक कैसे आती है तथा इसकी अनुभूति हमें किस प्रकार होती है ? आइए, देखें कि विज्ञान इस सम्बन्ध में क्या समाधान प्रस्तुत करता है।

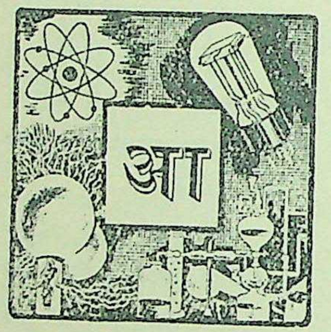

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि ध्वनि की बाह्य जगत् में कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। द्रव्य-जगत् के कम्पन जब भौतिक साधनों द्वारा हमारे मस्तिष्क में संवेदना उत्पन्न करते हैं, तभी हमें ध्वनियों का बोध होता है। ये कम्पन हमारे कान के परदों में वहुत-कुछ उसी प्रकार के कम्पन उत्पन्न करते हैं और इनकी संवेदना हमारे श्रवण-ज्ञान-तन्तु तुरन्त ही ग्रहण कर लेते हैं। ध्वनि का बोध करानेवाले ये कम्पन किसी भी भौतिक पदार्थ में उत्पन्न किए जा सकते हैं। पानी, हवा, लकड़ी, लोहा आदि सभी पदार्थों में ध्वनि-बोधक कंपन का सर्जन हो सकता है। अवश्य ही अपने भौतिक गुणों की विभिन्नता के कारण इनकी कम्पन-क्षमता विभिन्न मात्रा में हुआ करती है।

ध्वनि की जानकारी

द्रव्य में कम्पन उत्पन्न होने से ही ध्वनियों का बोध होता है, इस तथ्य की जाँच करना कुछ अधिक दुस्तर नहीं है। सितार के तार में उँगली से कम्पन पैदा करके ही तो हम सुरीली ध्वनि की सृष्टि करते हैं ! तबले और नगाड़े पर कसा हुआ चमड़ा भी चोट मारने पर थर्राकर कम्पन करने लगता है और तभी हमें उसकी ध्वनि सुनाई पड़ती है। तबले के चमड़े पर सरकंडे के गूदे की नन्हीं-नन्हीं गोलियाँ रख दीजिए। एक बार तबले पर थाप देने पर ये गोलियाँ देर तक उस पर उछलती रहेंगी ! सितार को लिटा दीजिए और उसके तार पर पतले कागज का एक छोटा-सा टुकड़ा मोड़कर इस प्रकार रखिए कि तार के दोनों ओर उसके कुछ भाग नीचे को लटकते रहें। तार पर उँगली से चोट देने पर कागज देर तक उस पर उछलता-कूदता रहेगा ! मन्दिरों में बजनेवाले घण्टे को ही ले लीजिए। मुँगरी से चोट करने पर उसमें से जोरों की ध्वनि उत्पन्न होती है। अब सावधानी के साथ जरा अपनी नाक को घंटे की सतह से छुलाइए—आप उसके कम्पन का स्पष्ट अनुभव करेंगे। प्रत्येक ध्वनि-उत्पादक के कम्पन के बन्द होते ही उसकी ध्वनि भी लुप्त हो जाती है। घण्टे पर चोट करके उसे फौरन् ही दोनों हाथों से कसकर थाम लीजिए—आवाज उसी क्षण वन्द हो जाएगी !

ध्वनि-उत्पादक की कम्पन की गति प्रति सैकण्ड कम-से-कम १६ होनी चाहिए, तभी मनुष्य को ध्वनि का बोध हो सकता है। कुछ विशिष्ट प्राणियों में ध्वनि की अनुभूति करने की क्षमता मनुष्य की अपेक्षा अधिक होती है और ये १६ बार प्रति सैकण्ड से कम कम्पन करनेवाले पदार्थों द्वारा उत्पन्न हुए उद्वेलन का भी ध्वनि के रूप में अनुभव कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, एक पतली बेंत की छड़ी लेकर उसे कँपकपाइए।

यदि कम्पन की गति धीमी हुई, तो हमें किसी प्रकार की ध्वनि नहीं सुनाई पड़ेगी। किन्तु कम्पन की गति के बढ़ते ही स्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ने लग जाती है। अनुभूति-योग्य ध्वनि के लिए कम्पन की महत्तम सीमा प्रति सैकण्ड २०,००० है। इससे अधिक कम्पन होने पर उससे उत्पन्न हुई ध्वनि को हमारे कान नहीं ग्रहण कर पाते। मच्छर की झनझनाहट हमें उसके पंखों के कम्पन के कारण ही सुनाई पड़ती है। स्वयं हमें भी बोलते समय अपने हलक के अन्दर के स्वर-रज्जुओं में कम्पन उत्पन्न करना होता है। इन स्वर-रज्जुओं को तानकर उनकी कम्पन-गति को हम घटा-बढ़ा सकते हैं और ऐसा करने से इच्छानुसार तीव्र या कोमल स्वर उत्पन्न कर सकते हैं। उच्च श्रेणी के गवैये अपने स्वर-रज्जुओं पर इस लिहाज से पूरा अधिकार रखते हैं। जलतरंग का एक प्याला लीजिए और उसमें इतना पानी डालिए कि उस पर बाँस की तीली से चोट करने से कोई-न-कोई मधुर स्वर उत्पन्न हो। अब सरकंडे के गूदे की एक पतली गोली इस प्रकार लटकाइए कि वह प्याले की कोर को छूती रहे। प्याले पर चोट करते ही गोली उसके कम्पन के कारण दूर छटक जाएगी।

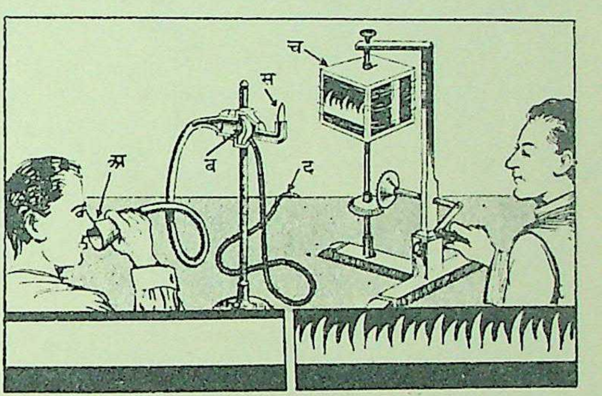

ध्वनि-उत्पादक के कम्पन को दृष्टिगम्य कराने के हेतु किया गया 'कोनिग का प्रयोग' (विवरण इसी पृष्ठ पर पढ़िए)।

कोनिग का प्रयोग

आपको यह जानकर हैरानी होगी कि आधुनिक वैज्ञानिकों ने विशेष प्रयोगों द्वारा ध्वनि-उत्पादकों के कम्पन को भी स्पष्टतया दृष्टिगम्य कराने में सफलता प्राप्त की है। इस प्रकार का सर्वप्रथम प्रयास १८६२ ई० में लन्दन की नुमाइश में कोनिग ने किया था। इसी पृ० का चित्र देखिए। एक लंबी तुरही-सरीखे वाद्ययंत्र 'अ' के दूसरे छोर 'ब' पर उसने झिल्ली का हलका परदा लगाया। परदे की दूसरी तरफ गैस की लौ 'स' जल रही थी, जिसमें नली 'द' से गैस आ रही थी। सामने ही कुछ दूरी पर एक चौपहल दर्पण 'च' रक्खा था, जिसे हाथ से या विद्युत् द्वारा नचा सकते थे। जब दर्पण तेजी के साथ नाचता था, तो उसमें गैस की दीप-शिखा साधारणतः समान ऊँचाई की दीखती थी। किन्तु तुरही में फूँक मारने पर तुरही के झिल्लीवाले परदे में कम्पन उत्पन्न होता था—तदनुसार गैस की लौ भी ऊँची-नीची होकर काँपती थी! इस समय नाचते हुए दर्पण में लौ का प्रतिबिम्ब समान ऊँचाई का न होकर लपटों की तरह कटा हुआ दिखलाई देता था, जैसा कि चित्र की दाहिनी निचली कोर पर परिवर्द्धित रूप में दर्शाया गया है।

चैल्डनी की आकृतियाँ

कम्पन करनेवाले पदार्थ पर यदि किसी महीन बुकनी को फैला दिया जाय, तो कंपन के कारण यह बुकनी उस पदार्थ के धरातल पर विचित्र आकृतियों के रूप में एकत्रित हो जाती है! काँच का एक चौकोर टुकड़ा लीजिए, जो मध्यबिन्दु पर किसी स्तम्भ में कसा हुआ हो। इस पर समान रूप से पुष्प-पराग की बुकनी बिछा दीजिए। बुकनी की तह बहुत मोटी न होने पाए। अब बेले की धन्वा की ताँत काँच की कोर पर रगड़िए। साथ ही काँच के धरातल के किनारे के किसी बिंदु पर अपनी उँगली रख दीजिए। आप देखेंगे कि पराग की बुकनी काँच के धरातल पर एक विशेष आकृति बना लेती है! काँच के धरातल को भिन्न-भिन्न स्थान पर छूने से ऐसी विभिन्न प्रकार की चित्राकृतियाँ बन जाती हैं! इसका रहस्य यह है कि काँच का टुकड़ा जब कम्पन करता है, तो धरातल पर विशेष रेखाओं में स्थित काँच के कण पूर्णतया स्थिर रहते हैं, पर शेष कण कम्पन करते रहते हैं। अतः अन्य स्थानों से हटकर पराग इन्हीं रेखाओं पर एकत्रित हो जाता है। काँच तथा पीतल की थाली के ऐसे कंपन का सर्वप्रथम पता एक जर्मन वैज्ञानिक चैल्डनी ने लगाया था। अतः ये आकृतियाँ 'चैल्डनी की आकृतियाँ' कहकर पुकारी जाती हैं (दे० पृ० ३०९० का चित्र)।

इस प्रकार की आकृतियाँ तबले या ढोल पर मढ़े हुए चमड़े पर भी कम्पन उत्पन्न करके प्राप्त की जा सकती हैं। ऐसा करने के लिए, तबले के चमड़े में कम्पन उत्पन्न करने के हेतु उसे छूने की भी आवश्यकता नहीं। उसके निकट महज घण्टी बजाकर हवा में कम्पन उत्पन्न कर देना काफी होता है। हवा का यह कम्पन तबले के चमड़े में भी हलका कंपन उत्पन्न करने में समर्थ होता है। फलतः यदि उस पर कोई बुकनी पड़ी हो, तो उसमें विभिन्न आकृतियाँ बन जाती हैं।

‘ट्यूनिंग फॉर्क’

ध्वनि-उत्पादक के कम्पन को दृष्टिगम्य कराने के लिए ‘ट्यूनिंग फॉर्क’ नामक एक यंत्र की भी सहायता ली जा सकती है। ध्वनि के अध्ययन के लिए ट्यूनिंग फॉर्क वास्तव में एक अत्यन्त उपयोगी यंत्र है। यह यंत्र महज काँसे या इस्पात की एक छड़ होता है, जो बीचोबीच में चिमटे की तरह मोड़ दी गई होती है। उसके मोड़ का मध्यबिंदु एक मजबूत स्तंभ से जुड़ा होता है, जो इसे पकड़ने के लिए हैन्डिल का काम देता है। प्रयोग के लिए दो ट्यूनिंग फॉर्क लेते हैं। इन पर पृष्ठ ३०९१ के मानचित्रानुसार दो छोटे दर्पण (अ और ब) आरूढ़ करा दिए जाते हैं। इनमें से एक को सीधा खड़ा करके स्तम्भ में कस देते हैं और दूसरे को मेज के धरातल के समानान्तर रखकर स्तम्भ पर इस प्रकार कसते हैं कि इनके दर्पण एक दूसरे के आमने-सामने रहें। तीव्र प्रकाश की श्वेत किरणें आड़े ट्यूनिंग फॉर्क के दर्पण से परावर्तित होकर खड़े ट्यूनिंग फॉर्क के दर्पण पर पड़ती हैं। वहाँ से ये एक लेंस ‘स’ से होकर सफेद पर्दे पर पड़ती हैं। अब यदि आड़े ट्यूनिंग फॉर्क की भुजाओं को रबड़ की हथौड़ी से चोट देकर कम्पित किया जाय, तो पर्दे पर आलोक-किरण का धब्बा एक आड़ी रेखा में इधर से उधर नाचता दिखाई देगा और हमें पर्दे पर धवल आलोक की एक चटकीली तथा मोटी रेखा ‘द’ दिखाई देगी। अब यदि खड़े ट्यूनिंग फॉर्क को भी इस प्रकार कम्पित कराया जाय कि दोनों में कम्पन एक साथ ही आरम्भ हो, तो पर्दे पर पड़नेवाला आलोक ज्यामिति की विविध सुन्दर आकृतियाँ बनाएगा, जैसी कि चित्र के निम्न भाग में अलग से दिखाई गई हैं। ट्यूनिंग फॉर्क की प्रति सेकण्ड की कम्पन-गति के बदलने से इन आकृतियों का रूप भी बदला जा सकता है। इस प्रकार बनी हुई आकृतियों का सर्वप्रथम विस्तृत अध्ययन लिसाजाऊ नामक एक वैज्ञानिक ने किया था, अतः उक्त वैज्ञानिक के नाम पर ये आकृतियाँ ‘लिसाजाऊ की आकृतियों’ के नाम से प्रसिद्ध हैं (दे० पृ० ३०९१ का चित्र)।

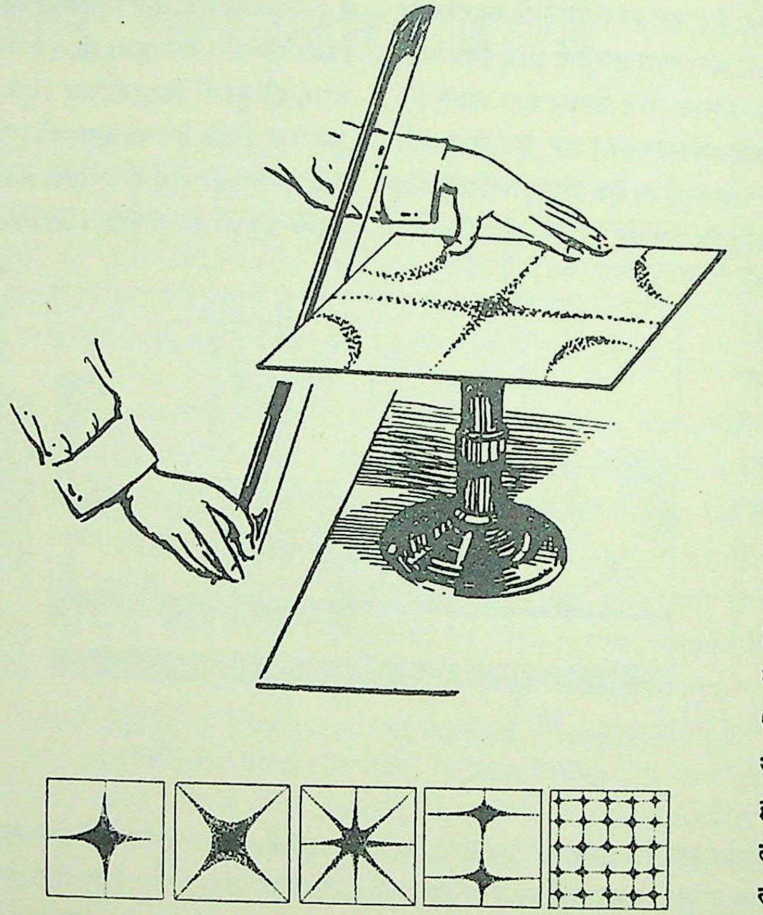

‘चैल्डनी की आकृतियाँ’ :: ऊपर प्रयोग किया जा रहा है; नीचे, प्राप्त आकृतियों के विविध रूप दिग्दर्शित हैं (विवरण पृ० ३०८९ पर पढ़िए)।

ध्वनि की गति

साधारणतः हम इस बात का अनुभव नहीं कर पाते कि ध्वनि को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में कितना समय लगता है। कमरे में बातें करते समय हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे मुँह से शब्द निकलते ही दूसरे व्यक्ति उसे सुन लेते हैं। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। फुटबाल के खेल में जब हम दूरी पर खड़े होकर खेल देखते हैं, तो गेंद को ‘किक’ लगाने की धप की आवाज हमें ‘किक’ लगने के कुछ देर बाद ही सुनाई पड़ती है। अवश्य ही इसका कारण यह है कि ‘किक’ लगते समय उत्पन्न होनेवाली ध्वनि हम तक पहुँचने में प्रकाश की अपेक्षा अधिक समय लेती है। ध्वनियाँ प्रायः हवा में से होकर हमारे कान तक पहुँचती हैं, अतः उनके कम्पन को हवा में से होकर आगे बढ़ने में समय लगता है--ठीक उसी प्रकार जिस तरह एक लम्बी छल्लेदार कमानी के एक छोर पर धक्का देने से उस धक्के द्वारा उत्पन्न हुआ कम्पन कुछ देर उपरान्त ही दूसरे छोर तक पहुँच पाता है। बंदूक की गोली हवा में

ध्वनि की गति से कहीं तेज रफ्तार से चलती है । अतः बन्दूक दगने का शब्द शिकार को गोली लग चुकने के बाद सुनाई पड़ता है ।

आलोक-तरंगों की भाँति ध्वनि की तरंगें भी वैकुअम या शून्य को पार करके आगे नहीं बढ़ सकतीं । ध्वनि को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए भौतिक माध्यम का सहारा अवश्य ही चाहिए । यह आवश्यक नहीं है कि वह माध्यम हवा ही हो । लकड़ी, पानी, काँसा, लोहा, गैस आदि कोई भी पदार्थ ध्वनिवाहक बन सकता है । इस सिलसिले में आप एक रोचक प्रयोग कर सकते हैं । सूखी लकड़ी के सात-आठ फीट लम्बे लट्ठे के एक छोर पर आप अपना कान लगाइए और दूसरे छोर पर अपने मित्र को जरा नाखून से लकड़ी कुरेदने को कहिए । आपको कुरेदने की आवाज स्पष्ट सुनाई पड़ेगी ! इस प्रयोग को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक नहीं कि लकड़ी का दूसरा सिरा जोर से ही कुरेदा जाय । इसी तरह लोहे या पीतल का कलछुला उठा लेआइए और उसे मेज पर रखकर उसके एक सिरे को चाकू से कुरेदिए । अपने कान काफी निकट रखने पर भी आपको किसी प्रकार का शब्द सुनाई नहीं पड़ेगा । अब कलछुले के एक सिरे को अपने कान में लगा लीजिए और चाकू से दूसरे सिरे को कुरेदिए स्पष्टतः करकराहट का कर्कश शब्द सुनाई पड़ेगा । इस बार कलछुले की डण्डी में से होकर ध्वनि आपके कानों तक पहुँचती है ।

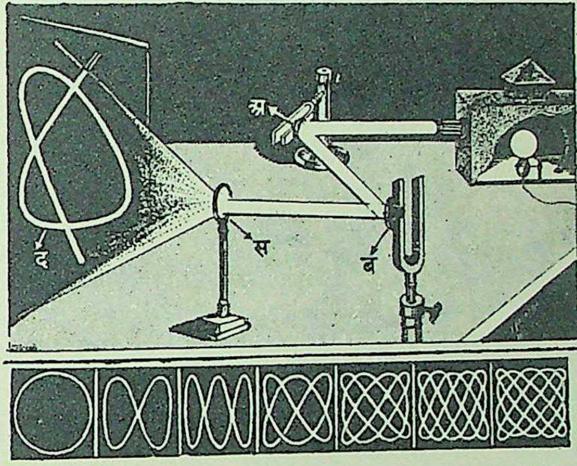

'लिसाजाऊ की आकृतियाँ' और उनसे संबंधित ट्यूनिङ्ग फॉर्कों का प्रयोग (विवरण पृ० ३०९० पर पढ़िए) ।

आपने प्रायः खेल के तौर पर बच्चों को धागे के बने हुए नकली टेलीफोन से एक दूसरे के साथ बातचीत करते हुए देखा होगा । ऐसा टेलीफोन सिगरेट के टिन, मोमी कागज और पतले धागे की सहायता से बनाया जा सकता है । सिगरेट के दो टिनों के पेंदे और ढक्कन हटा दीजिए और उन पर एक ओर खूब तानकर मोमी कागज बाँध दीजिए । अब कागज के बीचोबीच नन्हा-सा सूराख करके उसमें धागे का एक सिरा गाँठ लगाकर डाल दीजिए, ताकि जोर पकड़ने पर धागा उसके अन्दर से निकलने न पाए । इसी प्रकार धागे का दूसरा छोर दूसरे टिन के अन्दर डाल दीजिए । धागे की लंबाई तीस-चालीस गज तक की भी ली जा सकती है । अब एक टिन में मुँह लगाकर धीरे-धीरे बात कीजिए । दूसरे टिन में कान लगानेवाले व्यक्ति को सारी बातें स्पष्ट सुनाई पड़ेंगी !

ध्वनि के उत्तम और अधम चालक

माध्यम का घनत्व जितना अधिक होगा, उसमें से गुजरनेवाली ध्वनि का जोर भी उतना ही अधिक होगा । रात को यदि तकिए के नीचे घड़ी दबी रह जाती है, तो उसकी टिक्-टिक् आवाज इतने जोर से सुनाई पड़ती है कि हमें नींद नहीं आती । तकिए के नीचे से घड़ी को हटाकर पास ही मेज पर रख देने पर उसकी टिक-टिक हमें बिल्कुल ही नहीं सुनाई पड़ती, क्योंकि हवा रुई की अपेक्षा अधिक विरल माध्यम है।

पानी के अन्दर भी आवाज हवा की अपेक्षा अधिक जोर के साथ सुनाई पड़ती है । इसी कारण मछली फँसाने के लिए बंसी लगानेवाले पानी में बंसी डालते समय अत्यन्त सावधानी से काम लेते हैं, ताकि पानी में किसी प्रकार की छपछपाहट का शब्द उत्पन्न न हो, अन्यथा मछलियाँ उस शब्द को सुनकर भाग जाएँगी । स्नान करने के टब में पानी भरकर उसमें अपने सिर को डुबाइए । यदि आपके मित्र टब की दीवारों पर ठक्-ठक् की आवाज करेंगे, तो आपको यह आवाज पानी के भीतर खूब तेज सुनाई पड़ेगी ।

समुद्र में डूबी हुई चट्टानों से जहाजों को सावधान करने के लिए पानी के अन्दर ही घण्टा बजाते हैं । चट्टान पर लंगर से बँधा हुआ एक पीपा पानी में तैरता रहता है । इस पीपे में एक विशालकाय घण्टा लगा रहता है । लहरों के धक्कों से यह पीपा बराबर हिलता रहता है, अतः घण्टा भी बजता रहता है । निकट से गुजरनेवाले जहाजों के पेंदे के पास दोनों ओर माइक्रोफोन लगे होते हैं, जो पानी में डूबे रहते हैं । घण्टे की आवाज को ये माइक्रोफोन तुरंत ग्रहण कर लेते हैं । माइक्रोफोन को कान से लगाकर जहाज का कप्तान पता लगा सकता है कि उक्त खतरनाक चट्टान किस ओर है ।

धरती में से भी ध्वनि की लहरें तेजी के साथ हरकत करती हैं। भूचाल आनेवाले प्रदेशों में भूचाल के केन्द्र से चले हुए कम्पन की गड़गड़ाहट को घास चरते हुए चौपाए फौरन् सुन लेते हैं और चौकन्ने होकर इधर-उधर भागने लग जाते हैं। अतः उस प्रदेश के निवासियों को आनेवाले संकट की मिनटों पहले सूचना मिल जाती है। घोड़े की टाप की आवाज भी मीलों की दूरी से धरती से कान लगाने पर सुनाई पड़ सकती है। अमेरिका के मूल निवासी 'रेड इण्डियन' अपने शत्रुओं की टोह लगाने के लिए प्रायः धरती से कान लगाकर सुनते थे कि शत्रु के घोड़ों की टाप सुनाई पड़ रही है या नहीं (इसी पृष्ठ का चित्र देखिए)।

उपर्युक्त दृष्टान्तों से यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है कि ध्वनि सभी प्रकार के पदार्थों में से होकर गुजर सकती है। हाँ, कुछ माध्यम ध्वनि के अच्छे चालक होते हैं और कुछ अधम। रबड़, नमदा आदि ध्वनि-अवरोधक पदार्थ अधम चालकों की श्रेणी में आते हैं।

भौतिक माध्यम की अनुपस्थिति में ध्वनि एक स्थान से दूसरे स्थान को बिल्कुल नहीं जा सकती, इस वैज्ञानिक तथ्य की जाँच करने के लिए निम्न प्रयोग किया जा सकता है। काँच के एक फ्लास्क को लेकर उसमें दो छेदवाली रबड़ की कार्क लगा दीजिए। एक सूराख से काँसे की एक घण्टी लटका दीजिए तथा दूसरे सूराख में काँच की नली डालकर रबड़ की ट्यूब से उसका सम्बन्ध एक वैकुअम-पम्प से कर दीजिए। फ्लास्क हिलाने पर घण्टी की आवाज स्पष्ट सुनाई पड़ती है। वैकुअम-पम्प को थोड़ी देर तक चालू रखने पर फ्लास्क की हवा के विरल हो जाने के कारण अब आवाज धीमी हो जाती है। वैकुअम-पम्प को देर तक चलाने से फ्लास्क के अन्दर की तमाम हवा निकल जाती है। फ्लास्क को हिलाने पर यद्यपि घंटी पूर्ववत् ही बजती है, किन्तु हमें उसके बजने का शब्द बिल्कुल ही नहीं सुनाई पड़ता है!

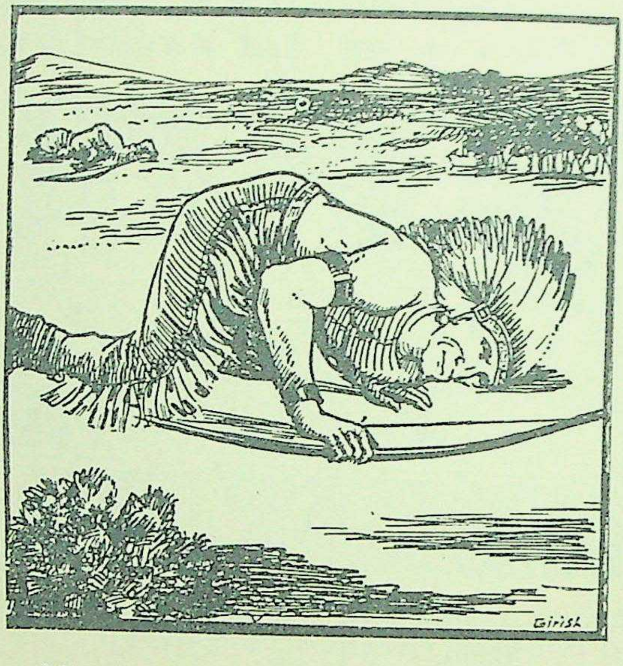

धरती में से भी ध्वनि की तरंगें गुजरती हैं। अमेरिका के आदिवासी धरती पर कान लगाकर शत्रु के घोड़ों की टाप की ध्वनि सुन लेते थे।

राकेट आदि की सहायता से मनुष्य यदि भविष्य में चन्द्रमा पर पहुँच जाएगा, तो वह वहाँ अपने साथियों से बातचीत करने का आनन्द नहीं उठा सकेगा! क्योंकि चन्द्रमा के धरातल पर हवा या अन्य कोई गैस का माध्यम मौजूद नहीं है—फलतः चन्द्रलोक में सर्वत्र पूर्ण निस्तब्धता विराजती है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, विभिन्न माध्यमों में ध्वनि की गति एक-सी नहीं होती। रेलवे-लाइन के पास बैठकर अपना एक कान लोहे की पटरी से लगाइए और किसी व्यक्ति से कहिए कि वह पटरी के दूसरे सिरे पर कंकड़ से चोट करे। आपको पहले एक तेज शब्द पटरी के सहारे सुनाई देगा; फिर हवा में से होकर आपके दूसरे कान में अपेक्षाकृत धीमी आवाज भी पहुँचेगी।

विभिन्न माध्यमों में ध्वनि-गति की माप

विभिन्न माध्यमों में ध्वनि की गति मालूम करने के लिए वैज्ञानिकों ने विशेष परिश्रम किया है, क्योंकि ध्वनि के सहारे डूबे हुए जहाजों का पता लगाया जा सकता है, आकाश में वायुयान की स्थिति ज्ञात की जा सकती है तथा यह भी मालूम किया जा सकता है कि शत्रु की तोपें किस स्थान से गोले फेंक रही हैं!

२०० वर्ष पूर्व, हवा में ध्वनि की गति मालूम करने के लिए फ्रेंच वैज्ञानिकों ने एक सफल प्रयोग किया था। इसके लिए दो ऊँची पहाड़ियों पर दो तोपें रखी गईं थीं। ये चोटियाँ एक दूसरे से ६१,०४७ फीट की दूरी पर थीं। यह प्रयोग रात्रि की निस्तब्धता में किया गया था, ताकि तोप दगने की आवाज सुनने में किसी प्रकार की अड़चन न पड़े, साथ ही तोपों के बारूद के विस्फोट की चिनगारी भी स्पष्ट दिखलाई पड़े। प्रत्येक चोटी पर वैज्ञानिकों की एक-एक टोली 'क्रोनोमीटर' (समय-आलेखक) लेकर तैयार खड़ी थी। दस-दस मिनट के अवकाश पर प्रत्येक चोटी पर १२ बार तोपें दागी गईं। प्रत्येक बार तोप के दगने पर बारूद भड़कने की चमक के दृष्टिगोचर होने तथा उसकी आवाज के दूसरी

चोटी पर सुनाई देने के बीच का समय लिख लिया गया। बारूद की चमक के आलोक ने तो इस दूरी को पार करने में नगण्य ही समय लिया (क्योंकि आलोक की गति प्रति सैकण्ड १,८६,००० मील है), किंतु ध्वनि को इस फासले के तय करने में पर्याप्त समय लगता था। इन प्रयोगों का औसत नतीजा निकालने पर वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस दूरी को तय करने में ध्वनि को ५४$\frac{३}{५}$ सैकण्ड समय लगता था। अतः ध्वनि की रफ्तार हवा में १,१०८ फीट प्रति सैकण्ड कूती गई। इस हिसाब से हवा में १ मील का फासला तय करने में ध्वनि को लगभग ५ सैकण्ड लगे।

पानी के अन्दर ध्वनि अधिक तेजी के साथ चलती है। पानी में ध्वनि की गति मालूम करने के लिए सर्वप्रथम प्रयोग १०० वर्ष पूर्व स्विट्जरलैण्ड की जिनेवा झील में किया गया था। इसके लिए झील के आमने-सामने के दो किनारों के निकट दो किश्तियाँ पानी में स्थिर रक्खी गई थीं। एक किश्ती से एक भारी घण्टा पानी के अन्दर लटकाया गया था। किश्ती के इसी छोर पर लीवर के सहारे एक हथौड़ी भी लगाई गई थी, जो पानी के अन्दर घण्टे के पास लटकती थी। लीवर के दस्ते की मदद से इस हथौड़ी को हिलाकर घण्टे पर जोरों के साथ चोट पहुँचा सकते थे। उसी छोर पर तश्तरी में मैग्नीशियम पाउडर रखा हुआ था। एक विशेष युक्ति द्वारा जलती हुई लकड़ी का एक टुकड़ा हथौड़ी के दस्ते के हरकत करते ही मैग्नीशियम को छू लेता और वह चमक के साथ जल उठता था। दूसरे छोर पर एक वैज्ञानिक हाथ में क्रोनोमीटर लेकर बैठा था। उसके कान में तुरही के आकार के एक यंत्र का पतला सिरा था तथा इस यंत्र का चौड़ा मुख पानी के अन्दर इस प्रकार लटकाया गया था कि दूसरी किश्ती के घंटे से उत्पन्न हुआ पानी के अन्दर का कम्पन तुरही के मुँह में प्रवेश कर सके। इस तुरही के चौड़े मुँह पर धातु की एक पतली चद्दर लगी थी, जो पानी के कम्पन के आघात को पाकर स्वयं कम्पन करके उसी प्रकार का शब्द उत्पन्न कर सकती थी।

इस प्रयोग के समय दूसरी किश्ती के वैज्ञानिक ने पहले तो क्रोनोमीटर में उस समय को देखा, जब कि मैग्नीशियम की चमक दिखलाई पड़ी थी। तदुपरान्त उसने उस क्षण को नोट किया, जब उसे घण्टे की आवाज सुनाई पड़ी थी। दोनों किश्तियों के दर्मियान ४४,२३७ फीट की दूरी थी। उस दूरी को तय करने में ध्वनि को पानी के अन्दर ९$\frac{३}{८}$ सैकण्ड समय लगा था। इस हिसाब से ध्वनि की गति पानी में ४,७०८ फीट प्रति सैकण्ड निकली। यह प्रयोग रात के अँधेरे में किया गया था। चूँकि झील का पानी स्थिर था, अतः इस बात की आवश्यकता नहीं समझी गई कि ध्वनि की गति दोनों ओर से नापी जाय।

विभिन्न माध्यमों में ध्वनि की गति क्या होती है, यह निम्नलिखित तालिका से जाना जा सकता है:—

माध्यम	ध्वनि की गति (फीट प्रति सैंकण्ड)	
हवा (०° श०)	१,०९०	
हाइड्रोजन („)	४,१६३	
ऑक्सिजन	१,०४१	
पानी	४,७१४	
सीसा	४,३३१	(लगभग)
सोना	६,१०७	„
चाँदी	८,५४४	„
जस्ता	१०,७५०	„
ताँबा	१२,१७२	„
लोहा	१६,८२०	„
शीशा (काँच)	१६,४१०	„
पीतल	११,४८०	„
शाहबलूत लकड़ी	१२,६२०	„

चाहे धीमी हो चाहे कर्कश, तीक्ष्ण हो या भारी, हर श्रेणी की ध्वनि किसी भी एक माध्यम में लगभग समान गति से ही गमन करती है। यदि ऐसा न हो, तो 'ऑर्केस्ट्रा' में बजनेवाले विभिन्न वाद्ययंत्रों की ध्वनियाँ हमारे कानों तक पहुँचते हुए विभिन्न समय लेंगी और फलस्वरूप संगीत का सारा मजा किरकिरा हो जाएगा! हाँ, प्रबल विस्फोट से उत्पन्न हुई तेज ध्वनि एक ही माध्यम में सामान्य ध्वनियों की अपेक्षा अवश्य तीव्रतर गति से गमन करती है।

ध्वनि-तरंगों का उत्पादन

हमने देखा कि ध्वनि उत्पन्न करने के लिए ध्वनि-उत्पादक में कम्पन पैदा करना आवश्यक होता है। इस कम्पन को कुछ देर तक बनाए रखने के लिए यह जरूरी है कि ध्वनि-उत्पादक में स्थिति-स्थापकता या लचकीलेपन का गुण मौजूद हो। विज्ञान की भाषा में स्थितिस्थापकता या लचकीलापन पदार्थ के उस गुण को कहते हैं, जिसके कारण अल्प मात्रा में स्थानान्तरित किए जाने पर वह पदार्थ पुनः अपने पूर्ववत् स्थान पर आ जाता है। हमने यह भी देखा कि ध्वनि के आवागमन के लिए भौतिक माध्यम का होना भी आवश्यक

है। इस माध्यम में भी लचकीलेपन का गुण मौजूद होना चाहिए। हवा, पानी, लोहा, लकड़ी आदि माध्यमों में यह गुण प्रचुर मात्रा में मौजूद रहता है। इसी कारण ये ध्वनि के अच्छे चालक हैं। इसके प्रतिकूल लकड़ी का बुरादा, नमदा आदि में यह गुण नगण्य मात्रा में होता है, अतः इनमें से होकर ध्वनि का आवागमन अच्छी तरह नहीं हो पाता। ये ध्वनि के अधम चालक या प्रतिरोधक कहे जा सकते है। आइए, अब देखें किसी माध्यम में से होते हुए ध्वनि एक स्थान से दूसरे स्थान को कैसे जाती है ?

२,३०० वर्ष पूर्व अरस्तू ने भी इस प्रश्न पर विचार किया था। उसका कहना था कि ध्वनि-उत्पादक के कम्पन के आघात से माध्यम के कणों में भी कम्पन उत्पन्न होता है और यही कम्पन माध्यम में ध्वनि-उत्पादक के चारों ओर फैल जाता है। अरस्तू के जमाने से लेकर अब तक का अनुसन्धान इसी मत का समर्थन करता है। घण्टी पर आघात करने पर उसमें कम्पन उत्पन्न होता है। घण्टी के संसर्ग में जो हवा है, उसमें भी इसी तरह का कम्पन उत्पन्न होता है, जो धीरे-धीरे हवा में चारों ओर गोलाई में आगे बढ़ता है। इस प्रकार हवा में ध्वनि-तरंगें बन जाती हैं। ये तरंगें जब हमारे कान के पर्दे पर आकर टकराती हैं, तो इनके आघात से हमारे कान के पर्दे में घण्टी के कम्पन के अनुसार ही कम्पन पैदा होता है, जिसे ग्रहण कर हमारे श्रवण-तन्तु घण्टी का शब्द सुनने का अनुभव करते हैं (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)।

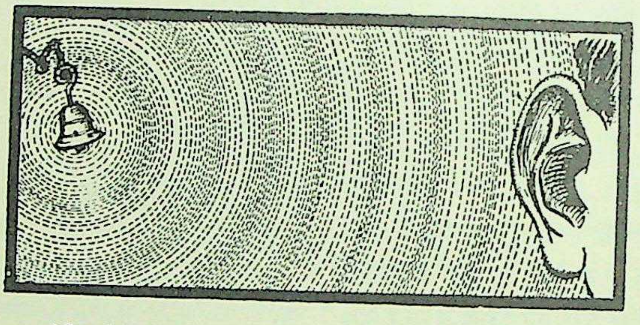

जब घंटी वजती है, तो उसकी दीवार के झनझना उठने से जो कंपन उत्पन्न होता है, वह वायु में चारों ओर गोलाई में तरंगित होता है और हमारे कानों तक पहुँचकर ध्वनि के रूप में सुनाई देता है।

ट्यूनिग फॉर्क के प्रयोग द्वारा ध्वनि-तरंगों के निर्माण की क्रिया समझ में आ सकती है (दे० पृ० ३०९५ का ऊपरी चित्र)। कम्पन करते हुए ट्यूनिग फॉर्क की भुजा 'ब' जब 'अ' से 'स' की ओर जाती है, तब वह अपने सामने की हवा पर रास्ते भर आघात करती जाती है। अतः यह हवा संकुचित हो जाती है। किन्तु लचकीलेपन के कारण हवा अपनी संकुचित अवस्था से पुनः प्रसरण कर फैलना चाहती है। इस प्रयत्न में वह अपने सामने की हवा को दबाती है; फिर यह हवा अपने आगे की हवा को भी दबाती है। इस प्रकार हवा में संकुचन उत्तरोत्तर आगे की ओर बढ़ता जाता है। जब तक भुजा का सिरा 'स' पर पहुँचता है, तब तक हवा में भी संकुचन 'ब' से चलकर बिन्दु 'च' तक पहुँच जाता है (दे० उसी पृष्ठ का बिचला चित्र)। ट्यूनिग फॉर्क की भुजा 'स' से अब बाईं ओर को चलना आरंभ करती है। अतः रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए दाहिनी ओर से हवा 'स' पर आती है, जिससे इस स्थान की हवा विरल हो जाती है। लचकीलेपन के गुण के कारण यह विरल अवस्था उत्तरोत्तर दाहिनी ओर बढ़ती जाती है, यहाँ तक कि जब तक फॉर्क की भुजा 'अ' पर पहुँचे, यह विरल अवस्था हवा में 'च' तक पहुँच जाती है। इस बीच में पहले का संकुचन दाहिनी ओर बढ़कर बिन्दु 'छ' पर पहुँच जाता है--इस प्रकार कि 'च' और 'छ' की दूरी 'ब' और 'च' की दूरी के बराबर होती है। इस समय तक ट्यूनिग फॉर्क ने अपना एक कम्पन पूरा कर लिया और हवा में 'स' से 'च' तक विरलता तथा 'च' से 'छ' तक संकुचन की एक अवस्था पहुँच गई। संकुचन तथा विरल अवस्था की यह जोड़ी हवा में एक 'ध्वनि-तरंग' बनाती है। चूँकि ट्यूनिग फॉर्क का कम्पन कुछ देर तक जारी रहता है, अतः एक सैकण्ड में जितनी बार ट्यूनिग फॉर्क कम्पन करता है, उतनी ही ध्वनि-तरंगें हवा में बनकर आगे बढ़ती हैं। स्पष्ट है कि ध्वनि-उत्पादक को केन्द्र मानकर ये तरंगें उसके चारों ओर गोलाई के रूप में गमन करती हैं--ठीक वैसे ही जैसा कि इसी पृष्ठ के चित्र में ध्वनि-प्रसार की विधि में दिग्दर्शित किया गया है।

'अनुप्रस्थ' और 'अनुदैर्घ्य' तरंगें

इस स्थान पर यह स्मरण रखना आवश्यक है कि वायु में उत्पन्न हुई ध्वनि-तरंगें जल में उत्पन्न होनेवाली साधारण लहरों से भिन्न होती हैं। तालाब में पत्थर का एक टुकड़ा फेंकिए, तो उस स्थान से पानी की लहरें चारों ओर वृत्ताकार रूप में फैलेंगी। इन लहरों में पानी के कण ऊपर नीचे आंदोलित होते हैं, जबकि तरंगें उनसे समकोण बनानेवाली दिशा में गमन करती हैं। ऐसी तरंगें 'अनुप्रस्थ तरंगें' कहलाती हैं। किन्तु वायु की ध्वनि-तरंगों में वायु के कणों की हरकत उसी दिशा में होती है, जिस दिशा में तरंगें आगे बढ़ रही हैं। ये तरंगें 'अनुदैर्घ्य तरंगें' कहलाती हैं। फिर भी दोनों प्रकार की तरंगों में माध्यम के कण अपने स्थान पर ही आंदो-

लित होते या कम्पन करते रहते हैं—वे अपना स्थान छोड़कर आगे नहीं बढ़ते। केवल माध्यम के अन्दर की शक्ति आगे बढ़ती है। यह शक्ति ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है, त्यों-त्यों माध्यम भी तरंगों के रूप में आन्दोलित होता है। बन्दूक दगने पर उसकी आवाज तो जरा-सी देर में दूर तक पहुँच जाती है, किन्तु उससे निकला हुआ धुआँ नली के पास ही रह जाता है।

वायु की ध्वनि-तरंगों का निर्माण ठीक उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार छल्लेदार कमानी में संकुचन और विरल अवस्था पैदा की जा सकती है। एक लंबी छल्लेदार कमानी को पतली डोरियों से आड़ी लटका दीजिए और उसके एक सिरे पर हाथ से हलका धक्का दीजिए। आप देखेंगे कि उस सिरे पर कमानी में संकुचन तथा विरल अवस्था उत्पन्न होकर तेजी के साथ आगे बढ़ते हुए दूसरे सिरे तक पहुँच जाती है (देखिए इसी पृष्ठ के चित्र का निचला भाग)।

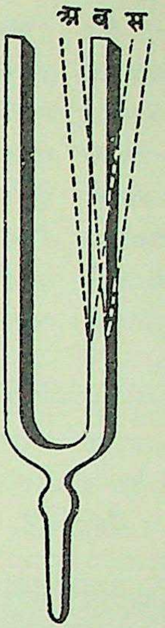

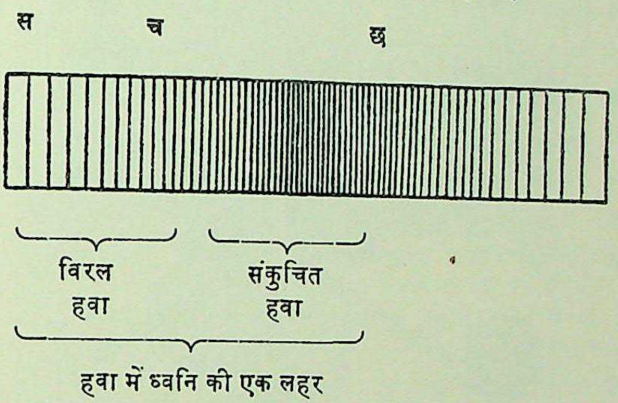

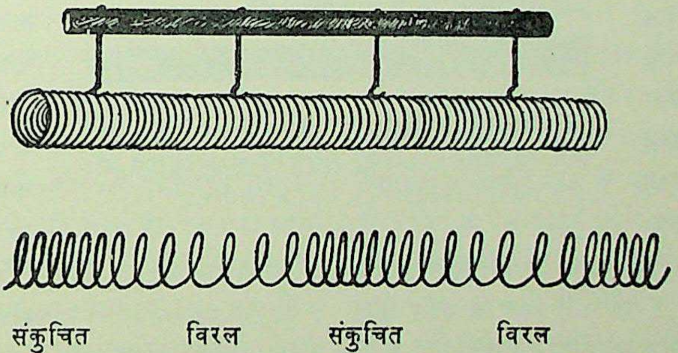

(ऊपर) ट्यूनिङ्ग फॉर्क का प्रयोग; (मध्य में) ट्यूनिङ्ग फॉर्क से उत्पन्न ध्वनि-तरंग की लहर; (नीचे) तार की कमानी का प्रयोग (विवरण के लिए पृ० ३०९४ और इसी पृष्ठ का मैटर पढ़िए)।।

ध्वनि-तरंगों का परावर्तन

तालाब के पानी की लहरें जिस प्रकार किनारे से टकराकर लौटती रहती हैं, उसी प्रकार हवा की ध्वनि-तरंगें भी किसी दीवार या अन्य सपाट धरातल से टकराने पर परावर्तित होती रहती हैं। पहाड़ी घाटियों में जोर से चिल्लाने पर हमें अपनी आवाज की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है। किसी ऊँची दीवार के ठीक सामने खड़े होकर चिल्लाने पर भी हम अपनी प्रतिध्वनि सुन सकते हैं। किन्तु यदि हम तिरछी दिशा में खड़े हों, तो प्रतिध्वनि नहीं सुनाई पड़ेगी, क्योंकि आलोक-तरंगों की भाँति ध्वनि-तरंगें भी परावर्तन के साधारण नियमों से बद्ध हैं। दीवार से खींची गई लम्ब रेखा के साथ आपतित ध्वनि जितना बड़ा कोण बनाती है, ठीक उतना ही बड़ा कोण परावर्तित ध्वनि की दिशा और उक्त लम्ब रेखा के बीच में बनता है। इस नियम की सत्यता की जाँच आसानी से की जा सकती है। लोहे की एक तख्ती 'द' सीधी खड़ी कर दीजिए और दो नलियाँ 'अ' 'ब' मेज पर इस प्रकार रखिए कि दोनों इस तख्ती के साथ समान कोण बनाएँ। नली 'अ' के सिरे पर एक घड़ी रखिए और 'स' पर दोनों तरफ नमदा चढ़ी हुई एक तख्ती—जिससे कि घड़ी की टिक्-टिक् का शब्द सीधे 'ब' तक न पहुँच सके। अब 'ब' के सिरे पर कान लगाइए! घड़ी की टिक्-टिक् का शब्द आपको स्पष्ट सुनाई पड़ेगा! किंतु इधर-उधर जरा-सा भी हटने पर आप यह शब्द न सुन पाएँगे (दे० पृ० ३०९६ के चित्र का निचला भाग)।

नतोदर दर्पण से आलोक-रश्मियों के परावर्तन के प्रयोग आप देख ही चुके हैं। ध्वनि-तरंगें भी नतोदर दर्पण से उसी नियमानुसार परावर्तित होती हैं। यदि आमने-सामने फासला देकर दो बड़े आकार के नतोदर दर्पण रक्खे जाएं, तो एक के केन्द्र-बिन्दु पर घड़ी रखने से दूसरे के केन्द्र-बिन्दु पर जोरों के साथ घड़ी की टिक्-टिक् सुनाई पड़ेगी। अन्यत्र आवाज उतनी स्पष्ट नहीं सुनाई पड़ेगी (दे० पृ० ३०९७ का ऊपरी चित्र)।

'हाइड्रोफोन' यंत्र

ध्वनि के परावर्तन के गुण के आधार पर अनक उपयोगी यंत्र बनाए गए हैं। इनमें से एक से शत्रु-वायुयान का पता लगाया जा सकता है। उक्त यंत्र में एक नतोदर दर्पण लगा रहता है, जिसे धीरे-धीरे घुमाकर ऐसी स्थिति में ले आते हैं कि शत्रु-वायुयान का शब्द उसके केन्द्र-बिन्दु पर सब से अधिक स्पष्ट और जोर के साथ सुनाई पड़े। इस स्थिति में शत्रु-वायुयान दर्पण की धुरी की ठीक सीध में पड़ेगा। इसी तरह समुद्र की गहराई नापने के लिए भी प्रतिध्वनि की मदद लेते हैं। उन्नीसवीं सदी में सीसे की साहुल को जहाज से नीचे पानी में लटकाकर समुद्र की गहराई नापते थे। इस तरीके में अनेक अड़चनें थीं। इससे देर तो लगती ही थी, साथ ही साहुल के झाड़-झंखाड़ में फँस जाने से समुद्र की गहराई दूरी तक नहीं मालूम की जा सकती थी। किन्तु अब 'हाइड्रोफोन' नामक यंत्र से दो-चार मिनिट के अन्दर पता लगा लिया जाता है कि समुद्र अमुक स्थान पर कितना गहरा है। इस काम के लिए जहाज के पेंदे में दो यंत्र लगे रहते हैं। एक तेज आवाज उत्पन्न करने के लिए और दूसरा प्रतिध्वनि को ग्रहण करने के लिए। प्रतिध्वनि को ग्रहण करनेवाले यंत्र को 'हाइड्रोफोन' के नाम से पुकारते हैं। गहराई नापते समय शब्द-उत्पादक यंत्र के इस्पात के पर्दे में विद्युत्-धारा द्वारा तीव्र गति से क्षणिक कम्पन उत्पन्न करते हैं। फलस्वरूप एक तीव्र ध्वनि-तरंग पानी के अन्दर प्रवेश करती है। यह ध्वनि-तरंग समुद्रतल से टकराकर ऊपर लौटने पर हाइड्रोफोन में प्रवेश करती है। प्रतिध्वनि ज्योंही हाइड्रोफोन में पहुँचती है, हाइड्रोफोन में लगे हुए इस्पात के पर्दे में कम्पन उत्पन्न होता है। इससे टेलीफोन के सिद्धान्त पर हाइड्रोफोन से सम्बद्ध विद्युत्-चक्र में विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है, जो विद्युत्-यंत्र की सुई में हरकत पैदा करती है। उक्त ध्वनि के उत्पन्न करने और हाइड्रोफोन तक प्रतिध्वनि के पहुँचने के अंतर का समय आसानी से नोट किया जा सकता है। चूँकि इतने ही समय में ध्वनि पानी के अन्दर जहाज के पेंदे से समुद्र-तल तक जाकर पुनः वापस लौट आई, अतः उस समय को नापकर समुद्र की गहराई मालूम हो जाती है, क्योंकि ध्वनि-तरंगों की गति, पानी के अन्दर मालूम की जा चुकी है। इसके लिए कप्तान को कागज-पेन्सिल लेकर हिसाब नहीं लगाना पड़ता कि अमुक स्थान की समुद्र की गहराई कितनी है। इसके लिए भी स्वयंक्रिय यंत्र लगे रहते हैं, जो अपने आप समुद्र की गहराई अंकित कर लेते हैं। इस रीति से गहराई नापने के लिए जहाज की रफ्तार को धीमी करने की भी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि ध्वनि को नीचे तक जाकर वापस लौटने में एकाध सैकण्ड से अधिक समय नहीं लगता। हम जानते ही हैं कि पानी के अन्दर ध्वनि की तरंगें प्रति सैकण्ड लगभग ४,७०० फीट की गति से गमन करती हैं।

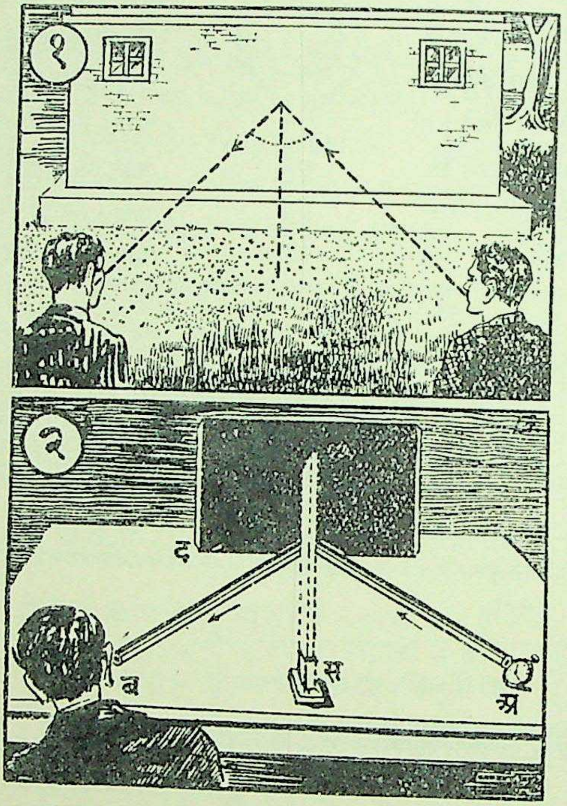

ध्वनि-तरंगों का परावर्तन :: (ऊपर) दीवार से टकराकर ध्वनि परावर्तित हो रही है; (नीचे) तत्सम्बन्धी एक और प्रयोग (विवरण पृ० ३०९५ पर देखिए)।

इस नवीन यन्त्र के आविष्कार से समुद्र-तल की विस्तृत पैमायश करना संभव हो सका है। हाइड्रोफोन की सहायता से पानी के अन्दर चलनेवाली पनडुब्बियों का भी पता लगाया जा सकता है।

युद्ध के दौरान में शत्रु की तोपों की स्थिति का पता लगाने के लिए भी ध्वनि-तरंगों के गति-संबंधी नियमों से काफी लाभ उठाया गया है। इसके लिए तीन माइक्रोफोन एक-दूसरे से आधा मील के फासले पर रखे जाते हैं। तीनों का सम्बन्ध विद्युत्-तार द्वारा प्रमुख केन्द्रीय दफ्तर से रहता है। तोप दगने का शब्द पहुँचते ही तीनों माइक्रोफोन बारी-बारी से केन्द्र के विद्युत्-यंत्र में सूचना भेजते हैं, जिससे दूरी का अनुमान कर स्थिति का पता लगा लिया जाता है।

बड़े आकार के व्याख्यान-भवन अथवा एसेम्बली-भवन आदि के निर्माण में इञ्जीनियरों को प्रायः इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि भवन के भीतर गुम्बज तथा कोने आदि ऐसे न बनें कि व्याख्यानदाता के शब्दों के साथ उनकी प्रतिध्वनि भी कक्ष में गूँजने लगे। हमारे मस्तिष्क के श्रवण-तंतुओं के अन्दर एक विशेष गुण रहता है, जिसे हम 'ध्वनिस्थिरता' कह सकते हैं। कान के पर्दे पर किसी शब्द के पहुँचने के १/१० सैकंड बाद तक उसके सुनाई देने की अनुभूति हमारे मस्तिष्क में बनी रहती है, अतः यदि किसी शब्द के सुनने के बाद १/१० सैकण्ड के भीतर ही उसकी प्रतिध्वनि हमें सुनाई पड़े, तो यह प्रतिध्वनि मूल शब्द के साथ मिलकर उसकी शक्ति को और बढ़ा देगी। किन्तु यह प्रतिध्वनि यदि १/१० सैकण्ड के बाद हमारे कानों में पहुँचेगी, तो वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना लेगी और दूसरे शब्दों के साथ मिलकर गड़बड़ी पैदा करेगी। १/१० सैकण्ड में ध्वनि ११० फीट तक जा पाती है। अतएव प्रधान कक्ष की दीवार यदि वक्ता से ५५ फीट से अधिक दूरी पर होगी, तो प्रतिध्वनि व्याख्यानदाता के शब्दों के साथ मिलकर गड़बड़ी पैदा करेगी। प्रतिध्वनि कम करने के लिए कक्ष की दीवारों की सतह को खुरदरी भी बनाना पड़ता है। इसके लिए दीवार पर प्रायः एसबेस्टॉस की हलकी परत चढ़ा देते हैं। कहीं-कहीं प्रतिध्वनि की गूँज रोकने के लिए दीवारों तथा छतों पर दरी या कालीन लगा देने का भी रिवाज रहा है। फर्श पर भी मोटी दरी बिछा दी जाती है। संगीत के लिए यह वाञ्छनीय समझा जाता है कि कमरे की दीवारों से वाद्ययन्त्रों की ध्वनि प्रतिध्वनित होकर थोड़ी गूँज पैदा करे, वरना प्रतिध्वनि की पूर्ण अनुपस्थिति में संगीत फीका और बेसुरा जान पड़ता है। इसी कारण बढ़िया संगीत के समारोह का आयोजन खुले मैदान में कभी नहीं किया जाता, जबकि व्याख्यान के लिए खुली जगह ही सब से अधिक उपयुक्त होती है। खिड़कियों एवं दरवाजों को खोल देने से भी शब्दों का गूँजना बहुत-कुछ कम हो जाता है, क्योंकि बन्द रहने पर खिड़कियाँ और दरवाजे शब्दों को प्रतिध्वनित कर देते हैं और खुल जाने पर शब्द चूँकि उनकी [illegible] बाहर निकल जाते हैं, फलतः उनका कोई भी अंश प्रतिध्वनित नहीं होता।

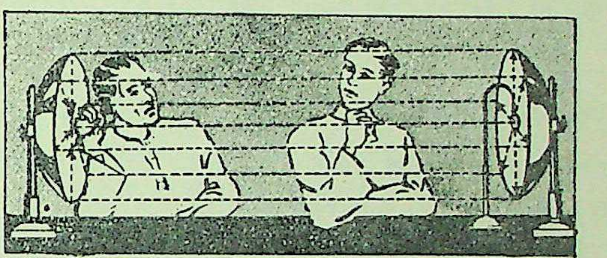

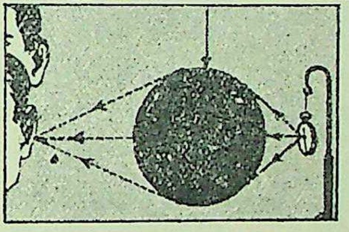

नतोदर दर्पण द्वारा ध्वनि-तरंगों के आवर्तन संबंधी दो प्रयोग (विवरण के लिए पृ० ३०९५ और इसी पृष्ठ का मैटर पढ़िए)।

ट्यूनिग फॉर्कवाले प्रयोग में हमने देखा है कि यदि एक सैकण्ड में ट्यूनिग फॉर्क २५६ बार कम्पन करेगा, तो हवा में एक सैकण्ड के अन्दर एक-एक करके २५६ ध्वनि-तरंगें बन जायेंगी और ये २५६ ध्वनि-तरंगें एक-दूसरे से सटाने पर १,०९० फीट लम्बी होंगी, क्योंकि ध्वनि हवा में एक सैकण्ड में लगभग १,०९० फीट का रास्ता तय करती है। इस हिसाब से इस ट्यूनिग फॉर्क द्वारा उत्पन्न हुई ध्वनि-तरंग की लम्बाई १,०९० ÷ २५६ फीट अर्थात् लगभग सवा चार फीट होती है। इसके प्रतिकूल हम देख चुके हैं कि आलोक-तरंगों की लम्बाई बहुत कम होती है। परावर्तन के दृष्टिकोण से तरंगों की लम्बाई विशेष महत्व रखती है। लहर-लम्बाई जितनी कम होगी, उतनी ही हद दर्जे की चिकनी सतह उसके परावर्तन के लिए आवश्यक होगी। इसी कारण आलोक के परावर्तन के लिए बढ़िया कलाई किए हुए दर्पण की आवश्यकता होती है, जब कि ध्वनि-तरंगों के परावर्तन के लिए किसी पहाड़ी का ढाल या दीवार ही काफी होती है।

ध्वनि-तरंगों का आवर्तन

आलोक-तरंगों की भाँति ध्वनि-तरंगें भी एक माध्यम से दूसरे माध्यम में प्रवेश करने पर अपना मार्ग बदल देती हैं अर्थात् उनका आवर्तन हो जाता है। इस आवर्तन का प्रदर्शन सर्वप्रथम लॉर्ड रेले ने एक दिलचस्प प्रयोग द्वारा किया था। उन्होंने रबड़ के एक छोटे से बैलून में कार्बन डाइऑक्साइड गैस भरकर उसके एक ओर एक घड़ी रक्खी। देखा यह गया कि बैलून के दूसरी ओर एक विशेष बिन्दु पर कान ले जाने पर घड़ी की टिक्-टिक् ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती थी! इसी बिन्दु पर ध्वनि-तरंगें केन्द्रित हो गई थीं। यहाँ पर बैलून लेन्स या ताल का काम करता था। जिस प्रकार उन्नतोदर लेन्स के एक ओर मोमबत्ती रखने से दूसरी ओर उसकी आलोक-रश्मियाँ केन्द्रित होकर बिम्ब बनाती हैं, उसी प्रकार बैलून द्वारा आवर्तित होकर ध्वनि-तरंगों ने भी दूसरी ओर बिम्ब बनाया था (दे० इसी पृ० का निचला चित्र)।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हवा के अन्दर भी ध्वनि [illegible] के वायुस्तरों में से गुजरती हैं, तो उसका मार्ग बदल जाता है, क्योंकि ध्वनि-तरंगों में आवर्तन हो जाता है। यदि ध्वनि गरम वायुस्तर में से गुजरकर ऐसे वायुस्तर में प्रवेश करती है, जिसका ऊपरी भाग निचले भाग की अपेक्षा ठण्डा हो, तो वह ऊपर को मुड़ जाती है और तब वह नीचे जमीन पर लोगों को नहीं सुनाई पड़ती। परन्तु आगे बढ़ने पर यदि फिर ऐसा वायुस्तर मिला, जिसका ऊपरी भाग गरम और निचला भाग ठण्डा हो, तो ध्वनि पुनः नीचे मुड़ेगी, अतः अब वह धरती पर लोगों को सुनाई पड़ेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि विशेष वायुस्तरों द्वारा आवर्तन होने के कारण ध्वनि-उत्पादक से कुछ दूर तक तो लोगों को ध्वनि सुनाई पड़ती है, फिर कुछ दूर तक उसका पता नहीं चलता और आगे जाकर फिर वही ध्वनि सुनाई देने लगती है। बीच की वह जगह, जहाँ ध्वनि नहीं सुनाई देती, 'ध्वनि की छाया' कहलाती है।

संगीतमय ध्वनि का उत्पादन

संगीतमय ध्वनि और निरे कोलाहल का अन्तर तो संगीत-कला से अनभिज्ञ व्यक्ति भी काफी समझ सकता है। संगीत की सुरीली ध्वनियाँ किसके मन को नहीं मोह लेतीं ? किन्तु क्या आपने कभी यह भी सोचा है कि अनाड़ी के हाथ से हारमोनियम में से कर्कश ध्वनि क्यों निकलती है, जबकि उसी वाद्ययंत्र से गुणी वादक ऐसी सुमधुर ध्वनियाँ उत्पन्न करता है, जिन्हें सुनकर हमारा मन मोर की तरह नाच उठता है !

इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक प्रयोग किया जा सकता है। अपनी सायकिल को स्टैण्ड पर खड़ी करके उसके पिछले पहिए को धीरे-धीरे घुमाइए। तदनंतर लकड़ी की एक छड़ी के सिरे को पहिए की तीलियों पर टिका दीजिए—आपको एक के बाद एक 'कट' 'कट' की आवाज सुनाई पड़ने लगेगी। अवश्य ही यह आवाज आपको कर्कश लगेगी। अब उसी पहिए को खूब तेजी के साथ घुमाइए। आप देखेंगे कि तीलियों की 'कट' 'कट' अब जल्दी-जल्दी होने लगती है, साथ ही यह आवाज अब अलग-अलग न सुनाई देकर एक मधुर ध्वनि का रूप धारण कर लेती है। अतः कर्कश ध्वनि और संगीत में यही अन्तर हम पाते हैं कि सुरीली ध्वनियों के लिए ध्वनि-उत्पादक का कंपन नियमित रूप से प्रति सैकण्ड समान संख्या में देर तक होते रहना चाहिए। कोलाहल का बोध हमें उसी दशा में होता है, जबकि ध्वनि-उत्पादक का कम्पन अनियमित तथा क्षणिक होता है। हाथ से काँच का गिलास फर्श पर गिरकर अचानक जो आवाज उत्पन्न करता है, वह कर्कश होती है तथा तुरंत ही मर जाती है। इसके प्रतिकूल सितार के तार को उँगली से एक बार कम्पित कर दीजिए ! आप देखेंगे कि काफी देर तक तार का नियमित कम्पन जारी रहेगा और उससे उत्पन्न हुई ध्वनि-लहरें हमारे कानों में देर तक पहुँचती रहेंगी। इसी तारतम्य के कारण उनकी ध्वनि हमें सुरीली मालूम देती है।

कोलाहल में विभिन्न कम्पन-संख्याओं की ध्वनियाँ बिना किसी क्रम के मिली-जुली रहती हैं। उनका कोई हिसाब नहीं होता; किन्तु सुरीली ध्वनि यदि शुद्ध स्वर की हुई, तो उसकी कम्पन-संख्या एक निश्चित् संख्या ही होगी। यदि मिश्रित स्वर की सुरीली ध्वनि में ऐसी कई ध्वनियाँ मिली होंगी, तो उनकी कम्पन-संख्या में पूर्णांकों का अनुपात होगा।

संगीतमय ध्वनि उत्पन्न करने के निमित्त विभिन्न प्रकार के वाद्ययंत्रों का निर्माण किया गया है। इन वाद्ययन्त्रों को हम मुख्यतः तीन श्रेणी में विभाजित कर सकते हैं—वायुजनित स्वरयंत्र, रज्जुर्निमित यंत्र या तंतुवाद्य तथा चमड़े से मढ़े हुए यंत्र। प्रथम श्रेणी में बाँसुरी, अलगोजा, हारमोनियम तथा ऑर्गन; द्वितीय में बेला, सरोद, सारंगी और सितार आदि; तथा तीसरी श्रेणी में ढोल, नगाड़ा और तबला आते हैं।

वायुजनित स्वरयंत्र

वायुजनित स्वरयंत्रों के सिद्धान्त को समझने के लिए निम्न प्रयोग सहायक हो सकता है। एक चौड़े मुँह की नली लीजिए, जिसके मुँह दोनों ओर से खुले हों। अब एक ओर के मुँह पर हथेली से आघात करके उसे बंद कर दीजिए—आपको 'पप' की-सी आवाज सुनाई देगी। यदि तेजी से बार-बार ऐसा आघात किया जायगा, तो नली के भीतर की वायु में उतनी ही बार कंपन होगा और फलस्वरूप नली में से एक मधुर संगीत-मय ध्वनि बाहर की हवा में फैलेगी। बाँसुरी की मीठी ध्वनि का यही सिद्धांत है।

बाँसुरी के मुँह पर, जहाँ उसमें हवा प्रवेश करती है, लगभग आधा इंच की दूरी पर एक झिरी कटी रहती है। इस झिरी की पतली धार वायु के वेगपूर्ण आघात के कारण कंपन करने लगती है। इसी का निरन्तर कम्पन बाँसुरी के अन्दर की वायु में कम्पन उत्पन्न करके सुरीली ध्वनि की लहरें उत्पन्न करता है। उसके अन्दर की वायु में उत्पन्न हुई ध्वनि-लहरों की कम्पन-गति और लहर-लम्बाई नली की लम्बाई पर निर्भर करती है। उधर ध्वनि की तीक्ष्णता तथा कोमलता भी उसकी कम्पन-गति तथा लहर-लम्बाई पर ही आश्रित होती है। कम्पन-गति यदि प्रति सैकण्ड अधिक हुई, तो उसकी लहर-

लंबाई भी उसी अनुपात में कम हो जाती है, साथ ही स्वर की तीक्ष्णता भी बढ़ जाया करती है।

बाँसुरी की प्रकम्पित वायु की लम्बाई को कम या अधिक करने के लिए उसमें कई सूराख बने रहते हैं। आरम्भ के सूराखों को बंद करके बाँसुरी की कम्पित वायु की लम्बाई बढ़ाई जा सकती है। ऐसा करने से बाँसुरी के स्वर की तीक्ष्णता कम हो जाती है — उससे अपेक्षाकृत कोमल स्वर निकलता है। इसके प्रतिकूल यदि सभी सूराख खोल दिए जाएँ, तो प्रवेश-द्वार से प्रथम सूराख तक की ही वायु कम्पित होगी और स्वर ऊँचा चढ़ जाएगा। इन सूराखों को बन्द करके या खोलकर भिन्न-भिन्न स्वर निकाले जा सकते हैं। कम्पित वायु की लम्बाई आधी करने से स्वर दूना ऊँचा चढ़ जाता है और तिहाई करने से तीन गुना ऊँचा हो जाता है।

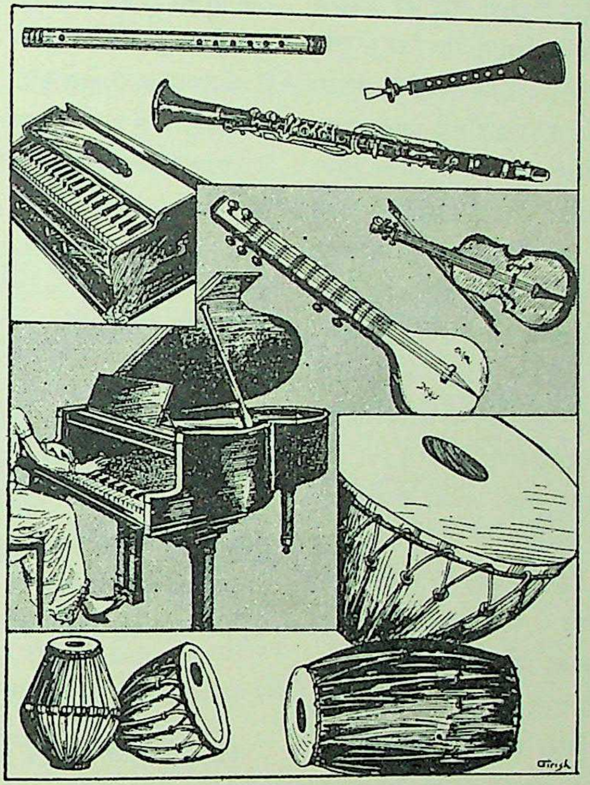

विविध वाद्ययन्त्र:: (ऊपर) बाँसुरी, शहनाई, क्लेरिओनेट, हारमोनियम आदि, वायुपरिचालित यंत्र; (मध्य में) बेला, सितार, पियानो आदि रज्जु-निर्मित यंत्र; (नीचे) ढोल, तबला, ढोलक आदि चमड़ा मढ़े हुए यंत्र।

पाश्चात्य वाद्ययंत्रों में 'ऑर्गन' नामक यंत्र को प्रमुख स्थान प्राप्त है। बड़े आकार के 'ऑर्गन' में बाँसुरी के सिद्धांत पर कई हजार छोटी-बड़ी नलियाँ लगी रहती हैं। इन नलियों में हवा फूँकने के लिए हारमोनियम की भाँति 'भाथी' लगी रहती है। विभिन्न 'वॉल्वों' की सहायता से वादक चाहे जिस ऑर्गन-नली में बारी-बारी से वायु को वेग के साथ भेज सकता है। अमेरिका के एक ऑर्गन में ३२,८८२ नलिकाएँ लगी हुई हैं और उसकी भाथी में हवा आने के लिए ४०० अश्वबल के विद्युत्-मोटर काम में लाए जाते हैं!

वायुजनित स्वरयंत्रों की एक और जाति होती है—इनमें वायु की कम्पन को जारी रखने के लिए यंत्र या मुँह पर नरकुल की या पीतल की पत्ती लगी रहती है। शहनाई या अलगोजे के मुँह पर ऐसी नरकुल की पत्ती लगी आपने देखी होगी। मुँह से फूँकने पर इन पत्तियों पर निरन्तर कम्पन होता है, फलस्वरूप अलगोजे के अन्दर की वायु कम्पित होकर ध्वनि उत्पन्न करती है। हारमोनियम में भी 'भाथी' में से हवा 'रीड' की पतली-सी झिरी में से होकर ऊपर निकलते ही पीतल की पत्ती में कम्पन उत्पन्न करती है—इसी कम्पन से हमें ध्वनि मिलती है। पत्ती के कम्पन से हारमोनियम के बक्स की हवा में कम्पन उत्पन्न होता है। कतार में लगी हुई इन पत्तियों में से प्रत्येक पत्ती की स्वाभाविक कम्पन-गति नियत होती है, अतः प्रत्येक पत्ती एक नियत स्वर ही उत्पन्न कर सकती है।

रज्जुकंपित वाद्य

अब हम रज्जुकंपित वाद्ययन्त्रों पर आते हैं। मेज पर दो कीलें गाड़कर इनके बीच पीतल का एक तार बाँध दीजिए। सितार की तरह तार को उँगली से बजाइए—तुरंत ही मीठा स्वर सुनाई पड़ेगा। अब तार को जरा और कस दीजिए, फौरन् ही उसका स्वर ऊँचा चढ़ जायगा। यदि तार की लम्बाई कम की जाय, तो भी इसका स्वर ऊँचा चढ़ता है। यदि तार मोटा लिया जाय, तो स्वर अपेक्षाकृत मोटा हो जाता है। बाँसुरी की भाँति तार की लम्बाई आधी होने पर स्वर दूना ऊँचा हो जाता है और लम्बाई के तिहाई होने पर स्वर तीन गुना ऊँचा चढ़ जाता है। बेला, सितार, सारंगी आदि वाद्य इसी सिद्धान्त के आधार पर बनाए गए हैं। इससे आपकी समझ में आ जाएगा कि क्यों साज मिलाने के लिए वादक सारंगी की खूँटियों को कसता और ढीला करता है।

रज्जु-वाद्ययंत्रों को भी हम दो श्रेणी में रख सकते हैं—एक सारंगी और बेले की जाति के यंत्र, जो धन्वा से विकम्पित किए जाते हैं; दूसरे सितार तथा तानपूरा की जाति के, जो

अँगुली के स्पर्श से विकम्पित किए जाते हैं। इनके अतिरिक्त रज्जु-यंत्रों की एक तृतीय जाति में 'पियानो' नामक यंत्र आता है, जिसके रज्जुओं में कम्पन उत्पन्न करने के लिए नन्हीं-नन्हीं मुँगरियों से उन पर आघात किया जाता है। पियानो की इन अगणित मुँगरियों का परिचालन यांत्रिक साधनों द्वारा किया जाता है। प्रत्येक रज्जु-यंत्र एक लकड़ी के बक्स या ढाँचे पर आरूढ़ किया गया होता है। इसका कारण यह है कि अकेले रज्जु के कम्पन से इतनी शक्ति नहीं उत्पन्न होती कि वायु उसके जोर से कम्पित होकर इतनी जोर की आवाज पैदा करे कि हम उसे सुन सकें। बेला में एक सिरे से दूसरे सिरे तक चार रज्जु चढ़े रहते हैं। ये रज्जु लम्बाई में लगभग बराबर ही होते हैं, पर मुटाई में ये भिन्न होते हैं। प्रथम रज्जु सब से पतला, द्वितीय उससे मोटा, तृतीय उससे अधिक मोटा तथा चौथा सब से अधिक मोटा होता है। चौथे का वजन बढ़ाने के लिए उस पर चाँदी या 'निकल' का मुलम्मा चढ़ा देते हैं। कभी-कभी चौथे रज्जु के स्थान पर चाँदी या ताँबे का तार ही काम में लाते हैं। इनके तनाव को खूँटियों द्वारा घटा-बढ़ाकर स्वर को घटा-बढ़ा सकते हैं। वादक उँगलियों से रज्जुओं को दबाकर उनकी कम्पित लम्बाई को घटाता-बढ़ाता और इस तरह स्वर को नीचा-ऊँचा करता रहता है।

बेला का पेंदा मजबूत किन्तु हलकी लकड़ी के बक्स का होता है। इस पेंदे के ऊपरी धरातल पर चारों रज्जु आड़े स्तम्भ के सहारे टिके होते हैं। इन रज्जुओं का तनाव इतना अधिक होता है कि यदि बक्स के अन्दर 'ध्वनि-स्तम्भ' का सहारा मौजूद न हो, तो बक्स का ऊपरी धरातल टूट जाय। बेला के रज्जुओं को विकम्पित करने के लिए घोड़े के बालों से बनाई गई धन्वा का प्रयोग किया जाता है। धन्वा की डोर पर 'रेजिन' रगड़ लेते हैं। ऐसा करने से डोर के रेशे खड़े हो जाते हैं और बेला के रज्जुओं को आसानी के साथ अपनी पकड़ में ले आते हैं। बेला के रज्जु आड़ा कम्पन करते हैं। इनका कम्पन ऊपरी स्तम्भ को कम्पित करता है। फिर यह कम्पन ध्वनि-स्तम्भ के सहारे नीचे पहुँचकर बक्स की वायु को विकंपित करता है। बक्स में कटे हुए सूराखों के रास्ते यह कम्पन बाहर की वायु में पहुँचकर चारों ओर बेला की सुरीली ध्वनि फैलाता है। बक्स के अंदर लगे हुए 'ध्वनि-स्तम्भ' को बेला का प्राण कहें, तो अतिशयोक्ति न होगी। बेला की धन्वा के लिए बड़ी सावधानी के साथ घोड़े के बाल चुने जाते हैं—एक धन्वा में करीब २०० बाल लगते हैं। रेजिन लग जाने पर धन्वा के नन्हें-नन्हें रेशे जब उठ जाते हैं, तो वह वास्तव में एक नन्हीं-सी आरी जैसा काम देती है।

'इसराज' में भी धातु के चार मुख्य तार लगे होते हैं। बेला की अपेक्षा इसका आकार लम्बा होता है। इसमें ऊपरी सिरे पर लगी हुई खूँटियों की सहायता से तार का खिचाव घटा-बढ़ाकर उनका स्वर साधते हैं। इसके ढाँचे की रीढ़ पर लोहे की लगभग १५ आड़ी तीलियाँ लगी रहती हैं। वादक धन्वा से इसराज बजाते समय अपनी उँगलियों को नचाकर इन्हीं तीलियों पर इच्छानुसार तार को दबाता है, जिससे स्वर बदलते रहते हैं। इसराज में विभिन्न लम्बाइयों के १५ अतिरिक्त तार भी लगे रहते हैं—ये स्तम्भ के निचले भाग में बने सूराखों में से होकर गुजरते हैं। मुख्य तार के बजने पर उनके प्रभाव से अतिरिक्त तारों में से कुछ स्वयं झंकृत हो उठते हैं।

'तानपुरा' में धातु के चार तार लगे होते हैं, जो उँगलियों से आघात पहुँचाकर बजाए जाते हैं। तानपुरा में इसराज की तरह लोहे की आड़ी तीलियाँ नहीं होतीं। जिस स्तम्भ पर इसके तार टिकते हैं, उसकी धार बेला या इसराज के स्तम्भ की भाँति सीधी और पतली नहीं होती, बल्कि चपटी और ढलवाँ होती है, जिससे तार कुछ दूर तक इसे छूते हुए उस पर टिके रहते हैं।

'पियानो' में एक बड़े आकार के लकड़ी के बक्स में खींचकर ताने गए बहुत-से तार लगे रहते हैं। इन तारों को झंकृत करने के लिए प्रत्येक पर नमदा चढ़ी हुई एक-एक नन्हीं-नन्हीं मुँगरी से आघात पहुँचाया जाता है। आघात पहुँचने के बाद तार को शीघ्र ही शान्त करने के लिए उससे नमदे की एक गद्दी आ लगती है, जिससे तार की ध्वनि बन्द हो जाती है।

चमड़ा मढ़े हुए वाद्य

'ढोल' के चमड़े पर एक ओर हाथ से थपकी लगाने पर जो कम्पन पैदा होता है, वह हवा को विकम्पित करता हुआ दूसरी ओर के चमड़े पर पहुँचता है। इस प्रकार दोनों ओर के मढ़े हुए चमड़ के पर्दे एक दूसरे को कम्पन करने में सहायता पहुँचाते हैं और उनसे एक थरथराती-सी आवाज उत्पन्न होती है। ढोल की डोरियों को कसकर स्वर ऊँचा चढ़ाया जा सकता है। भारतीय संगीत के क्षेत्र में ढोल की अपेक्षा तबले को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है, क्योंकि उससे नियत तालयुक्त स्वर निकाले जा सकते हैं। तबले में एक ही ओर चमड़ा चढ़ा रहता है और चमड़े के पर्दे के केन्द्र पर लौह चूर्ण की एक तह गोंद की सहायता से जमा दी जाती है। तबले का स्वर-गुण इसी लौह चूर्ण की तह के कारण है। तबले के पर्दे में खिचाव बढ़ाने के लिए बगल के चमड़े के तस्मों को उनमें फँसे हुए लकड़ी के गट्टों की सहायता से तानने का प्रबन्ध रहता है।

चुंबक की रहस्यपूर्ण अदृश्य शक्ति

हम देखते हैं कि कारखानों में विद्युत्-चुंबक का क्रेन केवल नीचे को झुकता है और ज्योंही वह लोहे के समीप पहुँचा कि लोहे का टुकड़ा मानो जादू के वशीभूत हो स्वयं उठकर क्रेन के चुम्बक से जा चिपटता है ! फिर ज्योंही चुम्बक की शक्ति लुप्त हुई कि लोहे का टुकड़ा अपने आप उससे अलग होकर जमीन पर आ गिरता है ! यह कैसा अद्भुत चमत्कार है ? आइए देखें, इस अदृश्य शक्ति का रहस्य क्या है ?

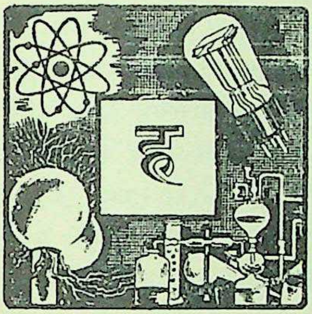

हजारों वर्ष पूर्व की बात है। एशिया माइनर के कुछ गड़रियों ने देखा कि जंगल में उनके समीप पड़े हुए मटमैले रंग के पत्थर के कुछ टुकड़ों में लोहे की कीलों को आकर्षित करने का गुण मौजूद है ! यह बात देखकर उनके आश्चर्य की सीमा न रही ! इन पत्थरों को उन्होंने 'चुंबक-पत्थर' का नाम दे दिया। जन-साधारण इस चुंबक-पत्थर के विशेष गुणों से प्रभावित होकर उसे 'जीवित लोहा' कहकर पुकारने लगे !

चुंबक का उत्तर-दक्षिण दिशासूचक गुण

चुंबक-पत्थर का सर्वप्रथम प्रयोगात्मक निरीक्षण चीन-निवासियों ने किया था। इन्हीं लोगों ने यह पता लगाया था कि यदि चुम्बक-पत्थर के एक लंबे टुकड़े को बीचोबीच से रेशम के धागे से लटका दिया जाय, तो वह सदैव ही उत्तर-दक्षिण दिशा में आकर ठहरेगा--उसका एक खास सिरा उत्तर की ओर रहेगा और दूसरा सिरा दक्षिण की ओर। उत्तर की ओर रहनेवाला सिरा उत्तरी ध्रुव और दक्षिणवाला दक्षिणी ध्रुव कहलाया।

यदि चुम्बक-पत्थर को लोहे के बुरादे में डालकर ऊपर उठाया जाय, तो हम देखेंगे कि उसके दोनों सिरों पर तो काफी लौह चूर्ण चिपका है, किन्तु बीच में जरा भी नहीं है ! इससे प्रकट है कि चुम्बक की आकर्षणशक्ति दोनों छोर पर अधिकतम मात्रा में होती है और ज्यों-ज्यों हम उक्त सिरों से भीतर की ओर हटते जाते हैं, आकर्षणशक्ति कम होती जाती है; यहाँ तक कि ठीक बीचोबीच में आकर यह शक्ति शून्य हो जाती है ! यदि हम लोहे के एक लम्बे टुकड़े को लेकर चुम्बक-पत्थर के एक सिरे से उसे कई बार एक छोर से दूसरे छोर तक रगड़ें, जैसा कि इसी पृष्ठ के चित्र में दिखाया गया है, तो इस लोहे के टुकड़े में भी चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न हो जायगी ! बाजारों में आम तौर पर मिलनेवाले मामूली चुम्बक इसी प्रकार कृत्रिम ढंग से बनाए जाते हैं। इस चुम्बकीय लोहे को लटकाने पर वह भी चुम्बक-पत्थर की

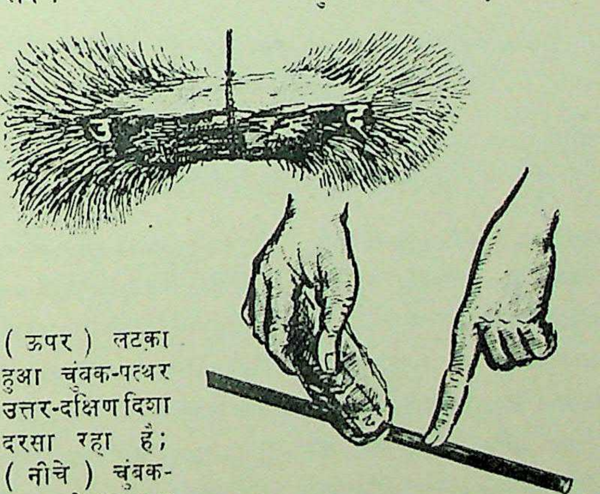

(ऊपर) लटका हुआ चुंबक-पत्थर उत्तर-दक्षिण दिशा दरसा रहा है; (नीचे) चुंबक-पत्थर से रगड़कर लोहे की छड़ में चुम्बकीय शक्ति पैदा की जा रही है।

भाँति उत्तर-दक्षिण दिशा में स्थिर हो जाता है। इसी सिद्धांत पर दिशासूचक यंत्र की रचना की गई है। दिशासूचक की डिबिया में चुम्बकीय लोहे की एक छोटी-सी सुई एक खड़ी कील पर बीचोबीच समतुलित रहती है। समतल धरातल पर रखने पर इस सुई का उत्तरी ध्रुव सदैव घूमकर उत्तर दिशा की ओर आ जाता है और दक्षिणी ध्रुव दक्षिण दिशा की ओर। दिशासूचक के आविष्कार ने ही मध्ययुग के नाविकों को यह साहस प्रदान किया था कि वे समुद्र-तट से हजारों मील दूर की यात्रा करने लगे थे। इसी की बदौलत बिना भूले-भटके वे वापस घर लौट आते थे। समुद्र के अलावा मरुस्थल और घने वनों में भी दिशा-ज्ञान के लिए यह यंत्र बड़ा उपयोगी साबित हुआ।

आश्चर्य की बात है कि रोम और यूनान के लोग, बावजूद इसके कि वे एशिया-निवासियों की तुलना में विज्ञान में बढ़े-चढ़े थे, चुम्बक के दिशासूचक गुण से अपरिचित रहे ! उधर चीन के लोग हजारों वर्षों से दिशासूचक यंत्र का उपयोग कर रहे थे ! योरप में यह यंत्र १३वीं शताब्दी ई० में पहली बार चीन से ही लाया गया था।

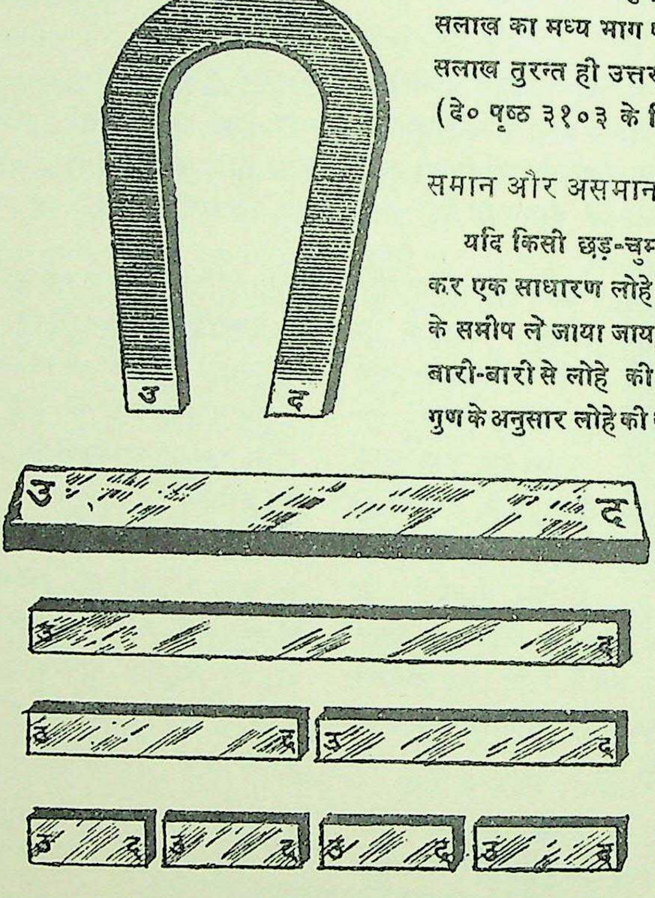

नाल-चुम्बक और छड़-चुम्बक :: छड़-चुम्बक को विभाजित करने पर हर टुकड़ा उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों से युक्त स्वतंत्र चुम्बक बन जायगा !

लौह चुम्बक साधारणतः दो तरह के होते हैं—चिपटे छड़नुमा एवं घोड़े की नाल की शक्ल के। नाल की शक्ल के चुम्बक अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली होते हैं। समान आकार के छड़नुमा चुम्बक से नालवाले चुम्बक की आकर्षणशक्ति दुगुनी अधिक होती है। इसका कारण यह है कि नाल-चुम्बक में दोनों ध्रुव एक दूसरे के निकट होते हैं, अतः दोनों की आकर्षणशक्ति एक साथ ही काम करती है। नाल-चुम्बक की शक्ति को क्षीण होने से बचाने के लिए उसके मुंह पर कच्चे लोहे का एक टुकड़ा लगा दिया जाता है, जो चुम्बक के दोनों ध्रुवों पर ठीक-ठीक बैठ जाता है। इस लौह रक्षक द्वारा चुम्बक की शक्ति बँध जाती है।

छड़-चुंबक और चुंबकीय सुई के दिशासूचक गुण के संबंध में आप एक मनोरंजक प्रयोग कर सकते हैं। थाली में पानी भरकर उसमें एक मोटा कार्क तैरा दीजिए। अब लोहे की एक पतली सलाख को शक्तिशाली चुम्बक से रगड़कर उसमें चुम्बक-शक्ति प्रविष्ट करा लीजिए। इस सलाख को सावधानी के साथ थाली में तैरते हुए कार्क पर इस भाँति रखिए कि सलाख का मध्य भाग कार्क पर पड़े। आप देखेंगे कि सलाख तुरन्त ही उत्तर-दक्षिण दिशा में आ जायगी (दे० पृष्ठ ३१०३ के चित्र का मध्य भाग)।

समान और असमान ध्रुवों में आकर्षण-विकर्षण

यदि किसी छड़-चुम्बक को रेशम के धागे से लटकाकर एक साधारण लोहे के टुकड़े को उसके दोनों सिरों के समीप ले जाया जाय, तो आप देखेंगे कि दोनों सिरे बारी-बारी से लोहे की ओर आकर्षित होते हैं। इसी गुण के अनुसार लोहे की कीलों को चुम्बक के दोनों सिरे अपनी ओर खींचकर चिपका लेते हैं। परन्तु साधारण लोहे के टुकड़े के स्थान में एक और छड़-चुम्बक काम में लाया जाय, तो लटके हुए चुम्बक के उत्तरी ध्रुव के पास हाथ के चुम्बक का उत्तरी ध्रुव ले जाते ही दोनों में आकर्षण के बजाय विकर्षण होगा और लटके हुए चुम्बक का उत्तरी ध्रुव दूर हट जाएगा ! इसके प्रतिकूल हाथ के चुम्बक के दक्षिणी ध्रुव और लटके हुए चुम्बक के उत्तरी ध्रुव के बीच आकर्षण होता है और ये दोनों एक दूसरे से सट जाते हैं। इसी प्रकार दोनों दक्षिणी ध्रुवों के बीच भी विकर्षण होता है। किंतु यदि ध्रुव असमान जाति के हुए, तो इनके बीच सदैव आकर्षण होता है। अतः हम इस नियम पर पहुँचते हैं कि चुम्बक के समान ध्रुवों के बीच आकर्षण और असमान ध्रुवों के बीच विकर्षण होता है (दे० पृ० ३१०३ का निचला चित्र)।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रत्येक चुंबक में दोनों ध्रुवों का होना अनिवार्य है। एक छड़-चुम्बक लीजिए और अन्य एक चुम्बक की सहायता से इसके दोनों ध्रुवों की जाति का निर्णय कर लीजिए कि कौन उसका उत्तरी ध्रुव है और कौन दक्षिणी। इस छड़-चुंबक के बीचोबीच से दो टुकड़े कर लीजिए। आप सोचेंगे कि अब एक टुकड़ा केवल उत्तरी ध्रुव का चुम्बक है और दूसरा केवल दक्षिणी ध्रुव का। किन्तु बात ऐसी नहीं है ! प्रत्येक टुकड़े के दोनों सिरों पर क्रमशः उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव आपको पूर्ववत् मौजूद मिलेंगे ! इसी प्रकार चुम्बक के चाहे कितने ही टुकड़े क्यों न कर डाले जाएँ, प्रत्येक टुकड़ा एक पूर्ण चुम्बक होगा और प्रत्येक में दोनों ध्रुव मौजूद होंगे (दे० पृ० ३१०२ का निचला चित्र)।

ऐसे चुंबक भी बनाए जा सकते हैं, जिनमें न तो उत्तरी, न दक्षिणी ध्रुव का ही पता लगेगा। लोहे के एक मोटे छल्ले में चुम्बकीय शक्ति प्रविष्ट कराने पर उसमें न तो उत्तरी ध्रुव और न दक्षिणी ध्रुव का ही आभास हमें मिलेगा। पर इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसे चुंबक की शक्ति सामान्य चुंबक से पृथक् जाति की होगी। वस्तुतः ऐसे छल्ले के भीतर लोहे के अणु मानो उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों से युक्त अगणित छोटे-छोटे चुंबकों के रूप में व्यवस्थित रहते हैं, जैसा कि पृ० ३१०४ के निचले चित्र में दिग्दर्शित है। छल्ले को काट दीजिए-- फौरन् उसका एक सिरा उत्तरी और दूसरा दक्षिणी ध्रुव बन जाता है !

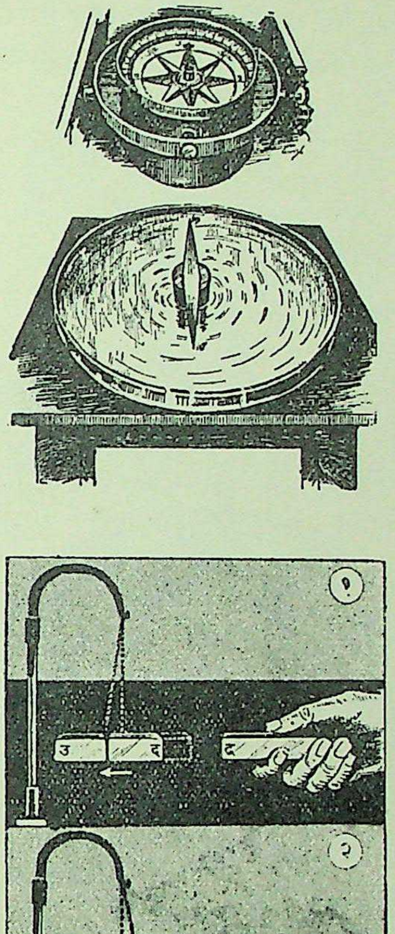

(ऊपर) साधारण दिशासूचक यंत्र; (मध्य में) दिशासूचक के सिद्धान्त-विषयक प्रयोग; (नीचे) समान और असमान ध्रुवों में आकर्षण-विकर्षण (दे० पृ० ३१०२ का मैटर)।

चुम्बकीय शक्ति का उपपादन

चुम्बक की एक अन्य विशेषता भी है। कच्चे लोहे की कुछ छोटी कीलें लीजिए। किसी भी छड़-चुम्बक के छोर पर ले जाने पर इनमें की एक कील चुम्बक में चिपक जाएगी। अब दूसरी कील को समीप ले जाया जाए, तो वह पहली कील के छोर पर चिपक जाएगी ! इस प्रकार एक के उपरान्त दूसरी कील चिपकती चली जाएगी और एक लड़ी-सी बन जाएगी ! यदि सब से ऊपरवाली कील चुम्बक से छुड़ा ली जाए, तो अन्य कीलों की आकर्षण-शक्ति भी लुप्त हो जाती है और सभी कीलें अलग होकर गिर पड़ती हैं ! निष्कर्ष यह है कि कच्चे लोहे को इस्पात से बने चुम्बक के एक ध्रुव के पास ले आने पर उस कच्चे लोहे में चुम्बकीय शक्ति का समावेश हो जाता है। यह चुम्बकीय शक्ति अस्थायी होती है, क्योंकि प्रधान चुम्बक के अलग हटते ही कच्चे लोहे की चुम्बकीय शक्ति लुप्त हो जाती है। इस ढंग से कच्चे लोहे में चुम्बकीय शक्ति का समावेश होने की क्रिया को 'उपपादन' कहते हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस प्रकार के उपपादन का असर केवल कच्चे लोहे में ही हो सकता है, पक्के लोहे या इस्पात में नहीं (दे० पृ० ३१०४ का ऊपरी चित्र)।

चुम्बकीय क्षेत्र और शक्ति-रेखाएँ

चुम्बक की शक्ति का प्रभाव उसके चारों ओर के क्षेत्र में कुछ दूर तक मालूम किया जा सकता है। इस क्षेत्र को चुम्बक का 'चुम्बकीय क्षेत्र' कहते हैं। चुम्बक की आकर्षण-शक्ति चुम्बकीय क्षेत्र में सब ठौर एक-सी नहीं होती। ध्रुवों के निकट चुम्बकीय क्षेत्र अधिक प्रबल होता है और उनसे दूर हटने पर उक्त क्षेत्र की शक्ति क्षीण हो जाती है। प्रयोग के लिए कागज पर एक छड़-चुंबक रखकर उसके चारों ओर समान रूप से कुछ लौह चूर्ण बिखरा दीजिए और अब कागज पर धीरे-धीरे आघात कीजिए। थोड़ी देर में लौह चूर्ण के कण विशिष्ट रेखाओं के रूप में सज जाएँगे ! इस प्रकार दो या तीन चुम्बकों को कागज पर रखकर लौह चूर्ण की रेखाओं के विभिन्न डिजाइन प्राप्त किए

जा सकते हैं (पृ० ३१०५ का चित्र देखिए)। इन रेखाओं का निरीक्षण करने से पता चलता है कि ध्रुवों के निकट ये रेखाएँ सब से अधिक घनी रहती हैं। दूसरे शब्दों में, ध्रुवों के निकट चुम्बक की आकर्षणशक्ति अधिकतम होती है। लौह कणों की ये रेखाएँ चुम्बक की आकर्षणशक्ति की दिशा बताती हैं तथा इनके घनेपन अथवा विरलता से शक्ति की अधिकता या कमी का भी पता चलता है। प्रत्येक शक्ति की रेखा उत्तरी ध्रुव से चलकर दक्षिणी ध्रुव तक जाती है और यह माना जाता है कि दक्षिणी ध्रुव पर चुम्बक में प्रवेश करके वह पुनः उत्तरी ध्रुव तक पहुँच जाती है। इस प्रकार रेखा का घेरा पूरा हो जाता है। इन रेखाओं में यह भी विशेषता होती है कि वे एक दूसरे को कभी नहीं काटतीं।

चुम्बक की शक्ति-रेखाओं की परिधि दिशासूचक की सहायता से भी मालूम की जा सकती है। एक नन्हा-सा दिशासूचक यंत्र लेकर उसे पहले समतल कागज पर रखे हुए चुम्बक के उत्तरी ध्रुव से छुलाइए। अब जहाँ दिशासूचक की सुई का उत्तरी ध्रुव का सिरा है, वहाँ पेन्सिल से निशान लगाकर उक्त दिशासूचक को इस तरह रखिए कि उसकी सुई का दक्षिणी सिरा इस बिंदु पर पड़े। इस प्रकार धीरे-धीरे आगे बढ़ते चले जाइए; आप अन्ततः दक्षिणी ध्रुव पर पहुँच जायँगे। इन बिन्दुओं को मिलानेवाली रेखा ही चुम्बक की शक्ति-रेखा होगी। इस प्रकार चुंबक के दोनों ओर बहुत-सी रेखाएँ खींची जा सकती हैं। इस प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि चुम्बकीय क्षेत्र में प्रत्येक बिन्दु पर चुम्बकीय शक्ति की एक नियत दिशा होती है।

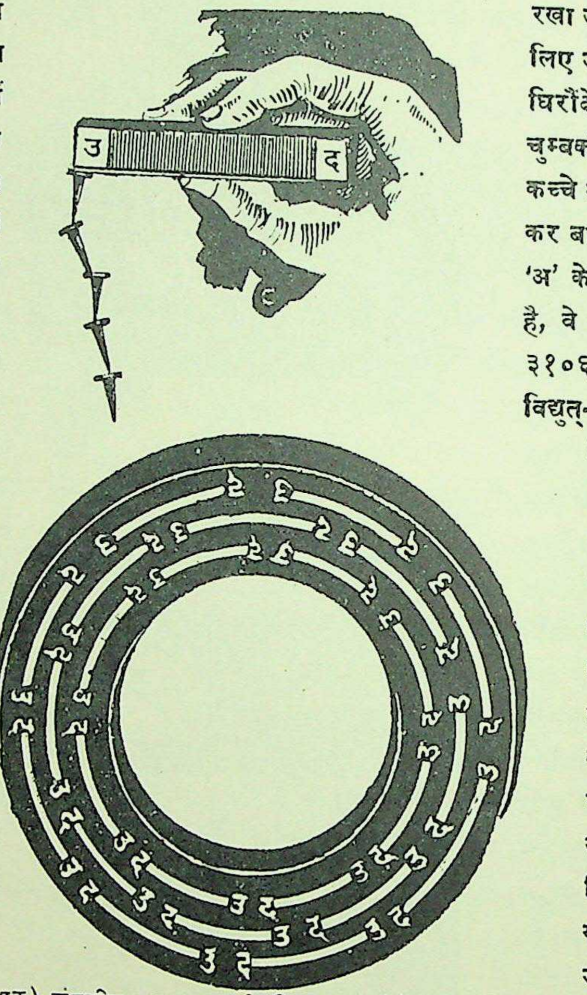

(ऊपर) चुंबकीय उपपादन की क्रिया; (नीचे) छल्लेनुमा चुंबक जो, स्पष्टतया ध्रुवों का आभास न मिलने पर भी, वस्तुतः उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों से युक्त अगणित चुंबकों का सिलसिला अपने अंतराल में इस प्रकार बसाए रहता है।

यदि किसी चुम्बक-लोहे के निकट दिशासूचक की सुई रखी जाय, तो चुम्बक की आकर्षणशक्ति के कारण दिशासूचक की सुई अपनी निर्धारित उत्तर-दक्षिण दिशा से जरा एक ओर को हट जाती है। चुम्बक और दिशासूचक के बीच यदि लकड़ी, दफ्ती या काँच की तख्ती रखी जाय, तो दिशासूचक की सुई की स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ता, अर्थात् इन पदार्थों में से भी होकर चुम्बक की शक्ति पूर्ववत् काम कर सकती है। यह शक्ति लगभग सभी पदार्थों में से होकर गुजर सकती है। अनेक विद्युत्-यंत्रों को निर्दोष बनाने के लिए यह आवश्यक होता है कि उन्हें आसपास के चुम्बकीय प्रभाव से सुरक्षित रखा जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें कच्चे लोहे के बने हुए एक घिरौंदे से घेर देते हैं। निकटवर्त्ती चुम्बकीय क्षेत्र की शक्ति-रेखाएँ 'ब' कच्चे लोहे के घिरौंदे में प्रविष्ट होकर बाहर निकल जाती हैं, अतएव 'अ' के भीतर जहाँ यन्त्र रखा होता है, वे नहीं पहुँच पातीं (दे० पृ० ३१०६ का निचला चित्र) उधर विद्युत्-धारा मापक तथा डायनमो में यह आवश्यक होता है कि विद्युत् - तारों में से होकर काफी चुम्बकीय शक्ति-रेखाएँ गुजरें। अतः इनमें तार एक नाल-चुम्बक के ध्रुवों के बीच छल्ले की शक्ल में रहते हैं। इस छल्ले के बीच की जगह में कच्चे लोहे की एक गोली रखी रहती है। चुम्बक के ध्रुवों से जो चुम्बकीय शक्ति-रेखाएँ निकलती हैं, वे उक्त लौह गोली के कारण एकत्र होकर उसमें प्रविष्ट होती हैं। अतः विद्युत् - तार के छल्ले में से होकर बहुत-सी रेखाएँ गुजरने में समर्थ होती हैं। इन यंत्रों का परिचय आगे चलकर डायनमो आदि की व्याख्या के सिलसिले में आप पा सकेंगे।

सभी पदार्थ चुम्बक से प्रभावित नहीं होते। पीतल, ताँबा, लकड़ी आदि पर चुम्बक का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। केवल लोहा विशेष रूप से चुम्बक द्वारा आकर्षित होता है। गिलट और कोबाल्ट भी कुछ अंश तक चुम्बक द्वारा आकर्षित होते हैं——ये 'पैरामैग्नेटिक' कहलाते हैं। इसके प्रतिकूल 'बिस्मथ',

‘ऐन्टीमनी’ और जस्ते पर चुम्बक का उल्टा प्रभाव पड़ता है! चुम्बक के निकट लाने पर ये दूर हट जाते हैं—इनमें आकर्षण के स्थान पर विकर्षण होता है! इस श्रेणी के पदार्थ ‘डायमैग्नेटिक’ कहलाते हैं। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि पैरामैग्नेटिक तथा डायमैग्नेटिक पदार्थों पर चुम्बक का प्रभाव नाम मात्र ही होता है। मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि चुम्बक का आकर्षण साधारणतया लोहे और इस्पात पर ही काम करता है।

पृथ्वी एक महान् चुम्बक के रूप में

प्राचीन चीन के निवासी दिशा-निर्देशन के लिए चुम्बक-लोहे का प्रयोग करते थे। वे अपनी गाड़ियों की ध्वजा पर एक मूर्ति समतुलित रखते थे, जिसके हाथ अन्दर लगे हुए एक चुम्बक-लोहे के घूमने पर उत्तर-दक्षिण दिशा बतलाते थे। चीनवालों को इस बात का भी पता था कि चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण तथा भौगोलिक उत्तर-दक्षिण के बीच कुछ बल रहता है।

१४९२ ई० में अपनी अमेरिका-यात्रा के क्रम में कोलम्बस ने भी देखा कि चुम्बक की सुई ठीक भौगोलिक उत्तर-दक्षिण दिशा का निर्देश नहीं करती। इस तथ्य की जाँच निम्न रीति से की जा सकती है। पहले किसी स्थान का भौगोलिक उत्तर-दक्षिण धरातल निश्चित कर लीजिए; तब चुम्बकीय सुई को सावधानी के साथ समतुलित लटकाकर उस के उत्तर-दक्षिण ध्रुवों को मिलानेवाली रेखा से गुजरनेवाला ऊर्ध्व धरातल निश्चित कीजिए। आप देखेंगे कि चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण धरातल भौगोलिक उत्तर-दक्षिण धरातल से कुछ हटा हुआ होगा।

यह अन्तर पृथ्वी के भिन्न-भिन्न स्थानों पर विभिन्न हुआ करता है। अतः वैज्ञानिकों ने पैमाइश करके संसार के विभिन्न स्थानों के लिए इस अन्तर का मान निकाला है और भूमण्डल के मानचित्र पर रेखाएँ खींचकर प्रत्येक स्थान के कोण का निर्देश कर दिया है। इन्हीं नक्शों की सहायता से जहाज का कप्तान ठीक-ठीक दिशा-निर्धारण कर मार्ग की सही दिशा मालूम किया करता है। वह जान लेता है कि उक्त स्थान पर चुम्बकीय दिशासूचक यंत्र की

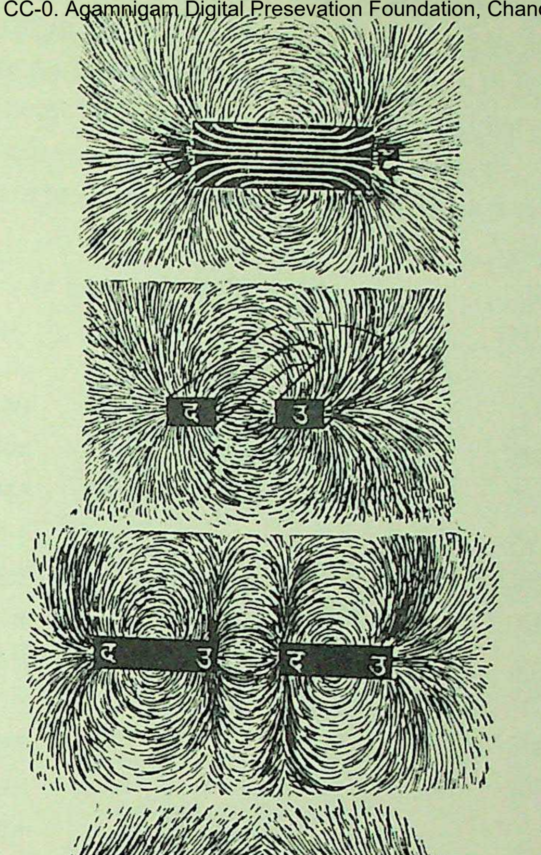

कागज पर लोह चूर्ण बिखेरकर एवं विविध प्रकार के चुम्बकों को विविध रीति से उस पर रखने पर लोह चूर्ण के कण अद्भुत आकृतियों में सज जाते हैं। चित्र में क्रमश: निम्न प्रकार के चुम्बकों द्वारा लौह चूर्ण में प्रदर्शित शक्ति-रेखाएँ दिग्दर्शित हैं—सब से ऊपर साधारण छड़-चुम्बक; तदुपरांत नाल-चुम्बक; उसके बाद दो छड़-चुम्बक; जिनके असमान ध्रुव आमने-सामने पड़ते हों; तदनंतर दो छड़-चुम्बक जिनके समान ध्रुव आमने-सामने पड़ते हों और अत में दो छड़-चुम्बकों के उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों के बीच रक्खा गया एक साधारण लोहे का छल्ला दिग्दर्शित है, जिसके बीच का हिस्सा चुम्बकीय प्रभाव से मुक्त रह जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उत्तर-दक्षिण रेखा भौगोलिक उत्तर-दक्षिण रेखा से कितने अंश पूर्व या पश्चिम की ओर हटी हुई है।

प्रश्न उठता है कि चुम्बकीय सुई को लटकाने पर वह सदैव उत्तर-दक्षिण दिशा में ही जाकर क्यों ठहरती है? इस प्रश्न के समाधान के लिए लोगों ने सोचा कि अवश्य ही ग्रह-नक्षत्र धरती के चुंबकों को किसी प्रकार से प्रभावित करते होंगे। मोटे तौर पर चुंबक ध्रुव-तारे की दिशा की ओर घूम जाता है, अतः लोगों ने कल्पना की कि चुंबक का दिशासूचक गुण संभवतः ध्रुव-तारे के कारण है। किन्तु १५८१ ई० में रॉबर्ट नार्मन नामक एक अंग्रेज विद्वान् ने चुम्बकीय सुई की एक अद्भुत विशेषता का दिग्दर्शन किया। उसने देखा कि चुम्बकीय सुई के मध्य बिन्दु पर छेद करके यदि उसे इस प्रकार लटकाया जाय कि वह ऊर्ध्व धरातल में स्वतंत्रतापूर्वक घूम सके, तो देखा जाता है कि सुई साधारणतया पृथ्वी के धरातल के समानान्तर कभी नहीं रहती--प्रायः उत्तरीय गोलार्द्ध में सुई का उत्तरी ध्रुववाला सिरा और दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिणी ध्रुव वाला सिरा नीचे को झुका रहता है! ज्यों-ज्यों हम विषुवत् रेखा से उत्तर या दक्षिण की ओर बढ़ते हैं, सुई का यह झुकाव भी बढ़ता चला जाता है (दे० पृ० ३१०७ का चित्र)!

चुम्बकीय सुई के भौगोलिक उत्तर-दक्षिण दिशा से हटने तथा उसके झुकाव पर गिल्बर्ट ने काफी विवेचना की। उसने पृथ्वी का एक मॉडल बनाकर उसके अंदर एक छोटा-सा छड़-चुम्बक रक्खा। तदनन्तर मॉडल के गोले के धरातल के विभिन्न स्थानों पर चुम्बकीय सुई रखकर उसने दिखलाया कि इस मॉडल में भी चुम्बकीय सुई का उसी प्रकार से झुकाव होता है, जिस प्रकार पृथ्वी के धरातल पर होते पाया जाता है। इस प्रयोग द्वारा उसने यह प्रमाणित कर दिखाया कि पृथ्वी के धरातल पर चुम्बकीय सुई को जो शक्ति प्रभावित किया करती है, वह स्वयं पृथ्वी से ही प्राप्त होती है। इस तरह उसने यह सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी एक महान् चुंबक है। गिल्बर्ट की यह खोज अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती है और इसी से उसे 'चुम्बकीय विज्ञान का गैलीलियो' कहते हैं। इस सिद्धान्त द्वारा चुंबकीय सुई द्वारा प्रदर्शित सभी गुण पूर्ण रूप से समझाए जा सकते हैं।

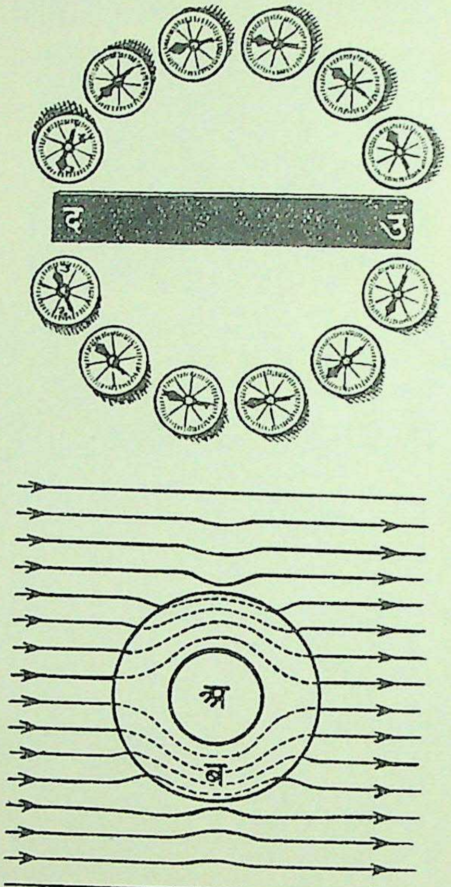

(ऊपर) दिशासूचक यंत्र द्वारा चुंबकीय शक्ति-रेखाओं के प्रभाव की जानकारी (विवरण पृ० ३१०४ पर देखिए); शक्ति-रेखाओं के प्रभाव से मुक्त रहने के लिए कच्चे लोहे के घिरौंदे का प्रयोग :: कच्चे लोहे के घिरौंदे 'ब' के कारण शक्ति-रेखाएँ मध्यवर्ती छल्ले 'अ' के आसपास मुड़कर निकल जाती हैं (विवरण पृ० ३१०४ पर देखिए)।

पृथ्वी के चुंबकीय ध्रुव और उनकी गतिविधि

स्वतंत्र अवस्था में चुम्बक की सुई लगभग उत्तर-दक्षिण दिशा में ठहर जाती है। उसके उक्त गुण के पीछे पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति ही काम करती है। किन्तु चूंकि चुम्बक का उत्तरी सिरा घूमकर उत्तर की ओर आ जाता है, अतः पृथ्वी के अंदर स्थित चुंबक का उत्तरी ध्रुववाला सिरा उत्तर की ओर स्थित नहीं हो सकता; क्योंकि यदि ऐसा होता तो धरातल पर लटकाए गए सभी चुम्बकों का दक्षिणी ध्रुव ही उत्तर की ओर फिरता! इस प्रकार वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पृथ्वी के गर्भ में स्थित काल्पनिक चुंबक का दक्षिणी ध्रुव उत्तरी गोलार्द्ध में है और उत्तरी ध्रुव दक्षिणी गोलार्द्ध में! साथ ही इस महान् चुम्बक के सिरे भौगोलिक ध्रुवों से गुजरनेवाली कीली के समानान्तर नहीं हो सकते; क्योंकि जब छड़-चुम्बक लटकाया जाता है, तो वह भौगोलिक उत्तर-दक्षिण के समानान्तर नहीं रहता। अतः न चुम्बकीय विषुवत् रेखा भौगोलिक विषुवत् रेखा पर पड़ती है और न चुम्बकीय ध्रुव ही भौगोलिक ध्रुवों पर पड़ते हैं। पृथ्वी के चुम्बकीय ध्रुव भौगोलिक ध्रुवों की भाँति ठीक एक-दूसरे के आमने-सामने भी नहीं पड़ते!

चुम्बकीय ध्रुवों की स्थिति का ठीक-ठीक पता पहली बार १८३१ ई० में कैप्टेन रॉस ने लगाया था। स्पष्ट है कि चुम्ब-

कीय दक्षिणी ध्रुव के ठीक ऊपर आने पर चुम्बकीय सुई एक-दम लम्बवत् खड़ी हो जाएगी। उस समय उसका उत्तरी ध्रुव नीचे की ओर होगा। इसी प्रकार दक्षिणी गोलार्द्ध में पृथ्वी के चुम्बकीय उत्तरी ध्रुव के ठीक ऊपर पहुँचने पर चुम्बकीय सुई एक बार फिर लम्बवत् खड़ी होगी, किन्तु इस बार उसका दक्षिणी ध्रुव नीचे की ओर होगा। उत्तरी गोलार्द्ध में धरती के चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव ७०° अंश ५′ उत्तरी अक्षांश और ९६° ४३′ पश्चिमी देशान्तर पर स्थित है। यह स्थान भौगोलिक उत्तरी ध्रुव से लगभग १,४०० मील की दूरी पर है। चुम्बक का उत्तरी ध्रुव ७२° २५′ दक्षिणी अक्षांश और १५५° १६′ पूर्वीय देशान्तर पर स्थित है।

मॉडल चित्र की भाँति पृथ्वी के अन्दर वास्तव में कोई छड़-चुम्बक मौजूद नहीं है, क्योंकि पृथ्वी के गर्भ के ऊँचे ताप पर लोहा, पत्थर आदि सब-कुछ पिघलकर द्रव बन जाते हैं। फिर भी पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति ठीक उसी प्रकार की है, जैसी कि धरती के अन्दर कोई विशालकाय छड़-चुम्बक होता तो हमें मिलती। धरती की इस चुम्बकीय शक्ति का रहस्य क्या है? आगे चलकर विद्युत् का अध्ययन करने पर हम देखेंगे कि यदि लोहे की एक कील को लेकर उसके चारों ओर हम रेशम से ढके हुए तार को लपेटें और फिर इस तार में से विद्युत्-धारा प्रवाहित कराएँ, तो उस कील में चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न हो जाती है। धरती के अन्दर भी लोहा प्रचुर मात्रा में मौजूद है। सम्भव है, वायुमण्डल में उत्पन्न होनेवाली विद्युत्-धारा के प्रभाव से पृथ्वी में चुम्बकीय शक्ति का समावेश हो गया हो। सूर्य की अल्ट्रा-वॉयलेट रश्मियाँ निरन्तर वायुमण्डल में वायु के कणों से टकराया करती हैं। ये अल्ट्रा-वॉयलेट रश्मियाँ वायु-कणों में से ऋणात्मक विद्युत्-कणों (इलेक्ट्रॉनों) को अलग कर देती हैं। अपरिमित संख्या में ये विद्युत्-कण जब अपनी हरकत करते हैं, तो विद्युत्-धारा उत्पन्न हो जाती है, जो अपने प्रभाव से धरती के अन्दर चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न कर देती है।

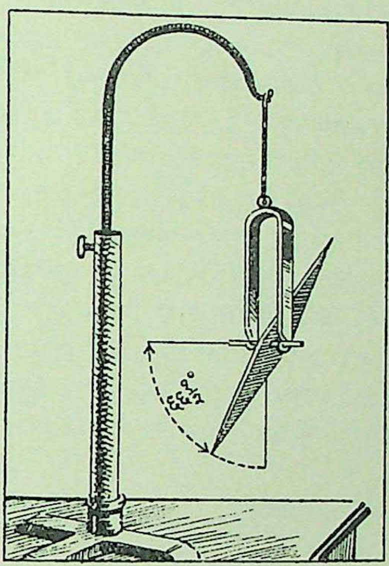

चुंबकीय सुई को लटकाने पर उसका एक सिरा विभिन्न स्थानों में विभिन्न कोण बनाते हुए इसी प्रकार नीचे को झुक जाता है। यह पृथ्वी के चुंबकीय प्रभाव के कारण होता है (दे॰ पृ॰ ३१०६ का मैटर)।

पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति के बारे में किए गए अनुसंधानों से पता लगता है कि विभिन्न स्थानों पर इस चुम्बकीय शक्ति की उत्तर-दक्षिण दिशा में नियमित रूप से परिवर्तन हुआ करता है। आठ बजे प्रातः तक उत्तरी गोलार्द्ध में चुम्बकीय उत्तरी-दक्षिणी ऊर्ध्व धरातल धीरे-धीरे पूर्व की ओर हटता जाता है। तदुपरान्त यह तीसरे पहर दो बजे तक पश्चिम की ओर हटता है और फिर पूर्व की ओर हटने लगता है। ग्रीष्म ऋतु में जाड़े की अपेक्षा हटाव अधिक होता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में यह चुम्बकीय उत्तर-दक्षिणी ऊर्ध्व धरातल उल्टी दिशा में हटता है। धरती की चुम्बकीय दिशा में लम्बी अवधि का भी एक परिवर्तन होता है। जान पड़ता है, मानो पृथ्वी के अंदर के महान् चुंबक के ध्रुव भौगोलिक ध्रुवों की परिक्रमा लगाते हैं। कहते हैं, पृथ्वी की चुम्बकीय धुरी लगभग १,००० वर्ष में भौगोलिक धुरी की पूरी परिक्रमा लगा लेती है।

धरती की चुम्बकीय शक्ति के इन नियमित परिवर्तनों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के और भी परिवर्तन हुआ करते हैं, जिनमें से विशेष उल्लेखनीय "चुम्बकीय तूफान" हैं। इस चुम्बकीय तूफानों का सूर्य से घना संबन्ध है, क्योंकि प्रति ११ वर्ष की अवधि पर सूर्य-कलंकों की तरह ये भी अपनी चरमावस्था पर होते हैं। चुंबकीय तूफान के समय उत्तरीय ध्रुव-क्षेत्र में 'उत्तरीय प्रकाश' तथा दक्षिणी ध्रुव-प्रदेश में 'दक्षिणी प्रकाश' की रंग-बिरंगी चमक प्रचुरता से देखने में आती है। सूर्य-कलंक वास्तव में सूर्य के धरातल के आवर्त हैं, जिनमें से अगणित संख्या में ऋणात्मक विद्युत्-कण निकलकर पृथ्वी की ओर आते हैं। इसके फलस्वरूप वायुमंडल के ऊर्ध्व स्तरों में एक प्रकार की विद्युत्-धारा प्रवाहित होने लगती है। इसी विद्युत्-धारा के चुम्बकीय प्रभाव से पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र में विशेष परिवर्तन उत्पन्न होते हैं। ध्रुवों की ओर सूर्य से निकले हुए विद्युत्-कण अधिकतम संख्या में आकर्षित होते हैं। अतः वहाँ वायु-कणों से टकराकर रंग-बिरंगे प्रकाश उत्पन्न करते हुए वे 'अरोरा' के दृश्य उपस्थित करते हैं।

विद्युत्-शक्ति—(१)

घर्षण-विद्युत् और उसका उत्पादन

सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले किसी को भी यह अनुमान नहीं हो सकता था कि मनुष्य के हाथ में एक ऐसी शक्ति आनेवाली है, जो तरह-तरह के चमत्कार कर दिखाएगी ! किंतु आज का युग इसी शक्ति––विद्युत्––के प्रभाव से मानो ओतप्रोत-सा हो रहा है। आज के मानव ने विद्युत् की इस अद्‌भुत् शक्ति की सहायता से अपने चारों ओर के वातावरण को पूर्णतया बदल डाला है। भारी मात्रा में बिजली उत्पन्न करके और तार द्वारा उसे दूर-दूर तक पहुँचाकर आज उससे बीसियों तरह के काम लिए जा रहे हैं। इसकी सहायता से आज हम आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली रोशनी पैदा करते, हजारों अश्वबल के इंजिनों का संचालन करते, हद दर्जे की गरमी उत्पन्न करते तथा घर के झाड़ू लगाने से लेकर चूल्हा जलाने और चक्की चलाने तक के काम लेते हैं ! विद्युत्-शक्ति की ही बदौलत आज मनुष्य टेलीफोन पर हजारों मील की दूरी पर बातचीत करने में समर्थ है, रेडियो पर बिना तार की मदद से संसार के किसी भी कोने से दूसरे कोने तक क्षण मात्र में समाचार भेज सकता है तथा टेलिवीजन द्वारा घर बैठे ही सैकड़ों मील के फासले पर होनेवाली घटनाओं को तत्काल देख सकने में भी सक्षम है ! यह शक्ति क्या है; किस प्रकार मनुष्य ने उसके रहस्यों और नियमों को पहचाना तथा क्योंकर उसे अपने लिए उपयोगी बनाया––आइए, देखें !

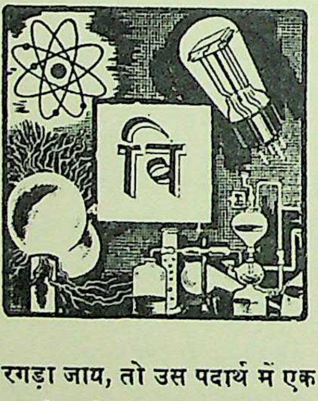

विद्युत् के विकास की कहानी आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले आरम्भ हुई थी, जबकि यूनानियों ने 'ऐम्बर' नामक पदार्थ के एक विशेष गुण की परख की थी। उन्होंने देखा कि यदि ऐम्बर को ऊन से रगड़ा जाय, तो उस पदार्थ में एक अद्‌भुत् आकर्षणशक्ति का समावेश हो जाता है––वह नन्हें-नन्हें तिनकों को अपनी ओर खींच लेता है ! इस चमत्कार को देखकर उन प्राचीन लोगों ने सहज ही यह अनुमान कर लिया कि ऐम्बर में कोई दैवी शक्ति मौजूद है, जिसके कारण यह इस प्रकार की आकर्षण-शक्ति का प्रदर्शन कर सकता है ! इसीलिए वे अपने आभूषणों में ऐम्बर का प्रयोग करने लग गए। ऐम्बर के इस गुण विशेष को वे 'इलेक्ट्रिसिटी' के नाम से पुकारने लगे, क्योंकि ऐम्बर का यूनानी नाम 'इलेक्ट्रॉन' था। हमारे यहाँ इसी गुण को 'विद्युत्' का नाम दिया गया।

घर्षण-विद्युत्

१६वीं शताब्दी ई० में डॉ० गिल्बर्ट नामक एक अंग्रेज वैज्ञानिक ने प्रयोगों के सिलसिले में देखा कि घर्षण द्वारा इस प्रकार की आकर्षणशक्ति का समावेश न केवल ऐम्बर में, बल्कि गन्धक, काँच, लाख, चपड़ा तथा हीरे में भी किया जा सकता है। इस प्रकार प्राप्त शक्ति को 'घर्षण-विद्युत्' का नाम दिया गया। गिल्बर्ट के अनुसन्धानों की चर्चा शीघ्र ही समस्त योरप में फैल गई और भिन्न-भिन्न देशों में वैज्ञानिक इस क्षेत्र में तरह-तरह के अनुसन्धान करने लगे।

घर्षण-विद्युत् के सम्बन्ध में आप भी तरह-तरह के दिलचस्प प्रयोग कर सकते हैं। अपनी फाउन्टेनपेन को ऊनी कोट की आस्तीन पर थोड़ी देर तक रगड़िए। आप देखेंगे कि फाउन्टेनपेन मेज पर से कागज के टुकड़ों को उठाने लगेगी ! देहाती लड़के सिर के सूखे बालों पर सरकंडे को रगड़कर प्रायः उसमें घर्षण-विद्युत् पैदा कर लेते हैं, जिससे सरकंडे का टुकड़ा नन्हें-नन्हें तिनकों को उठाने लगता है। रात के अँधेरे में दर्पण के सामने यदि आप मसाले के कंघ को अपने सिर के सूखे बालों

में कई बार फेरें, तो दर्पण में आपको बाल और कंघे [illegible] से चिनगारियाँ उत्पन्न होते दिखलाई देंगी । स्पष्टतः इसका कारण कंघे में घर्षण-विद्युत की उत्पत्ति है । काँच के गिलास को रेशमी रूमाल से रगड़िए और तब गिलास के समीप कुछ मुलायम पंख ले जाइए--पंख के बाल गिलास द्वारा आकृष्ट हो जायेंगे । अपनी पालतू बिल्ली को हाथ से सहलाइए । आप देखेंगे कि उसकी पीठ के बाल आपके हाथ द्वारा आकर्षित होकर खड़े हो जाते हैं । लाख को फलालैन के टुकड़े से रगड़िए, फिर उसे अपने सिर के बाल के ऊपर ले जाइए--लाख की विद्युत् सिर के बालों को ऊपर खींच लेगी ।

इस सिलसिले के प्रयोगों में यह भी देखा गया कि घर्षण-विद्युत् में केवल आकर्षण ही नहीं, वरन् विकर्षण का गुण भी मौजूद है । यदि शीशे की छड़ को हम रेशम से रगड़ें और उसे रेशमी धागे के सहारे आड़ी लटका दें तथा रेशम से रगड़ी हुई दूसरी शीशे की छड़ उसके समीप ले आएँ, तो हम देखेंगे कि लटकी हुई छड़ दूर हट जाती है—अर्थात् दोनों छड़ों में विकर्षण (हटाव) होता है । स्पष्ट है कि दोनों छड़ों पर समान जाति की विद्युत् उत्पन्न हुई होगी और ऐसी समान विद्युत् में परस्पर विकर्षण होता है ।

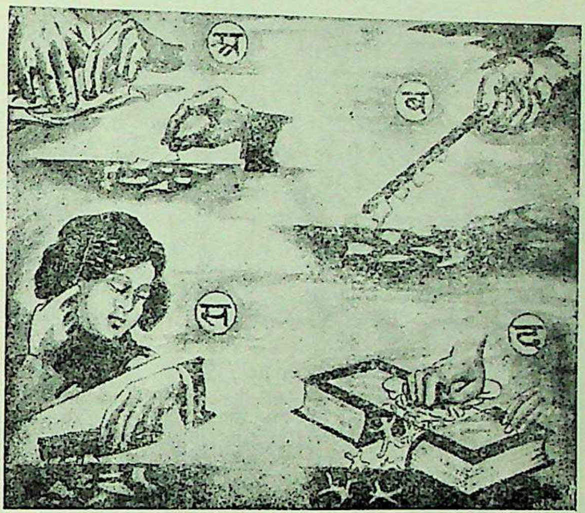

घर्षण-विद्युत् सम्बन्धी प्रयोग :: (अ) ऊन द्वारा रगड़ा गया ऐम्बर कागज के टुकड़े उठा रहा है; (ब) फलालैन द्वारा रगड़ा गया विद्युदाविष्ट आबनूस या कांच का डंडा; (स) बालों में फेरने पर कंघे में विद्युत् का आवेश; (द) शीशे की प्लेट को रेशम से रगड़ने पर उसके नीचे रक्खे गए कागज के हल्के पुतले अपने आप नाचने लगते हैं ।

इसके प्रतिकूल यदि हम आबनूस की एक छड़ को फलालैन से रगड़कर उसे उसी प्रकार रेशमी धागे के सहारे लटकाएँ और तब उसके समीप रेशम से रगड़कर शीशे की छड़ लाएँ, तो इन दोनों में आकर्षण उत्पन्न होता है । और भी देखिए—फलालैन से रगड़ी गई आबनूस की छड़ को लटकाकर उसके समीप फलालैन से रगड़ी गई आबनूस की छड़ ले आएँ, तो इस बार भी विकर्षण ही पैदा होता है । इन तीनों प्रयोगों से सिद्ध होता है कि समान जाति की विद्युत् में परस्पर विकर्षण और असमान जाति की विद्युत् में आकर्षण होता है । अतः घर्षण-विद्युत् की दो जातियाँ हुईं--एक वह, जो शीशे को रेशम से रगड़ने से उत्पन्न होती है और इस प्रकार उत्पन्न विद्युत् से विकर्षित होती है तथा दूसरी वह जो फलालैन द्वारा आबनूस पर रगड़ने से उत्पन्न होती है एवं आबनूस पर उत्पन्न हुई विद्युत् से विकर्षित होती है ।

काफी दिनों के बाद अमेरिका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक बेन्जामिन फ़्रैन्कलिन ने शेशी वाली विद्युत् को 'धनात्मक घर्षण-विद्युत्' का नाम दिया और आबनूसवाली को 'ऋणात्मक विद्युत्' कहकर पुकारा । ये नाम क्यों चुने गए, इसका कोई कारण नहीं बताया जा सकता ।

घर्षण-विद्युत् की इस विवेचना ने एक और पहेली को भी सुलझाया । घर्षण के प्रयोगों में यह देखा गया था कि आबनूस की छड़ को फलालैन से रगड़ने पर उक्त छड़ जब कागज के टुकड़ों के पास ले जाई जाती है, तो कागज के टुकड़े उस से आकर्षित होकर छड़ में जा चिपकते हैं, किन्तु एकाध क्षण बाद ही वे गिर भी पड़ते हैं । छड़ की विद्युत् अभी उसमें मौजूद रहती है, क्योंकि छड़ कागज के और टुकड़ों को आकर्षित करने में समर्थ होती है । तो फिर क्या कारण है कि कागज के ये टुकड़े छड़ से चिपकने पर अलग हो गए ? इसका कारण यही होता है कि छड़ को स्पर्श करने पर कागज के टुकड़े छड़ की विद्युत् ग्रहण कर लेते हैं । अतः छड़ की तरह ये भी ऋणात्मक विद्युत्मय हो जाते हैं । चूंकि समान जाति की विद्युत् कागज और छड़ दोनों पर विद्यमान है, अतः दोनों में विकर्षण होता है और कागज दूर हटकर गिर जाता है, शीशे की छड़ से प्रयोग करने पर भी यही बात देखने में आती है कि कागज के टुकड़े आकर्षित होकर छड़ से चिपक जाते हैं, किन्तु तत्काल ही वे पुनः नीचे गिर जाते हैं, क्योंकि उनमें भी शीशे की छड़वाली धनात्मक विद्युत् का समावेश हो जाता है ।

समान जाति की विद्युत् के विकर्षण तथा असमान विद्युत् के पारस्परिक आकर्षण का प्रदर्शन करने के लिए सरकण्डे के

गूदे की गोलियों द्वारा एक रोचक प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रदर्शन के लिए सरकण्डे के गूदे को सुखाकर उसकी दो गोलियाँ बना लीजिए और इन्हें रेशम के धागे से एक इंच की दूरी पर लटका दीजिए——अब फलालैन से आबनूस की छड़ को रगड़कर उक्त छड़ को एक गोली से छुला दीजिए। फौरन् ही दोनों गोलियाँ आकर्षित होकर एक दूसरे को छू लेती हैं, किन्तु तत्काल ही वे अलग भी हो जाती हैं, क्योंकि स्पर्श के बाद दूसरी गोली से भी ऋणात्मक विद्युत् चली जाती है। इसी तरह एक और प्रयोग कीजिए——इस बार दोनों गोलियों को रगड़ी हुई आबनूस की छड़ से छुला दीजिए। आप देखेंगे कि अब दोनों गोलियाँ एक दूसरे से दूर हट जाएँगी, क्योंकि प्रारंभ से ही दोनों में समान विद्युत् मौजूद है। अतः उनमें विकर्षण हो रहा है।

घर्षण-विद्युत् के आकर्षण-विकर्षण के गुणों की परीक्षा के सिलसिले में वॉन गेरिक का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसने अधिक परिमाण में घर्षण-विद्युत् उत्पन्न करने के लिए एक मशीन का निर्माण किया। इस सीधी-सादी मशीन में गंधक के एक बड़े टुकड़े को धुरी पर आरूढ़ कराकर धुरी को हैन्डल के सहारे तेजी के साथ घुमाया जाता था तथा हथेली को गंधक पर रक्खा जाता था। उपर्युक्त तेज घर्षण के कारण गंधक पर कुछ ही क्षण में काफी ऋणात्मक विद्युत् उत्पन्न हो जाती थी।

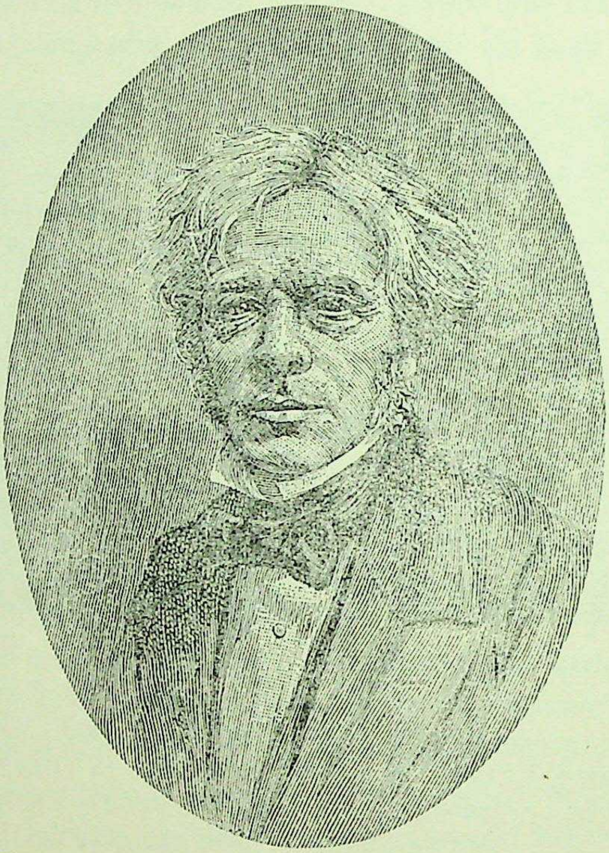

विद्युत्-संबंधी जानकारी बढ़ाने में महत्वपूर्ण योग देनेवाला महान् वैज्ञानिक फैरेडे।

विद्युत् के उत्तम और अधम चालक

इस सिलसिले में किए गए अनुसंधानों के क्रम में यह भी मालूम किया गया कि पीतल या ताँबे अथवा लोहे की छड़ को हाथ में पकड़कर यदि उसे रगड़ा जाय, तो उसमें किसी भी प्रकार की विद्युत् का समावेश नहीं हो पाता। लोगों को अचरज हुआ कि ऐसा क्यों होता है! इस उधेड़बुन में कुछ अनुसन्धानकों ने पीतल या धातु की एक ऐसी छड़ तैयार की, जिसका हैन्डल काँच का बना था। अब देखा गया कि काँच के हैन्डल को हाथ में पकड़कर यदि धातु की छड़ को रगड़ा जाय, तो धातु की छड़ में भी विद्युत् उत्पन्न हो जाती है और यह अन्य चीजों को आकर्षित करने में समर्थ होती है। अतः यह सिद्ध हो गया कि धातुएँ भी घर्षण द्वारा विद्युत्मय बनाई जा सकती हैं——केवल यह आवश्यक होता है कि उनकी विद्युत् को अन्दर से भागने न दी जाय। यदि धातु की छड़ में काँच या आबनूस का हैन्डल लगा दिया जाय, तो धातु की विद्युत् भागने में समर्थ नहीं हो पाती। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सभी पदार्थों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है——एक वे पदार्थ, जिनमें से होकर विद्युत् का प्रवाह नहीं हो सकता; इस श्रेणी में गंधक, शीशा, आबनूस, ऐम्बर आदि आते हैं। इन्हें हम विद्युत् के 'अधम चालक' कह सकते हैं। दूसरे वे पदार्थ हैं, जिनमें से होकर विद्युत् का प्रवाह आसानी से हो सकता है; ताँबा, पीतल, लोहा, चाँदी आदि इसी श्रेणी में आते हैं। इन्हें हम विद्युत् के 'उत्तम चालक' कह सकते हैं। हमारा शरीर भी मध्यम श्रेणी का विद्युत्-चालक है। यही कारण है कि फलालैन से आबनूस की छड़ को रगड़कर यदि हम छड़ पर हाथ फेर दें, तो छड़ की विद्युत्-शक्ति हमारे शरीर में से प्रवाहित होकर धरती में चली जाती है और छड़ विद्युत्हीन हो जाती है। आर्द्रता भी विद्युत् की चालक है। इसीलिए घर्षण-विद्युत् के प्रयोग के पहले सभी चीजों को भली-भाँति सुखा लेना चाहिए, अन्यथा उन वस्तुओं पर घर्षण के उपरान्त विद्युत् नहीं ठहरेगी। रेशम अधम चालक है, इसी कारण घर्षण-विद्युत् के प्रयोग में आकर्षण-विकर्षण का प्रदर्शन करने के लिए छड़ को रेशम के धागे से ही लटकाते हैं। सूत में यह गुण मौजूद नहीं है।

अनुसन्धानकों ने अब एक और महत्वपूर्ण खोज की। उन्होंने फलालैन की खोलनुमा टोपी बनाकर उससे आबनूस को रगड़ा

और सरकण्डे के गूदे को लटकाकर उसे रेशम द्वारा रगड़े गए काँच के डंडे से छुलाया। सरकंडे की गोली में धनात्मक विद्युत् आ गई। तदुपरान्त फलालैन की उस टोपी को जब इस सरकंडे की गोली के पास ले आया गया, तो इन दोनों में विकर्षण हुआ। अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि फलालैन की टोपी में धनात्मक विद्युत् उत्पन्न हुई थी, जबकि आबनूस में ऋणात्मक उत्पन्न हुई थी। इसी तरह यह भी सिद्ध किया जा सका कि काँच और रेशम के परस्पर घर्षण से काँच में तो धनात्मक विद्युत् उत्पन्न होती है, किन्तु साथ ही साथ रेशम में ऋणात्मक विद्युत् की उत्पत्ति होती है। फिर तो शीघ्र ही यह दिखलाया जा सका कि जब दो विभिन्न पदार्थों में घर्षण होता है, तो एक साथ एक पदार्थ में धनात्मक और दूसरे पदार्थ में ऋणात्मक विद्युत् पैदा हो जाती है। आगे हम देखेंगे कि ऐसी दशा में ये दोनों जाति की विद्युत् समान मात्रा में ही उत्पन्न होती है।

उपपादन

घर्षण-विद्युत के संबंध में जानकारी बढ़ने के कारण यह स्वाभाविक था कि लोग यह जानने के लिए उत्सुक हों कि आखिर विद्युत्मय पदार्थ को जब ऐसे पदार्थों के समीप ले जाते हैं, जिनमें विद्युत् नहीं है, तो उनके बीच आकर्षण क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर वॉन गेरिक ने अपनी घर्षण-मशीन द्वारा प्रयोग करके मालूम किया था। उसने देखा कि जब विद्युत्मय गंधक के टुकड़े के समीप नन्हीं-नन्हीं वस्तुएँ लाई जाती हैं, तो उनमें स्वयं विद्युत् का समावेश हो जाता है। इस सिलसिले में किए गए प्रयोगों में यह देखा गया कि निकटवाले भाग में प्रतिकूल जाति की विद्युत् उत्पन्न होती थी और दूरवाले भाग में समान जाति की।

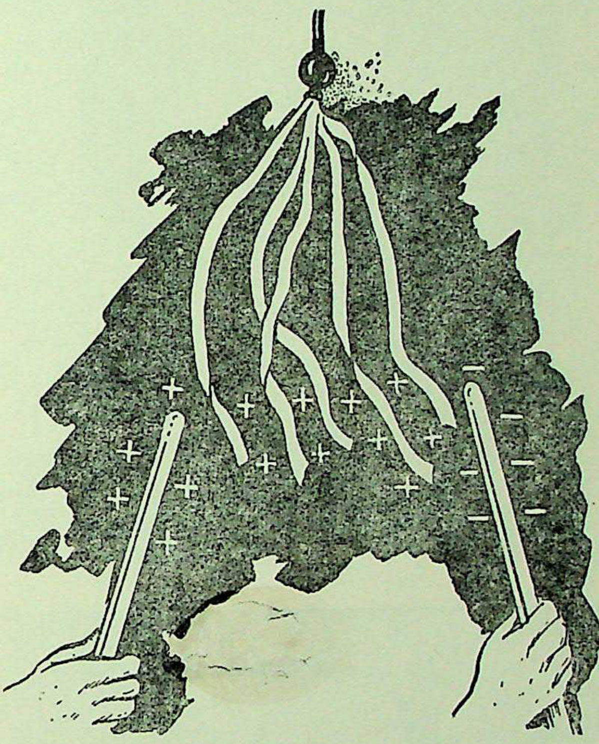

कागज के एक तख्ते को ब्रुश से रगड़कर रेशम के धागे द्वारा लटकाया जाय, तो वह धनात्मक विद्युत् से आविष्ट हो जायगा। अब उसे धज्जियों में विभाजित कर दीजिए। उनमें विकर्षण होगा, क्योंकि वे सभी समान धनात्मक विद्युत् से आविष्ट हैं। इन धज्जियों के पास धनात्मक विद्युत्युक्त छड़ लाने पर वे विकर्षित होंगी और ऋणात्मक विद्युत्युक्त छड़ लाने पर आकर्षित।

जब किसी भी वस्तु में विद्युत् का आविर्भाव विद्युतमय वस्तु से बिना छुलाए केवल उन दोनों को निकट ले आने से ही हो जाता है, तो उक्त क्रिया को 'उपपादन' कहते हैं। इस क्रिया को समझने के लिए एक प्रयोग किया जा सकता है। पीतल का एक बेलनाकार पिंड काँच के स्टैण्ड पर आरूढ़ किया जाता है। अब फलालैन से आबनूस की छड़ को रगड़कर उसे पीतल के पिंड के एक सिरे के समीप ले आते हैं। सरकण्डे की गोली पर ऋणात्मक विद्युत् चढ़ाकर उसे पिंड के दूरवाले सिरे के नजदीक ले आने पर विकर्षण होता है। इससे स्पष्ट है कि पिंड के दूरवाले भाग में ऋणात्मक विद्युत् मौजूद है। छड़ के हटा लेने पर पिंड की यह विद्युत्-शक्ति भी लुप्त हो जाती है। उपपादन द्वारा उत्पन्न हुई विद्युत् उतनी ही देर तक स्थिर रहती है, जितनी देर तक निकट में कोई विद्युत्मय पदार्थ रहता है। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है? उपर्युक्त प्रयोग में यदि आबनूस की छड़ को पीतल के पिंड के निकट रखकर पिंड को हाथ से छू लिया जाय, तो इससे सरकण्डे की ऋणात्मक विद्युत्वाली गोली प्रभावित नहीं होती। किन्तु इसके बाद छड़ हटा लेने पर वही पिंड धनात्मक विद्युत्वाली सरकण्डे की गोली के प्रति विकर्षण और ऋणात्मक के प्रति आकर्षण का प्रदर्शन करता है। स्पष्ट है कि अब वह स्वयं धनात्मक विद्युत्मय हो गया है। उपपादन की इस क्रिया को समझने के लिए कल्पना कीजिए कि प्रत्येक पदार्थ नन्हें-नन्हें धनात्मक और ऋणात्मक विद्युत्कणों से मिलकर बना है। दोनों तरह के कणों की संख्या बराबर होती है, इसीलिए साधारणतः पदार्थों में उनके विद्युत्-गुण प्रदर्शित नहीं होते। यदि कोई विद्युत्मय पदार्थ निकट आता है, तो वह प्रतिकूल

जाति के विद्युत्-कणों को आकर्षित करके उन्हें अपने निकट वाले सिरे पर एकत्रित कर लेता है और अपनी जाति के विद्युत्-कणों को दूरवाले सिरे पर हटा देता है। प्रतिकूल जाति के विद्युत्-कण उसके आकर्षण से एक तरह से बंधे रहते हैं, किन्तु स्वजाति के कण स्वतंत्र रहते हैं। अतः पिंड स्वजाति का प्रभाव दिखलाता है। छूने पर अनुकूल जाति के ये स्वतंत्र विद्युत्-कण हाथ और शरीर में से होते हुए धरती में चले जाते हैं। अब यदि आबनूस के ऋणात्मक विद्युत्मय डंडे को हटा लिया जाए, तो पिंड के बँधे हुए धनात्मक विद्युत्-कण स्वतंत्र होकर पिंड पर फैल जाते हैं और वह धनात्मक विद्युत् का प्रभाव दिखलाता है, क्योंकि इनके प्रभाव को नष्ट करनेवाले ऋणात्मक विद्युत्-कण अब उसमें नहीं रहे।

इसी प्रकार जब दो पदार्थों में परस्पर घर्षण होता है, तो एक से ऋणात्मक विद्युत्-कण निकल कर दूसरे में चले जाते हैं; अतः जिसमें से ऋणात्मक विद्युत्-कण निकल जाते हैं, वह धनात्मक विद्युत् के गुण का प्रदर्शन करता है और दूसरे पदार्थ में ऋणात्मक विद्युत्-कण के बढ़ जाने से ऋणात्मक विद्युत् का प्रभाव प्रकट होता है। यही कारण है कि फलालैन और आबनूस जब एक दूसरे से रगड़े जाते हैं, तो फलालैन में धनात्मक और आबनूस में ऋणात्मक विद्युत उत्पन्न होती है। काँच की छड़ को रेशम से रगड़ने पर काँच में धनात्मक और रेशम में ऋणात्मक बिजली पैदा होती है।

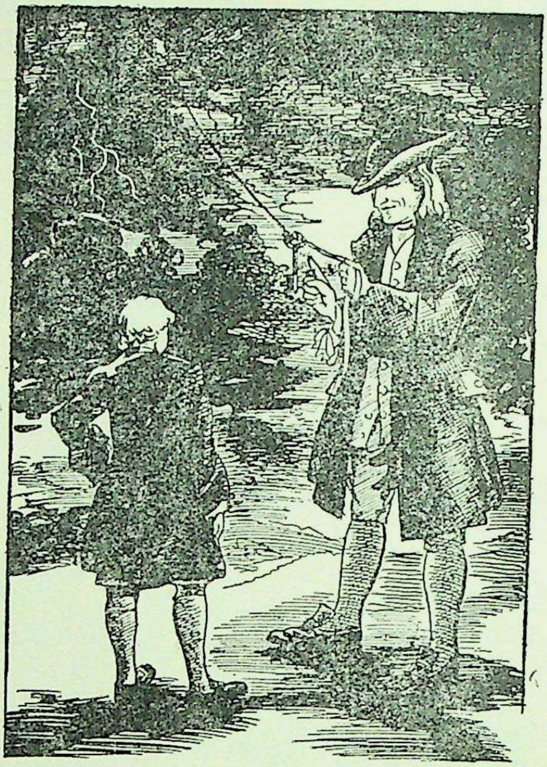

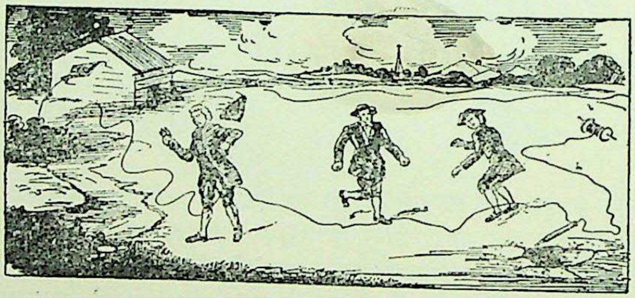

(ऊपर) आकाशीय विद्युत् के रहस्योद्घाटन के लिए किया गया बेन्जेमिन फ्रेंकलिन का प्रसिद्ध प्रयोग; (नीचे) इसी संबंध में डॉ० रोमास का प्रयोग (विवरण पृ० ३११६ पर देखिए)

अब हम इस प्रश्न का भी उत्तर दे सकते हैं कि विद्युत्मय पदार्थ के निकट लाने पर नन्हें-नन्हें कागज के टुकड़े या तिनके आदि क्यों पहले खिंचकर उस पदार्थ से चिपक जाते हैं और फिर जल्दी ही अलग क्यों हो जाते हैं? विद्युत्मय पदार्थ के निकट जब कोई चीज लाई जाती है, तो उपपादन द्वारा उस चीज के निकटवाले भाग में प्रतिकूल जाति के विद्युत्-कण इकट्ठे हो जाते हैं और दूरवाले सिरे पर अनुकूल जाति के। चूंकि प्रतिकूल जाति के विद्युत्-कण निकट हैं, इसलिए दोनों पदार्थों के बीच आकर्षण होता है। किन्तु खिंचकर जब उक्त नन्हीं चीज विद्युत्मय पदार्थ को छू लेती है, तो विद्युत्मय पदार्थ से उस चीज में समान जाति के कुछ विद्युत्-कण चले जाते हैं। समान जाति की विद्युत् में विकर्षण भी होना आवश्यक है, अतः अब इन दोनों के बीच विकर्षण होता है और वह चीज दूर या अलग हो जाती है।

इलेक्ट्रोस्कोप

यह ज्ञात करने के लिए कि किसी पदार्थ में विद्युत् है या नहीं, और है तो किस जाति की है, अर्थात् ऋणात्मक है या धनात्मक, प्रयोगशालाओं में एक खास यंत्र का उपयोग किया जाता है। यह 'स्वर्णपत्र - इलेक्ट्रोस्कोप' कहलाता है। इस यंत्र में चौड़े मुंह की काँच की बोतल में सोने की दो पत्तियाँ पीतल की छड़ के निचले छोर से लटकती रहती हैं। छड़ का दूसरा सिरा चिपटा रहता है, जो कि बोतल के बाहर निकला होता है। पत्तियाँ बोतल के अन्दर इसलिए लटकाई जाती हैं कि उन्हें हवा का झोंका न लगने पाए। जिस वस्तु की जाँच करनी हो, उसे इलेक्ट्रोस्कोप की छड़ के ऊपरी सिरे से छुला देते हैं। यदि उस वस्तु में विद्युत् मौजूद हुई, तो उसका कुछ अंश छड़ में से होकर दोनों पत्तियों में चला जाता है। समान जाति की

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विद्युत् दोनों पत्तियों में चली जाती है, अतः उनमें विकर्षण होता है और वे दोनों एक दूसरे से दूर हटकर चौड़ी हो जाती हैं। यदि उस वस्तु में बिजली मौजूद न हुई, तो पत्तियाँ पूर्ववत् अवस्था में ही लटकती रहती हैं, उनमें विकर्षण नहीं होता (दे० इसी पृ० का ऊपरी चित्र)। विद्युत्मय वस्तु को इलेक्ट्रोस्कोपकी छड़ से न छुआकर उसे केवल छड़ के सिरे के निकट भर ले जाएँ, तो भी पत्तियों में विकर्षण होगा; क्योंकि उपपादन के द्वारा विरुद्ध जाति की विद्युत् निकटवाले सिरे पर उत्पन्न होगी और समान जाति की विद्युत् दूर के सिरे में पत्तियों पर चली जायगी, अतः अब वे एक दूसरे से अलग हट जायँगी। किन्तु उस वस्तु को हटा लेने पर पत्तियाँ फिर इकट्ठा हो जायँगी।

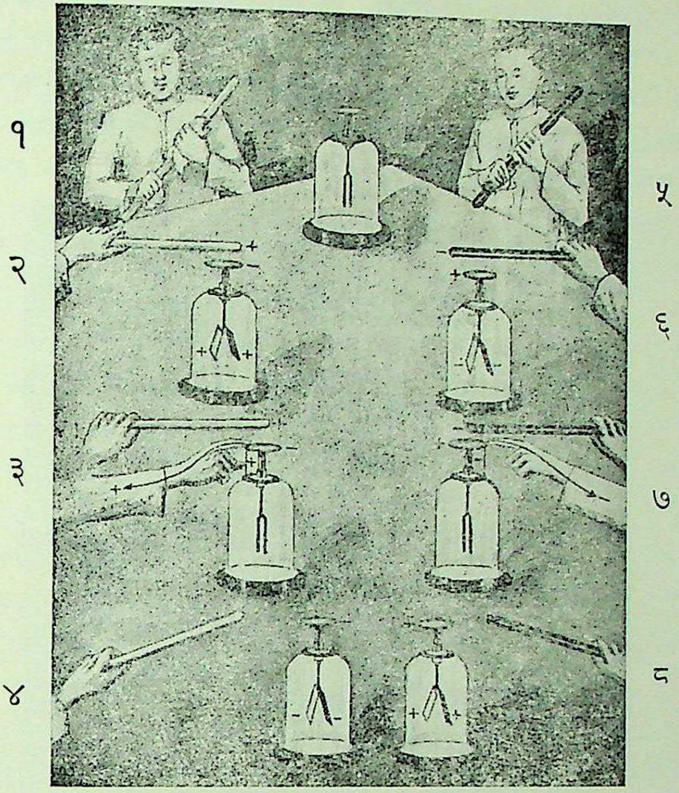

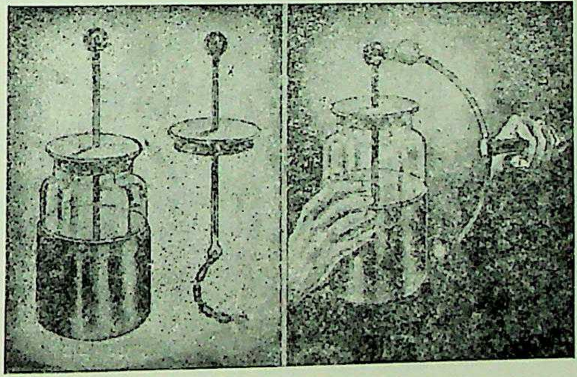

(ऊपर) उपपादन द्वारा इलेक्ट्रोस्कोप विद्युदाविष्ट करने की क्रिया (विवरण प्रस्तुत और अगले पृष्ठ पर पढ़िए); विद्युत्-संचय के लिए प्रयुक्त 'लीडन-जार' (विवरण पृ० ३११५-३११६ पर)।

यह मालूम करने के लिए कि किसी वस्तु में धनात्मक विद्युत् है या ऋणात्मक, यह आवश्यक होता है कि इलेक्ट्रोस्कोप पर किसी एक जाति की विद्युत् आरूढ़ करा ली जाय। मान लीजिए कि आबनूस की छड़ को फलालैन से रगड़कर उससे इलेक्ट्रोस्कोप की पीतल की छड़ को छू दिया गया, तो पत्तियों में ऋणात्मक विद्युत् चली जायेंगी और वे फैल जायेंगी। अब यदि धनात्मक विद्युत्मय वस्तु उसके निकट लाई जाय, तो उपपादन द्वारा वह पत्तियों में धनात्मक विद्युत् भेजेगी। अतः पत्तियों की पहले की ऋणात्मक विद्युत् का कुछ अंश धनात्मक विद्युत् के कारण नष्ट हो जायगा और फलस्वरूप पत्तियों के विकर्षण में कमी हो जायगी तथा पहले की अपेक्षा वे अब निकट आ जायँगी। इसके प्रतिकूल यदि ऋणात्मक विद्युत्वाली वस्तु निकट लाई जाय, तो वह धनात्मक विद्युत् को निकट के सिरे पर इकट्ठा करेगी और ऋणात्मक विद्युत् को पत्तियों में भेजकर उनके पारस्परिक विकर्षण को और भी अधिक कर देगी, जिससे उनका फैलाव बढ़ जायगा।

इलेक्ट्रोस्कोप पर विद्युत् आरूढ़ कराने के निमित्त यह आवश्यक नहीं कि उसके छड़ के सिरे को किसी विद्युत्मय पदार्थ से छुआया ही जाय। विद्युत्मय वस्तु को निकट लाकर केवल उपपादन द्वारा भी पत्तियों में प्रतिकूल जाति की विद्युत् आरूढ़ करायी जा सकती है। यह क्रिया इसी पृष्ठ के चित्रमें सविस्तार दिखाई गई है। काँच की छड़ को रेशम से रगड़ने पर उसमें धनात्मक विद्युत् आ गई है (दे०नं० १)। इसे इलेक्ट्रोस्कोप के सिरे के निकट लाने पर उसके पीतल में उपपादन द्वारा ऋणात्मक विद्युत्

आ जाती है और दूसरे सिरे पर पत्तियों में धनात्मक विद्युत् चली जाती है, जिससे वे फैल जाती हैं (नं० २)। अब काँच की छड़ को वहीं रखिए और इलेक्ट्रोस्कोप की पीतल की छड़ को हाथ से छू दीजिये, तो तुरन्त पत्तियों की धनात्मक विद्युत् आपके हाथ से होती हुई शरीर में से होकर धरती में चली जायगी, जबकि ऋणात्मक विद्युत् काँच की धनात्मक विद्युत् द्वारा आकृष्ट अवस्था में होने के कारण वहीं बँधी रह जायगी। इस हालत में पत्तियों का विकर्षण भी लुप्त हो जाता है और वे पूर्ववत् इकट्ठी लटकने लगती हैं (नं० ३)। तब काँच की छड़ को वहीं रखकर पहले हाथ को (जिससे आप पीतल की छड़ छू रहे थे) और तदनंतर काँच की छड़ को हटाइए। आप देखेंगे कि पीतल के ऊपरी सिरे की ऋणात्मक विद्युत् स्वतंत्र हो जाने के नाते नीचे तक आकर पत्तियों में प्रविष्ट हो जाती है और उनमें विकर्षण उत्पन्न करती है (नं०४)। इसप्रकार इलेक्ट्रोस्कोप पर ऋणात्मक विद्युत् आरूढ़ हो गई। यही क्रिया यदि आबनूस की छड़ को फलालैन से रगड़ कर की जाती है, तो अन्त में इलेक्ट्रोस्कोप की पत्तियों पर धनात्मक विद्युत् आरूढ़ हो जाती है (दे० नं० ५, ६, ७, ८)। इस ढंग से इलेक्ट्रोस्कोप पर विद्युत् आरूढ़ कराने से उत्पादक की विद्युत् में ह्रास नहीं होने पाता।

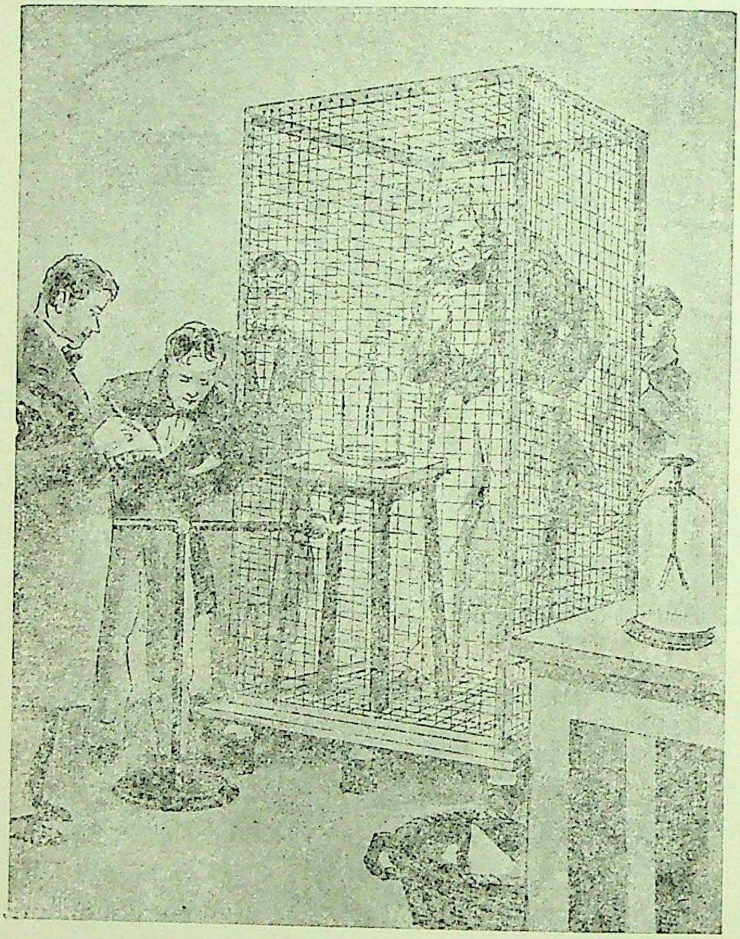

धातु के आवरण से वस्तु को घेरने पर बाहर की विद्युत् का प्रभाव भीतर नहीं पड़ सकता, यह सिद्ध करने के लिए किया गया फैरेड का प्रसिद्ध प्रयोग (व्याख्या के लिए इसी पृष्ठ का मैटर पढ़िए)।

फैरेडे का प्रयोग

इलेक्ट्रोस्कोप एक अत्यन्त चेतनशील यंत्र है। अतः इसके आविष्कार से घर्षण-विद्युत् के गुणों की जाँच बारीकी से की जा सकी। प्रयोगों के सिलसिले में देखा गया कि धातु के खोखले बर्तनों पर जब यह विद्युत् उत्पन्न की जाती है, तो वह पूर्णतया बाह्य धरातल पर ही स्थित होती है, भीतरी धरातल पर किसी भी मात्रा में वह विद्यमान नहीं रहती। पीतल की एक खोखली गेंद लीजिए और उसमें चवन्नी के बराबर एक छोटा सूराख कर दीजिए। तब काँच की सूखी मेज पर रखकर उस पर ऋणात्मक विद्युत् आरूढ़ करा दीजिए। अब काँच की पतली छड़ लेकर उसके एक सिरे पर एक दुअन्नी के बराबर पीतल का एक टुकड़ा मोम से चिपका दीजिए। तदनंतर विद्युत्मय गेंद के विभिन्न भागों से शीशे की छड़ के धातुवाले सिरे को छुलाकर उसमें आई हुई विद्युत् की जाँच इलेक्ट्रोस्कोप से कीजिए। आप देखेंगे कि गेंद के बाहरी धरातल पर हर कहीं ऋणात्मक विद्युत् मौजूद है, किन्तु गेंद की भीतरी सतह के किसी भी भाग से विद्युत् प्राप्त नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि गेंद की भीतरी सतहपर विद्युत् मौजूद नहीं है। विद्युत् की जानकारी बढ़ाने में महान् योग देनेवाले ब्रिटिशवैज्ञानिक फैरेडे ने इस तथ्य का प्रदर्शन निम्न रोमांचकारी प्रयोग द्वारा किया—उसने लोहे के तार का एक बड़ा पिंजड़ा तैयार किया और उसे काँच की एक चौकी पर रखकर इलेक्ट्रोस्कोप को लेकर वह स्वयं उसके अन्दर चला गया। बाहर से उसके मित्रों ने पिंजड़े पर इतनी अधिक विद्युत् आरूढ़ कराई कि पिंजड़े से विद्युत्-चिनगारियाँ पैदा की जा सकती थीं। किन्तु भीतर फैरेडे को कुछ मालूम न पड़ा और इलेक्ट्रोस्कोप की पत्तियों

पर किसी प्रकार का प्रभाव न पड़ा (दे० पृ० ३११४ का चित्र)। इस प्रयोग से यह भली भाँति सिद्ध हो गया कि धातु के आवरण से चारों ओर से किसी वस्तु को यदि घेर दिया जाय, तो बाहर की विद्युत् का प्रभाव भीतर की उस वस्तु पर किसी भी हालत में नहीं पड़ सकता। उदाहरण के लिए, बारूदखाने के चारों ओर यदि तार की जाली का घेरा खड़ा कर दिया जाए, तो आकाश की बिजली गिरने पर भी बारूदखाने पर कोई असर नहीं पड़ेगा।

इलेक्ट्रोफोरस

इन्हीं दिनों अधिक मात्रा में विद्युत् उत्पन्न करने के निमित्त मशीनें भी बनाई गईं। ये मशीनें उपपादन-क्रिया पर आश्रित थीं। इस ढंग की सबसे सीधी-सादी मशीन 'इलेक्ट्रोफोरस' है। इसका सर्वप्रथम निर्माण इटैलियन वैज्ञानिक वोल्टा ने १७७५ ई० में किया था। इसमें चपड़े की एक गोल चकरी धातु-प्लेट पर रक्खी रहती है। इस चकरी पर पुनः धातु की अन्य एक गोल प्लेट रक्खी रहती है, जिसका व्यास चपड़े के व्यास से थोड़ा कम ही होता है। धातु की इस प्लेट में काँच का हैंडिल लगा होता है। विद्युत् उत्पन्न करने के लिए धातु की प्लेट को अलग हटाकर फलालैन या बिल्ली की खाल से चपड़े को रगड़ते हैं और उस पर ऋणात्मक विद्युत् पैदा कर लेते हैं। अब धातु की प्लेट को चपड़े पर रख देते हैं। फौरन् ही प्लेट के निचले भाग में धनात्मक विद्युत् तथा ऊपरी सतह पर ऋणात्मक विद्युत् आ जाती है। तब धातु की प्लेट को हाथ से छू देते हैं, अतः स्वतन्त्र ऋणात्मक विद्युत् शरीर में से होकर धरती में चली जाती है। तदनंतर काँच का हैंडिल पकड़कर धातु की प्लेट को उठा लेते हैं और जिस वस्तु पर विद्युत् आरूढ़ कराना हुआ, उससे इसे छुआ देते हैं। प्लेट को पुनः चपड़े पर रखकर, पूर्ववत् उसमें धनात्मक विद्युत् का समावेश करकर उसे उसी वस्तु से छुआ देते और उसमें और भी अधिक विद्युत् प्रविष्ट करा सकते हैं। यह क्रिया दुहराकर धीरे-धीरे करके काफी विद्युत् उक्त वस्तु में प्रविष्ट करा देते हैं (दे० पृ० ३११६ का चित्र)।

ह्विमशर्स्ट-मशीन और लीडन-जार

प्रयोगशालाओं में अधिक परिमाण में विद्युत् उत्पन्न करने के लिए ह्विमशर्स्ट-मशीन का प्रयोग होता है (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)। इस मशीन में काँच की दो वृत्ताकार प्लेटें लगी होती हैं जो ऊर्ध्व धरातल में प्रतिकूल दिशाओं में एक ही हैन्डिल द्वारा घुमायी जा सकती हैं। प्रत्येक प्लेट की बाहरी सतह पर समान दूरी पर धातु की पत्तियाँ चिपकाई हुई रहती हैं तथा दोनों ओर पीतल की छड़ की भुजाएँ लगी होती हैं। इनके सिरों पर तार के गुच्छे होते हैं, जो प्लेट को छूते रहते हैं। ये भुजाएँ लगभग एक दूसरे से समकोण बनाती हैं। बगल में दोनों ओर धातु के दो कंघे लगे होते हैं, जिनके दाँत दोनों प्लेटों को बाहर से घेरे रहते हैं। ये कंघे मशीन के ढाँचे को छूते नहीं हैं। प्रत्येक कंघा एक-एक 'लीडन-जार' (परिचय के हेतु दे० पृ० ३११३ का निचला चित्र) से सम्बद्ध रहता है तथा कंघों से ही धातु की दो टेढ़ी छड़ें ऊपर को जाती हैं, जहाँ उनके सिरे गोल घुण्डियाँ बन जाते हैं।

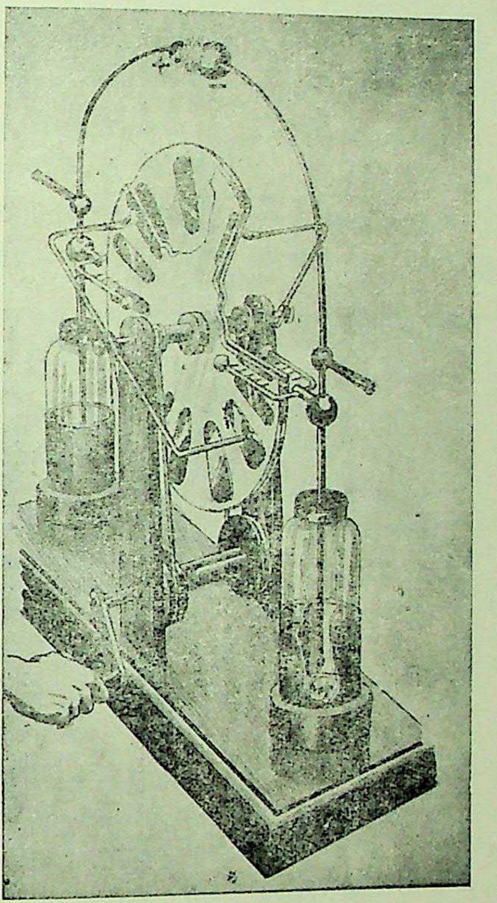

ह्विमशर्स्ट-मशीन (विवरण इसी पृष्ठ पर पढ़िए)।

कल्पना कीजिए कि घर्षण के कारण सामनेवाली प्लेट की एक पत्ती पर थोड़ी धनात्मक विद्युत् मौजूद है। जब यह बाईं ओर घूमेगी, तब पिछली प्लेट की उस पत्ती के सामने आएगी, जो कि पीछे की धातुवाली भुजा के गुच्छे के स्पर्श में है। अतः तुरन्त पीछे वाली प्लेट की इस पत्ती में उपपादन द्वारा ऋणात्मक विद्युत् का प्रवेश होगा और भुजा के दूसरे छोर के स्पर्श में आने वाली पत्ती में धनात्मक विद्युत् प्रकट होगी। अब

दोनों प्लेटें ज्यों-ज्यों घूमेंगी, त्यों-त्यों बाएँ कंधे में धनात्मक विद्युत् इकट्ठी हो जाएगी और दाहिने कंधे में ऋणात्मक विद्युत् । फिर सामने वाली भुजा का एक गुच्छा ऋणात्मक विद्युत्वाली पत्ती के सामने आएगा और दूसरा गुच्छा धनात्मकवाली पत्ती के । ऊपरवाले गुच्छे के स्पर्श से आनेवाली पत्ती में धनात्मक विद्युत् उत्पन्न होगी और नीचेवाले गुच्छे के स्पर्श से आनेवाली पत्ती में ऋणात्मक विद्युत् । ये ही धातु के कंघों द्वारा एकत्रित की जाती हैं । इस प्रकार जिस समय प्लेटें घूमती हैं, सामनेवाली प्लेट के ऊपरी भाग की तमाम पत्तियों में और पीछेवाली प्लेट के निचले हिस्से की तमाम पत्तियों में धनात्मक विद्युत् रहती है और शेष पत्तियों में ऋणात्मक विद्युत्, जो दाहिने कंघे में एकत्रित होती है । कंघों से विद्युत् दोनों लीडन-जारों में जाकर संचित होती है ।

'लीडन-जार' का गुण यह है कि इसमें काफी विद्युत् संचित की जा सकती है । यह एक चौड़े मुंह की काँच की बोतल होती है, जिसकी दीवारों की बाहरी और भीतरी सतह पर कुछ दूर तक टिन की पत्ती चढ़ी होती है (दे० पृ० ३११३ का निचला चित्र) । इसके लकड़ी के ढक्कन में से पीतल की छड़ गुजरती है, जिसके निचले भाग से एक पीतल की जंजीर लटकती रहती है । यह जंजीर टिन की पत्ती को छूती है । लीडन-जार में विद्युत संचित करने के लिए इसकी पीतल की घुण्डी को तार द्वारा ह्विमशर्स्ट-मशीन के कंघे से सम्बद्ध कर देते हैं और जार की बाहरी टिन की सतह को हाथ से पकड़े रहते हैं, ताकि उसका सम्बन्ध धरती से हो जाए । विद्युत् भर जाने पर एक चिमटेनुमा यंत्र से लीडन-जार की घुण्डी और बाहरी सतह की टिन को एक दूसरे से सम्बद्ध करने पर विद्युत्-चिनगारी और साथ ही कड़क की आवाज उत्पन्न होती है (दे० उक्त चित्र की दाहिनी ओर) । लीडन-जार की विद्युत् अब विनष्ट हो चुकी होती है ।

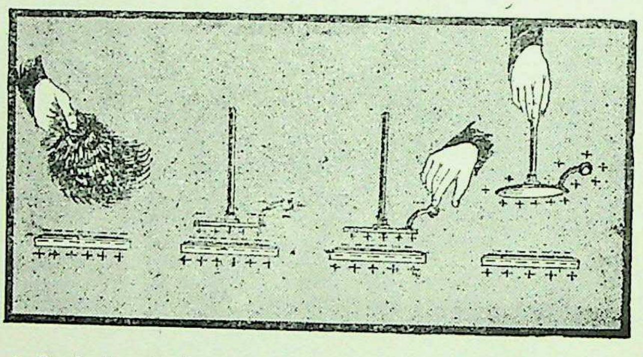

'इलेक्ट्रोफोरस' और उसका सिद्धान्त (विवरण के लिए पृ० ३११५ का मैटर देखिए ।)

ह्विमशर्स्ट-मशीन में लीडन-जार लगाने का तात्पर्य यह है कि मशीन की ऊपरवाली घुण्डियों के बीच चिनगारी उस समय तक नहीं उत्पन्न होती, जब तक कि दोनों ओर के लीडन-जारों में पर्याप्त मात्रा में विद्युत् संकलित न हो जाय । यदि लीडन-जार न लगाए जाएँ, तो मशीन की घुंडियों पर अधिक मात्रा में विद्युत् एकत्रित नहीं हो पाती, अतः लम्बी चिनगारी नहीं उत्पन्न होती ।

आकाशीय विद्युत्-संबंधी बेन्जेमिन फ्रेन्कलिन और डॉ० रोमास के प्रयोग

ह्विमशर्स्ट-मशीन द्वारा उत्पन्न विद्युत्-चिनगारियों को देखकर अवश्य ही प्रश्न उठता है कि क्या आकाश में कौंधनेवाली विद्युत् भी प्रयोगशाला में उत्पन्न की गई विद्युत् के सदृश ही है ? इस सिलसिले में १७५२ ई० में अमेरिकन वैज्ञानिक बेन्जमिन फ्रेन्कलिन ने एक साहसपूर्ण प्रयोग किया था । उसने रेशम की पतंग बनाकर उसके सिरे पर पतले तार का एक टुकड़ा लगा दिया और तब सूत की डोर में (जिसमें उसने पतंग बाँधी थी) निचले छोर पर लोहे की एक चाभी बाँध दी । वहीं पर रेशमी फीते को बाँधकर उस फीते को उसने हाथ में पकड़ा और ऊँचे आकाश में पतंग उड़ाई । उसने अपने इस प्रयोग के लिए ऐसा समय चुना था, जब कि आकाश में बिजली चमक रही थी । पानी बरस जाने पर जब डोर गीली हो गई, तब चाभी के निकट उँगली ले जाने पर उसे एक जबर्दस्त झटका लगा और नन्हीं-सी चिनगारी भी उत्पन्न हुई (दे० पृष्ठ ३११२ का ऊपरी चित्र) । इस प्रयोग द्वारा निर्विवाद रूप से यह सिद्ध हो गया कि आकाश की बिजली भी प्रयोगशाला की विद्युत् की जाति की ही होती है ।

इस नवीन अनुसंधान से प्रभावित होकर दूसरे ही वर्ष फ्रेंच विद्वान् डॉ० रोमास ने भी इसी तरह का एक और प्रयोग दोहराया । किन्तु उसकी पतंग का क्षेत्रफल काफी बड़ा था तथा सूत की डोर में उसने एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक बारीक तार बट दिया था । अच्छे मौसम में जब कि न पानी बरस रहा था और न आकाश में बिजली ही चमक रही थी, उसने अपनी पतंग ऊँचे बादलों तक उड़ाई । डोर को उसने लोहे की एक कील में बाँध दिया था । थोड़ी देर में ही बड़े जोर का धड़ाका हुआ ! बिजली की चमक उत्पन्न हुई और कील के नीचे जमीन में एक गड्ढा बन गया ! तदनंतर जब पतंग जमीन पर गिरी, तो जिस किसी ने डोर को छुआ, उसे ही जबर्दस्त धक्का (शॉक) लगा (दे० पृ० ३११२ का निचला चित्र) ।

डॉ० रोमास के इस प्रयोग से यह निष्कर्ष निकला कि जिस समय बिजली आसमान में नहीं चमकती होती है, उस समय भी बादल विद्युत्मय रहते हैं ! वस्तुतः पतंग और उसकी डोर में विद्युत् का समावेश बादलों में से ही हुआ था ।

आकाशीय विद्युत्—क्या और क्यों ?

विद्युत्-शास्त्र के विकास के इतिहास में बेन्जेमिन फ्रेंकलिन के ऊपर उल्लिखित प्रयोग को काफी महत्व प्राप्त है, क्योंकि इसी प्रयोग के आधार पर निर्विवाद रूप से यह साबित हुआ था कि आकाश की बिजली भी ठीक प्रयोगशालावाली घर्षण-विद्युत् की भाँति की है, अतः घर्षण-विद्युत् के ही नियम आकाशीय विद्युत् में भी लागू होते हैं । आकाशीय विद्युत् की कौंध दो विद्युत्मय बादलों के बीच विद्युत्-चिनगारी के गुजरने से अथवा विद्युत्मय बादल से धरती में विद्युत्-चिनगारी के जाते समय उत्पन्न होती है । साधारणतः वायु में से होकर विद्युत् का प्रवाह नहीं हो पाता, किन्तु जब बादलों पर अत्यधिक विद्युत् एकत्रित हो जाती है, तो उस दशा में धनात्मक विद्युत्-वाले बादल और निकटवर्ती ऋणात्मक विद्युत् के बादल के बीच की हवा की अवरोधक शक्ति विद्युत्-प्रवाह को रोकने में असमर्थ होती है । अतः उसे फाड़कर विद्युत् एक बादल से दूसरे में चली जाती है । फलस्वरूप चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली रोशनी पैदा होती है । बिजली की कौंध के समय कड़क की तेज आवाज इसलिए पैदा होती है कि जिस रास्ते कौंध जाती है, वहाँ की हवा तप्त होकर फैल जाती है और उसके रिक्त स्थान को भरने के लिए जब पास की हवा वहाँ अचानक दौड़कर पहुँचती है, तो तेज आवाज उत्पन्न होती है । आकाशीय विद्युत् की चिनगारी कभी-कभी मीलों की लम्बाई तक पहुँचती है—कहते हैं, सब से बृहत् कौंध की लम्बाई लगभग १० मील की आँकी गई है !

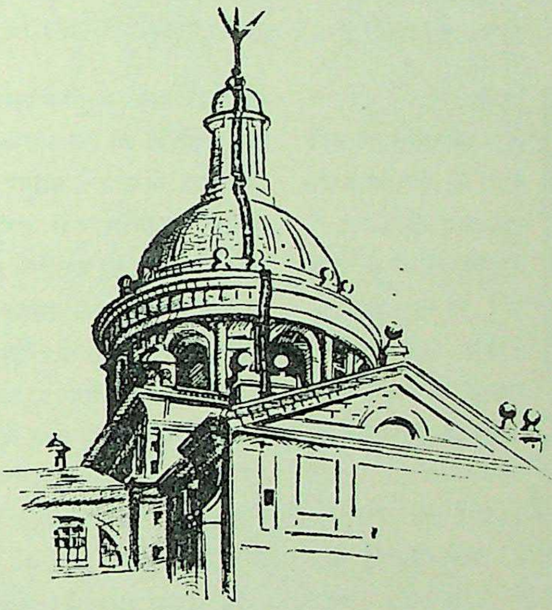

विशाल इमारतों के सिरे पर आकाशीय बिजली से रक्षा के लिए लगाया जानेवाला त्रिशूलनुमा तड़ित्-चालक ।

तड़ित्-चालक

आकाशीय विद्युत् के इमारतों पर गिरने से बड़ी हानि होती है । इससे बचने के लिए 'तड़ित्-चालक' नामक साधन का आविष्कार किया गया है । यह केवल ताँबे या लोहे की एक छड़ या पत्ती है, जो ऊँची इमारत की चोटी से नीचे नींव तक पहुँचती है । छड़ का नीचेवाला छोर गहराई में गीली भूमि में गाड़ दिया जाता है; ऊपर के सिरे में त्रिशूल की-सी नोक होती है। जिस समय कोई विद्युत्मय बादल उस इमारत के निकट आता है, त्रिशूल में उपपादन द्वारा प्रतिकूल जाति की विद्युत् उत्पन्न हो जाती है । यह विद्युत् विशेष रूप से त्रिशूल की नोक पर ही इकट्ठा हो जाती है, यहाँ तक कि नोक इस विद्युत् को सँभाल नहीं पाती और हवा उसे अपने साथ बहा ले जाती है । बादलों द्वारा आकृष्ट होकर यही उनसे जा लगती है, अतः बादल की विद्युत् को कुछ हद तक नष्ट करके वह बिजली गिरने की सम्भावना को कम कर देती है । विद्युत् इमारत पर गिर भी सकती है, किन्तु अब वह धातु की छड़ से होती हुई सीधी पृथ्वी में चली जाएगी । इस प्रकार इमारत को क्षति नहीं पहुँच सकती । तड़ित्-चालक को इमारत की दीवार से छुआते हुए नहीं ले जाना चाहिए, बल्कि लकड़ी के गिट्टक या चीनी मिट्टी के टुकड़े लगाकर इसे दीवार से अलग रखना चाहिए । तड़ित्-चालक में कहीं जोड़ भी नहीं होना चाहिए ।

५०० फीट ऊँचा तड़ित्-चालक अपने आसपास के १,३०० फीट व्यास के वृत्त में स्थित अन्य इमारतों की आकाशीय विद्युत् से रक्षा कर सकता है । दुनिया की सब से ऊँची इमारत न्यूयार्क-स्थित 'एम्पायर स्टेट बिल्डिंग' का तड़ित्-चालक २,००० फीट व्यास के घेरे में स्थित अपने आसपास की इमारतों का संरक्षक है ।

विद्युत्-शक्ति—(२)

विद्युत्-धारा और उसका प्रभाव

अभी तक हम केवल घर्षण-विद्युत् के गुणों की ही व्याख्या करते रहे हैं, किन्तु अपने दैनिक जीवन में एक और प्रकार की विद्युत्—धारा में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्—का भी प्रयोग होते हम देखते हैं। धारावाली विद्युत् बैटरी या सेल से उत्पन्न की जाती है। प्रस्तुत प्रकरण में इसी का विवेचन किया गया है।

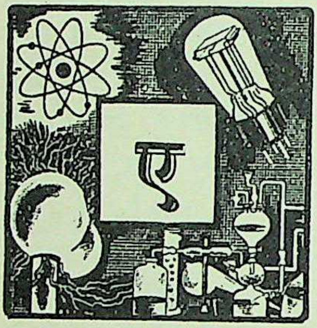

एक बार इटली का एक जीव-वैज्ञानिक गैल्वनी मेंढक की चीर-फाड़ कर रहा था। इस प्रयोग में संयोगवश उसने तुरन्त के मारे गए एक मेंढक की टाँग के दोनों सिरों को एक ही साथ ताँबे और जस्ते के टुकड़ों से छू दिया। बस, वैसे ही उस मृत मेंढक की टाँग के स्नायुओं में फौरन् ही एक फड़कन पैदा हुई! इससे उसने निष्कर्ष निकाला कि अवश्य ही कोई नई शक्ति मृत मेंढक की टाँग में गति उत्पन्न करती है। उसने सोचा कि मेंढक की टाँग में यह शक्ति बिजली के रूप में पहले से ही मौजूद थी; केवल धातु के सम्पर्क से वह चालू हो गई होगी। अतः उसने इसे 'जीव-विद्युत्' का नाम दिया।

'वोल्टाइक पाइल', 'वोल्टा के सेल' और विद्युत्-धारा

अंत में भौतिक विज्ञान के सुविख्यात इटैलियन प्रोफेसर वोल्टा ने इस बात के रहस्य का पता लगाया। कई प्रयोगों के आधार पर उसने यह दिखलाया कि इन दो विभिन्न धातुओं में आर्द्रता के कारण विद्युत् उत्पन्न होती है। इसके लिए १८०० ई० में उसने ताँबे और जस्ते की चकरियों को एक के ऊपर दूसरे इस तरह सजाया कि ताँबे के ऊपर जस्ते की चकरी और फिर ताँबे की चकरी के नीचे फलालैन या कागज का नन्हा-सा टुकड़ा रक्खा गया था, जो नमक के घोल में भीगा था। इसी तरह उसके नीचे फिर जस्ते और ताँबे की चकरियाँ और तब फलालैन के टुकड़े रक्खे गए थे। इसी क्रम से उसने कई जोड़े चकरियों का एक स्तम्भ-सा तैयार किया, जो 'वोल्टाइक पाइल' के नाम से मशहूर है। इस स्तंभ में विद्युत्-शक्ति इतने अधिक परिमाण में उत्पन्न हुई कि गीली उँगलियों से ऊपर और नीचे की चकरियों को छूते ही स्पष्ट धक्का लगता था तथा दोनों छोर से सम्बद्ध तार को पास लाने पर विद्युत्-चिनगारी उत्पन्न हुई थी। 'ह्विमशर्स्ट-मशीन' की घर्षण-विद्युत् में भी ये दोनों गुण मौजूद थे, अतः 'वोल्टाइक पाइल' की शक्ति को भी विद्युत् का ही नाम दिया गया। यह विद्युत् का प्रवाह देर तक जारी रहता है और वह धारा के रूप में होता है। वोल्टा के इस स्तंभ के अन्दर विद्युत्-शक्ति का निर्माण लगातार होता रहता है (दे० पृ० ३१२० का निचला चित्र)।

इसके बाद वोल्टा ने दिखलाया कि यदि काँच के एक बर्तन में हलका गंधक का तेजाब रक्खा जाय और उसमें ताँबे की एक प्लेट जस्ते की एक प्लेट के सामने कुछ फासले पर खड़ी कर दी जाय तथा बाहर से धातु के तार द्वारा एक प्लेट को दूसरी से जोड़ दिया जाय, तो तार में विद्युत्-धारा प्रवाहित होने लगती है। ताँबे की प्लेट पर धनात्मक विद्युत् रहती है तथा जस्ते की प्लेट पर ऋणात्मक। अतः हम कहते हैं कि बर्तन के बाहर के तार में ताँबे से जस्ते की ओर विद्युत्-धारा का प्रवाह होता है। बर्तन के अंदर तेजाब में यह धारा जस्ते से ताँबे की प्लेट तक जाती है। इस प्रकार एक पूरा चक्कर बन जाता है। इस चक्कर को 'सर्किट' कहते हैं। विद्युत्-धारा का प्रवाह केवल उसी समय होता है, जब सर्किट का घेरा विद्युत्-संचालकों द्वारा पूरा हो जाता है। वोल्टा के नाम पर इस उपकरण को 'वोल्टा के सेल' के नाम से पुकारते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि विद्युत-धारा सेल के अन्दर उत्पन्न कैसे होती है ? वास्तव में सेल में रासायनिक क्रिया सर्किट पूरा होने पर होती है और इसी से रासायनिक शक्ति विद्युत्-शक्ति में परिणत हो जाती है। इस क्रिया में जस्ते का परमाणु तेजाब के गंधक और ऑक्सिजन के परमाणुओं के साथ संयोग करता है और हाइड्रोजन मुक्त हो जाती है। यह हाइड्रोजन बगलवाले तेजाब के अणु के गन्धक और ऑक्सिजन परमाणुओं के साथ संयोग करती है। यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक कि उस श्रृंखला के अन्तिम अणु भी काम नहीं आ जाते। अन्तिम अणु से मुक्त हाइड्रोजन ताँबे की प्लेट पर इकट्ठा हो जाती है। इस क्रिया में जस्ता धीरे-धीरे खत्म होता जाता है और इसी से सेल और तार में विद्युत्-धारा प्रवाहित करने के लिए ऊर्जा प्राप्त होती है।

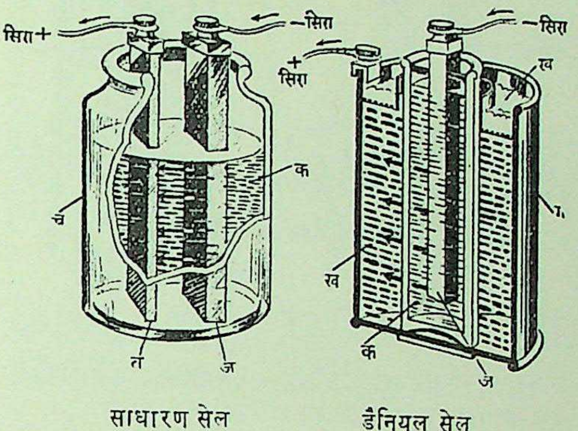

साधारण सेल डैनियल सेल

क=हल्का गंधक का तेजाव; ख=नीला तूतिया का घोल; ग=ताँबे का पात्र; च=काँच का पात्र; ज=जस्ते की छड़; त=ताँबे की छड़; (विवरण के लिए प्रस्तुत और अगले पृष्ठ का मैटर पढ़िए)।

प्राइमरी सेल :: लेक्लैंची, डैनियल और बाइक्रोमेट सेल

साधारण सेल में सिद्धान्ततः जब तक सर्किट पूरा न हो, तब तक जस्ते और तेजाब में रासायनिक क्रिया नहीं होनी चाहिए। किन्तु मामूली जस्ते में अन्य धातुएँ मिली रहती हैं, अतः सर्किट न पूरा होने पर भी जस्ता तेजाब में घुलकर नष्ट होता रहता है। यह वाञ्छनीय नहीं है। इस बात को रोकने के लिए जस्ते पर पारे का लेप चढ़ा देते हैं। साधारण सेल में एक और अवगुण पाया जाता है। ताँबे की प्लेट के पास जो हाइड्रोजन मुक्त होती है, वह उस प्लेट पर इकट्ठी हो जाती है और इस तरह तेजाब और ताँबे का सम्पर्क कुछ अंशों में रुक जाता है। अतः सेल की विद्युत्-धारा कमजोर पड़ जाती है। फिर प्लेट की हाइड्रोजन तेजाब में से मुक्त हुई हाइड्रोजन के अन्य परमाणुओं को अपनी ओर आने से रोकती है, क्योंकि दोनों पर धनात्मक विद्युत् आरूढ़ रहती है। इस कारण भी सेल की विद्युत्-धारा कमजोर पड़ जाती है। इस अवगुण को 'पोलराइजेशन' का नाम दिया गया है। पोलराइजेशन दूर करने के लिए सेल के अन्दर इस बात का प्रबन्ध करना पड़ता है कि धनात्मक प्लेट पर आनेवाली हाइड्रोजन का जल्दी ही ऑक्सिजन के साथ रासायनिक संयोग कराकर उसे पानी में परिणत कर दें।

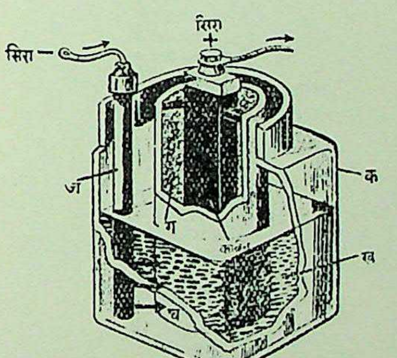

लेक्लैंची सेल

क=काँच का पात्र; ख=नौसादर; ग=मैंगनीज डाइ-ऑक्साइड; घ=विद्युत्-प्रवाह; ज=जस्ता।

पोलराइजेशन को दूर करने के प्रयत्न में विभिन्न जाति की 'प्राइमरी सेलों' का निर्माण हुआ है। इनमें 'लेक्लेंची', 'डैनियल' तथा 'बाइक्रोमेट' नामक सेल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'लेक्लेंची सेल' अक्सर काँच के बर्तन में बनाई जाती है। इस बर्तन में नौसादर का गाढ़ा घोल रहता है और उसमें एक ओर पारे की लेप चढ़ी हुई जस्ते की छड़ होती है। इस घोल में रन्ध्रमय चीनी मिट्टी का एक गिलास रक्खा होता है और उस गिलास में कार्बन का चूर्ण तथा मैंगनीज डाइ-ऑक्साइड का मिश्रण भरा रहता है। इसी मिश्रण में कार्बन की एक मजबूत छड़ प्रविष्ट रहती है। इस सेल की धनात्मक प्लेट कार्बन की छड़ होती है और ऋणात्मक प्लेट जस्ते की छड़। सर्किट पूरा करने पर विद्युत्-धारा का प्रवाह कार्बन से जस्ते की छड़ की ओर होता है। इस सेल में हाइड्रोजन, जो कार्बन के पास मुक्त होती है, मैंगनीज डाइ-ऑक्साइड के साथ रासायनिक क्रिया उत्पन्न कर पानी में परिवर्तित हो जाती है। किन्तु यह क्रिया धीरे-धीरे सम्पादित होती है। अतः यदि देर तक लेक्लैंची सेल से विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है, तो 'पोलराइजेशन' जल्दी दूर नहीं होने पाता और सेल की धारा कमजोर हो

जाती है। इसी कारण लेक्लेंची सेल का उपयोग प्रायः ऐसे कामों के लिए ही किया जाता है, जिनमें विद्युत्-धारा देर तक लगातार प्रवाहित नहीं होती, जैसे घण्टी बजानेवाले विद्युत्-यंत्र में, टार्च में या टेलीफोन में। थोड़ी देर तक विद्युत्-धारा के प्रवाहित होने के बाद सेल को इतना काफी समय मिल जाना चाहिए कि कार्बन पर एकत्रित हुई हाइड्रोजन मैंगैनीज डाइ-ऑक्साइड के साथ रासायनिक क्रिया करके पानी बन जाय। लेक्लेंची सेल से काफी तेज विद्युत्-धारा प्राप्त होती है।

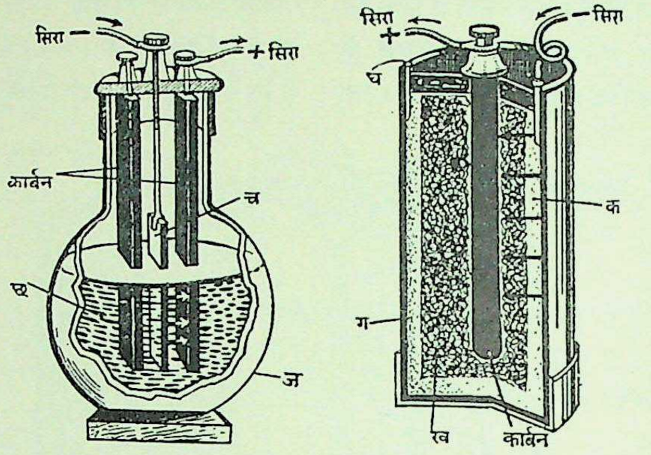

बाइक्रोमेट सेल

'सूखी सेल'

क = जस्ते का बेलनाकार पात्र; ख = मैंगेनीज डाइ-ऑक्साइड, और नौसादर; ग = दफ्ती का आवरण; घ = कोलतार; च = जस्ते की प्लेट; छ = पोटेशियम डाइक्रोमेट; ज = काँच का पात्र।

'डैनिएल सेल' में चौड़े मुँह का ताँबे का एक बर्तन रहता है, जिसमें रन्ध्रमय चीनी मिट्टी का एक गिलास रक्खा होता है। ताँबे के बर्तन में नीला तूतिया का गाढ़ा घोल भरा रहता है तथा चीनी मिट्टी के गिलास में हल्का गन्धक का तेजाब। इस तेजाब में जस्ते की एक छड़ पड़ी रहती है। ताँबे के बर्तन में ही एक स्क्रू लगा रहता है। यह धनात्मक प्लेट का काम करता है और जस्ते की छड़ ऋणात्मक प्लेट का। जस्ते और तेजाब के संयोग से उत्पन्न हुई हाइड्रोजन चीनी मिट्टी के छिद्र में से होकर बाहर आती है और बजाय ताँबे पर एकत्रित होने के वह तूतिए पर रासायनिक क्रिया करके गन्धक का तेजाब बनाती है तथा ताँबे को मुक्त करती है, जो बर्तन की दीवार पर जम जाता है। इस प्रकार पोलराइजेशन होने ही नहीं पाता। इसी कारण डैनिएल सेल की विद्युत्-धारा की शक्ति एक जैसी बनी रहती है। टेलिग्राफ-यंत्रों के लिए इसी सेल का प्रयोग किया जाता है। इस सेल की विद्युत्-धारा उतनी तेज नहीं होती, जितनी लेक्लेंची सेल की।

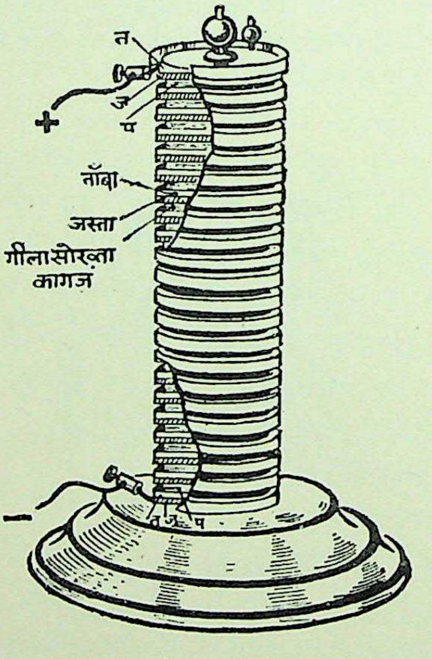

वोल्टाइक पाइल (त = ताँबा; ज = जस्ता; प = कागज) (विवरण के लिए देखो पृ० ३११८ का मैटर)।

'बाइक्रोमेट सेल' में काँच की एक बोतल में पोटैशियम बाइक्रोमेट के संपृक्त घोल में १० प्रतिशत गन्धक का तेजाब मिला रहता है। इस घोल में दो कार्बन की प्लेटें तथा उनके बीच में एक जस्ते की प्लेट लगी रहती है। जस्ते और तेजाब से उत्पन्न हुई हाइड्रोजन को पोटैशियम डाइक्रोमेट पानी में बदल देता है। इस सेल में इस बात का प्रबन्ध रहता है कि जब विद्युत्-धारा नहीं चाहिए, उस समय जस्ते की प्लेट को ऊँचा उठाकर घोल से बाहर कर दिया जाय, ताकि जस्ता व्यर्थ न घुलता रहे।

'सूखी सेल'

टार्च आदि में प्रयुक्त होनेवाली सेल वास्तव में लेक्लेंची जाति की होती है, किन्तु इसे सूखी बनाते हैं, ताकि इसे आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जा सकें। 'सूखी सेल' में बेलनाकार जस्ते का एक घेरा रहता है, जिस पर दफ्ती का एक आवरण लिपटा रहता है। इसके ऊपर और नीचे की जगह खुली रहती है। जस्ते के घेरे में मैंगनीज डाइ-ऑक्साइड, कार्बन के चूर्ण और नौसादर का गाढ़ा-गाढ़ा लेप भरा रहता है। इस लेप में कार्बन की एक छड़ खड़ी रहती है। इस छड़ के ऊपरी भाग पर पीतल की एक बटन लगी होती है, जो धनात्मक छोर का काम देती है। सेल के ऊपरी हिस्से को कोलतार से बन्द कर देते हैं, ताकि भीतर की नमी सूखने न पाए। सेल के पेंदे का जस्ता उसका ऋणात्मक छोर होता है।

अधिक शक्तिशाली विद्युत्-धारा के लिए कई सेलों को 'सीरीज' में या 'समानांतर' एक साथ जोड़कर 'बैटरी' बना लेते हैं। सीरीज में जोड़ने के लिए सेलों को एक पंक्ति में क्रम

से रखकर पहले की ऋणात्मक प्लेट को दूसरे की धनात्मक प्लेट से और दूसरे की ऋणात्मक प्लेट को तीसरे की धनात्मक से—इसी क्रम से तार द्वारा जोड़ देते हैं। यदि सर्किट के बाह्य भाग की अवरोधक शक्ति कम हो, तो सेल को 'समानान्तर' में जोड़ने से सर्किट में से अधिक तेज विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है। समानान्तर में जोड़ने के लिए सभी सेलों की धनात्मक प्लेटों को तार द्वारा एक बिन्दु पर जोड़ते हैं तथा सभी ऋणात्मक प्लेटों को दूसरे बिन्दु पर।

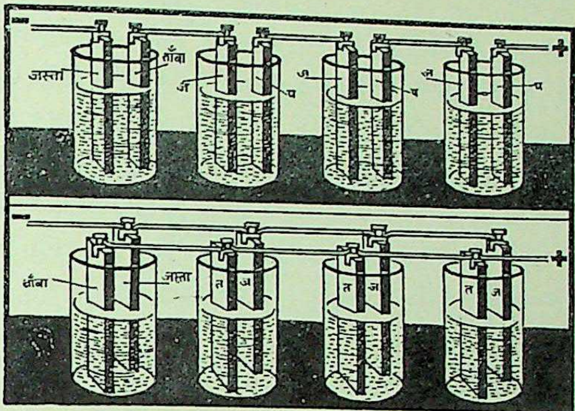

(ऊपर) 'सीरीज' में और (नीचे) 'समानान्तर' रूप में जुड़ी सेलों की बैटरी (ज=जस्ता; त और प=ताँबा)।

'इलेक्ट्रोलाइसिस'

जिन दिनों वोल्टा सेल-सम्बन्धी प्रयोगों में लगा हुआ था, उन्हीं दिनों एक अंग्रेज वैज्ञानिक ने विद्युत्-धारा के सम्बन्ध में एक अनोखी बात देखी। वह विद्युत्-सेल के साथ प्रयोग कर रहा था कि अकस्मात् सेल से जुड़े तार के दोनों छोर मेज पर रखे हुए पानी में गिर गए। फौरन् ही पानी में से बुलबुले उठने लगे! उस वैज्ञानिक ने अब की बार अलग से पानी लेकर उसमें गन्धक के तेजाब की दो-तीन बूँदें डालीं, ताकि पानी विद्युत् का चालक बन जाए (विशुद्ध पानी विद्युत् का संचालक नहीं होता)। तदुपरान्त उसने पात्र में तीन विद्युत्-सेलों की बैटरी से धनात्मक और ऋणात्मक तार के छोर डाले। अन्त में दोनों छोर से उठनेवाली गैसों को एकत्रित करके उसने उनकी जो जाँच की, तो यह देखकर वह आश्चर्यचकित रह गया कि उनमें की एक गैस हाइड्रोजन थी और दूसरी ऑक्सिजन! पानी एक यौगिक पदार्थ है, जो हाइड्रोजन तथा ऑक्सिजन से बना है। अतः उक्त प्रयोग में विद्युत्-धारा ने अवश्य ही पानी का रासायनिक विश्लेषण करके उसे उसके मूल तत्वों में विभाजित कर दिया! विद्युत्-धारा के इस रासायनिक प्रभाव के महत्व को उस समय वह वैज्ञानिक पूरी तरह नहीं आँक पाया होगा। उसे क्या पता था कि कुछ ही वर्ष उपरान्त विद्युत्-धारा के इसी गुण के आधार पर निकल तथा पीतल आदि की वस्तुओं पर सस्ते दामों में चाँदी की बढ़िया कलई चढ़ाने का बृहत् व्यवसाय निर्मित किया जा सकेगा!

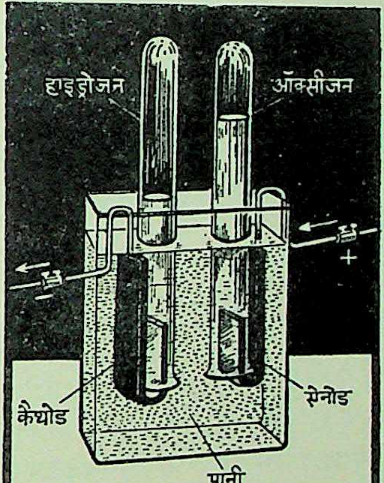

विद्युत्-धारा द्वारा पानी का रासायनिक विश्लेषण (विवरण के लिए इसी पृष्ठ का मैटर देखिए)।

विद्युत्-धारा की सहायता से किए जानेवाले इस ढंग के रासायनिक विश्लेषण को 'इलेक्ट्रोलाइसिस' का नाम दिया गया है। इस क्षेत्र में ब्रिटिश वैज्ञानिक फैरेडे ने विशेष अनुसंधान किए। वास्तव में किसी भी नमक या क्षार अथवा अम्ल के घोल में विद्युत्-धारा प्रवाहित कराने पर उसका रासायनिक विश्लेषण हो जाता है। उदाहरणार्थ, नीले तूतिए को, जो ताँबे का सल्फेट है, पानी में घोलकर काँच के चौरस बर्तन में रख लीजिए और उसमें ताँबे की दो प्लेट डाल दीजिए। एक को तार द्वारा सेल की धनात्मक प्लेट से जोड़िए, दूसरी को ऋणात्मक प्लेट से। जिस प्लेट द्वारा विद्युत्-धारा घोल में प्रवेश करती है, उसे 'ऐनोड' कहते हैं तथा दूसरी प्लेट, जिसके सहारे विद्युत्-धारा घोल से बाहर निकलती है, 'कैथोड' के नाम से पुकारी जाती है। थोड़ी देर के उपरान्त आप देखेंगे कि कैथोड पर ताँबे की एक पतली तह समान रूप से बैठ गई है तथा ऐनोड में से कुछ ताँबा निकल गया है! दोनों प्लेटों को तौलने पर आप देखेंगे कि ऐनोड के भार में जो कमी हुई है, ठीक उतना ही भार कैथोड का बढ़ गया है। यह क्रिया पृष्ठ ३१२२ के चित्र में दिग्दर्शित की गई है। उसमें बताया गया है कि किस प्रकार ताँबे के सल्फेट में से ताँबा और सल्फेट पृथक्-पृथक् होकर बँट जाते हैं। धातु धनात्मक होती हैं, अतः ताँबा आकृष्ट होकर कैथोड

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पर जा लगता है तथा सल्फेट ऋणात्मक होने के कारण ऐनोड से आकृष्ट होकर उससे जा लगता है। उस पर रासायनिक क्रिया करके उसमें से कुछ ताँबा घोल में लाकर ताँबे का सल्फेट बना लेता है। अतः ऐनोड में से कुछ ताँबा घोल में आ जाता है और उतना ही ताँबा कैथोड पर चढ़ जाता है।

'इलेक्ट्रोप्लेटिंग'

इलेक्ट्रोलाइसिस की इस क्रिया द्वारा आजकल कसरत से बर्तनों आदि पर कलई की जाती है। इस व्यवसाय को 'इलेक्ट्रोप्लेटिंग' का नाम दिया गया है। साइकिल और मोटर के पुर्जों पर क्रोमियम या निकल की श्वेत चमकदार पालिश इलेक्ट्रोप्लेटिंग द्वारा ही की जाती है! यदि उपर्युक्त प्रयोग में कथोड किसी अन्य धातु का बनाया जाय, तो निश्चय ही उस पर ताँबे आदि की एक हलकी परत समान रूप से बैठ जायगी।

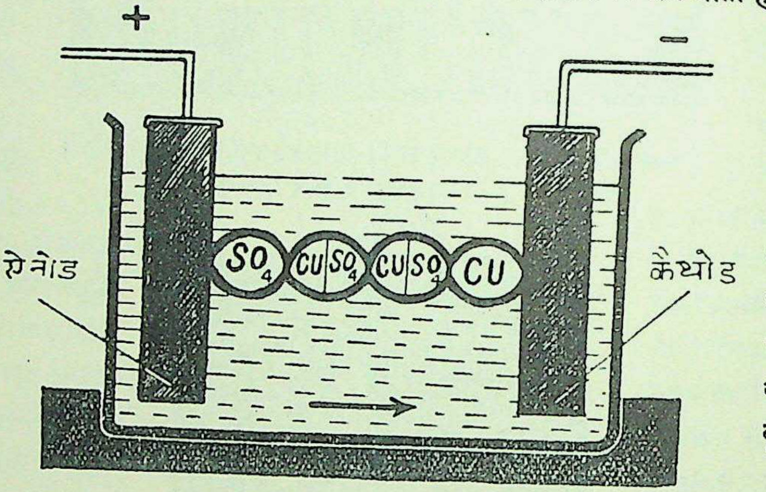

इलेक्ट्रोलाइसिस की क्रिया (विवरण के लिए दे० पृ० ३१२१ का मैटर)।

चाँदी की पालिश करने के लिए घोल के लिए पोटैशियम सायनाइड तथा सिलवर सायनाइड का मिश्रण काम में लाया जाता है, जो पानी में घोल लिया जाता है। यह घोल काठ के एक बड़े हौज में, जिसकी भीतरी दीवाल पर सीसे की चद्दर चढ़ी होती है, रखा जाता है। ऐनोड के स्थान पर चाँदी की प्लेटें लटकाई जाती हैं तथा कैथोड के स्थान पर निकल या पीतल के वे बर्तन लटकाए जाते हैं, जिन पर चाँदी की कलई चढ़ानी होती है। फिर डायनमो से इस बर्तन में विद्युत्-धारा प्रवेश कराई जाती है। हौज में उक्त बर्तन को लटकाने के पूर्व उसे एमरी से रगड़कर पहले अच्छी तरह साफ कर लेना होता है। तदुपरान्त उसे कॉस्टिक सोडा के हलके घोल मे धो लेते हैं, ताकि उस पर चिकनाई का कोई अंश बाकी न रहे। ऐसा करना अत्यावश्यक है, वरना कलई की परत कहीं मोटी होगी, कहीं पतली। खुदे हुए ब्लॉक की प्रतियाँ तैयार करने के लिए भी इलेक्ट्रोप्लेटिंग का सिद्धान्त काम में लाया जाता है।

इलेक्ट्रोलाइसिस (विद्युत्-विश्लेषण) की क्रिया ही वास्तव में सेल में विद्युत्-धारा प्रवाहित कराने के लिए उत्तरदायी है। उदाहरण के लिए, डेनियल सेल को लीजिए, जिसके अन्दर नीला तूतिया तथा गंधक के तेजाब के घोल पृथक् बर्तनों में भरे होते हैं। इन दोनों बर्तनों के बीच एक रन्ध्रमय दीवार होती है। इसमें विद्युत्-धारा प्रवाहित कराने के लिए जब सेल के धनात्मक तथा ऋणात्मक सिरों को तार से जोड़ते हैं, तो गन्धक के तेजाब के अणु के हाइड्रोजन (H_2) तथा सल्फेट (SO_4) अलग हो जाते हैं। इसी प्रकार नीला तूतिया के अणु के अन्दर से भी ताँबा (Cu) तथा सल्फेट (SO_4) अलग हो जाते हैं। तेजाब का सल्फेट जस्ते से संयोग करके जिंक सल्फेट बनाता है तथा हाइड्रोजन रन्ध्रमय दीवार के छिद्रों में से होकर उस पार निकल आती है और बाहर तूतिया के सल्फेट से पुनः संयोग करके गंधक का तेजाब (H_2SO_4) बनाती है। इधर ताँबा (Cu) विमुक्त होकर बाहर वाले बर्तन के ताँबे की दीवार पर जम जाता है (दे० पृ० ३१२४ का चित्र)। जहाँ साधारण सेल में जस्ता धीरे-धीरे घुलता रहता है, वहाँ डेनियल सेल में तूतिया के घोल को पूर्ववत् गाढ़ा बनाए रखने के लिए बाहरी बर्तन के ऊपरी भाग में एक खाना बनाकर उसमें तूतिया के टुकड़े रखे जाते हैं।

'सेकण्डरी सेल'

बार-बार रासायनिक पदार्थों को सेल में डालने के झंझट से बचने के प्रयत्न में 'सेकण्डरी सेल' का आविष्कार हुआ। मोटर-गाड़ियों में बत्ती जलाने के लिए यही सेल काम में लाई जाती हैं। सेकण्डरी सेल की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसके अन्दर बार-बार रासायनिक पदार्थों को डालने की आवश्यकता नहीं होती। साथ ही इसकी विद्युत्-धारा साधारण सेल की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होती है। इसकी शक्ति जल्दी क्षीण भी नहीं होने पाती, क्योंकि इसमें 'पोलराइजेशन' के दोष नहीं पाए जाते।

सेकण्डरी सेल का सिद्धान्त पृष्ठ ३१२५ के चित्र में प्रदर्शित प्रयोग द्वारा भली भाँति व्यक्त किया जा सकता है। काँच के एक बर्तन में गंधक का तेजाब लेकर उसमें सीसे की दो प्लेटें 'अ' 'ब' डाल दीजिए और 'अ' को साधारण सेल की बैटरी के

धनात्मक सिरे से तथा 'ब' को ऋणात्मक सिरे से जोड दीजिए। स्पष्ट है कि तेजाब में से होकर विद्युत्-धारा 'अ' से 'ब' की ओर प्रवाहित होगी। कुछ देर के उपरान्त बैटरी को अलग कर दीजिए और दोनों प्लेटों को एक तार द्वारा सीधे जोड़ दीजिए। साथ ही इस सर्किट (घेरे) में एक 'गैल्वैनोमीटर' (विद्युत्-धारामापक यंत्र) भी रख दीजिए। आप देखेंगे कि गैल्वैनोमीटर में से होकर विद्युत्-धारा 'अ' से 'ब' की ओर तथा बर्तन के भीतर 'ब' से 'अ' की ओर प्रवाहित होती है! कुछ देर के उपरान्त विद्युत्-धारा का प्रवाह रुक जाता है (दे० पृष्ठ ३१२५ का निचला चित्र)। इस प्रयोग ने ही सर्वप्रथम वैज्ञानिकों को यह बात सुझाई कि इस तरह के बर्तन में सीसे की प्लेटों तथा गन्धक का तेजाब प्रयुक्त कर पहले उसमें विद्युत्-धारा प्रवाहित करा-कर हम उससे बाद में पुनः उसी विद्युत् को प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रयोग के प्रथम भाग में इलेक्ट्रोलाइसिस की क्रिया द्वारा प्लेट 'अ' में सीसे की ऑक्साइड बन जाती है तथा प्लेट 'ब' सीसा ही बनी रहती है। प्रयोग के द्वितीय भाग में विद्युत्-धारा सेल के अन्दर उलटी दिशा में प्रवाहित होती है और इस बार के इलेक्ट्रोलाइसिस में 'अ' तथा 'ब' दोनों ही पर सीसे का सल्फेट बन जाता है। 'अ' पर मौजूद सीसे की ऑक्साइड जब पूर्णतया सीसे की सल्फेट में परिवर्तित हो जाती है, तभी विद्युत्-धारा का प्रवाह भी रुक जाता है। यदि पहले भाग की क्रिया पुनः दोहरायी जाय, तो एक बार फिर 'अ' पर सीसे की ऑक्साइड बन जाती है तथा 'ब' विशुद्ध सीसा बन जाता है। इस प्रकार सेल पूर्णतया तैयार या विद्युदाविष्ट (चार्ज्ड) हो जाती है और उससे पुनः विद्युत्-धारा प्राप्त की जा सकती है।

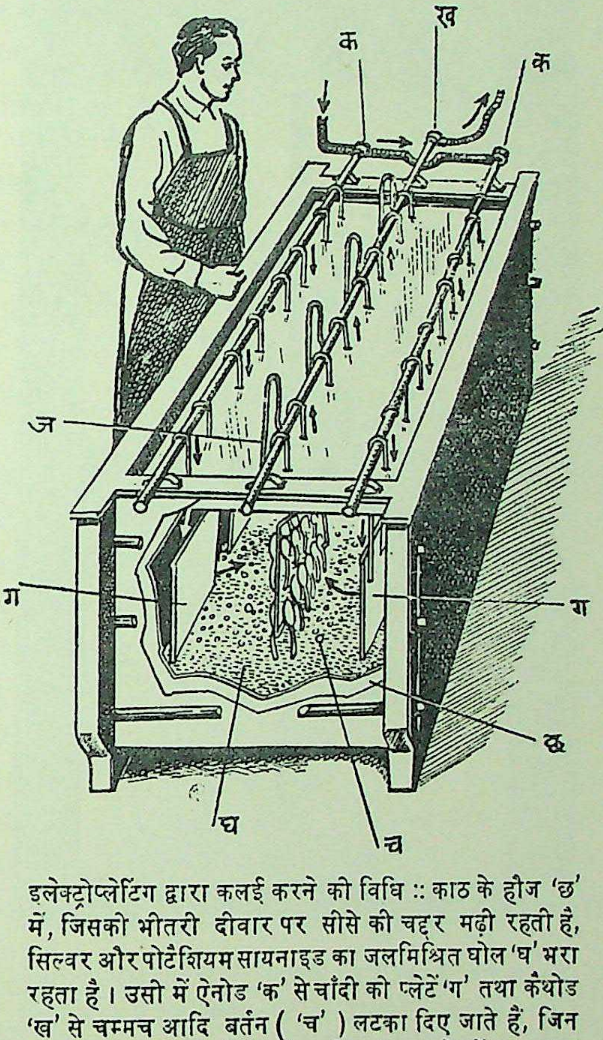

इलेक्ट्रोप्लेटिंग द्वारा कलई करने की विधि :: काठ के हौज 'छ' में, जिसकी भीतरी दीवार पर सीसे की चद्दर मढ़ी रहती है, सिल्वर और पोटैशियम सायनाइड का जलमिश्रित घोल 'घ' भरा रहता है। उसी में ऐनोड 'क' से चाँदी की प्लेटें 'ग' तथा कैथोड 'ख' से चम्मच आदि बर्तन ('च') लटका दिए जाते हैं, जिन पर कलई चढ़ानी होती है। चित्र में 'ज' इन्स्यूलेटरों का सूचक है। विद्युत्-धारा के प्रवाहित किए जाने पर लटकाए हुए बर्तनों पर घोल में की चाँदी की एक परत जम जाती है एवं प्लेट में की उतनी ही चाँदी कम होकर घोल में मिल जाती है!

'एक्युम्युलेटर'

इसी सिद्धान्त पर सब से पहले प्लान्टे नामक वैज्ञानिक ने १८६० ई० में सीसे की प्लेट तथा गन्धक के तेजाब से सेकण्डरी सेल तैयार की थी। तदुपरान्त दूसरे एक वैज्ञानिक फोरे ने इस सेल में अन्य सुधारों का समावेश किया था। इन सुधारों के कारण आधुनिक सेकण्डरी सेल के निर्माण के लिए यद्यपि प्लेटें सीसे की ही ली जाती है, किन्तु धनात्मक प्लेट पर गंधक के तेजाब तथा सीसे की रेड ऑक्साइड का गाढ़ा लेप चढ़ाते हैं एवं ऋणात्मक प्लेट के अन्दर जालियाँ कटी होती हैं, जिसमें सीसे की मोनॉक्साइड तथा गन्धक के तेजाब का लेप चढ़ाया रहता है। सेल को चार्ज करने के लिए इसमें से लगभग ४८ घण्टे तक उपयुक्त शक्ति की विद्युत्-धारा प्रवाहित करानी होती है—इस प्रकार कि विद्युत्-धारा सेल के अंदर धनात्मक प्लेट द्वारा प्रवेश करे और ऋणात्मक प्लेट की ओर से वह बाहर निकले। सेकण्डरी सेल को अंग्रेजी में 'स्टोरेज सेल' तथा 'एक्युम्युलेटर' के नाम से भी पुकारते हैं, जिसका अर्थ होता है संचित करनेवाली सेल। वास्तव में अर्थ के अनुसार यह नाम इस तरह के सेल के लिए उपयुक्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि विद्युदाविष्ट (चार्ज) करते समय जो विद्युत्-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

धारा सेल में प्रवाहित कराई जाती है, वह ज्यों की त्यों उसमें संचित नहीं होती है, बल्कि इलेक्ट्रोलाइसिस द्वारा वह रासायनिक शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। यही रासायनिक शक्ति पुनः विद्युत्-शक्ति में परिणत होने पर हमें विद्युत्-धारा देती है। 'एक्युम्युलेटर' या 'स्टोरेज सेल' की व्याख्या अथवा परिभाषा एक ही वाक्य में करना कठिन है। साथ ही जो लोग रसायन-विज्ञान की बारीकियों से अनभिज्ञ हैं, उनके लिए उसके मूल में काम करनेवाले सिद्धांत एवं क्रिया-प्रक्रियाओं को समझ पाना भी आसान नहीं है। संक्षेप में इस प्रकार की सेल और पिछले पृष्ठों में वर्णित लेक्लैंची आदि 'प्राइमरी' सेलों का भेद हम यों कहकर स्पष्ट कर सकते हैं कि जहाँ प्राइमरी सेल किसी बाहरी स्रोत का अवलंब लिए बिना स्वतंत्र रूप से रासायनिक क्रिया द्वारा विद्युत्-शक्ति का उत्पादन करती है, वहाँ 'सेकण्डरी' सेल या 'एक्युम्युलेटर' की विशेषता यह रहती है कि वह किसी बाहरी स्रोत से अपने में प्रवाहित विद्युत्-शक्ति को आभ्यन्तरिक क्रिया-प्रक्रिया द्वारा एक प्रकार की रासायनिक शक्ति में परिवर्तित कर उसे मानो संचित कर लेती है तथा पुनः आवश्यकतानुसार विद्युत्-शक्ति में उसे परिणत कर विद्युत्-धारा के रूप में हमें उसकी भेंट दे देती है! इस वर्ग की एक प्रख्यात एक्युम्युलेटर सेल--जो 'एक्साइड' सेल के व्यापारिक नाम से आज के दिन हर कहीं प्रचलित है--की रचना और भीतरी क्रिया-प्रक्रिया का कुछ हाल बताकर थोड़े में हम यह जानकारी आपको करा देना चाहते हैं कि किस प्रकार सेकण्डरी सेल विद्युत्-शक्ति का 'संचय' करके आवश्यकतानुसार हमारा काम पूरा करती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस प्रकार की सेल में सीसे की दो प्लेटें होती हैं, जो यथारुचि भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार की बनाई जाती हैं। इन प्लेटों में 'निगेटिव' या ऋणात्मक प्लेट जालीनुमा साँचे की बनी होती हैं और 'पाजिटिव या धनात्मक प्लेट भी छलनी की तरह छिद्रयुक्त होती है। इन निगेटिव, और पाजिटिव प्लेटों के जालीनुमा खाँचों एवं छिद्रों में सीसे की मोनॉक्साइड तथा रेड ऑक्साइड और गंधकाम्ल के मिश्रण से बने हुए दो स्पंजनुमा लेप क्रमशः चढ़ाए हुए रहते हैं।

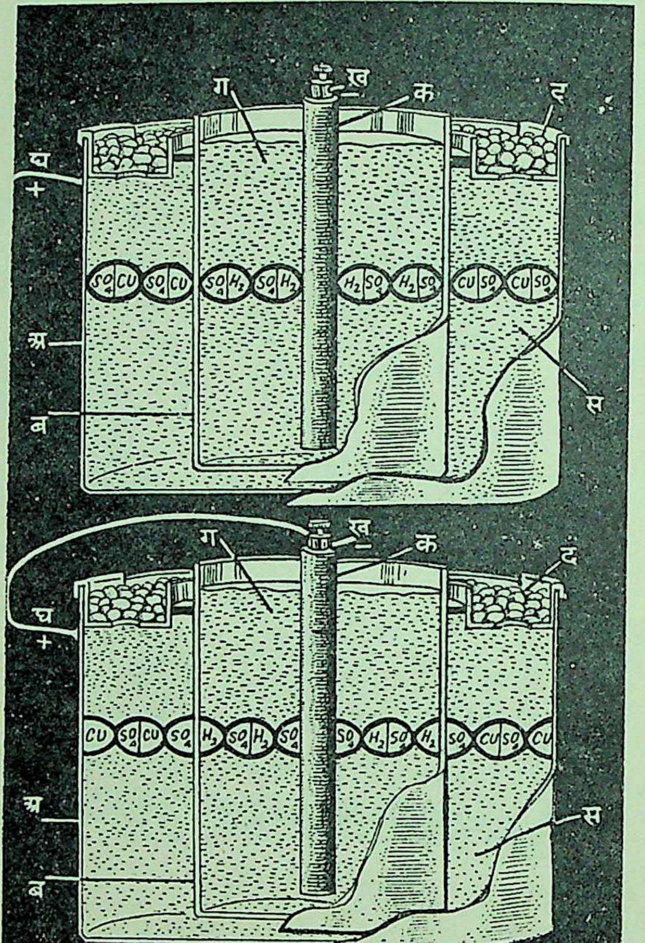

डैनियल सेल में क्या क्रिया होती है? [अ और ब = दो पृथक् बर्तन; स = तूतिया का घोल; ग = गंधकाम्ल; क = जस्ते की छड़; ख = ऋणात्मक विद्युत्युक्त सिरा; घ = धन विद्युत्युक्त सिरा; द = खाने में संचित तूतिया] (विवरण के लिए दे० पृ० ३१२२ का मैटर)।

प्रक्रिया यों होती है कि जब इस सेल की प्लेटों के सिरे किसी बैटरी से संयुक्त कर दिए जाते हैं, तो ऐनोड की ओर से विद्युत्-धारा का प्रवाह पात्र में भरे हुए तरल में होता हुआ कैथोड की ओर जारी हो जाता है, जिससे कि कैथोड और ऐनोड के समीप विश्लेषण द्वारा हाइड्रोजन तथा ऑक्सिजन मुक्त हो जाती हैं। इनमें से ऐनोड पर विमुक्त ऑक्सिजन उसकी सीसे की प्लेट पर आक्रमण करती है और फलतः उस पर ऑक्सिजन तथा सीसे के एक भूरे मिश्रण 'लेड परॉक्साइड' की तह चढ़ जाती है, जबकि दूसरी प्लेट अभी शुद्ध सीसे ही की बनी रहती है।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि सेल के पात्र के तरल घोल में सल्फेट के ऋणात्मक 'इऑन' रहते हैं, जिनमें गंधक का प्रत्येक परमाणु चार ऑक्सिजन के परमाणुओं से संयुक्त रहता है। साथ ही उसमें धनात्मक 'हाइड्रोक्सोनियम

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इऑन' भी रहते हैं, जिनमें एक धनात्मक प्रोटॉन पानी के एक अणु के साथ संयुक्त होता है। अब यदि दोनों प्लेटों को परस्पर तार द्वारा जोड़ दिया जाय, तो यह होगा कि सीसे के परमाणु दो-दो इलेक्ट्रॉन छोड़ देंगे तथा 'लेड इऑन' में परिणत हो जाएंगे। ये घोल में के सल्फेट के एक-एक इऑन से मिलकर प्लेट पर श्वेत लेड सल्फेट के रूप में जा जमेंगे। परिणाम यह होगा कि तेजाब के घोल में से सल्फेट के भारी इऑन बाहर निकल आएंगे। यही कारण है कि सेल से विद्युत्-धारा का निर्यात होते समय अम्ल का आपेक्षिक घनत्व कम हो जाता है।

अब सेल में एक नई पुनर्व्यवस्था-सी हो जायगी, क्योंकि दोनों प्लेटों के संयुक्त होने पर विमुक्त इलेक्ट्रॉन धनात्मक हाइड्रोक्सोनियम इऑनों को प्लेट के प्रति आकर्षित करेंगे और इस प्रकार उनके संयोग से पुनः पानी तथा हाइड्रोजन का सर्जन होगा। हाइड्रोजन लेड पराक्साइड से ऑक्सिजन को निकाल लेगी और विशुद्ध सीसा शेष बचा रह जायगा। यह क्रिया-प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती रहेगी, जब तक कि एक्युम्युलेटर का इतना अधिक व्यय न हो जाय कि उसका सारा लेड परॉक्साइड शुद्ध सीसे में परिणत हो जाय। जब एक्युम्युलेटर इस प्रकार संपूर्णतया 'डिस्चार्ज्ड' या विद्युत्-शून्य हो जाता है, तब किसी विद्युत्-उत्पादक स्रोत (यथा डायनमो) से उसे संयुक्त करके पुनः उसे चार्ज्ड या विद्युदाविष्ट कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया के समय विद्युत्-धारा के इलेक्ट्रॉन प्लेट के लेड सल्फेट के लेड इऑनों को पुनः शुद्ध सीसे में परिवर्तित कर देते हैं तथा सल्फेट के इऑन घोल में जाकर तैरने लगते हैं। ये और दूसरे सल्फेट इऑन चूँकि ऋणात्मक होते हैं, अतः शुद्ध सीसे की प्लेट के प्रति आकृष्ट हो उसे अपने इलेक्ट्रॉन दे देते हैं। ये इलेक्ट्रॉन डायनमो के चार्ज से दूसरी प्लेट की ओर पीछे धकेल दिए जाते हैं! इस प्रकार अपने चार्ज से विमुक्त जो सल्फेट इऑन बचा रह जाता है, वह गंधक के एक परमाणु तथा ऑक्सिजन के चार परमाणुओं का योग होता है। यह दो और अतिरिक्त इलेक्ट्रॉनों के बिना रह नहीं सकता, अतः वह इन इलक्ट्रॉनों को पानी के एक अणु में से खींच लेता है और उसे इलेक्ट्रॉन-रहित दो हाइड्रोजन तथा एक ऑक्सिजन के परमाणओं में बदल देता है। ये ऑक्सिजन के परमाणु सीसे की प्लेट को लेड पराक्साइड में परिणत कर देते हैं और इलेक्ट्रॉन-रहित हाइड्रोजन के उपर्युक्त परमाणु पानी के एक-एक अणु के साथ संयुक्त हो हाइड्रोक्सोनियम इऑन की रचना कर देते हैं। इस प्रकार एक्युम्युलेटर पुनः पहले की भांति चार्ज्ड (विद्युदाविष्ट) हो जाता है।

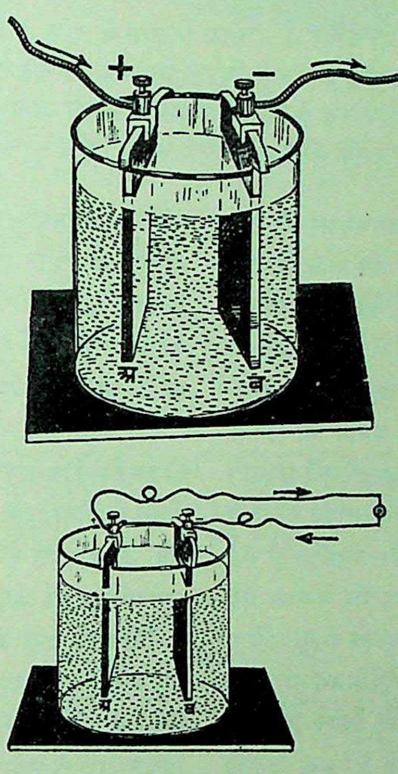

सेकण्डरी सेल का सिद्धान्त : (विवरण के लिए दे० पृ० ३१२२-३१२३)।

सेकण्डरी सेल की देखरेख में पूरी सावधानी बरतनी पड़ती है। उदाहरण के लिए, इसके अन्दर पूर्णतया शुद्ध गन्धक का तेजाब डालना चाहिए और इस तेजाब में परिस्रवित जल मिलाकर इसका आपेक्षित घनत्व १·२ बना लेना चाहिए। फिर सेल के अन्दर तेजाब हर समय इतना होना चाहिए कि दोनों प्लेटें उसमें अच्छी तरह डूबी रहें।

'एडिसन सेल'

सीसे की सेकण्डरी सेलें भारी-भरकम होती हैं। फिर इनमें गन्धक का तेजाब भरा होता है। अतः इन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में बड़ा कष्ट होता है। इन कमियों को दूर करने के उद्देश्य से एडिसन ने अपेक्षाकृत हलकी सेकेण्डरी सेल बनाई, जो 'एडिसन सेल' कहलाती हैं। इन सेलों की प्लेटें इस्पात की होती हैं, जिनमें जाली कटी होती है। धनात्मक प्लेट में निकल-हाइड्रो-ऑक्साइड भरी होती है तथा ऋणात्मक प्लेट में लौह चूर्ण। सेल के अन्दर कास्टिक पोटाश का २१ प्रतिशत घोल भरा होता है। इस ढंग की सेल को विद्युदाविष्ट करने में अधिक समय नहीं लगता, क्योंकि अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली विद्युत्-धारा इसमें प्रवाहित करायी जा सकती है। किन्तु एडिसन सेल की प्लेटों के बीच केवल १·२५ वोल्ट का ही अन्तर होता है, अतः समान शक्ति की विद्युत्-धारा प्राप्त करने के लिए सीसेवाली सेकेण्डरी सेल की तुलना में उसकी दूनी संख्या की आवश्यकता पड़ती है।

विद्युत्-शक्ति-(३) विद्युत्-धारा का चुंबकीय प्रभाव :: डायनमो और विद्युत्-मोटर

व्यापक उपयोगिता एवं मानव-हित की दृष्टि से भौतिक विज्ञान के क्षेत्र के जिन अनुसंधानों को सब से अधिक महत्व दिया जा सकता है, उनमें चुम्बकीय शक्ति से विद्युत् प्राप्त करने की अद्भुत प्रणाली का भी एक विशिष्ट स्थान है। यह इसी महान् खोज का वरदान है कि आज हमारे दैनिक जीवन में विद्युत्-शक्ति का प्रयोग इतने व्यापक पैमाने पर होने लगा है। उसके पीछे क्या सिद्धान्त काम करते हैं, आइये, इसका विवेचन करें।

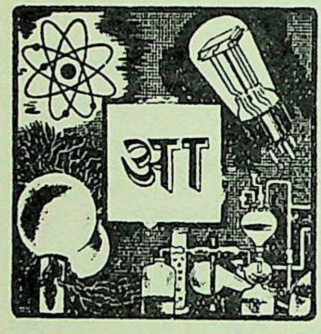

आज से लगभग एक सौ बयालीस वर्ष पहले, १८१९ ई० में, कोपेनहेगेन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर ऑर्स्टेड ने विद्युत्-धारा के चुम्बकीय प्रभाव का सब से पहले पता लगाया था। उन्होंने देखा कि यदि ताँबे के एक ऐसे तार के निकट जिसमें विद्युत्-धारा प्रवाहित हो रही हो, लौह चूर्ण लाया जाय, तो यह चूर्ण उस तार के साथ उसी भाँति चिपक जाता है, जिस प्रकार छड़-चुम्बक के साथ चिपकता है। उन्होंने यह भी देखा कि यदि ताँबे के उस तार में से विद्युत्-धारा का प्रवाह रुक जाय, तो उससे चिपके हुए लौह चूर्ण के कण पृथक् होकर नीचे गिर पड़ते हैं। अतः उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि ताँबे के तार का चुम्बकीय गुण उसमें प्रवाहित होनेवाली विद्युत्-धारा के कारण ही उत्पन्न होता है।

आम्पेयर का नियम

यदि हम दिशासूचक यंत्र को लेकर उसे मेज पर रख दें, तो उसकी सुई का उत्तरी ध्रुव (लगभग) भौगोलिक उत्तर दिशा की ओर होगा और दक्षिणी ध्रुव भौगोलिक दक्षिण दिशा की ओर। इस सुई पर उसके समानान्तर ताँबे का तार रखिए और उसमें डैनियल सेल से इस प्रकार विद्युत्-धारा प्रवाहित कीजिए कि धारा दक्षिण से उत्तर को जाय। अब आप देखेंगे कि सुई का उत्तरी ध्रुव पश्चिम दिशा की ओर हट जाता है। यदि तार में विद्युत्-धारा के प्रवाह की दिशा उलट दी जाय, तो सुई का उत्तरी ध्रुव पूर्व की ओर हटेगा। अतः तार में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्-धारा की दिशा का पता हम यह देखकर लगा सकते हैं कि तार के नीचे दिशासूचक सुई रखने पर उसका उत्तरी ध्रुव किधर को हटता है।

इस प्रयोग में तार को यदि दिशासूचक के नीचे रखा जाय, तो हम देखेंगे कि तार में जब विद्युत्-धारा का प्रवाह दक्षिण से उत्तर को होता है, तो सुई का उत्तरी ध्रुव पूर्व को हटता है और जब प्रवाह उत्तर से दक्षिण को होता है, तो सुई का उत्तरी ध्रुव पश्चिम की ओर हटता है।

विद्युत्-धारा से उत्पन्न होनेवाले चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा मालूम करने के लिए फ्रेंच वैज्ञानिक आम्पेयर ने एक सरल नियम बनाया था कि 'यदि कल्पना की जाय कि कोई मनुष्य विद्युत्-धारा के साथ इस प्रकार तैर रहा हो कि उसका सिर उस दिशा में हो जिधर कि धारा जा रही है और उसका चेहरा दिशासूचक सुई की ओर हो, तो सुई का उत्तरी ध्रुव उस मनुष्य के बायें हाथ की ओर हटेगा।' इसे 'आम्पेयर का नियम' कहते हैं (दे० पृ० ३१२७ का ऊपरी चित्र)।

यदि हम किसी तार को मोड़कर उसका वृत्ताकार छल्ला-सा बना लें, तो तार में से विद्युत्-धारा प्रवाहित कराने पर यह छल्ला चुंबकीय प्रभाव उत्पन्न करेगा। इस छल्ले में यदि कई घेरे डाले जायँ, तो वह सर्पिल वेष्टन बन जाता है। इस वेष्टन में यदि हम विद्युत्-धारा प्रवाहित कराएँ, तो वेष्टन के भीतर केन्द्र के समीप चुम्बकीय बल-रेखाएँ वेष्टन की धुरी के समानान्तर बनेंगी। वास्तव में यह सर्पिल वेष्टन एक प्रकार का छड़-

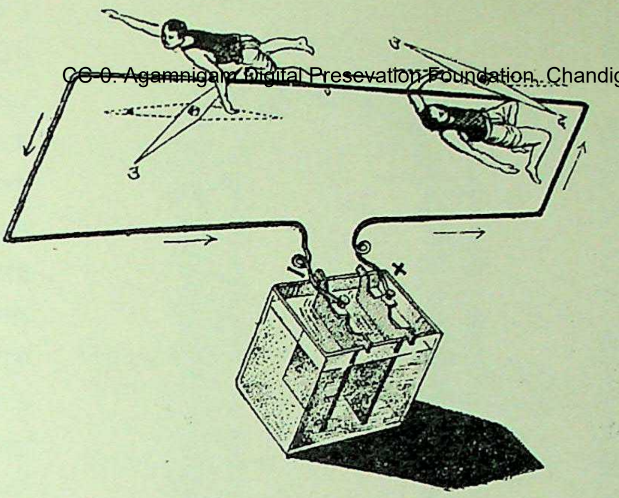

यदि कल्पना की जाय कि कोई मनुष्य विद्युत्-धारा के साथ इस प्रकार तैर रहा है कि उसका सिर धारा की दिशा की ओर और चेहरा दिशासूचक की सुई की ओर हो, तो सुई का उत्तरी ध्रुव उसके बायें हाथ की ओर हटेगा। यही 'आम्पेयर का नियम' है।

चुंबक ही बन जायगा, जिसके दोनों ध्रुव वेष्टन के दोनों सिरों पर स्थित होंगे। यदि वेष्टन में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्-धारा की दिशा ज्ञात हो, तो सहज ही आम्पेयर के नियम की सहायता से यह मालूम किया जा सकता है कि वेष्टन का कौन-सा सिरा उत्तरी ध्रुव होगा और कौन-सा सिरा दक्षिणी ध्रुव। वास्तव में, छल्ले में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्-धारा के चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा मालूम करने के लिए आम्पेयर के नियम के निम्न संशोधित रूप को काम में लाते हैं—'यदि हम छल्ले के एक सिरे की ओर मुँह करके खड़े हों और विद्युत्-धारा उस सिरे पर घड़ी की सुई की दिशा में जाती हुई हो, तो वह सिरा दक्षिणी ध्रुव होगा; इसके प्रतिकूल यदि विद्युत्-धारा का प्रवाह उस सिरे पर घड़ी की सुई की उल्टी दिशा में हो, तो वह उत्तरी ध्रुव होगा (दे० इसी पृष्ठ का निचला चित्र।'

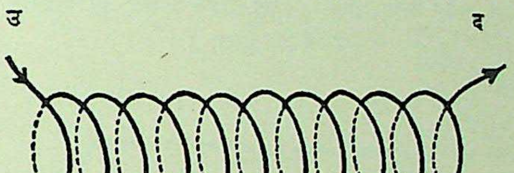

(सब से ऊपर) सर्पिल वेष्टन। (बीच में) छल्ले में प्रवाहित विद्युत्-धारा के चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा की सूचना; (नीचे) सर्पिल वेष्टन के भीतर लोहे की छड़ रखने से बना हुआ चुम्बक (दे० पिछले और इसी पृष्ठ का मैटर)।

विद्युत्-चुम्बक

यदि उपर्युक्त ढंग के सर्पिल वेष्टन को, जिसमें विद्युत्-धारा प्रवाहित हो रही है, रेशम के धागे द्वारा इस प्रकार लटकाया जाय कि वेष्टन की धुरी पृथ्वी के समानान्तर रहे, तो स्थिर दशा में यह छल्ला उत्तर-दक्षिण दिशा में स्थित होगा—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि छड़-चुम्बक स्वतंत्र रूप से लटकाए जाने पर उत्तर-दक्षिण दिशा में आकर ठहर जाता है। अतः इस प्रकार का सर्पिल वेष्टन छड़-चुम्बक की भाँति ही आचरण करता है। इस वेष्टन के भीतर उसकी धुरी के समानान्तर यदि हम कच्चे लोहे की छड़ को रखें, तो वेष्टन में विद्युत्-धारा प्रवाहित कराने पर लौहयुक्त वेष्टन एक बलशाली चुम्बक बन जाता है। विद्युत्-धारा का प्रवाह बन्द करा देने पर वेष्टन की चुम्बकीय शक्ति भी विलुप्त हो जाती है। इस प्रकार बनाए गए चुम्बक को 'विद्युत्-चुम्बक' कहते हैं (दे० इसी पृष्ठ का निचला चित्र)।

विद्युत्-चुम्बक का आविष्कार व्यावहारिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। विद्युत्-घण्टी, टेलिग्राफ, टेलिफोन तथा लोहा उठानेवाले क्रेन आदि में विद्युत्-चुम्बक का ही प्रयोग होता है। विद्युत्-धारा की प्रबलता बढ़ाकर विद्युत्-चुम्बक को हम अत्यन्त बलशाली बना सकते हैं।

विद्युत्-घण्टी

विद्युत्-घण्टी में कच्चे लोहे की छड़ को नाल की आकृति में मोड़ लेते हैं और उस पर तार के वेष्टन को इस तरह लपेटते हैं कि नाल की एक भुजा पर यदि विद्युत्-धारा घड़ी की सुई के घूमने की दिशा में प्रवाहित हो, तो दूसरी पर उसका प्रवाह

घड़ी की सुई के घुमाव की उलटी दिशा में हो।

अवश्य ही तार पर रेशम या वार्निश चढ़ी रहती है, ताकि छल्ले के घेरे (वैद्युत् दृष्टिकोण से) एक दूसरे से पृथक् रहें। विद्युत्-धारा के प्रवाहित होने पर नाल का एक सिरा उत्तरी ध्रुव बनता है और दूसरा सिरा दक्षिणी ध्रुव। इस विद्युत्-नाल-चुम्बक के निकट यदि लोहे का टुकड़ा लाया जाय, तो उत्तरी ध्रुव का सिरा लोहे के टुकड़े के निकटवर्ती भाग में उपपादन द्वारा दक्षिणी ध्रुव का चुम्बकत्व उत्पन्न करेगा और दूरवर्ती भाग में उत्तरी ध्रुव का। नाल-चुम्बक का दक्षिणी ध्रुववाला सिरा भी उपपादन द्वारा लोहे के टुकड़े में उत्तरी ध्रुव उत्पन्न करेगा (इसी पृष्ठ का ऊपरी चित्र देखिए)। अतः लोहे का टुकड़ा मजबूती के साथ नाल-चुम्बक के सिरों से चिपक जायगा।

विद्युत्-घण्टी के परिचालन की क्रिया इसी पृष्ठ के निचले चित्र में समझाई गई है। बटन को उँगली से दबाने पर चुम्बक के वेष्टन का सर्किट (घेरा) लेक्लेंची सेल के साथ पूरा हो जाता है और वेष्टन में विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है। वैसे ही नाल-चुम्बक में चुम्बकत्व का समावेश होता है और कच्चे लोहे की कमानीवाली पत्ती चुम्बक की ओर आकृष्ट होती है। फलस्वरूप पत्ती में लगी हुई हथौड़ी घण्टी पर चोट करती है। ठीक इसी समय पेंच से कमानी के अलग हट जाने के कारण वेष्टन का सर्किट (घेरा) टूट जाता है, अतः विद्युत्-प्रवाह भी रुक जाता है। चूँकि विद्युत् चुम्बक का चुम्बकत्व लुप्त हो जाता है; अतः कमानी के बल से पत्ती पुनः पीछे हटकर पेंच से वापस जा लगती है। इससे सर्किट एक बार पुनः पूरा हो जाता है और फलतः पत्ती चुम्बक की ओर आकृष्ट होती है तथा घण्टी बज उठती है।

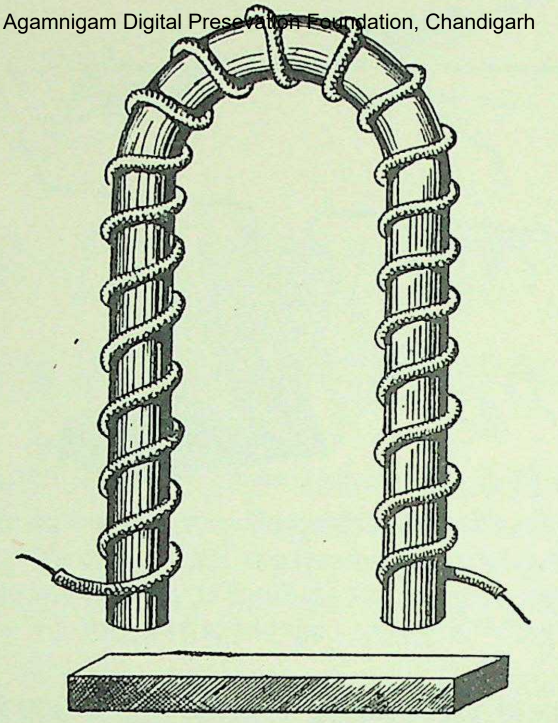

नाल-चुम्बक :: (विवरण के लिए पिछले और प्रस्तुत पृष्ठ का मैटर देखिए) विद्युत्-घंटी में ऐसे ही चुम्बक का प्रयोग होता है।

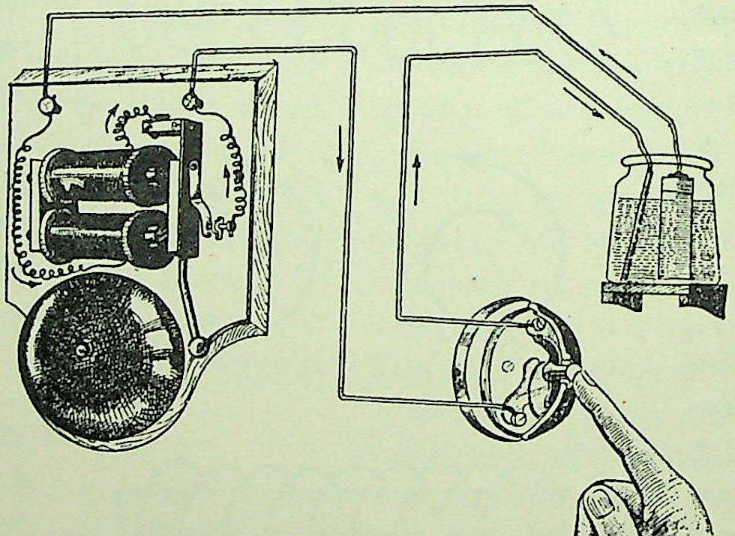

विद्युत्-घंटी कैसे वजती है :: वटन दबाने पर लेक्लेंची सेल के साथ चुम्वक के वेष्टन का सर्किट पूरा हो जाता है और नाल-चुम्वक में चुम्बकत्व का समावेश होने के फलस्वरूप पत्ती में लगी हथौड़ी घंटी पर चोट करती है (विशेष विवरण इसी पृष्ठ पर पढ़िए)।

विद्युत्-धारादर्शक

विद्युत्-धारा के चुम्बकीय प्रभाव का उपयोग करके कुछ ऐसे यंत्र बनाए गए हैं, जो क्षीण से क्षीण विद्युत्-धारा की भी उपस्थिति बतला सकते हैं। इस प्रकार के यंत्र को विद्युत्-धारादर्शक (गैल्वानोस्कोप) कहते हैं। इस यंत्र में जिस तार में से विद्युत् प्रवाहित होती है, उसे कई फेरे देकर एक वेष्टन बना लेते हैं और उसके बीच में दिशा सूचक सुई को इस

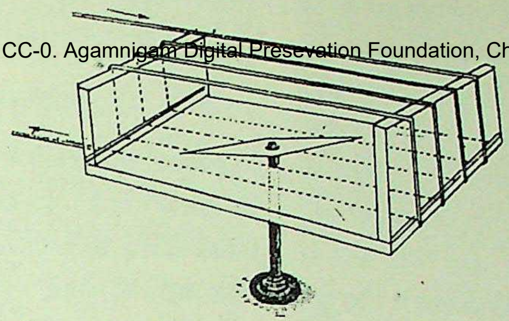

विद्युत्-धारादर्शक या गैल्वानोस्कोप :: यह यंत्र विद्युत्-धारायुक्त तार के कई फेरे देकर उसके बीच दिशा-सूचक सुई को इस प्रकार आरूढ़ कराके बनाया जाता है कि क्षैतिज धरातल में वह स्वतंत्रतापूर्वक घूम सके।

प्रकार आरूढ़ करा देते हैं कि क्षैतिज धरातल में स्वतंत्र रूप से वह घूम सके। विद्युत्-धारा तार की दिशा में चलती है। आम्पेयर के नियम के अनुसार सहज ही देखा जा सकता है कि ऊपर चलनेवाली धारा तथा सुई के नीचे चलनेवाली धारा दोनों ही सुई के उत्तरी ध्रुव को एक ही ओर हटाएँगी। वेष्टन का प्रत्येक फेरा अपना बल चुम्बक पर समान भाव से लगाता है। अतः फेरे की संख्या बढ़ाकर क्षीण विद्युत्-धारा द्वारा भी सुई में पर्याप्त हटाव उत्पन्न किया जा सकता है और विद्युत्-धारा की उपस्थिति का पता लगाया जा सकता है। सुई के विक्षेप का कोण नापकर विद्युत् धारा की प्रबलता की भी नाप की जा सकती है। विद्युत्-धारा की प्रबलता नापनेवाले यंत्र में वेष्टन वृत्ताकार होता है तथा दिशासूचक सुई (जो आकार में बहुत छोटी होती है) उक्त वृत्त के केन्द्र पर इस प्रकार से आरूढ़ की गई होती है कि क्षैतिज धरातल में वह स्वतंत्रतापूर्वक घूम सके। इस यंत्र द्वारा विद्युत्-धारा नापते समय उसे इस प्रकार से साधते हैं कि वेष्टन का धरातल ऊर्ध्वतल में चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण में स्थित हो। वेष्टन में विद्युत्-धारा के प्रवाहित होने के पूर्व दिशासूचक सुई चुम्बकीय याम्योत्तर में रहती है, किन्तु जब वेष्टन में विद्युत्-धारा प्रवाहित कराई जाती है, तो याम्योतर से हटकर सुई उसके साथ एक कोण बनाती है। यह सहज ही प्रमाणित किया जा सकता है कि विद्युत्-धारा की प्रबलता इस कोण के स्पर्शज्या की समानुपाती होती है। अतः कोण को नापकर विद्युत्-धारा की प्रबलता ज्ञात की जा सकती है। इस प्रकार के यंत्र को 'स्पर्शज्या-विद्युत्-धारामापक' कहते हैं। विद्युत्-धारा की प्रबलता की माप की इकाई 'आम्पेयर' है। इस इकाई की व्याख्या विद्युत्-धारा के रासायनिक प्रभाव की सहायता से की जा सकती है। लवण के घोल में से जब विद्युत्-धारा प्रवाहित की जाती है, तो 'कैथोड' तथा 'ऐनोड' पर पहुँचनेवाले विच्छेदित पदार्थों की मात्राएँ विद्युत्-धारा की प्रबलता की समानुपाती होती हैं। अतः विद्युत्-धारा की प्रबलता की इकाई की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि "यदि सिल्वर नाइट्रेट के घोल में से विद्युत्-धारा के प्रवाहित कराने पर एक सैकण्ड में 'कैथोड' पर ·००१११८ ग्राम सिल्वर (चाँदी) एकत्रित हो, तो उस विद्युत्-धारा की प्रबलता एक 'आम्पेयर' होगी।"

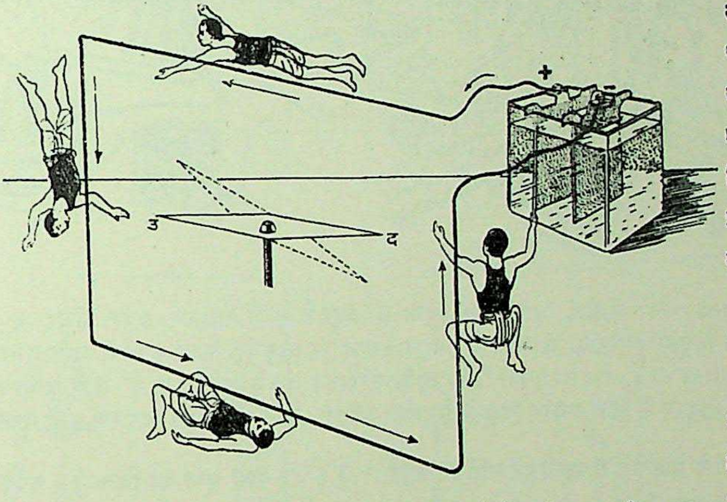

सेल से जुड़े हुए ताँबे के तार को इस विधि से चौकोर मोड़कर और उस चौखटे के बीच दिशासूचक सुई रखकर सहज ही एक सरल विद्युत्-धारामापक (गैल्वानोस्कोप) बनाया जा सकता है। यदि हम पृ० ३१२७ के ऊपरी चित्र में की गई कल्पना को यहाँ पर भी लागू करें, तो देख सकते हैं कि यहाँ भी सुई का उत्तरी ध्रुव तैराक के बाएँ हाथ की ओर ही हटता है।

टेलिग्राफी

विद्युत्-चुम्बक के आविष्कार ने ही टेलिग्राफी (तार-बर्की) को भी सम्भव बनाया है। दूरस्थ स्थानों को संकेत भेजने का यह सब से सस्ता साधन है। टेलिग्राफी के यंत्र के मुख्यतः तीन भाग किए जा सकते हैं--एक संकेत भेजने की कुंजी, दूसरी तार की लाइन और तीसरा ध्वनि-उत्पादक यंत्र (दे० पृ० ३१३० का चित्र)।

जिन दो स्थानों के बीच तार द्वारा संदेश भेजना होता है, उन दोनों का लोहे के तार द्वारा परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। लोहे के खम्भों पर लगे हुए चीनी मिट्टी के

लट्टुओं के सहारे एक स्थान से दूसरे स्थान तक तार की इस लाइन को ले जाते हैं। तार का एक सिरा प्रेषक स्थान पर कुंजी से जुड़ा रहता है। दूसरा सिरा दूरवर्ती स्थान पर, जहाँ संदेश ग्रहण किया जाता है, ध्वनि-उत्पादक यंत्र में लगे हुए विद्युत्-चुम्बक के वेष्टन के एक सिरे से जुड़ा रहता है। वेष्टन का दूसरा सिरा ताँबे के तार द्वारा उसी धातु की एक बड़ी चद्दर से जुड़ा रहता है, जो स्वयं भूमि के अन्दर गीले स्थान पर गड़ी रहती है। प्रेषक स्थान पर कुंजी में बटन के ठीक नीचे धातु की एक घुण्डी होती है, जो श्रेणीबद्ध डैनियल सेलों के एक सिरे से जुड़ी रहती है। सेलों की बैटरी का दूसरा सिरा ताँबे के तार द्वारा ताँबे की एक बड़ी चद्दर से जुड़ा होता है। यह चद्दर भी गीली भूमि में गड़ी होती है।

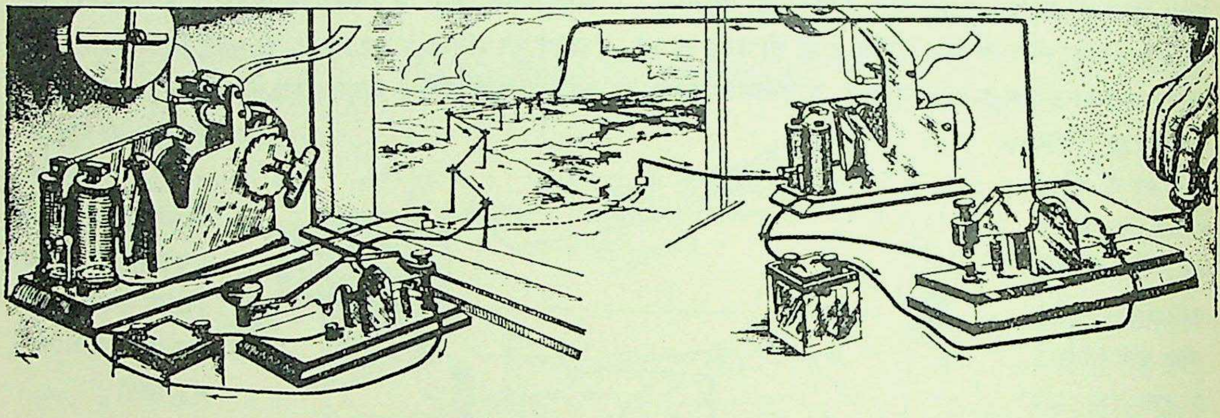

टेलिग्राफी का सिद्धान्त :: चित्र में बाईं ओर प्रेषक स्थान है, जहाँ से कुंजी दबाकर संदेश भेजा जाता है। तारों की लाइन खम्भों पर एक स्थान से दूसरे स्थान को जा रही है। प्रेषक स्थान पर तार का सिरा कुंजी से जुड़ा हुआ है। दूरवर्ती स्थान पर, जहाँ संदेश ग्रहण किया जाता है, तार का दूसरा सिरा ध्वनि-उत्पादक यंत्र से जुड़ा हुआ है। यही व्यवस्था दोनों ओर मौजूद है। धरती के माध्यम से किस प्रकार विद्युत्-धारा का सर्किट बनता है, इसका विवरण इसी पृष्ठ पर पढ़िए।

कुंजी का बटन दबाने पर डैनियल सेलों से विद्युत्-धारा खम्भे के तार से होकर संदेश ग्रहण करनेवाले स्थान के ध्वनि-उत्पादक यंत्र के चुम्बक के वेष्टन में से बहती हुई ताँबे की चद्दर तथा पृथ्वी में से होकर पुनः बैटरी तक वापस आ जाती है। इस प्रकार ध्वनि-उत्पादक यंत्र के विद्युत्-चुम्बक में चुम्बकत्व उत्पन्न होता है। यह विद्युत्-चुम्बक अपने समीप लगी हुई लोहे की पट्टी को अपनी ओर खींचता है। इस हलचल के कारण पट्टी नीचे लगे हुए पेंच से जा टकराती है और 'कट' की आवाज उत्पन्न होती है। बटन को छोड़ देने पर विद्युत्-धारा का सर्किट (घेरा) टूट जाता है; अतः ध्वनि-उत्पादक यंत्र का विद्युत्-चुम्बक भी अपना चुम्बकत्व खो देता है और एक सर्पिल कमानी के बल से लोहे की पट्टी पुनः अपनी पूर्व-स्थिति पर जा पहुँचती है। इस बार यह ऊपर लगे हुए पेंच से टकराती है और पुनः 'कट' का शब्द उत्पन्न होता है। कुंजी को इस प्रकार बार-बार दबाने पर बार-बार 'कट' 'कट' शब्द उत्पन्न होता है। इसी ध्वनि के संकेतों से संदेश प्रेषित किया जाता है।

'मोर्स संकेत-प्रणाली'

उपर्युक्त ध्वनि-संकेतों के प्रयोग में 'मोर्स संकेत-प्रणाली' को काम में लाते हैं। इस प्रणाली में 'बिन्दु' और 'रेखा' का विभिन्न रीतियों से मिलान करके अंग्रेजी के अक्षरों के ध्वनि-संकेत बना लिए गए हैं। कुंजी को देर तक दबाने का अर्थ एक 'रेखा' होता है और दबाकर तुरंत छोड़ देने का अर्थ होता है 'बिन्दु'। तार भेजने के इस यंत्र में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि ध्वनि-उत्पादक यंत्र से विद्युत्-धारा को पुनः बैटरी तक वापस लाने के लिए दूसरे तार की सहायता न लेकर भूमि के विद्युत्-संचालक गुण से ही लाभ उठाते हैं। इससे तार की दोहरी लाइन लगाने का खर्च बच जाता है (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)। संदेश बहुत दूर तक भेजना हो, तो प्रेषक स्थान पर बैटरी में सेलों की संख्या बढ़ा देते हैं, ताकि विद्युत्-धारा की प्रबलता क्षीण न हो जाय। यह ध्यान देने की बात है कि प्रेषक तथा संदेश ग्रहण करनेवाले दोनों स्थानों पर कुंजी और ध्वनि-उत्पादक यंत्र मौजूद होते हैं (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)। ये बैटरी द्वारा इस प्रकार तार से जुड़े रहते हैं कि तार की एक ही लाइन पर संदेश पहले स्थान से दूसरे स्थान को अथवा दूसरे स्थान से पहले स्थान को भेजा जा सकता है। संदेश ग्रहण करने के लिए ध्वनि-उत्पादक यंत्र में कई सुधार भी किए गए हैं, ताकि संदेश कागज के फीते पर अपने आप बिन्दु और रेखाओं के रूप में छप जाएँ। ध्वनि-उत्पादक यंत्र में ऊपर-नीचे गति करनेवाली

लोहे की पट्टी के उस सिरे के सामने, जो विद्युत्-चुम्बक से दूर रहता है, कल-पुर्जों के बल से कागज का एक फीता [illegible] गति से सरकता रहता है। पट्टी के सिरे पर एक नुकीली सुई लगी रहती है। विद्युत्-चुम्बक द्वारा आकृष्ट होने पर यह पट्टी जब नीचे आती है, तो सुई फीते को स्याही लगे हुए एक रोलर पर दबाती है और स्याही का चित्र उस पर बना देती है। कुंजी यदि दबाकर तुरन्त छोड़ी गई, तो फीते पर बिन्दु (डॉट) का चिह्न बनेगा, और यदि उसे आधे-पौन क्षण तक दबाया गया, तो फीते पर रेखा (डैश) का चिह्न बनेगा। इस दिशा में इधर और भी कई सुधार हुए हैं।

चुम्बकीय शक्ति से विद्युत्-धारा का उत्पादन

हमने देखा कि किस प्रकार प्रोफेसर ऑस्टेंड की खोज ने विद्युत्-धारा की सहायता से शक्तिशाली चुम्बक तैयार करने का गुर प्रदान किया था। इंगलैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक माइकेल फैरेडे ने ऑस्टेंड की इस महत्वपूर्ण खोज से प्रेरणा पाकर इस दृष्टि से अनुसन्धान करना आरम्भ किया कि यदि विद्युत्-धारा से चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न होती है, तो क्या इसकी विपरीत क्रिया--चुम्बकीय शक्ति से विद्युत्-धारा की उत्पत्ति--सम्भव नहीं हो सकती? इसी प्रयास में फैरेडे ने १८३१ ई० में एक नाल-चुम्बक के क्षेत्र में ताँबे के एक आयताकार वेष्टन को रखकर जब उसे चक्कर दिलाया, तो वेष्टन के तार में विद्युत्-धारा का प्रवाह जारी हो गया! इस प्रकार बिना किसी सेल या बैटरी की सहायता के फैरेडे ने विद्युत्-धारा प्राप्त करने में पहली बार सफलता प्राप्त की! निश्चय ही यह एक युग-प्रवर्तक खोज थी! धारा-विद्युत् उत्पन्न करने का यह एक सर्वथा नवीन सिद्धान्त था। इसके पूर्व विद्युत्-धारा केवल बैटरी की सहायता से ही उत्पन्न की जा सकती थी। फैरेडे की इस युगान्तरकारी खोज ने ही विद्युत्-शक्ति को इस योग्य बनाया कि हमारे दैनिक जीवन में वह इतने बड़े पैमाने पर काम में लाई जाने लगी। तनिक कल्पना तो कीजिए कि यदि विद्युत्-धारा उत्पन्न करने के लिए हमें सेल और बैटरी पर ही आश्रित रहना पड़ता, तो बड़े-बड़े कारखानों का विद्युत् द्वारा भला हम कैसे परिचालन कर पाते? उस दशा में क्या हमारे घरों में बिजली के पंखे, दीपक, रेफ्रिजरेटर या चूल्हे आदि इतनी मात्रा में प्रयुक्त किए जा सकते थे?

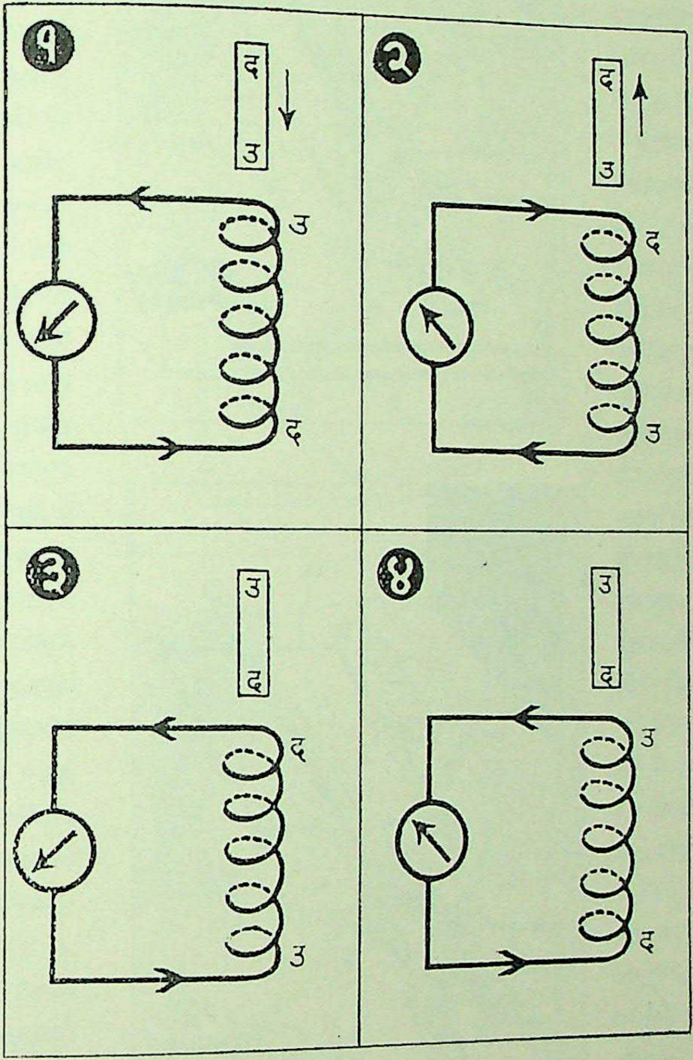

फैरेडे द्वारा निर्देशित विद्युत्-चुम्बकीय उपपादन का सिद्धान्त :: व्याख्या के लिए पृष्ठ ३१३२ का मैटर पढ़िए।

फैरेडे की इस खोज के आधार पर ही अंत में डायनमो बनाए गए, जो कि पावर-हाउस के अन्दर विद्युत्-धारा उत्पन्न करके उसे ताँबे के तारों द्वारा नगर के प्रत्येक भाग तक पहुँचाते हैं। डायनमो बिना किसी बैटरी की सहायता के यांत्रिक शक्ति को विद्युत् धारा की शक्ति में परिणत करता है। उसके द्वारा उत्पन्न की गई विद्युत् रासायनिक प्रक्रिया से उत्पन्न विद्युत् से सस्ती भी पड़ती है!

विद्युत्-चुम्बकीय उपपादन का फैरेडे का सिद्धान्त

ताँबे के तार का बना एक सर्पिल वेष्टन लीजिए और उसके दोनों सिरों को विद्युत्-धारादर्शक यंत्र के सिरों से जोड़ दीजिए। स्पष्ट है कि इस घेरे में न कोई सेल है, न बैटरी। अतः तार में कोई विद्युत्-धारा प्रवाहित न होगी और न विद्युत्-धारादर्शक की सुई में ही विक्षेप होगा। अब एक छड़-चुम्बक लेकर उसके उत्तरी ध्रुववाले सिरे को तेजी के साथ छल्ले के अन्दर प्रविष्ट कराइए। आप देखेंगे कि विद्युत्-धारादर्शक की सुई में विक्षेप होता है, जो इस बात का द्योतक है कि वेष्टन में विद्युत्-धारा प्रवाहित हो रही है (पृष्ठ ३१३१ के चित्र में नं० १)। छड़-चुम्बक ज्योंही स्थिर हो जाता है, त्योंही विद्युत्-दर्शक की सुई भी अपने पूर्वस्थान पर चली जाती है, जिससे यह पता चलता है कि चुम्बक की गति रुक जाने पर वेष्टन की विद्युत्-धारा भी विलुप्त हो जाती है।

इसके उपरान्त छड़-चुम्बक के उत्तरी ध्रुववाले सिरे को वेष्टन के भीतर से बाहर की ओर खींचिए। आप देखेंगे कि विद्युत्-धारादर्शक की सुई में इस बार विक्षेप उलटी दिशा में होगा——अर्थात् इस बार वेष्टन में विद्युत् का प्रवाह पहले की विपरीत दिशा में होता है (उक्त चित्र में नं० २)। यदि दक्षिणी ध्रुववाले सिरे को वेष्टन के भीतर ले जाएँ, तब भी वेष्टन के तार में विद्युत् का प्रवाह उसी दिशा में होता है, जिस दिशा में उस समय प्रवाह होता है, जब कि उत्तरी ध्रुववाले सिरे को वेष्टन से दूर ले जाते हैं (चित्र में नं० ४)।

इसी प्रकार जब दक्षिणी ध्रुववाले सिरे को वेष्टन से बाहर ले जाते हैं, तब वेष्टन के तार में विद्युत् का प्रवाह उसी दिशा में होता है, जिस दिशा में उस समय प्रवाह होता है, जब कि उत्तरी ध्रुववाले सिरे को वेष्टन के अन्दर ले जाया जाता है (चित्र में नं० ३)।

वास्तव में इन चारों क्रियाओं में वेष्टन के निकट स्थित चुम्बकीय बल-रेखाओं की संख्या में परिवर्तन होता है, फलस्वरूप वेष्टन के तार में विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है। किसी विद्युत्-संचालक (धातु) के निकट जब चुम्बकीय बल-रेखाओं की संख्या में परिवर्तन होता है, तो उस विद्युत्-संचालक (धातु) में विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है। इसी सिद्धान्त को 'विद्युत्-चुम्बकीय उपपादन' के नाम से अभिहित किया जाता है।

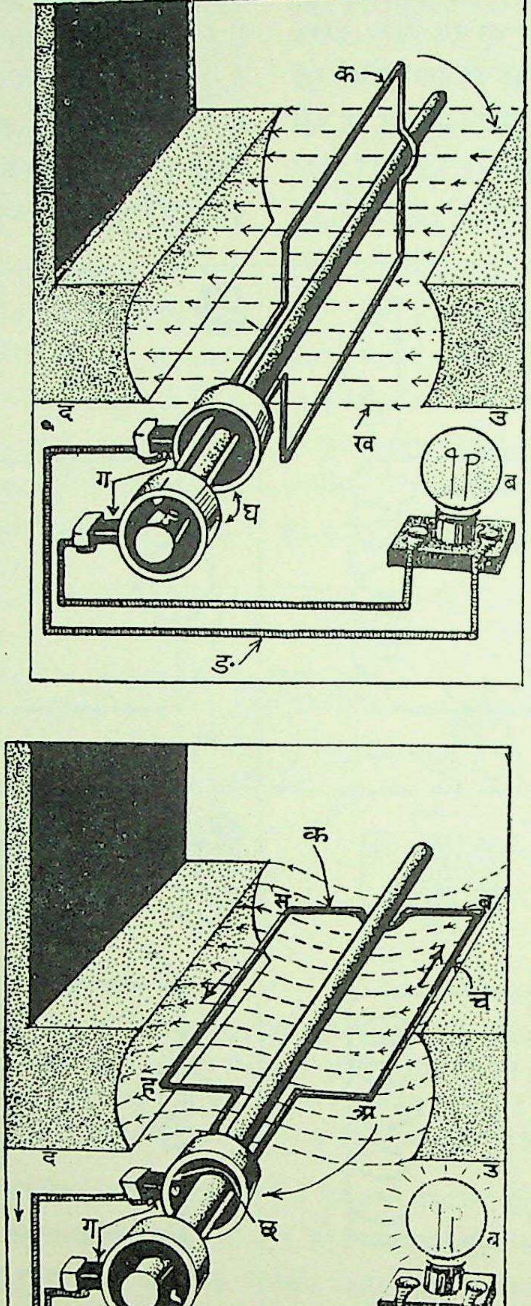

डायनमो का सिद्धान्त—(१) प्रत्यावर्तक विद्युत्-धारा :: प्रस्तुत मानचित्र में 'प्रत्यावर्तक विद्युत्-धारा डायनमो' का मूल सिद्धान्त एक सरल मॉडल की सहायता से दिग्दर्शित किया गया है। विस्तृत व्याख्या के लिए पृ० ३१३४-३५ का मैटर पढ़िए। चित्र में प्रयुक्त विविध सांकेतिक चिह्न निम्न अर्थों के द्योतक हैं :—**क**—तार का वेष्टन (शून्यावस्था में); **ख**—चुम्बकीय क्षेत्र की बल-रेखाएँ (इस समय वेष्टन द्वारा इनमें कोई हलचल नहीं हो रही है); **ग**—कार्बन-ब्रुश; **घ**—'स्लिप रिंग' नामक छल्ले; **ङ**—वाह्य सर्किट (घेरा); **च**—वेष्टन के तार में विद्युत्-धारा का प्रवाह जारी है; **छ**—छल्लों से विद्युत्-धारा इकट्ठा की जा रही है; **अ ब स ह**—चुम्बकीय बल-रेखाओं के समानान्तर वेष्टन की स्थिति, जिस में उपपादन सब से अधिक प्रबल होता है; **ब**—विद्युत्-लैम्प; **उ**—उत्तरी ध्रुव; **द**—दक्षिणी ध्रुव।

उपर्युक्त चारों प्रयोगों में छल्ले में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्-धारा की दिशा को देखकर आम्पेयर के नियम की सहायता से हम सहज ही ज्ञात कर सकते हैं कि प्रयोग नं० १ तथा ४ में वेष्टन का ऊपरी सिरा विद्युत्-चुम्बक का उत्तरी ध्रुव बनता है तथा प्रयोग नं० २ और ३ में वही सिरा दक्षिणी ध्रुव बनता है। हर दशा में उपपादन द्वारा उत्पन्न हुई विद्युत्-धारा की दिशा इस प्रकार होती है कि वह वेष्टन में प्रविष्ट चुम्बक की गति का विरोध करती है। यह आवश्यक नहीं है कि वेष्टन के निकट छड़-चुम्बक ही गति करे। यदि छड़-चुम्बक को स्थिर रखकर वेष्टन को ही हम चुम्बक के उत्तरी ध्रुव या दक्षिणी ध्रुव के सिरे के निकट लाएँ अथवा उससे दूर ले जाएँ, तो इन दशाओं में भी वेष्टन में विद्युत्-धारा का प्रवाह होगा और हर हालत में विद्युत्-धारा की दिशा इस प्रकार होगी कि अपने चुम्बकीय प्रभाव के कारण वह वेष्टन की गति का विरोध करे। अथवा छड़-चुम्बक को हटाकर यदि हम एक सर्पिल वेष्टन लें और उसमें बैटरी से विद्युत्-धारा प्रवाहित कराकर उसे एक विद्युत्-चुम्बक बना लें, तो पहले वेष्टन और दूसरे वेष्टन के बीच की दूरी को घटाने-बढ़ाने पर भी पहले वेष्टनों में उपपादन द्वारा विद्युत्-धारा उत्पन्न हो सकेगी। इन प्रयोगों के फलस्वरूप फैरेडे ने विद्युत्-चुम्बकीय उपपादन के निम्नलिखित नियम प्राप्त किए, जिनका बड़ा महत्व है, कारण इन्हीं के आधार पर डायनमो और विद्युत्-मोटर जैसे उपयोगी विद्युत्-यंत्रों का विकास हुआ है :—

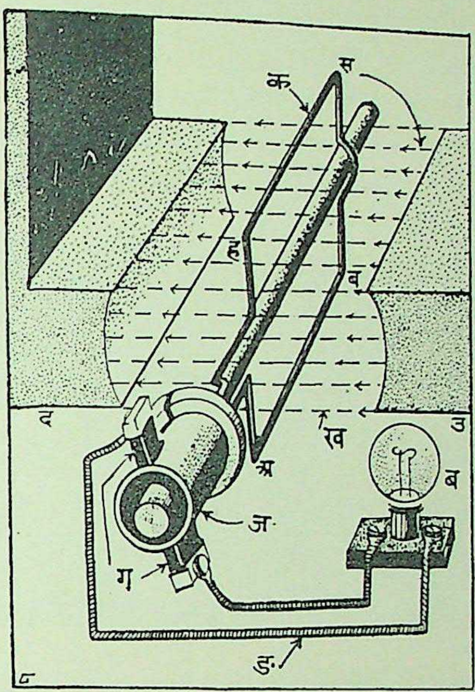

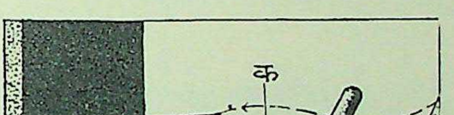

१. किसी धातु या विद्युत्-संचालक से गुजरनेवाली चुम्बकीय बल-रेखाओं की संख्या में जब परिवर्तन होता है, तो उस धातु में विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है, यदि विद्युत्-धारा के लिए घेरा (सर्किट) पूरा होने का प्रबन्ध हो। यह विद्युत्-धारा उसी समय तक प्रवाहित होती है, जब तक कि उस धातु से गुजरनेवाली बल-रेखाओं की संख्या में परिवर्तन होना जारी रहता है।

२. इस प्रकार उत्पन्न हुई विद्युत्-धारा की प्रबलता उस धातु से सम्बद्ध चुम्बकीय बल-रेखाओं के परिवर्तन की दर की समानुपाती होती है। अतः वेष्टन के निकट छड़-चुंबक जितनी अधिक तेजी से गति करेगा, उतनी ही अधिक प्रबल विद्युत्-धारा प्रवाहित होगी।

३. विद्युत्-चुम्बकीय-उपपादन द्वारा उत्पन्न होनेवाली विद्युत्-धारा की दिशा सदैव ही ऐसी होती है कि वह चुम्बकीय बल-रेखा में परिवर्तन करनेवाली क्रिया का विरोध करे।

डायनमो का सिद्धान्त

बिना बैटरी की सहायता के विद्युत्-धारा उत्पन्न करनेवाले यंत्र डायनमो में ताँबे के तार के एक वेष्टन 'क' को नाल-चुम्बक

डायनमो का सिद्धान्त—(२) सरल विद्युत्-धारा :: प्रस्तुत मानचित्र में 'सरल विद्युत्-धारा डायनमो' का सिद्धान्त सरल मॉडल द्वारा समझाया गया है। विस्तृत व्याख्या के लिए पृष्ठ ३१३६ का मैटर पढ़िए। चित्र में प्रयुक्त सांकेतिक चिह्न लगभग वही हैं, जो पृ० ३१३२ के मानचित्र में 'प्रत्यावर्तक विद्युत्-धारा डायनमो' के मॉडल में प्रयुक्त हुए हैं। विशेष चिह्न केवल ये हैं :—ज—कम्युटेटर, छ—कम्युटेटर से विद्युत्-धारा बटोरी जा रही है।

के दोनों ध्रुवों के बीच की जगह में रखकर उसे तेजी के साथ इस प्रकार घुमाते हैं कि एक स्थिति में तो चुम्बकीय क्षेत्र की बल-रेखाएँ (ख) तार के छल्ले के धरातल में से लम्बवत् गुजरती हैं और फिर ९०° घूम जाने पर छल्ले का धरातल चुम्बकीय बल-रेखाओं के समानान्तर हो जाता है और उनकी संख्या शून्य हो जाती है। इस प्रकार छल्ले से सम्बद्ध चुम्बकीय बल-रेखाओं की संख्या के परिवर्तन होते रहने से वेष्टन में उपपादन-विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है। पृष्ठ ३१३२ के चित्रों में आयताकार वेष्टन घड़ी की सुई की दिशा में घूमता हुआ दिखाया गया है। चुम्बक के दोनों ध्रुवों के सिरे क्षैतिज तल में हैं, अतः चुम्बकीय बल-रेखाएँ उत्तरी ध्रुव को धरती के समानान्तर जाती हैं। वेष्टन का तल जिस समय ऊर्ध्वतल में होता है, उस समय से इसमें से गुजरनेवाली चुम्बकीय बल-रेखाओं की संख्या में परिवर्तन की दर लगभग शून्य होती है। अतः इसमें से प्रवाहित होनेवाली उपपादन-विद्युत्-धारा की प्रबलता भी शून्य होती है। ज्यों-ज्यों वेष्टन का तल चुम्बकीय बल-रेखाओं के समानान्तर दिशा की ओर आता है, त्यों-त्यों इसमें से गुजरनेवाली बल-रेखाओं के परिवर्तन की दर बढ़ती है। अतः उपपादन-विद्युत्-धारा भी तेज होती जाती है। वेष्टन जब बल-रेखाओं के समानान्तर हो जाता है, तब विद्युत्-धारा सबसे अधिक तेज होती है। अपनी ऊर्ध्व स्थिति से जब वेष्टन ९०° के कोण तक घूम चुका हो, तब इस स्थिति से आगे बढ़ने पर बल-रेखाओं के परिवर्तन की दर पुनः घटने लगती है और १८०° की स्थिति पर पहुँचने पर विद्युत्-धारा शून्य हो जाती है। इस समय तक ऊपर की भुजा घूमकर नीचे आ चुकी होती है और नीचे की ऊपर। जब वेष्टन १८०° की स्थिति से २७०° की स्थिति तक आ जाता है, तो विद्युत्-धारा पुनः बढ़कर महत्तम हो जाती है, किंतु वेष्टन से गुजरनेवाली बल-रेखाओं की दिशा अब विपरीत हो जाती है, अतः विद्युत्-धारा की दिशा भी उलट जाती है। बल-रेखाओं की समानान्तर दिशा की स्थिति (२७०° की स्थिति) से वेष्टन जब ३६०° की स्थिति तक आता है, तो यह विद्युत्-धारा धीरे-धीरे घटकर पुनः शून्य हो जाती है। इस समय तक वेष्टन भी पूरा एक चक्कर लगा लेता है। वेष्टन के दोनों सिरे अलग-अलग धातु के दो छल्लों से जुड़े रहते हैं, जो उस धुरी पर आरूढ़ रहते हैं, जिस धुरी पर वेष्टन घुमाया जाता है। छल्ले और धुरी के बीच में आबनूस का एक-एक टुकड़ा लगा रहता है, जो विद्युत् का अपरिचालक होता है। कार्बन के एक-एक ब्रुश इन छल्लों को छूते हैं। ये छल्ले 'स्लिप रिंग' कहलाते हैं। ताँबे के तार द्वारा ब्रुश का सम्बन्ध बाह्य सर्किट से रहता है, जिसमें विद्युत्-धारा प्रवाहित कराना अभीष्ट है।

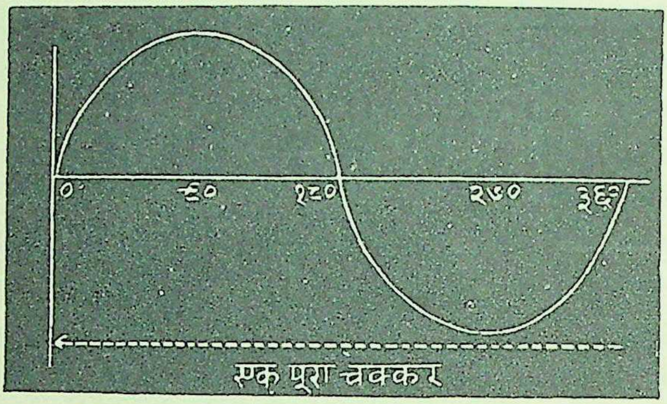

एक चक्कर में प्रत्यावर्तक विद्युत्-धारा के प्रवाह की गति एवं उसकी प्रबलता।

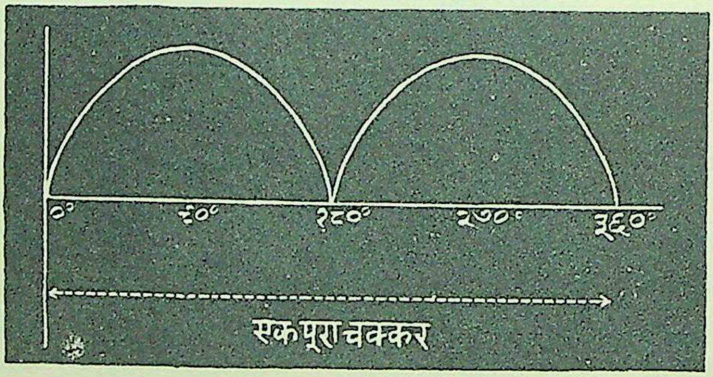

सरल विद्युत्-धारा की गति और उसकी प्रबलता।

डायनमो के इस सरल मॉडल के संबंध में निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है—

१. वेष्टन के प्रत्येक आधे चक्कर पर विद्युत्-धारा की दिशा बदल जाती है। अतः यदि वेष्टन प्रति सैकण्ड २५ चक्कर पूरा करता है, तो विद्युत्-धारा की दिशा ५० बार बदलेगी। नियमित रूप से दिशा बदलनेवाली ऐसी विद्युत्-धारा को 'प्रत्यावर्तक विद्युत्-धारा' या 'ए० सी० करेण्ट' कहते हैं।

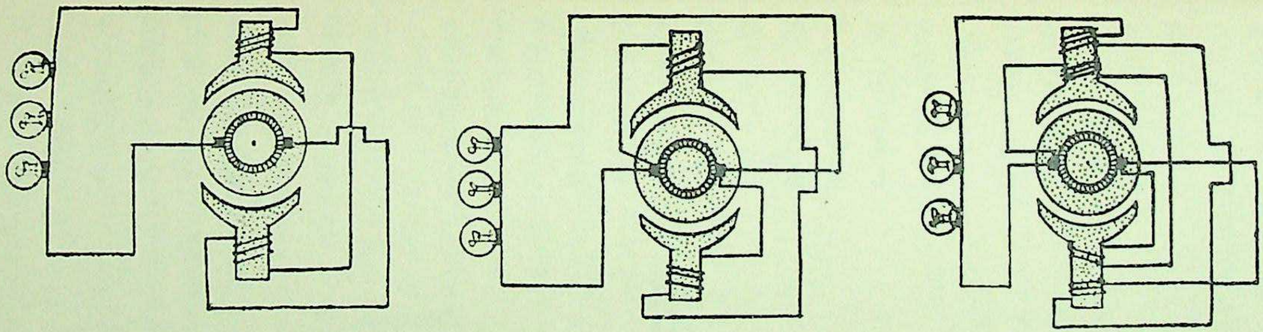

‘सरल विद्युत्-धारा डायनमो’ के तीन प्रकार

(बाईं ओर) श्रेणीबद्ध डायनमो; (बीच में) समानान्तर बद्ध डायनमो; (दाहिनी ओर) मिश्रित बद्ध डायनमो। इन मानचित्रों में बाईं ओर के तीन वर्तुलाकार चिह्न बाह्य सर्किट में विद्युत्-बल्बों के द्योतक हैं। बीच में डायनमो है और पतली रेखाओं द्वारा सर्किट के तार दिग्दर्शित हैं (व्याख्या के लिए पृ० ३१३७—३१३८ का मैटर पढ़िए)।

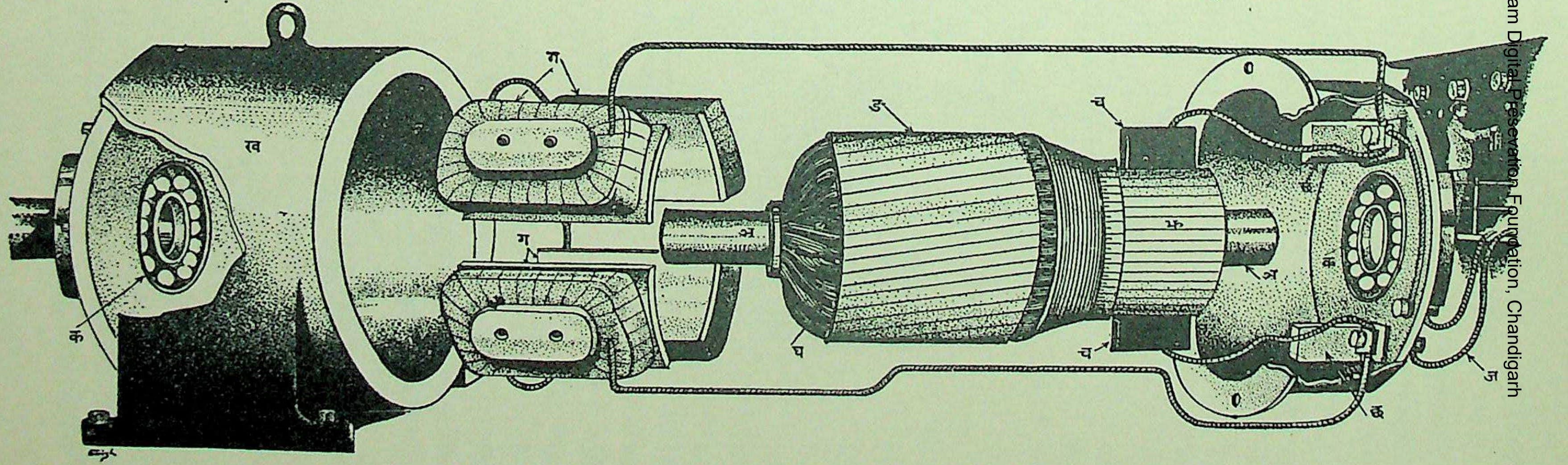

बृहत् परिमाण में विद्युत् उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त एक विशालकाय डायनमो के विविध अंगों का मानचित्र

इस पेचीदा यंत्र की भीतरी रचना की जानकारी कराने के लिए प्रस्तुत चित्र में उसके ऊपरी कवच (केसिंग) को हटाकर विभिन्न यंत्र-भागों को एक-दूसरे से अलग-अलग दिखाया गया है। ये यंत्र-भाग निम्नांकित हैं :—(क) आर्मेचर के स्पिन्डल के बॉल-बेयरिंग; (ख) ऊपरी कवच या केसिंग; (ग) इलैक्ट्रो-मैग्नेट या विद्युत्-चुम्बक; (घ) आर्मेचर के वेष्टन; (ङ) आर्मेचर का ऊपरी आवरण; (च) कार्बन-ब्रुश; (छ) ब्रुश-होल्डर; (ज) स्विच-बोर्ड को जानेवाले तार; (झ) कम्युटेटर; (ञ) आर्मेचर का स्पिन्डल।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

२. इस विद्युत्-धारा की प्रबलता एक चक्कर में दो बार महत्तम हो जाती है और दो बार शून्य। वेष्टन जब ऊर्ध्व स्थिति से चलता है, तो विद्युत्-धारा शून्य रहती है और फिर चौथाई चक्कर के बाद बढ़कर उसकी प्रबलता महत्तम हो जाती है। आधे चक्कर के समाप्त होने तक घटकर वह शून्य हो जाती है, फिर उलटी दिशा में उसकी प्रबलता बढ़ने लगती है और तीन-चौथाई चक्कर समाप्त होने की स्थिति में उसकी प्रबलता फिर महत्तम हो जाती है। इसके बाद विद्युत्-धारा घटने लगती है और चक्कर समाप्त होने की स्थिति में वह पुनः शून्य हो जाती है।

स्पष्ट है कि यदि इस ढंग का सरल डायनमो विद्युत्-बल्ब में प्रकाश उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त किया जाए, तो बल्ब की रोशनी प्रत्येक चक्कर में दो बार खूब तेज हो जाएगी और दो बार उसकी रोशनी लगभग बुझ जाएगी।

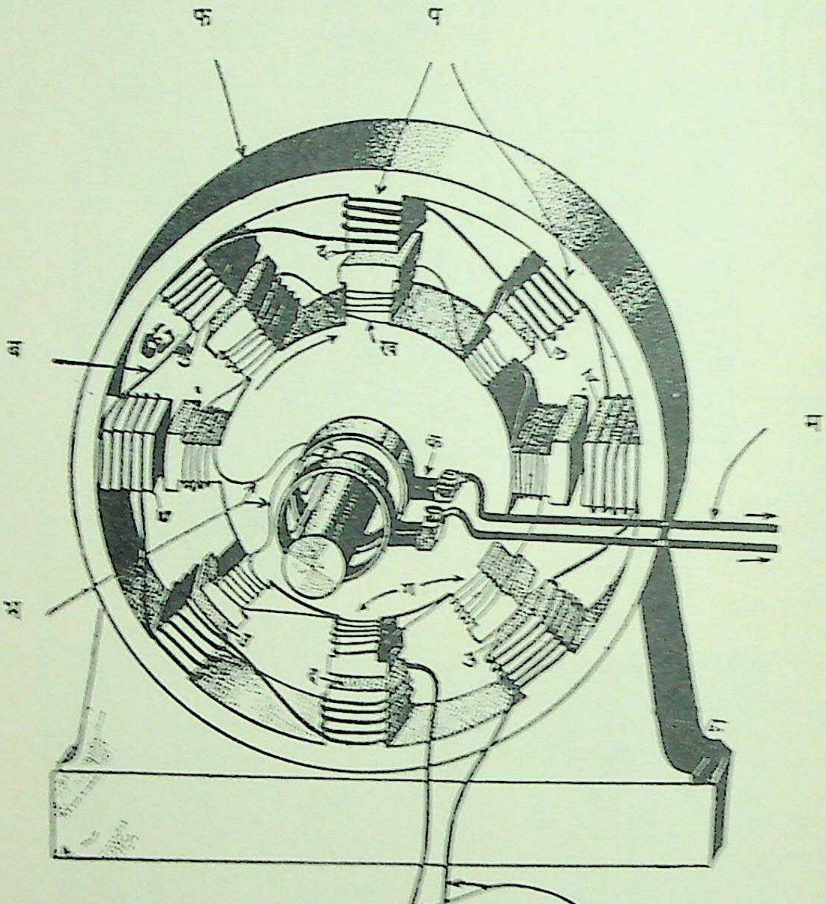

'प्रत्यावर्तक विद्युत्-धारा डायनमो' का भावचित्र: उ—उत्तरी ध्रुव; द—दक्षिणी ध्रुव; क—स्लिप रिंग; ख—आर्मेचर के वेष्टन; ग—लौह दंड; प—विद्युत्-चुम्बक; फ—स्टेटर; ब—इन्सुलेटेड कॉयल; भ—आर्मेचर कॉयल में उत्पादित प्रत्यावर्तक विद्युत्-धारा स्लिप रिंगों में जा रही है; म—मुख्य तार; य—विद्युत्-चुम्बकों को उत्तेजित करने के लिए डी॰ सी॰ डायनमो से करेन्ट आ रही है।

सरल (डी॰सी॰) विद्युत्-धारा

ऊपर वर्णित योजना में तनिक सुधार करने पर बाह्य सर्किट (बेरो) में हम ऐसी विद्युत्-धारा प्राप्त कर सकते हैं, जिसका प्रवाह सदैव एक ही दिशा में हो। इस एकदैशिक विद्युत्-धारा को 'सरल (डी॰ सी॰) विद्युत्-धारा' कहते हैं। सरल विद्युत्-धारा प्राप्त करने के लिए वेष्टन के दोनों सिरों के तार एक ही छल्ले पर उसके आधे-आधे भाग से जुड़े रहते हैं। यह छल्ला [illegible] कटा रहता है। कटे हुए भाग में आबनूस का एक टुकड़ा लगा रहता है। इसी कारण अंग्रेजी में इसे 'स्प्लिट रिंग' कहते हैं। कटे हुए छल्ले (स्प्लिट रिंग) के प्रत्येक आधे भाग पर एक-एक कार्बन ब्रुश टिकते हैं, जो ताँबे के तार द्वारा बाह्य सर्किट को पूरा करते हैं। ब्रुश की स्थिति इस प्रकार सधी रहती है कि जिस क्षण वेष्टन अपने ऊर्ध्वतल से गुजरता है और वेष्टन में विद्युत्-धारा की दिशा बदलती है, ठीक उसी क्षण वेष्टन के साथ घूमनेवाली स्प्लिट रिंग के अर्द्धभाग भी एक ब्रुश को छोड़कर दूसरे ब्रुश को स्पर्श कर लेते हैं। अतः ब्रुश से जानेवाले तार में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्-धारा की दिशा बदलने नहीं पाती तथा सदैव प्रबलता एक-सी बनी रहती है। अवश्य इस विद्युत्-धारा के प्रवाह में चढ़ाव-उतार अभी भी मौजूद होगा।

आधुनिक प्रत्यावर्तक डायनमो

विद्युत्-धारा उत्पादन करनेवाले यंत्र में यह कदापि वाञ्छनीय नहीं हो सकता कि उसकी विद्युत्-धारा कभी प्रबल हो जाय और कभी दुर्बल। इस दोष को दूर करने के लिए आधुनिक प्रत्यावर्तक डायनमो में कई वेष्टन लगाए जाते हैं, जिनके धरातल एक दूसरे के साथ समान कोण बनाते हैं। अतः जिस क्षण एक वेष्टन अपनी शून्य स्थिति से गुजरता है, उस क्षण अन्य वेष्टनों में विद्युत्-धारा यथाशक्ति प्रवाहित होती रहती है। ये सभी वेष्टन एक ही धुरी पर आरूढ़

रहते हैं तथा प्रत्येक एक दूसरे के साथ श्रेणीबद्ध स्थिति में जुड़े रहते हैं। वेष्टनों की श्रेणी से आगे बढ़े दोनों तारों में से एक तो एक छल्ले से जुड़ा रहता है और दूसरा दूसरे छल्ले से। इस दशा में वेष्टनों से प्राप्त होनेवाली विद्युत्-धारा लगभग पूर्ण रूप से सम हो जाती है। विद्युत्-धारा की प्रबलता में अब चढ़ाव-उतार उतना अधिक नहीं होता।

वेष्टनों की संख्या तथा चुम्बक के ध्रुवों के जोड़े की संख्या बढ़ाकर विद्युत्-धारा की प्रबलता को और अधिक बढ़ा लेते हैं तथा उसे सम भी कर लेते हैं। प्रत्यावर्तक डायनमो में वेष्टनों को स्थायी रखते हैं और चुम्बक को ही तीव्र गति से घुमाते हैं। चुम्बक को शक्तिशाली बनाने के निमित्त चुम्बक लोहे के ऊपर तार के वेष्टन लपेटे जाते हैं, जिनमें सरल विद्युत्-धारा (डी० सी०) प्रवाहित होती है, अतः ये शक्तिशाली विद्युत्-चुम्बक बन जाते हैं।

आधुनिक सरल धारा डायनमो

'सरल धारा डायनमो' के मॉडल में हमने देखा कि एक वेष्टन लगाने पर जो विद्युत्-धारा प्राप्त होती है, उसमें चढ़ाव-उतार रहता है, यद्यपि स्प्लिट रिंग के कारण बाह्य सर्किट में आनेवाली विद्युत्-धारा के प्रवाह की दिशा एक-सी बनी रहती है। विद्युत्-धारा के चढ़ाव-उतार को कम करने के लिए तथा उसकी प्रबलता बढ़ाने के लिए यहाँ भी वेष्टनों की संख्या बढ़ा दी जाती है, साथ ही चुम्बक के ध्रुव के जोड़े की संख्या भी बढ़ाई जाती है। ऐसी दशा में जितने वेष्टन लगते हैं, उससे दूने भागों में स्प्लिट रिंग विभाजित रहती हैं। इस स्प्लिट रिंग को 'कम्युटेटर' कहते हैं। प्रत्येक वेष्टन स्प्लिट रिंग के आमने-सामने के भागों से जुड़ा रहता है। ये वेष्टन प्रायः एक बेलनाकार कच्चे लोहे के पिंड से बैकलाइट या रबड़ सरीखे विद्युत् के असंचालक पदार्थ द्वारा पृथक् किए गए रहते हैं।

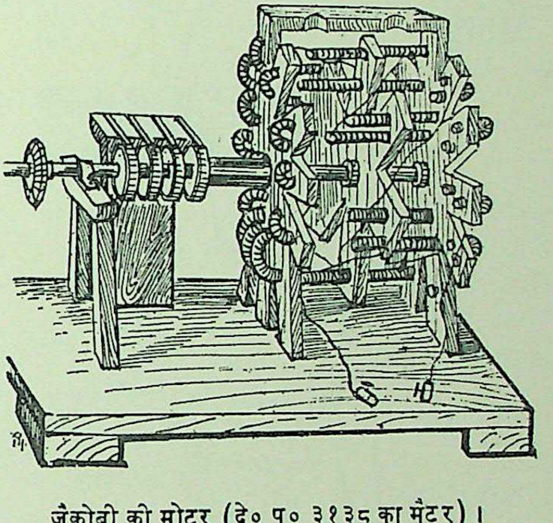

जैकोबी की मोटर (दे० पृ० ३१३८ का मैटर)।

उल्लिखित कच्चे लोहे के पिंड पर वेष्टन इसलिए लपेटे जाते हैं कि चुम्बकीय क्षेत्र की बल-रेखाएँ वेष्टनों में अधिक संख्या में प्रविष्ट हो सकें। इस बेलन को, जिस पर विद्युत् उत्पन्न करनेवाले वेष्टन लपेटे जाते हैं, 'आर्मेचर' कहते हैं। सरल धारा डायनमो में सदैव आर्मेचर ही घुमाया जाता है; विद्युत्-चुम्बक स्थिर रहते हैं।

अत्यन्त छोटे सरल धारा डायनमो के लिए स्थायी लौह चुम्बक काम में लाए जा सकते हैं। किन्तु बल्ब जलाने के लिए अथवा पंखे चलाने के लिए प्रबल विद्युत्-धारा की आवश्यकता होती है और तब डायनमो में चुम्बकीय क्षेत्र पैदा करने के लिए विद्युत्-चुम्बक ही काम में लाए जाते हैं। इनके लिए उक्त डायनमो से उत्पन्न हुई विद्युत्-धारा ही प्रयुक्त होती है। इस दृष्टि से सरल धारा डायनमो के तीन वर्ग किए जा सकते हैं:—

श्रेणीबद्ध डायनमो—इसमें आर्मेचर की विद्युत्-धारा को कम्युटेटर से सीधे विद्युत्-चुम्बक के वेष्टनों में से प्रवाहित कराने के बाद बाह्य सर्किट में ले जाते हैं। ऐसे डायनमो को 'श्रेणीबद्ध' इसलिए कहते हैं कि इसमें बाह्य सर्किट विद्युत्-चुम्बक के वेष्टन के साथ श्रेणी में जुड़ा है। ऐसे डायनमो में दोष यह होता है कि यदि बाह्य सर्किट में विद्युत्-बल्बों की संख्या बढ़ जाए, तो विद्युत्-धारा क्षीण पड़ जाती है; फलस्वरूप चुम्बक की शक्ति भी कम हो जाती है और तब आर्मेचर से उत्पन्न होनेवाली विद्युत्-धारा और भी क्षीण हो जाती है। श्रेणीबद्ध डायनमो ऐसी दशा में ही प्रयुक्त होते हैं, जब बाह्य सर्किट में सदैव एक-सी मात्रा में विद्युत् खर्च होती है (दे० पृ० ३१३५ का चित्र)।

समानांतर बद्ध डायनमो—यदि विद्युत्-चुम्बक के वेष्टन के लिए कम्युटेटर से पृथक् सर्किट में विद्युत्-धारा लें और बाह्य सर्किट के लिए कम्युटेटर से विद्युत्-धारा पृथक् तारों द्वारा ली जाए, तो यह 'समानान्तर बद्ध डायनमो' कहलाता है। बाह्य सर्किट में यदि बल्ब या पंखों की संख्या बढ़ती है, तो चुम्बक के वेष्टन में से अपेक्षाकृत अधिक प्रबल विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है और आर्मेचर की धारा की प्रबलता बढ़ जाती है। अतः इससे बल्ब का प्रकाश और पंखों की चाल मंद नहीं होने पाती। इस प्रकार बाह्य सर्किट में विद्युत्-धारा लगभग सम बनी रहती है।

मिश्रित बद्ध डायनमो—बल्बों की संख्या घटने-बढ़ने पर समानान्तर बद्ध डायनमो में यद्यपि बाह्य सर्किट की विद्युत्-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

धारा की प्रबलता में श्रेणीबद्ध डायनमो की अपेक्षा कम परिवर्तन होता है, फिर भी समानान्तर बद्ध डायनमो की विद्युत्-धारा पूर्णतया एक समान नहीं रह पाती। अतः ऐसी स्थिति में, जब कि बाह्य सर्किट में विद्युत्-लैम्प या पंखों की संख्या निरन्तर घटती-बढ़ती रहती है, केवल 'मिश्रित बद्ध डायनमो' काम में लाए जाते हैं। ऐसे डायनमो के चुम्बक के वेष्टन के कुछ फेरे समानान्तर बद्ध होते हैं और कुछ श्रेणीबद्ध। इस डायनमो की विद्युत्-धारा की प्रबलता सदैव एक-सी बनी रहती है, चाहे बाह्य सर्किट में निरन्तर परिवर्तन होता रहे (दे० पृ० ३१३५ का चित्र)।

सरल तथा प्रत्यावर्तक धारा की तुलना

डायनमो से प्राप्त होनेवाली सरल विद्युत्-धारा में चढ़ाव-उतार मौजूद नहीं होता--यह बैटरी की विद्युत्-धारा की भाँति होती है। उधर प्रत्यावर्तक धारा की दिशा प्रति सैकंड लगभग ५० बार बदलती रहती है। जहाँ तक तापीय अथवा प्रकाशीय प्रभाव का सम्बन्ध है, दोनों जाति की विद्युत्-धारा के गुण एक समान होते हैं। इसी कारण विद्युत्-बल्ब, विद्युत्-स्टोव अथवा कपड़े पर लोहा करनेवाली विद्युत्-इस्त्री के प्रयोग में इस बात का विचार नहीं करना पड़ता है कि उनके लिए हम सरल विद्युत्-धारा काम में ला आ रहे हैं या प्रत्यावर्तक धारा। परन्तु विद्युत्-पंखे, विद्युत्-मोटर एवं रेडियो को काम में लाने से पूर्व यह मालूम कर लेना आवश्यक होता है कि ये सरल विद्युत्-धारा से चलने योग्य हैं या प्रत्यावर्तक धारा से, अथवा दोनों से। रासायनिक प्रभाव के यंत्रों का परिचालन केवल सरल विद्युत्-धारा से ही हो सकता है। प्रत्यावर्त्तक विद्युत्-धारा इसके लिए व्यर्थ ही ठहरती है। अतः बिजली की सहायता से बर्तनों पर कलई करने के निमित्त प्रत्यावर्तक विद्युत् कभी भी प्रयुक्त नहीं हो सकती। प्रत्यावर्तक विद्युत्-धारा में यह गुण अवश्य मौजूद है कि इसे ताँबे के पतले तार द्वारा लम्बे फासले तक पहुँचा सकते हैं, जबकि सरल धारा को उसी फासले तक पहुँचाने में अपेक्षाकृत काफी मोटे तार की आवश्यकता पड़ा करती है।

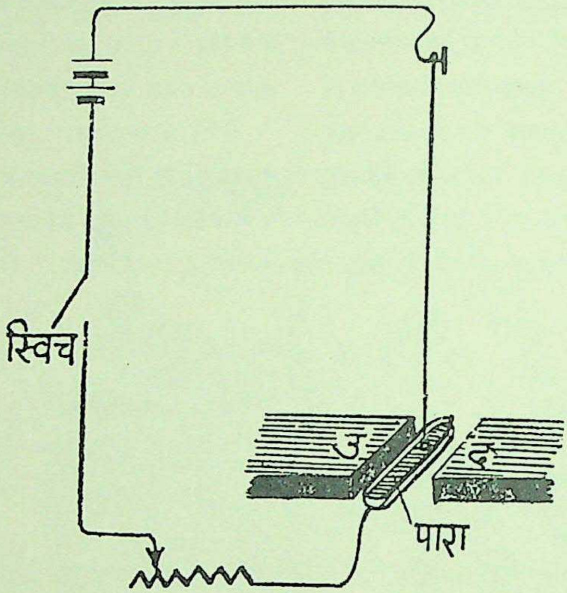

(ऊपर) विद्युत्-मोटर का सिद्धान्त (दे० पृ० ३१३९); (नीचे) फ्लेमिंग का बायें हाथ का नियम (दे० पृ० ३१३९)।

सर्वप्रथम विद्युत्-मोटर

विज्ञान के इतिहास में निस्संदेह यह एक मनोरंजक घटना थी कि आविष्कारकों ने विद्युत् मोटर की ईजाद पहले कर ली थी और डायनमो का आविष्कार बाद में हुआ था। जिन दिनों विद्युत्-धारा के उत्पादन के लिए केवल रासायनिक बैटरी ही एकमात्र साधन थी, उन दिनों वैज्ञानिकगण तथा इञ्जीनियर इस दृष्टि से भाँति-भाँति के प्रयोग कर रहे थे कि किसी तरह विद्युत्-धारा की सहायता से मशीन के पहिए घुमाने में सफलता प्राप्त कर लें। इस सिलसिले में रूस के एक वैज्ञानिक जैकोबी ने १८३८ ई० में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। उसने बैटरी की विद्युत्-धारा की सहायता से अपने हाथ से तैयार की गई छोटे आकार की विद्युत्-मोटर की धुरी को घुमाया। इस धुरी से जुड़े हुए प्रोपेलर को चलाकर उसने नदी पर कुछ दूर तक एक किश्ती को भी चलाया। इस किश्ती की चाल प्रति घंटा २½ मील थी! किश्ती पर लगी हुई इस विद्युत्-मोटर का भीतरी भाग या 'आर्मेचर' पहिए की शक्ल का था, जिसमें छः आरागज लगे थे। प्रत्येक आरागज के दोनों सिरों पर एक-एक छड़-चुम्बक लगा था, जो पहिए की धुरी के समानान्तर था। यह पहिया

एक बाह्य ढाँचे के भीतर था, जिस पर नाल के आकार के विद्युत्-चुम्बक लगे थे । इन चुम्बकों के वेष्टन में बैटरी की सरल धारा प्रवाहित होती थी । एक 'कम्युटेटर' द्वारा इस बात का प्रबन्ध किया गया था कि जब कभी आरागज के स्थायी चुम्बक बाह्य ढांचे के नाल-चुम्बक के सामने आते, तभी नाल-चुम्नक के वेष्टन की धारा की दिशा बदल जाती और छड़-चुम्बक पर हटाव का बल लगता, जिससे यह पहिया घूमता रहता (देखिए पृष्ठ ३१३७ का चित्र) ।

किन्तु जैकोबी की विद्युत्-मोटर के परिचालन में खर्च बहुत अधिक पड़ता था । इसके लिए १०० वोल्टार्ड सेल से विद्युत्-धारा लेनी पड़ती थी । एक विशेषज्ञ ने हिसाब लगाया था कि इस तरह बैटरी की विद्युत्-धारा से विद्युत्-मोटर चलाने में वाष्पशक्ति की तुलना में ६० गुना अधिक खर्च बैठता था ! अतः बैटरी की विद्युत्-धारा से चलनेवाली यह विद्युत्-मोटरें उद्योग-व्यवसाय के क्षेत्र में अपने लिए स्थान प्राप्त नहीं कर सकी । १८७३ ई० में जब बड़े पैमाने पर डायनमो का उपयोग होने लगा, तभी डायनमो की विद्युत्-धारा से चलनेवाली विद्युत्-मोटरों का भी कल-कारखानों में एक बड़े पैमाने पर उपयोग होने लगा । कारण, डायनमो से उत्पन्न की गई विद्युत्-धारा प्रबल होती है तथा बैटरी की विद्युत्-धारा की तुलना में वह सस्ती भी पड़ती है ।

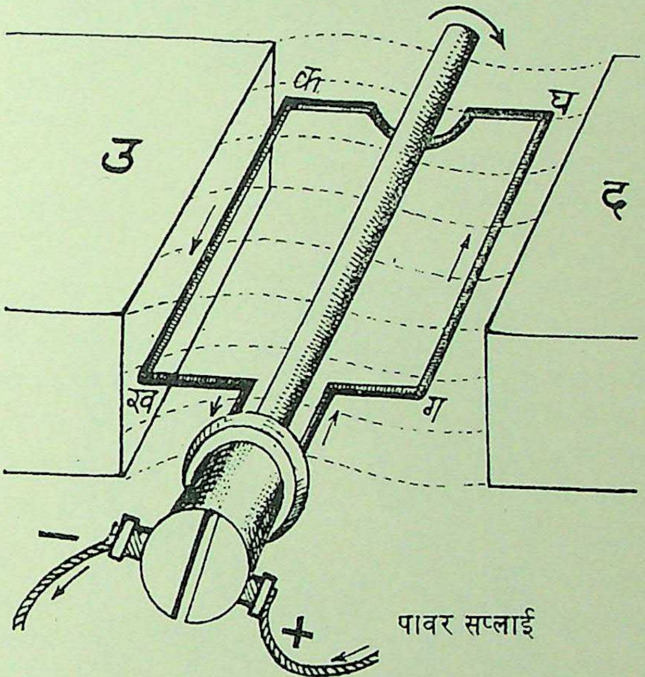

सरल धारा (डी० सी०) मोटर का सिद्धान्त :: चुम्बकीय क्षेत्र उ से द की ओर है । विद्युत्-धारा का प्रवाह वेष्टन में ग से घ, तथा क से ख की ओर होकर कम्युटेटर के द्वितीय अर्द्धक में से गुजरता है । आर्मेचर की धुरी बिन्दु-रेखा द्वारा दिखलाई गई है ।

विद्युत्-मोटर का सिद्धान्त

विद्युत्-मोटर का सिद्धान्त समझने के लिए एक दिलचस्प प्रयोग किया जा सकता है । मेज पर दो छड़-चुम्बकों को एक सीध में लिटाकर इस प्रकार रखिए कि उनके विरोधी ध्रुवों के बीच थोड़ी जगह खाली बनी रहे । इस खाली जगह में चीनी मिट्टी की एक किश्तीनुमा प्याली रखकर उसमें पारा भर दीजिए तथा लकड़ी के स्टैण्ड से इस प्रकार ताँबे का तार लटकाइए कि उसका निचला सिरा पारे में डूबता रहे । पारे की सतह के एक कोने में बैटरी के ऋण-सिरे से तार ले आइए तथा स्टैण्ड से लटकनेवाले तार के ऊपरी सिरे का संबंध तार द्वारा बैटरी की धनात्मक प्लेट से लीजिए । ऐसा करने पर आप देखेंगे कि तार सामने की ओर तेजी से खिंच आता है, यहाँतक कि लटके हुए तार का निचला सिरा पारे से बाहर आ जाता है । ठीक इसी क्षण सर्किट टूट जाने से जब तार में विद्युत्-धारा का प्रवाह रुक जाता है, तो वह पुनः अपनी पूर्वस्थिति में चला जाता है । अब सर्किट फिर पूरा हो जाने पर उसी क्रिया की बार-बार पुनरावृत्ति होती है । यदि विद्युत्-धारा के प्रवाह की दिशा उलट दी जाय, तो तार पहले की विपरीत दिशा में भागता है (दे० पृ० ३१३८ का ऊपरी चित्र) । इस प्रयोग से यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी धातु को चुंबकीय क्षेत्र में रखकर यदि उसमें से विद्युत्-धारा प्रवाहित कराई जाय, तो उस धातु में गति होने लगती है, जो विद्युत्-धारा की दिशा तथा प्रबलता पर निर्भर करती है ।

विद्युत्-इञ्जीनियर फ्लेमिंग ने इस संबंध में निम्न नियम का प्रतिपादन किया, जिसे 'फ्लेमिंग का बायें हाथ का नियम' कहते हैं :--"अपने बायें हाथ को फैलाकर उँगलियों को इस प्रकार रखिए कि अँगूठा, तर्जनी तथा मध्य उँगली परस्पर एक दूसरे की समकोण दिशा में स्थित हों । अब यदि तर्जनी चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा बतलाए तथा मध्य उँगली विद्युत्-प्रवाह की दिशा प्रकट करे, तो वह धातु का टुकड़ा, जिसमें विद्युत् का प्रवाह हो रहा है, अँगूठे की दिशा में गति करेगा (दे० पृ० ३१३८ का निचला चित्र) ।"

विद्युत्-मोटर के भाग

विद्युत्-मोटर का निर्माण उपर्युक्त सिद्धान्त पर ही किया गया है। हर विद्युत्-मोटर के तीन मुख्य भाग होते हैं—प्रथम एक विद्युत्-चुम्बक, जिसके दोनों ध्रुवों के बीच की जगह में प्रबल चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है; द्वितीय आर्मेचर, जो रबड़ या वार्निश से ढके तार के वेष्टन का बना होता है (यही भाग चुम्बकीय क्षेत्र में अपनी धुरी पर घूमता है); तृतीय 'कम्युटेटर' अथवा 'स्लिप रिंग', जिसके द्वारा बाह्य विद्युत्-धारा आर्मेचर के वेष्टन में प्रवेश करती है।

सरल धारा (डी०सी०) मोटर

इस श्रेणी की मोटर का नमूना निम्नलिखित ढंग पर तैयार किया जा सकता है। ताँबे के तार के एक आयताकार वेष्टन को एक धुरी पर इस प्रकार आरोपित कीजिए कि वह इस धुरी के गिर्द घूम सके। इस वेष्टन के एक-एक सिरे धुरी के अग्र-भाग पर लगे 'कम्युटेटर' के अर्द्ध-भागों से जुड़े रहें। यदि वेष्टन चुम्बक के दोनों ध्रुवों के दर्मियान रखा जाय और कम्युटेटर के द्वारा इसमें सरल विद्युत्-धारा प्रवाहित कराई जाय, तो चुम्बकीय क्षेत्र के समानान्तर वेष्टन की स्थिति में इसकी आड़ी भुजाओं 'क ख' तथा 'ग घ' पर ऐसे बल उत्पन्न होंगे, जो वेष्टन को तार की दिशा में घुमाएँगे (पृ० पृष्ठ ३१२१ का चित्र)। इस बल का परिमाण आरम्भ में महत्तम होगा, किन्तु वेष्टन की स्थिति बदलने पर यह क्रमशः घटता जायगा और जब वेष्टन चुम्बकीय क्षेत्र की लम्ब दिशा में आएगा, तो यह बल शून्य हो जायगा। किन्तु अपने आवेग के कारण वेष्टन जब इस स्थिति को पार कर लेगा, तो इसकी भुजाओं 'क ख' तथा 'ग घ' पर लगनेवाले बल बढ़ने लगेंगे और ये वेष्टन को पुनः पूर्ववत् दिशा में ही घुमाएँगे, क्योंकि कम्युटेटर के कारण अब वेष्टन में विद्युत्-प्रवाह की दिशा उलट जाती है। यह यंत्र निस्संदेह विद्युत्-मोटर के एक नन्हें-से मॉडल का काम देगा। किन्तु वेष्टन पर घुमाव का बल घटता-बढ़ता रहेगा। अतः इस ढंग की मोटर से सम्बद्ध मशीन की चाल भी घटती-बढ़ती रहेगी। चूँकि ऐसा कदापि वाञ्छनीय नहीं हो सकता, अतः इस दोष को दूर करने के निमित्त उसी धुरी पर एक दूसरा वेष्टन आरोपित कर सकते हैं तथा इसका धरातल प्रथम वेष्टन की लम्ब दिशा में रख सकते हैं। इस दशा में कम्युटेटर के चार भाग करने पड़ेंगे। आमने-सामने के दो भाग एक ही वेष्टन के दोनों सिरों में जुड़ेंगे। अब यदि एक वेष्टन चुम्बकीय क्षेत्र की लम्ब दिशा में होने पर धुरी पर लगभग शून्य घुमाव-बल डालेगा, तो दूसरा वेष्टन ठीक उसी समय चुम्बकीय क्षेत्र के समानान्तर स्थित होने के कारण महत्तम बल डालेगा। अतः धुरी से सम्बद्ध मशीन में अपेक्षाकृत कम चढ़ाव-उतार होगा।

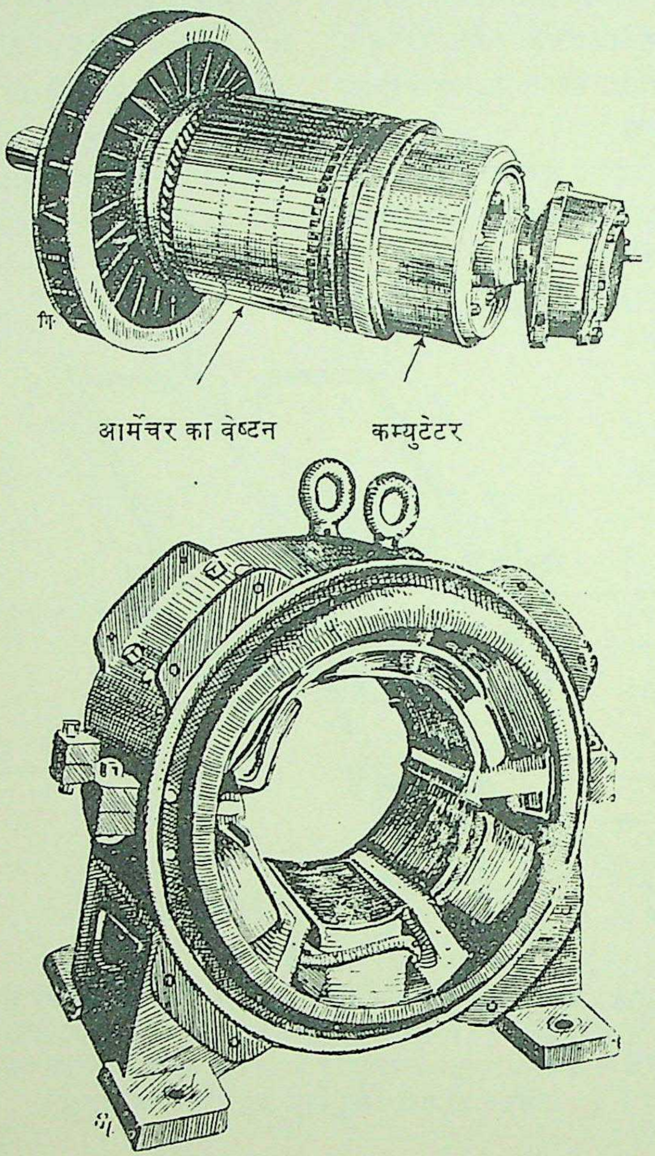

(ऊपर) सरल धारा (डी० सी०) मोटर का 'रोटर'। चित्र में आर्मेचर का वेष्टन और कम्युटेटर तीर के निशानों द्वारा सूचित हैं। बाईं ओर, जो खाँचेदार पहिया-सा लगा है, वह एक प्रकार के पंखे का काम देता है, जो मोटर को ठंडा रखने में मदद देता है। (नीचे) सरल धारा (डी० सी०) मोटर का 'स्टेटर'। वृत्ताकार सजे हुए विद्युत्-चुंबकीय क्षेत्र के ध्रुवों की संख्या पर ध्यान दीजिए।

व्यवहार में विद्युत्-मोटर के घूमनेवाले भाग ('आर्मेचर') में कई वेष्टन एक ढोलनुमा कच्चे लोहे के पिंड पर लपेटे जाते तथा आर्मेचर पर जितने वेष्टन होते हैं, उतने ही जोड़े भागों में कम्युटेटर को भी विभाजित किया जाता है। ऐसे विद्युत्-मोटर से प्राप्त घुमाव-बल का परिमाण आर्मेचर की हर स्थिति में एक-सा बना रहता है। घुमाव-बल को सम बनाने के निमित्त आर्मेचर जिस विद्युत्-चुम्बक के क्षेत्र में घूमता है, उसके ध्रुवों की संख्या भी बढ़ा देते हैं तथा उन्हें एक वृत्त के आकार में रखते हैं, ताकि विरोधी ध्रुव एक-दूसरे के ठीक सामने पड़ें। वास्तव में, सरल विद्युत्-धारा (डी० सी०) की मोटर की बनावट लगभग सरल धारा डायनमो सरीखी ही होती है। बल्कि सच तो यह है कि किसी भी सरल धारा डायनमो से विद्युत्-मोटर का काम लिया जा सकता है।

मोटर के विद्युत्-चुम्बक में चुम्बकत्व का समावेश कराने के लिए उसी बाह्य विद्युत्-धारा को काम में ले आते हैं, जो मोटर के आर्मेचर के वेष्टन में भेजी जाती है। अतः डायनमो की भाँति ही विद्युत्-मोटर को भी इस दृष्टिकोण से तीन जातियों में रख सकते हैं——१. समानान्तरबद्ध, २. श्रेणीबद्ध, तथा ३. मिश्रित बद्ध।

'समानान्तरबद्ध विद्युत्-मोटर' में विद्युत्-चुम्बक के वेष्टन के तार 'क' पतले तथा लम्बे होते हैं; वे आर्मेचर के वेष्टन के साथ समानान्तर जुड़े रहते हैं। 'श्रेणीबद्ध मोटर' में विद्युत्-चुम्बक के वेष्टन में अपेक्षाकृत मोटे तार होते हैं, जिनकी लम्बाई समानान्तरबद्ध मोटरवाले वेष्टन के तार की अपेक्षा कम रहती है। यह वेष्टन 'ख' आर्मेचर के वेष्टन के साथ श्रेणी में जुड़ा रहता है। 'मिश्रित बद्ध मोटर' में विद्युत्-चुम्बक पर दो वेष्टन 'क ख' लपेटे जाते हैं। मोटे तार का वेष्टन आर्मेचर के वेष्टन के साथ श्रेणी में जुड़ा रहता है तथा पतले तार का वेष्टन समानान्तर में (दे० इसी पृष्ठ के तीनों चित्र)। चुम्बक के वेष्टन के साथ 'प्र' प्रतिरोधक (रीआस्टेट) भी लगा रहता है। इसकी सहायता से चुम्बक के वेष्टन में प्रवाहित विद्युत्-धारा का मान घटा-बढ़ा सकते हैं और तदनुसार मोटर की चाल भी घटाई-बढ़ाई जा सकती है।

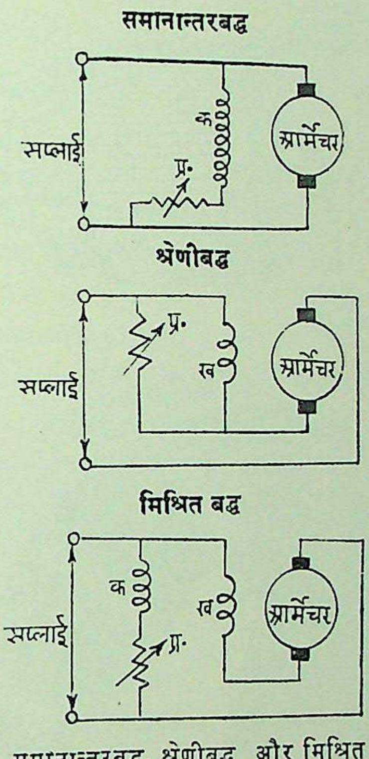

समानान्तरबद्ध, श्रेणीबद्ध और मिश्रित बद्ध मोटरों के सिद्धान्त।

समानान्तरबद्ध सरल धारा मोटर की सब से बड़ी विशेषता यह है कि जिस मशीन को यह चलाती है, उस पर कार्य-भार बढ़े या घटे, हर दशा में मोटर की चाल एक-सी बनी रहती है। अतः समानान्तरबद्ध मोटर प्रायः मशीन के पुर्जे बनाने के यंत्रों, सूत कातने की मशीनों, खराद की मशीनों तथा पानी खींचने के पम्पों के परिचालन के निमित्त प्रयुक्त की जाती हैं। समानान्तरबद्ध मोटर के चुम्बकवाले वेष्टन में सप्लाई की विद्युत्-धारा का अल्पांश ही प्रवाहित होता है। सिलाई की मशीन आदि छोटे यंत्रों को चलाने के लिए भी इसी जाति की विद्युत्-मोटर प्रयुक्त की जाती है।

श्रेणीबद्ध सरल धारा मोटर में जिस क्षण विद्युत्-धारा को प्रवाहित कराना आरम्भ करते हैं, उसी क्षण उसमें घुमाव का अत्यधिक बल उत्पन्न होता है। वास्तव में श्रेणीबद्ध मोटर की चाल जितनी कम होती है, उतना ही अधिक घुमाव-बल वह उत्पन्न करती है। अतः विद्युत्-ट्रेन, ट्राम, एलिवेटर, लिफ्ट तथा क्रेन आदि के परिचालन के लिए श्रेणीबद्ध मोटर ही प्रयुक्त होती हैं, क्योंकि विद्युत्-ट्रेन या क्रेन को चलाना आरंभ करते समय उस पर घुमाव का अत्यधिक बल लगना आवश्यक होता है। ऐसी मोटर को यदि खाली (बिना किसी मशीन से जोड़े हुए) चला दिया जाय, तो बाह्य कार्यभार शून्य होने के कारण इसका आर्मेचर बहुत ही तेजी के साथ चक्कर लगाने लगता है और प्रायः इस क्रिया में इतना अधिक केन्द्रापसारी (सेन्ट्रीफूगल) बल उत्पन्न होता है कि आर्मेचर की धज्जियाँ उड़ जाती हैं! इस दुःसम्भावना को रोकने के निमित्त श्रेणीबद्ध मोटर की धुरी सदैव ही दाँतदार पहिए द्वारा उस मशीन की धुरी से जुड़ी रहती है, जिसको घुमाना अभीष्ट है। अतः मोटर जब कभी 'स्टार्ट' होगी, तभी मशीन को घुमाने का भार उस पर मौजूद होगा और फलतः मोटर खाली नहीं घूम सकेगी।

मिश्रितबद्ध मोटर में कुछ-कुछ अंशों में उपर्युक्त दोनों प्रकार की मोटरों के गुण मौजूद रहते हैं——अर्थात् ये ऐसी मशीनों को चलाने के काम आती हैं, जिनको 'स्टार्ट' करने के निमित्त विशेष घुमाव-बल चाहिए, साथ ही यदि बाह्य कार्य-

भार अचानक कम भी हो जाए, तो भी मोटर की चाल सहसा अत्यधिक नहीं बढ़ सकती। मिश्रित बद्ध मोटर से प्रायः उन मशीनों को घुमाने का काम लिया जाता है, जिनकी धुरी पर 'फ्लाईह्वील' लगा रहता है। फ्लाईह्वील अपने जड़त्व-घूर्ण के कारण मोटर की चाल को सम बनाए रखता है।

मोटर के स्टार्ट करने की विधि

स्पष्ट है कि जब विद्युत्-मोटर का आर्मेचर उसे घेरनेवाले चुम्बकीय क्षेत्र में घूमता है, तो आर्मेचर के वेष्टन में उपपादन द्वारा विद्युत्-धारा उत्पन्न होती है। यह सप्लाई की धारा से प्रतिकूल दिशा में प्रवाहित होती है, क्योंकि इस दशा में मोटर डायनमो सरीखा काम करती है। अवश्य इस तरह वेष्टन में उत्पन्न होनेवाली विद्युत्-धारा सप्लाई की विद्युत्-धारा से कम प्रबल होती है। वस्तुतः आर्मेचर के वेष्टन में उस समय एक क्षीण विद्युत्-धारा ही प्रवाहित होती रहती है, जबकि वह घूमता रहता है। आर्मेचर को घुमाव का बल इसी क्षीण धारा द्वारा प्राप्त होता है। अतः जब मोटर स्थिर दशा में रहती है, उस समय यदि आर्मेचर के वेष्टन-तार के दोनों सिरों को हम कम्युटेटर द्वारा सप्लाई के तारों से जोड़ दें, तो ठीक उसी क्षण आर्मेचर के वेष्टन में से अत्यन्त प्रबल धारा प्रवाहित होगी, क्योंकि उस समय आर्मेचर के वेष्टन में विरोधी दिशा में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्-धारा अभी उत्पन्न हो ही नहीं पाई है। फल यह होगा कि इस अत्यन्त प्रबल धारा के कारण आर्मेचर का वेष्टन तप्त होकर जल जाएगा। इस तरह की दुःसंभावना से बचने के लिए प्रायः शक्तिशाली विद्युत्-मोटर के साथ रेगुलेटर के तार के छल्ले लगे रहते हैं। मोटर स्टार्ट करते समय सप्लाई की विद्युत्-धारा इन छल्लों में से प्रवाहित होती हुई आर्मेचर के वेष्टन में प्रवेश करती है। अतः प्रारम्भ में आर्मेचर की विद्युत्-धारा अधिक प्रबल नहीं होने पाती। आर्मेचर जब घूमने लग जाता है, तब विरोधी दिशा में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्-धारा उत्पन्न

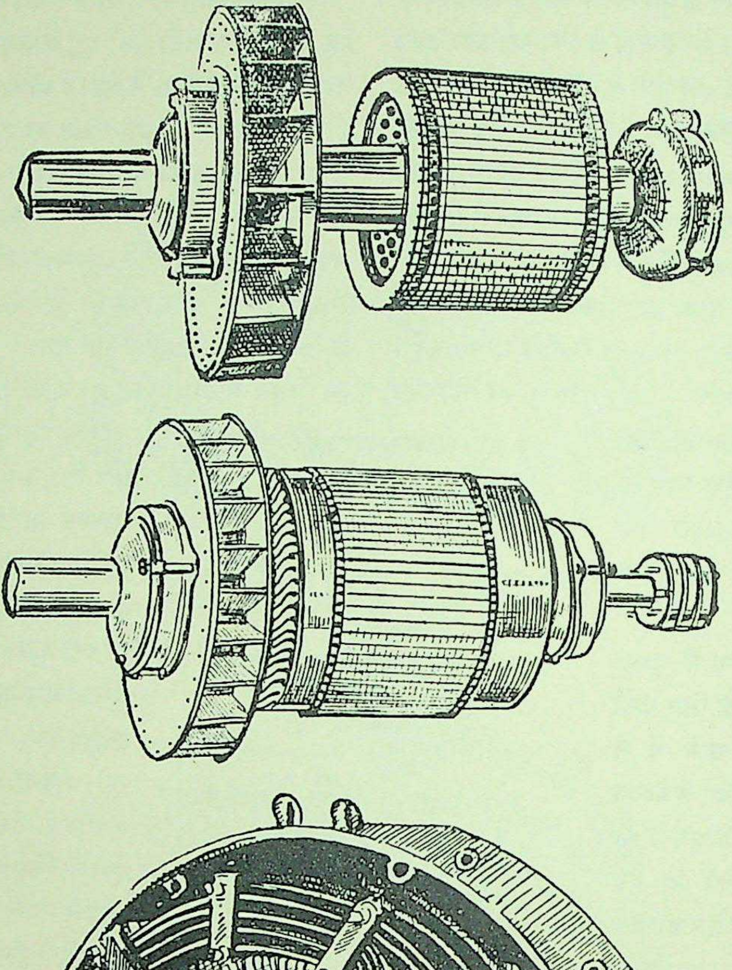

(ऊपर) प्रत्यावर्तक धारा (ए० सी०) मोटर के 'रोटरों' के दो प्रकार :: प्रथम प्रकार के रोटर को इंजीनियरों की भाषा में 'स्क्विरल केज रोटर' कहते हैं। दूसरे प्रकार का रोटर 'स्लिप रिंग रोटर' कहलाता है। दोनों के आर्मेचर के वेष्टनों की बनावट पर ध्यान दीजिए। (नीचे) प्रत्यावर्तक धारा (ए० सी०) मोटर का 'स्टेटर'।

होती है। तदनंतर धीरे-धीरे रेगुलेटर के लीवर को खिसकाकर छल्लों को आर्मेचर की सर्किट से बाहर कर देते हैं। मान लीजिए कि मोटर जिस समय पूरी चाल से घूम रही है, उस समय अचानक पावर-हाउस से आनेवाली विद्युत् रुक गई ! इस क्षण मोटर भी रुक जाएगी। किन्तु रेगुलेटर का लीवर अपनी अन्तिम स्थिति में होगा और पुनः विद्युत्-प्रवाह यदि जारी हुआ, तो विद्युत्-धारा अपनी पूर्ण प्रबलता के साथ आर्मेचर के वेष्टन में प्रवाहित होगी। फलतः आर्मेचर के जल जाने का खतरा उत्पन्न होगा। इस कारण रेगुलेटर इस प्रकार बनाए जाते हैं कि विद्युत्-प्रवाह के रुक जाने पर उसका लीवर पुनः अपनी पूर्वस्थिति पर पहुँच जाए, ताकि जब कभी मोटर में फिर विद्युत्-प्रवाह हो, तो विद्युत्-धारा आर्मेचर के वेष्टन में रेगुलेटर के तार के छल्लों में से होकर ही प्रवाहित हो।

विद्युत्-मोटर के घूमने की दिशा बदलना

विद्युत्-ट्रेन अथवा ट्राम-गाड़ी खींचने के निमित्त प्रयुक्त होनेवाली विद्युत्-मोटर के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके घूमने की दिशा उलटी जा सके। सरल धारा मोटर में सहज ही देखा जा सकता है कि यदि विद्युत्-धारा की दिशा विद्युत्-चुम्बक अथवा आर्मेचर में से किसी एक के वेष्टन में ही बदली जाय, तो आर्मेचर उलटी दिशा में घूमेगा। यदि हम दोनों के वेष्टन में विद्युत्-प्रवाह की दिशा को उलट दें, तो मोटर पूर्ववत् दिशा में ही घूमती रहेगी। अतः मोटर की दिशा बदलने के लिए स्विच का विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है, ताकि इसकी सहायता से यदि विद्युत्-चुम्बक के वेष्टन में विद्युत्-प्रवाह की दिशा उलट जाय, तो आर्मेचर के वेष्टन में दिशा पूर्ववत् बनी रहे। श्रेणीबद्ध सरल धारा मोटर की दिशा बदलने के निमित्त स्विच का प्रबन्ध इस प्रकार किया जाता है कि लीवर की एक स्थिति में यदि विद्युत्-मोटर ट्रेन को आगे खींचती है, तो दूसरी स्थिति में विद्युत्-चुम्बक के वेष्टन में विद्युत्-धारा के प्रवाह की दिशा उलट जाने से वह ट्रेन को पीछे की ओर खींचने लगती है। समानान्तरबद्ध सरल धारा मोटर में उसकी दिशा बदलने के लिए प्रायः ऐसे स्विच का आयोजन करते हैं, जिसकी सहायता से चुम्बक के वेष्टन में विद्युत् के प्रवाह की दिशा को बिना बदले हुए ही आर्मेचर के वेष्टन म विद्युत्-प्रवाह की दिशा बदली जा सके।

प्रत्यावर्तक धारा (ए० सी०) मोटर

किसी भी सरल धारा मोटर के वेष्टन में प्रत्यावर्तक धारा को प्रविष्ट कराने पर वह एक ही दिशा में बराबर घूमेगी, क्योंकि हम देख चुके हैं कि यदि आर्मेचर तथा चुम्बक-वेष्टन दोनों में विद्युत्-धारा की दिशा उलट दी जाय, तो आर्मेचर के घूमने की दिशा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। किन्तु साधारणतः छोटी मोटरें ही ऐसी बनाई जाती हैं कि वे सरल धारा अथवा प्रत्यावर्तक धारा दोनों से ही चलाई जा सकें। ऐसी मोटर "यूनिवर्सल" कहलाती हैं। इस ढंग की मोटर को जब प्रत्यावर्तक धारा से चलाते हैं, तो शक्ति का अपव्यय अधिक होता है।

कल-कारखानों में बड़े पैमाने पर विशुद्ध प्रत्यावर्तक धारा की मोटरें ही प्रयुक्त होती हैं। कारण, इतनी बड़ी मोटरें सरल धारा से नहीं चल सकतीं। उन्हें प्रायः उपपादन (इन्डक्शन) मोटर के नाम से भी पुकारते हैं। इस ढंग की विद्युत्-मोटर में कच्चे लोहे की बाहरी 'केसिंग' पर प्रायः तीन वेष्टन इस प्रकार लपेटे गए होते हैं कि ये एक दूसरे के साथ १२०° का कोण बनाते हैं। इस केसिंग के बीच में कच्चे लोहे के बेलनाकार पिंड पर आर्मेचर के तार लपेटे गए होते हैं, जिनके सिरे एक दूसरे से मिला दिए जाते हैं, ताकि सर्किट बन्द हो जाय। इस आर्मेचर को विशेष नाम 'रोटर' दिया गया है। बाहरी केसिंग को 'स्टेटर' के नाम से पुकारते हैं। स्टेटर के तीनों वेष्टनों में सप्लाई-कम्पनी की तीन प्रत्यावर्तक धाराएँ अलग अलग इस प्रकार प्रवाहित होती हैं कि पहले एक धारा की प्रबलता महत्तम पर पहुँचती है, फिर दूसरी धारा की और अन्त में तीसरी धारा की। इस ढंग की सप्लाई को 'तीन कला (थ्री फेज) की सप्लाई' कहते हैं। फल यह होता है कि सप्लाई की प्रत्यावर्तक धारा जब स्टेटर के वेष्टनों में प्रवाहित होती है, तब इससे उत्पन्न होनेवाला चुम्बक-क्षेत्र धुरी के गिर्द चक्कर लगाता है। इस क्षेत्र के कारण 'रोटर' के वेष्टन में उपपादन द्वारा विद्युत्-धारा बनती है, जिसकी प्रतिक्रिया के बल से 'रोटर' भी घूमने लगता है। स्मरण रहे कि इस ढंग की मोटर के 'रोटर' में सप्लाई की विद्युत्-धारा प्रवेश ही नहीं करती है। अतः कम्युटेटर या ब्रुश का झंझट इस मोटर में नहीं होता। इसीलिए उपपादनवाली मोटरें मजबूत और टिकाऊ ठहरती हैं।

आधुनिक उद्योग-व्यवसाय को विद्युत्-मोटर के रूप में एक ऐसा यंत्र उपलब्ध है, जो सुविधा की दृष्टि से अन्य सभी चालक शक्ति प्रदान करनेवाले यंत्रों से श्रेष्ठ साबित हुआ है। नगर के केन्द्रीय पावर-हाउस से तार अथवा केबुल द्वारा विद्युत्-धारा कारखाने तक लाई जाती है और कारखाने के अन्दर थोड़ी-सी जगह में उपयुक्त आकार की विद्युत्-मोटर फिट करके उसकी सहायता से विद्युत्-शक्ति को यान्त्रिक शक्ति में परिणत कर लेते हैं, जो छोटी-बड़ी हर तरह की मशीनों को चलाने के निमित्त प्रयुक्त होती है।

विद्युत्-शक्ति—(४) गैसों में विद्युत्-धारा का प्रवाह और इलेक्ट्रॉनिकी

विद्युत्-धारा विषयक इस अंतिम प्रकरण में गैसों में विद्युत्-प्रवाह, कैथोड-किरणें, रेडियो-नली, कैथोड-किरण-ऑसिलोग्राफ, एक्स-किरणें तथा फोटो-इलेक्ट्रिक सेल आदि उन विविध चमत्कारों का विवेचन किया गया है, जिनकी बदौलत हमें नियन आदि गैसों के लैम्पों की रंग-बिरंगी छटा, रेडियो, टेलिविजन, एक्स-रे उपकरण तथा इलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क जैसे इलेक्ट्रॉनिकी के अद्भुत करिश्मों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

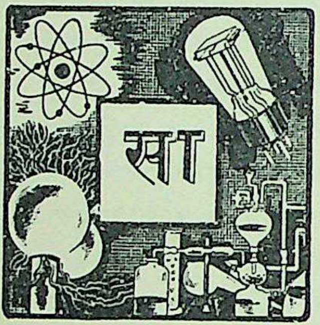

साधारणतया विद्युत्-धारा का प्रवाह वायु में से होकर नहीं हो पाता है। कारण, शुष्क वायु विद्युत् के लिए उत्तम श्रेणी की अचालक है। इसीलिए खंभों पर लगे बिजली ले जानेवाले तार नंगे रखे जाते हैं—उन्हें रबड़ या अन्य अचालक पदार्थों से ढकने की आवश्यकता नहीं होती है——जबकि धरती के अन्दर विद्युत् ले जानेवाले तार पर बढ़िया किस्म की खोल चढ़ानी होती है, जो कि अचालक पदार्थ की बनी होती है।

गैसों में विद्युत्-धारा का प्रवाह

इसका यह अर्थ नहीं है कि हर परिस्थिति में वायु या अन्य गैसें अचालक ही रहेंगी। आकाश में विद्युत् की कौंध आपने देखी होगी। वास्तव में आकाशीय विद्युत् जब वायु म से गुजरती है, तभी विद्युत्-कौंध की चिनगारी उत्पन्न होती है। स्पष्ट है कि ऐसी दशा में वायु विद्युत् की सुचालक बन जाती है। इस सम्बन्ध में आप निम्नलिखित प्रयोग कर सकते हैं——

एक प्रेरक कुंडल (इन्डक्शन-क्वॉयल) लेकर उसके भीतरी कुंडल में बैटरी से विद्युत्-धारा प्रवाहित कराइए, ताकि बाह्य कुंडल के सिरों से जुड़ी धातु की गोलियों के बीच अत्यधिक ऊँचा विभव (वोल्टेज) स्थापित हो जाए। यदि गोलियों के बीच की दूरी अधिक नहीं हुई, तो आप देखेंगे कि गोलियों के बीच विद्युत्-चिनगारी उत्पन्न होती है, जो आकाश की विद्युत्-कौंध की तरह की ही होगी——परन्तु अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर। यदि गोलियों के बीच १ सेन्टीमीटर की दूरी रक्खी जाय, तो इनके दर्मियान विद्युत्-चिनगारी गुजरने के लिए प्रेरक कुंडल द्वारा करीब ३०,००० वोल्ट की विद्युत् उत्पन्न करना आवश्यक होगा। अतः स्पष्ट है कि ऊँचे वोल्टेज-वाली विद्युत् के लिए सामान्य दशा की वायु भी विद्युत्-चालक बन जाती है।

प्रश्न यह है कि ऊँचा वोल्टेज होने पर गैस के अन्दर विद्युत् का प्रवाह क्योंकर होने लगता है? इसका कारण यह है कि गैस के परमाणु के इलेक्ट्रॉन आसानी से पृथक् हो जाते हैं और विद्युत्-क्षेत्र के प्रभाव से वे धन-सिरे की ओर आकृष्ट होकर गति करते हैं। ये ही इलेक्ट्रॉन जब अन्य परमाणुओं से टकराते हैं, तो ये सहज ही उनके इलेक्ट्रॉनों को विलग कर देते हैं और वे इलेक्ट्रॉन पुनः आगे बढ़कर अन्य परमाणु के इलेक्ट्रॉनों को पृथक् करते हैं। इस क्रिया को 'आयनीकरण' का नाम दिया गया है। इसी आयनीकरण के फलस्वरूप इलेक्ट्रॉनों की धारा ऋण-सिरे से धन-सिरे तक प्रवाहित होती है और फलतः गैस में से विद्युत् का प्रवाह होता है।

प्रश्न उठता है कि यदि गैस या वायु का दबाव घटा दिया जाय, तो उसकी विद्युत्-चालकता किस प्रकार प्रभावित होगी? इस प्रश्न के समाधान के लिए वैज्ञानिकों ने काँच की एक चौड़ी नली में गैस भरकर उसमें से विद्युत् प्रवाहित कराने के लिए प्रयोग किए। नली के अन्दर दोनों सिरों पर धातु की एक-एक

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

चकरी लगी थी। तार द्वारा एक चकरी का सम्बन्ध इन्डक्शन-क्वॉयल के धन-सिरे से जोड़ा गया था और दूसरी चकरी का सम्बन्ध इन्डक्शन-क्वॉयल के ऋण-सिरे से। नली के बगल में लगी टोंटी का सम्बन्ध वैकुअम पम्प से स्थापित किया जा सकता था। इन्डक्शन-क्वॉयल इस दशा में छोटे आकार का ही लिया गया, जो बहुत ऊँचे वोल्टेज पर विद्युत् उत्पन्न नहीं करता था। प्रारम्भ में तो नली में से विद्युत् का प्रवाह नहीं हो सका; किन्तु जब वैकुअम पम्प चालू कर दिया गया, तो देखा गया कि कम वोल्टेज पर भी नली के अन्दर पतली टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं की शक्ल में एक चकरी से दूसरी चकरी तक विद्युत् का प्रवाह होने लगा था। अँधेरे कमरे में नली के अन्दर विद्युत्-चिनगारी की लहरें स्पष्ट देखी जा सकती थीं। गैस का दबाव घटाने पर कम वोल्टेज पर ही विद्युत् का प्रवाह क्यों होने लगता है? इसका कारण यह है कि जब दबाव अधिक होता है, तो गैस के अणु-परमाणु एक दूसरे के अत्यन्त निकट होते हैं, अतः विमुक्त हुआ इलेक्ट्रॉन विद्युत् के प्रभाव में थोड़ी दूर ही चल पाता है कि इतने में वह अन्य परमाणुओं से टकरा जाता है। इस विमुक्त इलेक्ट्रॉन में इस समय इतनी अधिक ऊर्जा नहीं होती कि वह अन्य परमाणुओं के इलेक्ट्रॉनों को अलग कर सके, अतः विद्युत्-धारा स्थापित नहीं हो पाती। इसके प्रतिकूल दबाव घटा देने पर गैस के परमाणुओं के बीच दूरी बढ़ जाती है, अतः इलेक्ट्रॉन अपेक्षाकृत लम्बी दूरी तक चलकर अन्य परमाणुओं से टकराते हैं। इस दशा में उनके अंदर इतनी ऊर्जा संगृहीत हो जाती है कि वे परमाणुओं के इलेक्ट्रॉनों को पृथक् करने में समर्थ होते हैं। ये ही पृथक् हुए इलेक्ट्रॉन एक चकरी से दूसरी चकरी तक विद्युत्-धारा के रूप में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार गैस-नली में विद्युत्-प्रवाह स्थापित हो जाता है। उल्लिखित प्रयोग में जब नली के अन्दर गैस का दबाव और घटता है, तब विद्युत्-चिनगारी की रेखाएँ मोटी होकर लगभग समस्त नली में फैल जाती हैं। इस समय ऐसा प्रतीत होता है, मानो नली में एक से दूसरे सिरे तक प्रकाश का चौड़ा स्तम्भ मौजूद हो (दे० इसी पृ० के चित्र में नं० २)! इस प्रकाश-स्तंभ का रंग नली में विद्यमान गैस की जाति पर निर्भर करता है। वायु में इसका रंग गुलाबी होता है; हाइड्रोजन में नीला या लाल तथा कार्बन डाइ-सल्फाइड में सफेद। विज्ञापन के लिए प्रयुक्त नलियों में प्रायः इतने ही दबाव पर नियन आदि गैसें भरी रहती हैं। जब इनके अन्दर से विद्युत्-प्रवाह कराया जाता है, तो समूची नली रंग-बिरंगे प्रकाश से भर जाती है। इसके लिए कुछ सौ वोल्ट की ही बिजली पर्याप्त होती है।

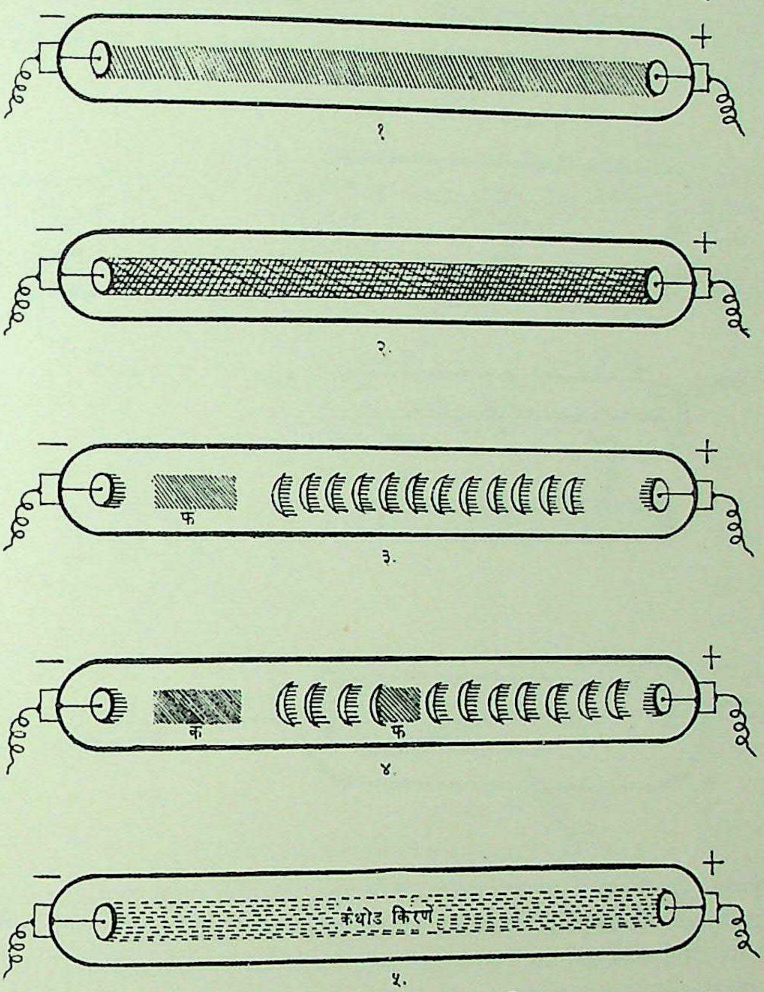

गैस में विद्युत्-धारा का प्रवाह :: १. एक से दूसरी चकरी तक अदृश्य धारा-प्रवाह; २. दबाव कम करने पर दृष्ट प्रकाश-स्तंभ; ३. प्रकाश-स्तंभ का चकरियों में विभाजन और 'फैरेडे का अँधेरा प्रदेश' (फ); ४. 'क्रुक का अँधेरा प्रदेश' (क); ५. कैथोड-किरणों की उत्पत्ति।

दबाव जब और अधिक घटाते हैं, तो गैस-नली में विशेष रूप से तीन बातें प्रकट होती हैं। एक तो यह कि नली का प्रकाश-स्तम्भ चकरियों में विभाजित हो जाता है और ये चकरियाँ एक दूसरे से अन्धकार-प्रदेश द्वारा पृथक् रहती हैं। दूसरी यह कि ऋण-प्लेट पर एक चमक उत्पन्न होती है। तीसरी यह कि ऋण-प्लेट की चमक और चकरियों के बीच एक चौड़ा अँधेरा प्रदेश 'फ' प्रकट हो जाता है, जिसे 'फैरेडे का अँधेरा प्रदेश' कहते हैं। इस दशा में प्रारम्भ में जितनी हवा नली के अंदर मौजूद थी, उसका केवल $\frac{१}{२५०००}$ वाँ भाग ही बच रहता है (दे० पिछले पृ० के चित्र में नं ३)। दबाव और अधिक घटने पर ऋण-प्लेट की चमक इस प्लेट को छोड़कर आगे सरक जाती है। ऋण-प्लेट और इस चमक के दर्मियान एक और अंधेरा प्रदेश 'क' प्रकट होता है, जिसे 'क्रुक का अंधेरा प्रदेश' कहते हैं (उक्त चित्र में नं० ४)।

दबाव और भी कम करने पर क्रुक का अँधेरा प्रदेश करीब-करीब नली के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल जाता है और शेष सभी विशिष्टताएँ धन-प्लेट की ओर सिमटकर लगभग विलुप्त-सी हो जाती हैं। इस समय नली का वह भाग, जो ऋण-प्लेट के ठीक सामने पड़ता है, प्रतिदीप्ति से चमकने लगता है। यदि नली सोडामिश्रित काँच की बनी हो, तो नली की दीवार की प्रतिदीप्ति की चमक पीतवर्णमिश्रित हरे रंग की होती है। इस दशा में ऋण-प्लेट से लम्बवत् चमकदार किरणें चलती हुई जान पड़ती हैं। यह अवस्था उस समय प्राप्त होती है, जब गैस का दबाव केवल $\frac{१}{१०००}$ मिलीमीटर रह जाता है!

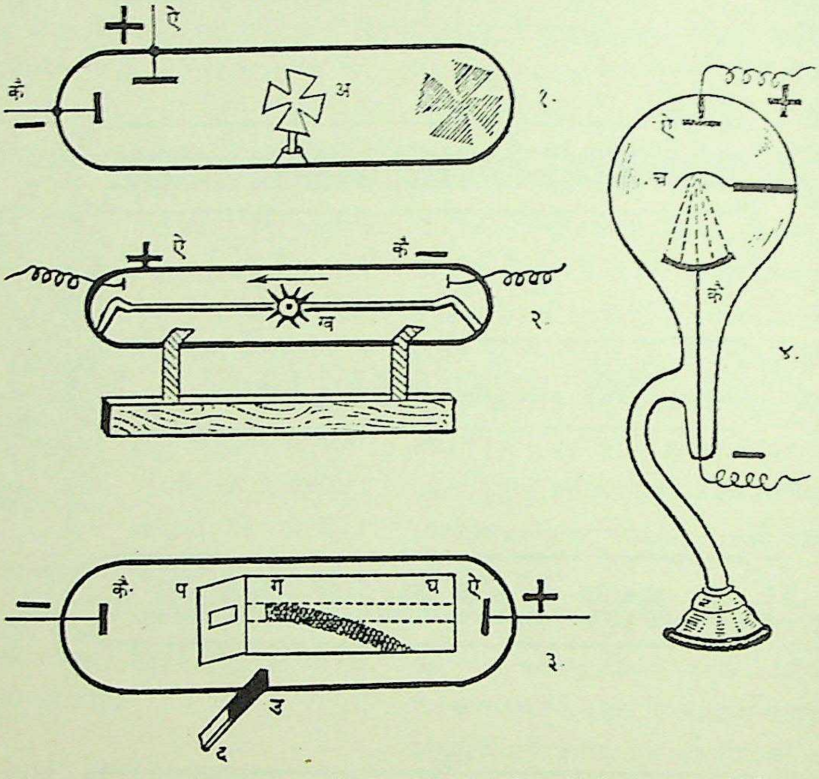

कैथोड-रश्मि के गुण विषयक कुछ प्रयोग :: १. वे सीधी रेखा में ही गमन करती हैं; २. वे नन्हें कणों की बौछार हैं; ३. ये कण ऋण-विद्युत्मय होते हैं; ४. किसी पदार्थ पर गिरने पर ये उसमें ताप उत्पन्न करते हैं (विवरण के लिए दे० पृ० ३१४७ का मैटर)।

यदि नली के अंदर गैस का दबाव और भी कम करें, तो विद्युत् का प्रवाह गैस में होकर नहीं होने पाता। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि नली के अन्दर विद्युत्-प्रवाह स्थापित करने के लिए गैस के परमाणुओं की उपस्थिति आवश्यक है, अर्थात् विद्युत्-प्रवाह में गैस के परमाणु सक्रिय भाग लेते हैं।

कैथोड-रश्मियाँ

ऊपर के प्रयोगों में बतलाया जा चुका है कि जिस समय गैस-नली के समस्त भाग में 'क्रुक का अँधेरा प्रदेश' व्याप्त हो जाता है, उस समय ऋण प्लेट ('कै' या कैथोड-प्लेट) के सामने नली की दीवार में चमक उत्पन्न होती है, मानो कैथोड-प्लेट से विशेष जाति की किरणें निकल रही हों, जो दीवार में चमक पैदा करती हैं। अतः शुरू-शुरू में इस चमक को 'कैथोड-रश्मि' का नाम दिया गया। किन्तु इसकी असलियत मालूम करने के लिए प्रयोगों का तारतम्य जारी रहा और अन्त में यह सिद्ध किया जा सका कि वास्तव में ये किरणें नहीं हैं, बल्कि केवल ऋण-विद्युत्-कणों की तीव्र बौछार है। ऋण-विद्युत् के इन कणों को अब 'इलेक्ट्रॉन' के नाम से पुकारते हैं, यद्यपि प्रारंभिक नामकरण के कारण, गैस-नली में उत्पन्न होनेवाले इलेक्ट्रॉनों की बौछार अब भी 'कैथोड-रश्मियाँ' कहलाती है। कैथोड-रश्मियों के गुण संक्षेप में ये हैं—

१: ये रश्मियाँ सदैव कैथोड-प्लेट ('कै') की सतह से समकोण दिशा में जाती हैं। धन-प्लेट 'ऐ' की स्थिति का कोई भी प्रभाव कैथोड-किरणों की दिशा पर नहीं पड़ता।

२. यदि कैथोड-रश्मियों के मार्ग में टिन या अबरक आदि की आकृति 'अ' रख दी जाय, तो इस [illegible] के पीछेवाली की दीवार पर उसी आकृति की छाया प्रकट होती है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अवरक की आकृति के पीछे के भाग में ये रश्मियाँ नहीं पहुँच पातीं——अर्थात् प्रकाश-किरणों की भाँति कैथोड-रश्मियाँ भी केवल सीधी रेखा की दिशा में ही गमन कर सकती हैं (दे० पृ० ३१४६ के चित्र में नं० १)।

३. प्रयोगार्थ, गैस-नली में एक सिरे से दूसरे सिरे तक काँच की दो क्षेत्रिज समानान्तर पटरियों पर एक नन्हा-सा पहिया 'ख' धुरी के सहारे रख दिया गया। पहिए के घेरे पर नन्हें-नन्हें अबरक के हत्थे लगे थे। विद्युत्-प्रवाह जारी करने पर देखा गया कि पहिया तीर की दिशा में नाचता हुआ कैथोड-प्लेट 'कै' से धन-प्लेट 'ऐ' तक चला गया! नली में विद्युत्-प्रवाह की दिशा को उलट देने पर पहिया पुनः नाचता हुआ चलने लगा। किंतु इस बार वह उलटी दिशा में गया, क्योंकि अब कैथोड-प्लेट तथा धन-प्लेट की स्थितियाँ परस्पर बदल दी गई थीं। इससे सिद्ध हो सका कि कैथोड-रश्मियाँ वास्तव में नन्हें पदार्थ कणों की बौछार हैं, जो अपने संवेग द्वारा अन्य चीजों को वेग प्रदान कर सकती हैं (दे० उक्त चित्र में न० २)।

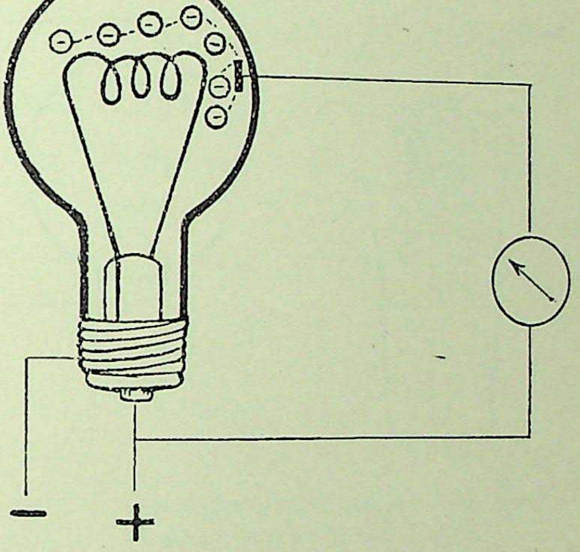

'एडिसन-प्रभाव' :: (विवरण के लिए दे० पृ० ३१४८ का मैटर)।

४. कैथोड-प्लेट अवतल शक्ल की बनाई गई, ताकि इससे लम्बवत् चलनेवाली रश्मियाँ प्लेट के वक्रता-केन्द्र पर एकत्र हो सकें। जब केन्द्रविन्दु 'च' पर प्लैटिनम का टुकड़ा रखा गया, तो कैथोड-रश्मि के कणों के आघात से यह टुकड़ा श्वेत तप्त होकर दमकने लगा। अतः हम कह सकते हैं कि कैथोड-रश्मियाँ जब किसी पदार्थ पर गिरती हैं, तो ये उसमें गरमी उत्पन्न करती हैं (दे० उक्त चित्र में नं० ४)।

५. फिर नली के निकट जब चुम्बक-लोहा ले जाया गया, तो कैथोड-रश्मिपुंज का मार्ग एक ओर को मुड़ गया। मार्ग-रेखा के मुड़ने की दिशा से यह सिद्ध किया जा सका कि कैथोड-किरण के नन्हें कण (इलेक्ट्रॉन) वास्तव में ऋण-विद्युत्मय होते हैं (दे० उक्त चित्र में नं० ३)।

६. नली के निकट यदि ऋण-विद्युत् आवेष्टित प्लेट 'प' ले जाई जाए, तो उस दशा में कैथोड-किरणपुंज उससे दूर हटता है (दे० उक्त चित्र में नं० ३)। यह भी इस बात का प्रमाण है कि इलेक्ट्रॉन ऋण-विद्युत्युक्त ही होते हैं।

७. काँच या बैरियम प्लैटोसायनाइड लगी प्लेट पर जब कैथोड-रश्मियाँ गिरती हैं, तो प्रतिदीप्ति की चमक (ग घ) उत्पन्न होती है (दे० उक्त चित्र में नं० ३)।

८. गैसों में से गुजरने पर कैथोड-रश्मियाँ उनके परमाणुओं के इलेक्ट्रॉनों को पृथक् कर देती हैं, अर्थात् ये गैसों का आयनीकरण कर सकती हैं।

९. सब से पहले ब्रिटिश वैज्ञानिक टॉमसन ने विशेष प्रयोगों द्वारा कैथोड-रश्मि के कण——'इलेक्ट्रॉन'——की विद्युत्-मात्रा की नाप की। फिर अमेरिकन वैज्ञानिक मिलिकन ने इसकी सही नाप ज्ञात की। इस प्रकार इलेक्ट्रॉन की विद्युत्-मात्रा $४\cdot८ \times १०^{-१०}$ स्थिर विद्युत् इकाई होती है। मिलिकन ने निर्विवाद रूप से यह भी सिद्ध किया कि इलेक्ट्रॉन ही विद्युत्-मात्रा की क्षुद्रतम इकाई है। विद्युत्-मान सदैव इलेक्ट्रॉन विद्युत्-मात्रा के पूर्णाङ्क गुने में ही प्राप्त हो सकते हैं।

१०. विशेष प्रयोगों द्वारा इलेक्ट्रॉन का भार भी मालूम किया गया है, जो एक हाइड्रोजन-परमाणु के भार का $\frac{१}{१८४०}$ होता है! यह भार ९×१०^{-२८} ग्राम निकलता है!

११. नली के अन्दर कैथोड-रश्मि के इलेक्ट्रॉन-कण तीव्र वेग से चलते हैं। यह वेग प्रकाश के वेग का लगभग एक-तिहाई होता है।

१२. भारी परमाणुभारवाली धातुओं पर यदि कैथोड-किरणें आघात करती हैं, तो इन धातुओं से एक्स-किरणें विकीरित होती हैं (देखिए पृ० ३१५२ का चित्र)।

१३. नली के अन्दर चाहे कोई-सी भी गैस हो, हर दशा में कम दबाव पर विद्युत् प्रवाहित कराने पर हमें कैथोड-किरणें (इलेक्ट्रॉनों की बौछार) ही मिलती हैं। स्पष्ट है कि ये इलेक्ट्रॉन हर गैस के परमाणु में मौजूद होते होंगे। चूंकि सभी पदार्थों

से प्राप्त होनेवाले इलेक्ट्रॉन हर तरह से समान होते हैं, अतः यह निश्चित है कि हर पदार्थ के परमाणुओं में इलेक्ट्रॉन अवश्य मौजूद होते हैं।

इलेक्ट्रॉनिकी

परमाणु से मुक्त हुए इलेक्ट्रॉन 'स्वतंत्र इलेक्ट्रॉन' कहलाते हैं। वैज्ञानिकों ने इन स्वतंत्र इलेक्ट्रॉनों का विस्तृत रूप से अध्ययन किया है और इन्हें वश में करके उन्होंने अनेक लाभकारी यंत्र-उपकरणों का निर्माण किया है, जिनमें रेडियो-नली, फोटो-इलेक्ट्रिक सेल, कैथोड-किरण - ऑसिलोग्राफ, एक्स-किरण-नली तथा इलेक्ट्रॉन-सूक्ष्मदर्शक प्रमुख हैं। स्वतंत्र इलेक्ट्रॉनों पर नियंत्रण प्राप्त कर उनका यांत्रिक उपयोग करने के विज्ञान को ही 'इलेक्ट्रॉनिकी' का नाम दिया गया है।

रेडियो-नली, जिसे 'इलेक्ट्रॉन-नली' भी कहते हैं, एक ऐसा उपकरण है, जो पूर्ण अथवा आंशिक वैकुअम में इलेक्ट्रॉन की प्रवाह-धारा का नियंत्रण करता है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि 'रेडियो-नली' के आविष्कार ने ही रेडियो-रिसीवर, टेलिविजन तथा रेडियो-टेलिफोन को संभव बनाया। रेडियो-नली के आविष्कार का श्रीगणेश उस समय हुआ जब १८८३ ई० में एडिसन ने यह देखा कि विद्युत्-लैम्प के फिलामेण्ट से ऋण-विद्युत्मय कण विसर्जित होते हैं। यह चमत्कार 'एडिसन-प्रभाव' के नाम से पुकारा गया (दे० पृ० ३१४७ का चित्र)।

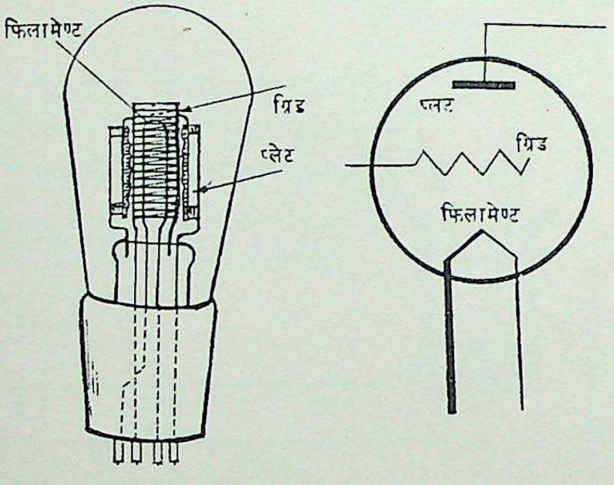

(बाईं ओर) आधुनिक त्रिध्रुवी इलेक्ट्रॉन-नली; (दाहिनी ओर) उसी की रचना का मानचित्र।

'फ्लेमिङ्ग वॉल्व' या 'द्विध्रुवी इलेक्ट्रॉन-नली'

सन् १९०४ ई० में फ्लेमिङ्ग ने एडिसन की खोज के आधार पर सर्वप्रथम रेडियो-नली का निर्माण किया, जिसे उस समय 'फ्लेमिङ्ग-वॉल्व' का नाम दिया गया था। यह इलेक्ट्रॉन-नली काँच के एक बल्ब की बनी थी, जिसमें से हवा लगभग पूर्णतः बाहर निकाल ली गई थी। इस बल्ब में फिलामेण्ट में से विद्युत्-धारा अल्प वोल्टेज की एक बैटरी से प्रवाहित कराई जाती है, जिससे फिलामेण्ट तार गरम हो जाता है। अतः इसमें से इलेक्ट्रॉन बाहर निकलते हैं। बल्ब में फिलामेण्ट से अलग कुछ दूरी पर धन-प्लेट (ऐनोड) लगी रहती है, जिसका संबंध ऊँचे वोल्टेज की बैटरी के धन-सिरे से जुड़ा रहता है। इस बैटरी के ऋण-सिरे को छोटी बैटरी के धन-सिरे से जोड़ देते हैं। ऐनोड-प्लेट चूँकि धन-सिरे से जुड़ी होती है, अतः फिलामेण्ट से निकलनेवाले सभी इलेक्ट्रॉन खिंचकर ऐनोड पर पहुँचते हैं और इस प्रकार फिलामेण्ट से ऐनोड तक होते हुए विद्युत्-परिपथ पूरा हो जाता है।

फ्लेमिङ्ग वॉल्व में फिलामेण्ट तथा ऐनोड-प्लेट ये दो ही मुख्य अंग होते हैं। अतः ऐसे वॉल्व को 'द्विध्रुवी इलक्ट्रॉन-ट्यूब' (डायोड) कहा जाता है। इसमें एक ध्रुव (फिलामेण्ट) इलेक्ट्रॉन का निस्सरण करता है और दूसरा ध्रुव (ऐनोड) पहले ध्रुव की अपेक्षा धन-वोल्ट पर रखा जाता है, तभी नली में से होकर विद्युत्-धारा का प्रवाह होता है। स्पष्ट है कि यदि ऐनोड नली के फिलामेण्ट की अपेक्षा ऋण-वोल्ट पर हो, तो इलेक्ट्रॉन ऐनोड की ओर न जा सकेंगे और इसलिए विद्युत्-धारा का प्रवाह भी न हो पाएगा। अतः इलेक्ट्रॉन-नली में से होकर धारा केवल एक ही दिशा में बह सकती है, जबकि ऐनोड - प्लेट ऊँचे वोल्ट पर हो और फिलामेण्ट नीचे वोल्ट पर। प्रारम्भिक दिनों में द्विध्रुवी इलेक्ट्रॉन - नली रेडियो-तरंगों के परिचायक (डिटेक्टर) का काम करने के लिए प्रयुक्त की गई थी। एरियल से आनेवाले रेडियो-तरंगों के दोलन को फिलामेण्ट में प्रविष्ट कराने पर ऐनोड-परिपथ में एक दिशा में बहनेवाली सरल धारा प्राप्त होती थी, जो आवर्द्धित भी होती थी। किन्तु आजकल द्विध्रुवी इलेक्ट्रॉन-नली बहुधा प्रत्यावर्ती (ए०सी०) धारा को सरल धारा (डी० सी०) में परिवर्तित करने के लिए ही प्रयुक्त होती है। इसके लिए अकेली एक इलेक्ट्रॉन-नली काम में लाएँ, तो उस दशा में ऐनोड-परिपथ में प्रत्यावर्ती धारा के हर चक्र के आधे समय तक ही सरल धारा बहती है, जबकि ऐनोड धन-विभव पर होता है, शेष आधे समय में इस परिपथ में धारा नहीं बह पाती। इस आयोजन को 'अर्द्धतरंग ऋजुकारी' कहते हैं (दे० पृ० ३१४९ का ऊपरी मानचित्र)। 'पूर्णतरंग ऋजुकारी' आयोजन में दो इलेक्ट्रॉन-

नलियाँ इसी पृष्ठ के निचले चित्र के अनुसार जोड़ी जाती हैं। चित्र से स्पष्ट है कि चक्र के आधे समय तक धारा नली १ में से होकर बहती है और शेष आधे समय तक नली २ में से होकर। अतः परिपथ के भाग क ख में हर समय क से ख की दिशा में सरल धारा का प्रवाह होता रहता है।

'त्रिध्रुवी इलेक्ट्रॉन-नली'

जे० ए० फोरेस्ट ने फ्लेमिंग की द्विध्रुवी नली में एक महत्वपूर्ण सुधार किया (दे० पिछले पृ० का चित्र)। उसने फिलामेण्ट और ऐनोड-प्लेट के दर्मियान धातु के तार की एक जाली लगाई, जिसे 'ग्रिड' कहते हैं। इस तरह नली में दो के बजाय तीन प्रमुख अंग (ध्रुव) लगे। इसीलिए इसे 'त्रिध्रुवी इलेक्ट्रॉन नली' (ट्रायोड) का नाम दिया गया। यदि 'ग्रिड' और फिलामेण्ट को बाह्य परिपथ से जोड़ दिया जाय, जिसमें प्रत्यावर्ती धारा की प्रबलता या वोल्टेज के मान में परिवर्तन होते हों, तो ये परिवर्तन ऐनोड-प्लेट के परिपथ में आवर्द्धित होकर प्रकट हो सकेंगे। चूंकि ग्रिड स्वयं फिलामेण्ट के अत्यंत निकट होता है, अतः ग्रिड के विभव-परिवर्तन द्वारा प्लेट-धारा अधिक प्रभावित होती है, अर्थात् ग्रिड लगाने के कारण इलेक्ट्रॉन-नली अधिक संवेदनशील बन जाती है। इसीलिए ग्रिड-फिलामेण्ट-परिपथ पर आरोपित होनेवाले अत्यल्प वोल्टेज या धारा-परिवर्तन भी त्रिध्रुवी नली द्वारा आवर्द्धित होकर प्लेट-परिपथ में परिलक्षित हो जाता है। इस प्रकार वोल्ट के करोड़वें भाग के परिवर्तन भी नली की नजर से नहीं चूकने पाते !

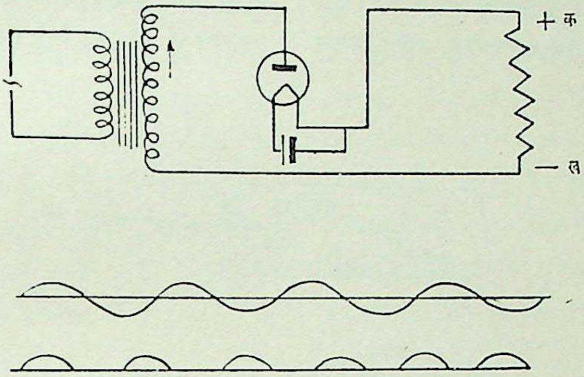

(ऊपर) अर्द्धतरंग ऋजुकारी; (नीचे) अर्द्धतरंग ऋजुकारी से प्राप्त धारा।

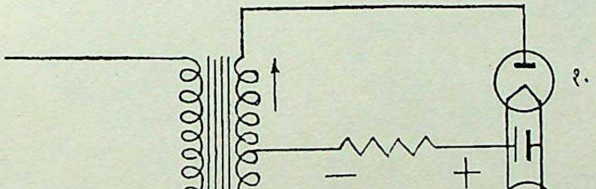

(ऊपर) पूर्णतरंग ऋजुकारी; (नीचे) पूर्णतरंग ऋजुकारी से प्राप्त धारा (प्रस्तुत और पिछले पृष्ठ का मैटर देखिए)।

इलेक्ट्रॉन-नली में केवल स्वतंत्र इलेक्ट्रॉन ही हरकत करते हैं— इसके किसी भी पुर्जे में यांत्रिक हरकत नहीं होती। इलेक्ट्रॉन का वेग बहुत अधिक होता है, अतः यह नली सैकण्ड के लाखवें भाग में होनेवाले विद्युत्-परिवर्तन को भी पकड़ने में समर्थ होती है।

इस विशिष्टता के कारण त्रिध्रुवी नली का उपयोग रेडियो के क्षेत्र में रेडियो-तरंगों के उत्पादन, उक्त तरंगों को ग्रहण करने तथा उन पर माइक्रोफोन की धारा को आरोपित करने (मूर्च्छना) के लिए बहुतायत से किया जाता है।

चतुर्ध्रुवी नली

त्रिध्रुवी नली का उपयोग यदि उच्च आवृत्ति-वाली रेडियो-तरंगों के लिए किया जाय, तो विशेष कारणों से नली का कार्य अस्थिर हो जाता है। इस दोष को दूर करने के लिए ऐनोड और ग्रिड के बीच में एक और ग्रिड लगा देते हैं। इस ग्रिड को धन-विभव पर रखते हैं, किन्तु यह विभव ऐनोड-विभव से कम रहता है। इस अतिरिक्त ग्रिड को 'स्क्रीन ग्रिड' का नाम दिया गया है। स्क्रीन ग्रिड लगाने से नली की प्रवर्धन-क्षमता में वृद्धि हो जाती है।

आधुनिक रेडियो के क्षेत्र में विभिन्न कार्यों के लिए ऐसी इलेक्ट्रॉन-नलियाँ भी प्रयुक्त होती हैं, जिनमें कुल ५ ध्रुव होते हैं-—प्लेट, फिलामेण्ट तथा तीन ग्रिड। इस प्रकार की नलियों को 'पंचध्रुवी नली' कहते हैं। इसी प्रकार छः ध्रुवी तथा सप्तध्रुवी नलियाँ भी बनाई गई हैं। ऐसी वाल्वों में आयोजित अतिरिक्त ध्रुवों के कारण नली की कार्यक्षमता काफी बढ़ जाती है।

कैथोड-किरण-ऑसिलोग्राफ

यह यंत्र एक काँच की नली होता है, जिसके अंदर कैथोड-किरणें उत्पन्न करने का प्रबन्ध रहता है। नली के एक सिरे पर कैथोड लगा रहता है, जिसमें से इलेक्ट्रॉन-कणों का निर्यात होता है। सामने का दूसरा सिरा चौड़ा होता है, जिस पर ऐसे रासायनिक पदार्थों का लेप चढ़ा होता है, जो कि कैथोड-किरणों के स्पर्श से क्षणिक चमक उत्पन्न करते हैं। नली के अन्दर कैथोड से आगे जानेवाली बारीक कैथोड-किरण को दाहिने-बाएँ तथा ऊपर-नीचे हिलाने-डुलाने का भी प्रबन्ध रहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नली के अन्दर ही धातु की प्लेटों के दो जोड़े लगे रहते हैं। एक जोड़ी प्लेटें परस्पर समानान्तर खड़ी रहती हैं और दूसरी जोड़ी प्लेटें आड़ी स्थिति में परस्पर समानान्तर लगी रहती हैं। प्रत्येक जोड़ी की एक प्लेट यदि धन-विभव पर होती है, तो दूसरी उसी क्षण ऋण-विभव पर होती है। कैथोड-फिलामेण्ट के आगे थोड़ी ही दूरी पर एक ऐनोड-प्लेट लगी होती है, जिसके केन्द्र पर बारीक सूराख बना रहता है। बड़ी बैटरी द्वारा या अन्य तरीकों से प्लेट के विभव को कैथोड के विभव से कई सौ वोल्ट ऊँचा रखते हैं। अतः कैथोड-फिलामेन्ट से निकलनेवाले इलेक्ट्रॉन तीव्र वेग प्राप्त कर लेते हैं। उनमें से अधिकांश तो ऐनोड-प्लेट पर रुक जाते हैं, केवल उनकी अत्यंत पतली-सी किरण प्लेट के केन्द्र पर बने सूराख में से होकर आगे जाती है, जो नली की सामनेवाली दीवार पर बिंदु सरीखी चमक उत्पन्न करती है (दे० इसी पृ० के चित्र में नं० १)।

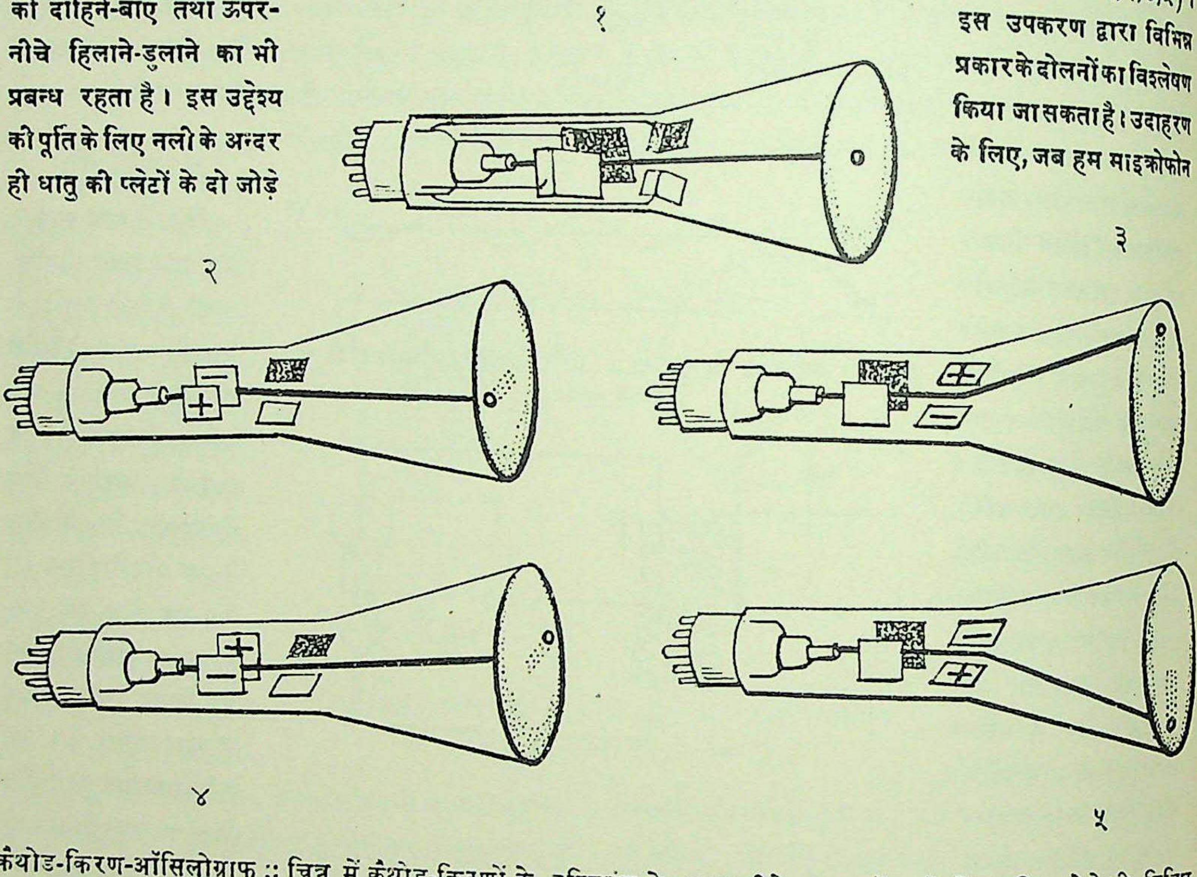

कैथोड-किरण-ऑसिलोग्राफ :: चित्र में कैथोड-किरणों के रश्मिपुंज के ऊपर-नीचे या दाएँ-बाएँ विस्थापित होने की विविध परिस्थितियाँ दिग्दर्शित की गई हैं (विवरण के लिए इसी पृष्ठ का मैटर देखिए)।

नली के अन्दर लगी दोनों खड़ी समानान्तर प्लेटों के बीच विभवान्तर स्थापित करने पर कैथोड-किरण बगल में धन-विभववाली प्लेट की ओर विस्थापित होती है। इसी प्रकार आड़ी प्लेटों के बीच विभवान्तर स्थापित करने पर किरण ऊपर या नीचे की ओर हटती है (दे० इसी चित्र में नं० २, ३, ४, ५)।

इस उपकरण द्वारा विभिन्न प्रकार के दोलनों का विश्लेषण किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, जब हम माइक्रोफोन के सामने बोलते हैं, तो माइक्रोफोन-परिपथ की धारा में विशेष प्रकार के चढ़ाव-उतार पैदा होते हैं। इस चढ़ाव-उतार का चित्रांकन कैथोड-किरण-ऑसिलोग्राफ द्वारा आसानी से किया जा सकता है। विधि इस प्रकार होगी — खड़ी प्लेटों को एक कन्ट्रोल-परिपथ से जोड़ देते हैं। उक्त कन्ट्रोल-परिपथ आरम्भ में एक प्लेट पर धन-विभव और दूसरी पर ऋण-विभव स्थापित करता है, अतः कैथोड-किरण का चमकीला बिन्दु नली की दीवार पर एक ओर प्रकट होता है। यह परिपथ अब धीरे-धीरे विभवान्तर को उलट देता है,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अतः कैथोड-किरण भी धीरे-धीरे क्षैतिज रेखा पर होती हुई दीवार की स्क्रीन के मध्यबिन्दु से गुजरकर दूसरे सिरे पर पहुँच जाती है। ठीक इसी क्षण कन्ट्रोल-परिपथ अचानक विभव को उलट देता है और किरण तुरन्त कूदकर फिर अपने रवाना होनेवाले बिंदु पर पहुँच जाती है और एक बार फिर दूसरे सिरे की ओर शनैः-शनैः सरकती है। इसी क्रिया की बार-बार पुनरावृत्ति होती रहती है। किरण के एक सिरे से दूसरे सिरे तक सरकने की क्रिया भी काफी तेजी के साथ होती है--प्रति सैकण्ड हजारों बार। अब क्षैतिज प्लेटों को माइक्रोफोन-धारा की सर्किट से जोड़ देते हैं। स्पष्ट है कि इन प्लेटों के विभव के परिवर्तन माइक्रोफोन-धारा के चढ़ाव-उतार के अनुरूप होंगे और इस कारण कैथोड-किरण का विस्थापन ऊपर-नीचे दिशा में होगा। फलतः इसी पृ० के चित्र में नं० १ के अनुसार स्क्रीन पर चमकीली तरंग-रेखा हमें मिलेगी। इससे हम सहज ही जान सकते हैं कि माइक्रोफोन के पर्दे में कम्पन किस ढंग के हो रहे हैं।

टेलिविजन-रिसीवर में भी कैथोड-किरण-ऑसिलोग्राफ का उपयोग होता है। वहाँ ऑसिलोग्राफ के मसालेवाले पर्दे पर गिरनेवाली इलेक्ट्रॉन-किरण समानान्तर प्लेटों द्वारा इस प्रकार नियमित होती है कि वह पर्दे पर तेजी से इधर से उधर हरकत करती हुई ऊपर से नीचे तक पहुँच जाती है। यह क्रिया इतनी तेज रफ्तार से सम्पादित होती है कि किरणें पर्दे पर प्रति सैकण्ड २५-३० बार समूचे चित्र का चित्रांकन कर लेती हैं। दूर से आनेवाली टेलिविजन की रेडियो-तरंगों की प्रबलता के अनुपात में ही कैथोड-किरण की तीव्रता बदलती रहती है। अतः पर्दे पर एक-एक करके विभिन्न चमक के बिन्दु बनते-बिगड़ते जाते हैं। परन्तु आँख को ऐसा प्रतीत होता है कि पर्दे पर समूचा बिम्ब एक साथ ही दिखाई दे रहा है। चूँकि दृष्टि-निर्बन्धता के कारण नेत्र के रेटिना पर बननेवाला बिम्ब सामने की वस्तु के हट जाने के लगभग $\frac{1}{10}$ सैकण्ड बाद तक भी बना रहता है, अतः पर्दे पर बननेवाले चित्र के आरंभ के भाग का असर रेटिना से अभी मिटने भी नहीं पाता कि पर्दे पर चित्र के अन्तिम भाग का भी निर्माण हो जाता है और ऐसा लगता है, मानो समूचा चित्र एक साथ ही दिखाई दे रहा है!

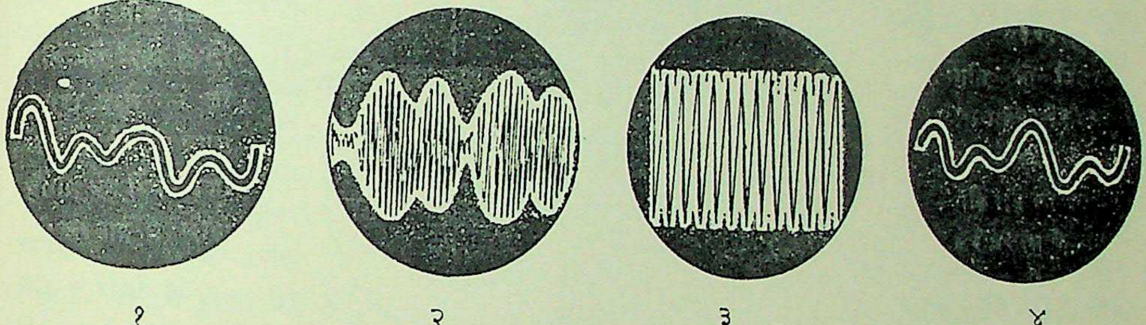

कैथोड-किरण-ऑसिलोग्राफ द्वारा माइक्रोफोन-परिपथ की धारा में विविध प्रकार के उतार-चढ़ाव का चित्रांकन (विवरण के लिए प्रस्तुत और पिछले पृष्ठ का मैटर पढ़िए)।

यदि क्षैतिज प्लेटों को रेडियो की अविच्छिन्न वाहक-तरंगों के सर्किट से जोड़ा जाय, तो हमें इसी चित्र के नं० २ के अनुसार समरूप की तरंगें मिलती हैं। उधर नं० ३ में कैथोड-किरण-ऑसिलोग्राफ के पर्दे पर प्राप्त होनेवाली वह आकृति दिखाई गई है, जो हमें उस समय प्राप्त होती है, जब रेडियो की वाहक-तरंगों (कैरियर वेव्ज) पर माइक्रोफोन की उतार-चढ़ाववाली धारा (मूर्च्छनायुक्त रेडियो-तरंगें) आरोपित की गई होती है और इनका विश्लेषण ऑसिलोग्राफ द्वारा किया जाता है। रेडियो-तरंगें रिसीवर-यंत्र में ग्रहण किए जाने पर ऋजुकारी-नली में से गुजरने के उपरान्त जब ऑसिलोग्राफ में भेजी जाती हैं, तो इसी पृष्ठ के चित्र के नं० ४ के अनुसार आकृति प्राप्त होती है, जो इसी चित्र के नं० १ के ठीक अनुरूप ही होती है।

एक्स-किरणें

बात १८९५ ई० की है। म्यूनिख के प्रोफेसर विल्हेम रांजन गैस-नली में विद्युत्-प्रवाह के प्रयोग कर रहे थे। जब नली के अंदर गैस का दबाव इतना कम हो गया कि लगभग समस्त नली में 'क्रुक का अँधेरा प्रदेश' छा गया, तो कैथोड-किरणें कैथोड की सामनेवाली नली की दीवार पर गिरकर चमक उत्पन्न करने लगीं। तभी प्रोफेसर ने देखा कि नली के निकट रखे हुए बेरियम लवण के रवे विचित्र आभा से चमकने लगे! रांजन ने सोचा कि कैथोड-किरणें तो काँच को पार कर ही नहीं सकतीं, अतः बेरियम लवण में चमक उत्पन्न करने का काम उक्त

किरणों की वजह से नहीं हो सकता—अवश्य ही कोई विशेष प्रकार की किरणें नली में से बाहर आ रही होंगी, जो उक्त लवण में चमक उत्पन्न करती हैं। फिर उन्होंने देखा कि नली के बगल में रक्खी फोटोग्राफी की प्लेट, जो काले कागज के आवरण में लिपटी थी, जब रासायनिक मसाले के घोल में छोड़ी गई, तो वह काली पड़ गई, मानो उस पर प्रकाश की किरणें पड़ चुकी हों! इस आकस्मिक घटना से रांजन ने स्वभावतः यह निष्कर्ष निकाला कि नली में से अवश्य कोई अदृश्य किरण बाहर निकल रही थी, जिसने कागज को भेदकर फोटो-प्लेट को प्रभावित किया था तथा जो बैरियम लवण में चमक उत्पन्न करती थी।

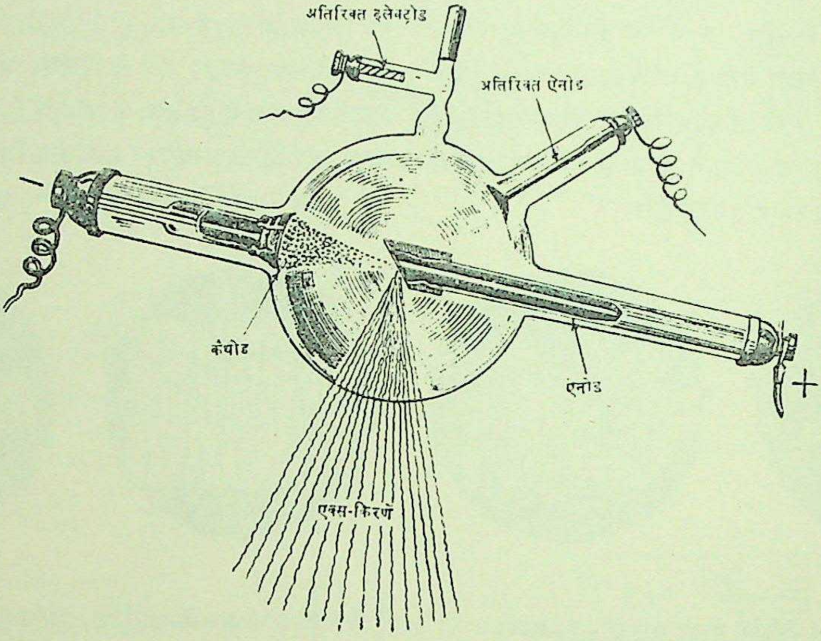

एक्स-किरण-उत्पादक वल्व, जिसमें कैनोड से इलेक्ट्रॉन की बौछार छूटकर एंटीकैथोड की टंगस्टन-प्लेट पर केन्द्रित होती है, जिससे एक्स-किरणें उपजती हैं (दे० पृ० ३१५४ का मैटर)।

अब प्रश्न यह उठा कि इन अद्भुत अदृश्य किरणों को क्या नाम दिया जाय? जैसे कि बीजगणित के प्रश्नों में प्रायः जो अज्ञात राशि हमें मालूम करनी होती है, उसे अंग्रेजी के 'एक्स' अक्षर द्वारा इंगित करते हैं, उसी तरह इन अज्ञात किरणों को भी 'एक्स-किरणों' का नाम दे दिया गया। बाद में आविष्कारक के नाम पर इन्हें 'रांजनकिरणों' के नाम से भी पुकारा जाने लगा।

एक्स-किरणें कैसे उत्पन्न होती हैं?

एक्स-किरण संबंधी रांजन की इस क्रान्तिकारी खोज का समाचार तुरंत संसार के कोने-कोने में पहुँच गया। इन रश्मियों के रूप में विज्ञान-जगत् को पहली बार ऐसी असाधारण किरणों का पता चला, जो सामान्य आवरण आदि को आसानी से भेद सकती थीं। अनेक मनचले व्यक्तियों ने तो एक्स-किरणों के बारे में यहाँ तक की मनगढ़न्त अफवाहें उड़ा दीं कि एक्स-किरणों के सामने ठीक तरह से वस्त्र पहने हुए लोग भी नंगे दिखाई देने लग जाएँगे!

हम जानते हैं कि कैथोड-किरण वास्तव में इलेक्ट्रॉन-कणों की बौछार है, जिसमें इलेक्ट्रॉन तीव्र वेग से गति करते हैं। इस कारण इन कणों की गतिज ऊर्जा अत्यधिक होती है। जब ये कण किसी पदार्थ पर टकराते हैं, तो उस पदार्थ से एक्स-किरणें विकीरित होती हैं! रांजन के प्रयोग में नली के काँच की दीवार पर जब कैथोड-किरणें टकराईं, तो उक्त दीवार से यही अदृश्य एक्स-किरणें उत्पन्न हुई थीं। बाद में प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा सका कि कैथोड-किरणें यदि भारी परमाणुभार वाली धातुओं पर गिरती हैं, तो उक्त धातु से और भी अधिक तीव्रभेदी एक्स-किरणें विकीरित होती हैं।

रदरफोर्ड तथा नील्स बोर के अनुसंधानों के फलस्वरूप परमाणुओं की रूपरेखा निर्धारित होने पर इस रहस्य का भी उद्घाटन किया जा सका कि कैथोड-किरणों के आघात से भारी धातुओं से एक्स-किरणें किस प्रकार विकीरित होने लगती हैं। भारी धातु के परमाणु के धन-आवेशयुक्त नाभिक के गिर्द अनेक इलेक्ट्रॉन विविध दीर्घ वृत्ताकार कक्षाओं में परिक्रमा लगाते रहते हैं (देखिए पृ० ३१५३ का मानचित्र)। इन परमाणुओं पर जब अत्यधिक गतिज ऊर्जावाले इलेक्ट्रॉन आघात करते हैं, तो अपनी ऊर्जा तथा नन्हें आकार की बदौलत ये भीतरी कक्षाओं तक पहुँचने में समर्थ हो जाते हैं और नाभिक की निकटतम कक्षा या द्वितीय-तृतीय कक्षाओं के इलेक्ट्रॉनों को धक्का देकर उन्हें अपनी कक्षा से उखाड़ फेंकते हैं। तभी अन्य कक्षाओं से कूदकर इलेक्ट्रॉन भीतरी कक्षा के रिक्त स्थान में जा पहुँचते हैं। इसी क्रिया के फलस्वरूप एक्स-किरणें विकीरित होती हैं (दे० पृ० ३१५३ का मानचित्र)। इसी प्रक्रिया से लाभ उठाकर एक्स-किरण-उत्पादक नली का आविष्कार किया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

एक्स-किरणें क्या हैं ?

प्रयोगों द्वारा यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है कि एक्स-किरणें भी प्रकाश, ऊष्मा अथवा रेडियो-तरंगों की जाति की विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें हैं। अवश्य इनका तरंग-दैर्घ्य दृश्य प्रकाश के तरंग-दैर्घ्य से लगभग १,००० गुना छोटा होता है। अर्थात् एक्स-किरणों का तरंग-दैर्घ्य लगभग $\frac{१}{१००००००००}$ सेण्टीमीटर होता है। तरंग-दैर्घ्य की लघुता ही इन्हें तीव्र वेधन-सामर्थ्य प्रदान करती है। सच तो यह है कि तरंग-दैर्घ्य जितना कम होगा, एक्स-किरण की वेधन-शक्ति उतनी ही अधिक होगी। अधिक वेधन-शक्तिवाली एक्स-किरणें 'कठोर' कहलाती हैं। इसके प्रतिकूल, कम वेधन-शक्ति-वाली एक्स-किरणों को 'कोमल' एक्स-किरण कहते हैं।

एक्स-किरण-उत्पादक बल्ब

आरंभ में काँच के 'एक्स-किरण बल्ब' बनाए गए थे, जिनमें हवा का दबाव निर्वात-पम्प द्वारा इतना घटा दिया जाता था कि उसके अंदर लगे कैथोड तथा ऐनोड को क्रमशः प्रेरणा-कुंडल के ऋण तथा धन-सिरों से जोड़ने पर जब विद्युत्-विसर्जन होता, तो लगभग समस्त नली में क्रुक का अँधेरा प्रदेश छा जाता। इस बल्ब की शक्ल विशेष तरह की बनायी जाती है (पृ० ३१५२ का चित्र देखिए) तथा इसका कैथोड अल्युमीनियम का बना होता है, जो अवतल शक्ल का होता है। ऐनोड एक अल्युमीनियम छड़ का बना होता है, जिसका बाहरी सिरा ताँबे के तार द्वारा एन्टीकैथोड से जुड़ा रहता है। एन्टीकैथोड ताँबे की छड़ का बना होता है, जिसके भीतरी सिरे पर टंग्सटन की प्लेट लगी होती है। इस प्लेट की सतह कैथोड के मुख्य अक्ष के साथ ४५° के कोण पर झुकी रहती है तथा प्लेट की स्थिति कैथोड की वक्रता के केन्द्र पर होती है।

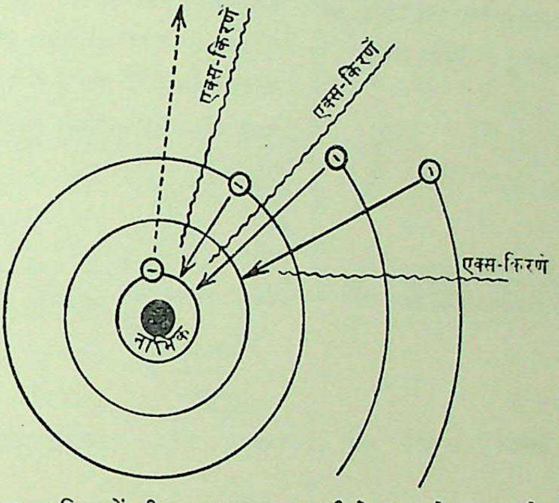

एक्स-किरणों की उपज :: बाह्य ऊर्जा के प्रहार से जब भारी तत्त्व के परमाणु भीतरी कक्षा से बाहर भाग जाते हैं, तो अन्य कक्षाओं से इलेक्ट्रॉन भीतरी कक्षा पर आ जाते हैं। इसी क्रिया के फलस्वरूप एक्स-किरणें उत्पन्न होती हैं।

बल्ब के अन्दर से विद्युत्-विसर्जन कराने पर कैथोड से होनेवाली इलेक्ट्रॉन की बौछार (कैथोड-किरणें) उसके धरातल की समकोण दिशा में चलकर एन्टीकैथोड की टंग्सटन-प्लेट पर केन्द्रित होती हैं। फलस्वरूप टंग्सटन-प्लेट से एक्स-किरण बाहर निकलती हैं। प्रेरणा-कुंडल से प्रायः १,००,००० वोल्ट का विभव बल्ब पर आरोपित किया जाता है। यदि बल्ब पर और ऊँचा विभव आरोपित किया जाय, तो कैथोड-किरणों में उपस्थित इलेक्ट्रॉनों की संख्या में वृद्धि होती है, साथ ही उनकी गतिज ऊर्जा भी बढ़ती है। अतः अब एन्टीकैथोड से विकीरित होनेवाली एक्स-किरणों की वेधन-क्षमता तथा उनकी राशि भी बढ़ जाती है।

कूलिज एक्स-किरण नली

आजकल ऊपर उल्लिखित पुरानी चाल के एक्स-किरण बल्ब काम में नहीं लाए जाते हैं। डॉ० कूलिज ने एक ऐसी एक्स-किरण नली का आविष्कार किया है, जिसके अंदर से लगभग सारी हवा बाहर निकाल ली गई होती है या पूर्ण वैकुअम होता है। इसका कैथोड टंग्सटन धातु के तार का बना होता है, जिसमें बैटरी की धारा भेजकर उसे श्वेत तप्त (लगभग २०००° सेण्टीग्रेड) बना सकते हैं। इस तार में से इलेक्ट्रॉन निस्सरित होते हैं। बैटरी की धारा का मान घटा-बढ़ाकर कैथोड-तार से निकलनेवाले इलेक्ट्रॉनों की संख्या क्रमशः घटाई-बढ़ाई जा सकती है। इस नली के अन्दर ऐनोड ताँबे की छड़ का बना होता है, जिसके भीतरी सिरे पर टंग्सटन का टुकड़ा लगा रहता है। अब कैथोड तथा ऐनोड को क्रमशः ऊँचे वोल्ट के स्रोत के ऋण तथा धन-सिरे से जोड़ने पर कैथोड से विमुक्त होनेवाले इलेक्ट्रॉनों को तीव्र वेग मिलता है। यह वेग प्रकाश के वेग (प्रति सैकंड १,८६,००० मील) से कुछ ही कम होता है। अतः ये इलेक्ट्रॉन केन्द्रित होकर ऐनोड के टंग्सटन के टुकड़े पर गिरते हैं, तो वहाँ से तीव्र वेधन-क्षमतावाली एक्स-किरणें विकीरित होती हैं (दे० पृ० ३१५४ का चित्र)।

कूलिज-नली की विशिष्टता यह होती है कि उसमें हम इच्छानुसार एक्स-किरण की वेधन-क्षमता या केवल उसकी घनता बढ़ा सकते हैं। क्योंकि यदि बल्ब पर आरोपित होनेवाले विभव को बढ़ाया जाय, तो इलेक्ट्रानों की संख्या में कोई वृद्धि

नहीं होती है--केवल उनकी गतिज ऊर्जा बढ़ जाती है। अतः इनके आघात से उत्पन्न होनेवाली एक्स-किरणों की वेधन-क्षमता बढ़ती है। इसके प्रतिकूल यदि कैथोड-तार में जानेवाली बैटरी की धारा का मान बढ़ा दिया जाय, तो केवल इलेक्ट्रॉनों की संख्या बढ़ती है, किन्तु उनकी गतिज ऊर्जा में कोई अन्तर नहीं आता। इस दशा में एक्स-किरणों की राशि बढ़ती है, उनकी वेधन-क्षमता नहीं।

दोनों ही प्रकार के एक्स-किरण बल्बों में इस बात की सावधानी बरती जाती है कि कैथोड-किरणों के प्रहार से अत्यधिक गरम होकर एन्टीकैथोड पिघल न जाय। इसीलिए एन्टीकैथोड सदैव ऊँचे द्रवणांकवाली धातु के बनाए जाते हैं और इन्हें ताँबे की छड़ से जुड़ा हुआ रखते हैं, जिससे संचालन द्वारा छड़ आसानी से उनकी ऊष्मा को बाहर ले जा सके। कभी-कभी तो एण्टीकैथोड छड़ को ठंडा रखने के लिए उसके गिर्द ठंडे पानी की धारा चलाने का भी प्रबन्ध कर दिया जाता है।

एक्स-किरणों के गुण

१. एक्स-किरणें साधारण प्रकाश की भाँति दृश्य रश्मियाँ नहीं हैं-- यदि किसी पदार्थ पर अँधेरे में एक्स-किरणें पड़ें, तो वह पदार्थ साधारणतः हमें आँखों से दिखाई नहीं देगा।

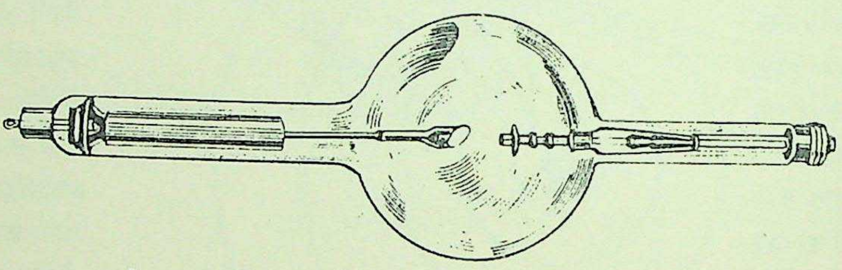

कूलिज एक्स-किरण नली (विवरण पृ० ३१५३ पर देखिए)।

२. कुछ रासायनिक पदार्थ ऐसे अवश्य हैं, जिन पर एक्स-किरणें पड़ती हैं, तो वे स्फुरदीप्ति की चमक देते हैं—जैसे जिंक सल्फाइड, बैरियम प्लैटिनोसायनाइड, आदि।

३. एक्स-किरणों की वेधन-क्षमता अत्यंत प्रबल होती है। दफ्ती, मांस आदि पदार्थ, जो प्रकाश-किरणों के लिए अपारदर्शी हैं, एक्स-किरणों के लिए लगभग पूर्ण रूप से पारदर्शी होते हैं। पदार्थ का घनत्व जितना अधिक होता है, एक्स-किरणें उतनी ही अधिक कठिनाई से उसमें से होकर गुजर पाती हैं। इसीलिए सीसे की पतली-सी चद्दर भी एक्स-किरणों को रोक देने में समर्थ होती हैं।

४. ये किरणें फोटोग्राफी की प्लेट को विशेष रूप से प्रभावित करती हैं। इसी से सर्जरी में इनका उपयोग होता है।

५. गैस में गुजरने पर, ये उन्हें आयनों में विभक्त कर देतीं अर्थात् गैस-परमाणु के इलेक्ट्रॉनों को उससे पृथक कर देती हैं।

६. इनका वेग वैक्यूअम में १,८६,००० मील प्रति सैकण्ड होता है, अर्थात् ये प्रकाश के वेग से चलती हैं।

एक्स-किरणों के विविध उपयोग

एक्स-किरणें त्वचा और मांस में से होकर आसानी से गुजर जाती हैं, जबकि हड्डी को वेधकर उसे पार नहीं कर सकतीं। अतः शल्य-चिकित्सा (सर्जरी) के क्षेत्र में उनका बहुल उपयोग होता है। यदि बाँह की हड्डी टूट गई है, तो बाँह को एक्स-किरण बल्ब और जिन्क सलफाइड से पुती काँच की प्लेट के दर्मियान रखने तथा दूसरी ओर से प्लेट को देखने पर बाँह का छायाचित्र मिलेगा, जिसमें हड्डी गहरे काल शेड की और शेष भाग हल्के शेड का दिखाई देगा। अतः तुरन्त पता लग जाता है कि हड्डी कहाँ पर और किस प्रकार टूटी हुई है। जिन्क सलफाइड-प्लेट की जगह यदि फोटो-प्लेट रखी जाय, तो बाँह की हड्डी का फोटो भी उतर आता है। युद्ध-क्षेत्र में घायल सैनिकों के शरीर में बिंधी हुई बंदूक की गोली का पता एक्स-किरण-फोटो द्वारा लगाया जाता है और सर्जन आसानी से नश्तर लगाकर गोली को बाहर निकाल लेता है। सड़े हुए दाँत की जाँच करने के लिए भी एक्स - किरणों की सहायता ली जाती है। यक्ष्मा के रोगी की चिकित्सा के सिलसिले में तो आजकल फेफड़े के एक्स-किरण-फोटोग्राफ उतारने का प्रबन्ध लगभग सभी नगरों में उपलब्ध है।

एक्स-किरणें कैन्सर-ग्रस्त त्वचा को रोगमुक्त करने की भी क्षमता रखती हैं। अतः उनकी नपी-तुली मात्रा रोग-ग्रस्त त्वचा पर निश्चित अवधि तक डालकर उक्त रोग का उपचार किया जाता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि ये किरणें अधिक देर तक त्वचा पर न गिरें, अन्यथा उसे हानि पहुँचाती हैं तथा रुधिर के श्वेत कणों को नष्ट कर देती हैं। इसीलिए एक्स-किरणों के बल्ब से काम करते समय इस बात की पूरी सावधानी रखनी पड़ती है कि शरीर के अंग अनायास ही उनके सम्पर्क में न आने पाए। इसके लिए बल्ब को सीसे के आवरण से घेर देते हैं। केवल एक छोटी-सी खिड़की खुली रहती है, जिसमें से एक्स-किरणें निकलती हैं। डॉक्टर प्रायः सीसामिश्रित रबड़ के बने दस्ताने पहने रहते हैं।

एक्स-किरणों का उपयोग अस्पतालों तक ही सीमित नहीं है। ये अदृश्य किरणें उद्योग के क्षेत्र में भी अत्यन्त उपयोगी साबित हुई हैं। जब धातु के दो टुकड़े एक-दूसरे के साथ गलाकर जोड़े जाते हैं, तो कभी-कभी उनका जोड़ सच्चा नहीं हो पाता और जोड़ के मध्य हवा के बबूले आदि आ जाते हैं। इनका एक्स-किरण-फोटो लेने पर उक्त दोष का पता फौरन् लग जाता है। एक्स-किरण-फोटो द्वारा इस बात का भी पता लग जाता है कि सीप के अन्दर मोती है या नहीं। इसके लिए सीप को तोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। नकली और असली हीरे की पहचान भी एक्स-किरणों की मदद से की जा सकती है। इस प्रकार एक्स-किरणों के रूप में मनुष्य को मानो एक तीसरा नेत्र मिल गया है !

फोटो-इलेक्ट्रिल सेल

इलेक्ट्रॉनों की बदौलत ही हमें 'फोटो-इलेक्ट्रिक सेल' नामंक अद्भुत यंत्र की भी प्राप्ति हुई है, जिसे हम 'विद्युत् आँख' कह सकते हैं। फोटो-इलेक्ट्रिक सेल में धातु के परमाणुओं से स्वतंत्र इलेक्ट्रॉन विमुक्त कराने के लिए उस धातु को गरम करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, जैसा कि इलेक्ट्रॉन-नली (फ्लेमिङ्ग वाल्व) या कैथोड-किरण-ऑसिलोग्राफ में, जिनमें कि फिलामेण्ट को गरम करना पड़ता है।

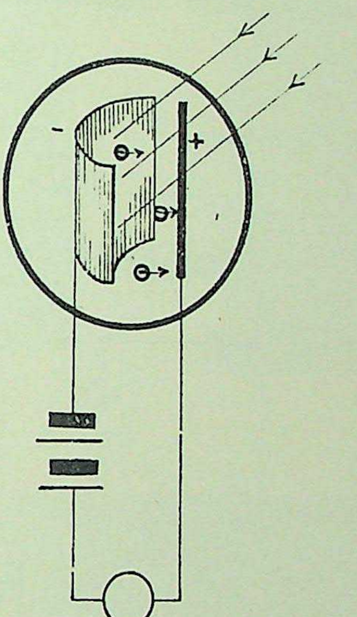

फोटो-इलेक्ट्रिक सेल का सिद्धान्त (दे० इसी पृष्ठ का मैटर)।

इस अद्भुत यंत्र के संबंध में पहलेपहल हालवॉश ने यह पता लगाया था कि यदि ऋण-विद्युत् आवेशयुक्त जस्ते की प्लेट पर प्रकाश की किरणें फेंकी जाएँ, तो प्लेट का विद्युत्-आवेश लुप्त हो जाता है। बाद में यह सिद्ध किया जा सका कि इस धातु पर जब कभी प्रकाश की किरणें गिरती हैं, तो उसके परमाणुओं से तुरंत इलेक्ट्रॉन विमुक्त होते हैं। इस नवीन खोज को 'फोटो-इलेक्ट्रिक प्रभाव' का नाम दिया गया। इस खोज के आधार पर ही 'फोटो-इलेक्ट्रिक सेल' बनाई गई हैं, जिसके अंदर से उस समय विद्युत्-धारा बहती है, जबकि सेल पर प्रकाश की किरणें गिरती हैं। प्रकाश की तीव्रता के अनुपात में ही विद्युत्-धारा की प्रबलता भी बढ़ती है। प्रकाश द्वारा इलेक्ट्रॉन-निस्सरण का गुण कैल्शियम, पोटैशियम, सोडियम तथा सीसियम धातुओं में भी प्रचुर मात्रा में मौजूद पाया जाता है। अतः फोटो-इलेक्ट्रिक सेल में [illegible] की एक प्लेट लेते हैं, जिसकी भीतरी सतह पर कैल्शियम ऑक्साइड की कलई की हुई रहती है अथवा सतह पर अन्य किसी प्रकाश-सांवेदनिक धातु की तह चढ़ाई गई रहती है। प्लेट के सामने ही धातु का एक पतला तार लगा रहता है, जो ऐनोड का काम करता है। प्लेट को बैटरी के ऋण-सिरे से तार द्वारा जोड़ देते हैं और ऐनोड को बैटरी के धन-सिरे से। इस कैथोड-प्लेट तथा ऐनोड को काँच के बल्ब में एयरटाइट लगाकर बल्ब की लगभग सारी हवा पम्प द्वारा बाहर निकाल लेते हैं। अब सामान्यतः इस परिपथ में विद्युत्-धारा का प्रवाह नहीं होगा, क्योंकि प्लेट और ऐनोड एक दूसरे से पृथक् हैं। किन्तु प्लेट पर ज्योंही प्रकाश की किरणें गिरती हैं, त्योंही उससे इलेक्ट्रॉन बाहर निकलते हैं। जब ऐनोड द्वारा आकृष्ट होने के कारण ये उस पर पहुँचते हैं, तो परिपथ में इलेक्ट्रॉन या विद्युत्-धारा का प्रवाह होने लगता है (दे० इसी पृष्ठ का मानचित्र)। ज्योंही प्रकाश-किरणों का प्लेट तक पहुँचना रुकता है, त्योंही धारा का प्रवाह भी बन्द हो जाता है। फोटो-इलेक्ट्रिक सेल केवल दृश्य प्रकाश से ही नहीं प्रभावित होती है, बल्कि अदृश्य प्रकाश (इन्फ्रारेड-किरणों या अल्ट्रा-वायलट रश्मियों) द्वारा भी उसमें विद्युत्-धारा उत्पन्न होती है।

फोटो-इलेक्ट्रिक सेल के उपयोग

फोटो-इलेक्ट्रिक सेल से प्राप्त होनेवाली धारा अत्यन्त निर्बल होती है, किन्तु इलेक्ट्रॉन-नली (ट्रायोड आदि) की सहायता से इसे प्रवर्द्धित करके इससे तरह-तरह के विद्युत्-यंत्रों आदि का परिचालन अथवा नियंत्रण किया जा सकता है। इनमें से कुछ का वर्णन नीचे दिया जा रहा है :——

चोर-अलार्म — प्रायः बैंकों के तहखाने में फोटो-इलेक्ट्रिक सेल द्वारा परिचालित चोर-अलार्म फिट किए जाते हैं। रात के अँधेरे में यदि चोर भवन में प्रवेश करता है, तो इस यंत्र के सामने से गुजरते ही खतरे की विद्युत्-घण्टी तुरंत बजने लगती है और आसपास के लोग या पहरेदार सचेत हो जाते हैं। तहखाने के दरवाजे के सामने बगल में इन्फ्रारेड प्रकाश देनेवाला लैम्प रखा होता है और दूसरी ओर फोटो-इलेक्ट्रिक सेल रहती है। यंत्र में इस बात का प्रबन्ध रहता है कि इन्फ्रारेड

प्रकाश के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाली विद्युत्-धारा वाल्व द्वारा प्रवर्द्धित होकर एक विद्युत्-चुंबक के कुण्डल में प्रवाहित होती रहे। इस विद्युत्-चुन्बक के सामने ही लोहे की एक पत्ती लगी रहती है। जब तक फ़ोटो-इलेक्ट्रिक सेल में धारा बहती रहती है, तब तक चुम्बक भी क्रियाशील रहता है और यह पत्ती इस चुम्बक से चिपकी रहती है। ज्योंही प्रकाश की किरण के मार्ग में कोई रुकावट आती है, त्योंही धारा रुक जाती है। फलतः चुम्बक अपना चुम्बकत्व खो देता है और पत्ती अलग हटकर विद्युत्-घण्टी और बैटरी का परिपथ पूरा कर देती है। अतः अलार्म-घण्टी बजने लग जाती है (दे० इसी पृ० का चित्र)!

स्वयंचालित स्विच-यंत्र—बड़े शहरों में फोटो-इलेक्ट्रिक सेल की सहायता से इस बात का प्रबन्ध कर लेते हैं कि दिन छिपते ही सड़क के सभी विद्युत्-लैम्प अपने आप जल उठें तथा दिन निकलने पर वे स्वयं बुझ भी जाएँ। इसके लिए भी फोटो-इलेक्ट्रिक सेल की धारा को प्रवर्द्धित करके ऐसे विद्युत्-चुंबक में ले जाते हैं, जिसके सामने लोहे की पत्ती लगी रहती है। अँधेरा होने पर फोटो-इलेक्ट्रिक सेल की धारा जब रुक जाती है, तो पत्ती भी विद्युत्-चुम्बक की पकड़ से छूटकर सड़क के लैंपों के परिपथ को पूरा कर देती है और ये लैंप जल उठते हैं। दिन के प्रकाश में जब फोटो-इलेक्ट्रिक सेल की धारा पुनः बहने लगती है, तो विद्युत्-चुम्बक पत्ती को अपनी ओर खींचकर विद्युत्-लैम्पों के परिपथ को तोड़ देता है और लैम्प बुझ जाते हैं।

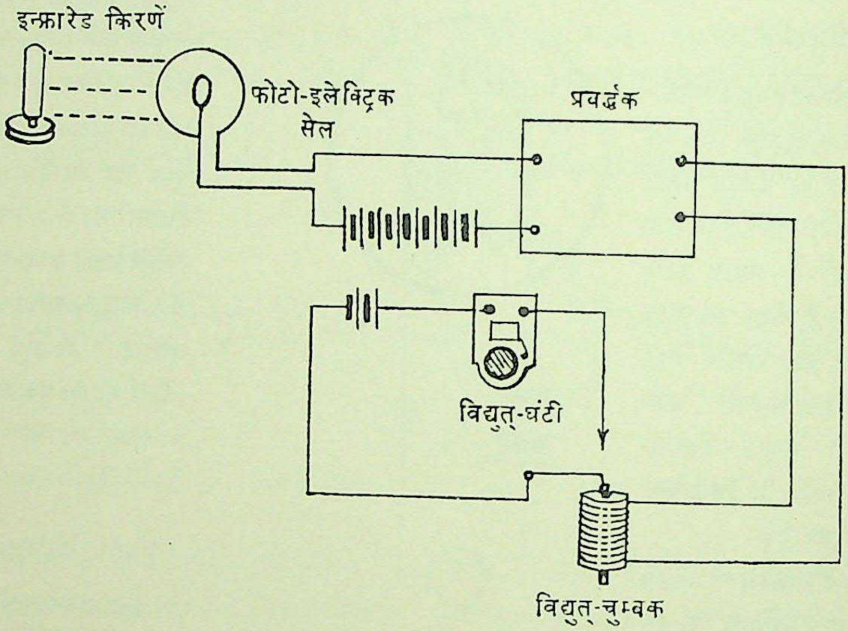

फोटो-इलेक्ट्रिक सेल द्वारा परिचालित 'चोर-अलार्म' की व्यवस्था का मानचित्र (दे० प्रस्तुत और पिछले पृष्ठ का मैटर)।

दरवाजे के लिए स्वचालित यंत्र—बड़े होटलों या जलपान-गृहों में प्रायः बैरे दोनों हाथों में थाल या ट्रे लेकर बार-बार आते-जाते हैं और हर बार दरवाजे को खोलने-बन्द करने में इन्हें असुविधा होती है। अतः इन होटलों में फोटो-इलेक्ट्रिक सेलवाले ऐसे यंत्र लगाए गए हैं कि बैरा ज्योंही दरवाजे के सामने पहुँचे, त्योंही दरवाजा अपन आप खुल जाय और कमरे में प्रवेश करते ही वह पुनः बन्द हो जाय।

दरवाजे के सामने एक ओर दर्पण लगा रहता है और दूसरी ओर लैम्प तथा फोटो-इलेक्ट्रिक सेल। प्रकाश की किरण दर्पण से परावर्तित होकर सेल पर पड़ती है, तो सेल की धारा परिवर्द्धित होकर विद्युत्-चुम्बक में पहुँचती है। इस समय विद्युत्-चुम्बक से लोहे की एक पत्ती चिपकी रहती है। दरवाजे के निकट ज्योंही कोई व्यक्ति पहुँचता है, त्योंही प्रकाश-किरण के मार्ग में रुकावट आ जाती है और सेल की धारा बन्द हो जाती है। तभी विद्युत्-चुम्बक से पत्ती अलग हटकर एक अन्य विद्युत्-परिपथ को पूरा कर देती है, जो अन्य विद्युत्-यंत्र में धारा बहाकर उस यंत्र को चालू कर देता है। यह यंत्र दरवाजे को खोलता है। इस यंत्र में यह भी आयोजन रहता है कि कमरे के अन्दर प्रवेश करते ही दरवाजा अपने आप बंद हो जाय!

फोटो-इलेक्ट्रिक गणक

फैक्टरियों में प्रायः इस बात का लेखा रखना आवश्यक होता है कि कितनी चीजें दिन में तैयार हुईं। इसके लिए फोटो-इलेक्ट्रिक गणक बनाए गए हैं। सेल पर प्रकाश की किरणें गिरती हैं और इस किरण के मार्ग से जब कोई वस्तु गुजरती है, तो क्षणिक देर के लिए धारा बंद हो जाती है। फलस्वरूप गणक यंत्र में हरकत होती है और डायल पर सामने अगला अंक आ जाता है। इस प्रकार एक एक करके उन सभी वस्तुओं की गिनती हो जाती है, जो किरण के मार्ग से होकर गुजरती हैं।

इलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क

गणित के अनेक जटिल प्रश्नों को हल करने के लिए वैज्ञानिकों ने 'इलेक्ट्रॉनिक गणक' का निर्माण किया है। यह

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

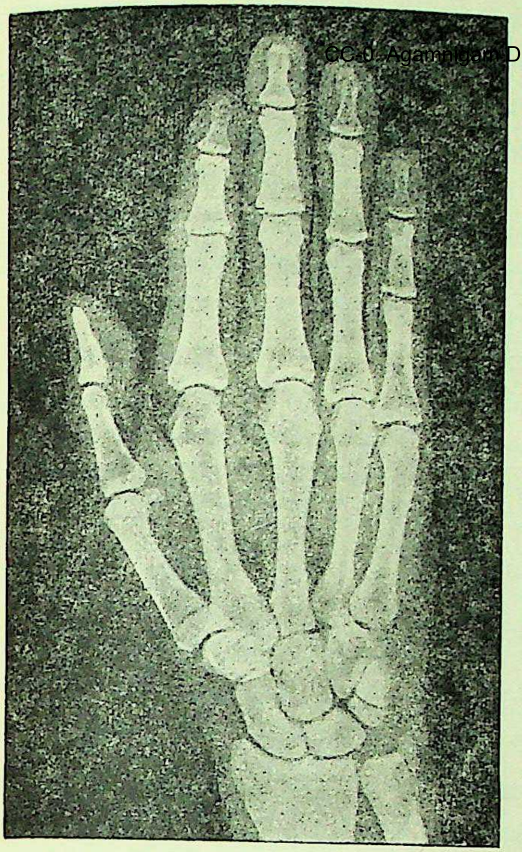

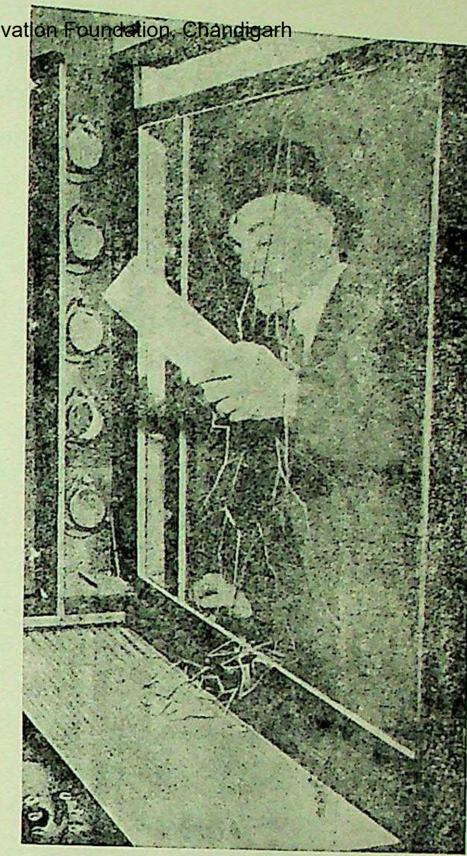

(ऊपर :: बाईं ओर) 'एक्स-किरणों' द्वारा लिया गया एक फोटो-चित्र, जिसमें हाथ की उँगलियों और कलाई की हड्डियों की रूपरेखा दिखाई दे रही है।

(ऊपर :: दाहिनी ओर) 'फोटो-इलेक्ट्रिक सेल' का उपयोग :: चोर जवाहरात की दूकान का शीशा तोड़कर भीतर रक्खे हुए गहनों को चुराने का यत्न करता है; वैसे ही वही गुप्त रूप से लगीं हुई फोटो-इलेक्ट्रिक सेल की प्रक्रिया से अलार्म-घंटी बज उठती है।

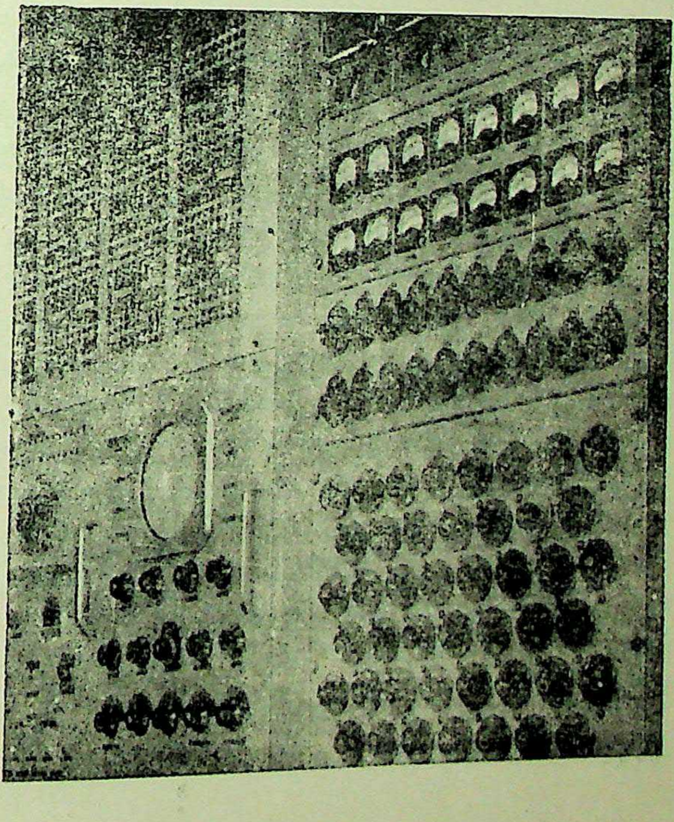

(नीचे :: दाहिनी ओर) एक 'इलेक्ट्रॉनिक गणक यंत्र' (या 'इलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क') का मुखमंडल (दे० पृ० ३१५६-३१५८ का मैटर)।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मशीन कुछ ही क्षणों में जोड़, घटाना, गुणा, भाग करना; वर्गमूल निकालना; क्लिष्ट समीकरणों का हल करना, आदि सभी कार्य पूरा कर लेती है और इसके उत्तर लगभग सदैव सही होते हैं। इसीलिए इस मशीन को 'इलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क' के नाम से भी पुकारा जाता है। गणित के जिन प्रश्नों को हल करने में किसी कुशल गणितज्ञ को कई सप्ताह लग जाते, उन्हें यह मशीन कुछ ही मिनटों में हल कर लेती है! इस मशीन के कार्य करने की रफ्तार इतनी तेज होने का कारण यह है कि यह रेडियो-वॉल्व से उपलब्ध विद्युत्-तरंगों द्वारा परिचालित होती है। इस मशीन के कार्य करने की रफ्तार मानव-मस्तिष्क की तुलना में बहुत अधिक है। मानव-शरीर के नाड़ी-संस्थान में सूचनाएँ अधिक से अधिक तीन सौ फीट प्रति सैकण्ड के वेग से इधर से उधर भेजी जा सकती हैं, जब कि इस इलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क में लगभग बारीक तारों में से होकर विद्युत्-संकेत लगभग १,८६,००० मील प्रति सैकण्ड के वेग से गमन करते हैं। ऐसी मशीन प्रति सैकण्ड १६,००० जोड़ या घटाने की क्रियाएँ पूरी कर लेती है!

ये मशीनें निस्संदेह लम्बे-चौड़े आकार की होती हैं, क्योंकि इनके अन्दर हजारों रेडियो-नली तथा बैटरी और अनगिनत तार लगे रहते हैं। इस तरह की एक सामान्य मशीन लगभग पूरे एक कमरे में फैली रहती है; उसमें छोटे-बड़े मिलाकर कुल ७-८ लाख पुर्जे लगे रहते हैं! ऐसी मशीन के चार प्रमुख भाग होते हैं–(१) अंकगणित की क्रिया करने वाला अंग; (२) नियंत्रक अंग, जो मशीन की शेष गणित-क्रियाओं का नियंत्रण करता है; (३) 'आदेश' और 'अंक' को भविष्य के लिए संचित रखनेवाला अंग (स्मृति-अंग); (४) प्रश्न अथवा समस्या के विवरण को मशीन में प्रविष्ट करानेवाला भाग तथा गणित-क्रियाओं के फल को उत्तर के रूप में प्रस्तुत करनेवाला अंग। इसकी क्षमता का अनुमान आप इसी बात से लगा सकते हैं कि अपने स्मृति-अंग में यह यंत्र हजारों अंकों को संचित रखकर आगे की गणित-क्रियाओं में उनका उसी तरह उपयोग कर सकता है, जिस तरह कि मानव-मस्तिष्क सोच-सोचकर याददाश्त के अंकों का उपयोग किया करता है।

'आदेश' शब्दों में नहीं दिया जाता, बल्कि इसके लिए भी अंक का ही उपयोग करते हैं, अर्थात् आदेश सदैव मशीन की भाषा में ही व्यक्त किए जाते हैं। अतः इन मशीनों के लिए संख्याओं को व्यक्त करने के लिए विशेषज्ञों ने दशमलव की पद्धति के स्थान पर द्विक् (बायनरी) पद्धति का उपयोग किया है, जिसमें सभी संख्याएँ केवल १ और ० की मदद से ही व्यक्त कर ली जा सकती हैं।

यदि फैक्टरी में १००० कर्मचारी विभिन्न वेतन : क्रम पर विभिन्न घंटों तक काम करते हैं और यह ज्ञात करना है कि महीने के अंत में प्रत्येक कर्मचारी को कितना पारिश्रमिक देना है, तो इसके लिए १००० आदेश मशीन में प्रविष्ट कराने होंगे। औसत मशीन एक साथ ऐसे ४००० आदेश संचित कर सकती है।

आदेशों को विद्युत्-टाइपराइटर द्वारा एक फीते पर नन्हें-नन्हें सूराखों के रूप में अंकित कर दिया जाता है। आदेश को स्मृति-अंग में प्रविष्ट कराने के उपरान्त इलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क बिना किसी तरह की आवाज उत्पन्न किए गणित-क्रियाओं का कार्य आरम्भ कर देता है––केवल नन्हें-नन्हें बल्ब जलते-बुझते रहते हैं। क्रिया समाप्त होते ही विद्युत्-टाइपराइटर पुनः क्रियाशील हो उठता है और टाइप किया हुआ उत्तर मशीन से बाहर आ जाता है!

इस मशीन की फुर्ती का अनुमान केवल इसी से लगाया जा सकता है कि २० अंकों की संख्या के गुणा का फल यह $\frac{१}{१०००}$ सैकण्ड में प्रस्तुत कर सकती है तथा ऐसे समीकरण को, जिसमें ५० अज्ञात राशियाँ हों, यह दो या तीन सैकण्ड में हल कर सकती है। इस तरह के समीकरण को हल करने में एक गणितज्ञ को महीनों लग सकते हैं। वस्तुतः यह इलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क के ही बूते की करतूत थी कि उसने युरैनियम-विखंडन-सम्बन्धी एक जटिल समस्या का हल १०३ घंटे में पूरा कर लिया, जबकि अच्छे से अच्छे गणितज्ञ को भी इस समस्या को हल करने में कम से कम १०० वर्ष का समय लगता!

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क में सुधार करके उससे वैज्ञानिक निबन्धों के अनुवाद का काम भी लिया जा सकता है! उदाहरण के लिए, यदि अंग्रेजी से रूसी में अनुवाद करना है, तो इसके लिए लगभग २००० वैज्ञानिक मूल शब्द अंग्रेजी भाषा में से चुन लिए जाएँगे और प्रत्येक के लिए समान अर्थ के रूसी शब्द लिखे जाएँगे। फिर प्रत्येक जोड़े के लिए संकेत-चिह्न निश्चित कर दिए जाएँगे। अब अंग्रेजी निबन्ध को संकेतों में व्यक्त करने के लिए फीते पर टाइपराइटर द्वारा सूराख कर दिए जाएँगे। इस आदेश को मस्तिष्क में प्रविष्ट करा देने पर दूसरी ओर अभीष्ट भाषा में टाइप किया हुआ अनुवादित लेख प्राप्त हो सकेगा। इस तरह की मशीन के निर्माण में लगभग ५० लाख डालर का खर्च पड़ता है। अनुवाद करनेवाली इलेक्ट्रॉनिक मशीन की क्षमता बढ़ाने के लिए अनुसंधान-कार्य जारी है। अभी तो १००० शब्दों के लेख के अनुवाद में लगभग ३-४ घंटे लग जाते हैं, जबकि एक कुशल अनुवादक इससे कम समय में ही अनुवाद-कार्य पूरा कर सकता है।

द्रव्य का अंतस्तल :: परमाणु और उसके अवयव

'परमाणु-बम' के निर्माण और विस्फोट के फलस्वरूप, द्रव्य के अंतराल में संचित अपरिमित शक्ति के महास्रोत का जो परिचय वैज्ञानिकों को मिला है, उसकी रचनात्मक संभावनाओं ने परमाणु और उसके अवयवों के निगूढ़ अध्ययन:अनुसंधान के महत्वपूर्ण अनुष्ठान को काफी बल प्रदान किया है। इस सम्बन्ध में अब तक जो कुछ उपलब्धियाँ हुई हैं, उन्हीं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकरण में प्रस्तुत किया जा रहा है। 'परमाणु विज्ञान' का महत्व आज के दिन कितना अधिक बढ़ गया है, इसका किंचित् अनुमान तो इसी बात से लग सकता है कि यह कहा जाने लगा है कि हम 'परमाणु-युग' के द्वार पर खड़े हैं।

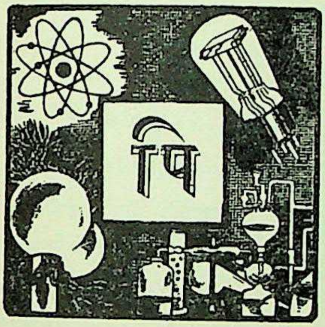

पिछले एक प्रकरण में हम यह जान चुके हैं कि किस प्रकार लगभग ४००ईस्वी पूर्व यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक डेमाक्रिटस ने पहली बार लोगों के समक्ष यह सिद्धांत रखा था कि द्रव्य नन्हें-नन्हें कणों या परमाणुओं से बना है, जिन्हें और आगे नहीं तोड़ा जा सकता। स्वयं हमारे देश में भी कणाद ऋषि ने यह कल्पना की थी कि पदार्थ नन्हें कणों से बना है। यह एक सर्वथा नवीन सिद्धांत था, परन्तु अपने सिद्धांत की पुष्टि के लिए ये लोग प्रयोगों का हवाला नहीं दे सकते थे—उन दिनों ऐसा करना संभव नहीं था, क्योंकि इसके लिए उपकरण नहीं बन पाए थे। फलतः परमाणुवाद का यह महान् सिद्धांत लगभग २,००० वर्ष तक कल्पना-जगत् की ही वस्तु बना रह गया।

तब उन्नीसवीं शताब्दी ई० के आरंभ में जॉन डाल्टन ने डेमाक्रिटस के परमाणुवाद को पुनः जीवित किया और उसे प्रयोगों की ठोस भूमि का आधार प्रदान किया। डाल्टन ने बतलाया कि प्रत्येक मूल तत्त्व नन्हें-नन्हें कणों से बना है, जो स्वयं अविभाज्य, अदृश्य तथा अविनाशी है। इन कणों को 'परमाणु' (ऐटम) का नाम दिया गया। डाल्टन के परमाणुवाद के अनुसार किसी भी एक मूल तत्त्व के सभी परमाणु भार, आकार, गुण आदि में एक से ही होते हैं, किंतु अन्य तत्त्वों के परमाणुओं से वे भिन्न होते हैं।

आगे चलकर 'परमाणुवाद' के इस सिद्धांत में और भी प्रगति हुई। आज समस्त द्रव्य को १०१ मूल तत्त्वों द्वारा निर्मित माना जाता है। इस संबंध में पिछले प्रकरणों में आप विस्तृत जानकारी पा ही चुके हैं (दे०पृ०९३३–९३९; ३०५७–३०८७)।

परमाणुओं के आकार-प्रकार

आधुनिक विज्ञान ने शक्तिशाली उपकरणों की सहायता से प्रत्येक तत्त्व के परमाणु की सावधानी के साथ नाप-जोख की है और परमाणुओं के भार के लिहाज से सभी तत्त्वों को क्रमबद्ध कर दिया है। इस क्रम-सूची में प्रथम स्थान हाइड्रोजन को प्राप्त है, क्योंकि उसके परमाणु अन्य सभी तत्त्वों के परमाणुओं से हल्के होते हैं। हाइड्रोजन-परमाणु का भार लगभग $\frac{१}{६०००००००००००००००००००००००}$ ग्राम होता है। चूंकि अन्य तत्त्वों के परमाणु हाइड्रोजन के परमाणु से भारी होते हैं, अतः नाप की सुविधा के लिए हाइड्रोजन ही के परमाणु के भार को इकाई मान लिया गया है। इस पैमाने के अनुसार द्वितीय तत्त्व हीलियम का परमाणुभार ४, तृतीय तत्त्व लीथियम का परमाणुभार ७ और इसी क्रम से ९२वें तत्त्व युरेनियम का परमाणुभार २३८ है, जिसका अर्थ यह हुआ कि युरेनियम का एक परमाणु हाइड्रोजन-परमाणु के भार का २३८ गुना है।

परमाणुओं का आकार अत्यन्त छोटा होता है। उदाहरण के लिए, यदि हाइड्रोजन के २५ करोड़ परमाणुओं को एक कतार में एक दूसरे से सटाकर खड़ा कर दिया जाय, तो कहीं यह पंक्ति १ इंच लम्बी हो पाएगी ! हाइड्रोजन-परमाणु का व्यास $\frac{१}{१००००००००}$ से० मी० होता है। यही कारण है कि परमाणु बढ़िया-से-बढ़िया सूक्ष्मदर्शक द्वारा भी नहीं देखे जा सकते। भारी तत्त्वों के परमाणु भी हाइड्रोजन-परमाणु के मुकाबले में आकार में कुछ अधिक बड़े नहीं होते। इसलिए ये परमाणु भी सूक्ष्मदर्शक आदि में अदृश्य ही बने रहते हैं।

परमाणु अब अंतिम रूढ़िपिण्ड नहीं रहे

पिछली शताब्दी के अंतिम दशक तक डाल्टन का परमाणुवाद पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुका था। इस सिद्धान्त की प्रामाणिकता में किसी को शंका करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। सभी वैज्ञानिक पदार्थ की असलियत के बारे में एक प्रकार से आश्वस्त हो चुके थे कि वे पदार्थ के अंतिम रहस्य तक पहुँच चुके हैं और सारी सृष्टि का निर्माण केवल ९२ प्रकार के रूढ़ितम कणों (परमाणुओं) से ही हुआ है, जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं तथा स्वयं अविनाशी और अविभाज्य हैं। जब इनके टुकड़े हो ही नहीं सकते, तो अब इनके बारे में और क्या जानना शेष रहा ?

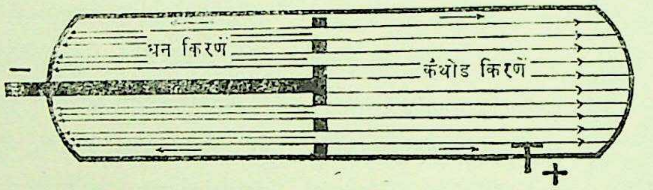

प्रोटॉन की खोज :: गैस-नली में कैथोड-जाली में से होकर उल्टी दिशा में विकीरित धन-किरणें (दे० प्रस्तुत और अगले पृष्ठ का मैटर)।

किन्तु इसी बीच विद्युत्-विज्ञान ने कतिपय सर्वथा नवीन तथा क्रान्तिकारी अनुसंधानों का सूत्रपात किया, जिनके फलस्वरूप वैज्ञानिकों ने आश्चर्य सहित देखा कि परमाणु अब रूढ़ि-पिण्ड नहीं रहे ! उन्होंने पाया कि परमाणु ठोस पिण्ड नहीं हैं, बल्कि उनके अन्दर कतिपय विद्युत्-आवेशयुक्त कण तथा अविद्युन्मय कण विशिष्ट क्रम-व्यवस्था से सजे रहते हैं; मानो परमाणुओं की अपनी एक अलग ही दुनिया है—हर परमाणु के नाभि-केन्द्र पर स्थित द्रव्य के आसपास अन्य कण तेजी से परिक्रमा लगाया करते हैं।

इलेक्ट्रॉन की खोज

परमाणु के भीतर प्रवेश पाने में वैज्ञानिकों ने अनोखे ढंग से सफलता प्राप्त की ! बात यों हुई कि जब गैसवाली नली में अल्प दबाव पर विद्युत्-विसर्जन के प्रयोगों के सिलसिले में १८९३ ई० में क्रुक्स ने अकस्मात् कैथोड-किरणों की खोज की, तो उन्हीं कैथोड-किरणों का बारीकी से अध्ययन करके ब्रिटिश वैज्ञानिक जे० जे० टामसन ने निर्विवाद रूप से यह सिद्ध कर दिखाया कि ये किरणें वस्तुतः ऋण-विद्युत् के नन्हें पदार्थ-कणों की बौछार हैं। इन कणों को 'इलेक्ट्रॉन' का नाम दिया गया और इनका भार हाइड्रोजन-परमाणु के भार का $\frac{१}{१८३५}$ निकला !

भला, संसार के सबसे हलके पदार्थ हाइड्रोजन के परमाणु से भी करीब २,००० गुना हल्का यह कण 'इलेक्ट्रॉन' कहाँ से आ टपका ? चूंकि प्रयोगों में देखा जा चुका था कि नली में चाहे जो भी गैस भरी जाय, हर दशा में ये इलेक्ट्रॉन प्राप्त होते हैं, अतः वैज्ञानिक बरबस इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इलेक्ट्रॉन हर तत्त्व के परमाणु में मौजूद हैं; अर्थात् यह कण स्वयं परमाणु के भीतर से ही आए हैं ! तब तो परमाणु रूढ़िपिंड नहीं हो सकते और न वे अविभाज्य ही रहे !

यह तो मालूम ही था कि परमाणु समष्टि रूप से अविद्युन्मय होता है और यदि ऋण-विद्युत का कण इलेक्ट्रॉन परमाणु के अन्दर मौजूद है, तो परमाणु के अन्दर धन-विद्युतवाले कण भी अवश्य उपस्थित होने चाहिएँ, ताकि ये इलेक्ट्रॉनों के ऋण-विद्युत् का प्रभाव नष्ट करके परमाणु को अविद्युन्मय बनाए रख सकें। फिर इलेक्ट्रॉन का वजन भी नगण्य ही होता है—हाइड्रोजन परमाणु भार का करीब २,०००वाँ भाग ! अतः स्पष्ट है कि परमाणु के भीतर इलेक्ट्रॉन के अतिरिक्त धन-विद्युत् का अन्य कोई ऐसा पिंड अवश्य होना चाहिए, जिसमें परमाणु का लगभग सारा पदार्थ-भार निहित हो। भारी परमाणुभार वाले तत्त्वों के परमाणुओं में इन धन तथा ऋण-विद्युत् कणों की संख्या भी अधिक ही होनी चाहिए।

प्रोटॉन की खोज

१८८६ ई० में जर्मनी के वैज्ञानिक गोल्डस्टाइन ने गैस-नली में विद्युत्-विसर्जन के प्रयोग में कैथोड के लिए धातु की प्लेट की जगह तार की जाली ली और उसे नली के ठीक बीच में रखा। उसने देखा कि दबाव कम करने पर कैथोड-किरणें (इलेक्ट्रॉन-कणों की बौछार) तो कैथोड-जाली के सामने लम्बवत् दिशा में उस ओर को जाती है, जिधर ऐनोड स्थित

है, किन्तु आश्चर्य की बात थी कि नली में कैथोड की उल्टी दिशा में चमक उत्पन्न करने वाली किरणें विकीरित हो रही थीं ! इसी सिलसिले में अधिक अनुसंधान करने पर ज्ञात हुआ कि वास्तव में कैथोड-जाली के सूराखों में से होकर दूसरी ओर जानेवाली किरणें हाइड्रोजन के परमाणुओं की बौछार हैं ! ये परमाणु धन-विद्युन्मय होते हैं, क्योंकि कैथोड-किरणों के आघात से इनके इलेक्ट्रॉन इनसे पृथक् हो चुके होते हैं । अतः ये धन-विद्युत्कण हाइड्रोजन-परमाणु का वह गैसीला भाग है, जो इलेक्ट्रॉन के पृथक् हो जाने पर शेष बच जाता है (दे० पृ० ३१६० का चित्र) । इस धन-विद्युत्-कण को टामसन ने 'प्रोटॉन' का नाम दिया और सूक्ष्म प्रयोगों द्वारा उसका भार और विद्युत्-आवेश आदि का मान भी ज्ञात किया । प्रोटॉन का भार इलेक्ट्रॉन के भार का १,८३५ गुना निकला है तथा इसका धन-विद्युत्-आवेश ठीक इलेक्ट्रॉन के ऋण-विद्युत्-आवेश के बराबर प्रमाणित हुआ ।

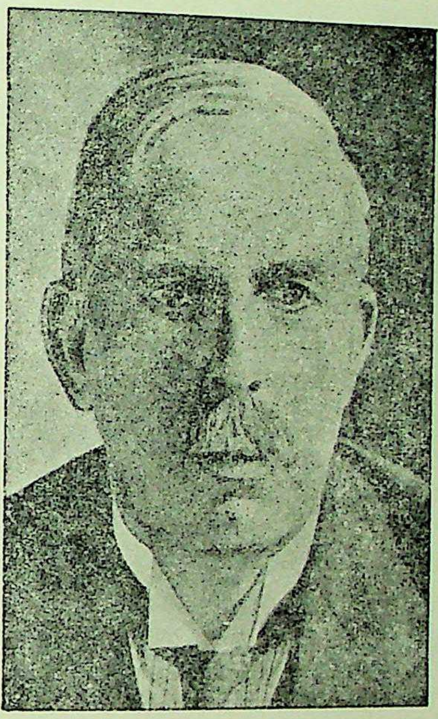

परमाणु-नाभिक के अन्वेषक लार्ड रदरफोर्ड ।

परमाणु का स्वरूप

जे० जे० टामसन का विचार था कि परमाणु के ये अवयव—इलेक्ट्रॉन तथा प्रोटॉन—आपस में एक दूसरे से मिले-जुले रहते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे मोतीचूर के लड्डू में उसके दाने एक-दूसरे से सटे रहते हैं ! किन्तु बाद में अन्य एक महान् ब्रिटिश वैज्ञानिक लॉर्ड रदरफोर्ड ने टामसन की इस धारणा को गलत साबित कर दिखाया । उन्होंने एक प्रयोग करके जब रेडियम से निकलनेवाले अल्फा-कणों की बारीक किरण स्वर्णपत्र पर फेंकी, तो देखा कि अनेक अल्फा-कण स्वर्णपत्र से टकराकर वापस लौटते थे—लगभग उसी दिशा में जिधर से कि वे आ रहे थे ! ये अल्फा-कण अपने मार्ग से १८०° तक विचलित होते पाए गए (दे० पृ० ३१६२ का मानचित्र) । अल्फा-कण का भार ४ प्रोटॉनों के भार के बराबर होता है तथा धन-विद्युत्-आवेश प्रोटॉन के विद्युत्-आवेश का दो गुना होता है । स्पष्ट है कि स्वर्णपत्रवाले प्रयोग में कुछ अल्फा-कण जबर्दस्त प्रतिकर्षण (हटाव)-बल का अनुभव करते हैं । तभी ये भारी-भरकम कण एकदम उल्टी दिशा को भागते हैं । अतः यह निष्कर्ष निकला कि परमाणु के भीतर का समस्त धन-विद्युत्-आवेश सिमटकर एक नन्हें-से केन्द्र बिन्दु पर स्थित होगा, ताकि परमाणु पर फेंके गए धन-विद्युत् के कण (अल्फा-कण) पर यह इतना जबर्दस्त हटाव-बल डाल सके ।

रदरफोर्ड के इन क्रान्तिकारी प्रयोगों के फलस्वरूप परमाणु का ठीक-ठीक स्वरूप निर्धारित किया जा सका । ज्ञात हुआ कि परमाणु के अन्दर उसकी समस्त धन-विद्युत् तथा समस्त पदार्थ-मात्रा केन्द्रबिन्दु पर एकत्र रहती है, जिसे 'नाभिक' (न्यूक्लियस) का नाम दिया गया । ऋण-विद्युत् से युक्त होने के कारण 'इलेक्ट्रॉन' नाभिक से बाहर कुछ दूरी पर रहते हैं । कुल इलेक्ट्रॉनों की ऋण-विद्युत्-मात्रा नाभिक की धन-विद्युत् के बराबर रहती है, ताकि परमाणु समष्टि रूप से अविद्युन्मय रह सके ।

अब प्रश्न यह उठा कि नाभिक के बाहर स्थित इलेक्ट्रॉन यदि अचल हैं, तो फिर नाभिक की धन-विद्युत् अपनी ओर आकृष्ट करके इन्हें अपने में क्यों नहीं मिला लेती ? इस प्रश्न का उत्तर कोपेनहेगेन के विख्यात भौतिक-शास्त्री नील्स बोर ने दिया । भौतिकी के नूतनतम अनुसंधानों की सहायता से उन्होंने सिद्ध किया कि परमाणु के इलेक्ट्रॉन अचल नहीं हैं, बल्कि ये निश्चित कक्षाओं में नाभिक के आसपास परिक्रमा लगाते रहते हैं और उनकी मार्ग-रेखा दीर्घवृत्त की शक्ल की होती है । परिक्रमा-मार्ग में इलेक्ट्रॉन का वेग इस तरह सधा रहता है कि वेग के कारण उत्पन्न होनेवाला सेन्ट्रीफूगल बल इस पर नाभिक द्वारा लगनेवाले आकर्षण-बल के ठीक बराबर होता है । अतः ये नाभिक के आसपास उसी प्रकार चक्कर लगाते रहते हैं, जिस प्रकार पृथ्वी सूर्य के गिर्द चक्कर लगाती है ।

इस प्रकार ज्ञात हुआ कि नाभिक ही परमाणु का हृदय है । परमाणु का सारा पदार्थ आश्चर्यजनक रूप से घनीभूत हो इसी नाभिक में सिमटा रहता है । हिसाब लगाया गया है कि नाभिक इतना गैसीला होता है कि यदि पानी की बूंद के आकार का

नाभिक-द्रव्य एकत्रित कर समेटा जाय, तो उसका भार २० लाख टन से भी अधिक ठहरेगा !

परमाणु के अन्दर नाभिक अत्यन्त थोड़ी जगह घेरता है । इलेक्ट्रॉन कुछ फासले पर उसकी परिक्रमा लगाते हैं । अतः परमाणु के अन्दर ढेर-सी जगह खाली पड़ी रहती है । जैसे सौर मण्डल में सूर्य के गिर्द विभिन्न दूरियों पर उसके ग्रह परिक्रमा लगाते हैं, किंतु बीच के अंतरिक्ष में सौर जगत् की ढेर-सी जगह वीरान एवं खाली पड़ी रहती है, उसी प्रकार परमाणु का भीतरी भाग भी अधिकांशतः खोखला होता है । परमाणु के खोखलेपन का अनुमान लगाने के लिए नाभिक का आकार यदि एक बेर के बराबर रखा जाए, तो उसी पैमाने पर परिक्रमा करनेवाले इलेक्ट्रॉन को नाभिक से ६०० गज की दूरी पर रखना होगा ।

परमाणु की बाहरी खोल की रचना

अनुसंधानों द्वारा यह ज्ञात किया जा सका कि हाइड्रोजन परमाणु के नाभिक का धन-विद्युत्-आवेश एक इकाई है, जिसके गिर्द केवल एक ही इलेक्ट्रॉन चक्कर लगाता है । भार के लिहाज से द्वितीय स्थान हीलियम का आता है, जिसके नाभिक पर धन-विद्युत्-आवेश की दो इकाई हैं और उसके गिर्द २ इलेक्ट्रॉन चक्कर लगाते हैं । भार के क्रम से तत्त्वों की सूची में ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों उनके नाभिक की धन-विद्युत् एक-एक इकाई बढ़ती जाती है और परिक्रमा लगानेवाले इलेक्ट्रॉनों की संख्या भी एक-एक करके बढ़ती है; यहाँ तक कि ९२वें तत्त्व युरैनियम के नाभिक का कुल धन-विद्युत्-आवेश ९२ है और उसके गिर्द ९२ इलेक्ट्रॉन परिक्रमा लगाते पाए गए हैं । ये इलेक्ट्रॉन सभी एक ही कक्षा में नहीं घूमते, बल्कि प्रथम कक्षा में २, द्वितीय में ८, तृतीय में ८, चौथे में १८, पाँचवीं में १८, छठी में ३२ और सातवीं में भी सम्भवतः ३२ इलेक्ट्रॉन समा सकते हैं । युरैनियम में सातवें वृत्त में केवल ६ इलेक्ट्रॉन ही मौजूद हैं ।

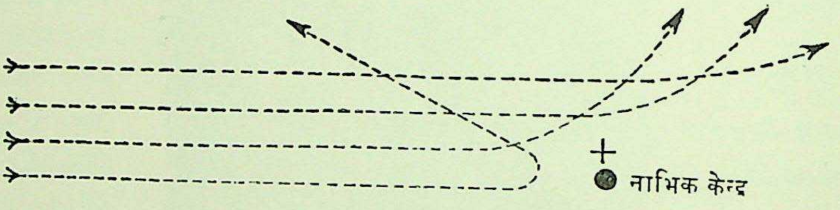

अल्फा-कणों का नाभिक से टकराकर विचलित होना (दे० पृष्ठ ३१६१ का मैटर) ।

नाभिक की संरचना :: न्यूट्रॉन की खोज

नाभिक भी रूढ़िपिण्ड नहीं हैं, इस बात की पुष्टि उसी समय हो गई थी, जब रेडियोधर्मी पदार्थों का पता चला था । रेडियोधर्मी परमाणु के नाभिक से ही अल्फा-कण, गामा-किरण तथा बीटा-किरण बाहर निकलती हैं । किन्तु नाभिकों की सही रचना १९३२ ई० के बाद ही स्थापित की जा सकी, जब कि इंगलैंड के भौतिकशास्त्री चैडविक ने 'न्यूट्रॉन' नाम के नन्हें कणों की खोज की । प्रयोगों द्वारा उसने सिद्ध कर दिया कि कतिपय उपायों द्वारा परमाणु-नाभिक से हम ऐसे कण प्राप्त कर सकते हैं, जिनका भार प्रोटॉन के भार के बराबर होता है, किंतु विद्युत्-आवेश उनमें किसी भी जाति का नहीं होता—न ऋण-विद्युत् और न धन-विद्युत् ही । इन्हीं अविद्युत्-कणों को 'न्यूट्रॉन' का नाम दिया गया ।

न्यूट्रॉन की मदद से नाभिक-रचना का प्रश्न सहज ही हल किया जा सका । यह ज्ञात हुआ कि परमाणु-नाभिक प्रोटॉन तथा न्यूट्रॉन-कणों द्वारा निर्मित होते हैं । नाभिक के अंदर इलेक्ट्रॉन, कतई नहीं होते । परमाणु में परिक्रमा लगानेवाले इलेक्ट्रॉनों की जितनी संख्या होती है, नाभिक में ठीक उतने ही प्रोटॉन मौजूद होते हैं । इनके अतिरिक्त नाभिक में उतने न्यूट्रॉन भी होते हैं, जो परमाणु के भार का मान पूरा कर दें——जैसे कि हाइड्रोजन के नाभिक में १ प्रोटॉन होता है, जिसका परमाणु-भार भी १ है । द्वितीय तत्त्व हीलियम के परमाणु में २ इलेक्ट्रॉन परिक्रमा लगाते हैं, अतः इसके नाभिक में २ प्रोटॉन होते हैं । हीलियम का परमाणु-भार ४ होता है, अतः इसके नाभिक में २ न्यूट्रॉन भी मौजूद होते हैं, ताकि भार पूरा पड़ जाय । तृतीय तत्त्व लीथियम के नाभिक के गिर्द ३ इलेक्ट्रॉन चक्कर लगाते हैं, अतः इसके नाभिक में ३ प्रोटॉन साथ ही ४ न्यूट्रॉन होते हैं, ताकि भार ७ हो जाय । ९२वें तत्त्व युरैनियम के नाभिक में ९२ प्रोटॉन होते हैं । चूंकि इसका परमाणुभार २३८ होता है, अतः इस भार को पूरा करने के लिए इसके नाभिक में २३८-९२＝१४६ न्यूट्रॉन-कण पड़े रहते हैं ।

बाह्य रूप एक जैसा, किन्तु नाभिक में अंतर

समस्थानिक(आइसोटोप)—ब्रिटिश भौतिकशास्त्री टामसन ने एक प्रयोग में अल्प दबाव पर नली में नियन गैस लेकर उसमें से ऊंचे वोल्टेज पर विद्युत् विसर्जन कराया । अपनी कैथोड-प्लेट में टामसन ने एक बारीक सूराख रखा था, ताकि नियन:परमाणु के इलेक्ट्रॉन जब कैथोड-किरणों के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आघात से पृथक् हो जाएँ, तो धन-विद्युत् के नियन-नाभिक कैथोड-प्लेट से इलेक्ट्रॉनों की विपरीत दिशा में चलें। धन-विद्युत्‌वाले इन नाभिकों की बारीक बौछार को जब उसने एक शक्तिशाली चुम्बक के सिरों के दर्मियान से गुजरने दिया, तो पाया कि नाभिक-कणों की बौछार दो धाराओं में विभक्त हो गई और दो विभिन्न वक्र मार्गों का अनुसरण करके फोटोग्राफी की प्लेट पर दो विभिन्न स्थानों पर एकत्र हुई । स्पष्टतः इसका कारण यह था कि धन-विद्युत् के ये नाभिक दो भिन्न भार के थे--अर्थात् नियन के सभी परमाणु समान भार के नहीं थे । हिसाब लगाने पर पता चला कि कुछ नियन-परमाणु २० भार के थे और कुछ का भार २२ था ।

डाल्टन के परमाणुवाद की एक प्रमुख मान्यता यह थी कि एक ही तत्त्व के सभी परमाणु सदैव ही भार, आकार, गुण, आदि में एक समान ही होते हैं । किन्तु टामसन के इस प्रयोग ने डाल्टन के परमाणुवाद को मानो अंतिम ठोकर दे दी ।

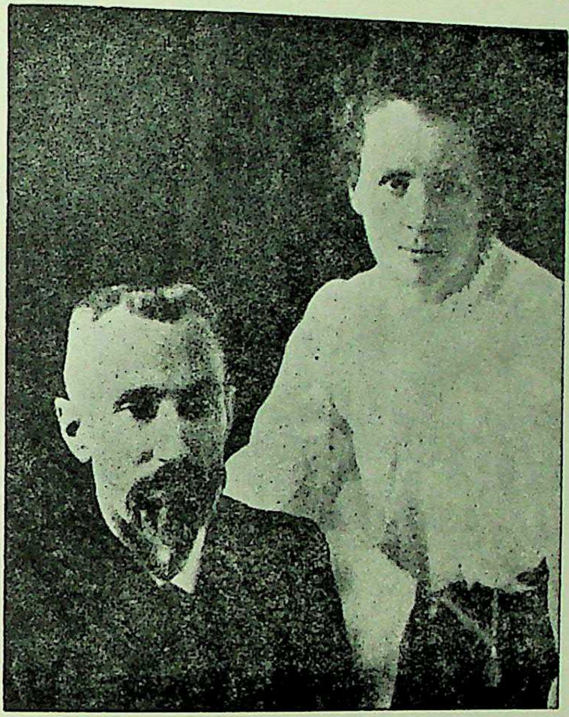

'रेडियम' की खोज करनेवाली मैडेम क्यूरी और उनके पति ।

प्रश्न यह है कि रासायनिक क्रिया द्वारा नियन के विभिन्न भारवाले परमाणुओं की पहचान अब तक क्यों नहीं की जा सकी थी ? इसका कारण यह है कि रासायनिक गुण परमाणु के बाहरी खोल के इलेक्ट्रॉनों द्वारा निर्धारित होते हैं । किसी भी रासायनिक क्रिया में परमाणु का नाभिक एकदम अछूता ही बना रहता है । अतः भार में अन्तर होने के बावजूद भी ये परमाणु समान रासायनिक गुण प्रदर्शित करते हैं, क्योंकि नाभिक के बाहर इलेक्ट्रॉनों की सजावट तथा उसकी संख्या में कोई अन्तर नहीं रहता ।

एक ही तत्त्व के ऐसे परमाणु, जिनके भार भिन्न होते हैं, 'समस्थानिक' (आइसोटोप) कहलाते हैं । क्लोरीन के भी दो परमाणु समस्थानिक होते हैं—एक समस्थानिक का परमाणुभार ३५, दूसरे का ३७ होता है । ये दोनों इस अनुपात से परस्पर भिन्न रहते हैं कि औसत परमाणुभार ३५.५ प्राप्त होता है । अब तक लगभग तीन-चौथाई मूल तत्त्वों के समस्थानिकों का पता लगाया जा चुका है, जिनकी संख्या १,००० से ऊपर पहुँचती है ।

स्वयं हाइड्रोजन के तीन समस्थानिक पाए जाते हैं—सामान्य हाइड्रोजन-परमाणु का भार १, द्वितीय समस्थानिक का भार २ तथा तृतीय समस्थानिक का परमाणुभार ३ है । २ परमाणु-भारवाले हाइड्रोजन को 'भारी हाइड्रोजन' कहते हैं ।

समस्थानिकों के परमाणुओं की केवल नाभिक-रचना में ही अन्तर होता है । उदाहरण के लिए, सामान्य हाइड्रोजन (परमाणुभार १) के नाभिक में केवल एक प्रोटॉन होता है, भारी हाइड्रोजन (परमाणुभार २) के नाभिक में एक प्रोटॉन तथा एक न्यूट्रॉन और ३ परमाणु-भार के हाइड्रोजन नाभिक में एक प्रोटॉन और दो न्यूट्रॉन होते हैं । अवश्य ही तीनों किस्म के हाइड्रोजन - परमाणु में नाभिक के बाहर बस एक ही इलेक्ट्रॉन चक्कर लगाता है ।

इसी प्रकार २० परमाणु - भारवाले नियन-परमाणु के नाभिक में १० प्रोटॉन और १० न्यूट्रॉन होते हैं; जबकि २२ परमाणुभार वाले नियन के नाभिक में १० प्रोटॉन के अतिरिक्त १२ न्यूट्रॉन होते हैं । दोनों ही के नाभिक के गिर्द चक्कर लगानेवाले इलेक्ट्रॉनों की संख्या १० होती है । सामान्य युरेनियम (परमाणुभार २३८) के साथ उस का समस्थानिक भी अल्प मात्रा में पाया जाता है, जिसका परमाणुभार २३५ है । प्रायः युरेनियम-२३५ की मात्रा सामान्य युरेनियम में लगभग ०.७ प्रतिशत पायी जाती है ।

परमाणु-नाभिक टूटते भी हैं

जब मैडेम क्यूरी और उनके पति द्वारा 'रेडियम' की खोज की गई, तो प्रश्न उठा कि रेडियोधर्मी पदार्थों से निरन्तर विकीरित होने वाली किरणें क्या हैं ? इस प्रश्न का उत्तर

लॉर्ड रदरफोर्ड ने अपने अनुसंधानों द्वारा प्रस्तुत किया। उन्होंने दिखलाया कि रेडियम से निकलने वाली किरणों के पथ के निकट यदि चुम्बक ले जाया जाय, तो यह किरण-पुंज तीन भागों में विभाजित हो जाता है। एक भाग तो चुम्बक से प्रभावित हुए बिना ही अपने पूर्वमार्ग में जाता है; दूसरा भाग अपने पूर्वमार्ग से एक ओर को विचलित हो जाता है और तीसरा भाग विपरीत दिशा में विचलित होता है। रेडियो-सक्रिय-किरणों के तीनों भागों का विशद अध्ययन करने पर यह ज्ञात हुआ कि चुम्बक से अप्रभावित होनेवाली किरणें वास्तव में प्रकाश की जाति की तीव्रभेदी किरणें हैं, जो एक्स-रश्मियों से अधिक ऊर्जा रखती हैं। इन्हें 'गामा-किरण' का नाम दिया गया।

इन किरणों का दूसरा भाग 'बीटा-किरण' कहलाता है, जो वास्तव में तीव्र वेग से चलनेवाले इलेक्ट्रॉनों की बौछार होती हैं। इनका वेग १ लाख मील प्रति सैकण्ड से भी अधिक होता है। रेडियो-सक्रिय किरणों का तीसरा भाग धन-विद्युत्-किरणों की बौछार का बना होता है। ये किरणें 'अल्फा-किरण' कहलाती हैं। इन किरणों के अवयव अल्फा-कणों के बने होते हैं, जिनका धन-विद्युत्-आवेश २ इकाई होता है तथा भार ४ इकाई। अधिक छानबीन करने पर यह ज्ञात हुआ कि अल्फा-कण वास्तव में हीलियम के ही परमाणु हैं, जिनकी खोल के दोनों इलेक्ट्रॉन परमाणु से पृथक् कर दिए गए हैं——अर्थात् अल्फा-कण हीलियम-परमाणु का ही नाभिक है।

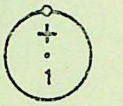

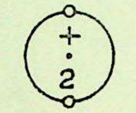

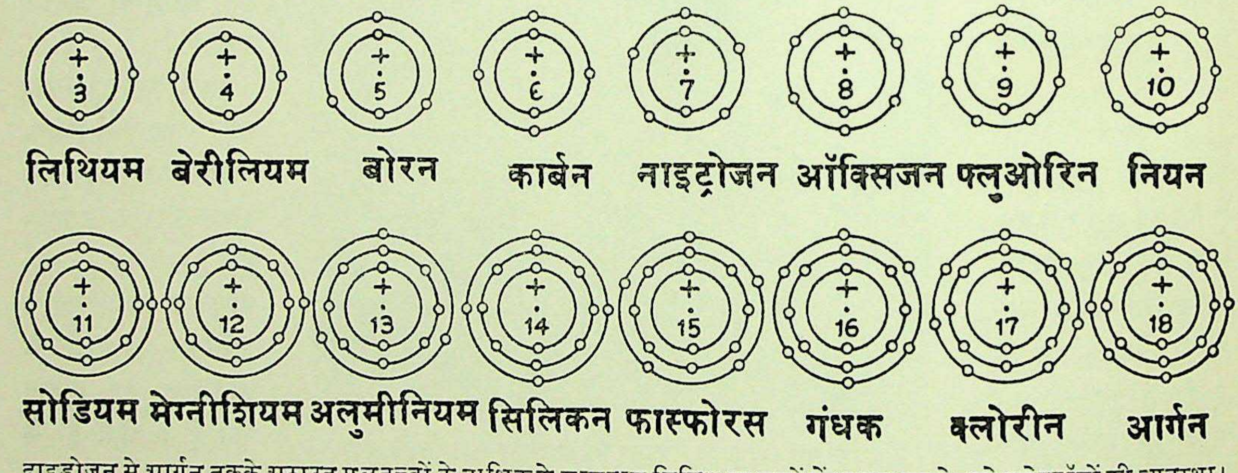

हाइड्रोजन से आर्गन तकके अठारह मूलतत्त्वों के नाभिकके आसपास विविध कक्षाओं में भ्रमण करनेवाले इलेक्ट्रॉनों की व्यवस्था।

रदरफोर्ड तथा सॉडी ने विशेष अध्ययन करके यह सिद्ध किया कि रेडियो सक्रियता में रेडियोधर्मी तत्त्व के परमाणु-नाभिक ही निरन्तर टूटते हैं और इसके फलस्वरूप अल्फा-कण, बीटा-कण अथवा गामा-किरणें बाहर निकलती हैं। जब नाभिक इस तरह टूटता है कि इसके कुछ अवयव बाहर आ जाएँ, तो इस क्रिया को 'परमाणु-विघटन' कहते हैं। इस रेडियोसक्रिय विघटन के फलस्वरूप नवीन तत्त्वों के परमाणु-नाभिक प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए, रेडियम के विघटन के फलस्वरूप रेडन गैस के परमाणु बन जाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि प्रकृति स्वयं ही कीमियागर है——लाखों-करोड़ों वर्ष से वह रेडियो-सक्रियता द्वारा एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व में परिणत करती आ रही है।

रेडियोधर्मी तत्त्व के परमाणु-नाभिक से अल्फा और बीटा-कण तीव्र वेग से निकलते हैं तथा गामा-किरणों में भी ऊर्जा की अत्यधिक मात्रा मौजूद होती है। इससे वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन तत्त्वों के नाभिक में ऊर्जा की अपार राशि संचित है। परन्तु साथ ही साथ प्रश्न यह भी उठा कि जो पदार्थ रेडियोधर्मी नहीं हैं, क्या उनके परमाणु-नाभिक में भी इसी प्रकार ऊर्जा की अमित राशि संचित है? क्या हम स्वयं अपने बलबूते पर नाभिक में बँधी ऊर्जा को विमुक्त नहीं कर सकते? नाभिक को तोड़कर क्या परमाणु-ऊर्जा पर हम काबू पा सकते हैं? इस प्रकार अनेक प्रश्न तत्कालीन वैज्ञानिकों के मन में उठे और फलतः वे इन प्रश्नों को हल करने में जुट गए।

प्रयोगशाला में परमाणु-विघटन

इस दिशा में सर्वप्रथम सफलता लॉर्ड रदरफोर्ड को मिली। परमाणु-विघटन के लिए आवश्यक था कि परमाणु पर ऐसे शक्तिशाली कणों से प्रहार किया जाय, जो आकार में नन्हें

होने पर भी अपने साथ अधिक ऊर्जा लेकर परमाणु-नाभिक से भिड़ सकें। उन्हें यह सूझा कि इस कार्य के लिए क्यों न रेडियम से निकलनेवाले तीव्रगामी अल्फा-कणों को ही एक शक्तिशाली कार्तूस की तरह काम में लाया जाए। उन्होंने एक बक्स के अन्दर रेडियम का एक नन्हा-सा टुकड़ा रक्खा (दे० पृ० ३१६७ का मानचित्र)। बक्स की दीवार पर एक नन्हीं खिड़की थी, जिस पर चाँदी का वर्क मढ़ा गया था ताकि अल्फा-कण बाहर न निकलने पाएँ। खिड़की के सामने बाहर काँच का पर्दा था, जिस पर जिंक-सल्फाइड का मसाला पुता था। जब बक्स में नाइट्रोजन गैस भरी गई, तो देखा गया कि काँच के पर्दे पर नन्हें-नन्हें बिंदुओं पर क्षणिक चमक उत्पन्न होती थी। परीक्षा करने पर पता चला कि खिड़की के बाहर प्रोटॉन-कण आ रहे थे। बक्स के अंदर की गैस की परीक्षा करनेपर उसमें ऑक्सिजन की उपस्थिति पाई गई। इस प्रकार रदरफोर्ड का प्रयोग सफल हुआ और प्रयोगशाला में पहली बार एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व में बदलने का करिश्मा पूरा हो सका। रदरफोर्ड ने कीमियागरों का स्वप्न सच कर दिखाया! उन्होंने अल्फा-कणों के प्रहार से नाइट्रोजन-परमाणुओं का विघटन करके 'ऑक्सिजन' प्राप्त की! यह क्रिया इस प्रकार व्यक्त की जा सकती है:--

नाइट्रोजन + अल्फा-कण

——→ऑक्सिजन + प्रोटॉन

रदरफोर्ड के इस क्रांतिकारी प्रयोग से उत्साहित होकर अन्य वैज्ञानिकों ने भी इस क्षेत्र में अनुसंधान करना आरम्भ किया। पर शीघ्र ही यह महसूस किया जाने लगा कि नाभिक-विघटन के लिए अल्फा-कण बहुत बढ़िया किस्म के कारतूस नहीं हैं। एक तो ये भारी-भरकम होते हैं, दूसरे इन पर धन-विद्युत्-आवेश २ इकाई होता है। अपने अत्यधिक धन-आवेश के कारण नाभिक के निकट पहुँचने पर इन पर प्रतिकर्षण-बल बहुत अधिक पड़ता है, अतः बहुधा ये इधर-उधर बहक जाते हैं। लाखों में से एकाध ही अल्फा-कण कभी कदाचित् नाभिक तक पहुँच पाता है--सो भी उस दशा में जबकि उसकी रफ्तार विशेष हो तथा गति-दिशा ठीक नाभिक-बिंदु की ओर पड़े। भला, कौन शिकारी चाहेगा कि उसके हजारों कारतूस व्यर्थ चले जाएँ!

प्रोटॉन द्वारा विघटन

इस सिलसिले में वैज्ञानिकों का ध्यान स्वभावतः प्रोटॉन पर गया, क्योंकि इसका भार १ होता है और धन-विद्युत्-आवेश भी १ इकाई होता है। इस लिए परमाणु-नाभिक के निकट जाने पर इस पर इतना हटाव का बल नहीं लगेगा, जितना अल्फा-कण पर लगता है। इस नए साधन से अनेक तत्त्वों के परमाणु-नाभिकों का विघटन करके उन्हें अन्य तत्त्वों में परिवर्तित करना संभव हुआ। उदाहरण के लिए, प्रोटॉन को ऊँचे वोल्टेज की विद्युत् से लगभग ३,००० मील प्रति सैकण्ड का वेग प्रदान किया गया और जब उससे लीथियम-परमाणु पर प्रहार किया गया, तो हीलियम के परमाणु मिले--

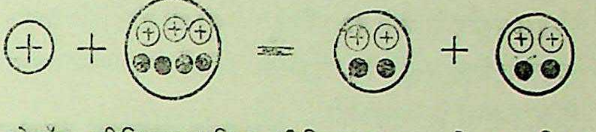

प्रोटॉन लीथियम-नाभिक हीलियम-परमाणु के २ नाभिक

अर्थात् इस क्रिया में एक प्रोटॉन जब लीथियम के एक नाभिक में समा गया, तो वह लीथियम-नाभिक तुरन्त ही हीलियम के दो नाभिकों में परिणत हो गया।

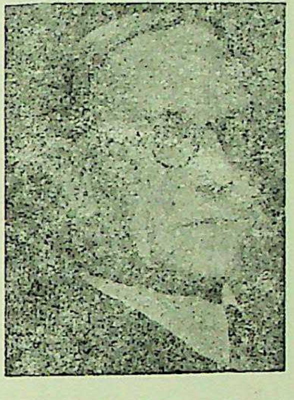

'न्यूट्रॉन' की खोज करनेवाला ब्रिटिश वैज्ञानिक चैडविक।

विद्युत्-कणों को तीव्र वेग प्रदान करनेवाले यंत्र

नाभिक को तोड़ने के लिए आवश्यक है कि उस पर फेंके गए विद्युत्-कणों की ऊर्जा अत्यधिक मात्रा में बढ़ायी जाए। इस कार्य के लिए शक्तिशाली यंत्रों का निर्माण किया गया है। ये यंत्र विद्युत्-कणों का वेग बेहद बढ़ा सकते हैं। इनमें से कुछ यंत्रों का विवरण नीचे दिया जा रहा है:--

'वान डी-ग्राफ जनरेटर'--ऊँचे वोल्ट की विद्युत् उत्पन्न करने की यह मशीन सब से पहले अमेरिका की प्रिंस्टन-युनिवर्सिटी के प्रयोगशाला में प्रोफेसर वान डी-ग्राफ ने तैयार की थी। अतः उन्हीं के नाम पर इस यंत्र को 'वान डी-ग्राफ जनरेटर' कहते हैं। इसमें एक ऊँचे खोखले स्तम्भ के ठीक बीच में दो घिरनियों के सहारे फेल्ट की बनी एक पेटी तीर की दिशा में तेजी से चलाई जाती है। पेंदे के निकट की नुकीली छड़ का सम्बन्ध एक घर्षण-विद्युत्-मशीन से जुड़ा रहता है, अतः इसका विभव लगभग ५०,००० वोल्ट हो जाता है। पेटी इस छड़ से ५०,००० वोल्ट की ऋण-विद्युत् लेकर जब ऊपर पहुँचती है, तो वहाँ सामने लगी हुई नुकीली छड़ को वह अपनी सम्पूर्ण विद्युत् दे देती है। यह छड़ बाहरी धातु के खोखले आवरण को स्पर्श करती रहती है। अतः इस आवरण पर

धीरे-धीरे ऋण-विद्युत् की मात्रा इकट्ठी होती जाती है और इस प्रकार इसका विभव अत्यन्त ऊँचा बढ़ जाता है——लगभग २० लाख वोल्ट ! इस प्रकार की मशीन का आकार बहुत ही बड़ा होता है । उदाहरण के लिए, कैलिफोर्निया के मैसाचुसेट्स इन्स्टीटयूट में एक वान डी-ग्राफ जनरेटर का निर्माण किया गया, जिसकी ऊँचाई ४३ फीट थी तथा नीचे और ऊपर लगे हुए धातु के गोलों के व्यास १५ फीट थे ! प्रयोगशाला में इस मशीन को खड़ा करना संभव नहीं था, अतः इसके लिए जैपलिन वायुपोत को रखने का एक ऊँचा शेड काम में लाया गया !

इस प्रकार के यंत्रों द्वारा विद्युत्-कणों को तीव्र गति प्रदान करने के लिए उन्हें काँच की चौड़ी नली में बन्द करना पड़ता है और नली के अन्दर की लगभग सारी हवा पम्प द्वारा बाहर निकालनी पड़ती है । ऐसी दशा में यह खतरा उत्पन्न हो सकता है कि यदि काँच उत्तम श्रेणी का नहीं हुआ, तो ऊँचे वोल्टवाली विद्युत् इसकी दीवार को भेदकर बाहर निकल आएगी और सारा प्रयोग चौपट हो जाएगा ।

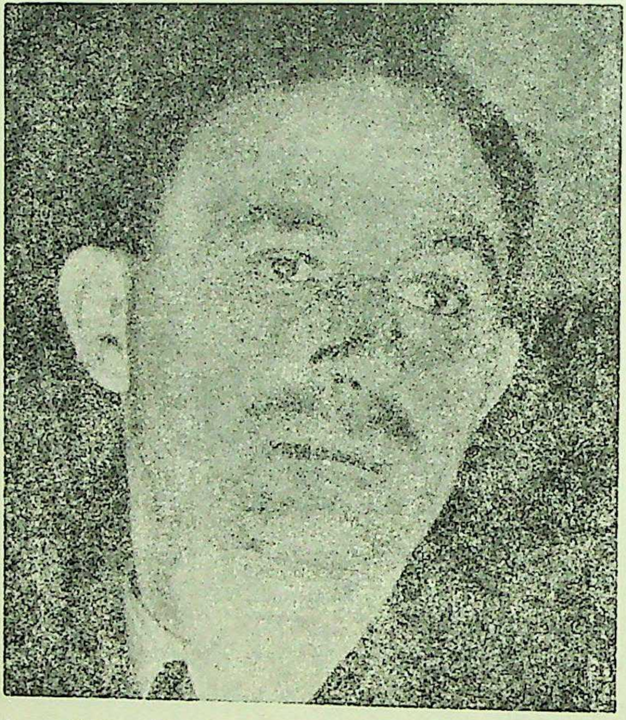
प्रो० फर्मी, जिन्होंने पहले पहल युरैनियम-२३५ का विखंडन किया ।

सायक्लोट्रॉन — शीघ्र ही इस बात की आवश्यकता का अनुभव किया गया कि अपेक्षाकृत कम वोल्ट की मशीन द्वारा ही विद्युत् - कणों की गतिज ऊर्जा बढ़ाई जाय, ताकि प्रयोग में आसानी हो और यंत्र के परिचालन में भी सुविधा रहे, वरना ऊँचे वोल्टवाली मशीन के लिए तो स्विच खोलने या बंद करने में भी भारी खतरा मौजूद रहता है । कारण, तनिक भी असावधानी हुई नहीं कि स्विच में उठनेवाली चिनगारी स्विच खोलनेवाले को ही भस्म कर सकती है ! फलस्वरूप सायक्लोट्रॉन मशीन का निर्माण हुआ । इस के आविष्कार का श्रेय अमेरिका के वैज्ञानिक अर्नेस्ट लॉरेंस को है । इसी महत्वपूर्ण आविष्कार के उपलक्ष में १९४० में उन्हें नोबेल-पुरस्कार भी प्रदान किया गया था । इस यंत्र की विशेषता यह है कि इसके परिचालन के लिए बहुत ऊँचे वोल्ट की विद्युत् की आवश्यकता नहीं पड़ती । इसका सिद्धांत इस प्रकार का है । यदि हम झूले को बार-बार हल्का धक्का दें, तो कुछ देर के उपरांत वह तेजी के साथ लम्बे पेंग भरने लगता है । इसी प्रकार सायक्लोट्रॉन में विद्युत्-कणों को विद्युत्-क्षेत्र के द्वारा बार बार ऊर्जा मिलती है । इस क्रिया की कई लाख बार पुनरावृत्ति होने पर कणों का वेग बहुत ही अधिक बढ़ जाता है, मानो उन्हें ५०-६० लाख वोल्ट के विभव द्वारा वेग प्रदान किया गया हो !

इस यंत्र का मुख्य भाग एक वैकुअम-बक्स के अन्दर रखा होता है, जो स्वयं एक शक्तिशाली चुम्बक के ध्रुव-सिरों के बीच स्थापित रहता है । बक्स के अन्दर धातु के दो अर्द्धवृत्ताकार खोखले डिब्बे होते हैं, जिनकी शक्ल अंग्रेजी के D अक्षर जैसी होती है——इन्हें 'डी' कहते हैं। ये दोनों डिब्बे ए० सी० (प्रत्यावर्ती) धारा के सिरों से जुड़े होते हैं। उन दोनों के बीच की जगह में हाइड्रोजन प्रविष्ट कराकर जब उस पर इलेक्ट्रॉनों की बौछार डालते हैं, तो प्रोटॉन उत्पन्न होते हैं । ये प्रोटॉन धन-विद्युत्वाले 'डी' की ओर से ऋण-विद्युत् के 'डी' की ओर भागते हैं । चुम्बकीय क्षेत्र के कारण ये वृत्ताकार परिधि में चलते हैं। अर्द्धवृत्त बनाकर जब ये एक 'डी' से बाहर निकलते हैं, तो उसी क्षण ए० सी० विद्युत् की दिशा बदल जाती है, अतः पुनः इन्हें वेग मिलता है और बगलवाले 'डी' के अन्दर ये फिर अर्द्धवृत्त पूरा करते हैं । रफ्तार बढ़ने के कारण इस वृत्त का फैलाव तनिक बढ़ जाता है । हम कह सकते हैं कि जब ये बार-बार एक 'डी' से निकलकर दूसरे 'डी' में प्रवेश करते हैं, तो विद्युत्-क्षेत्र मानों उन्हें ठोकर मारकर उनका वेग बढ़ा देता है । इस प्रकार उत्तरोत्तर 'डी' की पीठ की तरफ बढ़ते हुए अंत में ये किनारे पर बनी एक खिड़की के रास्ते बाहर निकलकर अपने लक्ष्य से जा टकराते हैं । इस यंत्र से प्राप्त प्रोटॉन की ऊर्जा इतनी होती है, जितनी कि २५ अरब वोल्ट की विद्युत् द्वारा उत्पन्न की जा सकती है !

सायक्लोट्रॉन एक भारी-भरकम यंत्र होता है । कैलिफोर्निया में मैसाचुसेट्स इन्स्टीट्यूट में लारेंस द्वारा निर्मित एक सायक्लोट्रॉन की 'डी' का व्यास ६० इंच है तथा इसमें लगे चुम्बक का वजन २२० टन है ! इस यंत्र की ए० सी० विद्युत् की दिशा प्रति सैकण्ड १ करोड़ २० लाख बार बदलती रहती है । यह कार्य शक्तिशाली रेडियो ट्रान्समिटर द्वारा सम्पादित होता है । इस सायक्लोट्रॉन के ऊपरी ढक्कन को उठाने के लिए क्रेन का प्रयोग करना पड़ता है । (दे० पृ० ३१७० और ३१७१ का चित्र)

सायक्लोट्रॉन का परिचालन करते समय वैज्ञानिकों को अदृश्य किरणों के प्रति सतर्क रहना पड़ता है । जब यंत्र की ताँबे की बनी दीवारों से भीतर के तीव्रगामी प्रोट्रॉन टकराते हैं, तो प्रायः न्यूट्रॉन-कणों की बौछार बाहर निकलती है, जिनकी वेधन-शक्ति अत्यन्त प्रबल होती है । इनके घातक प्रभाव से बचने के लिये यंत्र को सीमेण्ट की दोहरी दीवार से घेर देते हैं और दीवारों के बीच में पानी भर देते हैं, जो अपने अंदर न्यूट्रॉन-कणोंको जज्ब कर लेता है । अक्सर वैज्ञानिक दूर से ही स्वयंचालित यंत्रों द्वारा सायक्लोट्रॉन का परिचालन करते हैं ।

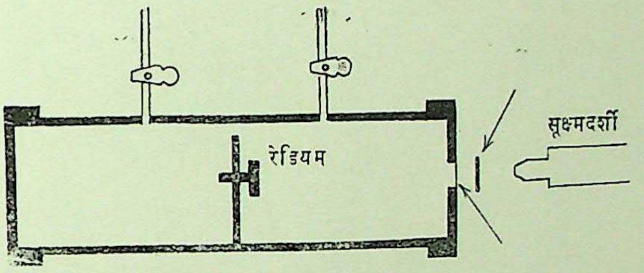

नाइट्रोजन के परमाणुओं का विघटन कराके ऑक्सिजन का प्राप्ति करने का रदरफोर्ड का प्रख्यात प्रयोग (विवरण पृष्ठ ३१६५ पर देखिए) ।

कास्मोट्रॉन —अमेरिका में एक और भी अधिक शक्तिशाली यंत्र 'कास्मोट्रॉन' स्थापित किया गया है । इस विशालकाय यंत्र के गिर्द १० फीट मोटी सीमेण्ट-कंक्रीट की दीवार बनाई गई है, ताकि इससे निकलनेवाली घातक किरणें उसमें जज्ब हो जाएँ । इस यंत्र में विद्युत्-कण जब लगभग ४० लाख बार वृत्ताकार पथ में चक्कर लगाकर बाहर निकलते हैं, तो उनकी ऊर्जा कई करोड़ वोल्ट विद्युत् द्वारा प्रदान की गई ऊर्जा के बराबर होती है । ये कण बाहर निकलते समय करीब १,८०,००० मील प्रति सैकण्ड के वेग से गति करते हैं—लगभग प्रकाश के वेग के बराबर ! इस यंत्र के अन्दर ये विद्युत्-कण घेरे में दौड़ लगाकर लगभग उतनी ही दूरी तय कर लेते हैं, जितनी पृथ्वी से चन्द्रमा के बीच की दूरी है !

बीटाट्रॉन—यह यंत्र केवल इलेक्ट्रॉन को तीव्र गति प्रदान कर सकता है । इसमें छल्ले के आकार की कांच की एक नली में हजारों-लाखों चक्कर लगाकर इलेक्ट्रॉन तीव्र वेग से बाहर निकलते हैं । इन्हें वृत्ताकार पथ में घुमाने के निमित्त एक शक्तिशाली विद्युत्-चुम्बक का उपयोग किया जाता है । इस चुम्बक की शक्ति बदलती रहती है । अत्यधिक वेगवाले इन इलेक्ट्रॉन-कणों की बौछार का उपयोग तीव्रभेदी एक्स-किरणों के उपपादन के निमित्त अथवा नाभिकों के गठन के अध्ययन के लिए किया जाता है । इस विधि से उत्पन्न की गई एक्स-किरणें इतनी तीव्र होती हैं कि वे गज भर मोटी फौलाद की दीवार को भी भेद सकती हैं । ये किरणें कैन्सर तथा ट्यूमर आदि के इलाज के लिये भी प्रयुक्त होती है ।

परमाणु-विघटन के सर्वोत्तम कार्तूस—न्यूट्रॉन

परमाणु-विघटन के लिए धन-विद्युत्-कणों को तीव्र वेग प्रदान करना आवश्यक है, ताकि वे नाभिक-पिण्ड की धन-विद्युत् द्वारा लगनेवाले प्रतिकर्षण (हटाव-बल) पर काबू पाकर उसके अन्दर प्रविष्ट हो जाएँ । यह क्रिया इस प्रकार समझी जा सकती है । कल्पना कीजिए कि किसी टीले पर बने हुए गड्ढे में कुछ गोलियाँ रक्खी हैं । अब यदि उसमें फेंककर एक और गोली डालने का प्रयत्न किया जाय, तो फेंकी गई गोली की रफ्तार यदि काफी तेज हुई, तभी वह गोली कगार पर चढ़कर भीतर पहुँच सकेगी, अन्यथा किनारे से ही एक ओर को लुढ़क जायगी । यदि गोली भीतर पहुँची भी तो गड्ढे की एकाध गोलियों को वह इधर-उधर बिखरा सकती है । इस तरह भीतर की गोलियों के समूह में परिवर्तन हो जायगा । इसी प्रकार तीव्र वेग से फेंका गया धन-विद्युत्-कण भी नाभिक में प्रविष्ट होकर उसके गठन को बदल देता है ।

मान लीजिए कि आप के पास एक ऐसी गोली है, जो टीले की चढ़ाई किए बिना सीधे ही गड्ढे में पहुँच सकती है । तब निश्चय ही गड्ढे की गोलियों के समूह में आसानी से परिवर्तन किए जा सकेंगे । 'न्यूट्रॉन' ठीक ऐसी ही गोली का काम करता है । इसमें किसी भी तरह की विद्युत् नहीं होती । अतः यह बिना प्रतिकर्षण का अनुभव किए ही सीधा नाभिक में प्रवेश कर जाता है और अपनी ऊर्जा की बदौलत उस नाभिक के अन्दर उलटफेर कर सकता है । अतः परमाणु-विघटन की दृष्टि से न्यूट्रॉन सर्वोत्तम प्रहार-अस्त्र सिद्ध हुए हैं ।

परमाणु-विखण्डन

१९३९ ई० की बात है। जर्मनी के प्रसिद्ध भौतिकशास्त्री आटो हॉन न्यूट्रॉन-कणों के प्रहार से युरैनियम के नाभिक को तोड़ने का प्रयोग कर रहे थे। अपने प्रयोगों में वे एक क्रान्तिकारी खोज करने में सफल हुए। उन्होंने देखा कि मन्दगामी न्यूट्रॉन की चोट खाकर युरैनियम-नाभिक दो बड़े टुकड़ों में खंडित हो गया, जो वास्तव में बैरियम और क्रिप्टन के नाभिक थे! अब तक परमाणु को तोड़ने के लिए जितने भी प्रयोग किए गए थे, उनमें यह होता था कि लक्ष्य से भिड़ने पर उसके नाभिक से बस एकाध कण बाहर निकल आते थे, या एकाध कण उसमें जुड़ जाते थे। अतः नये परमाणु मिलते थे, जिनका भार लक्ष्य के परमाणु-भार से एकाध इकाई अधिक होता था या कम। किन्तु आटो हॉन के इस प्रयोग में तो नाभिक दो बड़े टुकड़ों में विभक्त हो गया—साथ ही २ या ३ न्यूट्रॉन तीव्र वेग से बाहर निकले और इसके अतिरिक्त ढेर-सी ऊर्जा भी विमुक्त हुई! नाभिक के इस तरह फटने की क्रिया को 'परमाणु-विखण्डन' का नाम दिया गया।

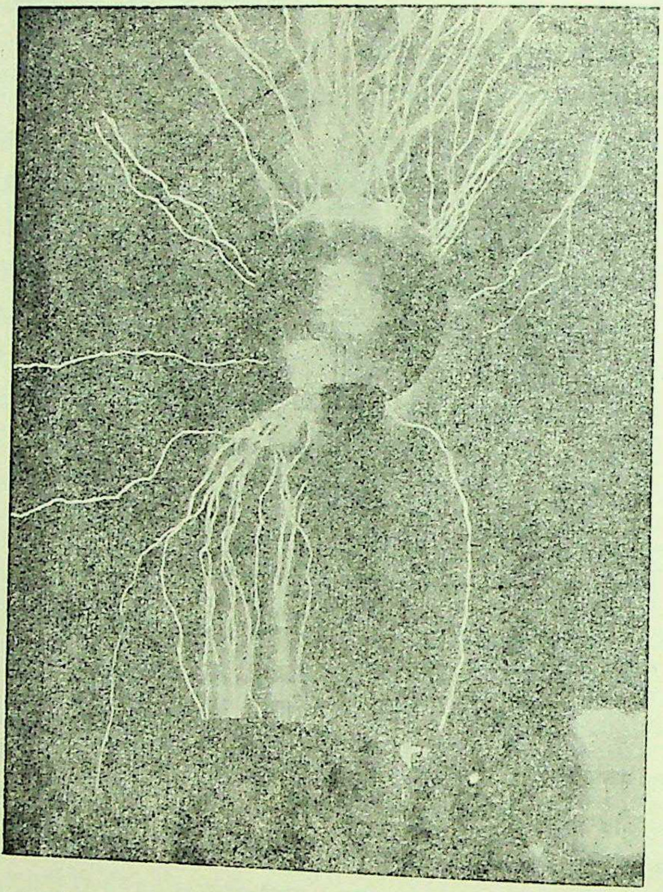

'वान डी-ग्राफ जनरेटर' द्वारा डेढ़ करोड़ वोल्ट का विद्युत्-विसर्जन!

इस प्रयोग के महत्व को वैज्ञानिकों ने सहज पहचाना, अर्थात् एक परमाणु-नाभिक के विखण्डन से मुक्त हुए न्यूट्रॉन यदि अन्य युरैनियम-नाभिक से भिड़ें, तो उसे भी वे खण्डित करेंगे और फिर उससे विमुक्त हुए न्यूट्रॉन अन्य युरैनियम-परमाणुओं का विखंडन करके ऊर्जा उत्पन्न करेंगे। इस तरह विखण्डन की एक शृंखला स्थापित हो जाएगी। इस प्रकार जरा-सी देर में करोड़ों-अरबों युरैनियम-परमाणुओं का बिना किसी बाहरी सहायता के विखण्डन हो जाएगा और फलस्वरूप ढेर-सी ऊर्जा विमुक्त होगी। यह ऊर्जा विस्फोट के रूप में प्राप्त होगी—ठीक उसी प्रकार जैसे कि एक दूसरे से जुड़े हुए पटाखों के ढेर में एक पटाखे को दागने पर एक-एक करके सभी पटाखे पलक मारते विस्फोट कर जायँगे।

युरैनियम-विखण्डन की इस खोज के रूप में मानो वैज्ञानिकों के हाथ परमाणु-ऊर्जा के रहस्योद्‌घाटन की कुञ्जी लग गई। अतः इस क्षेत्र में मनोयोगपूर्वक अनुसन्धान किए जाने लगे। शीघ्र ही यह मालूम किया जा सका कि इन प्रयोगों में विखंडन युरैनियम (२३८) का नहीं होता है, बल्कि इसके समस्थानिक युरैनियम (२३५) का ही विखंडन होता है। अतः यदि विशुद्ध युरैनियम (२३५) को लेकर उसकी ढेरी में न्यूट्रॉन प्रविष्ट करा दें, तो अपरिमित ऊर्जा विमुक्त होगी। इसी प्रकार अन्त में परमाणु-बम के निर्माण की भूमिका तैयार हुई!

साधारण यूरैनियम (२३८) पर तीव्रगामी न्यूट्रॉन-कणों की बौछार डाली जाय, तो उसके फलस्वरूप क्रमशः युरैनियम (२३९) और नेप्चूनियम की उत्पत्ति के बाद 'प्लूटोनियम' प्राप्त होता है (देखिए पृष्ठ ३१७२ का ऊपरी मानचित्र)। मन्दगामी न्यूट्रॉन द्वारा प्लूटोनियम में भी विखण्डन-श्रंखला स्थापित की जा सकती है। अतः यह बात स्पष्ट हो गई कि परमाणु-बम के निर्माण के लिये या तो युरैनियम-२३५ लिया जाय, या फिर प्लूटोनियम को लेना होगा।

परमाणु की इस विखण्डन-क्रिया के फलस्वरूप आखिर इतनी अधिक ऊर्जा क्योंकर उत्पन्न हो जाती है? इस प्रश्न का उत्तर महान् गणितज्ञ आइन्स्टाइन ने लगभग ५० वर्ष पहले ही प्राप्त कर लिया था, जबकि उन्होंने अपने प्रसिद्ध आपेक्षिकता-सिद्धान्त द्वारा यह प्रमाणित कर दिया था कि पदार्थ विलुप्त ऊर्जा का रूप धारण कर सकता है तथा स्वयं ऊर्जा भी पदार्थ में परिणत हो सकती है! उन्होंने तो गणित से हिसाब लगाकर यह भी बता दिया था कि पदार्थ की दी हुई मात्रा के विलुप्त

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

होने पर कितनी ऊर्जा मिलेगी । उनके द्वारा निर्धारित नियम के अनुसार 'क' ग्राम पदार्थ विलुप्त होनेपर क × ३० अरब × ३० अरब 'अर्ग' ऊर्जा देगा ! इसके अनुसार मोटे तौर पर १ तोला पदार्थ से उतनी ऊर्जा प्राप्त होगी, जितनी २४ करोड़ टन कोयले को जलाने से हमें मिलती है ! यही सिद्धान्त यूरैनियम (२३५) के विखण्डन में भी काम करता है । इस क्रिया में पदार्थ का लगभग १,००० वां भाग ऊर्जा में परिणत हो जाता है ।

परमाणु-विखण्डन के इसी सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देकर विनाशकारी परमाणु-बम बनाया गया ! ऐसे अकेले दो बमों ने हिरोशिमा और नागासाकी नामक दो जापानी नगरों की लाखों निरीह जनता के प्राण लिए तथा दोनों शहरों को धराशायी कर दिया ।

परमाणु रीऐक्टर

पिछले युद्ध में परमाणु-बम सरीखे दानवीय अस्त्र के संहारात्मक रूप को देखकर समस्त संसार भय से त्रस्त रह गया था । अतः सभी विचारशील व्यक्ति परमाणु-ऊर्जा के रचनात्मक उपयोग के लिए शोध-अनुसंधान के प्रति सचेष्ट हुए ! समस्या यह थी कि परमाणु-ऊर्जा पर किस प्रकार नियंत्रण प्राप्त किया जाय । कैसे युरैनियम-नाभिकों की विखण्डन की रफ्तार धीमी हो जाय, ताकि उत्पन्न ऊर्जा धीरे-धीरे नियंत्रित तरीके पर विमुक्त होकर उससे कल-कारखानों के लिये चालक शक्ति प्राप्त की जा सके । आखिर आठ-दस वर्ष के अनवरत अनुसन्धान के फलस्वरूप वैज्ञानिक इस प्रयत्न में सफल हो सके । उन्होंने अब ऐसे परमाणु-विखण्डन यंत्र-संस्थानों का निर्माण कर लिया है, जिनके अन्दर युरैनियम-२३५ के परमाणुओं की शृंखलाबद्ध विखण्डन-क्रिया पर पूर्ण रूप से नियंत्रण रखा जा सकता है । इन यंत्र-संस्थानों को 'परमाणु-रीऐक्टर' का नाम दिया गया है ।

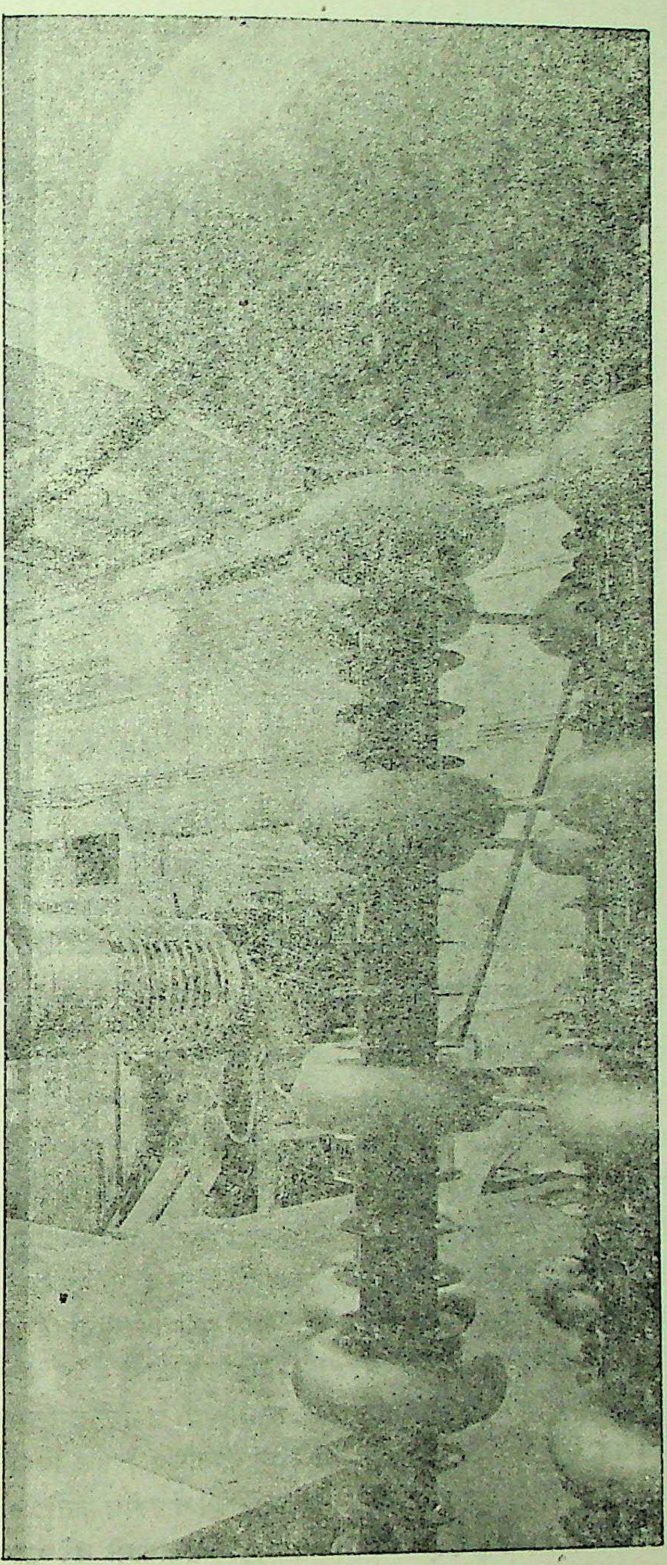

परमाणु-कणों को तीव्रगति प्रदान करने में योग देनेवाली 'काक्रॉफ्ट-वाल्टन जनरेटर' नामक विद्युत्-उत्पादक मशीन ।

हम जान चुके हैं कि न्यूट्रॉन ही युरैनियम-२३५के नाभिक का विखंडन करने में समर्थ होते हैं । पर यदि इनका वेग एक नियत सीमा से अधिक हुआ, तो ये तीव्रगामी न्यूट्रॉन नाभिक का विखंडन किए बिना ही आगे चले जाते हैं । दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि मन्दगामी न्यूट्रॉन ही विखंडन कर पाते हैं । अतः प्रत्येक रीऐक्टर में मोम, ग्रेफाइट अथवा 'भारी पानी' रक्खा जाता है, ताकि तीव्रगामी न्यूट्रॉन इनमें से गुजरने पर मन्दगामी बन

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

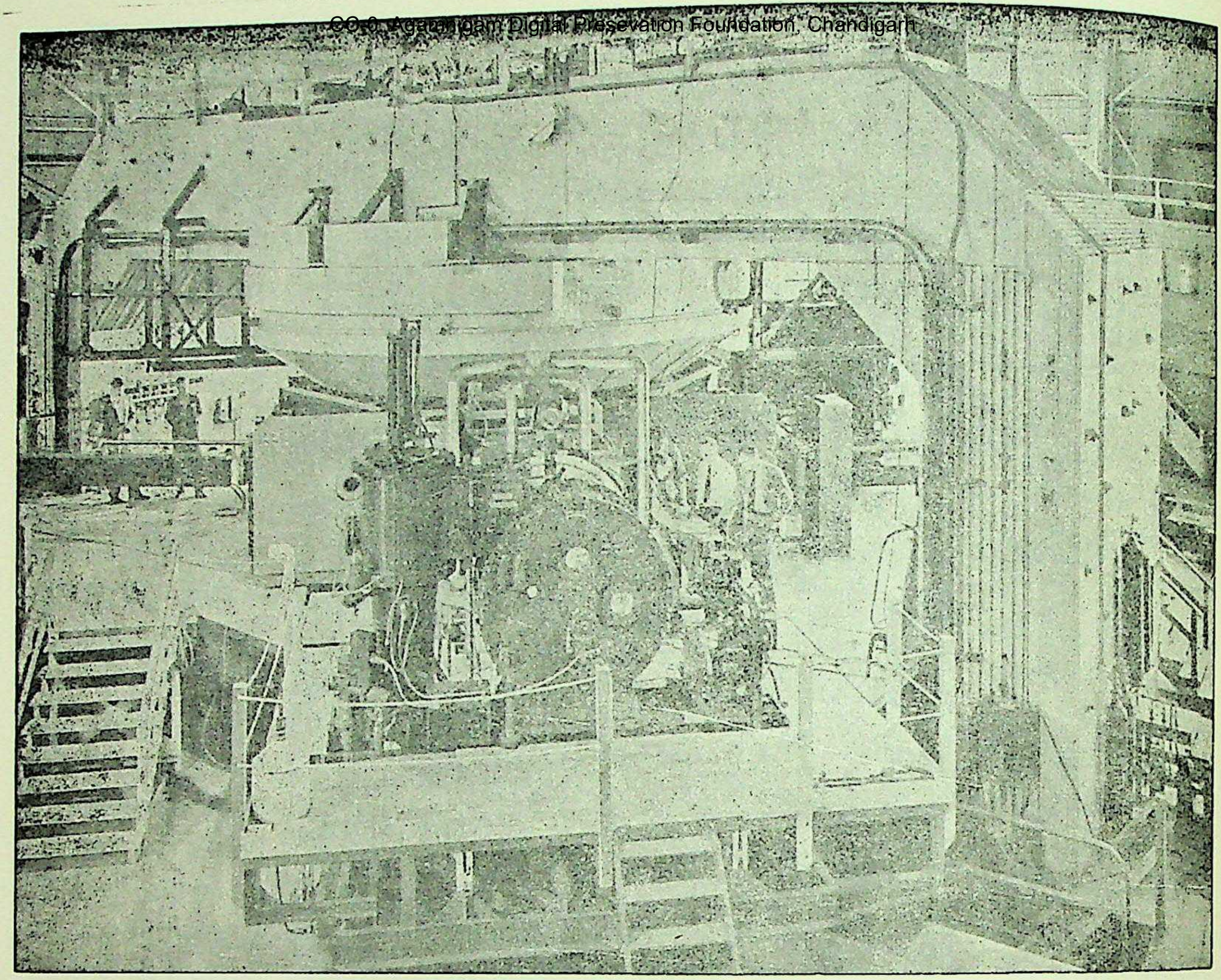

अमेरिका के कैलिफोर्निया-विश्वविद्यालय में स्थापित संसार का सबसे बड़ा 'सायक्लोट्रान'।

जाएँ ('भारी पानी' वास्तव में ऑक्सिजन के साथ हाइड्रोजन के समस्थानिक के संयोग से बनता है। इस समस्थानिक हाइड्रोजन का परमाणुभार २ होता है, जब कि साधारण हाइड्रोजन का परमाणुभार केवल १ है। इस भारी हाइड्रोजन के नाभिक में एक प्रोटॉन और एक न्यूट्रॉन मौजूद होते हैं)। शृंखलाबद्ध विखंडन-क्रिया स्थापित करने के निमित्त यह भी आवश्यक है कि युरैनियम-२३५ की मात्रा बहुत थोड़ी न हो, क्योंकि इस दशा में प्रारम्भ के नाभिकों के फटने से उत्पन्न होनेवाले अनेक न्यूट्रॉन-कण युरैनियम-राशि से बाहर निकल जाएँगे और शृंखला को जारी रखने के लिए वे लभ्य न हो सकेंगे।

परमाणु-बम का उद्देश्य विस्फोट के रूप में कुछ ही क्षणों में अपरिमित शक्ति को उत्पन्न करना होता है, अतः उनके निर्माण के लिए विशुद्ध युरैनियम-२३५ ही काम में लाया जाता है। किन्तु परमाणु-रीऐक्टरमें शक्ति का उत्पादन धीमी गति से कराना अभीष्ट होता है, अतः उसके लिये प्रायः साधारण युरैनियम ही लेते हैं, जिसके अन्दर युरैनियम-२३५ की मात्रा का अनुपात विशेष रूप से बढ़ाया गया होता है। इस पुष्टीकृत युरैनियम में जब न्यूट्रॉन द्वारा विखंडन-क्रिया स्थापित की जाती है, तो युरैनियम-२३५ के नाभिक के फटने पर उसमें से निकलनेवाले तीन न्यूट्रॉन-कणों में से दो न्यूट्रॉन जब मन्दगामी होकर दो नाभिकों का विखंडन करते हैं, तो प्रत्येक से पुनः दो मन्दगामी न्यूट्रॉन निकलकर इस बार चार नाभिकों का विखंडन करते हैं। यह शृंखला जारी रहती है और इस प्रकार शीघ्र ही अनगिनत परमाणु विस्फुटित हो जाते हैं (दे० ३१७२ मानचित्र) इस क्रिया के फलस्वरूप ढेर-सी ऊर्जा ऊष्मा के रूप में उत्पन्न होती है। इस क्रिया में उत्पन्न होनेवाले जो न्यूट्रॉन तीव्रगामी बने रह जाते हैं, वे युरैनियम-२३५ का विखंडन तो नहीं कर पाते, किन्तु साधारण युरैनियम-२३८ के नाभिक से टकराने पर उसी में समाकर ये न्यूट्रॉन एक नवीन मूलतत्व 'प्लूटोनियम' का निर्माण करते हैं। इस तत्व का विशेष गुण यह है कि उपयुक्त वेग के न्यूट्रॉनों द्वारा

इसमें भी शृंखलाबद्ध विखण्डन की क्रिया स्थापित की जा सकती है। वास्तव में, नागासाकी पर गिराया जानेवाला परमाणु-बम प्लूटोनियम का ही बना था, जब कि हिरोशिमा पर गिराया जानेवाला बम युरैनियम-२३५ का बना था। यहाँ हमें स्मरण रखना चाहिए कि 'प्लूटोनियम' प्राकृतिक अवस्था में खान आदि से प्राप्त नहीं होता।

इसके अतिरिक्त न्यूट्रॉन की बौछार यदि परमाणु-रीएेक्टर के अन्दर स्थापित थोरियम पर डाली जाय तो थोरियम एक नवीन धातु 'युरैनियम-२३३' में परिवर्तित हो जाता है। यह युरैनियम-२३३ भी युरैनियम-२३५ या 'प्लूटोनियम' की भाँति न्यूट्रॉन द्वारा शृंखलाबद्ध रीति से विखण्डित किया जा सकता है। अतः हम देखते हैं कि परमाणु-रीऐक्टर के लिए ईंधन के रूप में प्रयुक्त करने के हेतु ये ही तीन धातुएँ लभ्य हैं—युरैनियम-२३५, प्लूटोनियम तथा युरैनियम २३३। इनमें से प्लूटोनियम तो साधारण युरैनियम से प्राप्त किया जा सकता है तथा युरैनियम-२३३ थोरियम धातु से। इस स्थल पर इस बात का उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा कि भारत के केरल राज्य में समुद्रतट पर पाई जानेवाली 'मोनाजाइट' रेत में थोरियम विशेष मात्रा में मौजूद है। संभवतः संसार में इतनी अधिक मात्रा में थोरियम धातु अन्यत्र कहीं भी नहीं पाई जाती। अतः मोनाजाइट रेत से भारतीय परमाणु-रीऐक्टरों के लिए उपयुक्त ईंधन प्रचुर मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए केरल में एक कारखाना भी स्थापित किया गया है, जहां प्रतिवर्ष १,५०० टन मोनाजाइट रेत को साफ करके उससे शुद्ध थोरियम धातु प्राप्त की जाती है।

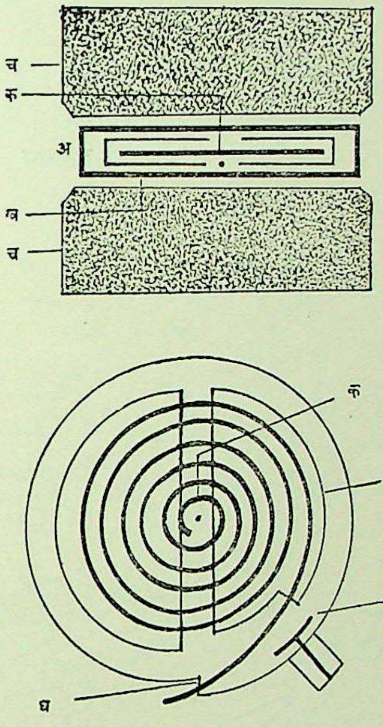

'सायक्लोट्रॉन' यंत्र की रचना:: (ऊपर) पार्श्ववर्त्ती झाँकी; (नीचे) भीतरी योजना [क=आयन-उत्पादक स्रोत; ख='डी'; ग=बहिर्निष्क्रमण-प्लेट; घ=लक्ष्य; च=चुंबक का ध्रुव; अ=वैकुअम टैंक।

परमाणु-भट्टी की बनावट

परमाणु-रीऐक्टर से शक्ति मुख्यतः ऊष्मा के रूप में प्राप्त की जाती है, अतः जनसाधारण की भाषा में इन्हें 'परमाणु-भट्टी' का नाम दे दिया गया है। एक प्रकार से यह नाम उपयुक्त भी है, क्योंकि हम कह सकते हैं कि इसके अन्दर रखा गया युरैनियम ईंधन का काम देता है। ब्वॉयलर की भट्टी की भाँति ही इस यंत्र-संस्थान से उत्पन्न ऊष्मा से भी पानी की भाप उत्पन्न की जाती है, जो वाष्प-इंजिन का परिचालन करती अथवा टरबाइन चलाकर उससे 'डायनमो' का परिचालन करती है। परमाणु-रीऐक्टर की शक्ल, उसकी बनावट आदि में इस दृष्टि से थोड़ा-बहुत अन्तर हो सकता है कि उससे मुख्यतः शक्ति-उत्पादन का काम लिया जा रहा है अथवा परमाणु-विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान के निमित्त उसका उपयोग किया जा रहा है; किन्तु सैद्धान्तिक रूप से प्रायः सभी परमाणु-रीऐक्टरों की कार्य-प्रणाली एक-सी होती है। इन यंत्र संस्थानों के पाँच अंग माने जा सकते हैं:—१. अन्तर्पिण्ड; २. मन्दायक, ३. नियंत्रक, ४. शीतिकारी, ५. रक्षक आवरण।

१. अन्तर्पिण्ड—यह अंग मानो परमाणु-रीऐक्टर का हृदय है। इसी में युरैनियम-२३५ या प्लूटोनियम अथवा युरैनियम-२३३ की राशि संचित होती है। यही रीऐंक्टर का ईंधन है। शृंखलाबद्ध विखण्डन-क्रिया में खण्डित टुकड़े जब तीव्र वेग से निकलते हैं, तो उनकी शक्ति ऊष्मा के रूप में मिलती है। इस क्रिया का सिलसिला जारी रहता है, क्योंकि नाभिक-विखण्डन से मुक्त होनेवाले दो या तीन न्यूट्रॉन-कणों में से एक कण अन्य नाभिकों को खण्डित करने में अवश्य समर्थ होता है। यदि अन्तर्पिण्ड में प्रयुक्त ईंधन की मात्रा पर्याप्त हुई, तो यह क्रिया अपने आप चलती रहती है।

२. मन्दायक—युरैनियम-नाभिक-विखण्डन से मुक्त होनेवाले न्यूट्रॉन-कणों की रफ्तार बेहद तेज होती है; लगभग प्रकाश के वेग के बराबर, अर्थात् प्रति सैकंड १ लाख ८६ हजार मील से थोड़ी ही कम। ये तीव्रगामी न्यूट्रॉन बिना अन्य नाभिकों को खंडित किए सहज ही अन्तर्पिण्ड से बाहर निकल भागते हैं।

अतः यह आवश्यक होता है कि अन्तर्पिण्ड के साथ ऐसा पदार्थ भी रखा जाय, जो इन न्यूट्रॉनों की रफ्तार को मन्द कर सके। इसीलिए इस पदार्थ को 'मन्दायक' का नाम दिया गया है। हलके परमाणु भारवाले तत्व ही इस कार्य के लिए विशेष उपयुक्त ठहरते हैं। अतः मन्दायक के लिए 'भारी पानी' अथवा ग्रेफाइट काम में लाते हैं। 'भारी पानी' ऑक्सिजन और 'भारी हाइड्रोजन' के रासायनिक संयोग से बनता है। यह द्रव्य महंगा पड़ता है। अतः शक्ति उत्पादन वाले परमाणु-रीऐक्टर में मन्दायक के रूप में प्रायः ग्रेफाइट विशुद्ध कार्बन) ही प्रयुक्त होता है; क्योंकि वह इतना महँगा नहीं पड़ता।

३. नियंत्रक—उचित रूप से नियोजित परमाणु-रीऐक्टर में विखंडन की क्रिया अपने आप शृंखलाबद्ध जारी रहती है; इसके लिए किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। अवश्य इस बात की सावधानी बरतनी पड़ती है कि यह विखंडन-क्रिया अत्यंत तीव्र वेग से सम्पादित न हो, वरना एकदम ढेर-सी ऊर्जा विसर्जित होगी, जो किसी रचनात्मक कार्य के लिये प्रयुक्त नहीं हो सकती। कारखाने आदि के लिये शक्ति-उत्पादन करनेवाले परमाणु-रीऐक्टर में इस बात का प्रबन्ध होना चाहिए कि इच्छानुसार विखंडन-क्रिया की रफ्तार तेज की जा सके अथवा उसे हम कम कर सकें और आवश्यकता पड़ने पर एकदम रोक भी सकें। विखंडन-क्रिया पर नियंत्रण रखने की विधि अत्यन्त सरल है। इसके लिए [illegible] की पतली छड़ें या सलाखें प्रयुक्त की जाती हैं। रीऐक्टर में इन्हें इस प्रकार फिट करते हैं कि ये सलाखें जितनी दूर तक चाहें, अंतर्पिंड में प्रविष्ट की जा सकें और जब चाहें इन्हें बाहर खींचा जा सके। इन सलाखों की यह विशेषता होती है कि ये न्यूट्रॉन-कणों को सहज ही अपने में शोषित कर लेती हैं। उक्त न्यूट्रॉन-कणों की संख्या कम हो जाने से विखंडन-क्रिया मंद पड़ जाती है और अब शक्ति-उत्पादन की रफ्तार भी घट जाती है। सलाखों को बाहर की ओर खींचने से विखंडन करनेवाले न्यूट्रॉनों की संख्या बढ़ जाती है। फलतः शक्ति-उत्पादन भी अधिक मात्रा में होता है। इन सलाखों की पूरी लम्बाई तक अन्त पिन्ड में प्रविष्ट करा देने पर विखंडन की क्रिया तुरन्त ही रोकी भी जा सकती है।

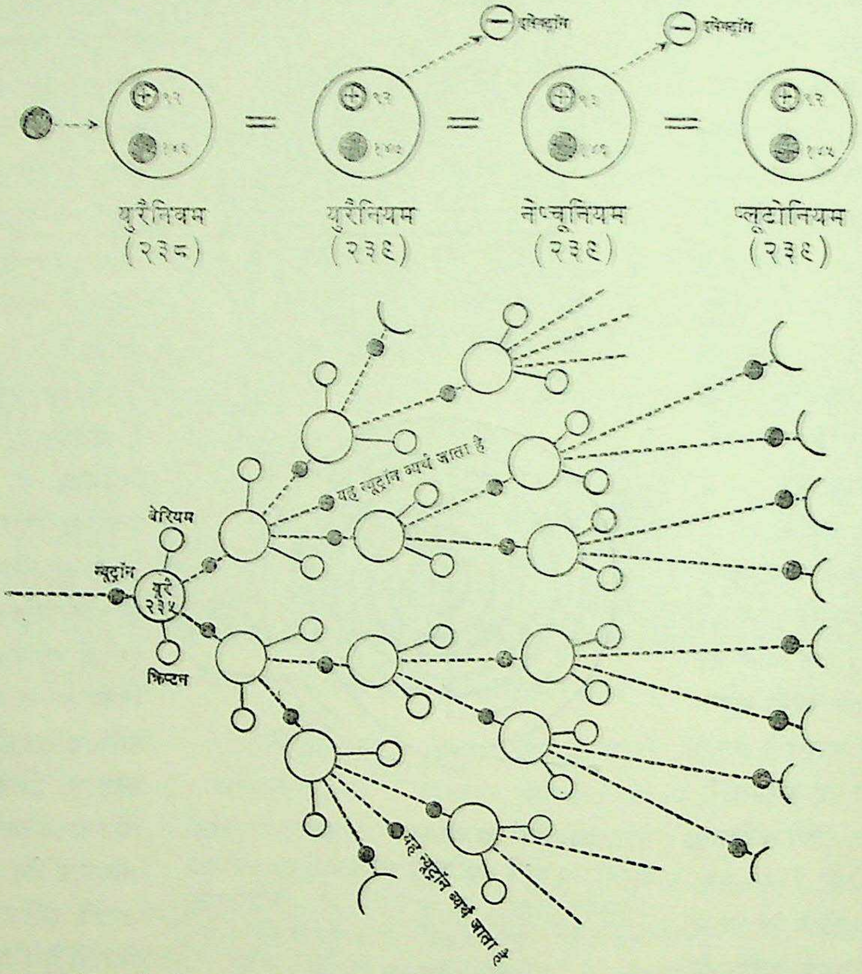

(ऊपर) न्यूट्रॉन के प्रहार से युरैनियम-२३८ की क्रमशः 'प्लूटोनियम' में परिणति; (नीचे) युरैनियम-२३५ में न्यूट्रॉनों द्वारा स्थापित विखण्डन-शृंखला।

४. शीतिकारी—युरैनियम-२३५ के नाभिक के खण्डित होने पर उससे प्राप्त दोनों टुकड़े जब तीव्र वेग से इधर-उधर भागते हैं, तो रीऐक्टर के शेष पदार्थों से टकराने पर ढेर-सी शक्ति ऊष्मा के रूप में प्रकट होती है। इस ऊष्मा की शक्ति को रीऐक्टर से हटाना अत्यावश्यक है, वरना ताप इतना ऊँचा चढ़ जाएगा कि परमाणु-भट्टी ही फुँक जायेगी। प्रारम्भ में अनुसंधान-कार्य के लिए प्रयुक्त होनेवाले रीऐक्टर साधारणतः छोटे आकार के बनाए जाते थे, अतः इन्हें ठण्डा रखने के लिए तेज हवा का झोंका पर्याप्त होता था। किन्तु अब बड़े आकार के परमाणु-

रीऐक्टर की ऊष्मा को बाहर निकालने के लिए पानी अथवा अन्य द्रव प्रयुक्त होता है। यह द्रव [illegible] बहता है और यह नली रीऐक्टर के चारों ओर लपेटी गई होती है। अमेरिका में प्रथम परमाणु-बमों के निर्माण के लिए साधारण युरेनियम से प्लूटोनियम प्राप्त करने के लिए विशालकाय परमाणु-रीऐक्टर बनाए गए थे। इसी ढंग के एक रीऐक्टर को ठंडा रखने के लिए कोलम्बिया नदी की समूची धारा का उपयोग किया गया था! अवश्य इस ढंग से शीतिकारी का उपयोग करने से रीऐक्टर से उत्पन्न हुई समस्त ऊष्मा व्यर्थ ही जाती है। शक्ति-उत्पादन के लिए बनाई गई परमाणु-भट्टी (रीऐक्टर) में उत्पन्न होनेवाली ऊष्मा का इञ्जिन आदि चलाने के निमित्त भरपुर उपयोग किया जाना चाहिए। अतः इस ऊष्मा को रीऐक्टर से प्राप्त करके ब्वॉयलर में ले जाते हैं, ताकि वहाँ पानी की बाष्प पैदा की जा सके। इस भाप से बाष्प-इञ्जिन या भाप के टरबाइन का परिचालन कर सकते हैं। ऐसी दशा में रीऐक्टर के अन्दर से ताप को ब्वॉयलर तक ले जाने के लिए पानी का उपयोग नहीं करते है, क्योंकि पानी थोड़े ही ताप (१०० डिग्री सेन्टीग्रेड) पर उबलने लगता है। इस काम के लिए 'सोडियम-पोटेशियम' नामक मिश्र-धातु द्रव के रूप में प्रयुक्त की जाती है। यह द्रव ऊँचे ताप पर ही उबलता है। संक्षेप में शीतिकारी परमाणु-भट्टी में दोहरा काम करता है। प्रथम, यह यंत्र-संस्थान को अत्यधिक गरम होने से बचाता है; दूसरे, यंत्र-संस्थान की ऊष्मा-शक्ति को अन्यत्र पहुँचाकर उससे उपयोगी कार्य कराता है।

२. रक्षक आवरण — प्रत्येक परमाणु-रीऐक्टर में विखंडन-क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाले तीव्रगामी न्यूट्रॉन-कणों में से अनेक यंत्र-संस्थान से बाहर निकल आते हैं। ये न्यूट्रॉन-कण मन्दायक आदि के बावजूद भी मुख्य यंत्र-संस्थान को भेदकर बाहर निकलने में समर्थ होते हैं। साथ ही तीव्र वेधन-शक्तिवाली गामा-किरणें भी विखण्डन-क्रिया में उत्पन्न होती हैं। ये किरणें वास्तव में एक्स-किरणों की जाति की रश्मियां हैं, किन्तु इनकी वेधन-क्षमता एक्स-किरणों की तुलना में कई गुनी अधिक होती है। न्यूट्रॉन-कणों की बौछार तथा गामा-किरणों का स्पर्श जीवधारियों के शरीर में घातक व्याधियां उत्पन्न करता है। अतः परमाणु-रीऐक्टर को हर तरफ स लगभग सात फीट मोटी कंक्रीट-सीमेंट की दीवार से घेरना आवश्यक होता है। अब ये घातक किरण दीवार में ही जज्ब हो जाती हैं। इस घेरे को 'रक्षक आवरण' कहते हैं; क्योंकि यह घेरा ही रीऐक्टर का परिचालन करनेवाले वैज्ञानिकों को तीव्र कणों तथा गामा-रश्मियों के घातक प्रभाव से बचाता है। कंक्रीट के इस रक्षक आवरण का वजन लगभग सौ सवा सौ टन ठहरता है! इसी कारण परमाणु-भट्टियाँ सदैव ही भारी-भरकम होती हैं।

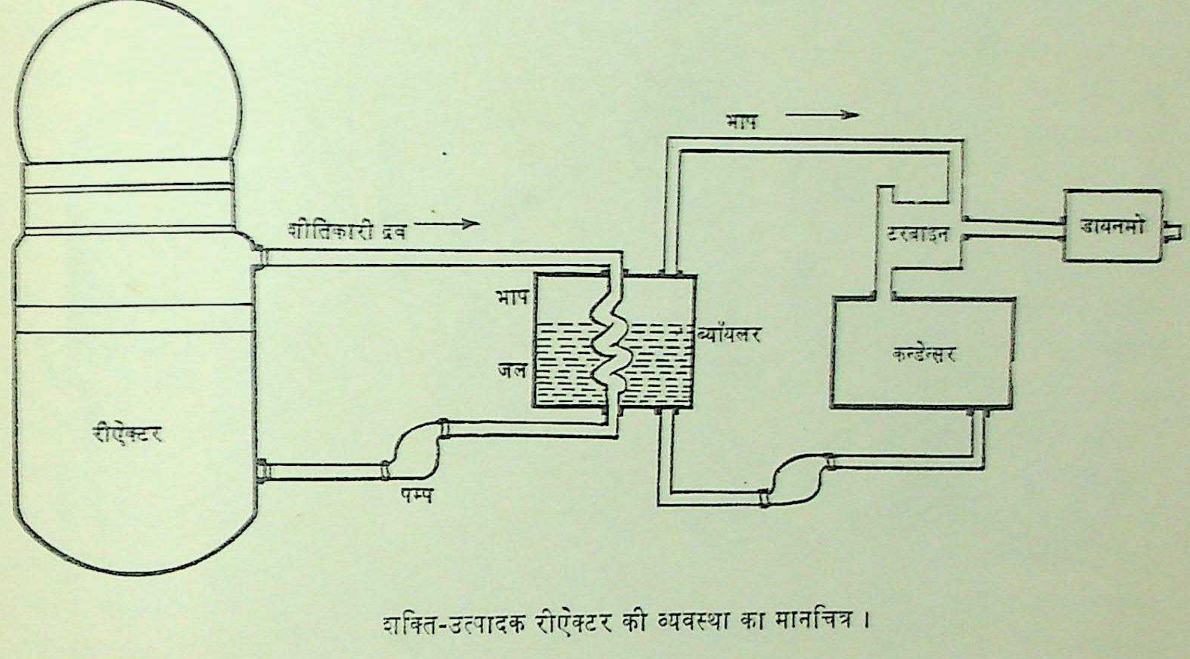

शक्ति-उत्पादक रीऐक्टर की व्यवस्था का मानचित्र।

प्रजनन (ब्रीडर) रीऐक्टर

हम देख चुके हैं कि रीऐक्टर के तीव्रगामी न्यूट्रॉन युरेनियम-२३५ का विखंडन करने में असमर्थ रहते हैं। किन्तु ये ही न्यूट्रॉन साधारण युरेनियम-२३८ पर आघात करके उसे

‘प्लूटोनियम’ में परिवर्तित कर देते हैं, जो स्वयं विखंडित होने की क्षमता रखता है। प्रत्येक नाभिक (युरैनियम-२३५) के विखंडित होने पर दो या तीन न्यूट्रॉन विमुक्त होते हैं—औसत रूप से ढाई न्यूट्रॉन। अब यदि मन्दायक इस प्रकार काम में लाया जाय कि इनमें से केवल एक न्यूट्रॉन मन्दगामी बने, तो यह एक नए युरैनियम-२३५ नाभिक को फाड़ेगा और इससे उत्पन्न होनेवाले न्यूट्रॉनों में से भी केवल एक न्यूट्रॉन फिर नए नाभिकों को फाड़ेगा। किंतु प्रत्येक नाभिक के खंडन पर शेष एक या दो न्यूट्रॉन युरैनियम-२३८ के एक या दो परमाणुओं को प्लूटोनियम में परिवर्तित करेंगे। इस प्रकार इस रीऐक्टर में जितना इंधन युरैनियम-२३५ के रूप में खर्च होगा, उससे अधिक मात्रा में यह प्लूटोनियम का निर्माण करेगा। इसीलिए ऐसे रीऐक्टर को ‘प्रजनन या ब्रीडर रीऐक्टर’ कहते हैं—मानो इसके अन्दर युरैनियम-२३८ से प्लूटोनियम का जन्म होता है, जो अन्य परमाणु-रीऐक्टरों में इंधन की भांति प्रयुक्त हो सकता है।

भारत की परमाणु-भट्टियाँ

स्वयं हमारे देश में भी बम्बई के निकट ट्रॉम्बे में दो प्रायोगिक परमाणु-भट्टियां बनाई गई हैं। इनमें ‘अप्सरा’ नामक परमाणु-भट्टी स्वतः भारतीय वैज्ञानिकों ने अपने आप ही निर्मित की है और दूसरी भट्टी कनाडा के सहयोग से निर्मित हुई है। ‘अप्सरा’ का मुख्य ढांचा २८ फीट लम्बे, २८ फीट चौड़े और १० फीट गहरे जलाशय के ऊपर सीमेन्ट की मजबूत दीवारों पर आरोपित किया गया है। इस ढांचे से पुष्टीकृत युरैनियम (५० प्रतिशत युरैनियम-२३५) की लगभग डेढ़ सूत मोटी १३ चद्दरें अल्युमिनियम के फ्रेम के सहारे नीचे लटकती हैं। ये चद्दरें कमान की तरह थोड़ी झुकी हुई हैं तथा इनके बीच में समान अन्तर रहता है। दीवार की छत पर लोहे की पटरी पर चलनेवाली एक ट्राली द्वारा मुख्य यंत्र-संस्थान जलाशय के एक सिरे से दूसरे सिरे तक खिसकाया जा सकता है। विखण्डन की रफ्तार पर नियंत्रण रखने के लिए अल्युमीनियम की छड़ें प्रयुक्त की जाती हैं, जिन पर कैंडमियम की कलई चढ़ी होती है। चद्दरों के बीच की जगह में इन छड़ों को दूर तक प्रविष्ट कराने पर अनेक न्यूट्रॉन कैंडमियम की तह में ही जज्ब हो जाते हैं, अतः विखण्डन की रफ्तार धीमी पड़ जाती है। जलाशय का पानी शीतिकारी का काम करता है तथा रक्षक आवरण का भी। इस रीऐक्टर से शक्ति-उत्पादन का काम नहीं लिया जा सकता। इसका उपयोग अनुसंधानों के निमित्त ही किया जाता है।

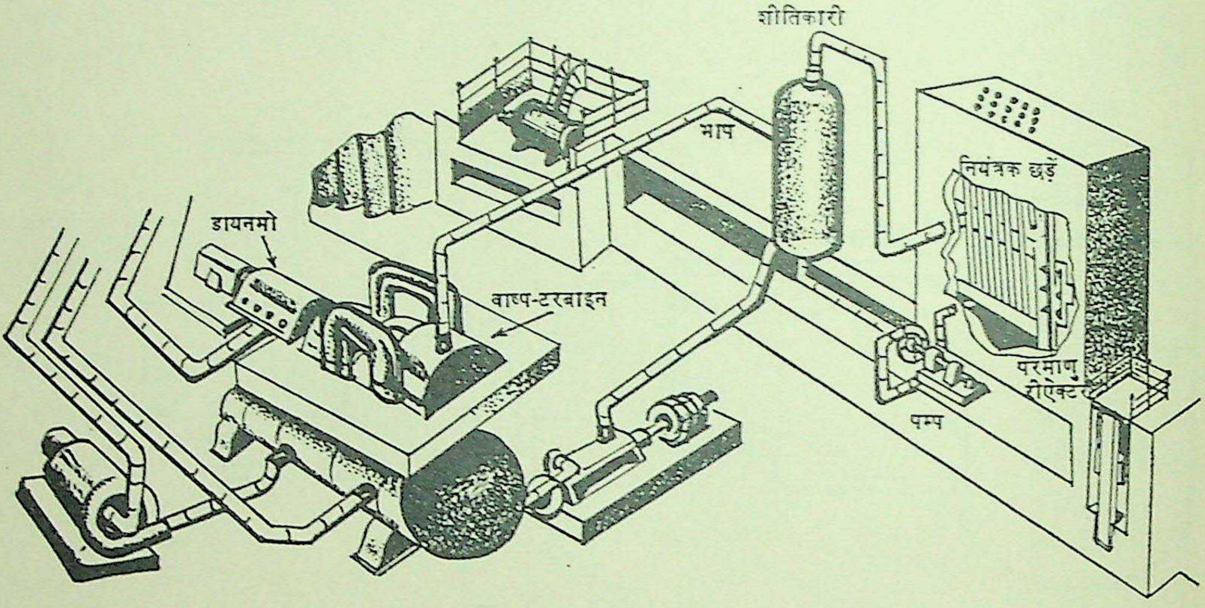

विद्युत्-उत्पादन के लिए स्थापित एक परमाणु-शक्ति-संस्थान का मानचित्र।

दूसरी परमाणु-भट्टी, जो कनाडा के सहयोग से बनी है, ३० फीट ऊँची एक सिलिंडरनुमा टंकी का रूप लिए हुए है, जिसके भीतर १९२ छड़ों में १०॥ टन युरैनियम ईंधन संचित है (दे० पृ० ३०३४ का रंगीन चित्र)। दुर्घटना के समय, बाहरी वातावरण को रेडियोसक्रिय किरणों से दूषित होने से बचाने के लिए समूचा उपकरण १३४ फीट ऊँचे और १२० फीट व्यास के एक सर्वथा बंद हो जानेवाले गुंबदाकार भवन के अंदर स्थापित किया गया है। उधर दूषित वायु के निकास के लिए

४०० फीट ऊँची एक फिल्टर-चिमनी भी खड़ी की गई है। युरेनियम के अतिरिक्त इस रीऐक्टर में लगभग [illegible] 'भारी पानी' भी प्रयुक्त होता है।

परमाणु-भट्टी पर आनेवाली लागत तीन भागों में बाँटी जा सकती है--१. ईंधन का मूल्य, २. भट्टी के परिचालन का दैनिक खर्च, ३. प्रारम्भिक संस्थापन का खर्च। भट्टी के लिए प्रयुक्त ईंधन युरेनियम-२३५ का वर्तमान मूल्य बहुत ही अधिक है--५० हजार रुपए प्रति पौण्ड! किन्तु स्वयं भट्टी के अन्दर ही साधारण युरेनियम से उत्तम ईंधन 'प्लूटोनियम' तैयार किया जा सकता है। अतः लागत के हिसाब के लिए ईंधन का मूल्य वही रखा जा सकता है, जो कि साधारण युरेनियम का है, अर्थात् लगभग १७५ रुपए प्रति पौण्ड। लगभग १ पौण्ड परमाणु-ईंधन से एक बड़े नगर की सभी व्यावसायिक तथा रोशनी-संबंधी बिजली की एक महीने की आवश्यकता पूरी हो सकती है। अतः इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि शक्ति-उत्पादक परमाणु-भट्टी में ईंधन का खर्च नगण्य-सा ही है।

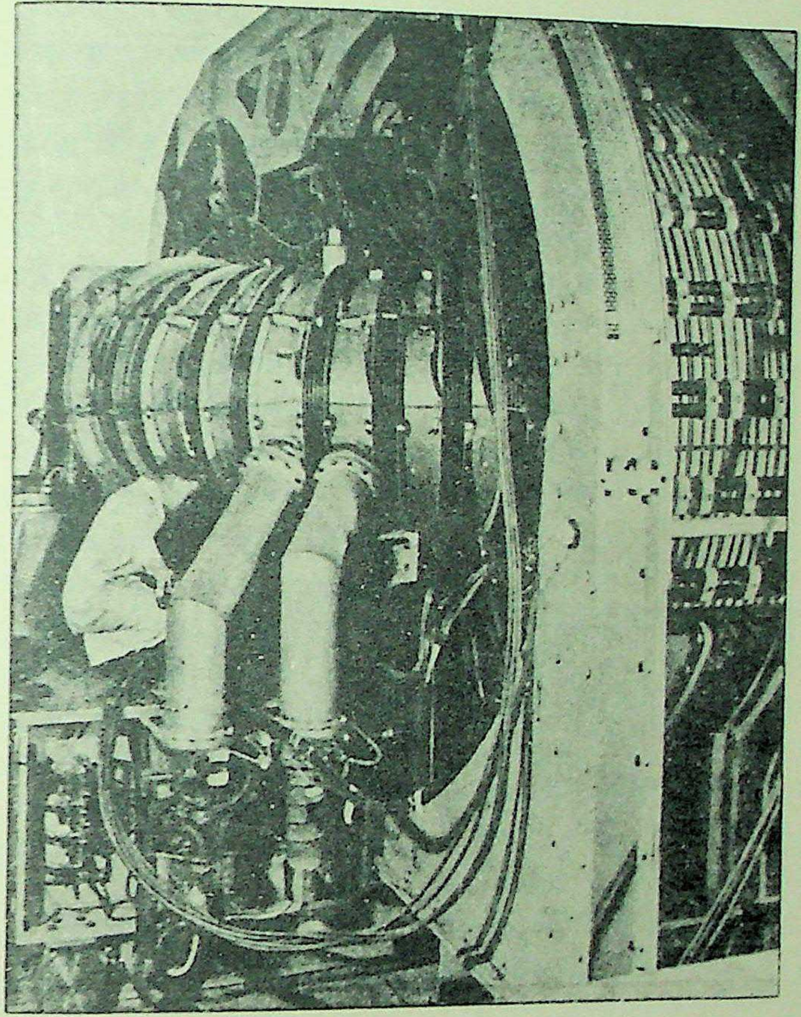

इंगलैंड के एक परमाणु-शक्ति-उत्पादक संस्थान में स्थापित सुप्रसिद्ध 'जीटा' मशीन, जिसमें पचास लाख डिग्री शतांश का ताप उत्पन्न किया जा सकता है!

परमाणु-भट्टी के परिचालन के दैनिक खर्च में इस बात का भी विचार रखना पड़ेगा कि लगभग १ वर्ष बाद भट्टी के अन्दर से मुख्य ईंधन के खण्डित टुकड़ों को हटाना आवश्यक होता है; ताकि उसके अंदर ईंधन की नवीन मात्रा रखी जा सके। इस क्रिया में अनेक सावधानियाँ बरतनी पड़ती हैं, ताकि भट्टी के अंदर के रेडियोसक्रिय पदार्थों की वेधनशील किरणों से कर्मचारियों की सुरक्षा हो सके। इसी क्रियाविधि में साधारण युरेनियम से निर्मित प्लूटोनियम को पृथक् करने का कार्य भी पूरा हो जाता है। इस प्लूटोनियम को अन्य रीऐक्टरों के लिए ईंधन के रूप में बेचकर भट्टी की लागत का खर्च काफी कम किया जा सकता है। अतः कुल मिलाकर परमाणु-भट्टी के ईंधन के मद में खर्च बहुत अधिक नहीं पड़ने का। हाँ, परमाणु-भट्टी के प्रारंभिक संस्थापन में कोयले की भट्टी और उससे सम्बद्ध बॉयलर की तुलना में अवश्य ही अधिक खर्च बैठता है। अमेरिका के आँकड़ों के अनुसार यह खर्च कोयले द्वारा चालित विद्युत्-पावरहाउस के मुकाबले में तीन-चार गुना पड़ता है। आशा की जाती है कि कुछ वर्षों में परमाणु-भट्टियों के डिजाइन में समुचित सुधार करके ऐसे संस्थानों के प्रारम्भिक खर्च में विशेष कमी की जा सकेगी।

परमाणु-शक्ति ही क्यों?

इसमें संदेह नहीं कि निकट भविष्य में हमारे उद्योग-व्यवसाय अथवा घरेलू आवश्यकता के लिए शक्ति के प्रमुख स्रोत परमाणु-भट्टी के संस्थान ही होंगे। अर्थशास्त्र के विशेषज्ञों का

अनुमान है कि यदि समस्त संसार का जीवन-स्तर आज के उच्चतम औद्योगिक स्तर पर रखा जाय, तो संसार की औद्योगिक शक्ति की पूर्ति के लिए धरती के गर्भ में मौजूद समस्त कोयले अथवा पेट्रोल का भांडार लगभग २५ वर्षों के लिए ही पर्याप्त हो पाएगा। इसके प्रतिकूल अब तक उपलब्ध युरेनियम तथा थोरियम की मात्रा लगभग २,००० वर्ष तक हमारी शक्ति-सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ होंगी।

फिर कोयले को दूरस्थ खानों से ढोने में जहाँ अत्यधिक खर्च बैठता है, वहाँ परमाणु-ईंधन के लिए इस मद का खर्च नगण्य ही होगा, क्योंकि ३,००० टन कोयले से जितनी शक्ति प्राप्त होती है, उतनी शक्ति केवल एक किलोग्राम युरेनियम-२३५ से लभ्य हो सकती है। अतः परमाणु-भट्टी के लिए ईंधन की अत्यल्प मात्रा की ही जरूरत पड़ेगी। परमाणु-भट्टी द्वारा चालित पावरहाउस की एक विशेषता यह भी होगी कि भट्टी के इर्द-गिर्द कहीं भी धुआँ या गर्द नहीं उत्पन्न होगा। अतः परमाणु-शक्ति से चालित कारखाने आधुनिक कल-कारखानों की तरह नगर की वायु को धुएँ आदि के कारण दूषित नहीं बनाएँगे। और नागरिकों के स्वास्थ्य पर किसी प्रकार का हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ेगा।

परमाणु-शक्ति के उपयोग और लाभ

परमाणु-शक्ति से जो लाभ हो सकते हैं, उन्हें मुख्यतः चार विभिन्न क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है––१. शक्ति-उत्पादन; २. कृषि एवं उद्योग-व्यवसाय; ३. चिकित्सा, और ४. वैज्ञानिक अनुसन्धान।

शक्ति-उत्पादन के लिए प्रायः परमाणु-रीऐक्टर एक भट्टी के रूप में नगर के केन्द्रीय विद्युत्-पावरहाउस के परिचालन के लिए प्रयुक्त हो सकता है। अमेरिका, रूस तथा इंगलैंड में कई स्थानों पर परमाणु-शक्ति-चालित विद्युत्-पावरहाउस बना भी लिए गए हैं। यातायात के साधनों के लिए भी परमाणु-भट्टी के उपयोग की दिशा में पर्याप्त सफलता मिल चुकी है। विशाल आकार के कारण परमाणु-भट्टी मोटरगाड़ी या वायुयान में तो फिट नहीं की जा सकती, किन्तु बड़े जहाजों के पेंदे पर अथवा पनडुब्बी में इसे सरलतापूर्वक लगा सकते हैं। अमेरिका में 'सवाना' नामक एक विशाल जहाज तथा 'नॉटिलस' आदि चार पनडुब्बियाँ बनाई जा चुकी हैं, जिनमें चालक-शक्ति परमाणु-भट्टी से प्राप्त होती है (दे० पृ० ३१८० का निचला चित्र)। एक बार भट्टी में थोड़ा-सा युरेनियम डाल देने पर ये जलपोत कई महीने तक यात्रा कर सकते हैं। ऐसे प्रदेशों में, जहाँ साल के बारहों महीने समुद्र पर बर्फ जमी रहती है, परमाणु-शक्ति द्वारा चालित पनडुब्बियाँ बर्फ की तह के नीचे ही हजारों मील की यात्रा पूरी कर सकती हैं।

इधर अभी हाल ही में रूस में परमाणु-शक्ति द्वारा चालित एक विशाल बर्फ तोड़नेवाला जहाज बनाया गया है। इसका वजन १३,००० टन है और इसके इञ्जिन ४४ हजार अश्व-शक्ति उत्पन्न करते हैं। यह जहाज छः फीट से ज्यादा मोटी बर्फ की तह को भी आसानी से तोड़ सकता है। एक बार ईंधन भरने पर यह पूरे वर्ष भर बिना दोबारा ईंधन लिए हुए यात्रा कर सकता है। परमाणु-शक्ति द्वारा चालित जहाजों के बारे में इस बात का खतरा अवश्य है कि दुर्घटनाग्रस्त होने पर बन्दरगाह का पानी एक लम्बे काल के लिए दूषित हो सकता है, कारण भट्टी से विकीरित होनेवाले न्यूट्रॉन-कण तथा गामा-रश्मियाँ जीवधारियों पर घातक प्रभाव डाल सकती हैं। दुर्घटना के अवसर पर जहाज के यात्रियों पर भी इन घातक रश्मियों का हानिकारक प्रभाव पड़ेगा ही। इस खतरे को दूर करने के निमित्त उपाय ढूंढ़े जा रहे हैं।

रेलगाड़ी के इंजिन भी वजनी होते हैं, अतः उन पर भी परमाणु-भट्टियों को फिट करना सम्भव है। विशुद्ध 'युरेनियम-२३५' ईंधनवाली परमाणु-भट्टी छोटे आकार की बनाई जा सकती है। किन्तु रेलवे-इंजिन बार-बार चलाए जाते हैं और उन्हें बार-बार बंद भी करना पड़ता है। ये क्रियाएँ परमाणु-भट्टी के अनुकूल नहीं पड़तीं। इससे उनके परिचालन का व्यय बढ़ता है। फिर दुर्घटनाओं के अवसर पर यात्रियों के लिए इनसे व्यापक रूप से खतरा भी उपस्थित हो सकता है। विशेष दशा में तो सारे दुर्घटनास्थल को खतरे का क्षेत्र घोषित करना पड़ेगा। हाँ, हजारों मील की लम्बी यात्रा पर जानेवाली एक्सप्रेस-रेलगाड़ियों के लिए परमाणु-भट्टी द्वारा चालित इंजिन वाञ्छनीय हो सकते हैं।

वायुयानों के लिए हल्के वजन के परमाणु-इंजिन बनाने के लिए अमेरिका और रूस में अनुसंधान किए जा रहे हैं। संभव है, भविष्य में ऐसे इंजिन जेट-वायुयानों में फिट किए जा सकेंगे। परमाणु-शक्ति से चलनेवाले समुद्री जहाजों की तरह परमाणु-शक्तिचालित वाययान भी यदि दुर्घटनाग्रस्त हुआ, तो वह एक भयंकर खतरा पैदा कर देगा। उसके यात्री तो विद्युत्-किरणों से आहत होंगे ही, साथ में दुर्घटनास्थल के गिर्द मीलों तक रेडियोसक्रिय किरणों का प्रभाव फैल जाएगा तथा आसपास की भूमि की उर्वराशक्ति मारी जायगी और पौधे भी विषाक्त हो जाएँगे। विशेषज्ञों का अनुमान है कि ऐसी स्थिति में आठ-दस वर्ष तक निकट की भूमि इस योग्य नहीं रहेगी कि उस पर मवेशी चर सकें।

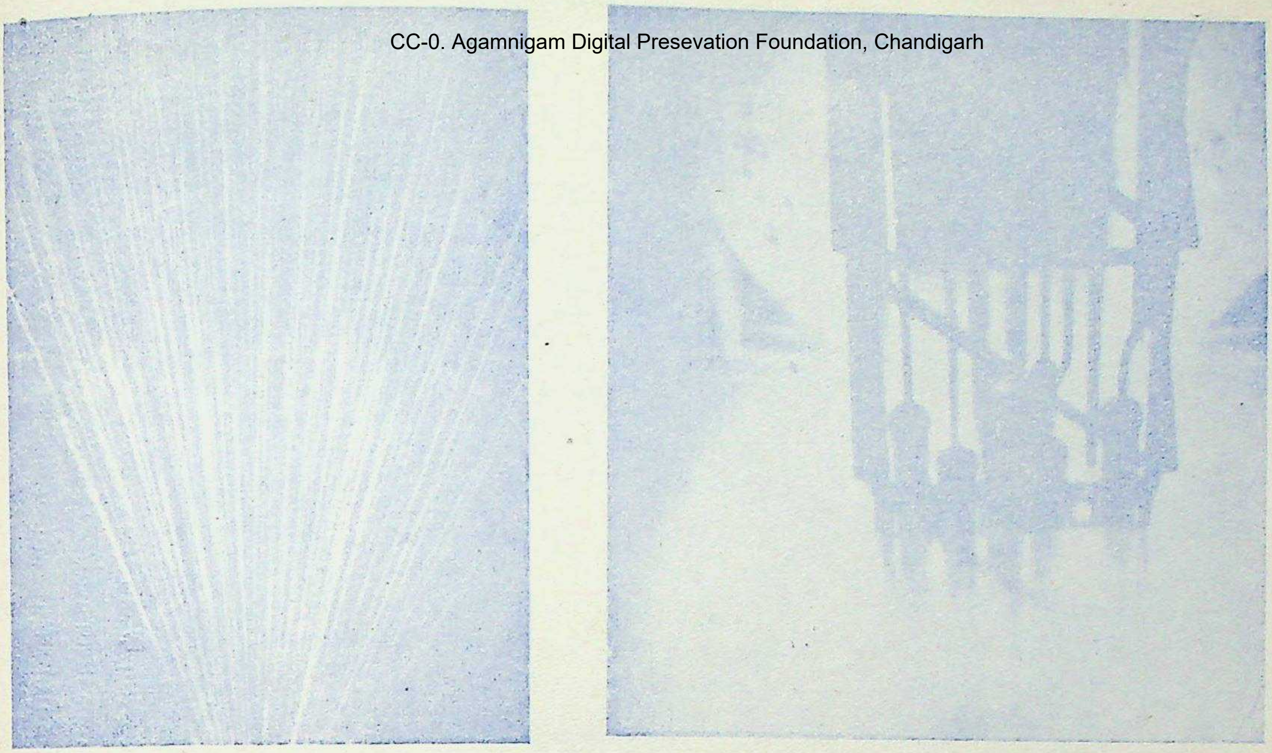

(बाईं ओर) अल्फा-कणों की बौछार :: एक कण ने नाइट्रोजन के परमाणु से टकराकर उसे (जिस प्रकार कि रदरफोर्ड के प्रयोग में हुआ था) विखंडित कर दिया है, जैसा कि ऊपर बाईं ओर की विचलित रेखा द्वारा सूचित है। (दाहिनी ओर) अमेरिका की एक परमाणु-भट्टी के भीतर युरैनियम के विखंडन द्वारा उत्पादित ऊष्मा की झाँकी।

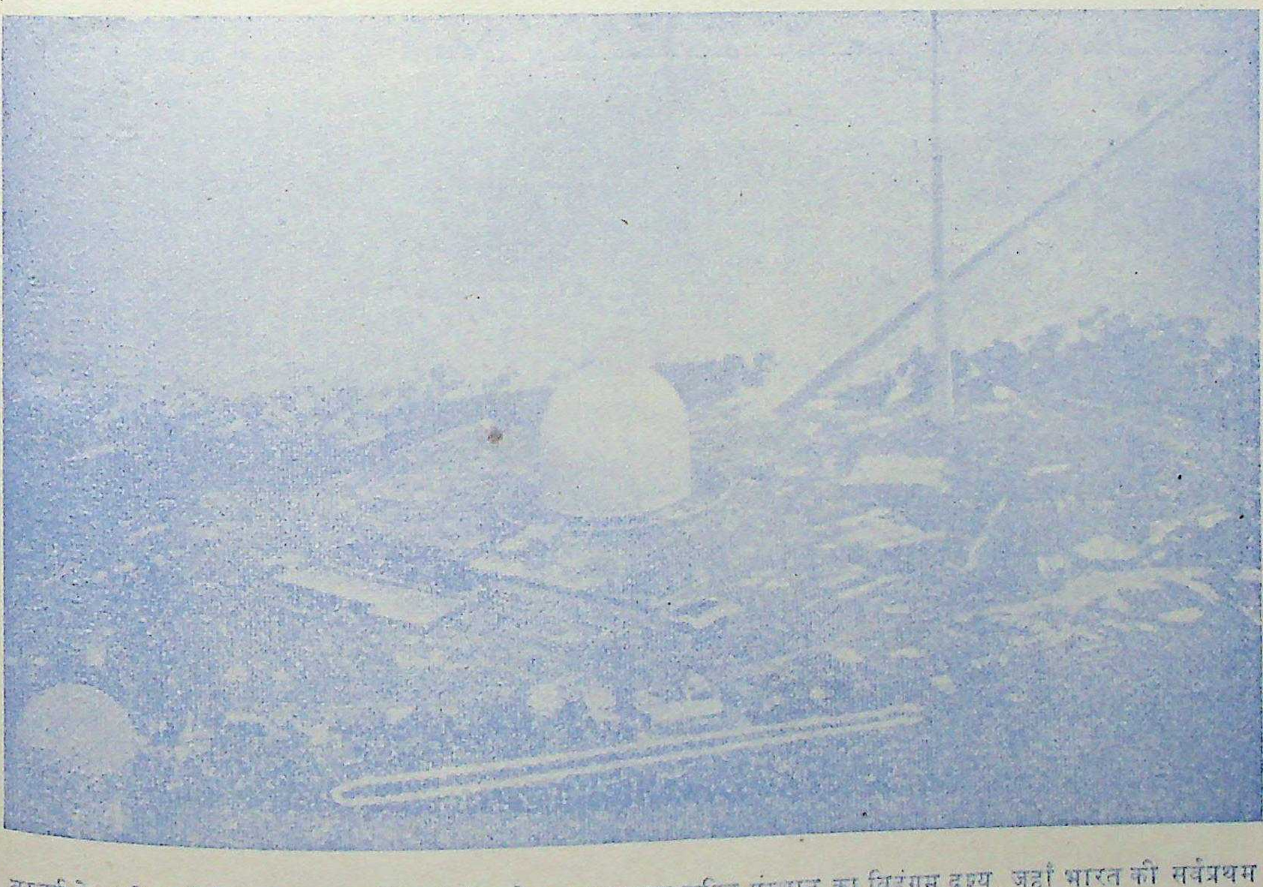

बम्बई के समीप ट्रॉम्बे नामक स्थान में हमारे देश के प्रमुख परमाणु-शक्ति-संस्थान का विहंगम दृश्य, जहाँ भारत की सर्वप्रथम दो परमाणु-भट्टियाँ स्थापित की गई हैं :: चित्र के बीच में दिखाई दे रहे वृहत् गुंबदाकार भवन के भीतर भारत और कनाडा के सहयोग से स्थापित हमारा सबसे बड़ा परमाणु-रीऐक्टर लगा है, जिसका रंगीन चित्र पृ० ३०३४ पर दिया गया है।

रेडियोसक्रिय समस्थानिकों (आइसोटोप्स) का कृषि और उद्योग के क्षेत्र में उपयोग

(बाईं ओर) रेडियोसक्रिय समस्थानिकों के उपयोग से पौधों की नस्ल में सुधार करने का प्रयास :: वैज्ञानिक विशेष यंत्र से इस प्रकार के पौधों की परीक्षा कर रहा है; (दाहिनी ओर) खनिज तेल के पाइप में किस ग्रेड का तेल प्रवाहित हो रहा है, इसकी जानकारी पाने में रेडियोसक्रिय समस्थानिकों का उपयोग (दे० पृ० ३१८१ का मैटर)।

सड़क-यातायात के लिए मोटरगाड़ियों में प्रयुक्त होने योग्य परमाणु-शक्ति से चालित इंजिन के निर्माण की सम्भावना निकट भविष्य में नहीं दिखाई देती; कारण, एक तो परमाणु-इंजिन भारी-भरकम होते हैं; दूसरे श्रृंखलाबद्ध विखंडन-क्रिया को जारी रखने के लिए युरैनियम की जो न्यूनतम मात्रा अनिवार्य रूप से इंजिन में भरी जाएगी, वह प्रति सैकण्ड इतनी अधिक शक्ति का उत्पादन करेगी, जो मोटरकार की आवश्यकता से कहीं अधिक होगी। फिर साधारण दुर्घटना में भी इंजिन से विकीरित होनेवाली रेडियोसक्रिय किरणें सड़कों पर चलनेवालों को क्षतिग्रस्त कर सकती हैं।

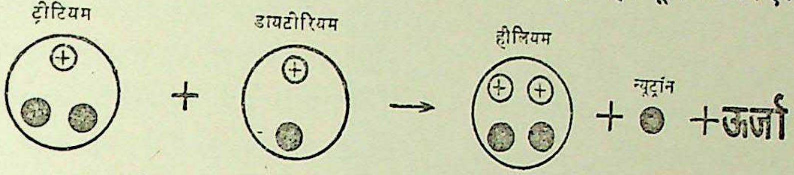

हाइड्रोजन-ट्रीटियम तथा हाइड्रोजन-डायटीरियम के नाभिक परस्पर संयोग करके हीलियम-नाभिक की रचना करते हैं, फलतः एक न्यूट्रॉन सहित ऊर्जा विमुक्त होती हैं।

रेडियोसक्रिय समस्थानिकों का उपयोग

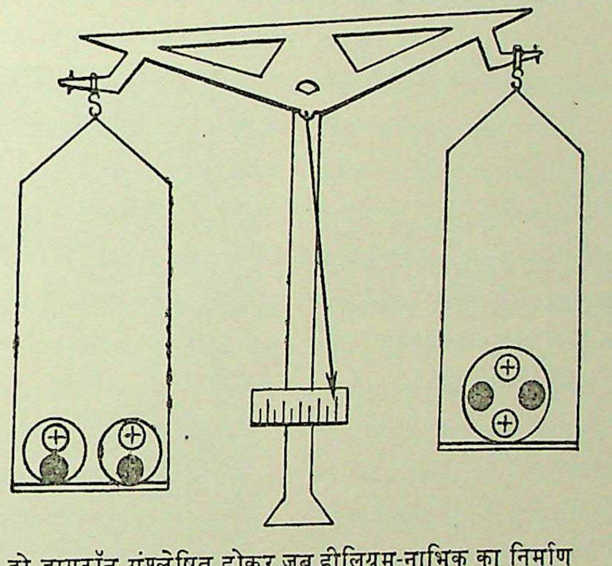

दो डायट्रॉन संश्लेषित होकर जब हीलियम-नाभिक का निर्माण करते हैं, तो पदार्थ की क्षुद्र मात्रा का ह्रास होता है, जैसा कि इस काल्पनिक तराजू के झुकाव से प्रकट है।

परमाणु-रीऐक्टर में युरैनियम के खंडित होने से अनगिनत संख्या में न्यूट्रॉन विमुक्त होते हैं। अतः यदि रीऐक्टर के भीतर साधारण लोहा, नमक, फास्फोरस, आयोडिन, कोबाल्ट स री खे पदार्थ रख दिए जाएँ, तो कुछ समय उपरांत उक्त न्यूट्रॉनो के आघात से ये पदार्थ अस्थायी रूप से रेडियोसक्रिय हो जाते हैं। इस रीति से उन पदार्थों के रेडियोसक्रिय समस्थानिक (आइसोटोप) तैयार हो जाते हैं। ये 'समस्थानिक' प्रकृति में नहीं पाए जाते। इस ढंग से वैज्ञानिकों ने लगभग एक हजार रेडियोसक्रिय समस्थानिकों का निर्माण किया है। इन मूल्यवान् पदार्थों का निर्माण करने के लिए अल्युमिनियम की नली में सामान्य नमक, आयोडिन आदि को रखकर नली को सावधानी के साथ रीऐक्टर के भीतर प्रविष्ट करा देते हैं। कुछ काल उपरान्त इन्हें बाहर निकाल कर एक सुरक्षित कक्ष में रखते हैं। इनमें से तीव्र वेधन-क्षमतावाली रेडियोसक्रिय किरणें विकीरित होती रहती हैं, अतः इन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान को हटाते समम सुरक्षा-विषयक सभी सावधानियाँ बरतनी पड़ती है। उदाहरण के लिए, कर्मचारी एक खास तरह का लबादा पहने रहते हैं एवं हाथों में प्लास्टिक के दस्ताने तथा चेहरे को ढकने के लिए विशेष प्रकार का टोप पहनते हैं। वे इन रेडियोसक्रिय पदार्थों को लम्बे-लम्बे चिमटों से उठाते हैं--भूलकर भी नंगे हाथों से इन पदार्थों को नहीं छूते।

इनमें से अनेक पदार्थों की रेडियोसक्रियता अत्यन्त तीव्र होती है। इनकी सक्रियता रेडियम की तुलना में सैकड़ों गुना अधिक होती है। चूंकि रेडियम एक अत्यन्त महँगी धातु है (एक ग्राम रेडिमम का मूल्य लगभग ५ लाख रुपये पड़ता है), अतः उद्योग - व्यवसाय एवं चिकित्सा के क्षेत्र में रेडियोसक्रिय किरणों का उपयोग करने के निमित्त अब ये अपेक्षाकृत अत्यन्त सस्ते रेडियो-समस्थानिक पदार्थ ही काम में लाए जाने लगे हैं। उदाहरण के लिए, रेडियोसक्रिय स्ट्रॉन्शियम (जो कम दामों में ही लभ्य है) घड़ी के डायल के अंकों में चमक पैदा करने के लिए प्रयुक्त हो रहा है, ताकि ये अंक अँधेरे में भी दिखाई दें। इञ्जीनियरों ने सस्ते रेडियोसक्रिय पदार्थों का उपयोग कल-कारखानों में भी किया है। उदाहरण के लिए, धातु की चद्दरें बनाने के कारखाने में चद्दर की मोटाई को नियंत्रित रखने के लिए रेडियोसक्रिय स्ट्रॉन्शियम को एक काँच की नली में बन्द करके चद्दर के नीचे रखते हैं। चद्दर की दूसरी ओर एक विद्युत्-यंत्र रखा जाता है। रेडियोसक्रिय स्ट्रॉन्शियम से निकलनेवाले इलेक्ट्रॉन-कण चद्दर को पार करके इस यंत्र को प्रभावित करते हैं। चद्दर की मोटाई निश्चित मान से यदि तनिक भी घटी-बढ़ी, तो तुरन्त यंत्र की सुई इधर-उधर हरकत करने लगती है। तभी चद्दर बनानेवाली

(बाईं ओर)

'थाइरायड' ग्रंथि के उपचार के लिए रेडियोसक्रिय आयडिन का उपयोग :: रोगी को रेडियोसक्रिय आयडिन-मिश्रित औषधि खिलाकर, तदुपरान्त उससे विकीरित रश्मियों को विशेष यंत्र द्वारा ग्रहण किया जाता है और इस प्रकार 'थाइराइड' ग्रंथि की रोग-परिस्थिति की जानकारी प्राप्त की जाती है (दे० पृ० ३१८२)

(दाहिनी ओर)

रेडियोसक्रिय कोबाल्ट द्वारा कैंसर रोग की चिकित्सा :: यह उपाय रेडियम द्वारा चिकित्सा करने से कहीं सस्ता पड़ता है, कारण कोबाल्ट का समस्थानिक (आइसोटोप) अपेक्षाकृत बहुत कम दाम में उपलब्ध है (दे० पृ० ३१८१)।

(नीचे)

परमाणु-शक्ति द्वारा चालित 'सवाना' नामक अमेरिकन जहाज (दे० पृ० ३१७६)

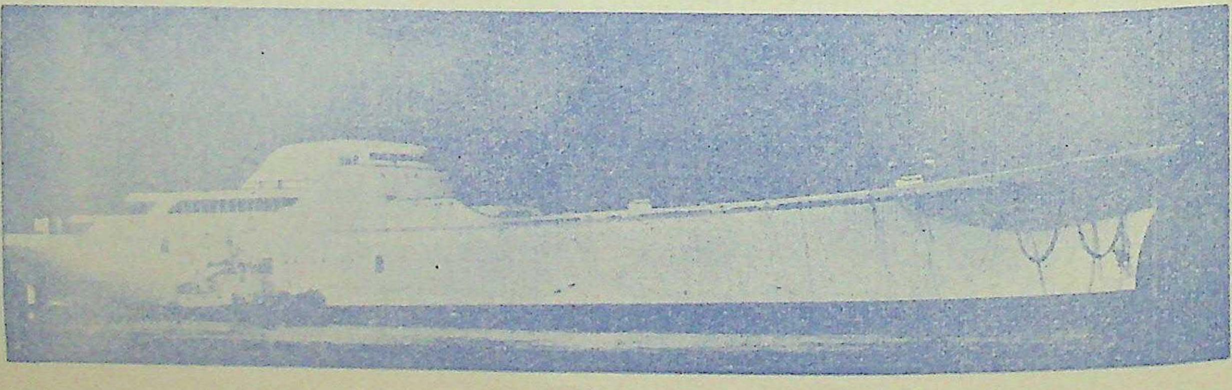

रोलर-मशीन का स्वयंचालित नियंत्रक उक्त मशीन के रोलरों के बीच की दूरी को पुनः सही कर देता है। इस प्रकार चद्दर की मोटाई में इंच के हजारवें भाग का भी अन्तर नहीं पड़ने पाता !

खनिज तेल को कारखानों से सैकड़ों मील की दूरी तक पाइप द्वारा पहुँचाया जाता है। इस क्रिया में प्रायः एक ही पाइप में बारी-बारी से विभिन्न श्रेणी का तेल भेजना होता है। अतः पाइप के दूसरे सिरे पर यह जानना आवश्यक होता है कि नए प्रकार का तेल पाइप में कब आना शुरू होता है, ताकि उसे टंकियों में अलग एकत्र किया जा सके। इस जानकारी को पाने के लिए जब कारखाने से नए प्रकार का तेल पम्प करना होता है, तो आरम्भ में उस तेल में थोड़ा-सा कोई रेडियोसक्रिय पदार्थ मिला देते हैं। फलतः दूसरे सिरे पर ज्योंही विद्युत्-यंत्र रेडियोसक्रिय किरणों द्वारा प्रभावित हुआ कि मिस्त्री समझ लेता है कि अब नए ग्रेड का तेल आ रहा है और तभी वह उक्त तेल को पृथक् टंकी में इकट्ठा करने लग जाता है। इस नए आविष्कार से तेल कम्पनियों के वार्षिक खर्च में लाखों रुपए की बचत हुई है (दे० पृ० ३१७८ का चित्र)।

इसी तरह ढलाई के कारखाने में जब मशीनों के लिए धुरीदण्ड या अन्य पुर्जे ढाले जाते हैं, तो कभी-कभी उनके अन्दर हवा के बबूले बन्द रह जाते हैं। फलतः उस स्थान पर धुरीदंड कमजोर पड़ जाता है और उसे पुनः पिघलाना जरूरी होता है। इस तरह भीतर पड़े हुए बबूले का पता लगाने के लिए अब गामा-रश्मि विकीरित करनेवाला रेडियोसक्रिय कोबाल्ट प्रयुक्त होता है। धुरीदण्ड के एक ओर उक्त गामा-किरण-उत्पादक को रखते हैं और दूसरी ओर फोटोग्राफी की फिल्म। जब धुरीदंड को वेधकर गामा-किरणें फोटो-फिल्म को प्रभावित करती हैं और उन किरणों के सामने हवा के बबूले का भाग आता है, तो ये गामा-किरणें धुरी द्वारा अपेक्षाकृत कम मात्रा में जज्ब होती हैं, अतः फोटो-फिल्म पर उनका अधिक गहरा चिह्न अंकित होता है। इस प्रकार इंजीनियर धुरीदंड को बिना तोड़े ही उसके अन्दर के दोष का पता चला लेते हैं। ये गामा-किरणें फुट डेढ़ फुट मोटे धुरीदण्ड की जाँच आसानी के साथ कर लेती हैं।

फल और तरकारियों की डिब्बाबंदी के कारखानों में भी रेडियोसक्रिय समस्थानिकों की किरणों से फल आदि को बिना गरम किए हुए कृमिरहित बनाया जाने लगा है। दूध, मांस, मछली आदि को भी सड़ने से बचाने के लिए कुछ क्षणों के लिए इन पर रेडियोसक्रिय किरणें डाली जाती हैं। कृषि के क्षेत्र में भी इन किरणों द्वारा लाभदायक प्रयोग किए गए हैं। इन रेडियोसक्रिय समस्थानिकों की किरणों को गेहूँ, मटर, जौ आदि के दाने पर डालकर उनकी नस्ल में सुधार किया गया है, ताकि उनसे उगनेवाले पौधे बीमारियों का मुकाबला कर सकें और उनसे अधिक मात्रा में अनाज पैदा हो सके (दे० पृ० ३१७८ का चित्र)।

चिकित्सा के क्षेत्र में तो रेडियोसक्रिय समस्थानिक सब से अधिक उपयोगी साबित हुए हैं। पिछले ४० वर्षों से कैन्सर के इलाज के लिए रेडियम काम में लाया जाता था। रेडियम की किरणें कसर-ग्रस्त मांस-पेशियों को नष्ट करके रोग को दूर करती हैं। किन्तु यह चिकित्सा अत्यन्त महँगी पड़ती है। अतः इस कार्य के लिए अब परमाणु-रीऐक्टरों में तैयार किया गया रेडियोसक्रिय कोबाल्ट प्रयुक्त होता है, जिसका मूल्य प्रतिग्राम लगभग ५ रुपए है ! ऐसे सस्ते दाम में उपलब्ध रेडियोसक्रिय कोबाल्ट के यंत्र छोटे अस्पतालों में भी रक्खे जा सकते हैं (दे० पृ० ३१८० का चित्र)।

रेडियम धातु की सक्रियता तो एक लंबे अरसे तक—हजारों वर्ष तक—बनी रहती है। किंतु रीऐक्टर में तैयार किए गए अनेक रेडियोसक्रिय समस्थानिकों की सक्रियता केवल थोड़े ही दिनों तक प्रबल बनी रहती है। उदाहरण के लिए, रेडियोसक्रिय फास्फोरस रीऐक्टर से बाहर निकाले जाने पर चौदह-पन्द्रह दिनों तक ही रश्मियाँ विकीरित करता है। इसी प्रकार रेडियोसक्रिय सुवर्ण की रेडियोसक्रियता भी केवल तीन दिन तक ही प्रबल रहती है—इसके बाद इसकी रश्मिविकीरण-क्षमता समाप्तप्राय हो जाती है। पहले शरीर के भीतरी भाग की रोग-ग्रस्त पेशियों को नष्ट करने के लिए डॉक्टर रेडियम का एक छोटा-सा टुकड़ा शरीर के उस अंग के अंदर प्रविष्ट करा देता था। फिर कुछ समय उपरांत यह आवश्यक था कि रेडियम के उस टुकड़े को फिर बाहर निकाल लिया जाय; अन्यथा अधिक काल तक भीतर रह जाने पर रेडियोसक्रिय किरणें स्वस्थ मांस-पेशियों को भी हानि पहुँचाकर नई व्याधियाँ उत्पन्न कर सकती थीं। किंतु रेडियोसक्रिय समस्थानिकों की उपलब्धि से इस तरह का कोई खतरा नहीं रहा। शरीर के भीतर यदि ट्यूमर मौजूद है, तो रेडियोसक्रिय सुवर्ण का एक नन्हा-सा टुकड़ा प्रविष्ट करा देते हैं। दो-तीन दिनों तक इसमें में किरणें निकलती हैं, जो रोग-ग्रस्त मांसपेशियों को रोगमुक्त करने में समर्थ होती हैं। इसके उपरान्त सुवर्ण की रेडियोसक्रियता समाप्त-सी हो जाती है। अब शरीर में इसे यूँही पड़ा रहने दिया जा सकता है।

रक्त-संबंधी एक घातक रोग 'लूकेमिया' की चिकित्सा के लिए रोगी को रेडियो-फॉस्फोरस-मिश्रित औषधि खाने को दी जाती है। यह फॉस्फोरस शरीर के अन्दर पहुँचकर अपनी

रश्मियों के प्रभाव से रक्त को शुद्ध कर देता है। इतने में इसकी रेडियोधर्मिता भी खत्म हो लेती है और साधारण फॉस्फोरस की भाँति यह हड्डियों की मज्जा में जज्ब हो जाता है। गले की नलिकाविहीन ग्रंथि 'थाइरायड' का सुचारु रूप से कार्य करना स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक है। यदि किसी कारण से इस ग्रन्थि की कार्यप्रणाली में विघ्न पड़ जाता है, तो स्वास्थ्य में अनेक खराबियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी दशा में रोगी को रेडियोसक्रिय आयडिन-मिश्रित औषधि खाने के लिए दी जाती है। यह रेडियो-आयडिन विशेष तौर पर उक्त ग्रंथि में ही एकत्र हो जाती है, जिससे बाह्य यंत्रों द्वारा इससे विकीरित होनेवाली किरणों को ग्रहण करके ग्रन्थि की कार्यक्षमता का अध्ययन किया जा सकता है (दे० पृ० ३१८० का चित्र)।

इन रेडियो-समस्थानिकों की सहायता से प्राणी और वनस्पतियों के अध्ययन विषयक अनेक प्रश्नों को भी सुलझाया जा सका है। उदाहरण के लिए, टमाटर के पौधे की जड़ में यदि रेडियोधर्मी फॉस्फेट का घोल डाला जाय, तो आध घण्टे के अंदर ही पौधे की चोटी के पत्तों से रेडियो-सक्रिय किरणें विकीरित होने लगती हैं। ऐसे-पत्तों के निकट 'जाइगर-काउन्टर' नामक विद्युत्-यंत्र ले आने पर यंत्र में 'क्लिक' 'क्लिक' की आवाज उत्पन्न होती है। किरणों की प्रचुरता के अनुपात में ही प्रति सैकण्ड 'क्लिक' 'क्लिक' की ध्वनियों की संख्या भी बढ़ जाती है। इस नवीन विधि द्वारा शरीर के अन्दर की प्रक्रियाओं का भी अध्ययन सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि आप रेडियोधर्मी नमक का पानी पी लें, तो तीन मिनट के अंदर ही यह नमक आपके रुधिर में पहुँच जायगा और उँगलियों के पोर के निकट 'जाइगर-काउन्टर' लाने पर उसमें से तुरन्त 'क्लिक' 'क्लिक' आवाज उत्पन्न होगी। जब रेडियोधर्मी समस्थानिक इस प्रकार प्रयुक्त होते हैं, तो वे 'अनुरेखक' नाम से पुकारे जाते हैं। रोगों का अध्ययन करने की दृष्टि से ये अनुरेखक सूक्ष्मदर्शक यंत्र से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। वैज्ञानिकों का विचार है कि इन अनुरेखकों की मदद से शीघ्र ही वे इस बात का रहस्योद्घाटन कर सकेंगे कि शरीर के अंदर विटामिन अपना काम किस तरह पूरा करते हैं, या किस प्रकार पौधे क्लोरोफिल की सहायता से सूर्य-प्रकाश में कार्बन डाइ-ऑक्साइड का विश्लेषण करके उसके कार्बन से अपने लिए पौष्टिक तत्त्वों का निर्माण कर लेते हैं।

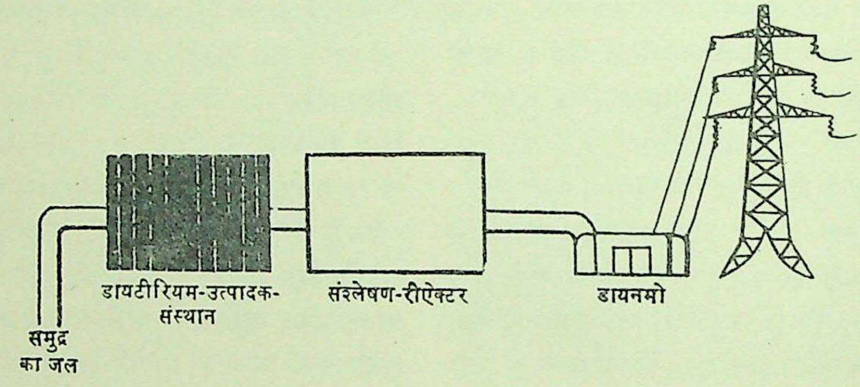

हाइड्रोजन-संश्लेषण की विधि से ऊर्जा प्राप्त करने के लिए स्थापित किए जानेवाले भावी संस्थानों की मोटी रूपरेखा।

रसायनवेत्ता इस बात की भी आशा करते हैं कि रेडियोधर्मी समस्थानिकों की किरणों के प्रभाव से नए प्रकार के प्लॉस्टिक तैयार कर सकेंगे अथवा नए ढंग की कृमिनाशक दवाइयों का भी निर्माण कर लेंगे। इन समस्थानिकों की रेडियोधर्मी किरणों द्वारा प्राचीनकाल की मूर्तियों तथा रंगीन चित्रों की जाँच भी विश्वसनीय ढंग पर की जा सकती है। इस जाँच के फलस्वरूप चित्रों या कांस्य मूर्तियों के बारे में यह मालूम किया जा सकता है कि ये किस शताब्दी में बनाई गई थीं। ऐसी जाँच द्वारा प्राचीनकाल के ख्यातनामा कलाकारों के नाम पर बनाए गए चित्रों की धोखाधड़ी पकड़ी जा सकती है—इस प्रकार ये किरणें मानो चित्र की तहों के भीतर देख सकने की दिव्य दृष्टि प्रदान कर देती हैं।

हाइड्रोजन-संश्लेषण द्वारा परमाणु-ऊर्जा की प्राप्ति की विधि :: 'भारी हाइड्रोजन'

पिछले दिनों, जब से महाविनाशकारी 'ऐटम-बम' (परमाणु-बम) से भी भयंकर प्रख्यात 'हाइड्रोजन-बम' का निर्माण किया गया है, वैज्ञानिकों ने परमाणु की ऊर्जा के अगाध भांडार का द्वार खोलने की एक नवीन कुंजी प्राप्त कर ली है। यह है परमाणु-नाभिक के 'विखंडन' के बजाय दो नाभिकों का 'संश्लेषण' करके उक्त क्रिया के क्रम में विमुक्त ऊर्जा को उपलब्ध करने की विधि। हम कह सकते हैं कि 'संश्लेषण' एक प्रकार से विखण्डन की विलोम-क्रिया है। 'विखण्डन' में परमाणु-नाभिक लगभग दो बराबर भागों में विभक्त होता है और पदार्थ का क्षुद्रांश ऊर्जा में परिवर्तित हो जाता है। 'संश्लेषण'

में दो हल्के परमाणु-नाभिक परस्पर संयोग करके एक नाभिक की रचना करते हैं और यहाँ भी पदार्थ का कुछ भाग ऊर्जा में बदल जाता है। वैज्ञानिक हमें बताते हैं कि वास्तव में सूर्य तथा अन्य नक्षत्रों में ऊर्जा का उत्पादन हाइड्रोजन-परमाणुओं की संश्लेषण-क्रिया के फलस्वरूप ही होता है।

'भारी हाइड्रोजन' के नाभिक में एक प्रोटॉन तथा एक न्यूट्रॉन होता है। इसे 'डायट्रॉन' का नाम दिया गया है। जब अत्यन्त ऊँचे ताप पर तीव्र वेग से चलते हुए दो डायट्रॉन परस्पर टकराते हैं, तो ये हीलियम-नाभिक का निर्माण करते हैं। सूक्ष्म प्रयोगों से पता चलता है कि हीलियम-नाभिक का भार दो डायट्रॉनों के सम्मिलित भार से कुछ कम बैठता है--अर्थात् इस क्रिया में पदार्थ का लगभग शतांश विलुप्त होकर ऊर्जा में परिणत हो जाता है।

इस क्रिया के लिए आवश्यक है कि अत्यन्त ऊँचा ताप (लगभग ४ करोड़ डिग्री सेण्टीग्रेड) उत्पन्न किया जाय, तभी डायट्रॉनों को तीव्र वेग मिल पाएगा। प्रयोगशाला में इतना ऊँचा ताप उत्पन्न करना सम्भव नहीं है। भला, सूर्य के गर्भपिंड में निरन्तर चलनेवाली इस संश्लेषण-क्रिया की पुनरावृत्ति पृथ्वीतल पर कैसे की जाय ?

आखिर इस समस्या का भी हल प्राप्त हुआ। युरेनियम-निर्मित परमाणु-बम के विस्फोट में क्षणिक देर के लिए करोड़ों डिग्री का ताप उत्पन्न होता है। अतः ऐसी दशा में डायट्रॉन संश्लेषित होकर हीलियम-नाभिक का निर्माण कर लेंगे। यह क्रिया एक सैकण्ड के लाखवें भाग से भी कम समय में पूरी हो जाती है, अतः सारी ऊर्जा एक भयानक विस्फोट के रूप में विमुक्त होगी।

इसी सिद्धान्त पर अमेरिका और सोवियत रूस ने हाइड्रोजन-बम का निर्माण किया। हाइड्रोजन-बम के लिए आवश्यक होता है कि इसके अग्रभाग में एक युरेनियम-बम (ऐटम-बम) रखा जाय और पिछले भाग में भारी हाइड्रोजन (डायट्रॉन) संचित की जाय। हाइड्रोजन-बम के विस्फोट में परमाणु-बम की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक ऊर्जा विमुक्त होती है। इस बम की संहार-शक्ति का अनुमान लगाना भी कठिन प्रतीत होता है।

हाइड्रोजन-संश्लेषण-रीऐक्टर

नियंत्रित व्यवस्था में हाइड्रोजन-संश्लेषण द्वारा ऊर्जा प्राप्त करने के लिए निस्संदेह युरेनियम-बम के विस्फोट द्वारा संश्लेषण-क्रिया के आरंभ कराने की बात नहीं सोची जा सकती। किन्तु बिना ऊँचा ताप उत्पन्न किए इस क्रिया का प्रारम्भ कर ही नहीं सकते। अतः अमेरिका, इङ्गलैंड तथा रूस में इस बात के लिए प्रयत्न किए गए कि प्रयोगशाला में अत्यंत ऊँचे मान का ताप उत्पन्न करें। आखिर रूसी वैज्ञानिक १० लाख डिग्री का ताप उत्पन्न करने में कामयाब हुए। अवश्य ऐसा बहुत थोड़े काल के लिए ही किया जा सका। अब तो इंगलैंड में हार्वेल नामक स्थान के परमाणु-शक्ति-अनुसंधान-केन्द्र में 'जीटा' नाम का एक यंत्र तैयार किया गया है, जिसके अंदर ५० लाख डिग्री शतांश का ताप प्राप्त किया जा सका है (दे० पृ० ३१७५ का चित्र)!

हार्वेल में स्थापित 'जीटा' मशीन का मुख्य भाग एल्युमिनियम की एक चौड़ी नली का बना है, जिसकी शक्ल मोटरकार के पहिए की तरह है और व्यास १० फीट है। इसके अंदर अल्प दबाव पर 'भारी हाइड्रोजन' प्रविष्ट करा दी जाती है। जब गैस में से प्रबल विद्युत्-धारा प्रवाहित कराते हैं, तो गैस-डिस्चार्ज-लैम्प की तरह इस नली की गैस में से भी विद्युत्-विसर्जन होता है--फलस्वरूप गैस का ताप अत्यधिक ऊँचा चढ़ता है। यदि इसके अन्दर की श्वेत तप्त गैस नली की दीवारों को स्पर्श कर ले, तब तो समूची नली भाप बनकर उड़ जायगी। इस संभावना को रोकने के लिए ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि गैस दीवार को छू ही न सके। इसके लिए पहिएनुमा नली के गिर्द कई विद्युत्-चुम्बक लगाए गए हैं, जो अपने प्रबल चुम्बकत्व द्वारा नली की गैस को ठीक बीच में ही बाँधे रखते हैं और ये तप्त नाभिक दीवार को स्पर्श नहीं करने पाते। गैस में से बहनेवाली विद्युत्-धारा अत्यन्त प्रबल होती है--लगभग १० लाख एम्पियर की। प्रयोगशाला में नियंत्रित व्यवस्था द्वारा हाइड्रोजन-संश्लेषण-क्रिया से शक्ति-उत्पादन का यह सर्वप्रथम सफल परीक्षण है। अमेरिका में भी इस ढंग के कतिपय प्रयोग किए गए हैं। विशेषज्ञों का खयाल है कि इन प्रयोगों को व्यावहारिक रूप देने में अभी कई वर्ष लगेंगे।

प्रारंभिक अड़चनों के दूर हो जाने पर सर्वसाधारण के उपयोग के लिए भारी हाइड्रोजन से निश्चय ही एक बड़े पैमाने पर शक्ति प्राप्त की जा सकेगी। संसार में पानी की कमी नहीं है। समुद्र की अथाह जलराशि से 'भारी हाइड्रोजन' प्रचुर मात्रा में और सस्ते दाम पर प्राप्त की जा सकती है। अतः वह दिन दूर नहीं, जब कि शक्ति के इस नवीन स्रोत से समस्त संसार की आवश्यकता सहज ही पूरी की जा सकेगी। हाइड्रोजन-संश्लेषण यंत्र-संस्थान से अपेक्षाकृत अधिक परिमाण में शक्ति तो विमुक्त होगी ही, साथ ही ऐसे यंत्र-संस्थान की एक विशेषता यह भी होगी कि उससे रेडियोसक्रिय किरणों के विकीरित होने का खतरा भी नहीं रहेगा।

आइन्स्टाइन का युगप्रवर्तनकारी आपेक्षिकता-सिद्धान्त

यदि यह पूछा जाय कि आधुनिक विज्ञान को सबसे क्रान्तिकारी मोड़ किस एक व्यक्ति के हाथों मिला है, तो हर किसी को निस्संदेह महान् गणितज्ञ आइन्स्टाइन का ही नाम सुझाई देगा ! आइन्स्टाइन को यह अद्वितीय प्रतिष्ठा उनके युगप्रवर्तक 'आपेक्षिकता-सिद्धान्त' के कारण प्राप्त हुई है, जिसने चिरप्रतिष्ठित भौतिकी की आधारशिला को हिलाकर विज्ञान को एक नई नींव पर स्थापित कर दिया है। यह सिद्धान्त क्या है, आइए, देखें !

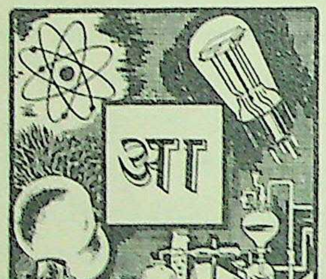

आधुनिक विज्ञान के इतिहास में १९०५ ई० का वर्ष चिरस्मरणीय रहेगा, क्योंकि इसी वर्ष महान् गणितज्ञ डॉक्टर आइन्स्टाइन ने एक सर्वथा नवीन तथा क्रान्तिकारी सिद्धांत 'आपेक्षिकता' (रिलेटिविटी) का प्रतिपादन किया था। आइन्स्टाइन की इस महत्वपूर्ण खोज ने न्यूटन तथा गैलीलियो द्वारा प्रतिष्ठित गति-विज्ञान की मूल धारणाओं की त्रुटियों और असंगतियों पर प्रकाश डालकर निर्विवाद रूप से विज्ञान के क्षेत्र में एक युगान्तर प्रस्तुत कर दिया। वैज्ञानिक यह देखकर चकित रह गए कि न्यूटन की चिरप्रतिष्ठित यांत्रिकी, जिसकी सहायता से आकाशपिंडों की सही-सही गति निर्धारित की जा सकी थी तथा जिसके अनुसार आज तक इंजीनियरिंग के सभी यंत्र आचरण करते रहे थे, वास्तव में दोषपूर्ण तथा भ्रान्तिमूलक सिद्ध हुई। 'आपेक्षिकता' के इस महान् सिद्धांत ने मानो न्यूटन-यांत्रिकी की विशाल अट्टालिका को, जो पिछले ३०० वर्षों से सिर उठाए अडिग खड़ी थी, एक ही धक्के में धराशायी कर दिया !

आइन्स्टाइन की मौलिक सूझ के परिणामस्वरूप ही वैज्ञानिक दिक् (स्पेस), काल (टाइम), वेग, द्रव्यमान आदि राशियों की सही प्रकृति का परिचय प्राप्त कर सके; साथ ही दिक् और काल का रहस्योद्घाटन करने में भी समर्थ हुए।

आइन्स्टाइन द्वारा प्रतिपादित इस क्रान्तिकारी सिद्धान्त के दो प्रमुख अंग हैं—'विशिष्ट आपेक्षिकतावाद' (स्पेशल रिलेटिविटी) तथा 'व्यापक आपेक्षिकतावाद' (जनरल रिलेटिविटी)। आइन्स्टाइन ने 'विशिष्ट आपेक्षिकता' का सिद्धांत सर्वप्रथम १९०५ ई० में अपने एक गवेषणापत्र में प्रकाशित किया था। तदुपरान्त पूरे १० वर्ष तक उन्होंने इस सिद्धांत पर शोध-कार्य जारी रखा और तब १९१५ ई० में 'व्यापक आपेक्षिकतावाद' का प्रतिपादन करके उन्होंने उसे अपने पूर्ण विकसित रूप में प्रस्तुत कर दिया।

आइन्स्टाइन के इस आपेक्षिकतावाद के कतिपय परिणाम प्रचलित धारणाओं के एकदम प्रतिकूल उतरते थे। इसी कारण आरंभ में अनेक वैज्ञानिकों ने इस सिद्धान्त का विरोध किया। किन्तु जब प्रयोगफलों द्वारा इन परिणामों की पूर्ण सम्पुष्टि की जा सकी, तब तो इस सिद्धान्त की सत्यता में किसी को भी सन्देह नहीं रहा और कुछ ही दिनों में आपेक्षिकतावाद विज्ञान के क्षेत्र में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया।

आइए, देखें कि यह सिद्धान्त क्या है, जिसने विज्ञान-जगत् में इतनी उथल-पुथल मचा दी है !

'विशिष्ट आपेक्षिकतावाद'

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि 'विशिष्ट आपेक्षिकता' का सूत्रबीज वास्तव में अमेरिका के भौतिकज्ञ माइकेलसन तथा मोर्ले के उस प्रयोग में निहित था, जिसे १८८० ई० में उन्होंने दो विपरीत दिशाओं में प्रकाश का वेग प्राप्त करने के निमित्त किया था। बात यह थी कि सत्रहवीं शताब्दी ई० में हॉलैंड

के वैज्ञानिक हाइगिन्स ने प्रकाश के तरंग-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, जिसके अनुसार एक सार्वभौम माध्यम 'ईथर' की कल्पना की गई थी। यह माध्यम सर्वत्र मौजूद माना गया था और प्रकाश की तरंगें शून्य प्रदेश में इसी माध्यम में से होकर गमन करते हुए कल्पित की गई थीं। माइकेल्सन तथा मोर्ले ने प्रयोग द्वारा इस माध्यम 'ईथर' के अस्तित्व की जाँच करनी चाही। उनकी दलील यह थी कि पृथ्वी सूर्य के आसपास लगभग $१८\frac{१}{२}$ मील प्रति सैकण्ड के वेग से प्रदक्षिणा करती है। इस वेग के कारण जब यह आकाश में गुजरती है, तो उल्टी दिशा में ईथर माध्यम की एक धारा-सी बहनी चाहिए। यदि प्रकाश का वेग ईथर की धारा के प्रवाह की दिशा में ज्ञात किया जाय, तो यह वेग अन्य किसी दिशा में नापे गए प्रकाश-वेग से अधिक ठहरना चाहिए। निस्संदेह इन वैज्ञानिकों की यह दलील पूर्णतः तर्कसंगत थी। किन्तु प्रयोग का परिणाम यह निकला कि हर दिशा में प्रकाश का वेग एक समान ही रहा—वह था ३×१०^{१०} सेण्टीमीटर प्रति सैकण्ड!

इस अप्रत्याशित प्रयोगफल का समाधान करना उन दिनों संभव नहीं हो सका था। बात अवश्य हमारे दैनिक अनुभव के प्रतिकूल बैठती थी! यदि हम ध्वनि-तरंगों का वेग वायु के बहाव की दिशा में और फिर उलटी दिशा में नापें, तो पहली दशा में सदैव ही अधिक वेग प्राप्त होता है। फिर ईथर के लिए ऐसा क्यों नहीं होता?

इस कठिनाई का सही समाधान अन्त में १९०५ ई० में आइन्स्टाइन ने प्रस्तुत किया। उन्होंने बतलाया कि ईथर का भौतिक अस्तित्व है ही नहीं—यह केवल वैज्ञानिकों की कल्पना है, उनके मस्तिष्क की उपज मात्र है। उस समय तक ईथर को एक स्थिर तथा निरपेक्ष मानक समझा जाता था, जिसकी तुलना में किसी भी पिंड की निरपेक्ष गति का हिसाब लगाया जा सकता था!

'निरपेक्ष गति' का कोई अर्थ नहीं

आइन्स्टाइन ने अपने क्रांतिकारी 'विशिष्टआपेक्षिकतावाद' द्वारा ईथर का अस्तित्व समाप्त कर दिया और विज्ञान-जगत् के समक्ष इस ध्रुव सत्य को रक्खा कि किसी भी पिंड की निरपेक्ष गति का कोई अर्थ नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, पृथ्वी की परिक्रमा का वेग हम सूर्य के लिहाज से इस प्रकार आँकते हैं, मानो सूर्य स्थिर है। इसी प्रकार सड़क पर दौड़ती हुई मोटरकार का वेग हम पृथ्वी को स्थिर मानकर प्राप्त करते हैं, यद्यपि हम जानते हैं कि पृथ्वी भी $१८\frac{१}{२}$ मील प्रति सैकण्ड के वेग से आकाश में सूर्य के आसपास भागी जा रही है। इस प्रकार सभी गतियाँ वास्तव में किसी-न-किसी अन्य पिंड को स्थिर मानकर ही प्राप्त की जाती हैं, अर्थात् सभी गतियाँ आपेक्षिक होती हैं, निरपेक्ष नहीं। कल्पना कीजिए कि शून्य आकाश में हमारी पृथ्वी अकेली गति कर रही है और हमें अन्य कोई भी चीज नहीं दिखाई देती—न सूर्य, न चंद्रमा और न अन्य कोई पिंड। उस दशा में पृथ्वी के लिए गति या विश्रांति दोनों में से किसी भी अवस्था का उल्लेख करना निरर्थक होगा। अर्थात् 'गति' तथा 'विश्रान्ति' (रेस्ट) की धारणा केवल किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा से ही हो सकती है। निरपेक्ष गति या निरपेक्ष विश्रांति का कोई अर्थ नहीं होता।

आइन्स्टाइन के इस 'विशिष्ट आपेक्षिकतावाद' की मूल मान्यताएँ दो हैं, जो नीचे दी जा रही हैं—

(१) स्थिति तथा वेग आदि निश्चित करनेवाले दो निर्देशांक तंत्र यदि एक दूसरे के लिहाज से सम वेग से गति करते हैं, तो उस दशा में प्रयोगों द्वारा प्राप्त किए गए भौतिकी के नियम दोनों तंत्रों में बिलकुल एक समान होंगे। यह नियम 'आपेक्षिक वेग का नियम' कहलाता है।

(२) प्रकाश का वेग प्रकाश-स्रोत या प्रेक्षक की गति से किंचित्मात्र भी प्रभावित नहीं होता है। अर्थात् प्रकाश का वेग सब प्रेक्षकों के लिए (वस्तुतः यदि उनके ऊपर कोई बल कार्य नहीं कर रहा हो) अचर रहता है—यह विभिन्न प्रेक्षकों के लिए बदलता नहीं; दूसरे शब्दों में, प्रकाश-स्रोत यदि समान वेग से चल रहा है या स्थिर है, अथवा प्रेक्षक स्थिर है या समान वेग से चल रहा है, तो हर दशा में प्रकाश के वेग का मान अचर ही रहेगा। यह 'प्रकाश के वेग की अचरता (स्थिर मान) का नियम' कहलाता है।

विशिष्ट आपेक्षिकता का सिद्धांत देखने में तो सरल प्रतीत होता है, किन्तु इससे अनेक परिणाम ऐसे प्राप्त होते हैं, जो हमारे नितप्रति के अनुभव के विपरीत जान पड़ते हैं। इन परिणामों की असंगतियाँ (?) उस दशा में और भी स्पष्ट होते जान पड़ती हैं, जब प्रेक्षक के निर्देशांक तंत्र एक दूसरे के लिहाज से ऐसे वेग से गति करते हैं, जो प्रकाश के निर्वात-वेग की तुलना में नगण्य नहीं हैं। इसके लिए हम निम्नलिखित तथ्यों पर विचार करेंगे।

'समक्षणिकता' से अभिप्राय

न्यूटन-यांत्रिकी के अनुसार यह बात स्वीकार कर ली गई थी कि समय या काल पूर्णतया निरपेक्ष है; अर्थात् इस विशाल ब्रह्माण्ड में कालचक्र अबाध और निश्चित गति से चलता रहता है। इस चिरप्रतिष्ठित यांत्रिकी के अनुसार काल की

कल्पना एक सर्वव्यापक कालधारा के रूप में की गई थी, जो परम स्वतंत्र तथा निरपेक्ष है——जो सभी चीजों से अप्रभावित रहकर अनन्त भूत से जारी है और अनन्त भविष्य तक जारी रहेगी। अतः यह स्वयंसिद्ध-सी बात समझी जाती थी कि काल के व्यतीत होने की गति हर प्रेक्षक के लिए, चाहे वह स्थिर हो या गतिवान, एक-सी ही रहती है । इसका अर्थ यह था कि यदि पृथ्वी पर दो घटनाएँ एक ही क्षण पर होती हैं, अर्थात् वे दोनों घटनाएँ समक्षणिक हैं, तो सृष्टि के हर प्रेक्षक के लिए वे दोनों घटनाएँ अवश्य ही समक्षणिक रहेंगी ।

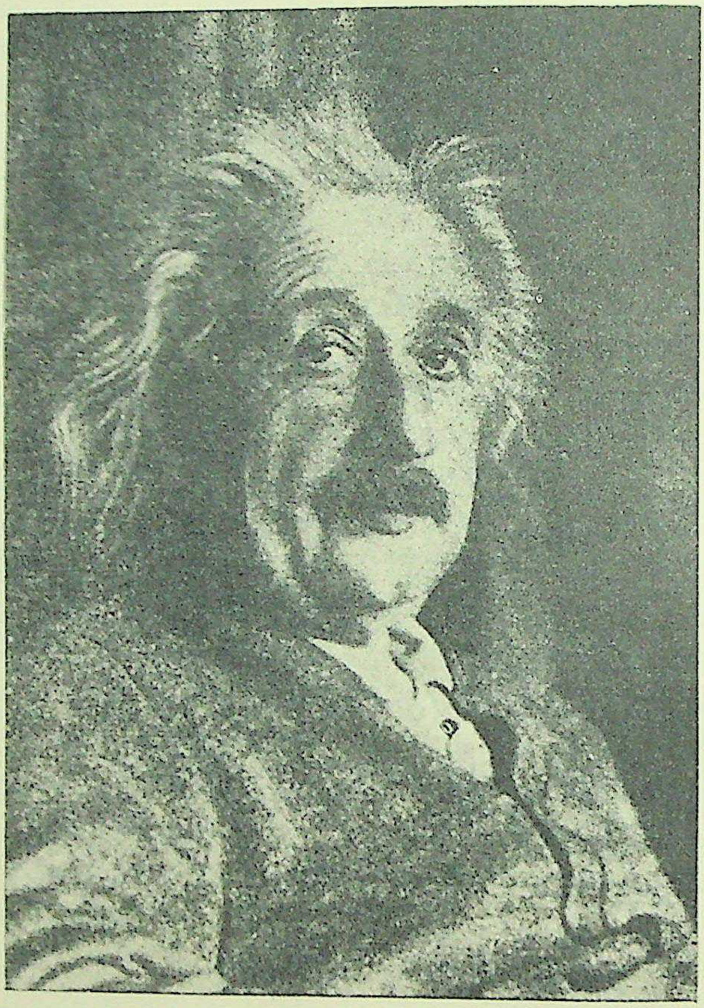

'आपेक्षिकता' के युगान्तरकारी सिद्धान्त के महान् प्रवर्तक प्रो० अल्बर्ट आइन्स्टाइन ।

किंतु आपेक्षिकतावाद बतलाता है कि समक्षणिकता की यह धारणा बिल्कुल गलत है । समक्षणिकता भी निरपेक्ष नहीं हो सकती, बल्कि वह प्रेक्षक की गति के सापेक्ष ही आँकी जा सकती है ! उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि रेलवे - लाइन पर लगे दो स्तंभ 'क' और 'ख' के ठीक बीच में प्रेक्षक 'अ' खड़ा है और लाइन पर तेज रफ्तार में दौड़ती हुई रेलगाड़ी 'ख' से 'क' की ओर जा रही है (दे० पृ० ३१८७ का चित्र) । रेलगाड़ी में प्रेक्षक 'ब' बैठा है । जिस वक्त रेलगाड़ी में बैठा हुआ प्रेक्षक ठीक धरती पर के प्रेक्षक 'अ' के सामने से गुजरता है, उसी क्षण एक साथ खम्भे क और ख के सामने रेलगाड़ी पर क' और ख' पर बिजली गिरती है, जो नीचे भूमि तक पहुँच जाती है । निस्संदेह प्रेक्षक 'अ' अपने प्रेक्षण से इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि दोनों जगहों पर बिजली गिरने की घटनाएँ समक्षणिक हैं, क्योंकि दोनों खम्भोंवाली स्थितियों से प्रेक्षक 'अ' के पास बिजली की चमक एक साथ पहुँचती है । तो क्या प्रेक्षक 'ब' के लिए भी बिजली गिरने की ये दोनों घटनाएँ समक्षणिक मालूम पड़ेंगी ? रेलगाड़ी 'क' की ओर जा रही है, अतः रेलगाड़ी के सामनेवाले भाग क' पर गिरनेवाली बिजली की चमक उसे पहले दिखाई देगी और ख' की चमक बाद में । क्योंकि प्रेक्षक 'ब' के लिए भी प्रकाश का वेग c ही है, अतः प्रेक्षक ब के लिए ये दोनों घटनाएँ समक्षणिक न होंगी । उसके लिए क' की घटना पहले हुई जान पड़ेगी और ख' की बाद में । स्पष्ट है कि यदि रेलगाड़ी क से ख की ओर जाती होती, तो प्रेक्षक 'ब' को ख' की घटना पहले हुई जान पड़ती और क' की बाद में ।

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि काल (समय) भी निरपेक्ष नहीं है । दो निर्देशांक तन्त्रों पर जो एक दूसरे के सापेक्ष एकसमान (यूनिफार्म) वेग से गतिमान हों, समय की गणनाएँ भिन्न होंगी। इसीलिए समक्षणिकता भी सापेक्ष धारणा है। दो घटनाएँ किसी एक प्रेक्षक के लिए यदि समक्षणिक हों, तो उस प्रेक्षक के लिहाज से एक समान गति करनेवाले प्रेक्षक के लिए वे ही दोनों घटनाएँ समक्षणिक न होंगी । किसी प्रेक्षक के लिए एक घटना यदि पहले और दूसरी बाद में हुई जान पड़ेगी, तो अन्य प्रेक्षक के लिए फल इसके प्रतिकूल प्राप्त होगा ।

लम्बाई और समय की गणना

न्यूटन-यान्त्रिकी के अनुसार किसी वस्तु की लम्बाई उस वस्तु की निरपेक्ष नाप मानी गई थी—अर्थात् वह नाप हर

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

किसी प्रेक्षक के लिए सदा एक-सी बनी रहती थी। किन्तु आपेक्षिकता के अनुसार यह धारणा भी गलत ठहरती है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु की लम्बाई उस वस्तु का मौलिक गुण नहीं है, बल्कि उस लम्बाई का मान प्रेक्षक और वस्तु की आपेक्षिक गति के अनुसार निर्धारित होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी भी वस्तु की निज की यथार्थ लम्बाई के कोई माने नहीं हो सकते !

हम प्रयोग द्वारा यह प्रमाणित कर सकते हैं कि यदि किसी छड़ की लम्बाई को प्रेक्षक उस दशा में नापता है, जबकि वह छड़ प्रेक्षक के लिहाज से स्थिर दशा में है और फिर उसे उस समय नापता है, जब कि वही छड़ प्रेक्षक के लिहाज से लम्बाई की दिशा में तीव्र वेग से गति कर रहा है, तो दूसरी दशा में जो लम्बाई उसे प्राप्त होगी, वह स्थिर दशा की लम्बाई से छोटी होगी !

इसका सूत्र इस प्रकार है--

$$L=L_\circ\sqrt{\left(1-\frac{v^2}{c^2}\right)}$$

[$L_\circ$ = स्थिर दशा में नापी गई लम्बाई।

L = लम्बाई की दिशा में गति करती हुई छड़ की लंबाई।

v = लम्बाई की दिशा में छड़ का वेग।

c = प्रकाश का निर्वात में वेग]

इस सूत्र से स्पष्ट है कि स्थिर दशा में छड़ की लम्बाई अधिकतम प्राप्त होगी। छड़ का वेग v जितना अधिक होगा, उसकी लम्बाई उतनी ही अधिक छोटी हुई प्रतीत होगी। प्रकाश का वेग c बहुत ही अधिक है (१,८६,००० मील प्रति सैकण्ड), अतः साधारण प्रयोगों में v का मान c की तुलना में नगण्य ही रहता है और $\frac{v^2}{c^2}$ का मान तो और भी तुच्छ होता है। इसलिए L तथा $L_\circ$ में कोई खास अन्तर हमें प्राप्त नहीं होता है। किन्तु v का मान यदि कई हजार मील प्रति सैकंड हो जाय, तब तो अवश्य L का मान $L_\circ$ की अपेक्षा बहुत कम प्राप्त होगा। उदाहरण के लिए, यदि छड़ का वेग लंबाई की दिशा में १,११,६०० मील हो, तो $\frac{v}{c}=\frac{१,११,६००}{१,८६,०००}=\frac{३}{५}$।

$$\therefore L=L_\circ\sqrt{\left(१-\frac{३^२}{५^२}\right)}$$

$$=\frac{४}{५}L_\circ$$

अर्थात् अब छड़ की लम्बाई स्थिर दशा की लम्बाई की $\frac{४}{५}$ रह जाएगी। यदि छड़ का वेग १,६०,००० मील प्रति सैकण्ड हो, तो गति की दिशा में लम्बाई पहले की आधी रह जाएगी ! और यदि छड़ का वेग बढ़कर प्रकाश के वेग के बराबर हो जाय, तो उस हालत में $\frac{v}{c}=१$

$$\therefore L=L_\circ\sqrt{१-१}=०$$

अर्थात् छड़ की लम्बाई शून्य प्राप्त होगी।

यदि छड़ का वेग v प्रकाश के वेग c से अधिक हो जाय, तो उसकी लम्बाई क्या प्राप्त होगी ? उस दशा में $\frac{v}{c}$ मान १ से अधिक होगा, और $\sqrt{१-\frac{v^2}{c^2}}$ काल्पनिक राशि होगी। अतः छड़ की लम्बाई का मान एक काल्पनिक राशि होगी, जिसका भौतिक दृष्टि से कोई अर्थ नहीं निक· लता ! तो हम इस महत्वपूर्ण नतीजे पर पहुँचे कि किसी भी वस्तु का वेग प्रकाश के निर्वात-वेग से अधिक कदापि नहीं हो सकता। मानो प्रकृति के लिए वेग की महत्तम सीमा प्रकाश का निर्वात-

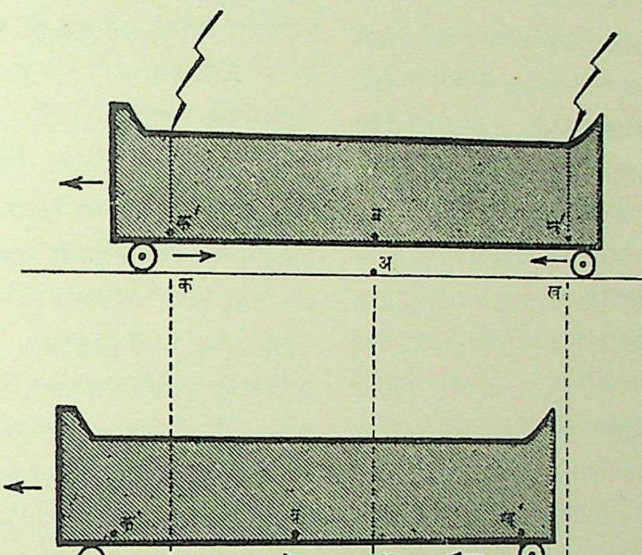

आपेक्षिकता-सिद्धान्त के अनुसार 'समक्षणिकता' निरपेक्ष नहीं हो सकती, यह इस उदाहरण से स्पष्ट है (विवरण पृष्ठ ३१८६ के मैटर में देखिए)।

वेग ही है । कोई भी भौतिक पदार्थ या संकेत १,८६,००० मील प्रति सैकण्ड से अधिक वेग प्राप्त कर ही नहीं सकता !

लम्बाई का यह आकुंचन (सिकुड़ना) पारस्परिक होता है––आशय यह है कि वायुयान यदि तीव्र वेग से उड़ रहा है, तो धरती पर खड़े प्रेक्षक को गति की दिशा में वायुयान की लम्बाई में ह्रास प्राप्त होगा, साथ ही साथ वायुयान के चालक को धरती की प्रत्येक वस्तु वायुयान की गति की दिशा में उसी अनुपात में सिकुड़ी हुई मालूम पड़ेगी ।

समय का प्रसार

समय की गणना भी वास्तव में यंत्रों की गति की सहायता से की जाती है, जिसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से लम्बाई, दिक् (स्पेस) आदि का समावेश होता है । हम देख चुके हैं कि गति बढ़ने पर लम्बाई में आकुंचन होता है, अतः स्पष्ट है कि इस कारण समय की गणना भी प्रभावित होगी ही ।

कल्पना कीजिए कि तेज रफ्तार से उड़ते हुए वायुयान में एक घड़ी रखी है, जो वायुयान-यात्री के निरीक्षण के अनुसार ठीक समय बतलाती है । अब पृथ्वी पर स्थित प्रेक्षक के निरीक्षण के अनुसार वायुयान की यह घड़ी सुस्त चलती जान पड़ेगी । अर्थात् यात्री की घड़ी के अनुसार यदि एक सैकण्ड का समय व्यतीत हुआ है, तो पृथ्वी पर स्थित प्रेक्षक के अनुसार समय की यही अवधि १ सैकण्ड से अधिक व्यतीत होगी । इसका अर्थ यह हुआ कि वायुयान पर होनेवाली सभी क्रियाएँ अपेक्षाकृत धीमी दर से होती हुई जान पड़ेंगी । जितनी देर में हम दो बार साँस ले चुकेंगे, वायुयान-यात्री कदाचित् उतनी देर में एक बार ही साँस लेगा ! इस तरह मानो वेग के कारण काल की अवधि में प्रसार हो जाता है ! इसका सूत्र इस प्रकार है ––

$$t = \frac{t_\circ}{\sqrt{१ - \frac{v^2}{c^2}}}$$

[$t_\circ$ = स्थिर दशा में नापी गई समय की अवधि ।

t = आपेक्षिक वेग की दशा में समय की अवधि ।

v = प्रेक्षक के लिहाज से घड़ी का आपेक्षिक वेग ।

c = प्रकाश का निर्वात में वेग ।]

समय का यह प्रसार भी पारस्परिक होता है । अर्थात् ऊपर के उदाहरण में यदि वायुयान-यात्री पृथ्वी पर रखी हुई घड़ी को देखता है, तो उसे भी हमारी घड़ी सुस्त चलती जान पड़ेगी ––उतनी ही सुस्त, जितनी कि पृथ्वी-निवासी को वायुयान की घड़ी सुस्त चलती जान पड़ती है ।

समय के प्रसार का आभास हमें नितप्रति के जीवन-व्यापार में साधारणतः नहीं मिल पाता, क्योंकि सामान्यतः वस्तुओं का वेग v प्रकाश के वेग c की तुलना में अत्यल्प ही हुआ करता है ।

वेग के कारण उत्पन्न होनेवाले समय के प्रसार के अजीब नतीजे निकल सकते हैं––उदाहरण के लिए, यदि कोई युवा अन्तरिक्षयात्री रॉकेट में सवार होकर १,६०,००० मील प्रति सैकण्ड के तीव्र वेग से अन्तरिक्ष में प्रवेश करता है और हमारी घड़ियों के अनुसार वह २० वर्ष में वापस आता है, तो इस अवधि में उसकी घड़ी के अनुसार अभी १० वर्ष ही बीत पाए होंगे ! अतः अभी वह जवान ही बना रहेगा, जबकि धरती पर उसका जुड़वाँ भाई वृद्ध हो चलेगा, क्योंकि उसकी उम्र २० वर्ष बीत चुकी होगी ! अवश्य ही इस विचित्र उदाहरण की अभी तक प्रायोगिक सम्पुष्टि नहीं हो पाई है ।

द्रव्यमान तथा ऊर्जा

न्यूटन की यांत्रिकी के अनुसार किसी भी पिण्ड के लिए द्रव्यमान एक निश्चित तथा अचर राशि समझी जाती थी, अर्थात् वह पिण्ड चाहे स्थिर हो चाहे गतिशील, हर दशा म उसका द्रव्यमान एक-सा ही बना रहते माना जाता था । इसी धारणा पर न्यूटन ने बल तथा त्वरण आदि की परिभाषा निश्चित की थी । किन्तु आपेक्षिकतावाद ने इस धारणा पर भी सीधो चोट की । आपेक्षिकतावाद के अनुसार किसी पिंड के लिए उसका द्रव्यमान कोई निरपेक्ष अचर राशि नहीं है; बल्कि द्रव्यमान भी वेग पर निर्भर है, जिस प्रकार कि लंबाई उस वस्तु के वेग पर निर्भर है । यदि स्थिर दशा में पिंड का द्रव्यमान $m_\circ$ हो, तो v वेग प्राप्त करने पर स्थिर प्रेक्षक के लिए उसी पिंड का द्रव्यमान m अब $m_\circ$ की अपेक्षा अधिक प्राप्त होगा । इसका सूत्र इस प्रकार है :––

$$m = \frac{m_\circ}{\sqrt{१ - \frac{v^2}{c^2}}}$$

अवश्य द्रव्यमान की यह वृद्धि उसी दशा में प्रेक्षणीय हो पाती है, जब v का मान प्रकाश के वेग की तुलना में बहुत कम न हो । साधारण यांत्रिकी में पिंडों के वेग प्रायः प्रकाश के वेग के मुकाबले में नगण्य ही ठहरते हैं । इसीलिए न्यूटन की इस धारणा में 'कि द्रव्यमान अचर राशि है' अब तक किसी को संदेह करने की गुंजायश नहीं दिखाई पड़ी थी ।

इस प्रकार द्रव्यमान की अविनश्वरता का सिद्धान्त भी गलत ठहरा, क्योंकि हरकत करती हुई वस्तु के द्रव्यमान में उपर्युक्त सूत्र के अनुसार निश्चित् वृद्धि हो जाती है । अर्थात् गति के अनुसार पिंड का द्रव्यमान बदलता रहता है । हरकत करते हुए पिंड का द्रव्यमान अधिक होगा और वही वस्तु जब

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्थिर होगी, तो (प्रेक्षक के लिहाज से) उसका द्रव्यमान कम हो जाएगा।

निम्न सूत्र से हम देख सकते हैं कि पिंड का वेग यदि प्रकाश वेग का $\frac{3}{५}$ हो तो:—

$$m = \frac{m_{०}}{\sqrt{१ - \frac{३^{२}}{५^{२}}}} = \frac{m_{०}}{\frac{४}{५}} = \frac{५}{४} m_{०}$$

अर्थात् स्थिर द्रव्यमान के मुकाबले अब इस क्षण उसी पिंड का द्रव्यमान २५ प्रतिशत अधिक होगा। यदि पिंड का वेग बढ़ते-बढ़ते प्रकाश के वेग के बराबर हो जाय, तो

$$m = \frac{m_{०}}{\sqrt{१ - १}} = \frac{m_{०}}{0} = ०० \text{ (अनन्त)}$$

अर्थात् द्रव्यमान अनन्त हो जाएगा। अतः इस व्याख्या से भी हमें यह शाश्वत तथ्य प्राप्त होता है कि कोई भी भौतिक पदार्थ प्रकाश के वेग से अधिक मान का वेग नहीं प्राप्त कर सकता।

आइन्स्टाइन के विशिष्ट आपेक्षिकतावाद से यह भी फल प्राप्त होता है कि द्रव्यमान तथा ऊर्जा परस्पर परिवर्तनीय हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि द्रव्यमान और ऊर्जा एक ही राशि के दो विभिन्न रूप हैं। आइन्स्टाइन ने द्रव्यमान और ऊर्जा के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए यह सूत्र उपस्थित किया था––

ऊर्जा $= m \times c^2$ [m = द्रव्यमान c = प्रकाश का वेग, निर्वात में]।

माना कि १ ग्राम द्रव्यमान ऊर्जा में परिवर्तित होता है, तो––

ऊर्जा = १ × ३०,०००,०००,००० × ३०,०००,०००,००० अर्ग्स।

= ९००,०००,०००,०००,०००,०००,००० अर्ग्स।

अर्थात् जरा-सा द्रव्यमान परिवर्तित होकर ऊर्जा की अपार राशि देता है।

'विशिष्ट आपेक्षिकतावाद' के प्रायोगिक प्रमाण

विशिष्ट आपेक्षिकता के सिद्धांत के विवेचन के फलस्वरूप हमें अनेक महत्वपूर्ण तथ्य प्राप्त हुए हैं, जिनका उल्लेख अभी ऊपर किया गया है। इन सभी निष्कर्षों की सम्पुष्टि आधुनिक विज्ञान के उपकरणों की मदद से प्रयोगों द्वारा की जा सकती है।

लम्बाई तथा समय दोनों की नाप में प्रक्षणीय अंतर तभी आ पाता है, जबकि गति का वेग पर्याप्त रूप से अधिक हो। परमाणु-विज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिकों का तीव्रतम वेग से चलनेवाले अनेक कणों से वास्ता पड़ता है। अतः इन कणों के साथ प्रयोग करके आइन्स्टाइन के उपर्युक्त सूत्रों की जाँच सुगमता से की जा सकी है। इन कणों के वेग प्रकाश के वेग से कुछ ही कम ठहरते हैं।

उदाहरण के लिए, अंतरिक्ष से आनेवाली 'कॉस्मिक किरणों' की बौछार में अत्यधिक ऊर्जा के अनेक कण पाए जाते हैं, जिनमें 'मेसान' कण भी होते हैं। इन कणों का स्थिर दशा में जीवनकाल निश्चित रहता है। प्रयोगशाला के प्रेक्षण में यह पाया गया कि धीमी गति से चलनेवाले 'मेसान' का जीवनकाल कम होता है, किन्तु वे ही कण जब अत्यधिक वेग की गति के होते हैं, तो उस समय उनका जीवनकाल भी बढ़ जाता है। काल-अवधि की यह वृद्धि ठीक सूत्र

$$t = \frac{t_{०}}{\sqrt{१ - \frac{v^2}{c^2}}}$$

के अनुसार ही मिली। इन प्रयोगों में 'मेसान' का वेग प्रकाश के वेग के ९९ प्रतिशत तक पहुँच चुका है!

फिर रेडियोसक्रिय पदार्थों के विकिरण में बीटा-कणों की रफ्तार भी कभी-कभी प्रकाश के वेग के ९०–९९ प्रतिशत तक पहुँचती है। ये कण वास्तव में इलेक्ट्रॉन ही होते हैं, जिनका स्थिर दशा का द्रव्यमान प्रयोगशाला में सही-सही नापा जा चुका है। जब बीटा-कणों की बौछार के इलेक्ट्रॉनों का द्रव्यमान नापा गया, तो यह स्थिर या धीमी गतिवाले इलेक्ट्रॉनों के द्रव्यमान से अधिक मिला। द्रव्यमान की यह वृद्धि ठीक आइन्स्टाइन के सूत्र के अनुकूल थी।

द्रव्यमान का ऊर्जा में तथा ऊर्जा का द्रव्यमान में परिवर्तित होना भी प्रयोगशाला में प्रदर्शित किया जा चुका है। दरअसल युरेनियम (२३५) के विखंडन में युरेनियम-नाभिक का शतांश द्रव्यमान ऊर्जा में परिवर्तित होता है। इसी क्रिया के फलस्वरूप इतनी ढेर-सी ऊर्जा परमाणु-बम के विस्फोट के रूप में प्रकट हुई थी। आइन्स्टाइन की इस खोज से ही ज्योतिष की यह पहेली भी सुलझाई जा सकी है कि सूर्य तथा आकाश के अगणित नक्षत्र किस प्रकार निरन्तर प्रकाश और ऊष्मा के रूप में ऊर्जा की अपार राशि बिखेरते रहते हैं। इन आकाशपिण्डों के अन्दर स्वयं द्रव्यमान ही ऊर्जा में परिणत हो जाता है। हिसाब लगाया गया है कि प्रति सैकण्ड सूर्यपिंड का ५० लाख टन द्रव्यमान ऊर्जा में बदल जाता है! फलतः सूर्य के द्रव्यमान में प्रति सैकण्ड ५० लाख टन की कमी होती जा रही है!

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

परमाणु-भौतिकी की प्रयोगशालाओं में विपरीत क्रियाओं का भी प्रदर्शन किया जा चुका है। उदाहरण के लिए, उपर्युक्त परिस्थितियों में प्रकाशीय ऊर्जा को द्रव्यमान में परिवर्तित किया जा सकता है और तब प्रकाश-ऊर्जा के प्रत्येक फोटॉन से एक इलेक्ट्रॉन और एक पाजिट्रॉन का जोड़ा उत्पन्न होता है (दे० इसी पृष्ठ का मानचित्र)। ऊर्जा तथा द्रव्यमान के पारस्परिक परिवर्तन की ये क्रियाएँ सदैव आइन्स्टाइन के समीकरण ऊर्जा$=m \times c^2$ के अनुसार ही सम्पन्न होती पाई गई हैं।

अतः आधुनिक भौतिकी के सभी प्रयोग 'विशिष्ट आपेक्षिकतावाद' का पूर्णतः समर्थन करते हैं। इस सिद्धांत की यथार्थता में अब किसी भी प्रकार के संदेह की गुंजायश बाकी नहीं रह गई है।

'व्यापक आपेक्षिकतावाद'

विशिष्ट आपेक्षिकतावाद द्वारा हम ज्ञात कर सकते हैं कि किसी दिए हुए निर्देश-तंत्र में नापी गई दूरी, द्रव्यमान तथा काल (समय) के मान अन्य किसी निर्देश-तंत्र में क्या प्राप्त होंगे, जबकि यह निर्देश-तंत्र दिए हुए निर्देश-तंत्र के सापेक्ष सीधी रेखा में समवेग से गति कर रहा है। इस सिद्धांत द्वारा प्रकाशीय तथा विद्युत्-चुम्बकीय सभी घटनाओं का समाधान किया जा सकता है।

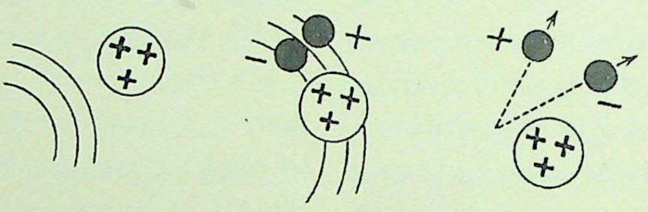

प्रकाश-ऊर्जा के प्रत्येक फोटॉन से एक इलेक्ट्रॉन और एक पाजिट्रॉन का जोड़ा उत्पन्न होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रकाशीय ऊर्जा को द्रव्यमान में परिवर्तित किया जा सकता है।

किंतु भौतिकी तथा यांत्रिकी में अधिकांश त्वरित (एक्सेलरेट) गति से वास्ता पड़ता है। गुरुत्वाकर्षण-बल के क्षेत्र में तो प्रायः सदैव ही गति त्वरण लिए हुए होती है। 'त्वरण' का अर्थ यह है कि वेग का मान अथवा उसकी दिशा या दोनों ही क्षण-क्षण पर बदलते रहें। उदाहरण के लिए, धरती पर जब ऊपर से कोई चीज स्वतः गिरती हैं, तो उसका वेग प्रथम सैकण्ड में शून्य से बढ़कर ३२ फीट प्रति सैकण्ड हो जाता है; द्वितीय सैकण्ड में यह वेग ६४ फीट प्रति सैकण्ड, और तृतीय में ९६ फीट प्रति सैकण्ड हो जाता है। अतः हर सैकण्ड में यहाँ त्वरण ३२ फीट प्रति सैकण्ड हो रहा है।

स्पष्ट है कि आइन्स्टाइन के विशिष्ट आपेक्षिकता के सिद्धांत को ऐसे दो निर्देश-तन्त्रों के लिए नहीं लागू कर सकते हैं, जो एक दूसरे के लिहाज से त्वरण के साथ गति कर रहे हों। अतः आइन्स्टाइन को अपने विशिष्ट आपेक्षिकता के सिद्धान्त का परिमार्जन करने में जुटना पड़ा और १० वर्षों के लगातार श्रम के उपरान्त १९१६ ई० में उन्होंने 'व्यापक आपेक्षिकतावाद' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जो गुरुत्वाकर्षण-क्षेत्र अथवा त्वरित गति के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

'व्यापक आपेक्षिकता' के लिए आइन्स्टाइन ने एक तृतीय नियम भी प्रस्तुत किया, जिसे 'समतुल्यता का नियम' कहते हैं। यह इस प्रकार है कि "यदि एक समांगी गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र लें तथा एक अविस्थितित्व क्षेत्र लें, जो ऐस बल द्वारा उत्पन्न होता हो कि त्वरण निश्चित मान का बना रहे, तो ये दोनो क्षेत्र पूर्णतः एक दूसरे के समतुल्य होंगे--किसी भी भौतिक साधन से इनकी अलग-अलग पहचान हम नहीं कर सकते।"

इसके साथ-साथ आइन्स्टाइन ने दिक् (स्पेस) और काल (टाइम) को परस्पर मिलाकर चार 'आयाम' (डायमेंशन्स) के एक माध्यम की कल्पना की। इनमें तीन आयाम तो वे ही हैं, जिनका हम ठोस ज्यामिति में उपयोग करते हैं और चौथा आयाम 'काल' से सम्बन्ध रखता है। चार आयामवाले इस माध्यम को 'चतुरायाम-सतति' (फोर डाइमेन्शनल कन्टीनुअम) कहते हैं। काल के आयाम की राशि समय के मान, प्रकाश के वेग तथा $\sqrt{-1}$ के गुणनफल द्वारा व्यक्त की जाती है। अवश्य इसमें $\sqrt{-1}$ काल्पनिक संख्या है। इन दोनों ही धारणाओं की हम यहाँ संक्षेप में व्याख्या करेंगे।

पहले 'समतुल्यता का नियम' लेते हैं। कल्पना कीजिए कि आप चारों ओर से बंद लकड़ी के एक विशालकाय चौकोर डिब्बे के फर्श पर खड़े हैं। अब यदि आप सामने क्षैतिज दिशा में एक गेंद फेंके, तो वह परिवलय-पथ का अनुसरण करती हुई जाएगी। गुरुत्वाकर्षण के नियम द्वारा भी इस तरह फेंकी गई गेंद के लिए मार्ग-रेखा परिवलय द्वारा निर्धारित होती है। अब यदि यह डिब्बा स्वतंत्र रूप से नीचे गिरने लगे और पहले की भाँति आप क्षैतिज दिशा में गेंद फेंके, तो यह गेंद सीधी रेखा पर जाती हुई मिलेगी--मानो पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण काम ही नहीं कर रहा है। या फिर इस तरह नीचे गिरते हुए डिब्बे में आप हाथ की गेंद योंही छोड़ दें, तो यह उसी ऊँचाई पर उस वक्त तक बनी रहेगी, जब तक कि डिब्बे का गिरना जारी रहता है! मानो गेंद के लिए गुरुत्वाकर्षण-बल मौजूद ही नहीं

है। इस प्रकार उचित त्वरित वेग द्वारा गुरुत्वाकर्षण-क्षेत्र के प्रभाव को पूर्ण रूप से मिटाया जा सकता है। इसी प्रकार चारों ओर से बंद किसी कक्ष पर बल आरोपित किया जाय, ताकि यह त्वरित वेग से चले, तो इसके अन्दर के प्रेक्षक को कक्ष के अन्दर की सभी भौतिक क्रियाएँ ऐसी होती हुई जान पड़ेंगी, मानो उसका कक्ष स्थिर है और उस कक्ष पर कहीं से गुरुत्वाकर्षण-क्षेत्र आरोपित हो रहा है।

न्यूटन की यान्त्रिकी में किसी पिण्ड का द्रव्यमान दो प्रकार से निर्धारित किया जा सकता है। एक अविस्थितित्व (इनर्शिया) द्वारा, जिसमें लगनेवाले बाहरी बल तथा उससे उत्पन्न होनेवाले त्वरण का संबंध द्रव्यमान से जोड़ा गया है। इसका समीकरण इस प्रकार है :: $P = m \times f$ (इसमें P बल है; m द्रव्यमान है और f त्वरण है)।

दूसरे, गुरुत्वाकर्षण बल के इस सूत्र द्वारा कि

$$F = \frac{GM}{R^2} \times m$$

[इसमें F है पृथ्वी और पिंड के बीच का गुरुत्वाकर्षण-बल;
M पृथ्वी का द्रव्यमान;
m पिण्ड का द्रव्यमान;
R पृथ्वी के केन्द्र से पिण्ड तक की दूरी]

आइन्स्टाइन ने देखा कि अविस्थितित्व से प्राप्त द्रव्यमान तथा गुरुत्वाकर्षण से प्राप्त द्रव्यमान, दोनों एक ही राशि है, अतः इस समानता से उसे सहज ही यह सूझ मिली कि अविस्थितित्व तथा गुरुत्वाकर्षण, इन दोनों विभागों का एकीकरण किया जा सकता है। फलस्वरूप व्यापक आपेक्षिकता का प्रादुर्भाव हुआ।

अब हम इस पर विचार करेंगे कि 'चतुरायाम-सतति' का क्या अभिप्राय है तथा इसकी क्या आवश्यकता है। पहले एक उदाहरण लीजिए, दो आयाम की समस्या का। ग्राफ कागज पर यदि दो बिन्दु स्थित हैं, तो प्रत्येक बिन्दु की स्थिति के लिए X अक्ष तथा Y अक्ष पर जो निर्देशांक प्राप्त होंगे, वे विभिन्न निर्देश-तंत्रों के लिए विभिन्न होंगे। किंतु दोनों बिंदुओं की बीच की दूरी $\sqrt{(x-x_1)^2 + (y-y_1)^2}$ सदैव एक-सी प्राप्त होगी, चाहे हम निर्देश-तंत्र कोई भी लें। इसी प्रकार ठोस ज्यामिति के तीन आयाम के लिए किन्हीं दो बिन्दुओं के लिए उनके तीनों निर्देशांक विभिन्न निर्देश-तंत्रों के लिए जाने पर विभिन्न मान के प्राप्त होंगे। किन्तु उनकी दूरी, जो $\sqrt{(x-x_1)^2 + (y-y_1)^2 + (z-z_1)^2}$ द्वारा निरूपित होगी, हर निर्देश-तंत्र के लिए एक-सी आएँगी। अब किसी घटना को लीजिए, जो धरती पर अमुक स्थान पर अमुक क्षण पर घटित होती है तथा एक और घटना को लीजिए, जो अन्य स्थान पर किसी अन्य समय पर घटित होती है। प्रत्येक घटना को इंगित करने के लिए दिक् के तीनों निर्देशांक बनाने होंगे तथा वह कब हुई, समय का यह चौथा निर्देशांक भी बताना होगा।

इनके बीच दिक् का अंतर तथा समय का अंतर भी धरती-निवासी द्वारा आँका जाता है। यदि अन्य प्रेक्षक, जो पृथ्वी के सापेक्ष गति कर रहा है, इन्हीं राशियों को नापे, तो उसे दिक् के अन्तर (दूरी) का मान भिन्न मिलेगा तथा समय की अवधि भी पृथ्वीवाले प्रेक्षक के मान से भिन्न मिलेगी। किंतु यदि हम चतुरायाम-सतति में इन्हीं के निर्देशांक प्राप्त करें, तो राशि $\sqrt{(x-x_1)^2 + (y-y_1)^2 + (z-z_1)^2 - c^2(t-t_1)^2}$ का मान हर दशा में एक-सा ही मिलेगा, जो दिक्-काल की चतुरायाम-सतति में स्थित दोनों घटनाओं के बीच का दिक्-काल 'अन्तराल' (इण्टर्वल) व्यक्त करता है। इस 'अन्तराल' में मानो दिक् की तीनों दिशाओं की दूरियाँ तथा 'समय' इन चारों आयामों का समावेश है।

किसी निर्देश-तंत्र से हम इन दोनों घटनाओं के बीच यदि 'दिक् की दूरी' और 'समय-अन्तर' अलग-अलग निकालें, तो ये मान उस मान से भिन्न होंगे, जो अन्य प्रेक्षक को किसी और निर्देश-तंत्र से नापने पर मिलेंगे। किन्तु दोनों ही प्रेक्षकों के लिए उपर्युक्त विधि से प्राप्त किया गया दिक्-काल का 'अन्तराल' सदैव एक-सा ही आएगा। अर्थात् दो घटनाओं के बीच की दूरी 'दिक् की दूरी' तथा 'समय-अंतर' अवश्य प्रेक्षक की गति पर ही आश्रित हैं, ये निरपेक्ष नहीं हैं। किन्तु उन्हीं दो घटनाओं के बीच चतुरायाम-सतति का 'दिक्-काल अन्तराल' पूर्णतः निरपेक्ष राशि है—हर प्रेक्षक के लिए इस अन्तराल का मान सदा एक-सा ही मिलेगा।

एक उदाहरण लीजिए। फव्वारा (चाँदनी चौक, दिल्ली) पर सड़क पर रात के बारह बजे किसी व्यक्ति को मोटर-रिक्शा की दुर्घटना में चोट आती है और ठीक रात के १२ बजकर ५ मिनट पर कुतुबमीनार की चोटी पर किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। इन दोनों घटनाओं के दर्मियान की दिक् की दूरी तथा समय-अन्तर हमें प्राप्त करना है।

निर्देश-तंत्र इस प्रकार चुनिए कि मूल बिन्दु (ऑरिजिन) फव्वारे पर पड़े और X अक्ष धरती के समानान्तर खींची गई वह सीधी रेखा हो, जो फव्वारे से कुतुबमीनार के पेंदे तक खींची जाती है। अब X अक्ष के समकोण क्षैतिज तल की रेखा को X अक्ष मानिए और ऊर्ध्व दिशा में Z अक्ष-रेखा खींचिए। १२ बजे रात को समय-गणना का शून्य मान लीजिए (दे० पृ० ३१९२ का मानचित्र)।

हमारे लिए फव्वारे की घटना के दिक्-निर्देशांक होंगे (०,०,०); तथा समय-निर्देशांक होगा $\sqrt{१ \times ० \times c}$ जबकि c प्रकाश का निर्वात-वेग है।

कुतुबमीनार की चोटी के लिए,

$x = १० \times १७६० \times ३$ फीट (क्योंकि फव्वारे से

$y = ०$ कुतुब की दूरी १० मील है)

$z = २३८$ फीट (कुतुबमीनार की ऊँचाई २३८ फीट है)

समय-निर्देशांक $\sqrt{-१ \times ३०० \times c}$

∴ दोनों घटनाओं की दिक्-दूरी

$$= \sqrt{(x - x_1)^2 + (y - y_1)^2 + (z - z_1)^2}$$

$$= \sqrt{(१० \times १७६० \times ३)^2 + ० + २३८^2} \text{ फीट}$$

समय-अन्तर अवश्य ३०० सैकण्ड ही है।

अब चतुरायाम दिक्-काल-अन्तराल

$$= \sqrt{(१० \times १७६० \times ३)^2 + ० + २३८^2 - ३००^2 \times c^2}$$

[इस पद में c को भी फीट प्रति सैकण्ड में व्यक्त करना होगा।]

इस गणना से स्पष्ट है कि दिक्-काल-अन्तराल का मान अकेले दिक्-दूरी या समय-अन्तर से नितान्त भिन्न है। विभिन्न वेग से चलनेवाले प्रेक्षकों के लिए इन दोनों घटनाओं के बीच की दिक्-दूरी अलग-अलग प्राप्त होगी तथा समय-अन्तर भी भिन्न-भिन्न प्राप्त होंगे, किन्तु सभी प्रेक्षकों के लिए दिक्-काल-चतुरायाम-सतति के अन्तराल का मान सदा वही मिलेगा, जो आइन्स्टाइन द्वारा प्रतिपादित तृतीय नियम में दिया गया है।

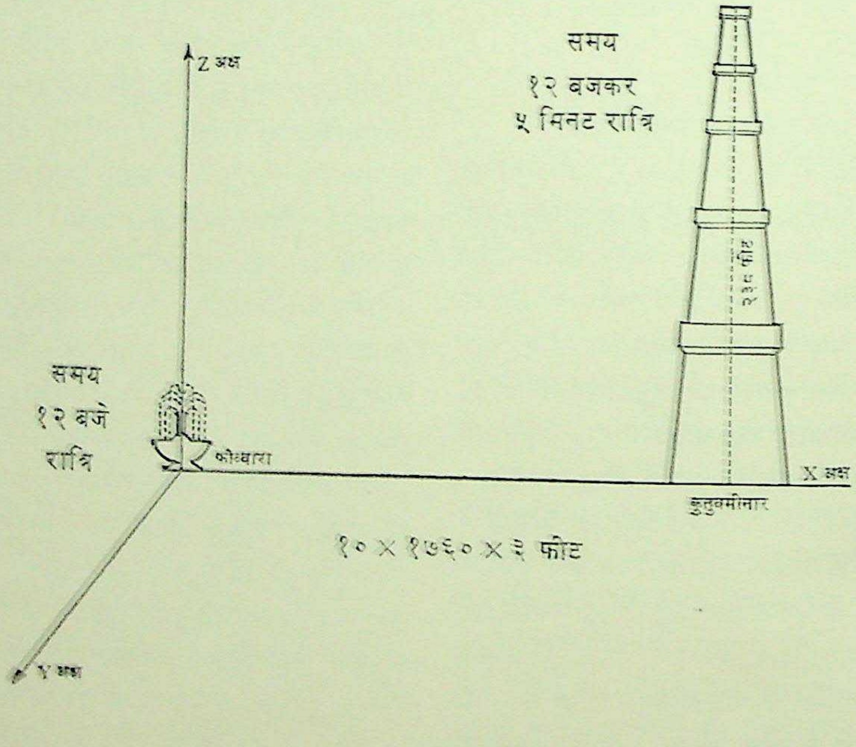

किन्हीं दो घटनाओं के बीच की दूरी तथा समय-अन्तर प्रेक्षक की गति पर आश्रित है, ये निरपेक्ष नहीं हैं. यह तथ्य इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है, जिसमें रात के बारह बजे चाँदनी चौक (दिल्ली) में फव्वारे के निकट एक मोटर-रिक्शा-दुर्घटना होती है और ठीक बारह बजकर पाँच मिनट पर कुतुबमीनार पर एक व्यक्ति की मृत्यु होती है (इन दोनों घटनाओं के बीच दिक् की दूरी और समय-अन्तर की चतुरायाम-सतति के अन्तराल का मान क्या प्राप्त होगा, इसके विवरण के लिए पृ० ३९९१ और प्रस्तुत पृ० का मैटर पढ़िए)॥

आइन्स्टाइन के सिद्धान्त में गुरुत्वाकर्षण का अर्थ

दिक्-काल चतुरायाम-सतति में समान वेग से चलनेवाले कण का पथ एक सीधी रेखा द्वारा निरूपित होता है—इस तरह के वेग से केवल ऐसा कण गति कर सकता है, जो अन्य पिण्डों से बहुत दूर स्थित हो। न्यूटन-यांत्रिकी की भाषा में हम कहेंगे कि ऐसे कण पर गुरुत्वाकर्षण-क्षेत्र आरोपित नहीं हो रहा है। व्यापक आपेक्षिकतावाद के अनुसार तीन आयामोंवाला दिक् तथा दिक्-काल की चतुरायाम-सतति दोनों ही पदार्थ-पिण्ड के निकट वक्रता प्राप्त कर लेते हैं। अतः इस प्रदेश में हरकत करनेवाले कण का मार्ग सीधी रेखा द्वारा व्यक्त न होकर वक्र-रेखा द्वारा निरूपित होता है। फलतः इनकी गति त्वरित होती है और न्यूटन-यांत्रिकी की भाषा में हम कहने लगते हैं कि उस कण पर गुरुत्वाकर्षण-क्षेत्र का प्रभाव पड़ रहा है। अतः व्यापक आपेक्षिकतावाद के अनुसार वक्रता के कारण ही गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव उत्पन्न होता है!

दूसरे शब्दों में, यह कहना कि पेड़ से गिरनेवाले सेब को पृथ्वी अपने केन्द्र की ओर गुरुत्वाकर्षण-बल के कारण खींच लेती है, उतना ही गलत होगा, जितना प्याले के अन्दर हाशिये पर से लुढ़कानेवाली काँच की गोली के लिए यह कहना कि

प्याले का मध्यबिन्दु गोली को अपनी ओर खींच रहा है। गोली का गतिमार्ग यहाँ प्याले की सतह की वक्रता का परिणाम है, न कि मध्यबिन्दु से आरोपित होनेवाले बल का।

व्यापक आपेक्षिकता के कतिपय परिणाम

व्यापक आपेक्षिकतावाद से निम्नलिखित महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त होते हैं--

१. पदार्थ-पिण्ड के निकट दिक् (स्पेस) सदैव ही वक्रता धारण किए हुए होता है।

२. गुरुत्वाकर्षण-क्षेत्र का प्रभाव दिक् की वक्रता के कारण उत्पन्न होता है। किसी भी पिण्ड के निकट दिक् की वक्रता के कारण अन्य पदार्थ-कण त्वरित वेग के साथ चलने लगते हैं, जिससे प्रतीत होता है मानो उस कण पर गुरुत्वाकर्षण-बल (?) लग रहा है।

३. दिक् की वक्रता का प्रभाव न केवल पदार्थ-कण पर पड़ता है, बल्कि प्रकाश पर भी; क्योंकि प्रकाश में ऊर्जा होती है, जो द्रव्यमान का ही एक रूप है। अतः प्रकाश की किरणें जब कभी भारी पिण्डों के निकट से गुजरेंगी, तब इनकी मार्ग-दिशा में विचलन (हटाव) उत्पन्न हो जायगा (दे० इसी पृष्ठ का मानचित्र)।

४. हमारा दिक् द्रव्यमान तथा ऊर्जा से परिपूर्ण है, अतः यह दिक् भी वक्रता लिए हुए है। अतएव समस्त ब्रह्माण्ड (यूनिवर्स) का दिक् सीमारहित तो है, किंतु अपरिमित नहीं; जैसे कि पृथ्वी की सतह सीमा-रहित है, किंतु अपरिमित नहीं।

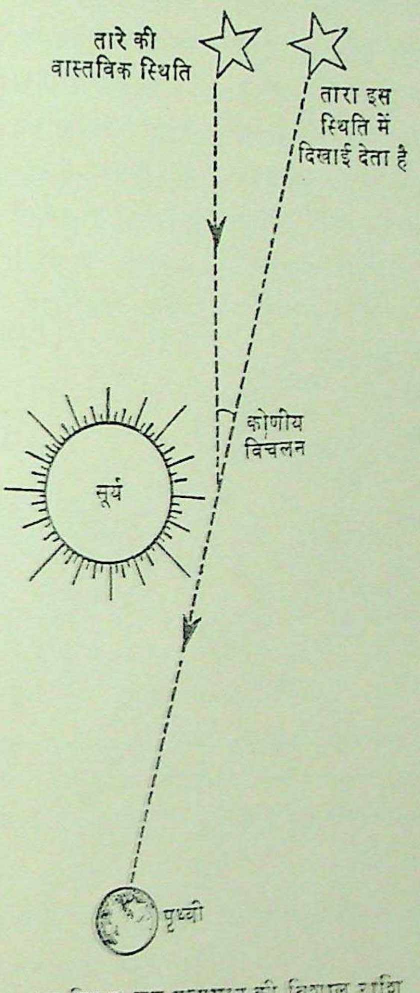

प्रकाश-किरण जब द्रव्यमान की विशाल राशि के निकट से गुजरती है, तो उसके मार्ग में विचलन हो जाता है, यह इस उदाहरण से स्पष्ट है (विवरण के लिए इसी पृ० का मैटर पढ़िए)।

व्यापक आपेक्षिकतावाद की सम्पुष्टि

व्यापक आपेक्षिकता से प्राप्त अनेक प्रेक्षण-फल अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। अतः इनकी प्रायोगिक जाँच करना कठिन है। किन्तु वैज्ञानिक अपने प्रयत्नों में लगे रहे और अन्त में उन्हें निम्न प्रायोगिक प्रमाण प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हो गई।

१. बहुत दिनों से ज्योतिष शास्त्र की एक समस्या हल नहीं हो पा रही थी। समस्या यह थी कि बुध ग्रह की परिभ्रमण-कक्षा का दीर्घ अक्ष अत्यन्त धीमी दर से अपने कक्षातल में घूमता है--उसमें लगभग १०० वर्षों में ४३ सकण्ड का कोणीय विस्थापन हो जाता है। चिरप्रतिष्ठित न्यूटन-यांत्रिकी गुरुत्वाकर्षण-नियम की मदद से इस समस्या का समाधान करने में नितान्त असमर्थ रही। किन्तु आइन्स्टाइन के व्यापक आपेक्षिकतावाद की गणना से बुध की कक्षा के दीर्घ अक्ष का कोणीय विस्थापन ठीक उतना ही निकला, जितना कि प्रेक्षण से प्राप्त हुआ है।

२. व्यापक आपेक्षिकतावाद के निष्कर्षों के अनुसार हिसाब लगाया गया कि सूर्य के निकट से गुजरनेवाली प्रकाश-किरण का विचलन कितना होना चाहिए। जब सर्व-सूर्यग्रहण के अवसर पर सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा की आड़ में छिप जाता है, तो उस क्षण यदि सूर्य के निकट की दिशा में कोई चमकीला तारा स्थित हुआ, तो उसका प्रेक्षण करके ज्ञात किया जा सकता है कि वहाँ से आनेवाली किरण के विचलन-कोण का मान कितना है। आइन्स्टाइन ने अपनी गणना के अनुसार बतलाया था कि यह विचलन १ ३/४ सैकण्ड (एक सैकण्ड का कोणीय मान = १/३६०० अंश) होना चाहिए। मई २९, १९१९ ई०, को इस तरह का सुयोग प्राप्त हुआ, जब कि सर्व-सूर्यग्रहण भी लगे और कोई चमकीला तारा भी सूर्य के निकट की दिशा में स्थित दिखाई दे। इस अवसर पर इंगलैंड के वैज्ञानिकों की एक टोली आधुनिकतम उपकरणों से लैस होकर सूर्यग्रहण का फोटो लेने के लिए दक्षिण अमरीका गई। उनके प्रेक्षणफल ठीक आपेक्षिकतावाद की गणनाफल के अनुसार मिले। इस तरह प्रयोग की कसौटी पर आइन्स्टाइन का सिद्धान्त खरा उतरा। बाद में १९२२, १९२९, और १९४७ ई० के सर्वसूर्यग्रहणों के अवसरों पर भी इस सिद्धान्त की सम्पुष्टि हो गई।

३. व्यापक आपेक्षिकतावाद की जाँच की तीसरी प्रायोगिक कसौटी प्रकाश के वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) से सम्बन्ध रखती है। आइन्स्टाइन ने अपने व्यापक आपेक्षिकता के सिद्धान्त से यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि यदि कोई आवर्त (पीरियाडिक) क्रिया किसी बृहत् द्रव्यमान-पिण्ड के निकट होती है, तो वह क्रिया हमारी घड़ी से नापे जाने पर हमें धीमी रफ्तार से होती हुई दिखाई पड़ेगी; अर्थात् उस क्रिया की आवृत्ति (प्रति सैकण्ड क्रिया की संख्या) घट जाएगी। हम जानते हैं कि प्रकाश की उत्पत्ति परमाणु के भीतर होनेवाली आवर्त-क्रिया के कारण होती है। स्पेक्ट्रोमीटर में देखने पर विशिष्ट आवृत्ति के प्रकाश के लिए हमें वर्णक्रम की विशिष्ट रेखाएँ मिलती हैं। उदाहरण के लिए, लाल रंग के प्रकाश की आवृत्ति कम होती है, पीले प्रकाश के लिए अधिक, हरे के लिए और भी अधिक तथा बैंजनी के लिए अधिकतम। अतः यदि हम पृथ्वी पर स्थित किसी तत्त्व के परमाणु से प्राप्त प्रकाश की वर्णक्रम-रेखाओं की आवृत्ति की नाप करें और फिर सूर्य से आनेवाले उसी तत्त्व के प्रकाश का वर्णक्रम नापें, तो इस दशा में प्रत्येक रेखा की आवृत्ति में ह्रास मिलना चाहिए, अर्थात् वर्णपट पर प्रत्येक रेखा लाल रंग-वाले हाशिए की ओर थोड़ी खिसक जाएगी। अवश्य आवृत्ति के इस ह्रास की मात्रा अत्यल्प होती है। किंतु इस कसौटी पर भी आपेक्षिकतावाद खरा उतरता है।

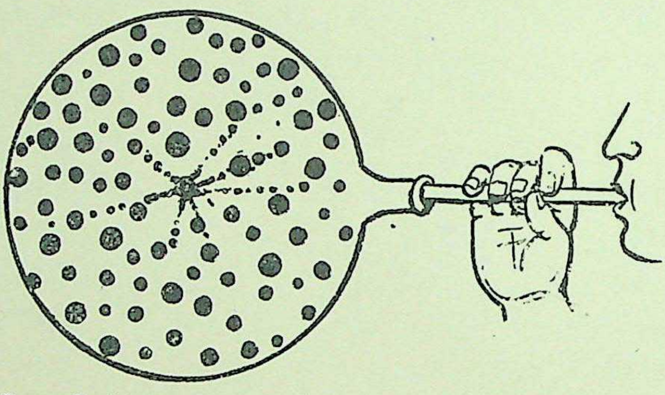

विश्व की नीहारिकाएँ एक-दूसरे से जो हटती हुई दिखाई देती हैं, वह वैसा ही है, जैसा कि किसी गुब्बारे को फुलाने पर उसकी सतह पर चित्रित बिन्दुओं के एक-दूसरे से दूर हटने की प्रक्रिया में हम देखते हैं।

ब्रह्माण्ड—आइन्स्टाइन की दृष्टि में

न्यूटन-यान्त्रिकी के अनुसार हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह ब्रह्मांड, जिसके हर बिन्दु पर गुरुत्वाकर्षण-बल मौजूद होना ही चाहिए, कदापि अपरिमित (इनफाइनाइट) नहीं हो सकता। दिक्-काल की चतुरायाम-सतति की वक्रता की सहायता से आइन्स्टाइन ने यह दिखलाया है कि ब्रह्मांड सीमारहित अवश्य है, किन्तु वह अपरिमित नहीं है। बात यों है कि जिस प्रकार दो आयाम की सतह जब तीसरे आयाम की वक्रता प्राप्त करती है, तो हमें गोले की सतह मिलती है, जिसकी कोई सीमा नहीं होती, किन्तु वह परिमित (फाइनाइट) अवश्य होता है; उसी प्रकार ब्रह्मांड का यह तीन आयाम का दिक् चौथे आयाम की वक्रता लिए हुए है, अतः सीमारहित होते हुए भी यह अपरिमित नहीं है।

आइन्स्टाइन ने अपने वक्र दिक्वाले परिमित ब्रह्मांड के लिए कल्पना की थी कि यदि किसी स्थान से प्रकाश की एक किरण सीधे चलना आरम्भ करे, तो फल यह होगा कि यह किरण सम्पूर्ण ब्रह्मांड का चक्कर लगाकर विपरीत दिशा से वापस अपने रवाना होनेवाले स्थान पर पहुँच जाएगी!

अमेरिकन ज्योतिषी डॉ० हबल के मत के अनुसार यह ब्रह्माण्ड प्रसरण कर रहा है। प्रेक्षण करने पर पाया गया है कि नीहारिकाएँ हजारों मील प्रति सैकण्ड की रफ्तार से हमसे दूर भागी जा रही हैं। सच तो यह है कि जो नीहारिकाएँ हम से अधिक फासले पर हैं, वे उतने ही अधिक वेग से दूर हट रही हैं, मानो सारा ब्रह्माण्ड एक बृहत्काय गुब्बारे की भाँति फैल रहा है (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)! किन्तु सभी वैज्ञानिक इस मत से सहमत नहीं हैं।

'आपेक्षिकता का संगठित क्षेत्र सिद्धान्त'

व्यापक आपेक्षिकता के सिद्धान्त द्वारा गुरुत्वाकर्षण-क्षेत्र का तो समाधान पूर्णतः किया जा सका था, किंतु वैद्युत् तथा चुंबकीय बलों का समावेश इस सिद्धान्त में करना संभव नहीं था। अतः आइन्स्टाइन ने अथक परिश्रम तथा अनुसंधान के उपरान्त १९४८ ई० में व्यापक आपेक्षिकता के एक संशोधित रूप 'संगठित क्षेत्र सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया।

अपने इस अन्तिम सिद्धांत द्वारा आइन्स्टाइन ने यह सिद्ध कर दिखलाया कि गुरुत्वाकर्षण, वैद्युत् बल तथा चुम्बकीय बल परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हैं। इस सिद्धान्त ने मानो द्रव्यमान, ऊर्जा, दिक्, काल, विद्युत्, गुरुत्वाकर्षण और चुम्बकत्व आदि सब को समेटकर एक ढाँचे के अंदर फिट कर दिया है, जो इस निःसीम ब्रह्माण्ड की एकरूपता परिलक्षित करता है। आपेक्षिकता के अपने इस महान् 'संगठित क्षेत्र सिद्धांत' द्वारा आइन्स्टाइन ने सभी ज्ञात तथ्यों को मानो एक ही सूत्र में पिरो लिया है!

'क्वान्टम-सिद्धान्त' एवं तरंग-यांत्रिकी

द्रव्य-जगत् के वास्तविक रूप और उसके आधारभूत नियमों के अन्वेषण के क्रम में जिस प्रकार आइन्स्टाइन के महान् 'आपेक्षिकता-सिद्धान्त' का आविर्भाव हुआ, उसी प्रकार मैक्स प्लांक द्वारा प्रतिपादित 'क्वांटम-सिद्धान्त' की भी उपलब्धि विज्ञान को हुई है। यह गूढ़ सिद्धान्त क्या है, इस प्रकरण में संक्षेप में वर्णित है।

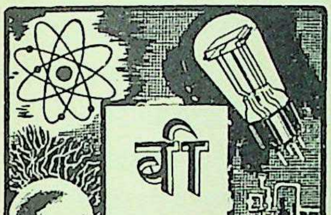

बीसवीं शताब्दी की भौतिकी में क्रान्ति का समावेश करने का जितना श्रेय आइन्स्टाइन के आपेक्षिकतावाद को प्राप्त है, लगभग उतना ही श्रेय मैक्स प्लांक के 'क्वान्टम-सिद्धान्त' को भी दिया जाता है। वास्तव में, चिरप्रतिष्ठित भौतिकी की मूल धारणाओं की अनेक त्रुटियों का पता सब से पहले प्लांक के क्वान्टम-सिद्धान्त की मदद से ही लग पाया था। क्वान्टम-सिद्धांत के प्रतिपादन के पूर्व, भौतिक घटनाओं के वास्तविक रहस्य को समझ पाने में वैज्ञानिक निरे असमर्थ थे। इस सिद्धान्त की खोज ने विज्ञान-जगत् के इतिहास में एक नवीन दिशा का मार्ग-दर्शन किया।

चिरप्रतिष्ठित भौतिकी के अनुसार हम देख चुके हैं कि न्यूटन आदि द्वारा दिक् और काल पूर्णतः स्वतंत्र और निरपेक्ष समझे जाते थे। फलस्वरूप समस्त विश्व की क्रियाएँ तथा भौतिक व्यापार कार्य-कारण-नियम के सूत्र द्वारा एक से दूसरे संबद्ध समझे गए और विश्व को एक यान्त्रिक समुदाय का रूप देना सम्भव हुआ। तब आइन्स्टाइन के आपेक्षिकतावाद ने दिक् और काल की निरपेक्षता समाप्त करके दिक्-काल की 'चतुरायाम-सतति' का अस्तित्व स्वीकार किया और बतलाया कि भौतिक घटनाओं की स्थिति और काल आदि का निरपेक्ष और यथार्थ निरूपण केवल इस चतुरायाम-सतति की सहायता से ही किया जा सकता है।

किन्तु क्वान्टम-भौतिकी ने अपनी मौलिक परिकल्पनाओं द्वारा एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया कि दिक्-काल में अवस्थित किसी कण की स्थिति तथा उसकी गति दोनों का सही मान एक ही साथ प्राप्त करना सम्भव नहीं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि गतिशील कण के लिए किसी भी क्षण उसकी स्थिति और उसके वेग-निर्धारण में समान रूप की यथार्थता प्राप्त करना असम्भव है--यदि हम स्थिति को अधिक यथार्थता से प्राप्त करें, तो वेग के मान में अशुद्धि की मात्रा बढ़ जाती है और यदि वेग-निर्धारण में यथार्थता प्राप्त करने की कोशिश करें, तो स्थिति के निर्धारण में गलती का समावेश होता है! यह 'अनिश्चितता का सिद्धांत' चिरप्रतिष्ठित भौतिकी के लिए एक सर्वथा असंगत-सी बात प्रतीत होती है। 'अनिश्चितता' के इस सिद्धान्त की व्याख्या हम आगे करेंगे। आइए, देखें क्वान्टम-भौतिकी का प्रादुर्भाव कैसे हुआ!

'कृष्ण वस्तु' (ब्लैक बॉडी) के विकिरण

क्वान्टम-सिद्धान्त के जन्म का इतिहास वास्तव में उन अनुसंधानों से सम्बन्ध रखता है, जो 'कृष्ण वस्तु के विकिरण' के सिलसिले में किए गए थे। इन अनुसंधानों को समझने से पहले यह जानना आवश्यक है कि 'कृष्ण वस्तु' कहते किसे हैं? यह आवश्यक नहीं कि भौतिकी की 'कृष्ण वस्तु' कृष्ण या काले रंग की ही हो! यह किसी भी अपारदर्शी पदार्थ का ऐसा पिंड हो सकता है, जिसके भीतर अधिकांश जगह खोखली हो और बाहर से एक पतला सूराख अन्दर तक पहुँचता हो एवं इस सूराख में से होकर जो भी विकिरण भीतर प्रवेश करता हो, वह इस कृष्ण वस्तु में ही समा जाता हो।

प्रश्न यह था कि यदि इस तरह की 'कृष्ण वस्तु' का ताप (टेम्परेचर) बढ़ाया जाय, तो इससे बाहर निकलनेवाले विकिरण में विभिन्न तरंग-दैर्घ्य (वेव लेंथ) की किरणों में ऊर्जा का विकिरण किस प्रकार होता है? प्रयोगफल पृ० ३१९८ के चित्र के अनुसार प्राप्त हुए। लार्ड रैले ने चिरप्रतिष्ठित भौतिकी के आधार पर इस ऊर्जा-वितरण के लिए नियम प्राप्त करने की कोशिश की, तो पाया कि छोटी तरंग-दैर्घ्य वाली किरणें ही अधिक प्रबल ऊर्जा की होनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि चारों ओर से बंद किसी तप्त भट्टी (कृष्ण वस्तु) के सूराख से बाहर निकलनेवाले विकिरण में नीले रंग की किरणें सदैव ही लाल किरणों की अपेक्षा अधिक चटकीली होंगी। किन्तु पेक्षण में फल इसके अनुकूल कदापि नहीं मिलता——भट्टी का ताप ज्यों-ज्यों ऊँचा चढ़ता है, त्यों-त्यों बाहर निकलनेवाले विकिरण का रंग लाल से धीरे-धीरे बदलकर उज्ज्वल श्वेत होता जाता है; जैसे कि १,४०० डिग्री सेन्टीग्रेड ताप पर विकिरण तापोज्ज्वल होगा अर्थात् इस विकिरण में लाल रंग की किरण और नीले रंग की किरण दोनों का चटकीलापन (ऊर्जा) करीब-करीब बराबर ही होगा।

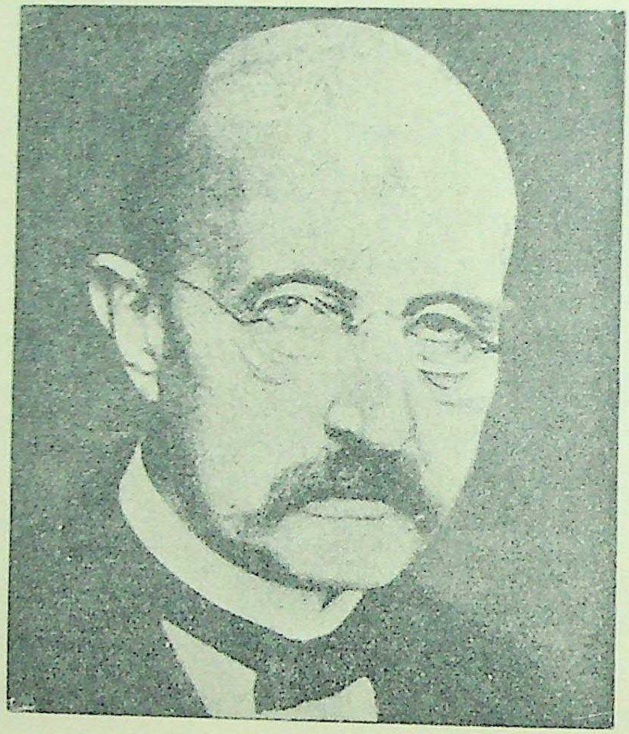
'क्वान्टम-सिद्धान्त' के महान् प्रतिपादक मैक्स प्लांक।

चिरप्रतिष्ठित भौतिकी इस गुत्थी को सुलझाने में नितांत असमर्थ थी। तब १९०० ई० के लगभग मैक्स प्लांक ने इस समस्या का चिन्तन आरम्भ किया। स्वभावतः उन्होंने यह सोचा कि चिरप्रतिष्ठित भौतिकी की मान्यताएँ इस समस्या को हल करने में असमर्थ ठहरती हैं, अतः इसके लिए सर्वथा नवीन परिकल्पनाओं की सहायता लेनी होगी। उनकी विचारधारा कुछ इस प्रकार चली——उन्होंने गौर किया कि कृष्ण वस्तु के विकिरण में ऊर्जा-वितरण का ग्राफ उसी शक्ल का आता है, जिस शक्ल का ग्राफ उस समय आता है, जब कि हम किसी कोष्ठ में बंद गैसों के अणु के लिए उनके वेग और अणुओं की संख्या के बीच ग्राफ खींचते हैं। फलतः उन्हें यह सूझ मिली कि, हो न हो, कृष्ण वस्तु के अन्दर जो विकिरण मौजूद है, वह सतत तरंगों से निर्मित नहीं है, बल्कि ऊर्जा के करोड़ों पृथक्-पृथक् नन्हें टुकड़ों (क्वान्टम) से निर्मित है! निस्संदेह, यह एक अत्यन्त साहसपूर्ण परिकल्पना थी; क्योंकि वैज्ञानिक अभी तक निर्विवाद रूप से यही मानते आए थे कि ऊर्जा का प्रवाह सतत रूप में निरंतर होता है, जैसे कि मोटे तौर पर पानी की धारा का प्रवाह। प्लांक ने ऊर्जा के लिए 'क्वान्टम' की परिकल्पना करके यह स्वीकार किया कि ऊर्जा का विस्तरण लगभग उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार कि मधुमक्खी के छत्ते से नन्हीं-नन्हीं मक्खियों का बाहर निकलना। बाद में विकिरण-ऊर्जा के क्वांटम को 'फोटान' का नाम दिया गया। प्लांक ने बतलाया कि विभिन्न तरंग-दैर्घ्य (अथवा आवृत्ति) के विकिरण के लिए उसके फोटान में ऊर्जा का परिमाण उसकी आवृत्ति (फ्रीक्वेन्सी) का समानुपाती होता है। इसका सूत्र इस प्रकार है——

फोटान की ऊर्जा = h × आवृत्ति

$$E = h\nu$$

इसमें h एक नियतांक है, जिसे 'प्लांक का नियतांक' कहते हैं। इसका मान $\frac{६\cdot६२२}{१०^{२७}}$ अर्ग × सैकण्ड है। अपने क्वांटम सिद्धांत के आधार पर प्लांक ने जब कृष्ण-वस्तु-विकिरण के लिए ऊर्जा-वितरण का सूत्र प्राप्त किया, तो यह प्रयोगफल के ठीक अनुरूप ही मिला। इस प्रकार क्वांटम-सिद्धान्त को प्रायोगिक समर्थन भी प्राप्त हो गया।

'क्वांटम' से अभिप्राय

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि क्वांटम का स्थान ऊर्जा के लिए वही है, जो पदार्थ के लिए परमाणु का। एक जमाना था, जब कि यह सोचा जाता था कि पदार्थ की संरचना सतत है, अर्थात् उसके निरन्तर छोटे से छोटे टुकड़े किए जा सकते हैं, जिनकी कोई लघुतम सीमा नहीं हो सकती। बाद में यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ की रचना दरअसल नन्हें-नन्हें परमाणुओं से हुई

है। ये परमाणु ही रासायनिक क्रियाओं आदि में भाग लेनेवाली लघुतम इकाइयाँ हैं। इसी प्रकार प्लांक के क्वांटम-सिद्धांत से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऊर्जा का स्वरूप भी परमाण्विक (ऐटॉमिक) है; अर्थात् ऊर्जा भी नन्हें-नन्हें ऊर्जा-कणों (?) या क्वान्टमों का समूह है। किन्तु इस स्थान पर स्मरण रखना होगा कि विकिरण-ऊर्जा के ये क्वान्टम (फोटान) सब एक-से नहीं होते, अर्थात् इनके अन्दर ऊर्जा के परिमाण विभिन्न होते हैं। जैसा $E = h\nu$ से प्रकट है, उच्च आवृत्ति के विकिरण के लिए ν अधिक होता है, अतः ऐसे विकिरण के फोटान में ऊर्जा अधिक होगी और कम आवृत्तिवाले विकिरण के लिए फोटान की ऊर्जा कम होगी। अर्थात् लाल रंग के प्रकाश के फोटान कम ऊर्जा रखते हैं और बैंजनी रंग के प्रकाश के फोटान में अधिक ऊर्जा होती है; क्योंकि बैंजनी रंग के प्रकाश की आवृत्ति लाल रंग के प्रकाश की आवृत्ति से अधिक होती है।

क्वाटम-सिद्धांत की उपलब्धियाँ

आइन्स्टाइन ने फोटो-इलेक्ट्रिक प्रभाव की सन्तोषजनक व्याख्या क्वान्टम-सिद्धान्त की मदद से ही की। यह उपलब्धि इतनी महत्वपूर्ण आँकी गई कि इसकी बदौलत १९२१ ई० में आइन्स्टाइन को भौतिकी का नोबेल-पुरस्कार प्रदान किया गया! व्याख्या इस प्रकार थी--धातु की प्लेट पर आवृत्ति का प्रकाश पड़ता है, तो प्रत्येक फोटान किसी एक परमाणु को अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा $h\nu$ दे देता है। इसमें से कुछ ऊर्जा परमाणु के बंधन से इलेक्ट्रॉन को विमुक्त कराने में व्यय हो जाती है और शेष भाग उस इलेक्ट्रॉन को गतिज-ऊर्जा प्रदान करती है, जिससे वह एक खास वेग से बाहर भागता है।

यदि प्रकाश की आवृत्ति इतनी कम हो कि फोटान की ऊर्जा $h\nu$ उस परमाणु से इलेक्ट्रॉन को विमुक्त कराने के लिए अपर्याप्त रहे, तब इलेक्ट्रॉन बाहर नहीं निकलते, अर्थात् फोटो-इलेक्ट्रिक प्रभाव उत्पन्न नहीं हो पाता है। हर धातु के लिए इलेक्ट्रॉन को विमुक्त कराने के लिए ऊर्जा की एक न्यूनतम मात्रा E_0 चाहिए। अतः यदि आवृति ν_0 ऐसी है कि $E_0 = h\nu_0$, तब ν_0 आवृत्ति को 'दहलीज आवृत्ति' (थ्रेशोल्ड फ्रीक्वेन्सी) कहते हैं। क्योंकि यदि प्रकाश की आवृति ν_0 होती है, तो इस फोटान की ऊर्जा $h\nu_0$ बस इलेक्ट्रॉन को परमाणु से पृथक् भर कर पाती है-- उसे गतिज ऊर्जा नहीं मिल पाती है। यदि फोटान की ऊर्जा $h\nu_0$ से अधिक हुई, तो इलेक्ट्रॉन अपने परमाणु से पृथक् होने पर गतिज ऊर्जा भी उपलब्ध कर सकेगा।

अतः विमुक्त होनेवाले इलेक्ट्रॉन की गतिज ऊर्जा के लिए हम लिख सकते हैं--

$$\frac{१}{२}mv^2 = h\nu - h\nu_0$$

[इसमें धातु की प्लेट पर गिरनेवाले प्रकाश की आवृत्ति ν है तथा ν_0 इस धातु के लिए 'दहलीज-आवृत्ति' है तथा m इलेक्ट्रॉन का द्रव्यमान एवं v उसका महत्तम वेग है।]

इस व्याख्या से यह बात भी समझ में आ जाती है कि प्रकाश की आवृत्ति यदि दहलीज-आवृति ν_0 से कम हुई, तो प्रकाश को अधिक तेज कर देने पर भी इलेक्ट्रॉन क्यों नहीं बाहर निकलते हैं। बात यह है कि परमाणु से इलेक्ट्रॉन को विमुक्त कराने का काम केवल ऐसा फोटान कर सकता है, जिसके पास कम से कम $h\nu_0$ ऊर्जा अवश्य हो। यदि आवृत्ति ν_0 से कम हुई, तो ऐसी रोशनी को तेज करने से उसकी तीव्रता या चटकीलापन ही केवल बढ़ता है—अर्थात् प्लेट पर प्रति सैकण्ड गिरनेवाले फोटानों की संख्या ही बढ़ती है--इन फोटानों की ऊर्जा नहीं बढ़ती। मानो मल्लयुद्ध में बौने सैनिकों की कोई फौज भेजी जा रही हो और उक्त मल्लयुद्ध में एक ही सैनिक शत्रु के एक सैनिक से भिड़ सकता हो। फलतः बौने सैनिकों की संख्या चाहे बढ़ाकर १ लाख भी कर दी जाय, तो भी मल्लयुद्ध में ये बौने फौजी शत्रु के एक भी सैनिक को न पछाड़ सकेंगे। इसी प्रकार ये लाखों फोटॉन भी ऊर्जा के लिहाज से बौने होने के कारण इलेक्ट्रॉन को विमुक्त कराने में असमर्थ रह जाते हैं। इस प्रकार फोटो-इलेक्ट्रिक प्रभाव भी इस मत का समर्थन करता है कि प्रकाश-ऊर्जा की संरचना असंतत या कणिकामय है। एक्स-किरणों पर गामा-किरणों से उत्पन्न होनेवाले फोटो-इलेक्ट्रिक प्रभावों से फोटानों के अस्तित्व की और भी अच्छी तरह सम्पुष्टि की जा सकी है।

परमाणु के प्रकाश-वर्णक्रम की व्याख्या

परमाणुओं पर क्वान्टम-सिद्धान्त का प्रयोग सब से पहले डेनमार्क के सुप्रसिद्ध भौतिकज्ञ नील्स बोर ने किया। लॉर्ड रदरफर्ड ने प्रयोगों द्वारा यह दिखलाया था कि परमाणु के अन्दर उसका समस्त धन-विद्युत्-आवेश नाभिक पर एक नन्हें से बिन्दु पर केन्द्रित रहता है और ऋण-विद्युत् के कण 'इलेक्ट्रॉन' इसके गिर्द परिक्रमा करते रहते हैं। प्रश्न यह था कि ये इलेक्ट्रॉन जब नाभिक के गिर्द त्वरित गति से चलते हैं, तो चिर-प्रतिष्ठित भौतिकी के अनुसार उन्हें निरन्तर सतत रूप से उत्तरोत्तर कम आवृत्ति के विकिरण विसर्जित करना चाहिए और धीरे-धीरे उनका परिभ्रमण-मार्ग छोटा होते जाना चाहिए, यहाँ तक कि अन्त में इन्हें नाभिक में आकर गिर जाना

चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता —बल्कि विकिरण आवृत्तियाँ के विकिरण परमाणु से प्राप्त होते हैं और इलेक्ट्रॉन परमाणु के गिर्द कुछ विशिष्ट कक्षाओं में ही परिक्रमा लगाते रहते हैं।

निस्सन्देह यह नीलस बोर की श्रेष्ठ प्रतिभा का परिचायक था कि उन्होंने सहज ही इस बात की आवश्यकता भाँप ली थी कि परमाणु के स्वरूप का निर्धारण क्वान्टम-सिद्धान्त की सहायता से किया जा सकता है। बोर की विचार-प्रणाली के विस्तार में न जाकर, संक्षेप म इतना बतला देना पर्याप्त होगा कि क्वान्टम-सिद्धांत के आधार पर उन्होंने बतलाया कि नाभिक के गिर्द कुछ ही कक्षाएँ ऐसी होती हैं, जिन पर इलेक्ट्रॉन परिभ्रमण कर सकता है। ये 'स्थावर कक्षाएँ' कहलाती हैं, क्योंकि इन पर भ्रमण करते समय इलेक्ट्रॉन विकिरण का विसर्जन नहीं करते। जब कभी इलेक्ट्रॉन कूदकर बाहरी कक्षा से भीतरी कक्षा में पहुँचता है, तो उसकी ऊर्जा में ह्रास होता है। ऊर्जा की यह कमी विकिरण के रूप में प्रकट होती है, जिसकी आवृति ν उसके फोटान की ऊर्जा द्वारा इस प्रकार निर्धारित होती है—

$E_1 - E = h\nu$ [इसमें E_1 बाहरी कक्षा में इलेक्ट्रॉन की ऊर्जा है और E_2 भीतरी कक्षा में, तथा h प्लांक नियतांक है।]

अतः क्वान्टम-सिद्धान्त द्वारा बोर ने परमाणु का ऐसा स्वरूप निर्धारित कर दिया, जो स्थायी बना रह सके; और साथ ही साथ इस सिद्धान्त की सहायता से उससे विसर्जित होनेवाले प्रकाश वर्णक्रम की रेखाओं का भी उन्होंने समुचित समाधान किया। बोर ने क्वान्टम-सिद्धान्त की सहायता से 'आयनित हीलियम' के वर्णक्रम की भी संतोषजनक व्याख्या की। एक्स-किरणों के वर्णक्रम पर भी क्वान्टम सिद्धान्त सफलतापूर्वक लागू किया जा सका। फलस्वरूप 'मोस्ले का नियम' प्राप्त हुआ, जो प्रयोग की कसौटी पर खरा पाया गया। स्थानाभाव के कारण इस स्थान पर मोस्ले के नियम का विस्तृत विवेचन कर सकना संभव नहीं है।

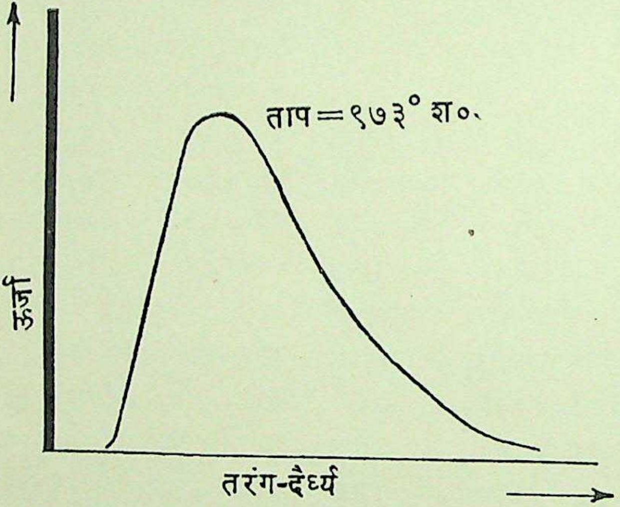

'कृष्ण वस्तु' के वर्णक्रम में ऊर्जा का विकिरण (दे० पृ० ३१९६)

एक्स-किरणों के विक्षेपण और कॉम्पटन-प्रभाव आदि की भी व्याख्या क्वांटम-सिद्धान्त के आधार पर संतोषजनक रूप से की जा सकी है।

परमाणु द्वारा विकिरण के शोषण की क्रिया भी क्वान्टम-सिद्धान्त के अनुसार ही होती है, अर्थात् परमाणु पर यदि ν आवृत्ति का प्रकाश पड़े, तो इस विकिरण का फोटान अपनी ऊर्जा $h\nu$ को केवल उसी हालत में परमाणु को दे सकेगा, जबकि उस परमाणु के इलेक्ट्रॉन के लिए दो स्थावर कक्षाएँ ऐसी मौजूद हों कि उनमें स्थित होने पर इलेक्ट्रॉन की ऊर्जा E^1 और E इस प्रकार मिले कि $E^1 - E = h\nu$ हो।

फल यह होगा कि फोटान अब उक्त इलेक्ट्रॉन को भीतरी कक्षा से बाहरी कक्षा में स्थानान्तरित कर देगा।

तरंग-यांत्रिकी (वेव-मिकैनिक्स)

प्रारम्भिक रूप को देखते हुए हम कह सकते हैं कि क्वांटम-सिद्धान्त का यह आशय था कि कतिपय परिस्थितियों में प्रकाश या ऊष्मा की तरंगें (वस्तुतः विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें) इस प्रकार आचरण करती हैं, मानो सतत तरंगें न होकर वे पृथक्-पृथक् नन्हें कणों (फोटान) की बौछार हों! १९२४ ई० में प्रिंस द-ब्राग्ली ने सहसा सोचा कि यदि तरंगें विशेष परिस्थितियों में कण जैसा आचरण कर सकती हैं, तो क्या कण भी कभी तरंगों जैसा आचरण नहीं कर सकते? इसी धुन में लगे रहकर अन्त में प्रयोगों द्वारा उन्होंने दिखलाया कि अनुकूल परिस्थितियों में इलेक्ट्रॉन अवश्य तरंगों की भाँति आचरण करते हैं।

तथ्य इस प्रकार है। प्रत्येक तरंग का यह प्रधान गुण है कि वह मार्ग में रखी गई रुकावट के हाशिए पर मुड़ जाती है और तब आगे कुछ फैल जाती है एवं उसके विभिन्न भाग परस्पर 'व्यतिकरण' (इन्टर्फियरेन्स) करते हैं। यदि शीर्ष शीर्ष पर पड़े, तो वहाँ तरंग का प्रभाव गाढ़ा हो जाता है और यदि शीर्ष पर गर्त पड़ा, तो प्रभाव में कमी हो जाती है। इस घटना को 'विवर्तन' (डिफ्रैक्शन) का नाम दिया गया है। ब्राग्ली ने क्रिस्टल पर इलेक्ट्रॉन की बौछार फेंकी, तो दूसरी ओर पहुँचनेवाले इलेक्ट्रॉन फोटो-प्लेट पर कहीं तो अधिक घनता में पहुँचे, और कहीं कम घनता में (दे० पृ० ३२०० का मानचित्र)।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वस्तुतः प्लैट पर अंकित प्रभाव उसी प्रकार का था, जैसा कि प्रकाश की किरण विवर्तन-ग्रेटिंग में गुजरने पर [illegible] करती है। स्वर्णपत्र में से तीव्र वेग के इलेक्ट्रॉनों के गुजरने पर भी फोटो-प्लेट पर विवर्तन के प्रभाव स्पष्ट उभरते हैं।

फलतः इस तथ्य में संदेह नहीं रहा कि इलेक्ट्रॉन भी तरंग के सदृश आचरण करते हैं। स्वभावतः यह भी जानना जरूरी हो गया कि इलेक्ट्रॉन के द्रव्यमान तथा उस तरंग की आवृत्ति में क्या संबंध हो सकता है, जिसके अनुसार इलेक्ट्रॉन इन प्रयोगों में आचरण करता है ! इस संबंध को स्थापित करने के प्रयत्न में ही 'तरंग - यांत्रिकी' (वेव-मिकैनिक्स) का निर्माण हुआ। इस तरंग-यांत्रिकी-पद्धति का विकास करके १९२५ ई० ने ब्राग्ली ने दिखाया कि v वेग से चलता हुआ इलेक्ट्रॉन एक ऐसी तरंग की भाँति आचरण करता है, जिसका तरंग-दैर्घ्य λ निम्नलिखित सूत्र से प्राप्त होता है:—

$$\lambda = \frac{h}{mv}$$

(इसमें m इलेक्ट्रॉन का वेग प्रकट करता है)।

बाद में यह सिद्ध किया जा सका कि कोई भी लघु कण जब v वेग से चलता है, तो वह एक तरंग की भाँति आचरण करता है, जिसका तरंग-दैर्घ्य ऊपर के समीकरण द्वारा निर्धारित होता है। इलेक्ट्रॉन-विवर्तन के प्रयोगों में ब्राग्ली की इन इलेक्ट्रॉन-तरंगों का तरंग-दैर्घ्य नापा गया, तो वह उक्त समीकरण के अनुसार ही प्राप्त हुआ।

तदुपरांत जर्मनी के वैज्ञानिक हाइसेनबर्ग ने इसी समस्या पर किंचित भिन्न दृष्टि से चिन्तन करके 'क्वान्टम-यांत्रिकी' का निर्माण किया। फिर श्रॉडिञ्जर ने गणित की सहायता से तरंग-यांत्रिकी तथा क्वांटम-यान्त्रिकी के पारस्परिक सम्बन्ध को स्थापित किया और बतलाया कि सैद्धान्तिक दृष्टि से दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है— केवल उनके गणित-सम्बन्धी रूप में ही विभिन्नता है।

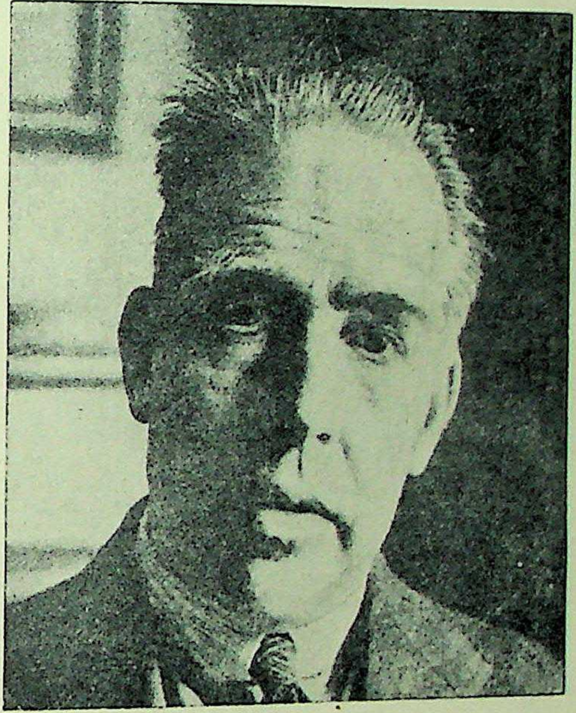

नील्स बोर, जिन्होंने 'क्वांटम-सिद्धान्त' की सहायता से 'परमाणु' का स्वरूप-निर्धारण किया।

इस प्रकार क्वान्टम-सिद्धान्त अपने परिष्कृत रूप में यह दिखलाने में सफल हुआ कि क्षुद्र कण जब गतिमान होता है, तो विशुद्ध कण की भाँति आचरण करने के अतिरिक्त वह तरंग की भाँति भी आचरण करता है—मानो उसके अन्दर द्वैत गुणों का समावेश रहता है, कण का भी और तरंग का भी। तरंग-यांत्रिकी के इस महत्वपूर्ण निष्कर्ष की सहायता से हम सहज ही यह समझ सकते हैं कि प्रकाश क्यों कभी तो कणों (फोटान) की भाँति आचरण करता है (जैसे फोटो-इलेक्ट्रिक प्रभाव में) और कभी तरंगों की भाँति (जैसे व्यतिकरण, विवर्तन तथा ध्रुवण आदि में)। कारण यह है कि प्रकाश ऊर्जा एक ऐसी राशि है, जो द्वैत गुणों से विभूषित है–इसमें कण (फोटान) के गुण तथा तरंग के गुण दोनों ही विद्यमान हैं। प्रकाश की इस प्रकृति को समझ पाने में हमें कठिनाई इसलिए होती है कि स्थूल जगत् के हमारे दैनिक व्यापार में हमें ऐसी चीजों से वास्ता नहीं पड़ता, जिनमें कण तथा तरंग दोनों के गुण साथ-साथ प्रदर्शित होते हों।

हमें स्मरण रखना होगा कि क्षुद्र कणों के आचरण पर विचार करते समय ही क्वान्टम-सिद्धान्त के नियम विशेष रूप से सजग हो उठते हैं—चिरप्रतिष्ठित न्यूटन-यांत्रिकी आदि के सिद्धान्त स्थूल पैमाने की क्रियाओं ही के नियम का निरूपण करते हैं; वे सूक्ष्म जगत् के व्यापार के लिए निरे बेकार साबित होते हैं। यही कारण है कि परमाणु के भीतर प्रवेश करनेवाले वैज्ञानिक क्वांटम-सिद्धांत तथा तरंग-यांत्रिकी की सहायता के बिना अपने काम को तनिक भी आगे नहीं बढ़ा पाते हैं।

हाइसेनबर्ग का 'अनिश्चितता-सिद्धान्त'

क्वांटम-सिद्धान्त के परिष्कृत रूप (तरंग-यांत्रिकी तथा क्वांटम-यांत्रिकी) का गहन अध्ययन करने पर १९२७ ई० में हाइसेनबर्ग ने एक महत्वपूर्ण अनुबन्ध विज्ञान-जगत् के

समक्ष प्रस्तुत किया, जिसे 'अनिश्चितता का सिद्धान्त' कहते हैं । संक्षेप में, यह सिद्धान्त बतलाता है कि "किसी सूक्ष्म कण (जैसे इलेक्ट्रॉन या फोटान) की 'स्थिति' तथा उसके 'वेग' दोनों की एक साथ पूर्ण यथार्थता के साथ जानकारी प्राप्त करना असम्भव है ।"

अपने इस अनुबन्ध के समर्थन में हाइसेनबर्ग ने क्वान्टम-गणित के अकाट्य तर्क दिए हैं । अभिप्राय यह है कि यदि हम हरकत करते हुए इलेक्ट्रॉन की स्थिति तथा उसका वेग किसी विशेष क्षण पर ज्ञात करना चाहें, तो प्रेक्षण में स्थिति के लिए अधिक यथार्थता प्राप्त करने के लिए आवश्यक होगा कि उस पर प्रकाश फेंकें । प्रकाश की ऊर्जा जितनी अधिक होगी, प्रेक्षण उतना ही अधिक सफल होगा और स्थिति का मान भी अधिक सही (यथार्थ) प्राप्त होगा । किन्तु इसका नतीजा यह होगा कि कम से कम एक फोटान तो उस इलेक्ट्रॉन को अपनी ऊर्जा प्रदान कर ही देगा, फलतः इलेक्ट्रॉन का वेग उसी क्षण बदल जाएगा । अतः जिस वेग का मान आपको निकालना था, उसकी नाप में गलती का समावेश भी अत्यधिक होगा। इसके प्रतिकूल, यदि प्रयोग के साधन ऐसे चुने जाएँ कि उस इलेक्ट्रॉन का वेग तनिक भी प्रभावित न हो, तो उस दशा में वेग का मान अधिक यथार्थतापूर्वक प्राप्त हो सकेगा, किन्तु तब आप इलेक्ट्रॉन की स्थिति सही न आँक पाएँगे ।

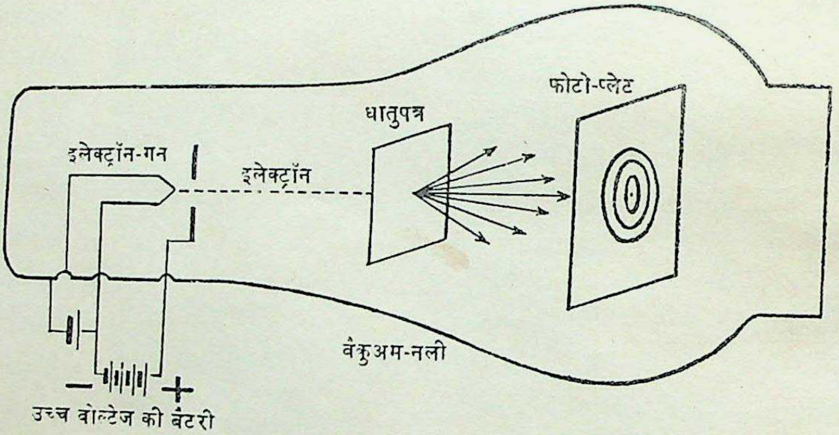

इलेक्ट्रॉन-विवर्तन का प्रयोग :: धातुपत्र में से तीव्र वेग से इलेक्ट्रॉनों के गुजरने पर फोटो-प्लेट पर विवर्तन का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है (दे० पृ० ३१९९ का मैटर) ।

हाइसेनबर्ग के 'अनिश्चितता-सिद्धान्त' का प्रभाव 'कार्य-कारण' सिद्धान्त पर भी पड़ता है। भौतिकी तथा यांत्रिकी का सारा व्यापार अब तक 'कार्य-कारण' के इस अटूट नियम द्वारा परिचालित होता आया है कि यदि किसी कण के लिए आवश्यक ब्योरा वर्तमान क्षण पर हमें ज्ञात हो, तो भविष्य के लिए भी उसके आचरण का पता हम पहले से ही लगा सकते हैं । उदाहरणार्थ, सूर्य, चन्द्रमा आदि की गति और स्थितियों की नाप करके हम पहले से ही मालूम कर लेते हैं कि अगला सूर्यग्रहण कब पड़ेगा ।

किन्तु सूक्ष्म कणों के लिए 'अनिश्चितता का सिद्धांत' यह बतलाता है कि चूँकि वर्तमान क्षण पर उनकी स्थिति तथा वेग दोनों का एक साथ सही मान प्राप्त करना असम्भव है, तो फिर भविष्य के क्षण में उनका आचरण कैसा रहेगा, इस बात का पता भला कैसे लग सकता है ?

इस कठिनाई को देखकर अनेक लोगों ने यह मत प्रकट किया है कि सूक्ष्म कणों के आचरण के लिए कार्य-कारण का नियम ही भंग हो जाता है । कुछ वैज्ञानिकों ने यह भी संभावना बतलाई है कि कदाचित् ये सूक्ष्म कण प्रबुद्ध प्राणियों की तरह 'स्वतंत्र संकल्प' (फ्री विल) रखते हैं, ताकि काय-कारण के नियम से मुक्त होकर, जैसा जी चाहे वैसा आचरण वे कर सकें ! इस विचारधारा के वैज्ञानिक बतलाते हैं कि प्रकृति ने इन क्षुद्र कणों के व्यापार के गिर्द रहस्य का ऐसा आवरण डाल रक्खा है कि यदि स्थिति-निर्धारण में हम हद दरजे की यथार्थता प्राप्त करने की ही कोशिश करते हैं, तो वेग-निर्धारण में गलती का समावेश होता है और यदि वेग के निर्धारण में यथार्थता प्राप्त करते हैं, तो स्थिति में अनिश्चितता आ जाती है ! किन्तु प्लांक, श्रॉडिञ्जर तथा आइन्सटाइन आदि चोटी के वैज्ञानिक इस विचारधारा से सहमत नहीं हैं; कार्य-कारण के नियम में उनकी आस्था अडिग बनी हुई है। उनका कहना है कि भौतिक विज्ञान की अनिश्चतता सम्बन्धी यह कठिनाई (अनियतिवाद) केवल अस्थायी है । प्रेक्षण-साधनों को और अधिक परिष्कृत बनाकर इस अनिश्चितता को निकट भविष्य में दूर भी किया जा सकेगा । स्वयं ब्राग्ली ने भी इसी दृष्टिकोण को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है:——

"यह विचार भी हमें पूर्णतः अनुचित नहीं जान पड़ता कि किसी न किसी दिन भौतिक विज्ञान पुनः नियतिवाद के पथ पर लौट आएगा और तब इस विज्ञान की वर्तमान अवस्था को हम ऐसा समझने लगेंगे, मानो क्षण भर के लिए रास्ता भूलकर हम चक्कर में पड़ गए थे ।"